अष्टाङ्गसङ्ग्रहः

(सूत्रस्थानम्)

अष्टाङ्गसङ्ग्रहः (सूत्रस्थानम्)

डॉ॰ रविदत्त त्रिपाठी

सर्वे सर्व प्रतिष्ठितम्

॥ श्रीः ॥

व्रजजीवन आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला

६

PPST FOUNDATION
TEXT BOOKS PROJECT.

श्रीमद्-वृद्धवाग्भटाचार्यकृतः

अष्टाङ्गसङ्ग्रहः

(सूत्रस्थानम्)

'सरोज'-हिन्दीव्याख्यया सहितः

व्याख्याकार

डॉ० रविदत्त त्रिपाठी

बी० ए० एम० एम० एस०, डी० एवाई० एम०, पी-एच्० डी०

प्रधानाचार्य एवं अधीक्षक

राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय

डीन : आयुर्वेद संस्थान

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू० ए०, बंगलो रोड, जवाहरनगर

दिल्ली ११०००७

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

सर्वाधिकार लेखकाधीन

तृतीय संस्करण १९९३

मूल्य २००-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

VRAJAJIVAN AYURVIJNAN GRANTHAMALA

6

ASTĀNGA-SAMGRAHA

OF

ŚRĪMAD VRDDHAVĀGBHATA

(SŪTRASTHĀNA)

Edited with

'Saroj' Hindi Commentary

By

Dr. Ravi Dutt Tripathi

B. A. M. M. S., D. AY. M., Ph. D.

Principal & Superintendent

Govt. Ayurvedic College and Hospital

Dean : Faculty of Ayurveda

Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar

DELHI 110007

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 333431

*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 320404

प्रस्तावना

अष्टांगसंग्रह चिकित्सा-शास्त्र का गुप्तयुगीन एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसकी चिकित्सा के क्षेत्र में व्यावहारिक उपयोगिता आज भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उसमें कायचिकित्सा एवं शल्यतन्त्र के उपयोगी अंशों का विवेचन किया गया है। इस एक संहिता के ही विधिवत् अध्ययन से आयुर्वेद के विभिन्न पक्षों का ज्ञान अर्जित किया जा सकता है। दक्षिण भारत में आज भी यह संहिता विशेष लोकप्रिय है। युगानुरूप एवं संदर्भ से युक्त इसकी रचना की गयी है, जैसा कि स्वयं आचार्य वाग्भट ने कहा है—'युगानुरूपसन्दर्भो विभागेन करिष्यते'। पुनः यह भी कहा है—'न मात्रामात्रमप्यन्न किञ्चिदागमवर्जितम्' अर्थात् यहाँ इस ग्रन्थ में मात्रामात्र भी किञ्चित् आगम रहित नहीं है।

विपाक की परिभाषा इनकी विशिष्ट देन है। प्रत्येक रोग में एक-एक प्रमुख द्रव्य का निर्देश कर वाग्भट ने चिकित्सा में विशेष सुविधा प्रदान की है। जैसे रक्तपित्त में वासा, कास में कण्टकारी, सद्यःक्षत में लाक्षा, क्षयक्षत में नागबला, प्रमेह में हरिद्रा, गुल्म एवं वातविकार में लहसुन, तिमिर रोग में त्रिफला तथा छर्दि में लाजा का प्रयोग बतलाया गया है (अष्टसंग्रह अध्याय–१३)। मध्यम पञ्चमूल एवं जीवन पञ्चमूल इनकी मौलिक देन है। जो व्यक्ति दुरूह दार्शनिक विषयों के आवर्त में पड़े हुए मूल आयुर्वेद के विषय को उनके आवरण से निकाल कर हृदयङ्गम करने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें सीधे अष्टांगसंग्रह का ही अध्ययन करना चाहिए। यह सर्व बुद्धिगम्य लोकोपयोगी शास्त्र है और इसे आसानी से समझा जा सकता है। इसीलिए अष्टांगहृदय के 'आयुर्वेदरसायन' व्याख्याकार हेमाद्रि तथा चरकसंहिता के 'चरकोपस्कार' व्याख्याता योगीन्द्रनाथ सेन ने अपनी-अपनी व्याख्या में स्थान-स्थान पर विषय को स्पष्ट करने के लिए अष्टांगसंग्रह से ही सहायता ली है।

प्रस्तुत ग्रन्थ केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्, नई दिल्ली द्वारा बी० ए० एम० एस० के प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम में भी निर्धारित है। इस ग्रन्थ पर यद्यपि अन्य टीकाएँ भी हैं, किन्तु प्रस्तुत व्याख्या में लेखक ने चित्रादि तथा अन्तर्राष्ट्रीय द्विनाम पद्धति का भी प्रयोग किया है, जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गयी है। यह क्लिष्ट एवं गूढ़ विषयों की व्याख्या सरल भाषा से आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास है। इसके साथ ही प्रारम्भ में वाग्भट का जीवन-परिचय एवं काल-निर्धारण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक विषय के प्रारम्भ में विषय के अवबोधार्थ शीर्षक भी दिया गया है।

प्रस्तुत व्याख्या के लेखक डा० रविदत्त त्रिपाठी, मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता विभाग में एक दशक से अध्ययन-अध्यापन, अनुसन्धान एवं लेखन कार्य में लगे हैं। आपने 'पदार्थ-विज्ञान' तथा 'आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय' नामक ग्रन्थों की भी रचना की है। मुझे पूर्ण आशा है कि अष्टांग-संग्रह पर उनकी यह व्याख्या अध्यापकों, छात्रों एवं अनुसन्धानकर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

आयुर्वेद एवं यूनानी सेवा निदेशक,
उत्तर प्रदेश, लखनऊ।
२३ जून, १९८४ ई०

डा० सत्यपाल गुप्त

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

'अष्टाङ्गसंग्रह' सूत्रस्थान, हिन्दी व्याख्या का पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण आयुर्वेद-जगत् के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार आनन्द हो रहा है।

सचित्र आयुर्वेद, पटना (सन् १९८६) एवं आयुर्वेद-विकास, नई दिल्ली (अगस्त सन् १९८६) ने इस ग्रंथ की समालोचना प्रकाशित कर तथा उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ ने सन् १९८५ के 'विशेष पुरस्कार' से और आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी, उत्तर प्रदेश, लखनऊ ने सन् १९८५ के 'प्रथम पुरस्कार' से सम्मानित कर इस ग्रन्थ का जो सारस्वत सम्मान किया है, उसके लिए मैं विद्वज्जनों का हृदय से आभारी हूँ।

इसमें पूर्व संस्करण की मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियों का यथासम्भव निराकरण किया गया है। साथ ही विषय को स्पष्ट करने के लिए अनेक नवीन चित्रों एवं सारणियों का समावेश किया गया है। विषयगत सैद्धान्तिक विवेचन में भी पर्याप्त संशोधन एवं परिवर्द्धन किया गया है, जिससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता में निःसन्देह वृद्धि हुई है। आशा है कि इससे छात्र, अध्यापक एवं अनुसन्धानकर्त्ता पूर्वापेक्षा अधिक लाभान्वित होंगे।

काशी
सन् १९९२

रविदत्त त्रिपाठी

भूमिका

आयुर्वेद की परम्परा सृष्टि-परम्परा के समकालीन है। अतएव आयुर्वेद शाश्वत एवं नित्य विज्ञान है। सृष्टि-निर्माण से पूर्व ही इसका उपदेश किया हुआ मिलता है। यह प्रवचन अथवा उपदेश आयुर्वेद के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों को अपने में समाविष्ट किये हुए हैं। यद्यपि आयुर्वेद की यह प्राचीन परम्परा आज प्रागैतिहासिक रूप में इतिहास के गर्त में विलीन-सी हो गई है, तथापि इसके कुछ विवरण उत्तरकालीन साहित्य में मिल ही जाते हैं।

चिकित्साशास्त्र का क्षेत्र केवल मानव तक ही सीमित न रहकर अति प्राचीन काल में गो, अश्व एवं गज आदि समाजोपयोगी पशुओं तथा भिन्न-भिन्न पक्षियों-रूप शकुनों—जो स्वस्थता एवं अस्वस्थता के सूचक के रूप में शास्त्रों में उल्लिखित हैं—के स्वास्थ्य-संरक्षण को अपने अन्दर समाविष्ट किये हुए है। आयुर्वेद का यह स्वरूप अनेकों शताब्दियों तक अपने मौलिक रूप में अक्षुण्ण रहकर समाज को लाभान्वित करता रहा तथा समाज को सुख-दुःख के अवसरों पर साथ देता रहा। प्राचीन शास्त्र इसके साक्षी हैं।

शरीर में चाहे अपने अन्दर से अथवा बाह्य वातावरण के कारण विकृति उत्पन्न हुई हो, सभी विकृतियों को दूर कर प्राणियों का आर्तिनाशन आयुर्वेदीय चिकित्साशास्त्र का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसलिए आचार्य चरक ने स्पष्ट रूप में उद्घोषित किया है—

'नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते'॥ (च० चि० १।४।५८)

वास्तव में रागद्वेष-रहित तत्त्वदर्शी पुरुषों का अन्तःकरण कारुण्य भाव से अतिशीघ्र द्रवित हो जाता था, फिर उनके लिए स्वार्थ नाम की कोई वस्तु नहीं रहती थी। वे परोपकार हेतु अपना सर्वस्व दान करने के लिए उद्यत हो जाते थे। इसी शृंखला में आयुर्वेदशास्त्र का प्रणयन एवं विकास होता हुआ दिखलाई पड़ता है। आधुनिक युग में यह भावना लुप्त होती दिखलाई पड़ रही है, जो आयुर्वेद-जगत् के लिए सोचनीय विषय है।

प्राचीन संहिता-ग्रन्थों में, जिनमें से बहुत से आज लुप्त हो गये हैं, कुछ ही अवशिष्ट हैं, उनमें किसी वातावरण से उत्पन्न होने वाली विकृति की चिकित्सा का उल्लेख है। विकृति के लक्षण भी वर्णित हैं। आगे चलकर उनमें अंग-विभाजन हुआ और उत्तरकालीन संहिताओं में किसी एक विषय (अंग) की प्रमुखता तथा अन्य का सामान्यतः उल्लेख किया गया। इन संहिता-ग्रन्थों में चिकित्सा के साथ-साथ दार्शनिकता का भी पुट दिखलाई पड़ता है। इस क्षेत्र में दार्शनिक दृष्टि से आयुर्वेद को पृथक् करने का साहसिक कार्य इतिहास में सर्वप्रथम ग्रीस में देखने को मिलता है, जहाँ हिपोक्रेटिस (४६० ई० पू०) ने अपने चिकित्सा-ग्रन्थ में दार्शनिकता से रहित पद्धति प्रारम्भ की। सम्भव है कि हिपोक्रेटिस का देश-विदेश से सम्बन्ध रहा हो और उसकी यह प्रणाली भारत जैसे देशों के सीमाप्रान्तीय प्रदेशों में प्रभाव स्थापित कर चुकी हो और उसी का कुछ प्रभाव तृतीय शताब्दी के ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों के लेखकों पर परम्परा रूप में पड़ा हो और उन्होंने अपने ग्रन्थ को दर्शन से अछूता रख दिया हो। जैसे भारत में रहकर विदेशी प्रभाव की बात हम चिकित्सा-ग्रन्थों में करते हैं, वैसे ही साहित्य के क्षेत्र में यवन देशों के व्यवहार का ज्ञान हो जाता है—

'यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः'॥ (रघुवंश ४।२१)

प्रस्तुत ग्रन्थ 'अष्टांग-संग्रह' के यशस्वी रचयिता वाग्भट भारत की पश्चिम सीमा सिन्धु-प्रदेश के लब्धजन्मा विशिष्ट विद्वान् थे। उनका ज्ञान चिकित्सा, साहित्य एवं लौकिक-वैदिक व्यवहार सभी में अप्रतिहत था। उन्होंने अपने प्रदेश के विषय में स्वयं ही उल्लेख किया है, अतः वह अविशङ्कनीय है। साथ ही साथ उन्होंने अपने पितामह की वाग्भट उपाधि ग्रहण करना स्वीकार किया है तथा पिता सिंहगुप्त का नामोल्लेख करने से हम साहित्य में कतिपय वाग्भटों के दृष्टि-गोचर होने पर भी अष्टांगसंग्रह के रचयिता वाग्भट को उपर्युक्त ही समझते हैं। वाग्भट को कुछ मनीषियों ने वृद्धवाग्भट भी कहा है, जो उनके ज्ञानवृद्धत्व का ही सूचक है।

आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने 'वाग्भट-विवेचन' में वाग्भट के काल के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का उल्लेख किया है, जिसमें दो शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर तेरहवीं शती के मध्य का काल आता है। विद्वानों के मत इस प्रकार हैं—

१. कुण्टे	दूसरी शती ई० पू०।
२. ज्योतिषचन्द्र सरस्वती	ईसवी सन् पूर्व (अष्टांगसंग्रह)।
३. चरित्रकोश	१५० ई० के लगभग।
४. रुद्रपारशव	दूसरी शती।
५. पटवर्धन	दूसरी शती का अन्त या तीसरी शती का प्रारम्भ।
६. गुरुपद हालदार	दूसरी-तीसरी शती।
७. चरक (जामनगर)	चौथी शती के पूर्व।
८. पराडकर	चौथी शती का उत्तरार्ध।
९. नन्दकिशोर शर्मा	चौथी शती का उत्तरार्ध।
१०. यादवजी त्रिकमजी	चौथी शती का अन्त या पाँचवीं शती का प्रारम्भ।
११. गणनाथ सेन	पाँचवीं शती का प्रारम्भ।
१२. अत्रिदेव	पाँचवीं शती का पूर्वार्ध।
१३. हरिप्रपन्न शर्मा	छठी शती।
१४. हरिदत्त शास्त्री	छठी शती।
१५. दासगुप्त	छठी शती का अन्त या सातवीं शती का प्रारम्भ।
१६. कुटुम्बिया	छठी शती का अन्त या सातवीं शती का प्रारम्भ।
१७. हार्नले	६२५ ई० (प्रथम). आठवीं या नवीं शती (द्वितीय)
१८. विण्टरनिट्ज	६२५ ई० (प्रथम), आठवीं आ नवीं शती (द्वितीय)
१९. कीथ	६२५ ई० (प्रथम), आठवीं या नवीं शती (द्वितीय)
२०. मुखोपाध्याय	६२५ ई० (प्रथम), आठवीं या नवीं शती (द्वितीय)
२१. अग्रवाल	सातवीं शती।
२२. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश	आठवीं शती के पूर्व।
२३. जॉली	आठवीं शती के पूर्व।
२४. फिलिओजा	सातवीं से दसवीं शती।
२५. जिमर	नवीं शती।
२६. राय	नवीं शती (८००-८५० ई०)।
२७. भट्टाचार्य	नवीं शती।
२८. कार्डियर	११९६–१२१८ ई०।

इनमें से अधिकांश विद्वानों के मतानुसार वाग्भट का समय तीसरी से पाँचवीं शताब्दी के बीच निर्धारित होता है, जो कि पाँचवी शताब्दी के आस-पास का काल प्रमाणित होता है।

वाराहमिहिर (५०५–५८७ ई०) ने वाग्भट के एक श्लोक का उद्धरण दिया है। अतः उससे वाग्भट का काल निश्चित होता है। भट्टार हरिचन्द्र चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१३ ई०) के काल में थे तथा वाग्भट के शिष्यों से कुछ पहले अर्थात् वाग्भट के समकालिक थे। अतः वाग्भट का काल चौथी शती का उत्तरार्द्ध है। वाग्भट के शिष्य इन्दु एवं जेज्जट थे। भट्टार हरिचन्द्र इन्दु से पहले हो चुके हैं और उन्होंने वाग्भट के विषय में कुछ नहीं कहा है। अतः वाग्भट का काल भट्टार हरिचन्द्र के समकाल चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही ठहरता है। अष्टांगसंग्रह (उ० त० ४९) में शक राजाओं तथा शकाङ्गनाओं का उल्लेख है। इनका राज्य प्रथम से चतुर्थ शती तक रहा है; यह भी उसी समय का समर्थन करता है। पराड़कर जी ने भी इसी को माना है।

चीनी यात्री इत्सिंग सातवीं शताब्दी में भारत में आया था। उसने अपने ग्रन्थ में वाग्भट का संकेत किया है, जिससे उनका समय सातवीं शताब्दी से पूर्व होना प्रमाणित होता है। जेज्जट वाग्भट के शिष्य थे। उन्होंने चरकसंहिता के दृढबल द्वारा सम्पूरित अंश पर भी व्याख्या की है। इससे स्पष्ट है कि वाग्भट दृढबल के पश्चात् हुए हैं। इन मतों के आधार पर चौथी शताब्दी का अन्त गुप्त-काल ही इनका काल प्रतीत होता है।

विद्वानों ने कई वाग्भटों का उल्लेख किया है, जिनमें वृद्धवाग्भट या प्रथम वाग्भट, वाग्भट या द्वितीय वाग्भट एवं रसवाग्भट आदि नाम प्रमुख हैं। वाग्भट द्वारा रचित अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय दो ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त 'रसरत्नसमुच्चय' नामक रसशास्त्र का ग्रन्थ भी वाग्भट रचित है; किन्तु अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय से सम्बन्धित वाग्भट से रसरत्नसमुच्चयकार वाग्भट भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय में रसरत्नसमुच्चय का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। इसकी रचना-शैली में भी अन्तर है। संग्रह एवं हृदय में रसक्रिया का वर्णन नहीं है तथा संखिया एवं अहिफेन का भी उल्लेख नहीं है। संग्रह एवं हृदय में रसरत्नसमुच्चय की अपेक्षा कुछ कम रोगों का वर्णन है तथा रोगों के नामों में भी अन्तर है। अतः ये दोनों वाग्भट भिन्न-भिन्न हैं। कुछ विद्वान् अष्टांगसंग्रहकार एवं अष्टांगहृदयकार वाग्भट को एक ही व्यक्ति मानते हैं और कुछ लोग इन्हें भिन्न-भिन्न दो व्यक्ति मानते हैं।

अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय—इन दोनों के रचयिता को एक मानने वालों में अरुणदत्त एवं इन्दु हैं। इनमें से इन्दु ने अष्टांगहृदय को पहले और अष्टांगसंग्रह को बाद की रचना माना है। जबकि विभिन्न तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि पहले अष्टांगसंग्रह की रचना हुई थी, जिसमें भाषा आदि का काठिन्य तथा विषय का अधिक विस्तार था, जिसको दूर करने के लिए ही अष्टांगहृदय की रचना सरल तथा स्पष्ट रूप में की गई। इन दोनों ग्रन्थों के पौर्वापर्य को देखकर ही कुछ विद्वानों ने इनके रचयिता वाग्भट को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मान लिया है, उनमें से एक के रचयिता को वृद्धवाग्भट और दूसरे को वाग्भट अथवा वाग्भट प्रथम एवं वाग्भट द्वितीय अथवा गद्य वाग्भट तथा पद्य वाग्भट कह दिया है, किन्तु हमारी दृष्टि में दोनों ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट एक ही व्यक्ति हैं; जैसा कि स्वयं वाग्भट ने अष्टांगहृदय में स्पष्टरूप से कहा है—

'अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टाङ्गसङ्ग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्॥
एतत्पठन् सङ्ग्रहबोधशक्तः स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः।
आकम्पयत्यन्यविशालतन्त्रकृताभियोगान् यदि तन्न चित्रम्'॥

(अ० हृ० उ० ४०।८०, ८१)

'संग्रह' की भाषा कठिन, अनेक छन्दों वाली, साहित्य से प्रभावित, इतिहास, भूगोल एवं सामाजिक वातावरण के अधिक निकट है। सभी विषयों का अधिक विस्तार होने के कारण यह ग्रंथ कठिन हो गया है। इसकी अपेक्षा संक्षिप्त, सरल एवं केवल पद्यमय होने से 'हृदय' अधिक ग्राह्य हुआ, जिससे उसका प्रचार अधिक हो गया। अतः इसका आयुर्वेद की तीन बृहत् संहिताओं (बृहत्त्रयी) में समावेश कर लिया गया।

प्रस्तुत व्याख्या की विशेषताएँ—इस व्याख्या में यह प्रयास किया गया है कि जो अस्पष्टता अद्यावधि टीकाओं में रही है, वह दूर हो जाये। अतएव अस्पष्ट शब्दों की स्पष्ट रूप में व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। अष्टांगसंग्रह के शब्दगत अभिप्राय को समझने के लिए इस प्रकार की टीका की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति के लिए मैंने एक प्रयास किया है।

इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े वाक्यों तथा एक विषय के वर्णन के लिए लिखे गये अनेकों श्लोकों का अनुवाद प्रस्तुत करते समय यह ध्यान रखा गया है कि वाक्यों को तोड़कर उनका छोटे-छोटे खण्डों में अर्थ किया जाय, जिससे वाक्य के प्रत्येक अंश का अभिप्राय पाठकों को स्पष्ट हो सके। अभी तक जो टीकाएँ उपलब्ध थीं, उनमें किसी विशेष अंश का अनुवाद ढूँढ़ने के लिए प्रयास करना पड़ता है, फिर भी यह पता नहीं लग पाता है कि निश्चित रूप से इसका अनुवाद कहाँ है। इस त्रुटि को दूर करने के लिए विशेष सतर्कता बरती गयी है।

विषय को समझाने के लिए पर्याप्त चित्रा एवं सारणियों का सहारा लिया गया है। इससे विषय को स्पष्ट रूप से समझने में सुविधा होगी। शल्य-चिकित्सा के सन्दर्भ में जिन यन्त्र-शस्त्रों एवं सन्धि-बन्धनों का उल्लेख मिलता है, उनके चित्र संहिता-ग्रंथों में तो हैं ही नहीं, साथ ही अन्य व्याख्या-ग्रन्थों में भी नहीं दिये गये हैं। इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर हमने उन्हें भी स्थान दिया है। औषधिभूत द्रव्यों के यथावश्यक प्रमुख चित्रों को भी चित्रित किया गया है, जिससे विषय को समझने में सरलता होगी। औषधियों एवं जन्तुओं के जो नाम संस्कृत भाषा में प्रयुक्त हुए हैं, उनमें बहुत से संदिग्ध हैं। हमने उनकी संदिग्धता को दूर करने के दृष्टिकोण से साथ में इनके लैटिन नाम (अन्तर्राष्ट्रीय द्विनाम-पद्धति) भी दिये हैं। आशा है इसके द्वारा द्रव्यों एवं पशुओं के परिज्ञान में सरलता होगी।

परमादरणीय गुरुवर श्री उमाशंकर त्रिपाठी, भूतपूर्व लेक्चरर संस्कृत, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ ने अनेकों सुझाव एवं परामर्श देकर मुझे जो मार्गदर्शन दिया है, उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में श्री कमलनयन द्विवेदी एवं श्री अशोककुमार अवस्थी ने जो अथक परिश्रम किया है, इसके लिए मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ। अन्त में ज्ञानभारती के व्यवस्थापक पं० हरिकृष्ण जी गौतम का मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने ग्रन्थ को इस रूप में प्रकाशित किया।

विद्वज्जनों से निवेदन है कि वे यदि इसमें कोई त्रुटि देखें, तो मुझे अवश्य सूचित करें, ताकि द्वितीय संस्करण में उसको दूर किया जा सके। यह ग्रन्थ चिकित्सा-शास्त्र का एक महान् प्रकाश-स्तम्भ है, जिसके आलोक में चिकित्सा कार्य सरल हो सकता है। आशा है, हमारी यह व्याख्या इस आलोक को अवभासित कराकर समाज को लाभान्वित करेगी। जो अन्य विषय के ज्ञाता है और आयुर्वेद के प्रति कुछ रुचि रखते हैं, वे भी हमारी इस व्याख्या के द्वारा आयुर्वेद में प्रवेश पा सकेंगे।

लखनऊ,
गंगादशहरा;
सम्वत् २०४१

—रविदत्त त्रिपाठी

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
(१) आयुष्कामीय अध्याय	
मंगलाचरण	१
आयुर्वेद का प्रयोजन	२
आयुर्वेदावतरण	३
आयुर्वेद के आठ अंग	५
अष्टांगसंग्रह की रचना का प्रयोजन	७
अष्टांगसंग्रह का वैशिष्ट्य	८
कायचिकित्सा की विशेषता	८
ग्रंथ की प्रामाणिकता	८
दोष-विवेचन	८
दोषों का जाठराग्नि एवं कोष्ठ पर प्रभाव	१०
देह प्रकृति	१०
त्रिदोषों का स्वरूप	११
दोषों के संसर्ग एवं सन्निपात	१३
धातु एवं मल	१३
व्याधि की उत्पत्ति में दोष ही कारण है	१३
धातुओं के मुख्य कर्म	१४
वृद्धि एवं क्षय	१४
रस	१५
रसों का दोषों पर प्रभाव	१५
त्रिविध द्रव्य	१५
वीर्य	१६
विपाक	१६
गुण	१६
महागुण	१८
रोग एवं आरोग्य का कारण	१८
रोग, आरोग्य, रोगभेद, रोगाधिष्ठान एवं मनोदोष	१८
रोगी-परीक्षा	१९
रोग-परीक्षा	१९
देश के दो भेद	२०
भूमिदेश	२०
भेषजकाल	२०
औषध के दो भेद	२०
शारीरिक एवं मानसिक दोषों की परम औषधि	२०
सूत्रस्थान के चालीस अध्याय	२१
शारीरस्थान के बारह अध्याय	२१
निदानस्थान के सोलह अध्याय	२२
चिकित्सास्थान के चौबीस अध्याय	२२
कल्प एवं सिद्धि स्थान के आठ अध्याय	२२
उत्तरतन्त्र के पचास अध्याय	२२
अध्याय-सारांश	२४
(२) शिष्योपनयनीय अध्याय	
शिष्य के गुण	२५
अध्ययन-काल एवं अध्ययन-विधि	२६
गुरु की परिचर्या	२७
भिषक् के गुण	२७
कुवैद्य के लक्षण	२७
राजा के योग्य चिकित्सक	२८
बहुश्रुत की प्रशंसा	२८
बुद्धि बढ़ाने में हेतु	२८
वैद्य की सफलता के हेतु	२८
वैद्य के लिए त्याज्य कर्म	२९
अचिकित्स्य रोगी	२९
कुवैद्य का त्याग	२९
चिकित्सा के सोलह अंग	३०
वैद्य के चार गुण	३०
औषधि के चार गुण	३०
परिचारक के चार गुण	३१
रोगी के चार गुण	३१
वैद्य की प्रधानता के कारण	३२
रोग के भेद	३२
सुखसाध्य रोग	३२
कृच्छ्रसाध्य रोग	३२
याप्यरोग	३३
प्रत्याख्येय व्याधि	३३
चिकित्सा के पूर्व कार्य	३४

विषय	पृष्ठ
साध्य रोग का असाध्य में रूपान्तरण	३४
वैद्य की वृत्ति	३४
दयाधर्म से लाभ	३५
अध्याय-सारांश	३५
(३) दिनचर्या अध्याय	
ब्राह्ममूहुर्त्त में जागरण	३६
मलोत्सर्ग-विधि	३७
गुदप्रक्षालन-विधि	३८
आचमन एवं मुखप्रक्षालन	३८
दन्तधावन	३८
जिह्वानिर्लेखन	३९
दातौन का निषेध	४०
निषिद्ध दातौन	४०
दन्तधावन-विधि	४०
प्रातःकालीन मंगलकारक कार्य	४१
अञ्जन कर्म	४१
नस्य, गण्डूष एवं कवल	४२
धूपपान	४२
अञ्जनादि क्रम	४३
प्रसाधन	४३
जीर्णवस्त्र आदि का निषेध	४३
ताम्बूल-सेवन	४३
जीविकार्थ यत्न	४४
निष्क्रमण-विधि	४४
वर्जित स्थान	४५
मध्याह्नादि में चतुष्पथादि पर बैठने का विचार	४५
शव हुंकारादि प्रतिषेध	४६
सद्वृत्त	४६
अभ्यंग-विधि	४७
व्यायाम	४९
उद्वर्तन	५०
स्नान	५१
भोजन-विधि	५२
मध्याह्नचर्या	५३
सद्वृत्त	५३
रात्रिचर्या	५९

विषय	पृष्ठ
उपसंहार	६०
राजा के प्रति आचरण	६०
उपसंहार	६०
अध्याय-साराश	६१
(४) ऋतुचर्या अध्याय	
काल-लक्षण	६४
काल के द्वादश भेद	६५
मात्रादि काल के लक्षण	६५
आदान काल	६७
विसर्ग काल	६७
ऋतुकाल में शरीर बल	६७
हेमन्त ऋतु के लक्षण	६९
हेमन्त काल का शरीर पर प्रभाव	६९
हेमन्त ऋतुचर्या	७०
शिशिर ऋतुचर्या	७०
वसन्त ऋतु का लक्षण	७०
वसन्त ऋतुचर्या	७१
ग्रीष्म ऋतु का लक्षण	७१
ग्रीष्म ऋतुचर्या	७२
वर्षा ऋतु के लक्षण	७३
वर्षा ऋतुचर्या	७३
शरद्ऋतु का लक्षण	७५
शरद् ऋतुचर्या	७५
नित्य सर्व रसाभ्यास	७६
ऋतुसन्धि	७६
उपसंहार	७७
अध्याय-सारांश	७७
(५) रोगानुत्पादनीय अध्याय	
वेगधारण निषेध	८०
अधोवात का वेग रोकने से हानि तथा उसकी चिकित्सा	८१
पुरीष का वेग रोकने से उत्पन्न व्याधियाँ	८१
मूत्रोरोध	८१
वेगरोधजन्य रोगों की चिकित्सा	८२
मूत्रवेगरोधजन्य रोगों की चिकित्सा	८२
उद्गारवेगरोधजन्य रोग तथा उसकी चिकित्सा	८२

विषय	पृष्ठ
छींक का वेग रोकने से रोग एवं उसकी चिकित्सा	८२
तृषा रोकने से व्याधि तथा उसकी चिकित्सा	८२
क्षुधा का वेग रोकने से व्याधि तथा उसकी चिकित्सा	८३
निद्रा का वेग रोकने से व्याधि तथा उसकी चिकित्सा	८३
श्वास का वेग रोकने से व्याधि तथा उसकी चिकित्सा	८३
श्रमजन्य श्वास का वेग रोकने से व्याधि तथा उसकी चिकित्सा	८३
जृम्भारोध से होने वाले रोग तथा उसकी चिकित्सा	८३
अश्रु का वेग रोकने से होने वाले रोग तथा उसकी चिकित्सा	८३
छर्दि का वेग रोकने से होने वाले रोग तथा उसकी चिकित्सा	८३
शुक्र का वेग रोकने से होने वाले रोग तथा उसकी चिकित्सा	८४
वेगरोधी में चिकित्सा का निषेध	८४
रोगों का सामान्य निदान	८४
वेगोदीरण धारण से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा	८४
दोष-सञ्चय से रोगोत्पत्ति	८५
संशोधन का महत्त्व	८५
रसायन तथा वृष्य योगों का प्रयोग	८६
शोधनान्तर पथ्य	८६
आगन्तुज रोग का कारण	८७
आगन्तुज रोगों की चिकित्सा	८७
शोधनकाल	८७
आरोग्यता के साधन	८७
अध्याय-सारांश	८८
(६) द्रवद्रव्यविज्ञानीय अध्याय	
(१) जलवर्ग—	
जल के गुण	९०
गाङ्ग एवं सामुद्र जल के गुण	९०
दिव्य उदक पान	९१
देशभेद से जल के गुण	९१
जल के आठ भेद	९१
आठों प्रकार के जल के गुण	९२
नदियों के गुण	९२
दूषित जल एवं उसके संस्कार	९३
जल-सेवन-विधि का निषेध	९५
जल की आवश्यकता	९५
सेवन योग्य जल का प्रकार	९५
अधिक मात्रा में जल के सेवन से होने वाली व्याधियाँ	९५
उष्ण जल के गुण	९६
कोष्ण (ईषत् उष्ण) जल	९६
जलपान-निषेध की परिस्थितियाँ	९६
जलपान काल	९७
शीतल जल का गुण	९७
उष्ण जल का गुण	९७
विशिष्ट जल के गुण	९७
उपसंहार	९८
(२) क्षीरवर्ग—	
गाय के दुग्ध का गुण	९९
भैंस के दुग्ध का गुण	९९
बकरी के दुग्ध का गुण	९९
ऊँटनी के दुग्ध का गुण	९९
स्त्री के दुग्ध का गुण	९९
भेड़ के दुग्ध का गुण	१००
हथिनी के दुग्ध का गुण	१००
घोड़ी एवं गधी के दुग्ध का गुण	१००
अपक्व तथा पक्व दुग्ध के गुण	१००
दुग्ध पर आहार, विहार एवं प्रकृति आदि का प्रभाव	१०१
दधि के गुण	१०१
तक्र के गुण	१०१
मस्तु के गुण	१०२
नवनीत के गुण	१०२
घृत के गुण	१०२
घृतमण्ड के गुण	१०३
किलाट आदि के गुण	१०३

विषय	पृष्ठ
उपसंहार	१०३
(३) इक्षुवर्ग—	
इक्षुरस का गुण	१०३
दाँत द्वारा पीड़ित इक्षुरस का गुण	१०४
मशीन द्वारा पीड़ित रस का गुण	१०४
पौण्ड्रक का गुण	१०४
फाणित	१०४
धौत (स्वच्छ) गुड़	१०४
अधौत गुड़	१०५
नया एवं पुराने गुड़ का गुण	१०५
शर्करा के गुण	१०५
सिता और फाणित की श्रेष्ठता	१०५
मधु के गुण	१०५
उष्णमधु	१०५
मधु के गुण तथा मात्रा	१०६
मधु का प्रयोग	१०६
मधु के भेद	१०६
(४) तैलवर्ग—	
तैल का गुण	१०७
एरण्ड तैल	१०७
लाल एरण्ड का तैल	१०७
सरसों का तैल	१०८
अलसी एवं कुसुम्भ का तैल	१०८
दन्ती आदि के तैल	१०८
करञ्ज तथा निम्ब का तैल	१०८
सरल का तैल	१०९
तुवरक एवं भिलावे का तैल	१०९
बहेड़ा आदि का तैल	१०९
श्रीपर्णी एवं किंशुक का तैल	१०९
उपसंहार	१०९
वसा और मज्जा	१०९
(५) मद्यवर्ग—	
मद्य के गुण	११०
नव एवं जीर्ण मद्य के गुण	११०
मद्यपान का निषेध	११०
सुरा के गुण	१११
वारुणी के गुण	१११
जगल, मेदक एवं वक्कस के गुण	१११
बहेड़े की सुरा	१११
यवसुरा, कौहली एवं मधूलक	१११
अरिष्ट के गुण	१११
माद्वीक के गुण	११२
खर्जूर मद्य के गुण	११२
शार्कर मद्य	११२
गौड मद्य	११२
सीधु	११२
आसव	११२
उपसंहार	११३
मद्याकर (मद्ययोनि)	११३
शुक्त (सिरका) के गुण	११४
गुड़ादि शुक्त के गुण	११४
कन्दमूलादि आसुत गुण	११४
शाण्डाकी का गुण	११४
धान्याम्ल	११४
सौवीरक एवं तुषोदक	११४
(६) मूत्रवर्ग—	
बकरी, हाथी, घोड़ा एवं गधा का मूत्र	११५
गवादि के पुरीष का गुण	११५
मनुष्य का मूत्र	११६
उपसंहार	११६
अध्याय-सारांश	११६
(७) अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय	
(१) शूकधान्यवर्ग—	
(क) शालि भेद	११७
शूकधान्य में श्रेष्ठत्व एवं अश्रेष्ठत्व	११८
यवकादि यथापूर्व निन्दित	११८
(ख) व्रीहिधान्य	११८
(ग) तृणधान्य के सामान्य गुण	११९
(घ) कंगु आदि के विशेष गुण	११९
(च) यव के गुण	१२०
(छ) गेहूँ के गुण	१२०
(२) शिम्बीधान्य वर्ग—	
मुद्ग, मकुष्ठ, मसूर एवं राजमाष	१२१
कुलथी	१२१

विषय	पृष्ठ
निष्पाव (सेम)	१२१
माष, काकाण्डोला, केंवाच एवं कुशाम्रशिम्बी	१२१
अन्य शिम्बीधान्य	१२२
तिल के गुण	१२२
अलसी तथा कुसुम के बीज के गुण	१२२
शूक एवं शिम्बी धान्यों में अश्रेष्ठ	१२२
नूतन एवं पुरातन धान्य के गुण	१२३
(३) कृतान्नवर्ग —	
मण्ड के गुण	१२३
पेया के गुण	१२३
विलेपी के गुण	१२४
ओदन के गुण	१२४
उपसंहार	१२४
मांस रस के गुण	१२४
मुद्ग-कुलथी-माष यूष	१२४
खल एवं काम्बलिक के गुण	१२५
कृत एवं अकृत	१२५
दकलावणिक	१२५
यूष आदि में गुरुता	१२५
तिलपिण्याक आदि के गुण	१२५
पापड़ के गुण	१२५
राग एवं षाडव के गुण	१२६
मन्थ एवं रसाला के गुण	१२६
पानक के गुण	१२६
लाजा के गुण	१२६
पृथुक के गुण	१२६
धाना (भृष्ट धान्य) के गुण	१२६
सत्तू के गुण	१२६
फलों के सत्तू (चूर्ण) के गुण	१२७
पिण्याक (तिलकुट) के गुण	१२७
वेशवार के गुण	१२७
मुद्गादि वेशवार	१२७
अपूप	१२७
(४) मांसवर्ग —	
(क) मृगवर्ग	१२८
(ख) विष्किर वर्ग	१२८
(ग) प्रतुद वर्ग	१२९
(घ) विलेशय वर्ग	१३०
(च) प्रसह वर्ग	१३०
(छ) महामृग वर्ग	१३०
(ज) जलचारी वर्ग	१३१
(झ) मत्स्य वर्ग	१३१
बकरी एवं भेड़	१३२
अन्य विवेचन	१३२
जांगल मांस	१३२
हरिण एवं खरगोश के मांस का गुण	१३२
विभिन्न मांसों का गुण	१३३
त्याज्य (अभक्ष्य) मांस	१३५
प्रशस्त (भक्ष्य) मांस	१३५
अनिन्दित मांस	१३५
निन्दित मांस	१३५
अण्डा, वाल एवं वृद्ध पक्षियों के मांस के गुण	१३६
मांस की गुरुता-लघुता	१३६
(६) शाकवर्ग —	
पाठा आदि शाक के गुण	१३६
पटोल आदि शाक के गुण	१३७
श्यामादि शाक के गुण	१३८
फलों के शाकों के गुण	१३९
जलज पदार्थ	१४०
अन्य शाक	१४०
हरीतक वर्ग	१४३
लहसुन	१४४
पलाण्डु	१४४
सूरण कन्दशाक के गुण	१४४
उपसंहार	१४५
(६) फलवर्ग —	
द्राक्षा आदि फल के गुण	१४५
कपित्थ	१४८
आम	१४८
त्याज्य धान्य, शाक एवं फल	१५०
उपसंहार	१५१
मात्रा का उदाहरण	१५१

विषय	पृष्ठ
संयोग का उदाहरण	१५२
संस्कार के उदाहरण	१५३
भूमिसात्म्य	१५४
देहसात्म्य	१५४
अध्याय-सारांश	१५८
(८) अन्नरक्षाविधि अध्याय	
राजकीय प्राणाचार्य के गुण	१५९
प्राणाचार्य का सम्मान	१६०
राजा के लिए चिकित्सक की आवश्यकता	१६०
राजकीय भोजन कराने की विधि	१६०
भोजन के समय दुन्दुभिवादन	१६०
सविष अन्न के लक्षण	१६१
विषमिश्रित व्यञ्जन के लक्षण	१६१
विषमिश्रित मांसरस आदि के लक्षण	१६१
फल, पुष्प, वस्त्र, धातु एवं रत्नों पर विष का प्रभाव	१६१
विषदाता के लक्षण	१६२
सावधानी	१६२
अग्नि द्वारा विष की परीक्षा	१६२
धूम से विषमिश्रित द्रव्य की परीक्षा	१६३
सविष विकृत धूम की चिकित्सा	१६३
विषमिश्रित आहार की पक्षियों द्वारा परीक्षा	१६३
विषमिश्रित आहार के लक्षण	१६४
विषमिश्रित आहार का मुख में लक्षण	१६४
विष का आमाशय पर प्रभाव	१६४
चिकित्सा	१६४
जीवन अगद	१६५
आहार	१६५
पक्वाशयगत विष के लक्षण	१६५
चिकित्सा	१६६
दतुअन द्वारा प्रयुक्त विष के लक्षण	१६६
चिकित्सा	१६६
अञ्जन द्वारा विष-प्रयोग	१६६
चिकित्सा	१६६
नस्य एवं धूमपान में विष का प्रयोग	१६७
चिकित्सा	१६७
अभ्यंग में विष का प्रयोग	१६७

विषय	पृष्ठ
चिकित्सा	१६७
उद्वर्तन द्वारा विष-प्रयोग एवं उसकी चिकित्सा	१६८
आभूषण द्वारा विष-प्रयोग	१६८
पादपीठ द्वारा विष का प्रयोग	१६८
छत्र द्वारा विष का प्रयोग	१६८
चिकित्सा	१६८
शिरोभ्यंग द्वारा विष का प्रयोग	१६९
चिकित्सा	१६९
कर्णपूरण में विष का प्रयोग	१६९
मुखलेप में विष का प्रयोग	१६९
चिकित्सा	१६९
पुष्प द्वारा विष का प्रयोग	१७०
विषहरण	१७०
भेषजगृह	१७०
महानस	१७१
महानस के कर्मचारी	१७१
महानसाध्यक्ष	१७१
अन्य कर्मचारी	१७१
राजवैद्य	१७१
विष-दूषित भूमि का लक्षण एवं चिकित्सा	१७२
विष-दूषित जल का लक्षण एवं चिकित्सा	१७२
विष-दूषित वायु का लक्षण	१७४
विष-दूषित छाया	१७४
विषकन्या	१७४
उपसंहार	१७५
सर्वार्थसिद्ध अञ्जन	१७५
अञ्जन धारण मन्त्र	१७७
विषनाशक मणियाँ	१७९
वाद्ययन्त्र तथा पताका पर विषघ्न लेप	१८०
त्र्यूषणादि योग	१८०
विषघ्न धूप	१८०
अन्य विषनाशक धूप	१८१
तिलक का योग	१८१
हरिद्रादि उपलेप	१८२
विषचिकित्साधिकारी	१८२
मांस का प्रयोग	१८२

विषय	पृष्ठ
ताम्र का प्रयोग	१८३
सुवर्ण भस्म का प्रयोग	१८३
राजा का महत्त्व एवं वैद्य का कर्त्तव्य	१८३
राजसेवा में कठिनता	१८५
उपसंहार	१८५
अध्याय-सारांश	१८६
(९) विरुद्धान्नविज्ञानीय अध्याय	
विरोधी मांस	१८८
दूध और मछली	१८८
चिलचिम मछली का मांस	१८८
अम्लरस और दूध	१८९
मूली आदि द्रव्य और दूध	१८९
अन्य शाक	१८९
उपसंहार	१९२
विरुद्ध तथा सामान्य के लक्षण	१९२
विरोध का कारण	१९२
उदाहरण	१९३
विरुद्धाहार से उत्पन्न होने वाले रोग	१९३
विरुद्धाहार जनित रोगों की चिकित्सा	१९३
विरुद्धाहार का अहानिकर प्रभाव	१९४
तीन उपस्तम्भ	१९५
आहार	१९५
स्वप्न (निद्रा) की उत्पत्ति	१९७
निद्रा की सम्प्राप्ति	१९७
स्वप्न	१९७
निद्रा से लाभालाभ	१९७
ग्रीष्मऋतु में दिवास्वप्न	१९८
अहित निद्राजन्य रोग	१९९
अति निद्रा से हानि	१९९
अहित (अति) निद्रा रोकने के उपाय	१९९
निद्रा से उत्पन्न होने वाले रोग	२००
तन्द्रा का लक्षण	२००
नींद लाने के उपाय	२००
निद्रा के भेद	२०१
अब्रह्मचर्य	२०१
मैथुन के लिए अयोग्य स्त्री	२०१
मैथुन की विधि	२०२

विषय	पृष्ठ
मैथुन की मात्रा	२०२
अति मैथुन से उत्पन्न रोग	२०३
जनपदोध्वंस	२०५
वायु आदि की विकृति के कारण	२०६
दूषित वायु के लक्षण	२०६
दूषित जल के लक्षण	२०६
दूषित देश के लक्षण	२०६
दूषित काल के लक्षण	२०७
जनपदोध्वंस से बचने के साधन	२०७
बौद्धानुसार मृत्यु के भेद	२०९
अकाल एवं काल मृत्यु	२०९
शरीर-रक्षण का उपदेश	२११
हितचर्या	२११
अध्याय-सारांश	२१२
(१०) अन्नपानविधि अध्याय	
विधिपूर्वक सेवित अन्नपान का फल	२१४
सप्ताहार की कल्पना	२१४
स्वभाव	२१५
संयोग	२१५
संस्कार	२१५
मात्रा	२१६
देश	२१६
काल	२१६
आहार के उपयोग के नियम	२१७
आहार-सेवन की विधि	२१८
स्निग्ध, लघु एवं उष्ण आहार	२१८
आहार-सेवन की अन्य विधियाँ	२१८
सात्म्य	२१९
सात्म्य के भेद	२१९
समशन, अध्यशन, अमात्रा अशन एवं विषमासन	२२०
भोजन देने की विधि	२२०
भोजन-विधि	२२१
अनुपान	२२१
अनुपान-सेवन से लाभ	२२३
अनुपान का निषेध	२२३
भोजनोत्तर कर्म	२२४

विषय	पृष्ठ
आहार-परिणामकर भाव	२२४
त्याज्य आहार	२२५
पथ्याहार	२२६
विरुद्धाहार	२२६
अन्न-सेवन का प्रमाण	२२७
रूक्ष तथा अतिस्निग्ध आहार का परिणाम	२२७
अति उष्ण तथा शीताहार का परिणाम	२२७
अतिस्थिर तथा अतिद्रव अन्न का परिणाम	२२७
अति मधुर, लवण एवं अम्ल अन्न का परिणाम	२२८
उपसंहार	२२८
अध्याय-सारांश	२२८
(११) मात्राशितीय अध्याय	
मात्रापूर्वक आहार-सेवन	२२९
मात्रा का लक्षण	२२९
गुरु-लघु द्रव्यानुसार आहार की मात्रा	२३०
आहार की अमात्रा	२३०
अलसक एवं विसूचिका	२३०
अलसक का लक्षण	२३१
विसूचिका का लक्षण	२३१
विसूचिका में वातादि के लक्षण	२३१
अलसक का विशेष लक्षण	२३२
दण्डालसक	२३२
आमविष	२३२
आहार द्रव्य के स्वभाव आदि से आम प्रदूषण	२३३
आमदोष का हेतु	२३३
साध्य आम की चिकित्सा	२३३
हिंग्वादि चूर्ण	२३४
मुस्तादि क्वाथ	२३४
अमृता-कदम्बादि क्वाथ	२३४
लेपन, उद्वर्तन एवं धूपन	२३५
विसूचिका एवं अलसक की चिकित्सा	२३५
आमदोष में विशेष चिकित्सा	२३६
आमदोष में अपतर्पण	२३७
आमदोष के असाध्य लक्षण	२३८
विसूचिका-नाशक अञ्जन	२३८
विसूचिका-नाशक अन्य योग	२३८
अजीर्ण के भेद, लक्षण एवं चिकित्सा	२३८
विलम्बिका	२३९
रसशेषाजीर्ण	२३९
अन्न एवं औषध-पाचन काल	२३९
मन्दाग्नि की चिकित्सा	२४०
सायंकालीन भोजन का प्रभाव	२४०
दिन का शरीर का प्रभाव	२४०
रात्रि का शरीर पर प्रभाव	२४०
जीर्णाहार का लक्षण	२४१
उपसंहार	२४१
अजीर्णाहार का लक्षण	२४१
अध्याय-सारांश	२४१
(१२) विविधौषधविज्ञानीय अध्याय	
द्विविध औषध	२४२
द्रव्य-अद्रव्य भेद से औषधि	२४२
दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय एवं सत्त्वावजय	२४३
अपकर्षण, प्रकृति-विघात एवं निदान त्याग	२४३
हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत तथा उभयार्थकारि	२४४
उभयार्थकारी औषध	२४६
अनौषध के भेद	२४६
औषधियों का स्थूल रूप में वर्णन	२४६
स्वर्ण	२४७
चाँदी	२४७
ताम्र	२४७
कांस्य	२४८
त्रपु (राँगा) तथा सीसा	२४८
कृष्णलोह तथा तीक्ष्णलोह	२४९
मणियाँ	२५०
काँच	२५१
शंख, समुद्रफेन, तूतिया तथा गेरू के गुण	२५२
मैनसिल एवं हरताल	२५३
अञ्जन एवं रसाञ्जन	२५३

विषय	पृष्ठ
शिलाजतु	२५३
वंशलोचन एवं तवक्षीरी	२५४
लवण	२५४
यवक्षार	२५५
सर्जिकाक्षार	२५६
हरीतकी	२५६
आमला	२५७
बिभीतक	२५७
त्रिफला	२५७
त्रिजात और चतुर्जात	२५८
मरिच	२५८
पिप्पली	२५८
सोंठ तथा त्रिकुट	२५९
चव्य, पीप्पलामूल, चित्रक तथा पंचकोल	२५९
सात प्रकार के पञ्चमूल	२५९
अन्नगन्धहर द्रव्य	२६१
हिंगु	२६१
सोया आदि के गुण	२६१
गुग्गुल	२६२
शंखपुष्पी तथा अगुरु	२६३
चन्दन, लालचन्दन, खश, बालक और मुलेठी	२६३
हल्दी तथा दारुहल्दी	२६४
प्रपौण्डरीक	२६४
बलात्रय	२६४
ताम्बूल, सुपारी, जावित्री, कट्फल कंकोल एवं लवंग	२६४
कर्पूर तथा लताकस्तूरी	२६५
कमल आदि पुष्पों के गुण	२६५
केसर, बाकुची और चक्रमर्द	२६६
अनौषध-चिकित्सा	२६७
वायु	२६७
आतप	२६८
अन्धकार एवं चाँदनी	२६८
उपसंहार	२६८
अध्याय-सारांश	२६८
(१३) अग्र्यसंग्रह अध्याय	
श्रेष्ठ पथ्य एवं अपथ्य	२६९
श्रेष्ठता का निर्धारण	२७९
उपसंहार	२७९
अध्याय-सारांश	२८०
(१४) शोधनादिगणसंग्रह अध्याय	
वमनोपयोगी द्रव्य	२८१
विरचनोपयोगी द्रव्य	२८३
निरूहोपयोगी द्रव्य	२८५
शिरोविरेचनोपयोगी द्रव्य	२८५
प्रायोगिक धूमोपयोगी द्रव्य	२८७
स्नैहिक धूमोपयोगी द्रव्य	२८७
तीक्ष्ण धूमोपयोगी द्रव्य	२८८
वातशामक द्रव्य	२८८
पित्तशामक द्रव्य	२८८
कफनाशक द्रव्य	२८९
उपसंहार	२९०
अध्याय-सारांश	२९०
(१५) महाकषायसंग्रह अध्याय	
महाकषायों का प्रयोजन	२९१
जीवनीय, बृंहणीय, लेखनीय, भेदनीय तथा सन्धानीय वर्ग	२९२
दीपनीय, बल्य, वर्ण्य, कण्ठ्य तथा हृद्य वर्ग	२९५
तृप्तिघ्न, अर्शोघ्न, कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न तथा कृमिघ्न वर्ग	२९७
विषघ्न, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, शुक्र-जनन तथा शुक्रशोधन वर्ग	३००
स्नेहोपग, स्वेदोपग, वमिनिग्रहण, तृष्णा-निग्रह तथा हिक्कानिग्रह वर्ग	३०१
विड्ग्रहण, विड्विरंजन, मूत्रनिग्रहण, मूत्र-विरंजन तथा मूत्रविरेचन वर्ग	३०३
कासहर, श्वासशमन, ज्वरशमन, श्रमशमन तथा दाहहर वर्ग	३०५
शीतशमन, उदर्दशमन, अंगमर्दश- शूलशमन तथा शोथ-	
रक्तस्थापन, वेदना- गर्भस्थ-	
उपसं-	

विषय	पृष्ठ
(१६) विविधगणसंग्रह अध्याय	
विदार्यादिगण	३१२
सारिवादिगण	३१२
पद्मकादिगण	३१३
परूषकादि गण	३१३
अंजनादि गण	३१४
पटोलादि गण	३१४
गुडूच्यादि गण	३१५
आरग्वधादि गण	३१५
असनादि गण	३१६
वरुणादि गण	३१६
ऊषकादि गण	३१७
वीरतरादि गण	३१७
रोध्रादिगण	३१७
अर्कादि गण	३१८
सुरसादि गण	३१८
मुष्ककादि गण	३१९
वत्सकादि गण	३१९
वचादि एवं हरिद्रादि गण	३१९
प्रियंग्वादि तथा अम्बष्टादि गण	३२०
मुक्तादि गण	३२१
न्यग्रोधादि गण	३२१
एलादि गण	३२२
श्यामादि गण	३२४
पिप्पल्यादि गण	३२४
उपसंहार	३२५
अध्याय-सारांश	३२६
(१७) द्रव्यादिविज्ञानीय अध्याय	
द्रव्यों का पाञ्चभौतिकत्व	३२७
द्रव्याश्रित रस	३२७
पार्थिवादि द्रव्य	३२८
द्रव्यों का औषधत्व	३२८
शोधन द्रव्यों का पाञ्चभौतिक संगठन	३२९
शामक द्रव्यों का पाञ्चभौतिक संगठन	३२९
रसों के वीर्य	३३१
रसों के गुण एवं कर्म	३३१
वीर्य	३३१
गुर्वादि की वीर्य संज्ञा	३३२
द्विविधि वीर्य	३३२
उष्ण एवं शीत वीर्य के कर्म	३३२
विपाक	३३३
द्रव्य के गुण की विशेषता से विपाक	३३४
महर्षि पराशर के अनुसार विपाक	३३४
रसों के गुणों की अधिकता से दोषों पर प्रभाव	३३४
विपाक के अन्य उदाहरण	३३५
द्रव्य का स्वभाव	३३६
रसादि के बलत्वानुरूप द्रव्यों का कार्य	३३६
रसादि का नैसर्गिक बल	३३६
द्रव्य एवं देह में गुण-सादृश्य से चिकित्सोपयोगिता	३३७
रस, वीर्य एवं विपाक की परीक्षा	३३७
रसों की संख्या के सम्बन्ध में विचार	३३७
रसादि में द्रव्य का श्रेष्ठत्व	३३८
प्रभाव (अचिन्त्य)	३३९
प्रभाव की प्रधानता	३४०
अध्याय-सारांश	३४१
(१८) रसभेदीय अध्याय	
रस	३४३
रस का पाञ्चभौतिक संगठन	३४३
रसों का स्वरूप	३४४
मधुर रस के गुण-कर्म	३४४
अम्ल रस गुण-कर्म	३४५
लवण रस के गुण-कर्म	३४५
तिक्त रस के गुण-कर्म	३४६
कटु रस के गुण-कर्म	३४६
कषाय रस के गुण-कर्म	३४७
मधुरस्कन्ध	३४७
अम्लस्कन्ध	३४८
लवणस्कन्ध	३४८
तिक्तस्कन्ध	३४९
कटुस्कन्ध	३४९
कषायस्कन्ध	३५०
उपसंहार	३५१

विषय	पृष्ठ
रस-देशों का वर्णन	३५१
रसों के सत्तावन संयोग एवं तिरसठ भेद	३५२
दोष एवं भेषज के अनुसार असंख्य भेद	३५४
अध्याय-सारांश	३५६
(१९) दोषादिविज्ञानीय अध्याय	
दोषों के प्राकृत कर्म	३५७
रसादि धातुओं के प्राकृत कर्म	३५९
पुरीषादि मलों के प्राकृत कर्म	३६०
वृद्धदोषजनित विकार	३६०
रसादि धातुओं की वृद्धि के लक्षण	३६१
मलवृद्धि के लक्षण	३६२
क्षीण दोषों के लक्षण	३६२
क्षीण धातुओं के लक्षण	३६२
मलक्षय के लक्षण	३६३
दोष, धातु एवं मल की क्षय-वृद्धि का सामान्य सिद्धान्त	३६४
वृद्धि-क्षय का सिद्धान्त	३६४
वृद्धि-क्षय के कारण एवं उनकी चिकित्सा	३६५
धातुओं एवं मलों के वृद्धि क्षय की चिकित्सा	३६५
अग्नि धातु सम्बन्ध	३६६
पूर्व धातु से अपर धातु का सम्बन्ध	३६७
दोष-धातु-मल दुष्टि एवं मलायन	३६७
धातुस्थ पित्त एवं धातुस्थ कफ का लक्षण	३६७
दोषों का कोष्ठ से शाखा आदि में गमन और उसकी चिकित्सा	३६९
ओज	३७०
दोषों की वृद्धि-क्षय का सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त	३७२
दोषों की वृद्धि-क्षय का सामान्य लक्षण	३७२
उपसंहार	३७३
अध्याय-सारांश	३७३
(२०) दोषभेदीय अध्याय	
दोषों का पाञ्चभौतिक संगठन एवं स्थान	३७४
वायु के भेद, स्थान एवं कर्म	३७५
पित्त के भेद, स्थान एवं कर्म	३७९
श्लेष्मा के भेद, स्थान एवं कर्म	३८०
वृद्धि के भेद तथा प्रशमन	३८२
चय-कोप का लक्षण	३८२
दोषजन्य रोगों की संख्या	३८३
वातजन्य अस्सी विकार	३८३
पित्तजन्य चालीस विकार	३८५
कफजन्य बीस विकार	३८७
कतिपय पारिभाषिक शब्द	३८८
क्षुद्र रोगों का अङ्गानुरूप नामकरण	३८८
रोगों का असंख्येयत्व	३८९
प्रकुपित वातादि दोषों के कर्म	३८९
रसों द्वारा दोषों का अनुमान	३९०
दोषों के तिरसठ भेद	३९०
दोषों की वृद्धि, साम्यावस्था एवं क्षय का लक्षण	३९३
दोषों का असंख्येयत्व	३९४
अध्याय-सारांश	३९४
(२१) दोषोपक्रमणीय अध्याय	
वात की चिकित्सा	३९५
पित्त की चिकित्सा	३९५
कफ की चिकित्सा	३९९
दोषसंसर्गसन्निपातोपक्रम	३९९
ऋतुदोष-सम्बन्ध	३९९
आहारदोष-सम्बन्ध	४००
दोषों की चिकित्सा में युक्ति	४०१
दोषों के चिकित्साक्रम में मतमतान्तर	४०१
रोगानुसार दोष चिकित्सा-क्रम	४०२
बल के अनुसार चिकित्सा-क्रम	४०२
दोषों के सन्निपात में युक्ति	४०३
आम एवं पक्व (निराम) दोष के लक्षण	४०३
आम का लक्षण	४०३
आम दोष की चिकित्सा	४०४
अध्याय-सारांश	४०८
(२२) रोगभेदीय अध्याय	
रोग के सात भेद	४०९
प्रत्युत्पन्नकर्मज एवं पूर्वकर्मज रोग	४१०

विषय	पृष्ठ
प्रत्युत्पन्नकर्मज एवं दैवजन्य रोग की चिकित्सा	४११
पराभिसंस्कार से रोगोत्पत्ति	४११
दोषानुसार रोगों के भेद	४११
रोगसमूह आयुर्वेदोपदेश की अपेक्षा रखता है	४१४
रोगों का एकत्व एवं अनेकत्व	४१४
दोष ही सभी रोगों का मूल कारण है	४१५
रोग के तीन कारण	४१५
प्रज्ञापराध	४१६
परिणाम	४१६
निदानादि की विशेषता से रोगों का भावाभाव	४१७
रोगमार्ग	४१७
स्वतन्त्र एवं परतन्त्र रोग	४१८
रोग-परीक्षण-पद्धति	४१९
ज्ञान का महत्त्व	४२०
गुरुव्याधित एवं लघुव्याधित	४२०
रोग-परीक्षण में दक्षता	४२१
निजागन्तु विपर्यय	४२१
अध्याय-सारांश	४२१

(२३) भेषजावचारणीय अध्याय

भेषजावचारण-विधि	४२२
स्थान-विशेष से भेषज विशेष	४२४
भेषजवीर्य प्रमाण विकल्प	४२४
सौम्यासौम्य भेषज	४२४
उपचार के पूर्व बलावल की परीक्षा	४२४
औषध-परीक्षा	४२५
संशोधन-काल	४२६
शीतकाल एवं वर्षाकाल में संशोधन का निषेध	४२६
ग्रीष्म ऋतु में संशोधन का निषेध	४२७
भैषज्य देने का काल	४२८
अभक्त काल	४२८
प्राग्भक्त काल	४२९
मध्यभक्त काल	४२९
अधोभक्त काल	४२९
सभक्त काल	४२९
अन्तरभक्त काल	४२९
सामुद्ग काल	४३०
मुहुर्मुहुः काल	४३०
सग्रास, ग्रासान्तर और निशाकाल	४३०
अभक्त औषध काल में वर्ज्यावर्ज्य	४३०
चिकित्सावस्था-क्रम	४३१
पथ्य-प्रयोग में कल्पना-विधि	४३१
दोष शोधनकाल	४३२
उपचारान्त प्रयोग	४३२
राजा के विषय में चिकित्सा-नियम	४३२
अमृत के समान गुणशाली औषध	४३३
अध्याय-सारांश	४३३

(२४) द्विविधोपक्रमणीय अध्याय

द्विविध उपक्रम	४३४
बृंहण-लंघन	४३४
स्नेहन-रूक्षण तथा स्तम्भन-स्वेदन	४३४
लंघन-चिकित्सा के भेद	४३५
बृंहण के योग्य रोगी एवं रोग तथा उनकी चिकित्सा	४३५
लंघन के योग्य रोगी तथा रोग	४३६
दीपन-पाचन का विषय	४३६
लंघन-बृंहण में युक्ति	४३७
सम्यक् बृंहण तथा लंघन का लक्षण	४३७
बृंहण एवं लंघन का अतियोग	४३७
अतिस्थौल्य का वर्णन	४३७
अतिस्थौल्य का लक्षण एवं चिकित्सा	४३९
स्थौल्यनाशक योग	४३९
अतिकार्श्य का वर्णन	४४१
कार्श्य ही स्थौल्य से श्रेष्ठ	४४२
अतिकृश का लक्षण एवं चिकित्सा	४४२
मांस के समान अन्य बृंहण द्रव्य नहीं है	४४३
रोगानुसार तर्पण योग	४४३
स्थौल्य एवं कृश में आहार विशेष	४४४
प्रकृति से स्थौल्य एवं कृशता	४४४
लंघन एवं बृंहण का मात्रा के अनुसार सेवन	४४४

विषय	पृष्ठ
लंघन-बृंहण में ग्राही-भेदी आदि का अन्तर्भाव	४४५
अध्याय-सारांश	४४५
(२५) स्वेदविधि अध्याय	
स्नेहोपयोगी द्रव्य संग्रह	४४६
स्नेहन-रूक्षण द्रव्य	४४६
सर्वोत्तम स्नेह	४४७
स्नेहों का दोषों पर प्रभाव	४४७
स्नेहों का संज्ञा तथा योनि	४४८
स्नेहन के योग्य	४४८
स्नेहन के अयोग्य	४४९
स्नेहों का प्रयोग	४४९
ऋतुकाल भेद से स्नेह का प्रयोग	४५०
रात्रि एवं दिन में स्नेह का नियम	४५०
रात्रि-दिन में स्नेह नियम का अपवाद	४५०
स्नेहों की प्रयोग-विधि	४५१
स्नेहों की विचारणा	४५१
अच्छपेय	४५२
स्नेह की मात्रा	४५२
ह्रस्व मात्रा	४५२
मध्यम मात्रा	४५३
उत्तम मात्रा	४५३
शोधन एवं शमन के लिए स्नेह-प्रयोग का विधान	४५३
बृंहण के लिए स्नेह-प्रयोग का विधान	४५५
दोषानुसार स्नेह का सेवन	४५५
स्नेहों का अनुपान	४५५
स्नेहपान के पश्चात् कर्त्तव्य	४५६
स्नेहपान काल में आहार	४५६
स्नेहपान काल में विहार	४५६
स्नेहपान के पूर्व मृदु औषधि	४५७
स्नेहपान की अवधि	४५७
स्नेह के सम्यक्, हीन तथा अतियोग	४५८
स्नेह का मिथ्यायोग	४५८
स्नेहव्यापद् की चिकित्सा	४५८
स्नेह के हीनयोग या अयोग में रूक्षता	४५९
स्नेह का पित्त-प्रकृति पर प्रभाव	४५९
स्नेहपान के अजीर्ण से उत्पन्न तृष्णा का उपाय	४५९
पित्त की अधिकता में घृत-सेवन का निषेध	४६०
स्नेह के पश्चात् स्वेद आदि का विधान	४६०
मांसल आदि पुरुषों में स्नेह का विधान	४६०
सद्यः स्नेहयोग	४६१
कतिपय योगों का निषेध	४६२
स्नेह-सेवन से लाभ	४६२
अध्याय-सारांश	४६३
(२६) स्वेदविधि अध्याय	
स्वेद के भेद	४६५
तापस्वेद	४६५
उपनाहस्वेद	४६५
द्रवस्वेद	४६६
ऊष्मस्वेद	४६७
पिण्डस्वेद	४६७
संस्तरस्वेद	४६७
नाडीस्वेद	४६८
घनाश्मस्वेद	४६९
कुम्भीस्वेद	४६९
कूपस्वेद	४७०
कुटीस्वेद	४७०
जेन्ताकस्वेद	४७१
दोषभेद से स्वेद-विधान	४७२
अनाग्नेय स्वेद	४७३
स्वेदन में नियम	४७३
सम्यक् स्विन्न के लक्षण तथा इसके अतियोग	४७४
स्वेदन एवं स्तम्भन	४७५
स्तम्भन का सम्यक् योग तथा अतियोग	४७५
स्वेदन के अयोग्य रोग एवं रोगी	४७६
स्वेदन के योग्य रोगी	४७६
स्वेदन से लाभ	४७७
स्वेदन का प्रभाव	४७७
अध्याय-सारांश	४७८
(२७) वमनविरेचनविधि अध्याय	
वमन-विरेचन शब्द की निरुक्ति	४७९

विषय	पृष्ठ
वमन-विरेचन द्रव्यों की कार्य-विधि	४८०
वमन-विरेचन का प्रयोग	४८२
वमन के योग्य रोगी एवं रोग	४८२
वमन के अयोग्य रोगी एवं रोग	४८३
अन्य निर्देश	४८४
विरेचन के योग्य व्याधियाँ	४८४
विरेचन के अयोग्य रोग एवं रोगी	४८४
वामक औषधिपान-विधि	४८६
वामक औषधि पीने के पश्चात् कर्म	४८७
दोषानुसार वामक द्रव्यों का प्रयोग	४८८
हीन वेग के समय कर्तव्य	४८८
वमन के अयोग का लक्षण	४८९
वमन के सम्यक् योग का लक्षण	४८९
वमन के अतियोग का लक्षण	४८९
वमन के पश्चात् उपचार	४८९
वमन के पश्चात् आहार का विधान	४९०
पेयादि क्रम	४९०
पेयादि से लाभ	४९१
वमन एवं विरेचन के वेग एवं प्रमाण	४९१
वमन एवं विरेक मर्यादा	४९२
विरेचन-विधि	४९२
विरेचन के पूर्व वमन का महत्त्व	४९२
विरेचन काल	४९३
त्रिविध कोष्ठ	४९३
विरेचन-विधि	४९३
अप्रवृत्त विरेचन में कर्म	४९४
सर्वदा रोगी	४९४
अन्य दुर्विरेचनीय	४९५
विरेचन का हीन योग	४९५
विरेचन का सम्यग् योग	४९५
विरेचन का अतियोग	४९५
विरेचनोत्तर पथ्य	४९६
वमन एवं विरेक काल	४९६
विरेकान्तर तर्पणादि-क्रम	४९६
वमन एवं विरेचन में प्रतीक्षा नियम	४९७
वमन एवं विरेचन विपर्यय में उपाय	४९७
स्वयं-प्रवृत्त विरेचन में उपाय	४९७
मृदु एवं अल्प औषधि द्वारा संशोधन	४९७
मंदाग्नि एवं क्रूर कोष्ठ में शोधन	४९८
विरेचन से पूर्व बस्ति का प्रयोग	४९८
स्निग्ध-रूक्ष विरेचन का नियम	४९८
संशोधन के पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन	४९८
स्नेहन एवं स्वेदन का महत्त्व	४९८
तीक्ष्ण संशोधन	४९९
औषधि की तीक्ष्णता एवं मन्दता	४९९
रोगों के तीन प्रकार	४९९
संशोधन हेतु सात्म्य द्रव्यों का निषेध	४९९
संशोधन का असम्यक् योग विषवत् तथा सम्यक् योग अमृतोपम	५००
संशोधन का महत्त्व	५००
अध्याय-सारांश	५००
(२८) वस्तिविधि अध्याय	
वस्ति-विवेचन	५०१
वस्ति-चिकित्सा का उपयोग	५०२
वस्ति के भेद	५०२
आस्थापन या निरूह शब्दों की निरुक्ति	५०३
अनुवासनवस्ति	५०३
मात्रावस्ति	५०३
उत्तरवस्ति	५०४
आस्थापनवस्ति के योग्य रोग	५०४
आस्थापनवस्ति के अयोग्य रोग	५०५
अनुवासनवस्ति के योग्य रोग	५०६
भोजन किये बिना अनुवासन तथा भोजन करने पर निरूहवस्ति का निषेध	५०६
वस्तिनेत्र की निर्माण-विधि	५०७
वस्तिपुट का निर्माण	५०९
आयु के अनुसार वस्ति की मात्रा	५१०
माधुतैलिक एवं अनुवासनवस्ति की मात्रा	५१०
अस्थापनवस्ति के पूर्वकर्म	५११
वस्तिकाल	५११
वस्ति-प्रयोग की विधि	५१२
वस्तिपुट में औषधि डालने की विधि	५१३
वस्ति देने के पश्चात् कर्म	५१४
वस्तिकर्म के पश्चात् अन्य आचार	५१५

विषय	पृष्ठ
निरूहण वस्ति	५१६
औषध मात्रा	५१६
वस्ति-विधि	५१७
वस्ति के दोष	५१७
निरूह विधि	५१८
निरूहण वस्ति के पश्चात् कर्म	५१८
निरूहण वस्ति की संख्या	५१९
वस्ति का हीन, सम्यक् तथा अतियोग	५१९
निरूहण के पश्चात् अनुवासन का प्रयोग	५१९
दोषानुसार स्नेहवस्ति	५२१
दोषानुसार द्रव्यों का प्रयोग	५२१
आचार्य चरक का मत	५२२
विधि-भेद से वस्तियों के तीन भेद	५२२
उपसंहार	५२२
वस्तिकर्म, वस्तिकाल तथा वस्तियोग	५२२
वस्तिकर्म	५२४
वस्ति से लाभ	५२४
उत्तरवस्ति	५२५
स्त्रियों में उत्तरवस्ति का विधान	५२६
नेत्र-प्रमाण	५२६
उत्तरवस्ति की विधि	५२७
वमनादि काल का निर्देश	५२७
अध्याय-सारांश	५२७
(२९) नस्यविधि अध्याय	
नस्य की परिभाषा एवं महत्त्व	५२८
नस्य के भेद	५३०
विरेचन नस्य	५३०
बृंहण नस्य	५३१
शमन नस्य	५३१
मात्रा भेद से स्नेह के दो प्रकार	५३१
अणुतैल की निर्माण-विधि	५३२
अणुतैल-निर्माण की द्वितीय विधि	५३२
नस्य का निषेध	५३३
उपर्युक्त विकारों की चिकित्सा	५३४
मर्श स्नेह नस्य	५३५
नस्य की विधि	५३६
नस्य का काल	५३६
मर्श नस्य की मात्रा	५३७
नस्य के पश्चात् कर्म	५३७
सम्यक् नस्य के लक्षण	५३८
प्रतिमर्श नस्य	५३९
प्रतिमर्श नस्य की मात्रा	५३९
मर्श एवं प्रतिमर्श नस्य में भेद	५४०
अध्याय-सारांश	५४१
(३०) धूमपानविधि अध्याय	
धूमपान के योग्य रोग एवं रोगी	५४२
धूमपान के भेद	५४२
धूम के अयोग्य रोग एवं रोगी	५४३
उपचार	५४३
उपर्युक्त उपद्रवों का विशेष उपचार	५४५
प्रायोगिक धूमपान के काल	५४५
धूमनेत्र	५४५
धूमवर्ति-निर्माण-विधि	५४६
धूमपान-विधि	५४७
नासा एवं मुख द्वारा धूमपान का प्रयोग	५४७
कासघ्न धूमपान-विधि	५४८
वामक एवं व्रणधूपन धूप	५४८
धूमपान का अयोग एवं अतियोग	५४९
धूमपान के सम्यक् योग के लक्षण	५४९
अध्याय-सारांश	५५०
(३१) गण्डूषादिविधि अध्याय	
गण्डूष के भेद	५५१
गण्डूष में प्रत्युक्त होने वाले द्रव्य	५५१
रोगानुसार गण्डूष-धारण	५५२
गण्डूष एवं कवल	५५३
गण्डूष का सम्यक्योग, अयोग एवं अतियोग	५५३
प्रतिसारण	५५४
मुखालेप	५५४
मुखालेप का निषेध	५५५
मूर्ध तैल एवं उसके प्रकार	५५५
शिरोवस्ति विधि	५५६
अभ्यङ्गादि प्रयोग	५५७
कर्णपूरण	५५७

विषय	पृष्ठ
मात्राकाल	५५८
अध्याय-सारांश	५५८
(३२) आश्च्योतनाञ्जनविधि अध्याय	
आश्च्योतन एवं बिडालक	५५९
आश्च्योतन एवं बिडालक औषधियों की प्रयोग-विधि	५५९
नेत्र पर आश्च्योतन का प्रभाव	५६०
आश्च्योतन के पश्चात् अञ्जन का प्रयोग	५६१
अञ्जन के चार भेद	५६१
प्रत्यञ्जन	५६२
अञ्जन की कल्पना एवं मात्रा	५६२
अञ्जन पात्र एवं अञ्जनवर्ति घर्षणशिला	५६२
अञ्जनशलाका	५६४
अञ्जन लगाने का समय	५६४
अञ्जन-विधि	५६५
अञ्जन का निषेध	५६५
अञ्जन-विधान	५६५
अञ्जन के पश्चात् नेत्र-प्रक्षालन एवं शोधन	५६६
अञ्जन के पश्चात् धूम	५६६
अध्याय-सारांश	५६७
(३३) तर्पणपुटपाकविधि अध्याय	
तर्पण एवं पुटपाक का प्रयोग	५६८
तर्पण-विधि	५६८
तर्पणोत्तर कर्म	५६९
तर्पण-प्रयोग का काल	५६९
पुटपाक	५७१
पुटपाक-विधि	५७२
धूम्रपान आदि का विधान	५७३
उपसंहार	५७३
अध्याय-सारांश	५७३
(३४) यन्त्रशस्त्रविधि अध्याय	
यन्त्र	५७४
यन्त्रों की संख्या	५७५
स्वस्तिक यन्त्र	५७५
संदंश तन्त्र	५७७
मुचुण्डी यन्त्र	५७८
ताल यन्त्र	५७८
नाड़ी यन्त्र	५७९
अन्य नाड़ी यन्त्रों का वर्णन	५७९
अर्श यन्त्र	५८०
अंगुलित्राणक यन्त्र	५८१
योनिव्रणेक्षण यन्त्र	५८१
शृंग, अलाबु एवं घटीयन्त्र	५८२
शलाका यन्त्र	५८३
प्रमार्जनी यन्त्र	५८४
अन्य शलाकाएँ	५८४
अनुयन्त्र	५८५
यन्त्र के कर्म	५८५
कंकमुख यन्त्र की प्रधानता	५८८
शस्त्र	५८८
शस्त्रों के प्रयोग (कर्म)	५८९
दन्त-लेखन एवं मण्डलाग्र शस्त्र	५८९
वृद्धिपत्र	५९०
अंगुलि शस्त्र	५९१
आटामुख एवं अन्तर्मुख शस्त्र	५९१
कुठारिका, व्रीहिमुख एवं शलाका यन्त्र	५९२
आरा एवं कर्णव्यधन शस्त्र	५९३
सूची	५९३
सूचीकूर्च आदि शस्त्र	५९४
अनुशस्त्र	५९५
यन्त्र-शस्त्रों के दोष	५९५
शस्त्रों की पायना	५९६
धार का वर्णन	५९६
शस्त्रग्रहण की विधि	५९६
शस्त्रों को तेज करने की शिला	५९६
शस्त्र-चिकित्सक की योग्यता	५९७
शव-परीक्षण	५९७
उपसंहार	५९७
शस्त्रकोश	५९८
अध्याय-सारांश	५९८
(३५) जलौकाविधि अध्याय	
रक्तविस्रावण में जलौका का प्रयोग	६००
सविष एवं निर्विष जलौका	६००

विषय	पृष्ठ
नर एवं मादा जलौका	६०१
जलौका का पालन	६०१
जलौकावचारण-विधि	६०२
पश्चात् कर्म	६०३
जलौका से रक्तस्रावण का सम्यक् योग	६०३
प्रच्छान लगाने की विधि	६०४
रक्तस्रावण के अनन्तर कर्म	६०४
अध्याय-सारांश	६०४
(३६) सिराव्यधविधि अध्याय	
सिरावेध की महत्ता	६०६
सिरावेध की प्रधानता	६०६
रक्त	६०६
रक्तजन्य रोग	६०७
सिरावेध के अयोग्य रोग एवं रोगी	६०८
रोगविशेष में स्थानानुसार सिरावेध	६०८
सिरावेध हेतु आवश्यक वस्तुएँ	६११
सिरावेध-विधि	६१२
अन्य सिराओं की वेधन-विधि	६१३
सिराव्यध प्रमाण	६१३
सम्यग्विद्ध, दुर्विद्ध एवं अतिविद्ध के लक्षण	६१४
रक्तस्राव न होने का कारण	६१४
सिरावेध के समय होने वाली मूर्च्छा का उपचार	६१४
दूषित रक्त के लक्षण	६१५
रक्त रोकने के अन्य उपाय	६१६
चिकित्सा-सूत्र	६१८
पुनः सिरावेध का निर्देश	६१८
सिरावेध के पश्चात् आहार-विहार	६१८
विशुद्ध रक्त वाले पुरुष के लक्षण	६१९
अध्याय-सारांश	६१९
(३७) शल्याहरणविधि अध्याय	
शल्यों की तीन प्रकार की गतियाँ	६२०
शल्ययुक्त व्रण (अन्तःशल्य) के सामान्य लक्षण	६२०
शल्ययुक्त व्रण के विशिष्ट लक्षण	६२१
शल्यबाध के कारण	६२२
प्रनष्ट शल्यों की पहचान के उपाय	६२२
अन्तःप्रनष्ट शल्य के सामान्य लक्षण	६२३
आकृति के अनुसार शल्य के चार प्रकार	६२४
बड़े शल्यों के आहरण के उपाय	६२४
आहरण के अयोग्य शल्य	६२४
शल्याहरण-विधि	६२४
विविध प्रकार के शल्यों के आहरण की विधि	६२५
जल-शल्याहरण की विधि	६२७
ग्रास-शल्याहरण की विधि	६२७
नेत्रगत शल्य	६२७
कर्णगत कीट का उपचार-क्रम	६२८
शीर्यमाण शल्य	६२८
शल्य-आहरण का निर्देश	६२९
शल्यरहित व्रण का लक्षण	६२९
परम शल्य—शरीर	६३०
अध्याय-सारांश	६३०
(३८) शस्त्रकर्मविधि अध्याय	
शस्त्रकर्म का विषय	६३१
आम एवं पच्यमान शोफ के लक्षण	६३१
शोफ की पक्वावस्था के लक्षण	६३२
वात-पित्त-कफ-रक्त के मुख्य लक्षण	६३३
अतिपक्व शोफ के लक्षण	६३४
रक्तपाक	६३४
पक्वव्रण की चिकित्सा	६३४
अपक्व व्रण में शस्त्रकर्म तथा पक्व व्रण की उपेक्षा का परिणाम	६३५
अज्ञानी वैद्य	६३६
शस्त्रकर्म से पूर्व भोजन तथा मद्यपान	६३६
शस्त्रकर्म-विधि	६३६
शल्य-चिकित्सक के गुण	६३८
स्थानानुरूप तिर्यक् छेदन एवं तिर्यक् छेदन जन्य उपद्रव	६३८
शस्त्रावचारण में पश्चात् कर्म	६३८
शस्त्रकर्म में अपथ्य	६४०
शस्त्रकर्म में पथ्याहार	६४०
अजीर्ण से उत्पन्न दोष	६४१
अपथ्य आहार	६४१

विषय	पृष्ठ
अन्यान्य निर्देश	६४१
पुनः प्रक्षालन	६४२
विकेशिका	६४२
विकेशिका के गुण	६४२
अपक्व व्रण में पाटन	६४२
सीवन कर्म	६४३
सीवन की विधियाँ	६४३
सीवन के अन्य निर्देश	६४४
असीव्य व्रण	६४५
सीव्य व्रण	६४५
बन्धन	६४६
बन्धन के अन्य भेद	६५१
दोषानुसार बन्धन	६५२
विभिन्न अंग एवं ऋतु के अनुसार बन्धन	६५२
बन्धन से लाभ	६५३
वृक्ष के पत्रों से बन्धन	६५३
बन्धन (पट्टी) का निरोध	६५४
व्रणकृमि	६५४
अन्य निर्देश	६५५
व्रणरोपण होने पर सावधानी	६५५
उपसंहार	६५६
अध्याय-सारांश	६५६

विषय	पृष्ठ
(३९) क्षारपाकविधि अध्याय	
क्षार के गुण	६५७
क्षार के भेद	६५८
क्षार का निषेध	६५८
बहिःपरिमार्जन क्षार के भेद	६५९
क्षारपाक-विधि	६५९
मृदुक्षार	६६१
क्षारकर्म-विधि	६६२
सम्यग् योगादि के लक्षण	६६३
निर्वापण हेतु अम्ल का प्रयोग	६६४
क्षारातियोग में उपचार	६६५
अध्याय-सारांश	६६५
(४०) अग्निकर्मविधि अध्याय	
अग्निकर्म का विषय	६६६
अग्निकर्म के अयोग्य रोगी	६६७
अग्निकर्म-विधि	६६७
सम्यग् दग्ध के लक्षण	६६९
प्रमाद दग्ध	६६९
प्रमाद दग्ध की चिकित्सा	६७०
सावधानी	६७१
उपसंहार	६७१
अध्याय-सारांश	६७१

चित्र-सूची

	विषय	पृष्ठ		विषय	पृष्ठ
१	अष्टाङ्ग आयुर्वेद	७	३४	बड़ी एला	३२३
२	आँवला	२५७	३५	पिप्पली	३२५
३	बिभीतक	२५७	३६	मरिच	३२५
४	गुग्गुलु	२६३	३७	अतिविषा	३२५
५	शंखपुष्पी	२६३	३८	कर्पूर	३९७
६	केशर	२६६	३९	नाड़ीस्वेद	४६८
७	मदनफल	२८३	४०	कुम्भीस्वेद	४६९
८	त्रिवृत्	२८४	४१	कूपस्वेद	४७०
९	अश्वगन्धा	२९३	४२	कुटीस्वेद	४७०
१०	एरण्ड	२९४	४३	जेन्ताकस्वेद	४७२
११	कट्फल	२९४	४४	वस्तिनेत्र	५०८
१२	चव्य	२९६	४५	सिंहमुख यन्त्र	५७६
१३	चित्रक	२९६	४६	कंकमुख यन्त्र	५७६
१४	खस	२९६	४७	श्येनमुख स्वस्तिक यन्त्र	५७६
१५	रक्तचन्दन	२९८	४८	कुररमुख स्वस्तिक यन्त्र	५७७
१६	श्वेतचन्दन	२९८	४९	सनिबन्ध संदंश यन्त्र	५७७
१७	कुटज	२९९	५०	अनिग्रह संदंश यन्त्र	५७७
१८	कण्टकारी	३०२	५१	मुचुण्डी यन्त्र	५७८
१९	बृहती	३०२	५२	एकताल यन्त्र	५७८
२०	गोक्षुर	३०४	५३	द्विताल यन्त्र	५७८
२१	गोक्षुर बड़ा	३०५	५४	कर्णवीक्षण नाड़ीयन्त्र	५८०
२२	द्राक्षा	३०६	५५	गुदादर्शक यन्त्र	५८०
२३	खदिर	३०८	५६	योनिपरीक्षण यन्त्र	५८०
२४	अशोक	३०९	५७	मण्डलाग्र शस्त्र	५९०
२५	ब्राह्मी	३०९	५८	उन्नतधार वृद्धिपत्र	५९१
२६	पुनर्नवा	३१०	५९	मुद्रिका शस्त्र	५९१
२७	मण्डूकपर्णी	३१०	६०	करपत्र शस्त्र	५९२
२८	कपिकच्छु	३१३	६१	कुशपत्र शस्त्र	५९२
२९	कुटकी	३१४	६२	व्रीहिमुख शस्त्र	५९३
३०	गुडूची	३१५	६३	सीधी एवं त्रिधार वक्र सूची	५९४
३१	दारुहरिद्रा	३२०	६४	वृत्ताकार सूची	५९४
३२	अर्जुन	३२१	६५	नखशस्त्र	५९५
३३	छोटी एला	३२३	६६	जोंक	५९८

	विषय	पृष्ठ		विषय	पृष्ठ
६७	कोशबन्ध	६४७	७५	यमक बन्ध	६४९
६८	दामबन्ध	६४७	७६	खट्वा बन्ध	६४९
६९	स्वस्तिक बन्ध	६४७	७७	चीन बन्ध	६४९
७०	उत्संग बन्ध	६४७	७८	विबन्ध बन्ध	६५०
७१	अनुवेल्लित बन्ध	६४८	७९	वितान बन्ध	६५०
७२	मण्डल बन्ध	६४८	८०	गोष्फण बन्ध	६५०
७३	मुत्तोली बन्ध	६४८	८१	पश्चाङ्गी बन्ध	६५०
७४	स्थगिका बन्ध	६४८			

कतिपय महत्त्वपूर्ण तालिका-सूची

	विषय	पृष्ठ
१	आयुर्वेदावतरण	४
२	विभिन्न देह-प्रकृतियाँ	११
३	गुर्वादि बीस गुण	१७
४	दिनचर्या	६१
५	ऋतुओं के अनुसार प्राकृतिक स्थिति	६८
६	ऋतुओं के अनुरूप आहार-विहार	७७
७	वेगावरोधजन्य विकार एवं चिकित्सा	८८
८	अन्न द्रव्यों का वर्गीकरण	१५८
९	षड्रसों के अनुसार आहार-विवेचन	१९६
१०	आयु की स्थिति एवं विनाश का आधार	२१३
११	आयुर्वेदीय पाचन-प्रक्रिया	२२५
१२	विविध औषध	२४५
१३	गृहशान्ति हेतु विशिष्ट रत्न, दिन एवं धातु	२५१
१४	पार्थिव द्रव्य के गुण एवं कर्म	३२९
१५	शोधन एवं शामक द्रव्यों का पाञ्च-भौतिक संगठन	३३०
१६	विपाक एवं आधुनिक पाचन	३३३
१७	रस, वीर्य एवं विपाक की परीक्षा	३४२
१८	रसदेश	३५६
१९	दोषों की क्षय-वृद्धि	३६४
२०	दोषों की क्षय-वृद्धि का चिकित्सा-सिद्धान्त	३६२
२१	धातुस्थ दोषों का लक्षण	३६९
२२	शरीर में दोषों का स्थान	३७५
२३	वायु के भेद, स्थान एवं कर्म	३७८
२४	पित्त के भेद, स्थान एवं कर्म	३८०
२५	कफ के भेद, स्थान एवं कर्म	३८२
२६	वायु का स्वरूप, प्राकृत-वैकृत कर्म तथा सामान्य उपक्रम	४०५
२७	पित्त का स्वरूप, प्राकृत-वैकृत कर्म तथा सामान्य उपक्रम	४०६
२८	कफ का स्वरूप, प्राकृत-वैकृत कर्म तथा सामान्य उपक्रम	४०७
२९	सुश्रुतोक्त एवं वाग्भटोक्त व्याधियाँ	४१०
३०	रोगों का विविध वर्गीकरण	४१२
३१	द्विविध उपक्रम	४३६
३२	स्नेह के भेद	४५४
३३	स्वेद	४७८
३४	वमन-विरेचन द्रव्यों की कार्यविधि	४८०
३५	संसर्जन क्रम	४९१
३६	आस्थापनवस्ति की मात्रा	५१०
३७	निरूह एवं आस्थापनवस्ति में भेद	५२०
३८	वस्ति-भेद	५२३
३९	कर्म एवं प्रयोगानुसार नस्य के भेद	५२९
४०	मर्श एवं प्रतिमर्श में भेद	५४१
४१	धूम के भेद	५४४
४२	विविध धूमपान की सेवन-विधि	५४८
४३	मूर्ध तैल	५५६
४४	अञ्जन	५६३
४५	तर्पण की अवधि	५७०
४६	पुटपाक	५७१
४७	प्रमुख शलाका यन्त्र	५८३
४८	वाग्भटानुसार यन्त्रों की संख्या	५८६
४९	सुश्रुतानुसार यन्त्रों की संख्या	५८६
५०	शस्त्रकर्म	५९०
५१	रक्तावसेचन की विधियाँ	६०५
५२	रोगानुसार सिरावेध	६१०
५३	प्राकृत-वैकृत रक्त का स्वरूप	६१६
५४	विभिन्न बन्धन एवं स्थान	६५१
५५	क्षार के गुण-दोष	६६२
५६	अग्निकर्म के उपकरण, रोगानुसार स्थान एवं रोग	६६८

॥ श्रीः ॥

श्रीमद् वृद्धवाग्भटविरचितः-

अष्टाङ्गसङ्ग्रहः

(सूत्रस्थानम्)

'सरोज'-हिन्दीव्याख्यासहितः

प्रथमोऽध्यायः

मङ्गलाचरणम्

तृष्णादीर्घमसद्विकल्पशिरसं प्रद्वेषचञ्चत् फणं
कामक्रोधविषं वितर्कदशनं रागप्रचण्डेक्षणम् ।
मोहास्यं स्वशरीरकोटरशयं चित्तोरगं दारुणं
प्रज्ञामन्त्रबलेन यः शमितवान् बुद्धाय तस्मै नमः[1] ॥ १ ॥

तृष्णादैर्घ्यं—तृष्णा (सांसारिक सुखों की प्राप्ति की लालसा) ही लंबाई है जिसकी; असद्-विकल्पशिरसं—अश्रेष्ठ विचार शिर है जिसका; प्रद्वेषचञ्चत्फणं—द्वेष के समान विस्तृत फण है जिसका; कामक्रोधविषं—कामक्रोध ही विष है जिसका; वितर्कदशनं—भाँति-भाँति का तर्क है दाँत जिसका; रागप्रचण्डेक्षणं—सांसारिक विषयों की प्रचण्ड वासना ही नेत्र है जिसका; मोहास्य—चित्तविकार मुख है जिसका; स्वशरीरकोटरशयं—अपने शरीररूपी वृक्ष के कोटर (खोखला स्थान) में शयन (वासस्थान) है जिसका; उस दारुण (भीषण) चित्तोरगं—चित्तरूपी सर्प को, यः—जिसने; प्रज्ञामन्त्रबलेन—बुद्धिरूपी मंत्रशक्ति द्वारा; शमितवान्—शान्त किया; तस्मै बुद्धाय नमः—उस बुद्ध के लिए नमस्कार है ।

रागादिरोगाः सहजाः समूला येनाशु सर्वे जगतोऽप्यपास्ताः ।
तमेकवैद्यं शिरसा नमामि वैद्यागमज्ञांश्च पितामहादीन् ॥ २ ॥

येन—जिसने, आशु—शीघ्र, सर्वे—सभी, सहजाः—जन्म के साथ उत्पन्न, रागादिरोगाः—राग आदि रोगों को, समूला—जड़ सहित, अपास्ताः—दूर किया तथा जगतोऽपि—संसार के भी रागादि रोगों को अपने सदुपदेशों द्वारा दूर किया, तम्—उस, [2]एकवैद्यं—एक अर्थात् प्रधान वैद्य को, च—और, वैद्यागमज्ञान—आयुर्वेदज्ञ, पितामहादीन्—पितामह आदि को, शिरसा नमामि—शिर से नमस्कार करता हूँ ।

---

१. इन्दुकृत व्याख्या में यह श्लोक नहीं है । २. 'एकोऽन्यः प्रधाने स्यात्' इत्यमरः ।

किसी भी कार्य के निर्विघ्न समापन हेतु मंगलाचरण का विधान है। तदनुसार महर्षि वाग्भट ने भी उपर्युक्त दोनों श्लोकों द्वारा मंगलाचरण प्रस्तुत किया है। प्रथम श्लोक में ही भगवान् बुद्ध को नमस्कार किया गया है, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये बौद्धानुयायी थे।

अथात आयुष्कामीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ ३ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ ४ ॥

अतः अनन्तरं अर्थात् मंगलाचरण के अनन्तर 'आयुष्कामीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। इस प्रकार पुनर्वसु आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

'अथ' शब्द का प्रयोग मंगल अर्थों में होता है। यहाँ पर जिन शास्त्रों के प्रारम्भ में मंगलाचरण किया जाता है, उन शास्त्रों एवं उन शास्त्रों के अध्येताओं की प्रवृत्ति विघ्नरहित होती है और इष्ट की प्राप्ति होती है। इसलिए यहाँ पर ग्रंथ के प्रारम्भ में जो अथ का प्रयोग हुआ है, वह मंगलार्थक है। कहा भी गया है कि 'ओंकार' और 'अथ' शब्द ब्रह्मा के कण्ठ से निकले हैं, इसलिए ये मांगलिक हैं—

'ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेनेमौ मङ्गलौ स्मृतौ' ॥

अतः शब्द का अर्थ अधिकार और अनन्तर है। यह शास्त्र आयु की कामना के लिए ही है, इसलिए इसी जगह से प्रारम्भ कर और इस तन्त्र (ग्रंथ) की समाप्ति तक आयु की कामना का ही अधिकार चलता है। सभी आयु की कामना से युक्त हैं। इसी से यह अतः शब्द आयुष्कामीय अधिकार को प्रकट करता है।

अतः शब्द का दूसरा अर्थ अनन्तर होता है। इसलिए यहाँ पर अतः शब्द का अभिप्राय यह है कि देवता आदि के नमस्कार के पश्चात् आयु चाहने वाले व्यक्ति के लिए हितकर वचनों की व्याख्या करेंगे। इस अनन्तर अर्थ को बताने के लिए अतः शब्द का प्रयोग किया गया है।

यहाँ पर व्याख्यास्यामः पद बहुवचन है, जब कि इस ग्रंथ के रचयिता वाग्भट एक व्यक्ति हैं। उनके लिए बहुवचन का प्रयोग कैसे उचित होगा ? इस सम्बन्ध में पाणिनि का सूत्र है—'अस्मदो द्वयोश्च'। इस सूत्र के नियमानुसार अपने (अस्मद् के) लिए द्विवचन और बहुवचन का विधान देखा जाता है। इसलिए यहाँ बहुवचन का प्रयोग उचित है।

आयुष्कामीयं—'आयुः कामयन्ते इति आयुष्कामाः तेभ्योहितः आयुष्कामीयः तं आयुष्कामीयम्' अर्थात् आयु की कामना करने वालों के लिए हितकारक अध्याय को। 'इति शब्द एवमर्थे। ह शब्द अनुकम्पायाम्' (अरुणदत्त)।

सूत्रस्थान—'सूचनात् सूत्रणाच्चैव सन्धानाच्चार्थ सन्ततेः।
.....सूत्रस्थानं प्रचक्षते' ॥ (सु० सू० ३।१२)

सूचनात्—आयुर्वेद के अर्थों को सूचित करने से, सूत्रेण—जिस प्रकार फूलों को एकत्रित करने में सूत्र (डोरा) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अर्थों को यथास्थान रखने से तथा अर्थों को जानने से सूत्रस्थान कहते हैं।

आयुर्वेद का प्रयोजन

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥ ५ ॥

धर्म, अर्थ एवं सुख (तत्कालीन तथा उत्तरकालीन दोनों प्रकार के) इन सभी का साधन आयु है। उस आयु की कामना करने वाले पुरुष को आयुर्वेद के उपदेश में परम आदर रखना चाहिए।

आयुर्वेद के सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'आयुः अस्मिन् विद्यते, अनेन वा आयुः विन्दति इति आयुर्वेदः'। (सु० सू० १।१५) अर्थात् वह आयु इसमें है, अथवा आयु इसके द्वारा जानी जाती है, अथवा आयु का इसमें विचार किया जाता है, अथवा आयु इसके द्वारा प्राप्त की जाती है, इसलिए यह आयुर्वेद है।

आयुर्वेद एक चिकित्सा-विज्ञान है। स्वस्थ के स्वास्थ्य का संरक्षण एवं रोगी के रोग का उन्मूलन इसका प्रयोजन है। महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थरक्षणम् आतुरस्य विकारप्रशमनं च।' (च० सू० ३०।२६)। महर्षि सुश्रुत ने भी कहा है—'इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं—व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च।' (सु० सू० १।१४)

आयु का लक्षण बतलाते हुए अग्निवेश ने कहा है—

'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते'॥ (च० सू० १।४२)

अर्थात् पंचभौतिक शरीर, चक्षुरादि इन्द्रियाँ, मन और आत्मा—इनका संयोग जिस किसी पुरुष में जितने समय तक रहता है, उतने समय तक की उस पुरुष की आयु होती है। अतः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग ही आयु है।

सत्त्व, आत्मा, शरीर तथा इन्द्रियों के परस्पर संयोग को धारण करने से धारि, प्राणों को जीवित रखने से जीवित, नित्य प्रतिक्षण गमनशील होने से नित्यग और अपरापर (उत्तरोत्तर) शरीरसंयोग रूप अनुबन्ध से आयु को अनुबन्ध कहा कहा गया है। महर्षि अग्निवेश ने पुनः आयु के सम्बन्ध में कहा है—'तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः'।

(च० सू० ३०।२२)

आयु—चेतनानुवृत्ति (गर्भ से मरण पर्यन्त चेतना का रहना), जीवित, अनुबंध तथा धारि का एक ही अर्थ है। अर्थात् ये सब आयु के पर्याय हैं।

धर्म—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। (वै० द० १।२)

अर्थात् जिससे इस लोक और परलोक में सब सुख-भोग और मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है।

अर्थ—'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु'। (अमरकोश)

अर्थात् अभिधेय, रै (धन), वस्तु, प्रयोजन तथा निवृत्ति इन अर्थों में अर्थ शब्द प्रयुक्त होता है। महर्षि चरक ने कहा है—'अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः'।

(च० शा० १।३१)

सुख—'सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्'। (तर्कसंग्रह)

अर्थात् सभी इष्ट, मित्र तथा शत्रु का जो प्रियजनक हो, वह सुख है।

आयुर्वेदावतरण

आयुर्वेदामृतं सार्थं ब्रह्मा बुद्ध्वा सनातनम्।
ददौ दक्षाय सोऽश्विभ्यां तौ शतक्रतवे ततः॥ ६॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां विघ्नकारिभिरामयैः।
नरेषु पीड्यमानेषु पुरस्कृत्य पुनर्वसुम्॥ ७॥

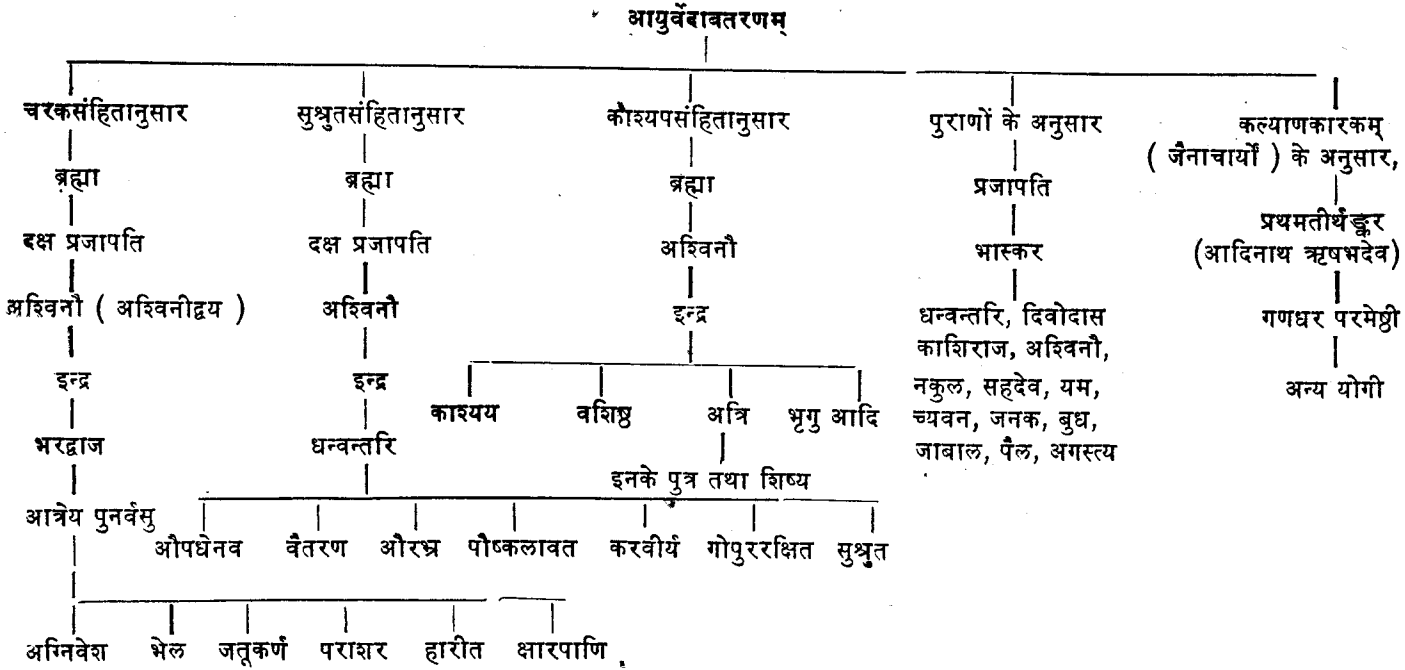
आयुर्वेदावतरणम्
चरकसंहितानुसार
ब्रह्मा
दक्ष प्रजापति
अश्विनौ (अश्विनीद्वय)
इन्द्र
भरद्वाज
आत्रेय पुनर्वसु
अग्निवेश
भेल
जतूकर्ण
पराशर
हारीत
क्षारपाणि
सुश्रुतसंहितानुसार
ब्रह्मा
दक्ष प्रजापति
अश्विनौ
इन्द्र
धन्वन्तरि
औपधेनव
वैतरण
औरभ्र
पौष्कलावत
करवीर्य
गोपुररक्षित
सुश्रुत
कौश्यपसंहितानुसार
ब्रह्मा
अश्विनौ
इन्द्र
काश्यय
वशिष्ठ
अत्रि
भृगु आदि
इनके पुत्र तथा शिष्य
पुराणों के अनुसार
प्रजापति
भास्कर
धन्वन्तरि, दिवोदास
काशिराज, अश्विनौ,
नकुल, सहदेव, यम,
च्यवन, जनक, बुध,
जाबाल, पैल, अगस्त्य
कल्याणकारकम्
(जैनाचार्यों) के अनुसार,
प्रथमतीर्थङ्कर
(आदिनाथ ऋषभदेव)
गणधर परमेष्ठी
अन्य योगी

धन्वन्तरिर्भरद्वाजनिमिकाश्यपकश्यपाः ।
महर्षयो महात्मानस्तथाऽऽलम्बायनादयः ॥ ८ ॥
शतक्रतुमुपाजग्मुः शरण्यममरेश्वरम् ।
तान् दृष्ट्वैव सहस्राक्षो निजगाद यथागमम् ॥ ९ ॥
आयुषः पालकं[1] वेदमुपवेदमथर्वणः ।
कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषैः ॥ १० ॥
गतमष्टाङ्गतां पुण्यं बुबुधे यं पितामहः ।

ब्रह्मा ने सनातनं—नित्य (अनादि), सार्थं—अर्थसहित, आयुर्वेदामृत को जानकर दक्ष प्रजापति को उपदेश दिया और दक्षप्रजापति ने अश्विनीकुमारों (नासत्य एवं दस्र) को और अश्विनी कुमारों ने शतक्रतव (इन्द्र) को उपदेश दिया ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में विघ्नकारक रोगों द्वारा मनुष्यों के पीड़ित होने पर पुनर्वसु आत्रेय को आगे करके धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप, कश्यप महर्षि तथा आलंबायन आदि महात्मा शरण में आये हुए को शरण देने वाले अमरेश्वर शतक्रतु (इन्द्र) के पास गये ।

सहस्त्राक्ष (इन्द्र) ने उन महर्षियों को देखते ही अथर्ववेद के उपवेद, आयु की रक्षा करने वाले वेद आयुर्वेद को जो—१. काय (कायचिकित्सा), २. बाल (कौमारभृत्य,), ३. ग्रह (भूत-विद्या), ४. ऊर्ध्वाङ्ग, (शालाक्यतंत्र), ५. शल्यतंत्र, ६. दंष्ट्रा (अंगदतंत्र), ७. जरा (रसायनतंत्र) तथा ८. वृष (वाजीकरणतंत्र)—इस प्रकार आठ अंगों को प्राप्त है, अर्थात् आठ अंगों में विभक्त है तथा जिस पवित्र शास्त्र आयुर्वेद को पितामह (ब्रह्मा) ने जाना, उस पवित्र आयुर्वेद को यथागमं (शास्त्रानुसार) उन्हें (उन आये हुए महर्षियों को) अवगत कराया ।

गृहीत्वा ते तमाम्नायं प्रकाश्य च परस्परम् ॥ ११ ॥
आययुर्मानुषं लोकं मुदिताः परमर्षयः ।
स्थित्यर्थमायुर्वेदस्य तेऽथ तन्त्राणि चक्रिरे ॥ १२ ॥
कृत्वाऽग्निवेशहारीतभेडमाण्डव्यसुश्रुतान् ।
करालादींश्च सच्छिष्यान् ग्राहयामासुरादृताः ॥ १३ ॥
स्वं-स्वं तन्त्रं ततस्तेऽपि चक्रुस्तानि कृतानि च ।
गुरून् संश्रावयामासुः सर्षिसङ्घान् सुमेधसः ॥ १४ ॥
तैः प्रशस्तानि तान्येषां प्रतिष्ठां भुवि लेभिरे ।

वे महर्षि, आम्नायं—उस आयुर्वेदशास्त्र को ग्रहण करके प्रसन्न होते हुए एक दूसरे को अपना जाना हुआ प्रकाशित करते हुए, मनुष्यलोकं—मनुष्य लोक को आ गये ।

तदनन्तर उन महर्षियों ने आयुर्वेदस्य स्थित्यर्थं—संसार में आयुर्वेद की स्थिति को बनाये रखने के लिए, तन्त्राणि चक्रिरे—पृथक्-पृथक् तंत्रों की रचना की ।

लोगों के द्वारा आदर को प्राप्त हुए उन महर्षियों ने अपने-अपने तंत्रों की रचना करके अग्निवेश, हारीत, भेड, माण्डव्य, सुश्रुत और कराल आदि, सत्शिष्यान्—अच्छे शिष्यों को ग्रहण कराया, अर्थात् आयुर्वेद का उपदेश दिया ।

---

१. 'पालनम्' इति पाठान्तरः ।

तत्पश्चात् अग्निवेश आदि महर्षियों ने भी अपने-अपने तंत्रों की पृथक्-पृथक् रचना की और अपने रचे हुए ग्रन्थों को ऋषि-समूह के साथ बैठे हुए अच्छे मेधावी अपने गुरुओं को सुनाया। उन गुरुओं द्वारा वे तंत्र प्रशंसित हुए और भूलोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए।

आयुर्वेद के आठ अंग

१. कायचिकित्सा (Medicine)—'कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वर-रक्तपित्तशोषोन्मादाऽपस्मारकुष्ठमेहाऽतिसारादीनामुपशमनार्थम्'। (सु० सू० १।६)

अर्थात् शरीर के सर्वाङ्ग में होने वाले ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ एवं अतिसार आदि रोगों की चिकित्सा का विधान जिसमें किया जाता है, आयुर्वेद के उस अंग को 'कायचिकित्सा' कहते हैं।

२. बालरोग (Paediatrics)—'कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्'। (सु० सू० १।८)

अर्थात् कुमार (बालक) के भरण-पोषण की व्यवस्था, धात्री-परीक्षा, दुष्ट दुग्ध विशोधन, ग्रहजन्य रोगों का प्रतिकार तथा बालकों के रोगों की चिकित्सा का विधान, जिसमें किया जाता है, आयुर्वेद के उस अंग को 'कौमारभृत्य' (बाल रोग) कहते हैं।

३. ग्रह (भूतविद्या—Science of demonic seizures psychology)—'भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्।') (सु० सू० १।७)

देवता, पितृ, पिशाच तथा ग्रह आदि के आक्रमण से पीड़ित व्यक्तियों के कष्ट को दूर करने के लिए, उन देव आदि के लिए बलि, उपहार, पूजा आदि के विधान के द्वारा रोग की शांति का उपाय जिसके द्वारा किया जाता है, आयुर्वेद के उस अंग को 'भूतविद्या' कहते हैं।

४. ऊर्ध्वांग (शालाक्य—Science of diseases specific to supraclavicular region viz eye, ear, nose, mouth, throat etc.)—'शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां श्रवणवदननयनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम्'। (सु० सू० १।५)

अर्थात् कर्ण, नेत्र, मुख, नासिका आदि जत्रु के ऊपर के अंगों में उत्पन्न हुए रोगों की शांति के लिए तथा शलाका यंत्र के प्रयोग के लिए जो आयुर्वेदाङ्ग होता है, उसे 'शालाक्यतंत्र' कहते हैं।

५. शल्य (Surgery)—'तत्र, शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्ट्रास्थिबाल-नखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थञ्च'। (सु० सू० १।४)

अर्थात् अनेक प्रकार के घास, लकड़ी, पत्थर, धूलिकण, धातु (लोहा आदि), मिट्टी, हड्डी, केश, नख, पूय, आस्राव, मूढ़गर्भ आदि शारीरिक तथा आगंतुक शल्यों को निकालने के लिए यंत्र, शस्त्र, क्षारकर्म, अग्निकर्म के प्रयोग के लिए तथा विविध प्रकार के व्रणों का विनिश्चय करने के लिए शल्य नामक आयुर्वेदाङ्ग प्रवृत्त होता है। इसे ही 'शल्यतंत्र' कहते हैं।

६. दंष्ट्रा (अगदतंत्र—Toxicology)—'अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषकादिदष्टविष-व्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थञ्च'। (सू० सू १।९)

अर्थात् सर्प, कीट, लूता (मकड़ी) आदि से डसे हुए अनेक प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोग विष से ग्रस्त मनुष्य की चिकित्सा के लिए जो अंग होता है, उसे 'अगदतंत्र' कहते हैं। अगदतंत्र शब्द का प्रयोग सुश्रुत ने किया है। चरक ने इसे 'विषगरवैरोधिकप्रशमन' कहा है।

७. जरा (रसायनतंत्र—Sciencc of Rejuvenation)—'रसायनतन्त्रं नाम वयः-स्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थञ्च'। (सु० सू० १।१०)

अर्थात् दीर्घकाल तक तारुण्यावस्था-स्थापन करने के लिए आयु, बल तथा बुद्धि की वृद्धि के लिए एवं शरीर में रोग-प्रतिरोधक शक्ति बढ़ाने के लिए जो आयुर्वेदांग है, उसे 'रसायनतंत्र' कहते हैं। चरक ने कहा है—'लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्'। (च० सि० १।१।८)

८. वृष (वाजीकरण तंत्र—Science of Aphrodisiacs)—'वाजीकरणतन्त्रं नामाल्प-दुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च'। (सु० सू० १।११)

अर्थात् अल्पवीर्य, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य एवं शुष्कवीर्य जनों में वीर्यपुष्टि, वीर्यशोधन, वीर्य-वृद्धि और वीर्योत्पादन करने के लिए तथा मैथुनेच्छा (प्रहर्ष) बढ़ाने के लिए जो आयुर्वेदांग है, उसे 'वाजीकरण' कहते हैं।

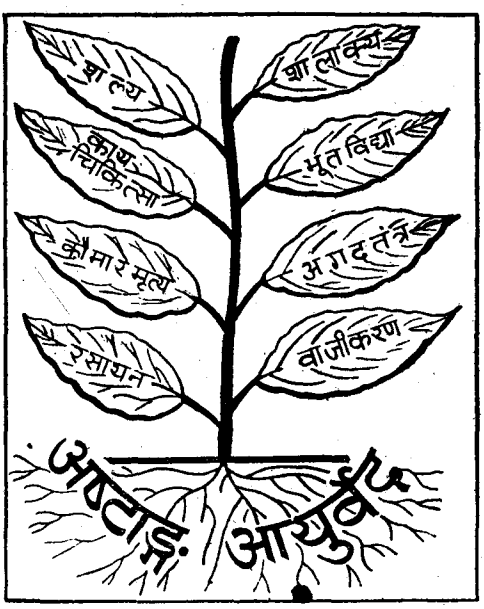

अष्टाङ्गसंग्रह की रचना का प्रयोजन

तेषामेकैकमव्यापि समस्तव्याधिसाधने ॥ १५ ॥
प्रतितन्त्राभियोगे तु पुरुषायुषसङ्क्षयः।
भवत्यध्ययनेनैव यस्मात् प्रोक्तः पुनः पुनः ॥ १६ ॥
तन्त्रकारैः स एवार्थः क्वचित् कश्चिद्विशेषतः।
तेऽर्थप्रत्यायनपरा वचने यच्च नादृताः ॥ १७ ॥

अग्निवेश आदि ऋषियों द्वारा रचित एक-एक तंत्र संपूर्ण व्याधियों के चिकित्सा-प्रतिपादन में अपर्याप्त हैं। प्रत्येक तंत्र के पढ़ने में पुरुष की आयु का क्षय पढ़ते ही पढ़ते हो जाता है, क्योंकि तंत्रकारों ने एक ही विषय को बार-बार कई स्थलों पर प्रदर्शित किया है और कहीं-कहीं उन्हीं विषयों को कुछ विशेष रूप से प्रकट किया है, जिससे भिन्न-भिन्न ऋषियों के शास्त्र अर्थ-ख्यापक होते हुए भी शास्त्र-प्रवचन अथवा विषय-विवेचन आदर योग्य नहीं हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह का वैशिष्ट्य

सर्वतन्त्राण्यतः प्रायः संहृत्याऽष्टाङ्गसङ्ग्रहः ।
अस्थानविस्तराक्षेपपुनरुक्तादिवर्जितः ॥ १८ ॥
हेतुलिङ्गौषधस्कन्धत्रयमात्रनिबन्धनः ।
विनिगूढार्थतत्त्वानां प्रदेशानां प्रकाशकः ॥ १९ ॥
स्वान्यतन्त्रविरोधानां भूयिष्ठं विनिवर्तकः ।
युगानुरूपसन्दर्भो विभागेन करिष्यते ॥ २० ॥

इसलिए प्रायः सब तंत्रों का संग्रह कर अर्थात् सभी तंत्रों का निचोड़ स्वरूप, अस्थान (उचित स्थान पर विषयों का प्रतिपादन न होना), विस्तर (अनावश्यक विषयों को समाविष्ट कर ग्रंथ-विस्तार किया जाना), आक्षेप (दूसरों द्वारा निन्दित किया जाना) तथा पुनरुक्तादि (एक ही विषय को बार-बार कहना), दोषों से रहित, हेतु (निदान—Aetiology), लिंग (लक्षण—Signs and Spmptoms) एवं औषध (चिकित्सा—Drugs) इस प्रकार त्रिस्कन्ध मात्र से निबन्धित गुण, अर्थ, तत्त्व वाले विषयों का प्रकाशक अर्थात् प्रतिपादक, अपने एवं अन्य तंत्रों के परस्पर विरुद्ध स्थलों का अत्यन्त निवारक, वर्तमान युग के अनुरूप, सन्दर्भ से युक्त यह अष्टांगसंग्रह ग्रंथ कई स्थलों में अर्थात् स्थानों में विभाजित कर लिखा जा रहा है ।।

कायचिकित्सा की विशेषता

नित्योपयोगि दुर्बोधं सर्वाङ्गव्यापि भावतः ।
सङ्गृहीतं विशेषेण यत्र कायचिकित्सितम् ॥ २१ ॥

नित्योपयोगि—जिसका नित्य उपयोग होता है, दुर्बोधं—जिसका ज्ञान बड़ी कठिनाई से होता है, सर्वाङ्गव्यापि भावतः—जो आयुर्वेद के अन्य सब अंगों में व्याप्त है, उस कायचिकित्सा को मैंने यहाँ इस अष्टांगसंग्रह ग्रन्थ में विशेष रूप से संगृहीत किया है ।

ग्रंथ की प्रामाणिकता

न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम् ।
तेऽर्थाः स ग्रन्थबन्धश्च सङ्क्षेपाय क्रमोऽन्यथा ॥ २२ ॥

यहाँ इस ग्रंथ में मात्रा मात्र भी किंचित् शास्त्र रहित नहीं है, अर्थात् सभी शास्त्रानुसार है । ग्रंथ की रचना संक्षिप्त रूप में कहने के लिए ही अन्यथाक्रम (अन्य ढंग) से की गई है ।

दोष-विवेचन

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ।
प्रत्येकं ते त्रिधा वृद्धिक्षयसाम्यविभेदतः ॥ २३ ॥
उत्कृष्टमध्याल्पतया त्रिधा वृद्धिक्षयावपि ।
विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्धयन्ति च ॥ २४ ॥

संक्षेपतः वायु, पित्त और कफ ये तीन शारीरिक दोष हैं । वे प्रत्येक वृद्धि, क्षय और साम्य भेद से तीन प्रकार के हैं । जैसे वायुवृद्ध, वायुक्षीण और वायुसम । इसी प्रकार पित्तवृद्ध, पित्तक्षीण और पित्तसम तथा कफवृद्ध, कफक्षय और कफसम । वृद्धि-क्षय भी उत्कृष्ट, मध्य और अल्पभेद से तीन प्रकार के होते हैं । उत्कृष्ट अर्थात् अधिक जैसे—उत्कृष्ट वृद्धि, मध्य वृद्धि और अल्पवृद्धि;

उत्कृष्ट क्षय, मध्यक्षय और अल्पक्षय। वे दोष विकृत होते हुए देह को नष्ट कर देते हैं और अविकृत (साम्य) अवस्था में रहते हुए शरीर की वृद्धि करते हैं।

दोषाः—'दूषयन्ति मनः शरीरं च इति दोषाः'। (सिद्धान्तनिदानः तत्वदर्शिनी) अर्थात् देह एवं मन को दूषित कर देने की विशेषता रखने के कारण ही दोष कहते हैं। शार्ङ्गधर ने कहा है—'शरीरदूषणाद् दोषाः'। माधवनिदान की मधुकोष टीका में विजयरक्षित ने कहा है—'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति स्वातन्त्र्येण दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्'। अर्थात् जिसमें प्रकृति-निर्माण करने की क्षमता हो और जिसमें स्वतंत्रतापूर्वक शरीर को दूषित करने की प्रवृत्ति हो, उसी को दोष कहा जाना चाहिए। त्रिदोष चर्चा परिषद् ने दोषों की परिभाषा इस प्रकार निर्धारित की है—'सर्वप्राकृतकर्मसु सकर्तृकनियामकत्वे सति स्वातन्त्र्येण दूषणशीलत्वं दोषत्वम्, तच्च वातादिषु त्रिष्वेव नान्यत्र.....।'

वस्तुतः ये वायु, पित्त और कफ शरीर को धारण करने से धातु हैं, क्योंकि इनकी साम्यावस्था से ही शरीर स्वस्थ और निरोग रहता है, किन्तु जब ये स्वप्रकोपकारणवशात् अपने परिमाण से न्यून अथवा अधिक हो जाते हैं और शरीर को दूषित कर रोग उत्पन्न करने लगते हैं, तब इनकी संज्ञा दोष हो जाती है। इसी प्रकार शरीर को मलिन करने से ये मल भी कहे गये हैं। इसीलिए कहा गया है—'शरीरदूषणाद् दोषाः, मलिनीकरणान्मलाः। धारणाद् धातवश्च स्युः, वातपित्तकफास्त्रयः'॥ (शा० पू० ५)

हमारे देहरूपी जगत् में वात, पित्त, कफ ये क्रमशः वायु, सूर्य और चन्द्रमा के समान क्रियाएँ करते हैं। वात वायु के समान शरीर में धारक-पोषक तत्त्वों का विक्षेप करता है; पित्त सूर्य के समान द्रव पदार्थों का शोषण तथा पाचन कार्य करता है तथा कफ चन्द्रमा के समान शरीर में स्नेहांश की वृद्धि करता है। महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा'॥ (सु० सू० २१।८)

वात-पित्त-कफ की अवस्थाएँ

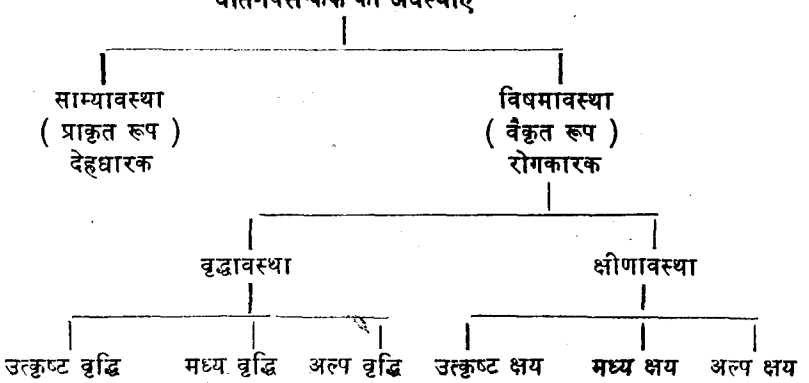

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।
वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्॥ २५॥

वे वातादि दोष शरीर में व्याप्त होते हुए भी क्रमशः हृदय, नाभि के नीचे, मध्य में तथा ऊपर विशेष रूप से रहते हैं। अर्थात् नाभि के नीचे वायु, हृदय-नाभि के मध्य पित्त और हृदय के ऊपरी भाग में कफ रहता है। इसी प्रकार क्रमानुसार वे दोष वय (आयु), दिन, रात्रि और खाये हुए भोजन के अन्त, मध्य और आदि में रहते हैं। जैसे आयु के अन्त (वृद्धावस्था) में

वायु, मध्य (युवावस्था) में पित्त तथा आदि (बाल्यावस्था) में कफ; इसी प्रकार दिन के अंतिम भाग में वायु, मध्य भाग में पित्त और आदि भाग में कफ; ऐसे ही रात्रि के अन्तिम भाग में वायु, मध्यभाग में पित्त और आदि भाग में कफ तथा किये हुए भोजन के परिपाक काल के अन्त में वायु, मध्य-काल में पित्त तथा आदि काल में कफ विशेषरूप से अर्थात् प्रधान रूप से रहते हैं।

शरीर-वय-दिन-रात्रि तथा आहार-परिपाक काल का दोषों से सम्बन्ध

	वात	पित्त	कफ
शरीर	हृदय एवं नाभि के नीचे	हृदय एवं नाभि के मध्य	हृदय एवं नाभि के ऊपर
वय	वृद्धावस्था	युवावस्था	बाल्यावस्था
दिन	अपराह्ण (2–6 p.m.)	मध्याह्न (10 a.m.–2 p.m.)	पूर्वाह्ण (6–10 a m.)
रात्रि	अपररात्रि (2–6 a.m)	मध्यरात्रि (10 p. m.–2 a. m.)	पूर्वरात्रि (6–10 p.m.)
आहार-परिपाक काल	अन्त (पक्वावस्था)	मध्य (विदग्धावस्था)	आदि (आमावस्था)

दोषों का जठराग्नि एवं कोष्ठ पर प्रभाव

तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः।
कोष्ठः क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्यः स्यात् तैः समैरपि ॥ २६ ॥

उन वातादि दोषों द्वारा विषम, तीक्ष्ण और मंद अग्नि होती है। जैसे वायु से विषमाग्नि, पित्त से तीक्ष्णाग्नि और कफ से मंदाग्नि होती है। इस प्रकार विषम, तीक्ष्ण, मंद और सम भेद से अग्नि चार प्रकार की होती है, जिनके कारण दोष ही हैं। इसी प्रकार कोष्ठ, क्रूर, मृदु, मध्य और सम भेद से यह चार प्रकार की होती है। वायु से क्रूर, पित्त से मृदु, कफ से मध्यकोष्ठ तथा तीनों दोषों की समानता से भी मध्यकोष्ठ होता है।

अग्नि—अग्नि का कार्य अन्न का पाचन करना है। मुख्यरूप से यह तेरह प्रकार की होती हैं—१. जठराग्नि, २. भूताग्नि (यह पाँच प्रकार की होती है) तथा ३. धात्वग्नि (यह सात प्रकार की होती है)। इन सभी अग्नियों में जठराग्नि प्रधान मानी गयी है। इसका कारण यह हैं कि सभी अग्नियाँ जठराग्नि से ही दीप्त होती हैं। कोष्ठ के सम्बन्ध में महर्षि अग्निवेष ने कहा है—'कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं, महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे' ॥

(च० सू० ११।४८)

अर्थात् महास्रोत, शरीरमध्य, महानिम्न, आमाशय एवं पक्वाशय कोष्ठ के पर्याय हैं।

देहप्रकृति

शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेव विषक्रिमेः।
तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक् ॥ २७ ॥
समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा निन्द्या द्विदोषजाः।

जन्म के आदि (गर्भाधान काल) में शुक्रार्तवस्थ—शुक्र-आर्तव स्थित वातादि दोषों द्वारा हीन, मध्य तथा उत्तम इस प्रकार तीन प्रकृतियाँ विष से विषकृमि की तरह बनती है। जैसे विष की कृमियाँ विष से नष्ट न होकर विष में ही उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार वातादि दोषों द्वारा वायु की अधिकता से हीन, पित्त की अधिकता से मध्यम तथा कफ की अधिकता से उत्तम इस

प्रकार का तीन प्रकृतियाँ बनती हैं। इनमें तीनों दोषों की समानता से, सम प्रकृति बनती है, जो कि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। द्विदोषज अर्थात् वातपित्त, वातकफ एवं पित्तकफ से—इन दो-दो दोषों से जो प्रकृतियाँ बनती हैं, वे निन्द्य होती हैं। अर्थात् वातादि दोषों से पृथक्-पृथक् तीन, दो-दो दोषों से तीन तथा तीनों दोषों की साम्यावस्था से एक—इस प्रकार कुल सात प्रकार की देह प्रकृतियाँ होती हैं।

इन्दु ने प्रकृति के सम्बन्ध में कहा है—'प्रकृतिः शरीरस्वरूपम्'। चक्रपाणि ने कहा है—'प्रकृतिर्जन्मप्रवृद्धो वातादिः'। (च० सू० २७।६३ पर चक्रपाणि टीका) अर्थात् गर्भाधान के समय त्रिदोषों का मनुष्य के शरीर पर जो शुभ-अशुभ प्रभाव होता है, उसे मनुष्य की प्रकृति कहते हैं। महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन' (सु० शा० ४।५८)। उक्त श्लोक की व्याख्या डल्हण ने इस प्रकार की है—'शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद् दोष उत्कट इति स्वभावस्थितो न प्रकुपितः'।

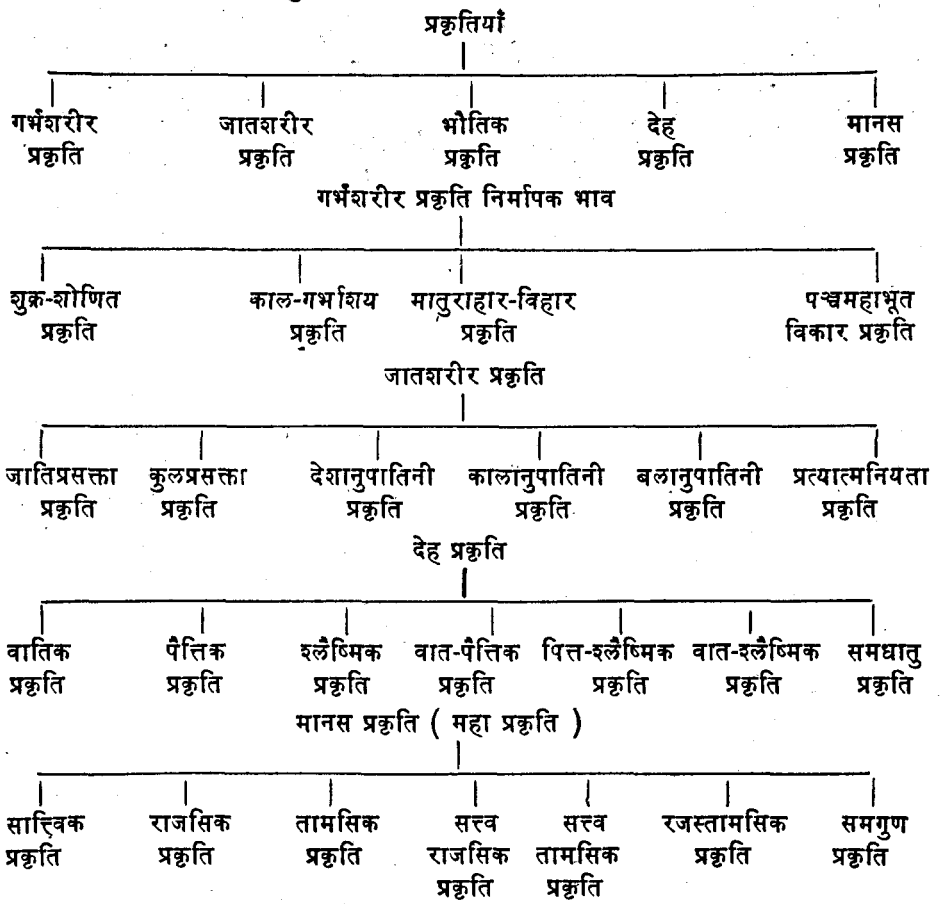

त्रिदोषों का स्वरूप

तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः ॥ २८ ॥
पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्।
स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः ॥ २९ ॥

दोषों के कुल सोलह संसर्ग एवं सन्निपात भेद

(क) संसर्ग के छः भेद

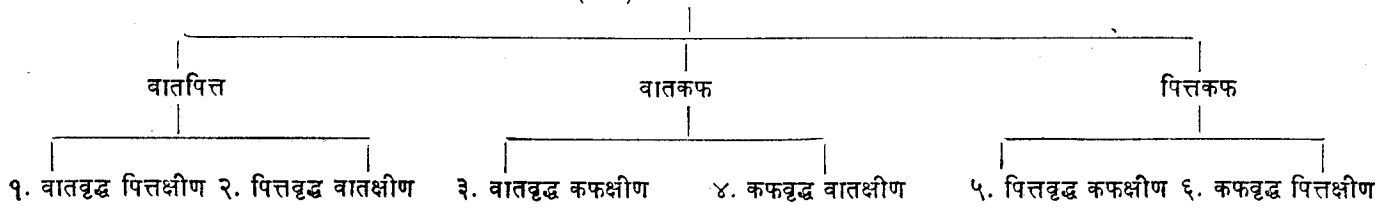

(ख) सन्निपात के दस भेद

१. वातवृद्ध	पित्तमध्य	कफ अल्प
२. वातवृद्ध	पित्त अल्प	कफमध्य
३. वातमध्य	पित्तवृद्ध	कफ अल्प
४. वातमध्य	पित्त अल्प	कफवृद्ध
५. वात अल्प	पित्तवृद्ध	कफमध्य
६. वात अल्प	पित्तमध्य	कफवृद्ध
७. वातवृद्ध	पित्तमध्य	कफमध्य
८. वातमध्य	पित्त अल्प	कफ अल्प
९. वातवृद्ध	पित्तवृद्ध	कफवृद्ध
१०. वातक्षीण	पित्तक्षीण	कफक्षीण

उक्त दोषों में वात—रूक्ष (रुखा Dryness), लघु (हलका Lightness), शीत (ठण्डा Cold), खर (खुरदुरा Roughness), सूक्ष्म (स्त्रोतोगामी Minuteness) तथा चल (गमनशील Mobile) है। पित्त—सस्नेह (स्नेहयुक्त Soothingness), तीक्ष्ण (शीघ्र कार्यकारी Sharpness), ऊष्ण (Heat), लघु (Lightness), विस्र (दुर्गन्धयुक्त Foul Smell), सर (फैलनेवाला Mobile) तथा द्रव (पतला Fluidity) है। कफ—स्निग्ध (स्नेह-युक्त, चिकना), शीत, गुरु (भारी Heavyness), मंद (मंद गति से कार्य करने वाला Dullness), श्लक्ष्ण (अपरुष-चिकना Smoothness), मृत्स्न (अँगुलियों द्वारा मलने पर लसलसा Viscid) तथा स्थिर (न फैलने वाला Stable) होता है।

दोषों के संसर्ग एवं सन्निपात

संसर्गः सन्निपातश्च तद्द्वित्रिक्षयकोपतः।
तौ षोढा दशधा चोक्तावुत्कर्षादिविकल्पनात् ॥ ३० ॥

अपने प्रमाण से बढ़े हुए या क्षीण हुए दोषों का संयोग 'संसर्ग' तथा तीनों बढ़े हुए अथवा क्षीण हुए दोषों का संयोग 'सन्निपात' कहा जाता है। क्षय और वृद्धि के भेद से संसर्ग छः प्रकार का तथा सन्निपात दस प्रकार का होता है।

धातु एवं मल

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।
सप्त दूष्या मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च ॥ ३१ ॥

रस, असृक् (रक्त), मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र—ये सात धातुएँ हैं। ये ही धातुएँ दूष्य भी हैं, क्योंकि वातादि दोष रोगों की उत्पत्ति में प्रथम इन्हीं को दूषित करते हैं। तत्पश्चात् रोग उत्पन्न करते हैं। मूत्र, शकृत् (मल), स्वेद आदि मल हैं तथा अपि शब्द से लोगों ने इसे दूष्य भी माना है।

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'त एते (रसादयः) शरीरधारणाद्धातव इत्युच्यन्ते'। (सु० सू० १४।२०)। 'त एते शरीरधारणादित्यादि। यद्यपि क्वचिद् दुष्टा दोषाऽपि देहधारणाद्धातुशब्देनोच्यन्ते, तथाप्यत्र रसादीनामधिकृतत्वात्त एव धातवः कथ्यन्ते' (डल्हण) अर्थात् रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक को धातु कहा गया है, क्योंकि ये सातों धातुएँ दोषों, उपधातुओं तथा मलों की अपेक्षा शरीर के धारण (स्वरूप-निर्माण) का कार्य मुख्य रूप से करते हैं। मूत्र, शकृत् (पुरीष) तथा स्वेद को मल इसलिए कहा गया है कि ये आहार के मल भाग (किट्टांश) से उत्पन्न होते हैं तथा शरीर को मलिन करते हैं। कहा गया है—'मलिनीकरणादाहारमलत्वान् मलाः। (अ० सं० सू० २०)

व्याधि की उत्पत्ति में दोष ही कारण हैं

रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये।
तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत् ॥ ३२ ॥

रस, रक्त आदि में स्थित दोषों के रहने पर जो रोग उत्पन्न होते हैं, उन रोगों को तद् तद् धातु उत्पन्न यह चिकित्सार्थ औपचारिक रूप से कहा गया है। जिस प्रकार घी से जले हुए मनुष्य की चिकित्सा यह कह कर नहीं की जाती कि यह आग से जला है, प्रत्युत् घी से जला है, यह कह कर की जाती है, किन्तु वस्तुतः वह घृत प्रविष्ट अग्नि के दाह से जला है। ठीक उसी प्रकार

रसरक्तादि धातुगत रोग वातादि दोषों द्वारा धातुओं के दूषित होने पर होते हैं। परन्तु वे तद् तद् दोषोत्पन्न न कहे जाकर तद् तद् धातु उत्पन्न कहे जाते हैं। सारांश यह है कि रोगोत्पत्ति का मूल कारण दोष है और रस-रक्तादि दूष्य हैं।

धातुओं के मुख्य कर्म

प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे।
गर्भोत्पादश्च कर्माणि धातूनां क्रमशो विदुः ॥ ३३ ॥

रसादि सप्तधातुओं के क्रमशः प्रीणन आदि सात कर्म हैं।

धातु	कर्म
१. रस	प्रीणन-तर्पण (तृप्तिकरण अथवा धातुपुष्टिकरण)
२. रक्त	जीवन—ओजवृद्धिकर (प्राणधारण)।
३. मांस	लेप—मिट्टी द्वारा भीत (दीवाल) के लेप की तरह अस्थि एवं मांस आदि का लेप।
४. मेद	स्नेह—शरीर एवं नेत्रादि की स्निग्धता।
५. अस्थि	धारण—शरीर-धारण।
६. मज्जा	पूरण—अस्थिपूरण।
७. शुक्र	गर्भोत्पादन—गर्भ को उत्पन्न करना।

शरीरं धारयन्त्येते धात्वाहाराश्च सर्वदा।

उक्त रसादि सप्तधातुएँ सर्वदा शरीर को धारण करती हैं और धातुओं के आहार भी हैं। जिस प्रकार प्राणियों की वृद्धि का कारण आहार होता है, क्योंकि वृद्धि आहार से ही होती है, ठीक उसी प्रकार धातुओं की वृद्धि का कारण धातु ही है। अतः वे धातुओं के आहार कहे गये हैं।

वृद्धि एवं क्षय

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः ॥ ३४ ॥

'सर्वेषां समानैः वृद्धिः'—सभी भावों के समान भाव से वृद्धि, विपरीत भावों से विपर्ययः तथा वृद्धि के विपरीत ह्रास (क्षय) होता है।

उक्त दोष तथा दूष्य (धातु एवं मल) की वृद्धि उनके समान आहार-विहार से तथा उनका क्षय उनके विपरीत (विरुद्ध) आहार-विहार के सेवन से होता है।

इस सम्बन्ध में महर्षि चरक ने कहा है—सब पदार्थों की समानता वृद्धि और विशेषता ह्रास का कारण है। जहाँ तक चिकित्सा का सम्बन्ध है, चिकित्सा इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर की जाती है। चिकित्सा के अवसर पर यदि इनका ध्यान न दिया जाय तो चिकित्सा ही सम्भव नहीं है। जैसे किसी को शीतकारक द्रव्य अथवा आहार-विहार के उपयोग से शीतजनित रोगों की की उत्पत्ति हुई, उस समय यदि सामान्य और विशेष इन सिद्धान्तों का अनुसरण न कर शीत-कारक आहार-विहार का ही उसे सेवन कराया जाय, तो यह निश्चिय है कि समान गुण वाले द्रव्यों के सेवन से शीत की और अधिक वृद्धि हो जायेगी। यदि हम सामान्य-विशेष सिद्धान्त का अनुसरण कर शीतजनित रोगों में तद्विपरीत उष्णकारक द्रव्य एवं आहार-विहार का उपयोग उसे आरम्भ करा देंगे, उस दशा में निश्चय ही वह शीतजनित व्याधि दूर हो जायेगी। इसी प्रकार शारीरिक धातु समान द्रव्य, गुण तथा कर्म के सेवन से वृद्धि को और तद्विपरीत से ह्रास को प्राप्त होते हैं। जैसे—मांस का मांस, रक्त का रक्त आदि समान द्रव्य सेवन से वृद्धि, दूध-घृत, मधुर-

स्निग्ध-शीत आदि जो द्रव्य हैं, उनके सेवन से शुक्र की वृद्धि, स्निग्ध-गुरु-मधुर-सान्द्र तथा पिच्छिल गुण वाले पदार्थों के सेवन से कफ की वृद्धि एवं दौड़ने, तैरने तथा लंघन आदि कर्म से वायु की वृद्धि और एक स्थान पर बैठे रहने से तथा सोने आदि कर्म से कफ की वृद्धि होती है तथा तद्विपरीत द्रव्य, गुण एवं कर्म के सेवन से ह्रास होता है। सारांश यह है कि समान द्रव्य, गुण एवं कर्म से समान द्रव्य, गुण एवं कर्म की वृद्धि होती है तथा तद्विपरीत से ह्रास होता है।

रस

रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः॥ ३५॥

रस छः प्रकार के होते हैं—१. स्वादु (मधुर Sweet जैसे चीनी), २. अम्ल (खट्टा Acid or Sour जैसे नींबू), ३. लवण (नमकीन Salt जैसे नमक), ४. तिक्त (कड़ुवा Pungent जैसे करैला-नीम), ५. ऊषण (कटु Bitter जैसे मिर्च) एवं ६. कषाय (कसैला Astringent जैसे आँवला)। ये रस द्रव्याश्रित हैं। अर्थात् द्रव्यों में रहते हैं और इनमें जो जितना पूर्व है, वह उतना ही अधिक बलकारक होता है। जैसे मधुर रस सबसे पूर्व है, अतः वह सबसे अधिक बलदायक है।

आयुर्वेदशास्त्र में रस शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है, जिनमें मुख्य चार हैं। शारीर शास्त्र में 'रस' प्रथम धातु है, रसशास्त्र में 'रस' का अर्थ पारद है, भैषज्यकल्पना में रस किन्हीं द्रव्यों के स्वरस को कहते हैं और द्रव्यगुणशास्त्र में 'रस्यते आस्वाद्यते रसनेन इति रसः' अर्थात् जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ग्रहण किया जाता है, उसे रस कहते हैं। यहाँ रस का अभिप्राय रसेन्द्रिय के विषय से है। 'रसनाग्राह्यो रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिह्वा के द्वारा ग्राह्य गुण को रस कहते हैं।

रसों का दोषों पर प्रभाव

तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥ ३६॥

इनमें प्रथम तीन रस—मधुर, अम्ल, लवण वायु को; अन्तिम तीन रस—कटु, तिक्त, कषाय कफ को; इसी प्रकार कषाय, तिक्त, मधुर पित्त को नष्ट करते हैं। 'अन्ये तु कुर्वते' दूसरे अर्थात् जो रस जिस दोष के शामक नहीं हैं, वे उस दोष को उत्पन्न करते हैं, प्रकुपित करते हैं तथा बढ़ाते हैं।

रसों का दोषों से सम्बन्ध

दोष	शामक रस	प्रकोपक रस
वात	मधुर, अम्ल, लवण	कटु, तिक्त, कषाय
पित्त	तिक्त, कषाय, मधुर	अम्ल, लवण, कटु
कफ	कटु, तिक्त, कषाय	मधुर, अम्ल, लवण

त्रिविध द्रव्य

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा।

शमन (शामक), कोपन (प्रकोपक) एवं स्वस्थहित (स्वास्थ्य के लिए हितकारक), इस प्रकार तीन प्रकार के द्रव्य होते हैं।

इस सम्बन्ध में महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'किञ्चिद्दोषप्रशमनं किञ्चिद्धातुप्रदूषणम् ।
स्वस्थवृत्तौ हितं किञ्चिद् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ॥' (च० सू० १।६८)

अर्थात् कुछ द्रव्य दोषों को शान्त करते हैं, कुछ द्रव्य धातुओं को दूषित करते हैं एवं कुछ द्रव्य स्वस्थवृत्त के लिए हितकर होते हैं। अर्थात् कुछ द्रव्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का सरंक्षण करते हैं।

वीर्य

उष्णशीतगुणोत्कर्षात् तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम् ॥ ३७ ॥

द्रव्यों में उष्ण एवं शीत गुण की अधिकता से वीर्य (Active Principle) दो प्रकार के कहे गये हैं।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा-वीर्यकृताः क्रियाः' ॥ (च० सू० २६।६५) अर्थात् द्रव्य जिस शक्ति विशेष से किन्हीं कर्मों को करने में समर्थ होता है, द्रव्य की उस विशिष्ट शक्ति को वीर्य कहते हैं। जो द्रव्य रस में मधुर तथा विपाक में भी मधुर होता है; उसका वीर्य शीत होता है। जो द्रव्य रस एवं विपाक में अम्ल होते हैं, वे उष्णवीर्य होते हैं एवं जो द्रव्य रस तथा विपाक में कटु होते हैं, वे भी उष्णवीर्य होते हैं।

विपाक

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः ।

द्रव्यों के मधुर, कटु एवं अम्ल तीन प्रकार के विपाक होते हैं। जैसे—मधुर एवं लवण रसों का मधुर, अम्ल रस का अम्ल एवं कटु, तिक्त और कषाय इन रसों का विपाक प्रायः कटु ही होता है।

'जठराग्नियोगादाहारस्य निष्ठाकाले यो गुणः (रस) उत्पद्यते स विपाकः'। (चक्रपाणि) अर्थात् जठराग्नि के संयोग से आहार पर रासायनिक परिवर्तन के कारण जो नवीन रस (गुण) उत्पन्न होता है, वह विपाक कहा जाता है।

गुण

गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः ॥ ३८ ॥
गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः ।
इन्द्रियार्था व्यवायी च विकाषी चापरे गुणाः ॥ ३९ ॥
व्यवायी देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते ।
विकाषी विकषन् धातून् सन्धिबन्धान्विमुञ्चति ॥ ४० ॥
सरस्तीक्ष्णप्रकर्षौ तु कैश्चित् तौ परिकल्पितौ ।

गुर्वादि दस और तद्विपरीत दस, इस प्रकार कुल बीस गुण हैं। जैसे—१. गुरु (भारी Heavyness), २. लघु (हल्का Lightness), ३. मन्द (चिरकारी Dullness), ४. तीक्ष्ण (शीघ्र कार्य करने वाला Sharpness), ५. हिम (शीत Cold), ६. उष्ण (गर्म Heat), ७. स्निग्ध (चिकना Soothingness), ८. रूक्ष (Dryness), ९. श्लक्ष्ण (चिकना Smooth), १०. खर (खुरदुरा Roughness), ११. सान्द्र (गाढ़ापन Solidity), १२. द्रव (पतला Fluidity), १३. मृदु (मुलायम Softness), १४. कठिन (Hardness), १५. स्थिर (अव्यापशील Immobility), १६. सर (व्यापशील Mobility), १७. सूक्ष्म (स्रोतोगामी Minutness) १८. स्थूल (Bulkyness), १९. विशद (स्वच्छ Clarity) एवं २०. पिच्छिल (लुआबदार Slimness)।

संख्या	गुण	भौतिक संघटन	दोष प्रभाव	मुख्यकर्म (हेमाद्रि मतानुसार)	अन्य कर्म सुश्रुतोक्त अन्य कर्म (सू० ४६।५४६–४७) भावप्रकाशोक्त कर्म*	उदाहरण
१	गुरु	पृथ्वी + जल	कफकर, वातहर	बृंहण	साद, उपलेप, बलकारक, तर्पण	माष, मुसली
२	लघु	वायु + आकाश + अग्नि	अग्निवातकर, कफहर	लंघन	उत्साह, लेखन, रोपण	मुद्ग, लाजा
३	शीत	जल	वातश्लेष्मकर, पित्तघ्न	स्तम्भन	सुखकारक, मूर्च्छा-तृषा-स्वेदनाशक	चंदन
४	उष्ण	अग्नि	वातश्लेष्महर, पित्तकर	स्वेदन	मूर्च्छा-तृषा-स्वेद-दाहकारक, पाचन	चित्रक
५	स्निग्ध	जल	वातहर, कफकर	क्लेदन	स्नेहमार्दवकर, बल्य, वर्ण्य	घृत
६	रूक्ष	पृथ्वी + अग्नि + वायु	वातकर, कफहर	शोषण	रौक्ष्यकाठिन्यकर, बलवर्णनाशक, स्तम्भनकर	यव
७	मंद	पृथ्वी + जल	कफकर, पित्तहर	शमन	यात्राकर, चिरकारी	अमृता
८	तीक्ष्ण	अग्नि	कफहर, पित्तकर	शोधन	दाहपाकस्रावकर	जयपाल
९	स्थिर	पृथ्वी	कफकर	धारण	वात-मलस्तम्भन*	जातीफल
१०	सर	जल	कफहर	प्रेरण	अनुलोमन	रसोन
११	मृदु	जल + आकाश	कफकर	श्लथन	दाह-पाक-स्रावनाशक	सैन्धवलवण
१२	कठिन	पृथ्वी	वातकर	दृढीकरण	—	प्रवाल
१३	विशद	पृथ्वी + वायु + तेज + आकाश	वातकर	क्षालन	अजीवन, असंधान, अश्लेषी, आर्द्रीभाव-विनाशक, रोपक	गुग्गुल
१४	पिच्छिल	जल	कफकर	लेपन	जीवन, बल्य, संधान, श्लेष्मल, गुरु	इसबगोल
१५	श्लक्ष्ण	अग्नि	पित्तकर	रोपण	पिच्छिल के समान कर्म	दुग्धपाषाण
१६	खर	वायु	वातकर	लेखन	विशद के समान कर्म	करञ्ज
१७	सूक्ष्म	अग्नि + वायु + आकाश	वातकर	विवरण	स्रोतोगामी*	मद्य
१८	स्थूल	पृथ्वी	कफकर	संवरण	स्थौल्यकर, स्रोतोरोधक*	दधि
१९	सान्द्र	पृथ्वी	कफकर	प्रसादन	स्थौल्यकर*	मलाई
२०	द्रव	जल	कफकर	विलोडन	क्लेदकर*	जल

इन्द्रियार्थः—पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय—शब्द (Sound), स्पर्श (Touch), रूप (Vision), रस (Taste) तथा गन्ध (Smell) ये पाँच अर्थ तथा व्यवायि और विकासी ये भी गुण हैं। इनमें व्यवायि गुण प्रथम सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है, तत्पश्चात् पचता है। विकासी धातुओं को नष्ट कर संधि-बन्धन को ढीला करता है। कुछ आचार्य व्यवायि और विकासी गुण को क्रम से सर और तीक्ष्ण का उत्कर्ष या प्राबल्य मानते हैं।

ये सभी गुण द्रव्य में रहते हैं, जो स्वतन्त्र रूप में नहीं रहते। इसीलिए कहा गया है—'अथ द्रव्याश्रिताज्ञेयाः निर्गुणाः निष्क्रियाः गुणाः'।

महागुण

सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः ॥ ४१ ॥

शास्त्र में व्यवहार के लिए सत्त्व, रज एवं तम, ये तीन महागुण कहे गये हैं।

'सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ (सांख्यकारिका १३)

इनमें सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक, रजोगुण उपष्टम्भक (प्रवर्तक) और चंचल तथा तमोगुण गुरु और आवरणक (प्रतिबंधक) है। यह तीनों एक दूसरे के विरोधी हैं तथा जैसे तेल, बत्ती और अग्नि परस्पर विरुद्ध होते हुए भी अंधकार को नष्ट करने के लिए परस्पर विरोध छोड़कर प्रकाश करते हैं, उसी प्रकार ये भी परस्पर विरुद्ध होते हुए भी भोगोपवर्ग रूप पुरुषार्थ के लिए एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। विज्ञानभिक्षु ने कहा है—'सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिका गुणाः संयोगविभागवत्वात्, लघुत्वगुरुत्वचलत्वादिधर्मकत्वाच्च। तेष्वत्र शास्त्रे श्रुतपादौ च गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात्'।

रोग एवं आरोग्य का कारण

कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥ ४२ ॥

काल, अर्थ, कर्म का हीनयोग, मिथ्यायोग एवं अतियोग रोग का कारण (हेतु) होता है तथा काल, अर्थ एवं कर्म का सम्यग् योग आरोग्य (स्वास्थ्य) का कारण होता है।

शीत, उष्ण एवं वर्षा के लक्षण से काल तीन प्रकार का होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध इंद्रियों के अर्थ (विषय) हैं। शरीर, मन एवं वाणी की चेष्टा कर्म या क्रिया है। हीनयोग (स्वरूप-हानि), मिथ्यायोग (स्वरूप वैपरीत्य), अतियोग (स्वरूपातिशय) तथा सम्यग् योग (सम्यक् प्रवृत्ति) है।

रोग, आरोग्य, रोगभेद, रोगाधिष्ठान एवं मनोदोष

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।
निजागन्तुविभागेन रोगाश्च द्विविधा मताः ॥ ४३ ॥
तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा।
रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ ॥ ४४ ॥

वातादि दोषों का वैषम्य (विषमता-वृद्धि या क्षय) रोग तथा साम्य (समता—साम्यावस्था) अरोगता (आरोग्य—स्वास्थ्य) है। निज एवं आगन्तुक भेद से रोग दो प्रकार के माने गये हैं। रोगों का अधिष्ठान (स्थान) काय (शरीर) तथा मन दो प्रकार का है। राजस एवं तामस, ये मन के दो दोष हैं।

रुजाकरत्वाद् रोगः—शरीर एवं मन को रुजा (पीड़ा) देने वाले भाव को रोग कहते हैं तथा सुखकर भाव को आरोग्य कहते हैं। वातादि दोषों के वैषम्य से उत्पन्न होने वाले रोग को निज तथा बाह्य हेतु—अभिघात, अभिशाप, अभिचार एवं अभिषंग से पैदा होने वाले रोगों को आगंतुक रोग कहते हैं। निज रोगों में पहले दोषों में विषमता होकर व्याधि उत्पन्न होती है, जब कि आगंतुक रोगों में व्याधि होने के पश्चात् दोषवैषम्य होता है। ज्वर, रक्तपित्त, कास आदि रोगों का अधिष्ठान काय (शरीर) तथा मद, मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार, राग, द्वेष आदि का अधिष्ठान मन है। जिस प्रकार वातादि शारीरिक दोष हैं, उसी प्रकार राजस एवं तामस मानसिक दोष हैं, जो मन में विकार पैदा करते हैं। सत्त्वगुण मन के आरोग्य का हेतु है। अतः 'मनः शुद्धं सत्त्वम्' कहा गया है।

रोगी-परीक्षा

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्।

रोगी की परीक्षा दर्शन (देखकर Inspection), स्पर्शन (हथेली से स्पर्श कर Palpation) तथा रोगी अथवा सम्बन्धियों से प्रश्न (Interrogation) पूछ कर करना चाहिए।

रोगी के शरीर का वर्ण पीत, शुक्ल आदि, छाया, प्रतिच्छाया तथा मल, मूत्र, वमन द्रव्य आदि के प्रमाण की परीक्षा दर्शन द्वारा, ज्वर के संताप, गुल्म, विद्रधि आदि की परीक्षा स्पर्श द्वारा तथा शूल, अरुचि आदि की परीक्षा प्रश्न के द्वारा की जाती है। महर्षि चरक ने कहा है—'त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षं अनुमानञ्चेति।' (च० वि० ४।३)। पुनः कहा है—'तस्मादातुरं परीक्षेत् प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति, बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः'॥ (च० वि० ८।९४)। इस सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'षड्विधा हि रोगाणां विज्ञानोपायाः—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चे'ति (सु० सू० १०)। योगरत्नाकर में अष्टविध रोगी परीक्षा का उल्लेख इस प्रकार है—

'रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृतिः'॥

रोग-परीक्षा

रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः॥ ४५॥

निदान (हेतु–कारण Aetiological Factor), प्राग्रूप (पूर्वरूप Prodromal Symptoms), लक्षण (रूप Signs and Symptoms), उपशय (Therapeutic Test) तथा आप्ति (सम्प्राप्ति Pathogenesis) से रोग की परीक्षा करनी चाहिए।

'निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्' (गदाधर)। अर्थात् जिससे व्याधि का पूर्ण ज्ञान हो, उसे निदान कहते हैं। 'सेति कर्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्'—कर्तव्य की अनेकताओं से युक्त अर्थात् दोष-प्रकोप आदि अनेक कार्यों को करते हुए जो रोग को उत्पन्न करता है, उसे निदान कहते हैं। पूर्वरूप—'आदिव्याधिबोधकमेवलिङ्गं पूर्वरूपम्'। अर्थात् भावी व्याधि का ज्ञान कराने वाले लक्षण या लक्षण-समूह को पूर्वरूप कहते हैं। रूप—'उत्पन्नव्याधिबोधकमेवलिङ्गं रूपम्'। उत्पन्न व्याधि का ज्ञान कराने वाला विशिष्ट लक्षण या चिह्न रूप कहा जाता है। उपशय—'औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्'। औषध, आहार एवं विहार के सुखावह उपयोग को उपशय कहते हैं। सम्प्राप्ति—निदान सेवन के पश्चात् रोगोत्पत्ति-पर्यन्त शरीरान्तर्गत ज्ञात या अज्ञात सम्पूर्ण परिवर्तन सम्प्राप्ति के द्वारा समझा जाता है।

देश के दो भेद

भूमिदेहप्रभेदेन देशमाहुरिह द्विधा ।

इह—आयुर्वेदशास्त्र में भूमि-भेद एवं देह-भेद से देश दो प्रकार का कहा गया है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी शरीर के लिए क्षेत्र शब्द का प्रयोग किया गया है—'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते' । (गीता १३।१)

भूमिदेश

जाङ्गलं वातभूयिष्ठमानूपं तु कफोल्बणम् ॥ ४६ ॥
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत् ।

इनमें भूमि देश तीन प्रकार का जानना चाहिए । वात (वायु) की अधिकता वाला जाङ्गल देश, कफ की अधिकता वाला आनूप तथा समदोष वाला साधारण देश है ।

जाङ्गल देश की औषधियाँ, पशु, पक्षी एवं मनुष्य वात प्रधान, आनूपदेश के कफ प्रधान तथा साधारण देश के स्वस्थ एवं निरोग होते हैं । मध्य प्रदेश में विंध्य-क्षेत्र एवं राजस्थान में बीकानेर, जैसलमेर आदि जांगल देश, आसाम, बंगाल की खाड़ी आदि आनूप देश तथा पंजाब, उत्तर-प्रदेश आदि साधारण देश कहे जा सकते हैं ।

भैषज-काल

क्षणादिर्व्याध्यवस्था च कालो भैषज्ययोगकृत् ॥ ४७ ॥

आयुर्वेदशास्त्र में औषध-प्रयोग के लिए काल दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) क्षण आदि—मुहूर्त, प्रहर, रात, दिन, पक्ष, मास, ऋतु-अयन एवं संवत्सर आदि । जैसे—'पूर्वाह्णे वमनं देय मध्याह्ने तु विरेचनम्' । (२) व्याधि की अवस्था—आमावस्था, पच्यमानावस्था, पक्वावस्था, नवीन, पुराना, तीक्ष्ण एवं मृदु आदि । जैसे—'ज्वरे पेयाः कषायश्च सर्पिः क्षीरं विरेचनम् । त्र्यहं वा षड्हं युञ्ज्याद्वीक्ष्य दोषबलाबलम्' ।

औषध के दो भेद

शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा ।

संक्षेप में औषधि दो प्रकार की होती है—(१) शोधन—जो कुपित दोष को शरीर से बाहर निकाल कर रोग का शमन करती है, यथा—पंचकर्म । (२) शमन—जो शरीर के अन्दर ही दोषों को शान्त करती है, यथा—बृंहण, लंघन आदि ।

शारीरिक एवं मानसिकदोषों की परम औषधि

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम् ॥ ४८ ॥
वस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु ।
धीर्धैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम् ॥ ४९ ॥

शारीरिक दोषों की क्रम से प्रधान (श्रेष्ठ) औषधि—(१) वायु की प्रधान शोधन औषधि वस्तिकर्म तथा शमन औषधि तैल है । (२) पित्त की प्रधान शोधन औषधि विरेचन तथा शमन औषधि घृत है तथा (३) कफ की प्रधान शोधन औषधि वमन और शमन औषधि मधु है ।

राजस एवं तामस मानसिक दोषों की प्रधान औषध—धी (बुद्धि) से हित-अहित विवेक, धैर्य-दुःख में भी धैर्यवान्, हित सेवन अहित का त्याग, आत्म विज्ञान—योगाभ्यास: समाधि के

द्वारा परमात्मा के स्वरूप का विशेष ज्ञान तथा आदि से अभिप्राय देश-काल का विशेष ज्ञान है।

महर्षि चरंक ने कहा है—'मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः'। (च० सू० १।५८)

तन्त्रस्यास्य परं चातो वक्ष्यतेऽध्यायसङ्ग्रहः।

अतः—इसके पश्चात् इस तंत्र (अष्टाङ्गसंग्रह) के अध्यायों को संक्षेप में सुखपूर्वक स्मरण के लिए कहते हैं।

सूत्रस्थान के चालीस अध्याय

आयुष्कामीयशिष्यार्थदिनर्तुव्याध्यसम्भवाः ॥ ५० ॥
द्रवान्नज्ञानसंरक्षाविरुद्धान्नान्नपानिकाः ।
मात्राशितौषधज्ञानश्रेष्ठशुद्ध्यादिसङ्ग्रहाः ॥ ५१ ॥
महाकषायविविधद्रव्यादिरसभेदकाः ।
दोषादिज्ञानतद्भेदतत्क्रिया रोगभेषजम् ॥ ५२ ॥
द्व्यौषधस्नेहनस्वेदशुद्ध्यास्थापननावनम् ।
धूमगण्डूषदृक्सेकतृप्तियन्त्रजलौकसः ॥ ५३ ॥
सिराविधिः शल्यविधिः शस्त्रक्षाराग्निकर्मकाः ।
चत्वारिंशदिमेऽध्यायाः सूत्रं—

१. आयुष्कामीय, २. शिष्यार्थ-शिष्योपनयनीय, ३. दिनचर्या, ४. ऋतुचर्या, ५. व्याध्यसम्भव-रोगानुत्पादनीय, ६. द्रव-द्रव्यविज्ञानीय, ७. अन्नज्ञान—अन्नस्वरूपविज्ञानीय, ८. अन्नसंरक्षा—अन्नरक्षाविधि, ९. विरुद्धान्नविज्ञानीय, १०. अन्नापानिक-अन्नपानविधि, ११. मात्राशितीय, १२. औषधज्ञान-विविधौषधविज्ञानीय, १३. श्रेष्ठ (अग्र्य) संग्रह, १४. शोधनादिगणसंग्रह, १५. महाकषायसंग्रह, १६. विविधगणसंग्रह, १७. द्रव्यादिविज्ञानीय, १८. रसभेदीय, १९. दोषादिविज्ञानीय, २०. दोषभेदीय, २१. दोषोपक्रमणीय, २२. रोगभेदीय, २३. भेषजावचारणीय, २४. द्विविधोपक्रमणीय, २५. स्नेहविधि, २६. स्वेदविधि, २७. वमनविरेचनविधि, २८. वस्तिविधि, २९. नावन (नस्य) विधि, ३०. धूमपानविधि, ३१. गण्डूषादिविधि, ३२. आश्च्योतनविधि, ३३. तर्पणपुटपाकविधि, ३४, यन्त्रशस्त्रविधि, ३५. जलौकाविधि, ३६. सिराव्यधविधि, ३७. शल्यापहरणीयविधि, ३८. शस्त्रकर्मविधि, ३९. क्षारकर्मविधि, ४०. अग्निकर्मविधि। ये चालीस अध्याय सूत्रस्थान में है।

शारीरस्थान के बारह अध्याय

—शारीरमुच्यते ॥ ५४ ॥
पुत्रार्थगर्भावक्रान्तिचर्याव्यापच्छरीरजाः ।
सिरामर्मप्रकृत्याख्या विकृताङ्गे हितामयाः ॥ ५५ ॥
सदूता द्वादशाध्यायाः—

१. पुत्रकामीय, २. गर्भावक्रान्ति, ३. गर्भोपचरणीय ४. गर्भव्यापत्, ५. अङ्गविभाग, ६. सिराविभाग, ७. मर्मविभाग, ८. प्रकृतिभेदीय, ९. विकृताङ्गविज्ञानीय, १०. विकृतहितविज्ञानीय, ११. विकृतव्याधिविज्ञानीय, १२. दूतादिविज्ञानीय। ये बारह अध्याय शारीरस्थान में हैं।

निदानस्थान के सोलह अध्याय

—निदानं सार्वरौगिकम् ।
ज्वरासृक्श्वासयक्ष्मादिमदाद्यर्शोऽतिसारिणाम् ॥ ५६ ॥
मूत्राघातप्रमेहाणां विद्रध्याद्युदरस्य च ।
पाण्डुकुष्ठानिलार्तानां वातास्रस्य च षोडश ॥ ५७ ॥

१. सर्वरोगनिदान, २. ज्वरनिदान, ३. रक्तपित्तकासनिदान, ४. श्वासहिध्मानिदान, ५. राजयक्ष्मादिनिदान, ६. मदात्ययादिनिदान, ७. अर्शोनिदान, ८. अतिसारग्रहणीरोगनिदान, ९. मूत्राघातनिदान, १०, प्रमेहनिदान, ११. विद्रधिवृद्धिगुल्मनिदान, १२. उदरनिदान, १३. पाण्डु-कामलाशोफविसर्पनिदान, १४, कुष्ठकृमिनिदान, १५. वातव्याधिनिदान, १६. वातशोणितनिदान। ये सोलह अध्याय निदानस्थान में हैं।

चिकित्सास्थान के चौबीस अध्याय

चिकित्साज्वरयोरस्रकासयोः श्वासयक्ष्मणोः ।
वमौ मदात्ययेऽर्शःसु विशि द्वौ द्वौ च मूत्रिते ॥ ५८ ॥
विद्रध्यौ गुल्मजठरपाण्डुशोफविसर्पिषु ।
कुष्ठश्वित्रानिलव्याधिवातास्रेषु चिकित्सितम् ॥ ५९ ॥
चतुर्विंशतिरध्यायाः—

१. ज्वरचिकित्सा, २. जीर्णज्वरचिकित्सा, ३. रक्तपित्तचिकित्सा, ४. कासचिकित्सा, ५. क्षत-क्षयकासचिकित्सा, ६. श्वासादिचिकित्सा, ७. राजयक्ष्माचिकित्सा, ८. छर्दिहृद्रोगतृष्णाचिकित्सा, ९. मदात्ययादिचिकित्सा, १०. अर्शचिकित्सा, ११. अतिसारचिकित्सा, १२. ग्रहणीरोगचिकित्सा, १३. मूत्राघातचिकित्सा, १४. प्रमेहचिकित्सा, १५. विद्रधिवृद्धिचिकित्सा, १६. गुल्मचिकित्सा, १७. उदररोगचिकित्सा, १८. पाण्डुरोगचिकित्सा, १९. श्वयथुचिकित्सा, २०. विसर्पचिकित्सा, २१. कुष्ठचिकित्सा, २२. श्वित्रकृमिचिकित्सा, २३. वातव्याधिचिकित्सा, २४. वातशोणितचिकित्सा। ये चौबीस अध्याय चिकित्सास्थान में हैं।

कल्प-सिद्धिस्थान के आठ अध्याय

—कल्पसिद्धिरतःपरम् ।
कल्पो वमेर्विरेकस्य तत्सिद्धिर्वस्तिकल्पना ॥ ६० ॥
कल्पसिद्धिश्च वस्तीनां सिद्धिर्वस्त्यनुवासयोः ।
द्रव्यकल्पोऽष्टमः—

१. वमनकल्प, २. विरेचनकल्प, ३. वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिकल्प, ४. वस्तिकल्प, ५. सिद्धवस्तिकल्प, ६. वस्तिव्यापत्सिद्धिकल्प, ७. अनुवासनव्यापत्सिद्धिकल्प, ८. द्रव्यकल्प। ये आठ अध्याय कल्पस्थान में हैं।

उत्तरतन्त्र के पचास अध्याय

—स्थानमत उत्तरमुत्तरम् ॥ ६१ ॥
बालोपचरणे व्याधिग्रहज्ञाननिषेधने ।
स्नाने पृथग्ग्रहे भूते द्वावुन्मादे स्मृतिक्षये ॥ ६२ ॥

वर्त्मसन्धिगतौ द्वौ द्वौ दृक्तमोलिङ्गनाशिषु ।
सर्वदृक्स्यन्ददृक्पाके कर्णनासामुखेषु च ॥ ६३ ॥
मूर्ध्नि व्रणे तथा द्वौ द्वौ सद्योभङ्गे भगन्दरे ।
ग्रन्थ्यादौ क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे पृथग्द्वयम् ॥ ६४ ॥
विषे द्वौ भुजगे कीटे द्वौ च लूतासु मूषके ।
विषे विषोपयोगे च तथाऽध्यायो रसायने ॥ ६५ ॥
वाजीकरणमुद्दिश्य पञ्चाशोऽष्टाङ्गपूरणः ।

१. बालोपचरणीय, २. बालामयप्रतिषेध, ३. बालग्रहविज्ञान, ४. बालग्रहप्रतिषेध, ५. स्नपनविधि, ६. प्रत्येकग्रहप्रतिषेध, ७. भूतग्रहविज्ञानीय, ८. भूतग्रहप्रतिषेध, ९. उन्मादप्रतिषेध, १०. अपस्मारप्रतिषेध, ११. वर्त्मरोगविज्ञान, १२. वर्त्मरोगप्रतिषेध, १३. सन्धिसितासितरोग-विज्ञानीय, १४. सन्धिसितासितरोगप्रतिषेध, १५. दृष्टिरोगविज्ञानीय, १६. तिमिररोगप्रतिषेध, १७. लिंगनाशप्रतिषेध, १८. सर्वाक्षिरोगविज्ञानीय, १९. अभिष्यन्दप्रतिषेध, २०. अक्षिपाकप्रतिषेध, २१. कर्णरोगविज्ञानीय, २२. कर्णरोगप्रतिषेध, २३. नासारोगविज्ञानीय, २४. नासारोगप्रतिषेध, २५. मुखरोगविज्ञानीय, २६. मुखरोगप्रतिषेध, २७. शिरोरोगविज्ञानीय, २८. शिरोगरोप्रतिषेध, २९. व्रणविभक्तिविज्ञानीय, ३०. व्रणप्रतिषेध, ३१. सद्यो-व्रणप्रतिषेध, ३२. भङ्गविज्ञानप्रतिषेध, ३३. भगन्दरविज्ञानप्रतिषेध, ३४. ग्रन्थ्यादिविज्ञानीय, ३५. ग्रन्थ्यादिप्रतिषेध, ३६. क्षुद्ररोगविज्ञानीय, ३७. क्षुद्ररोगप्रतिषेध, ३८. गुह्यरोगविज्ञानीय, ३९. गुह्यरोगप्रतिषेध, ४०. विषप्रतिषेध, ४१. सर्पविषविज्ञानीय, ४२. सर्पविषप्रतिषेध, ४३. कीटविषविज्ञानप्रतिषेध, ४४. लूताविषविज्ञान-प्रतिषेध, ४५. प्रत्येकलूताविषप्रतिषेध, ४६. मूषिकाऽलर्कविषविज्ञानप्रतिषेध, ४७. विषोपद्रव-प्रतिषेध, ४८. विषोपयोगी, ४९. रसायन, ५०. वाजीकरण । ये पचास अध्याय उत्तरतन्त्र में है ।

पञ्चाशदध्यायशतं षड्भिः स्थानैः समीरितम् ॥ ६६ ॥

इत्यायुष्कामीयो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार अष्टांगसंग्रह में एक सौ पचास अध्यायों को छः स्थानों में विभक्त करके अष्टांग आयुर्वेद का वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार 'आयुष्कामीय' नामक प्रथम अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

१. अष्टाङ्ग आयुर्वेद—कायचिकित्सा, बालरोग, भूतविद्या, शालाक्यतंत्र, शल्यतन्त्र, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र एवं वाजीकरणतन्त्र ।

२. शारीरिक दोष—वात, पित्त एवं कफ ।

३. धातु—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र ।

४. मल—मूत्र, शकृत्, स्वेद आदि ।

५. रस—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ।

६. त्रिविध द्रव्य—दोषशामक, दोषप्रकोपक एवं स्वास्थ्य-हितकारक ।

७. वीर्य—उष्ण एवं शीत ।

८. विपाक—मधुर, अम्ल एवं कटु ।

९. गुण—गुरु, लघु, मन्द, तीक्ष्ण, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, श्लक्ष्ण, खर, सान्द्र, द्रव, मृदु, कठिन, स्थिर, सर, सूक्ष्म, स्थूल, विशद एवं पिच्छिल ।

१०. महागुण—सत्त्व, रज एवं तम ।

११. रोग का कारण—काल, अर्थ एवं कर्म का हीनयोग, मिथ्यायोग एवं अतियोग ।

१२. आरोग्य का कारण—काल, अर्थ एवं कर्म का सम्यग् योग ।

१३. रोग का अधिष्ठान—काय एवं मन ।

१४. मानस दोष—रज एवं तम ।

१५. रोगी-परीक्षा—दर्शन, स्पर्शन एवं प्रश्न द्वारा ।

१६. रोग-परीक्षा—निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति द्वारा ।

१७. देश—भूमि एवं देह ।

१८. भूमि—जाङ्गल, आनूप एवं साधारण ।

१९. भैषज्यकाल—क्षण आदि एवं व्याधि की अवस्था ।

२०. औषधि—शोधन एवं शमन ।

२१. शारीरिक दोष की परम औषधि—बस्ति एवं तैल वात की, विरेचन एवं घृत पित्त की तथा वमन एवं मधु कफ की ।

२२. मानसिक दोष की परम औषधि—धी, धैर्य, एवं आत्म-विज्ञान आदि का ज्ञान ।

संहिताओं में वर्णित अध्यायों की संख्या

स्थान	चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता	अष्टांगहृदय	अष्टांगसंग्रह
१ सूत्रस्थान	३०	४६	३०	४०
२. निदानस्थान	८	१६	१६	१६
३. विमानस्थान	८	—	—	—
४. शारीरस्थान	८	१०	६	१२
५. इन्द्रियस्थान	१२	—	—	—
६. चिकित्सास्थान	३०	४०	२२	२४
७. कल्पस्थान	१२	८	६	८
८. सिद्धिस्थान	१२	—	—	—
९. उत्तरतन्त्र	—	६६	४०	५०

द्वितीयोऽध्यायः

अथाऽतः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

प्रथम अध्याय के पश्चात् 'शिष्योपनयनीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

शिष्योपनयन का शाब्दिक अर्थ है—छात्र का गुरु के समीप जाना। 'उपनयं दीक्षा, तदधिकृत्य कृतोऽध्यायः शिष्योपनीयस्तं तथा। अन्ये तु उपनयमात्मवत्तया अर्थीकरणम्'। (डल्हण) उपनय अर्थात् दीक्षा, उसके विषय में कहा गया अध्याय शिष्योपनयनीय। अन्य लोगों का मत है—अपने समान अर्थयुक्त करना अर्थात् गुरु शिष्य को अपने समान अर्थयुक्त बनाये।

शिष्य के गुण

गुरुभक्तोऽभियुक्तोऽतियुक्तो धीस्मृतिपाटवैः ।
ऋज्वास्यनासानयनस्तनुस्निग्धनखच्छविः ॥ ३ ॥
ब्रह्मचारी जितद्वन्द्वो धीरः सुचरितः स्थिरः ।
षण्मासानुषितः शक्लो[1] लज्जाशौचकुलान्वितः ॥ ४ ॥
शिष्योऽध्याप्यो गतो यावदन्तं तन्त्रार्थकर्मणाम् ।

गुरुभक्त (आचार्य की सेवा में तत्पर), अभियुक्त (पढ़ने का अभ्यासी), अतियुक्त (अत्यन्त युक्तिपूर्वक कार्य करने वाला), धी (बुद्धिमान्), स्मृति (स्मरणशक्ति-सम्पन्न), पाटव (चतुर), सीधा मुख-नासिका-नेत्र वाला; पतले, चिकने एवं सुन्दर नखवाला, ब्रह्मचारी (अविवाहित), जितद्वन्द्वः—(सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं शीत-उष्ण को जीतने वाला), धैर्यसम्पन्न, सच्चरित्र, गम्भीर, छः महीने गुरु के पास रह चुका हो, शक्लः (प्रिय बोलने वाला), लज्जाशील, पवित्र एवं कुलीन विद्यार्थी जब तक तन्त्रार्थकर्मणाम्—आयुर्वेद के शास्त्रीय एवं क्रियात्मक ज्ञान के अन्त तक न पहुँचे (पारंगत न हो जाय), तब तक अध्याप्य (पढ़ने योग्य) है।

इस सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामन्यतममन्वयवयःशीलशौर्यशौचाचारविनयशक्तिबलमेधाधृतिस्मृतिमतिप्रतिपत्तियुक्तं तनुजिह्वौष्ठदन्ताग्रमृजुवक्त्राक्षिनासं प्रसन्नचित्तवाक्चेष्टं क्लेशसहं च भिषक् शिष्यमुपनयेत्। अतो विपरीतगुणं नोपनयेत्'। (सु० सू० २।२) अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य में से किसी को जो उत्तम कुलोत्पन्न हो, बाल्यावस्था, उत्तम आचरण, शौर्य, पवित्रता, आचार आदि गुण सम्पन्न शिष्य का उपनय करना चाहिए तथा इसके विपरीत गुण वाले शिष्य का उपनय नहीं करना चाहिए। पुनः कहा है—'शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेत् इति एके' अर्थात् उत्तम वंश में उत्पन्न उत्तम गुण से सम्पन्न शूद्र को भी मन्त्रभाग छोड़कर पढ़ाना चाहिए।

महर्षि चरक ने शिष्य के गुणों के सम्बन्ध में कहा है—'प्रशान्तमार्यप्रकृतिकमक्षुद्रकर्माणमृजुचक्षुर्मुखनासावंशं तनुरक्तविशदजिह्वमविकृतदन्तौष्ठमस्निग्धं धृतिमन्तमनहङ्कृतं मेधाविनं

१. 'शक्तः' इति पाठान्तरम्। शक्त का अर्थ सहिष्णु है।

वितर्कस्मृतिसम्पन्नमुदारसत्त्वं तद्विद्यकुलजमथवा तद्विद्यवृत्तं,·····एवंगुणसमुदितमध्यायप्यमाहुः'। (च० वि० ८।८)

अनध्याय काल एवं अध्ययन विधि

नाऽकालविद्युत् स्तनिते भूकम्पे राहुदर्शने ॥ ५ ॥
पञ्चदश्यामचन्द्रायां परोक्षे वा गुरोः पठेत्।
नाविच्छिन्नपदं नातिमन्दं नात्युच्चनीचकैः ॥ ६ ॥

अकालविद्युद्दर्शने—बिना वर्षा ऋतु के विद्युद् दर्शन में, अकालस्तनिते—बिना ऋतु के मेघ गर्जना में, भूकम्प के समय, सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण के समय, पञ्चदश्यां—पूर्णिमा को, अचन्द्रायां—अमावस्या को तथा गुरु की अनुपस्थिति में नहीं पढ़ना चाहिए। पद को अलग-अलग करके, अधिक मन्द गति से, बहुत जोर से अथवा बहुत धीमे-धीमे नहीं पढ़ना चाहिए।

अनध्याय के सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'कृष्णेऽष्टमी तन्निधनेऽहनी द्वे शुक्ले तथाऽप्येवमहर्द्विसन्ध्यम्।
अकालविद्युत्स्तनयित्नुघोषे स्वतन्त्रराष्ट्रक्षितिव्यथासु ॥
श्मशानयानाद्यतनाहवेषु महोत्सवौत्पातिकदर्शनेषु।
नाध्येयमन्येषु च येषु विप्रा नाधीयते नाशुचिना च नित्यम् ॥' (सु० सू० २।९-१०)

अर्थात् कृष्णपक्ष की अष्टमी, उसके अन्त के दो दिन (चतुर्दशी तथा अमावस्या), इसी प्रकार शुक्लपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा को, सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय, अकाल में विद्युद् दर्शन तथा मेघ-गर्जन के समय, राष्ट्र तथा राजा के विपत्ति के दिनों में, जिस दिन श्मशान-गमन हो, युद्ध, महोत्सव, किसी उत्पात के दिनों में, जिन दिनों में अध्ययन न करते हो तथा अपवित्रावस्था में अध्ययन नहीं करना चाहिए। अमावस्या तथा पूर्णिमा आदि तिथियों में अध्ययन न करने का हेतु मनुस्मृति में बतलाया गया है—'आमावस्या गुरुं हन्ति, शिष्यं हन्ति चतुर्दशी। ब्रह्माऽष्टका पौर्णमास्यौ तस्मात् ताः परिवर्जयेत्'।

अध्ययन-विधि के विषय में महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'तत्रायमध्ययनविधिः—कल्यः कृतक्षणः प्रातरुत्थायोपव्यूषं वा कृत्वाऽऽवश्यकमुपस्पृश्योदकं देवर्षिगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्येभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनःपुरःसराभिर्वाग्भिः सूत्रमनुक्रामन् पुनरावर्तयेद् बुद्ध्वा सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं स्वदोषपरिहारार्थं परदोषप्रमाणार्थं च, एवं मध्यन्दिनेऽपराह्णे रात्रौ च शश्वदपरिहापयन्नध्ययनमभ्यस्येत्। इत्यध्ययनविधिः। (च० वि० ८।७)

अर्थात् स्वस्थ छात्र समय का विभाग करके प्रातःकाल अथवा उषःकाल में उठकर शौचादि क्रिया से निवृत्त होकर देवता, ऋषि, गाय, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध तथा आचार्य को नमस्कार करके समतल पवित्र स्थान में सुखपूर्वक बैठकर मनोयोग के साथ सूत्रों को जिस क्रम में पढ़ा हो, उसी क्रम से बार-बार आवृत्ति करे। अपनी कमी दूर करने के लिए और दूसरे की कमी को प्रमाणित करने के लिए शास्त्र के वास्तविक अर्थ में बुद्धि द्वारा सम्यक् प्रकार प्रविष्ट होकर बार-बार दोहराये। इसी प्रकार दोपहर, सायंकाल एवं रात्रि में अध्ययन करना चाहिए। कोई दिन अथवा समय व्यर्थ नहीं बिताना चाहिए।

अध्ययन-अध्यापन विधि के विषय में महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'अथ शुचये कृतोत्तरासङ्गाया-व्याकुलायोपस्थितायाध्ययनकाले शिष्याय यथाशक्तिर्गुरुरुपदिशेत् पदं पादं श्लोकं वा, ते च पदपाद-श्लोका भूयः क्रमेणानुसन्धेयाः, एवमेकैकशः घटयेदात्मना चानुपठेत्, अद्रुतमाविलम्बितमवि-

शङ्कितमननुनासिकं सुव्यक्ताक्षरमपीडितवर्णाक्षिभ्रुवौष्ठहस्तैरनभिनीतं सुसंस्कृतं, नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च स्वरैः पठेत् । न चान्तरेण कञ्चिद् व्रजेत् तयोरधीयानयोः । (सु० सू० ३।५४)

सद्वृत्त का वर्णन करते समय महर्षि अग्निवेश ने अध्ययन-अध्यापन के विषय में कहा है—'न विद्युत्स्वनार्तवीषु नाभ्युदितासु दिक्षु नाग्निसम्प्लवे न भूमिकम्पे न महोत्सवे नोल्कापाते न महाग्रहोपगमने न नष्टचन्द्रायां तिथौ न सन्ध्ययोर्नामुखादगुरोर्नावपतितं नातिमात्रं न तान्तं न विस्वरं नानवस्थितपदं नातिद्रुतं न विलम्बितं नातिक्लीबं नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरैरध्ययनमभ्यस्येत्' । (च० सू० ८।२४)

गुरु की परिचर्या

हीनान्यवेष आचार्यं पर्युपासीत राजवत् ।
शयीत सुप्त एवास्मिन्ननुत्तिष्ठेतास्य पूर्वतः ॥ ७ ॥
न ब्रूयात् केवलं नाम नाऽसाध्वपि विनोदयेत् ।

आचार्य की वेशभूषा से हीन वेष पहनें । राजा से समान गुरु की सेवा करे, गुरु के सोने पर ही अपने आप सो जाये, गुरु के जगने के पूर्व उठ जाये । आदरसूचक शब्दों के बिना गुरु का नाम नहीं बोलना चाहिए, असाध्वपि—गुरु की बुरी आदत का भी उपहास नहीं करना चाहिए । हीनान्ययेषः का तात्पर्य है—'गुरुवेषात् स्वल्पवेष अन्यवेषः विसदृशवेषः' (इन्दु) ।

भिषक् के गुण

अभेद्योऽनुद्धतः स्तब्धः सूनृतः प्रियदर्शनः ॥ ८ ॥
बहुश्रुतः कालवेदी ज्ञातग्रन्थोऽर्थशास्त्रवित् ।
अनाथान् रोगिणो यश्च पुत्रवत् समुपाचरेत् ॥ ९ ॥
गुरुणा समनुज्ञातः स भिषक् शब्दमश्नुते ।

अभेद्यः (अपने प्रतिवादी धूर्त आदि को भेद न दे अर्थात् जिसका कोई भेद न पा सके), अनुद्धतः (गम्भीर), स्तब्ध (चिरकारी—सोच-विचार कर कार्य करने वाला), सुनृतः (सत्यवादी), प्रियदर्शन (देखने में प्रिय), बहुश्रुत (बहुत विषय श्रवण किया हो), कालवेदी (समय को पहचानने वाला), ज्ञातग्रन्थः (शास्त्र को जानने वाला), अर्थशास्त्रवित् (शास्त्र के कर्म को जानने वाला—शास्त्रार्थज्ञ-चिकित्सितज्ञ), अनाथान् रोगिणो (निरुपाय रोगियों को), पुत्रवत्समुपाचरेत् (पुत्र के समान सम्यक् उपचार करता हो), गुरु ने जिसको चिकित्सा कर्म करने की आज्ञा दे दी हो, वह भिषक् शब्द (वैद्य पद को) अश्नुते (प्राप्त करता है) ।

अनुद्धतः प्रसिद्ध इतीन्दु । गुरुणा समनुज्ञातः की व्याख्या इन्दु ने की है—'गुरुणा योग्यत्वात् चिकित्साकरणे समनुज्ञातः । प्राचीनकाल में चिकित्सा करने की अनुमति गुरुओं द्वारा मिलती थी । आजकल विश्वविद्यालयों द्वारा परीक्षा उतीर्ण करने के पश्चात् प्रमाणपत्रों के आधार पर चिकित्साव्यवसाय करने के लिए भारतीय चिकित्सा परिषदों द्वारा रजिस्ट्रेशन करवाना पड़ता है । सुश्रुत ने कहा है—'राजानुज्ञातेन अर्थात् जिसके द्वारा आज्ञा प्राप्त कर ली है, वह चिकित्साकार्य करने का अधिकारी है ।

कुवैद्य के लक्षण

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ॥ १० ॥
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् ।

जो वैद्य केवल शास्त्र को जानता है, कर्मसु—चिकित्सा कर्माभ्यास में, अपरिनिष्ठित—निपुण न हो, वह रोगी को देखकर, मुह्यति—मोह करता है, अर्थात् घबड़ा जाता है। जिस प्रकार भीरु (कायर) लोग आहवं—संग्राम को देखकर घबड़ा जाते हैं।

यः पुनः कुरुते कर्म धाष्ट्र्याच्छास्त्रविवर्जितः ॥ ११ ॥
स सत्सु गर्हामाप्नोति वधं चर्च्छति राजतः।

जो वैद्य शास्त्रविवर्जितः—शास्त्र ज्ञान न होने पर भी, धाष्ट्र्या—धृष्टता के कारण चिकित्सा-कर्म को करता है, वह सत्सु—सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त करता है और राजा द्वारा मृत्युदण्ड को प्राप्त करता है।

राजा के योग्य चिकित्सक

हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे[1] ॥ १२ ॥
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः।

हेतौ—रोग के कारण, लिङ्गे—रोग के लक्षण, प्रशमने—रोग की चिकित्सा, रोगाणाम्—अपुनर्भवे—रोग की पुनः उत्पत्ति न हो—इन चार प्रकार की बातों का जिसको ज्ञान है, वह राजा के योग्य चिकित्सिक (Royal Physician) है।

बहुश्रुत की प्रशंसा

शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये[2] ॥ १३ ॥
पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञा बाहुश्रुत्येन बृंहयेत्।

शस्त्र, शास्त्र और जल में पात्र के अनुसार गुण और दोषों की उत्पत्ति होती है। इसलिए बुद्धि को बहुत कुछ सुनकर बढ़ावें।

शस्त्र शौर्ययुक्त पुरुष में गुणवान् (विजयकारक) और भीरु पुरुष में दोष (पराजय) कारक हो जाता है। इसी प्रकार स्वच्छ पात्र में पानी गुणशाली (जीवनदायक) तथा मलिन पात्र में दोष (रोग) कारक हो जाता है। शास्त्र भी सुपात्र एवं कुपात्र के कारण गुणवान् एवं दोषवान् हो जाता है। 'बाहुश्रुत्येन प्रभूतशास्त्रश्रवणेन प्रज्ञां प्रज्ञानं बृंहयेत्पूरयेत्' (इतीन्दुः)।

बुद्धि बढ़ाने में हेतु

प्रदीपभूतं शास्त्रं हि दर्शनं विपुला मतिः[3] ॥ १४ ॥
ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति।

शास्त्रं प्रदीपभूतं—शास्त्र दीपक के समान है, विपुला मतिः—विस्तीर्ण बुद्धि, दर्शनं—नेत्र (दृष्टि) के समान है, इसलिए इन दोनों के सुयुक्त होने पर चिकित्सा करता हुआ व्यक्ति, न अपराध्यति—अपराध नहीं करता है।

वैद्य की सफलता के हेतु

आहूत एव यो याति सुवेषः सुनिमित्ततः ॥ १५ ॥
गत्वाऽऽतुरार्थादन्यत्र न निधत्ते मनः क्वचित्।
व्याधीन् परीक्षते सम्यङ् निदानादिविशेषतः ॥ १६ ॥
ह्रेपणीयां च तद्वार्तां न प्रकाशयते बहिः।
सहसा न च तस्याऽपि क्रियाकालमहापयन् ॥ १७ ॥
जानाति चोपचरितुं स वैद्यः सिद्धिमश्नुते।

---

१. च० सू० ९।१९। २. च० सू० ९।२०। ३. च० सू० ९।२४।

जो चिकित्सक आहूत—बुलाने पर ही रोगी के घर, सुवेषः सुनिमित्ततः याति—सुन्दर वेष में शुभलक्षणों से जाता है, जाकर रोगी के निदान एवं चिकित्सा के अतिरिक्त, अन्यत्र क्वचिन्मनः न निधत्ते—अन्य स्थानों पर कहीं मन को नहीं लगाता है, व्याधीन् परीक्षते—रोग की परीक्षा निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय-सम्प्राप्ति से ठीक प्रकार करके तद् योग्य चिकित्सा करता है, रोगी की ह्रेपणीय (लज्जाजनक) बातचीत को बाहर प्रकट नहीं करता है, रोग की भयंकरता को सहसा रोगी से नहीं कहता है, क्रियाकालम् अहापयन्—चिकित्सा कर्म के उचित समय का उल्लंघन न करते हुए जो चिकित्सा करना जानता है, वह वैद्य चिकित्सा की सिद्धि (सफलता) को प्राप्त करता है।

वैद्य के लिए त्याज्य कर्म

नाददीताऽमिषं स्त्रीभ्यस्तदध्यक्षे पराङ्मुखे ॥ १८ ॥
ताभिश्च रहसि स्थानं परिहासं च वर्जयेत् ।

तद् अध्यक्षे पराङ्मुखे—परायी स्त्री के पति की अनुपस्थिति में, स्त्रीभ्यः आमिषं[1] न आददीत—स्त्री से भोग्य वस्तु नहीं ग्रहण करना चाहिए, ताभिश्च—और स्त्री के साथ, रहसि स्थानं—एकान्त स्थान में परिहास (मजाक) नहीं करना चाहिए।

अचिकित्स्य रोगी

आर्तं च नृपसद्वैद्यैर्द्विष्टं तद्द्वेषिणं द्विषम् ॥ १९ ॥
चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम् ।
हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुषम् ॥ २० ॥

जो रोगी, नृपेण सद्भिश्च वैद्यैश्च द्विष्टं—राजा, सज्जन पुरुष एवं वैद्यों से द्वेष करता हो अथवा तद् द्वेषिणं तान् नृपसद्वैद्यान्—जिसको राजा, सत्पुरुष और वैद्य द्वेष करते हो, द्विषं—शत्रु, चण्डं—अभिमानी, शोकातुरं—शोक से ग्रस्त, भीरुं—डरपोक, कृतघ्नं—किये हुए उपकार को न मानने वाले, वैद्यमानिनम्—चिकित्सक न होते हुए भी अपने को चिकित्सक मानने वाले, हीनोपकरणं—हीन साधन वाले, व्यग्रं—स्थिर चित्त न हो, गतायुषम्—जिसकी आयु शेष न हो (अरिष्ट उत्पन्न हो गया हो), अविधेयं—ऐसे रोगी की वैद्य को चिकित्सा नहीं करना चाहिए।

कुवैद्य का त्याग

जिजीविषुर्व्याधितोऽपि पूर्वोक्तगुणवर्जितान् ।
क्रियाविक्रयिणो वैद्यान् मृत्योरग्रेसरा हि ते ॥ २१ ॥

व्याधितोऽपि—रोगी भी, जिजीविषुः—जीने की इच्छा रखते हों, तो पूर्वोक्तगुणवर्जितान्—पहले बतलाये हुए वैद्य के गुण से रहित, क्रियाविक्रियिणो—चिकित्सा-कर्म का विक्रय करने वाले, वैद्यान्—वैद्यों को त्याग दें, क्योंकि ते—ऐसे चिकित्सक मृत्यु के आगे-आगे चलने वाले यमदूत के समान हैं।

महर्षि अग्निवेश ने भी कहा हैं—

'श्रुतदृष्टक्रियाकालमात्राज्ञानबहिष्कृताः। वर्जनीया हि ते मृत्योः चरन्ति अनुचरा भुविः ॥
(च० सू० २९।११)

अर्थात् जो वैद्य श्रुत (शास्त्र) ज्ञान, दृष्ट (प्रत्यक्षकर्माभ्यास), क्रिया (चिकित्सा), काल (औषधि का काल) तथा औषधि की मात्रा से अनभिज्ञ है, उनसे चिकित्सा नहीं करानी

१. आमिषं भोग्यवस्तुनि इति कोशः ।

चाहिए, क्योंकि ऐसे चिकित्सक भूमि पर मृत्यु के अनुचर होकर परिभ्रमण करते हैं। पुनः कहा है—'वर्जयेदातुरो विद्वान् सर्पास्ते पीतमारुताः'। अर्थात् वायु का पान करने वाले सर्प के समान भयंकर ऐसे चिकित्सक होते हैं, अतः इनका विद्वान् रोगियों को परित्याग कर देना चाहिए।

चिकित्सा के सोलह अंग

भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम्॥ २२॥

भिषक्—वैद्य (Physician), द्रव्याणि—औषधियाँ (Drugs), उपस्थाता—परिचारक (Medical Attendant) तथा रोगी—आतुर (Patient) ये चिकित्सा के चार पाद हैं और इनमें प्रत्येक के चार-चार प्रकार इस प्रकार कुल सोलह गुण बतलाये गये हैं।

वैद्य के चार गुण

दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो[1] दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्।

भिषक् (१) दक्षः—चतुर हो, (२) तीर्थात्तशास्त्रार्थः—गुरु से शास्त्रज्ञान प्राप्त किया हो, (३) दृष्ट-कर्मा—अनेकों रोगों की चिकित्सा कर उनसे अनुभव प्राप्त किया हो एवं (४) शुचि—शरीर एवं मन से पवित्र हो। ये चार गुण वैद्य के हैं।

महर्षि अग्निवेश ने उक्त श्लोक को इस प्रकार कहा है—'श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्ट-कर्मता। दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम्॥ (च० सू० ९।६)। पुनः चिकित्सक के अन्य गुण बतलाये हैं—'ततोऽनन्तमाचार्यं परीक्षेत् तद्यथा पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचि जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञं.....'। (च० वि० ८।४)। महर्षि सुश्रुत ने वैद्य के गुण बतलाये हैं—'तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती। लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः॥ प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः। सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक् पादोच्यते, (सु० सू० ३४।१८-१९)। लोलिम्बराज ने वैद्य के गुणों के विषय में कहा है—'गुरोरधीताऽखिलवैद्यविद्यः पीयूषपाणिः कुशलः क्रियासु। गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः शुचोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात्'॥

औषधि के चार गुण

बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम्॥ २३॥

औषधि (१) बहुकल्पं—एक ही औषध की अनेक कल्पना—स्वरस, क्वाथ एवं चूर्ण आदि हो, (२) बहुगुणं—गुरुमन्द आदि बहुत गुण हो या अनेक रोगों को नष्ट करने में समर्थ हो, (३) सम्पन्नं—अपने रस-गुण-वीर्य-विपाकादि से युक्त हो एवं (४) योग्यम्—व्याधि-देश-काल-वय-दोष-दूष्य-देह तथा बलाबल के अनुसार रोगी के लिए हितकर हो।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना। सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते'॥ बहुकल्पं के स्थान पर बहुता शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अभिप्राय है कि औषध प्रचुर मात्रा में सर्वत्र सुलभ हो। महर्षि सुश्रुत ने औषध के गुण के विषय में बतलाया है—'प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि च उद्धृतम्। युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम्॥ दोषजमग्लानिकरमविकारि विपर्यये। समीक्ष्य दत्तं काले च भेषज पाद उच्यते'॥

(सु० सू० ३४।२१-२२)

---

१. 'तीर्थात्तशास्त्रार्थः उपाध्यायात् प्राप्तशास्त्रस्वरूपम्'—इतीन्दुः।

परिचारक के चार गुण

अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः ।

परिचारक (१) अनुरक्तः—रोगी का दृढ़भक्त हो, (२) शुचि—वैद्य की तरह पवित्र हो, (३) दक्षः—अपने कार्य में कुशल हो एवं (४) बुद्धिमान्—विशिष्ट बुद्धि से युक्त हो ।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्त्तरि । शौचं चेति चतुष्कोऽयः गुणपरिचरे जने' ॥ महर्षि सुश्रुत ने परिचारक के गुण इस प्रकार कहे हैं—'स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे । वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः' ॥ (सु० सू० ३४।२३) आजकल परिचारिकाओं के प्रशिक्षण के लिए पृथक् से विद्यालय खोले गये हैं, जहाँ से प्रशिक्षित परिचारिकाएँ निकल रही हैं । ये आधुनिक परिचारिकाएँ 'फ्लोरेंस नाइटिंगेल' को ही इसकी जन्मदात्री मानती हैं, जबकि अपने यहाँ बहुत पहले ही इस पर विशेष विचार किया गया है ।

रोगी के चार गुण

आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्त्ववानपि ॥ २४ ॥

रोगी (१) आढ्यः—धनवान् हो, (२) भिषक्वश्यः—वैद्याधीन हो, (३) ज्ञापकः—रोग का कारण वेदना आदि बतलाने में समर्थ हो एवं (४) सत्त्वान्—रोग एवं औषध के क्लेश को सहने वाला हो ।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'स्मृतिनिर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च । ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः' ॥ सुश्रुत ने रोगी के लक्षण बतलाये हैं—'आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्योद्रव्यवान् आत्मवान् अपि । आस्तिकोवैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते' ॥

चिकित्सा-चतुष्पाद के षोडश गुण

भिषक् (Physician)	द्रव्य (Drug)	उपस्थाता (Medical Attendant)	रोगी (Patient)
१. दक्ष (Skill)	१. बहुकल्प (Muitiple Preparation)	१. अनुरक्त (Affection for Patient)	१. आढ्य (Wealthy)
२. तीर्थात्तशास्त्रार्थ (Has Taught Medical Knowledge by Teacher)	२. बहुगुण (Many Properties)	२. शुचि (Clean)	२. भिषक्वश्य (Obedient)
३. दृष्टकर्मा (Extensive Practical Experience)	३. सम्पन्न (Potency)	३. दक्ष (Skill)	३. ज्ञापक (Ability of Expression)
४. शुचि (Clean)	४. योग्यत्व (Suitability)	४. बुद्धिमान (Knowledge of Nursing)	४. सत्त्ववान् (Tolerant)

वैद्य की प्रधानता के कारण

यद्वैद्ये विगुणे पादा गुणवन्तोऽप्यनर्थकाः ।
स पादहीनानप्यार्तान् गुणवान् यच्च यापयेत् ॥ २५ ॥
चिकित्सायास्तमेवातः प्रधानं कारणं विदुः ।

यदि चिकित्सक गुणहीन हो, तो औषधि, उपचारक एवं रोगी गुणवान् होने पर भी निरर्थक होते हैं, किन्तु शेष तीनों पादों से हीन होने पर भी गुण-सम्पन्न चिकित्सक चिकित्सा कर लेता है। इसलिए वैद्य को ही चिकित्सा में प्रधान कारण कहते हैं।

रोग के भेद

साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा तौ तु पुनर्द्विधा ॥ २६ ॥
सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्च याप्यो यश्चानुपक्रमः ।

साध्य रोग (ठीक होने वाला रोग) एवं असाध्य रोग (ठीक न होने वाला रोग) भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं। ये दोनों रोग भी दो-दो प्रकार के होते हैं। साध्य रोग के दो भेद—(क) सुसाध्य—सुगमता से ठीक होने वाला (ख) कृच्छ्रसाध्य—कठिनाई से ठीक होने वाला। असाध्य रोग के दो भेद—(क) याप्य—पथ्य तथा औषध से अल्प काल के लिये रोग ठीक हो जाता है, किन्तु मूलरूप से ठीक नहीं होता है, यथा—श्वास एवं अर्श आदि। (ख) अनुपक्रम—अचिकित्स्य होते हैं।

सुखसाध्य रोग

सर्वौषधक्षमे देहे यूनः पुंसो जितात्मनः ॥ २७ ॥
अमर्मगोऽल्पहेत्वग्ररूपरूपोऽनुपद्रवः
अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिः पादसम्पदि ॥ २८ ॥
ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः सुखः ।
सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते ॥ २९ ॥

रोगी का शरीर सभी प्रकार की औषधियों को सहन करने योग्य हो, युवावस्था हो, पुरुष हो (स्त्री न हो), जितात्मनः—अलोलुप (विषयों से अनासक्त) हो, अमर्मगः—रोग मर्म-स्थान शिर-हृदय-वस्ति प्रभृति स्थानों में न पहुँचा हो; निदान, पूर्वरूप तथा लक्षण अल्प हो, अनुपद्रवः—रोग उपद्रव रहित हो, अतुल्यदूष्य-देश-ऋतु-प्रकृति (रस-रक्तादि दूष्य, आनूप-जांगल-साधारण देश, वर्षा-शरद-हेमन्त आदि ऋतुएँ तथा वात-पित्त-कफादि प्रकृतियाँ) रोग सदृश न हो, पाद-सम्पदि—वैद्य-औषध-परिचारक तथा रोगी अपने-अपने गुणों से सम्पन्न हो, ग्रहेषु अनुगुणेषु—ग्रहों की दशा (अवस्था) अनुकूल राशि में स्थित हो, एकदोषण—रोग वातादि किसी एक दोष से उत्पन्न हो, एकमार्गः—रोग शाखा (बाह्य), कोष्ठ (मध्य) एवं मर्मास्थिसन्धयः (आभ्यन्तर) में से किसी एक मार्ग में स्थित हो, नवः—रोग नूतन (अचिरोत्पन्न) हो तथा सुखः—विशेष कष्ट न हो, ऐसा रोग सुखसाध्य कहलाता है अर्थात् सुगमतापूर्वक थोड़े समय में ठीक हो जाता है।

कृच्छ्रसाध्य रोग

कृच्छ्ररुपायैः कृच्छ्रस्तु महद्भिश्च चिरेण च ।
असाध्यलिङ्गसङ्कीर्णस्तथा शस्त्रादिसाधनः ॥ ३० ॥

कृच्छ्रैः उपायैः—कष्टकर साधनों से, महद्भिः—बड़े उपकरणों की सहायता से, चिरेण—बहुत समय में, असाध्यलिङ्गसङ्कीर्ण—असाध्य लक्षणों से मिला हुआ और शस्त्रादिसाधनः—शस्त्र-क्षार-अग्नि आदि साधनों से शान्त होने वाली, कृच्छ्रैः—कष्टसाध्य व्याधि होती है।

महर्षि अग्निवेश ने कृच्छ्रसाध्य व्याधि का लक्षण इस प्रकार कहा है—

'निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले। कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च।
गर्भिणीवृद्धबालानां नात्युपद्रवपीडितम्। शस्त्रक्षाराग्निकृत्यानामनवं कृच्छ्रदेशजम्॥
विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णचतुष्पदम्। द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषजम्'॥
(च० सू० १०।१४-१६)

याप्य रोग

शेषत्वादायुषः पथ्यैर्याप्यः प्रायो विपर्यये।
दत्त्वाऽल्पं सुखमल्पेन हेतुना स प्रतन्यते॥ ३१॥
याति नाशेषतां रोगः कर्मजो नियतायुषः।
प्रपतन्निव विष्कम्भैर्धार्यतेऽत्रातुरो हितैः॥ ३२॥

प्रायः विपर्यये—साध्य व्याधि के विपरीत होते हुए भी, आयुषः शेषत्वाद्—जीवन के शेष रहने के कारण, पथ्यैः—हितकर आहार-विहार के सेवन से, याप्यः—याप्य रोग कुछ शान्त हो जाता है। अल्पेन हेतुना स प्रतन्यते—यदि अपथ्य का सेवन कर लिया गया, तो थोड़े कारणों से रोग पुनः बढ़ जाता है, नियत आयु वाले पुरुष का कर्मज रोग समूल नष्ट नहीं होता। केवल इस अवस्था में हितकर आहार-विहार के सेवन से रोगी उसी प्रकार जीवित बना रहता है, जिस प्रकार गिरता हुआ मकान खम्भे के सहारे रोक दिया जाता है।

महर्षि अग्निवेश ने याप्यरोग का लक्षण इस प्रकार कहा है—

'शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया। लब्धाल्पसुखमल्पेन हेतुनाऽऽशुप्रवर्तकम्॥
गम्भीरं बहुधातुस्थं मर्मसन्धिसमाश्रितम्। नित्यानुशायिनं रोगं दीर्घकालमवस्थितम्'॥
विद्याद् द्विदोषजम्—' (च० सू० १०।१७-१८)

प्रत्याख्येय व्याधि

परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते।
तस्मादुपेक्ष्य एवासौ स्थितोऽत्यन्तविपर्यये॥ ३३॥
भ्रममोहारतिकरो दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः।

प्रत्याख्येय (चिकित्सा न करने योग्य), याप्य से भिन्न असाध्य होता है। इसमें सभी प्रकार की चिकित्सा निष्फल हो जाती है, इसलिए ऐसी व्याधि उपेक्षा के योग्य ही होती है। सुखसाध्य लक्षण से अत्यन्त विपरीत स्थिति हो जाती है। भ्रम (चित्त का अस्थिर होना), मोह, अरति (बेचैनी), दृष्टरिष्ट (मरण-सूचक चिह्न दिखलायी पड़ना) तथा अक्षनाश (इन्द्रिय-नाश) हो जाता है।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'तद्वत् प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम्। क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम्।
औत्सुक्यारतिसम्मोहकरमिन्द्रियनाशनम्। दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च॥'
(च० सू० १०।१९-२०)

साध्यासाध्यता के अनुसार रोगों का वर्गीकरण

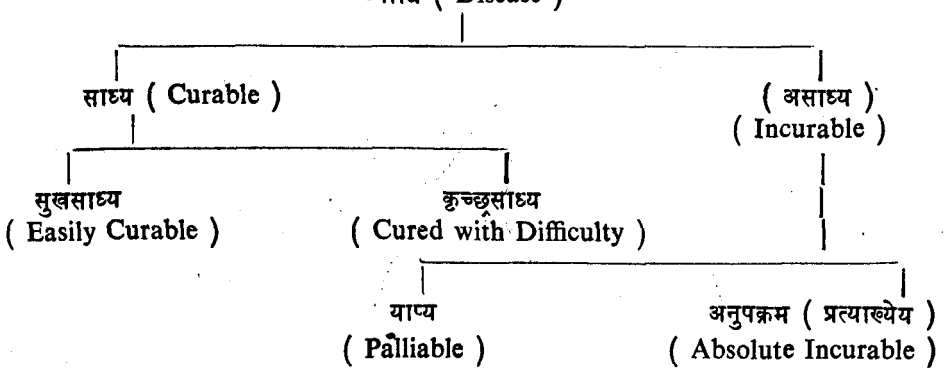

चिकित्सा से पूर्व कार्य

व्याधीन् पुरा परीक्ष्यैवमारभेत ततः क्रियाम् ॥ ३४ ॥
स्वार्थविद्यायशोहानिमन्यथा ध्रुवमाप्नुयात् ।

सर्वप्रथम व्याधि की परीक्षा करनी चाहिए और इसके पश्चात् चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। अन्यथा स्वार्थहानि, विद्याहानि एवं यशोहानि (अपयश) निश्चित प्राप्त होती है।

साध्य रोग का असाध्य में रूपान्तरण

साध्ययोरपि संयोगोबलिनोर्यात्यसाध्यताम् ॥ ३५ ॥
विद्यादसाध्यमेवातः साध्यासाध्यसमागमम् ।
नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम् ॥ ३६ ॥

बलवान् साध्य लक्षण युक्त दो व्याधियों का संयोग भी असाध्य हो जाता है, इसलिए संयोग के कारण एक साध्य तथा दूसरा असाध्य रोग का समागम असाध्य होता है। जो व्याधि असाध्य है, वह कभी भी साध्य नहीं होती, इसके विपरीत साध्य व्याधि असाध्य हो जाया करती है।

पादापचाराद्दैवाच्च यान्त्यवस्थान्तरं गदाः ।

पादापचाराद्—चिकित्सा के चारों पादों में दोष होने से तथा दैवात्—पूर्वजन्मकृत (भाग्य) से, गदाः—व्याधियाँ, अवस्थान्तरं यान्ति—एक अवस्था से दूसरी अवस्था (साध्य से असाध्यावस्था) में प्राप्त होती है।

वैद्य की वृत्ति

वरमाशीविषविषं दीप्तमग्निमयोऽपि वा ॥ ३७ ॥
उपयुञ्जीत न त्वार्तादामिषं कृपणाज्जनात् ।

चिकित्सक के लिए सर्प का विषपान, जलती अग्नि अथवा अत्यन्त तपे हुए लोहे का उपयोग श्रेष्ठ है, किन्तु कृपण (कंजूस) रोगी से भोग्य वस्तु ग्रहण करना श्रेष्ठ नहीं है।

महर्षि अग्निवेश ने इस सम्बन्ध में कहा है—

'वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्रमेव वा। पीतमत्याग्निसन्तप्ता भक्षिता वाऽप्ययोगुडाः ॥
न तु श्रुतवतां वेशं बिभ्रता शरणागतात्। गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं वा रोगपीडितात् ॥'
(च० सू० १।१३२–१३३)

अर्थात् सर्प का विष, ताम्र वा क्वाथ अथवा अग्नि में तप्त लोहे का गोला खा लेना अच्छा है, किन्तु वैद्य का वेष धारण करने वाले को शरण में आये हुए रोगी से अन्न-पान अथवा धन लेना अच्छा नहीं है।

दया-धर्म से लाभ

वरो भूतदयाधर्म इत्यार्तेषु भिषग्वरः ॥ ३८ ॥
वर्तते यस्तु सिद्धार्थः स सर्वमतिवर्तते ।

इति शिष्योपनयनीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भूतदयाधर्म—प्राणियों पर दया-धर्म श्रेष्ठ है, ऐसा समझकर जो चिकित्सक रोगियों से व्यवहार करता है, वह अर्थसिद्धियुक्त होकर सबसे बड़ा हो जाता है।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूत दयां प्रति । वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते ॥'
(च० चि० १।४।५८)

अर्थात् जो चिकित्सक अर्थ (धन) एवं काम (मनोरथ) की लालसा को छोड़कर प्राणियों के प्रति दया की भावना से चिकित्सा-कार्य करता है, वह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। पुनः कहा है—

'परो भूतदयाधर्म इति मत्वा चिकित्सया ।
वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥' (च० चि० १।४।६२)

इस प्रकार 'शिष्योपनयनीय' नामक द्वितीय अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

१. शिष्य के गुण—गुरुभक्त, अभियुक्त, अतियुक्त, बुद्धिमान्, स्मृति-सम्पन्न, चतुर, ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, धैर्यसम्पन्न, सच्चरित्र, गम्भीर, प्रियभाषी, लज्जाशील, पवित्र एवं कुलीन।

२. अनाध्याय-काल—बिना ऋतु मेघ गर्जना, भूकम्प, सूर्य एवं चन्द्र ग्रहण, पूर्णिमा एवं अमावस्या।

३. भिषक् के गुण—सत्यवादी, बहुश्रुत, कालवेदी, अनाथ रोगियों को पुत्र के समान मानने वाला एवं जिसे गुरु ने चिकित्सा-व्यवसाय हेतु प्रमाणपत्र दे दिया हो।

४. राजकीय चिकित्सक का गुण—जो चिकित्सक रोग के कारण, लक्षण, चिकित्सा एवं रोग की पुनः उत्पत्ति न हो, इन तथ्यों को जानता हो।

५. चिकित्सा के सोलह अंग—

(क) चिकित्सक—दक्ष, तीर्थात्तशास्त्रार्थ, दृष्टिकर्मा एवं शुचि।
(ख) औषधि—बहुकल्प, बहुगुण, रस-गुण-वीर्य से युक्त एवं योग्य।
(ग) उपस्थाता—अनुरक्त, शुचि, दक्ष एवं बुद्धिमान्।
(घ) रोगी—धनवान्, वैद्याधीन, रोगों का ज्ञापक एवं सत्त्ववान्।

६. रोग के दो प्रकार—साध्य-सुखसाध्य एवं कृच्छ्रसाध्य। असाध्य-याप्य एवं प्रत्याख्येय।

तृतीयोऽध्यायः

अथातो दिनचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

द्वितीय अध्याय के पश्चात् 'दिनचर्या अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

दिनचर्या—'प्रतिदिनं कर्त्तव्या चर्या दिनचर्या' (इन्दु)। प्रतिदिन करने योग्य चर्या दिनचर्या है। 'दिने दिने चर्या, दिनस्य वा चर्या दिनचर्या। चरणं चर्या। उभयलोकहितमाहारचेष्टितं प्रतिदिने यत्कर्त्तव्ये' (अरुणदत्त)। अर्थात् प्रतिदिन की चर्या का नाम दिनचर्या है, चर्या का अभिप्राय है—चरण (आचरण)। इस अध्याय में उस आचरण का उल्लेख किया गया है, जो इस लोक तथा परलोक में लाभप्रद हो। कहा गया है—'आचाराल्लभते ह्यायुः' अर्थात् आचार से आयु प्राप्त होती है, इसलिए 'आयुष्कामीय अध्याय' के पश्चात् आचार को बतलाने के लिए 'दिनचर्या अध्याय' का वर्णन आचार्य ने किया है। आचार शब्द से आहार एवं विहार दोनों का ग्रहण होता है। विहार दो प्रकार का होता है—(१) नियत काल तथा (२) अनियत काल। नियत काल विहार भी दो प्रकार का होता—(क) दैनन्दिन (प्रतिदिन करने योग्य) एवं (ख) आर्त्तव (प्रत्येक ऋतु से सम्बन्धित)। इस अध्याय में प्रतिदिन करने योग्य दिनचर्या का वर्णन है। यद्यपि रात्रिचर्या का भी वर्णन इस अध्याय में किया गया है, किन्तु दिनचर्या-प्रधान विषय होने के कारण इस अध्याय का नाम 'दिनचर्या अध्याय' निर्दिष्ट किया गया है।

ब्राह्ममुहूर्त्त में जागरण

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेज्जीर्णाजीर्णे निरूपयन्।
रक्षार्थमायुषः स्वस्थो—

स्वस्थ (निरोग) मनुष्य आयु (जीवन) की रक्षा के लिए रात्रि का भोजन पच गया है अथवा नहीं, इसका विचार करते हुए ब्राह्ममुहूर्त्त में उठे।

यदि आहार का पाचन नहीं हुआ हो, तो नहीं उठना चाहिए। चार घड़ी रात्रि शेष रहने का नाम (प्रातःकाल ४–६ बजे) ब्राह्ममुहूर्त्त है। ब्रह्म—ज्ञान एवं परमात्मा को कहते हैं। ज्ञान के अध्ययन के लिए तथा ईश्वर-स्मरण के लिए योग्य समय ब्राह्ममुहूर्त्त होता है। इस समय उठकर परमात्मा का ध्यान तथा विद्याध्ययन करना चाहिए। सुश्रुत ने कहा है—'ब्राह्मे मुहूर्ते बुद्धचेत् स्वस्थ्यो रक्षार्थमायुषः। तत्र सर्वाघशान्त्यर्थं स्मरेच्च मधुसूदनम्' ॥ प्रातःकाल को अमृत वेला कहा गया है। शुद्ध वायु, शुद्ध जल, शुद्ध भूमि, विपुल प्रकाश एवं विपुल आकाश ये ही प्रकृति के पञ्चामृत हैं। प्रातःकाल ही स्वच्छ एवं प्रदूषण रहित अवस्था में ये पांचों मिल सकते हैं। इस प्रातःकालीन पंचामृत को त्यागने वाले लोग आरोग्यवान्, भाग्यवान् तथा ज्ञानवान् नहीं हो सकते हैं। अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि प्रातःकालीन सूर्य की रश्मियों से व्याधियाँ नष्ट होती हैं—'उद्यनादित्यः रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनिनीशत्'। (अथर्ववेद ९।८) बाल अरुण की अल्ट्रावायलेट किरणों द्वारा विटामिन डी एवं ई का निर्माण आधुनिक वैज्ञानिक लोग भी मानते हैं। मुखदुर्गन्ध, कोष्ठबद्धता, अजीर्ण, आलस्य एवं अनेकों प्रकार के नेत्ररोग केवल प्रातःकाल न उठने से होते हैं।

मलोत्सर्ग विधि

—जातवेगः समुत्सृजेत् ।। ३ ।।
उदङ्मुखो मूत्रशकृद्दक्षिणाभिमुखो निशि ।
वाचं नियम्य प्रयतः [1]संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः[2] ।। ४ ।।
प्रवर्तयेत् प्रचलितं न तु यत्नादुदीरयेत् ।
नामेध्यमार्गमृद्भस्मगोस्थानाकीर्णगोमये ।। ५ ।।
पुरान्तिकाग्निवल्मीकरम्योत्कृष्टचितिद्रुमे ।
न नारीपूज्यगोऽर्केन्दुवाय्वन्नाग्निजलं प्रति ।। ६ ।।
न चातिरस्कृत्य[3] महीं भयाशक्त्योस्तु कामतः ।

मलोत्सर्ग एवं मूत्रोसर्ग का वेग प्रतीत होने पर दिन में उदङ्मुख (उत्तर दिशा) में तथा रात्रि में दक्षिण दिशा में मुख करके मूत्र-मल (पुरीष) त्याग करना चाहिए। वाचं नियम्य—मौन होकर मलोत्सर्ग के अतिरिक्त किसी भी अन्य कार्य में ध्यान नहीं करना चाहिए। मलत्याग के समय वस्त्र (धोती, पैजामा, तहमत आदि) धारण किये रहना चाहिए तथा शिर को ढँके रहना चाहिए। आते हुए मल-मूत्र के वेग को त्यागना चाहिए, किन्तु न आते हुए वेग का प्रयत्नपूर्वक विसर्जन नहीं करना चाहिए।

नामेध्यः—अत्यन्त अपवित्र स्थान में, मार्ग—रास्ता में, मृद्—मिट्टी में, भस्मानि—राख के ढेर पर, गोस्थाने—गायों के बैठने की जगह, आकीर्णे—जन समाज चौपाल आदि में, गोमयस्योपरि—गोबर के ऊपर, पुरान्तिके—नगर के समीप, अग्नि के समीप, वल्मीकोपरि—पिपीलिकादि द्वारा बनाये हुए मिट्टी के ऊँचे ढेर पर, रम्ये—रमणीय स्थान में, उत्कृष्टस्थाने—हल द्वारा जोते हुए खेत में, क्षिति—यज्ञादि की अग्नि के समीप तथा द्रुमे—वृक्ष के नीचे अथवा ऊपर मल-त्याग नहीं करना चाहिए। स्त्री, गुरु आदि पूज्य, गाय, अर्क (सूर्य), इन्दु (चन्द्रमा), वायु, अन्न (भोज्य पदार्थ), अग्नि तथा जल की ओर मुख करके और भूमि को बिना ढँके हुए मलोत्सर्ग नहीं करना चाहिए। अर्थात् तृण आदि से पृथ्वी को ढँककर उसके ऊपर मलोत्सर्ग करना चाहिए। यदि स्वामी एवं चोर आदि का भय हो अथवा शरीर अशक्त (असमर्थ) हो, तब इच्छापूर्वक मलमूत्र का त्याग करें।

मलोत्सर्ग उपर्युक्त सार्वजनिक स्थानों में नहीं करना चाहिए, इससे गन्दगी तथा नाना प्रकार के रोग फैलते हैं। मलोत्सर्ग के समय अन्य विषयों को सोचने से मलत्याग काफी विलम्ब से होता है। आते हुए मल के वेग को रोकने से पिण्डलियों में ऐंठन, प्रतिश्याय, शिर में वेदना, अपानवायु की ऊर्ध्वगति, गुदा में कैंची से काटने के समान वेदना तथा मुख द्वारा मल की प्रवृत्ति हो सकती है। प्रयत्नपूर्वक मलोत्सर्ग करने पर अर्श हो जाता है।

न वेगितोऽन्यकार्यः सान्नाजित्वा स्याध्यमामयम् ।। ७ ।।

मलमूत्रादि का वेग उपस्थित होने पर दूसरा कोई कार्य नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार साध्य रोगों की चिकित्सा किये बिना अन्य कार्य नहीं करना चाहिए।

---

१. 'संवीताङ्गो गृहीतपरिधानः' इतीन्दुः।
२. 'अवगुण्ठितः। अनग्नशिराः' इतीन्दुः।
३. 'महीं भूमिमतिरस्कृत्य तृणादिभिरनवच्छाद्य' इतीन्दुः।

गुदप्रक्षालन-विधि

निःशल्यादुष्टमृत्पिण्डीपरिमृष्टमलायनः ।
अभ्युद्धृताभिः शुचिभिरद्भिर्मृद्भिश्च योजयेत् ॥ ८ ॥
लेपगन्धापहं शौचमनुत्पतितबिन्दुभिः ।

निःशल्या—काँटे रहित काष्ठादि, अदुष्टया, मृत्पिण्ड्या—शुद्ध मिट्टी के पिण्ड से मलायन (गुदमार्ग) को शुद्ध करना चाहिए। अभ्युद्धृताभिः—नदी के तट से किसी कलश-पात्र आदि में पवित्र जल तथा मिट्टी लेकर मलमार्ग की शुद्धि करें। शौचं—पवित्रता, लेपगन्धापहम्—मलादि लेप तथा मल के दुर्गन्ध को नष्ट करता है। अनुत्पतितबिन्दुभिः—शौचकार्य करते समय जल की बिन्दु इधर-उधर न गिरे।

आचमन (मुख-प्रक्षालन)

स्पृष्ट्वा धातून् मलानश्रु वसाकेशनखांश्च्युतान् ॥ ९ ॥
स्नात्वा भोक्तुमना भुक्त्वा सुप्त्वा क्षुत्वा सुरार्चने ।
रथ्यामाक्रम्य[1] चाचामेदुपविष्ट उदङ्मुखः ॥ १० ॥
प्राङ्मुखो वा विविक्तस्थो न बहिर्जानु नान्यदृक् ।
अजल्पन्नुत्तरासङ्गी स्वच्छैरङ्गुष्ठमूलगैः ॥ ११ ॥
नोद्धृतैर्नानतो नोर्ध्वं नाग्निपक्वैर्न पूतिभिः ।
न फेनबुद्बुदक्षारैर्नैकहस्तार्पितैर्जलैः ॥ १२ ॥
नार्द्रैकपाणिर्नामेध्यहस्तपादो न शब्दवत् ।

रस-रक्तादि धातुओं, मल-मूत्र-कर्ण आदि के मलों, अश्रु, वसा, शरीर से कटकर गिरे हुए केशों एवं नखों को स्पर्श करके, स्नान करके, भोजन करने के पूर्व, भोजन करने के पश्चात्, सोकर उठने के पश्चात्, छींक आने पर, देवपूजन के प्रारम्भ में तथा रथ्यामाक्रम्य—बाहर से गली आदि में घूमकर घर में आने पर उत्तर की ओर मुख करके अथवा पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठकर आचमन (मुख-प्रक्षालन) करना चाहिए। एकान्त स्थान में, हाथ घुटनों के बाहर न करके, अन्यत्र दृष्टि न करते हुए, अजल्पन्—मौन धारण करके, उत्तरासङ्गी—शरीर पर उत्तरीय वस्त्र (अंगोछा) धारण करके अंगुष्ठ की जड़ तक अञ्जली में स्वच्छ जल लेकर आचमन करना चाहिए।

आचमन करते समय, उद्धृतैर्न—जल इधर-उधर गिरता हुआ न हो, न आनतः—शरीर नीचे को झुका न हो, नोर्ध्वम्—शरीर ऊपर की ओर उठा न हो। जल अग्निपक्व, दुर्गन्धित, फेन (झाग) सहित, बुलबुला युक्त, क्षार (खारा) मिश्रित तथा एक हाथ से दिया हुआ न हो। एक ही हाथ धोकर आचमन न किया जाय, अपितु दोनों हाथों को धोया जाय। अपवित्र हाथ-पैर से आचमन नहीं करना चाहिए। आचमन के समय किसी प्रकार का शब्द नहीं निकालना चाहिए।

अंगुष्ठ-मूल को ब्रह्मतीर्थ कहा गया है तथा अंगुलियों का अग्रभाग देवतीर्थ है। अतः आचमन के समय अञ्जली में अंगुष्ठमूल तक जल लेने का विधान है।

दन्त-धावन

वटासनार्कखदिरकरञ्जकरवीरजम् ॥ १३ ॥

---

१. 'मार्गं परिभ्रम्य' इतीन्दुः ।

सर्जारिमेदापामार्गमालतीककुभोद्भवम् ।
कषायतिक्तकटुकं मूलमन्यदपीदृशम् ॥ १४ ॥
विज्ञातवृक्षं क्षुण्णाग्रमृज्वग्रन्थि सुभूमिजम् ।
कनीन्यग्रसमस्थौल्यं सुकूर्चं द्वादशाङ्गुलम् ॥ १५ ॥
प्रातर्भुक्त्वा च यतवाग्भक्षयेद्दन्तधावनम् ।
वाप्यत्रिवर्गत्रितयक्षौद्राक्तेन च घर्षयेत् ॥ १६ ॥
शनैस्तेन ततो दन्तान् दन्तमांसान्यबाधयन् ।

वट (बरगद *Ficus bengalensis* Linn), असन (विजयसार *Pterocarpus marsupium* Roxb), अर्क (मदार *Calotropis gigantea* R. Br. ex Ait), खदिर (*Acacia catechu* Wild), करञ्ज (*Pongamia pinnata* Merr.), करवीर (कनैल *Neriumindicum* Mill), सर्ज (*Vateria indica* Linn), अरिमेद (दुर्गन्धयुक्त खैर *Acacia farmesiana* Wild), अपामार्ग (चिचिड़ी *Achyranthus aspera* Linn), मालती (*Aganosma dichotoma* K. Schum) तथा ककुभ (अर्जुन *Terminalia arjuna* W. & A,) की दतुअन अथवा इसी प्रकार अन्य वृक्ष का मूल (शाखा), जो कषाय, कटु एवं तिक्त रस वाले हो तथा परिचित वृक्ष की दतुअन करनी चाहिए। क्षुण्णाग्र—दतुअन का अग्रभाग कूँचा हुआ, ऋजु—सीधा, अग्रंथि—ग्रंथिरहित—तथा सुभूमिजम् प्रशस्त देशोत्पन्न होना चाहिए। दतुअन बारह अंगुल लम्बी, कनिष्ठा अंगुली के अग्रभाग के समान मोटी, सुकूर्च—सुन्दर कूची वाली होनी चाहिए। प्रातःकाल तथा भोजन के पश्चात् मौन होकर दतुअन करना चाहिए। इसके पश्चात् वाप्य कुष्ठ (Saussurea lapp C. B. D.) त्रिवर्ग त्रितय (१. त्रिफला, २. त्रिकटु, ३. त्रिजातक), त्रिफला—आमला (*Emblica officinalis*), हरीतकी (हर्रे *Terminalia chebula*), बिभीतक (बहेड़ा *Terminalia beterica* Roxb), त्रिकटु—शुण्ठी (*Zingiber officinalis* Rose), कालीमिर्च (*Piper nigrum* Linn), पिप्पली (Piper longum Linn), त्रिजातक—दालचीनी (*Cinnamomum zeylanica* Blume), छोटी इलायची (*Elettaria cardamomum*) एवं तेजपत्ता (*Cinnamomum tamela* Nees & Eberm) के चूर्णों को शहद में मिलाकर दाँतों पर मलना चाहिए। मसूड़ों को बिना बाधा पहुँचाये दतुअन करनी चाहिए।

प्रातःकाल एवं सायंकाल मुख एवं दन्त प्रक्षालन हेतु दातौन का विधान किया गया है। दातौन भी कषाय, कटु एवं तिक्त रस की होनी चाहिए। महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा। मधुको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा'। अर्थात् कषाय रस में खदिर एवं बबूल, तिक्त रस में नीम तथा कटु रस में करञ्ज श्रेष्ठ है। इन वृक्षों में कुछ ऐसे क्षारीय तत्त्व एवं तैल होते हैं, जो दन्त दार्ढ्यकर, कृमिनाशक, जन्तुघ्न, व्रणरोपक तथा रक्तरोधक होते हैं। निम्ब में मार्गोसिन नामक तिक्त घटक तथा बीज तैल में सल्फर होता है, जो कि कृमिघ्न है। बबूल में टैनिन, अरेबिक एसिड, कैलशियम तथा मैगनिशियम होता है। करञ्ज में करिञ्जन नामक सक्रिय तत्त्व होता है, जिसकी क्रिया मुख्यतः जन्तुघ्न होती है।

जिह्वानिर्लेखन

लिखेदनुसुखं जिह्वां जिह्वानिर्लेखनेन च ॥ १७ ॥
तथाऽस्य मलवैरस्यजिह्वागन्धाऽऽस्यदन्तजाः ।
रुचिर्वैशद्यलघुता न भवन्ति भवन्ति च ॥ १८ ॥

दातौन करने के पश्चात् जिह्वा-निर्लेखन (Tongue Scraper) द्वारा जिह्वा को सुख-पूर्वक साफ करना चाहिए। इस प्रकार दातौन एवं जिह्वा-निर्लेखन से मुख की मलिनता, वैरस्य (Tastelessness), दुर्गन्ध (Foul Smell), जिह्वारोग, मुखरोग एवं दन्तरोग नहीं होते हैं। आहार में रुचि, मुख में स्वच्छता एवं लघुता हो जाती है।

जिह्वा-निर्लेखन को जीभी कहा जाता है। आजकल ताँबा एवं लोहा आदि धातुओं तथा प्लास्टिक की जीभी बाजार में मिलती है। दातौन को चीरकर भी जीभी बनायी जाती है।

दातौन का निषेध

नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरादिती ।
तृष्णाऽऽस्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत् ॥ १९ ॥

अजीर्ण (Indigestion), छींक, श्वास (Dyspnoea), कास (Cough), ज्वर, अदित (Facial Paralysis), तृष्णा (Thirst), मुखपाक (Ulceration in the Mouth), हृद्रोग, नेत्ररोग, शिरोरोग एवं कर्णरोग में दातौन नहीं करना चाहिए।

निषिद्ध दातौन

नैव श्लेष्मातकारिष्टबिभीतधवधन्वजान् ।
बिल्ववञ्जुलनिर्गुण्डीशिग्रुतिल्वकतिन्दुकान् ॥ २० ॥
कोविदारशमीपीलुपिप्पलेङ्गुदगुग्गुलून् ।
पारिभद्रकमम्लीकामोचवयौ शाल्मलीं शणम् ॥ २१ ॥
स्वाद्वम्ललवणं शुष्कं सुषिरं पूतिपिच्छिलम् ।

श्लेष्मान्तक (लिसोड़ा *Cordia dichotoma* Fort), अरिष्टक (रीठा *Sapindus trifoliatus* Linn), बिभीतक (बहेड़ा *Terminalia belerica* Roxb), धव (*Anogeissus latifolia* Wall), धन्वज (कटीर *Capparis dacidua* Edgew), बिल्व (*Aegle marmelos correa*), बञ्जुल (वेत *Salix caprea* Linn), निर्गुण्डी (सम्हालू *Vitex negundo* Linn). शिग्रु (सहिजन *Moringa oleifera* Linn), तिल्वक् (लोध *Viburnum nervosum* Don), तिन्दुक (तेन्दू *Diosfyros peregrina*), कोविदार (कचनार *Bauhinia variegata* Linn), शमी (छोकर *Prosopis spicigra* Linn), पीलु (झाक *Salvadora indica*), पीपल (*Ficus religiosa* DC), इङ्गुद (हिंगोट *Balanites aegyptiaca* Linn), गुग्गुल (*Commiphora mukul* Engl.), पारिभद्र (फरहद *Erythrina indica* Lam), अम्लिका (इमली *Tarmarindus indica* Linn), मोचक (श्वेत शाल्मली), शाल्मली (रक्त *Salmalia malabarica*) तथा शण (सनई *Crotalaria juncea* Linn) की दातौन नहीं करनी चाहिए। मधुर-अम्ल-लवण रसवाली, सूखी, सुषिर (खोखली), पूति (दुर्गन्धित) तथा पिच्छिल (लसीली) दातौन नहीं करनी चाहिए।

पालाशमासनं दन्तधावनं पादुके त्यजेत् ॥ २२ ॥

पलाश (ढाक *Butea monosperma*) वृक्ष के बने हुए आसन, दातौन एवं खड़ाऊँ का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

दन्तधावन-विधि

दन्तान् पूर्वमधो हर्षेत् प्रातः सिञ्चेच्च लोचने ।
तोयपूर्णमुखो ग्रीष्मशरदोः शीतवारिणा ॥ २३ ॥

नीचे के दाँतों को सर्वप्रथम साफ करना चाहिए। तत्पश्चात् ऊपर के दाँतों को स्वच्छ करना चाहिए। प्रातःकाल मुख में पानी भरकर नेत्रों को शीतल जल से सींचना चाहिए। अर्थात् शीतल जल के छींटे मारना चाहिए। ग्रीष्म एवं शरद् ऋतु में शीतल जल से एवं अन्य ऋतुओं में किञ्चित् उष्ण जल से छींटे मारना चाहिए।

नेत्र पर प्रतिदिन शीतल जल से छींटें मारने से दृष्टि-दोष शीघ्र नहीं हो पाता है तथा नेत्र की रोशनी बहुत दिनों तक ठीक बनी रहती है। महर्षि सुश्रुत ने कहा है कि बट, गूलर आदि क्षीरिवृक्षों की छाल के कषाय अथवा इस कषाय में दूध मिला कर अथवा लोध की छाल के कषाय अथवा आँवला के कषाय अथवा शीतल जल से मुख एवं नेत्र का प्रक्षालन करना चाहिए। इससे नीलिका (झाँई), मुखशोष, पिडिकाएँ, व्यंग तथा रक्तपित्तजनित व्याधियाँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं तथा सूक्ष्म वस्तुएँ आसानी से दिखलायी पड़ती हैं।

प्रातःकालीन मंगलकारक कार्य

प्रणम्य देवान् वृद्धांश्च मङ्गलाष्टशतं शुभम्।
शृण्वन् काञ्चनविन्यस्तं सर्पिः पश्येदनन्तरम् ॥ २४ ॥

मुख-प्रक्षालन के अनन्तर देवताओं और वृद्ध जनों को प्रणाम करें। मंगलाष्टशतं—शारीर-स्थान दूताविज्ञानीय अध्याय में कहे गये एक सौ आठ मंगलों को सुनें तथा स्वर्णपात्र में रखे घृत को देखें।

अञ्जन कर्म

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत्।
लोचने तेन भवतो मनोज्ञे सूक्ष्मदर्शने ॥ २५ ॥
व्यक्तत्रिवर्णे विमले सुस्निग्धघनपक्ष्मणी।

इसके पश्चात् नेत्रों के लिए हितकारी सौवीर अञ्जन का प्रयोग प्रतिदिन करना चाहिए। अञ्जन से नेत्र सुन्दर तथा सूक्ष्म पदार्थों को देखने योग्य हो जाते हैं। नेत्र के शुक्लमण्डल (Sclera), कृष्णमण्डल (Cornea) तथा दृष्टमण्डल (Pupil) का वर्ण (रंग) व्यक्त (स्पष्ट) हो जाता है। नेत्र निर्मल (स्वच्छ) हो जाता है तथा पलकें चिकनी तथा घनी हो जाती हैं।

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'मतं स्रोतोञ्जनं श्रेष्ठं विशुद्धं सिन्धुसम्भवम्। दाहकण्डूमलघ्नं च दृष्टिक्लेदरुजापहम् ॥
तेजोरूपावहं चैव सहते मारुतातपौ। न नेत्ररोगा जायन्ते तस्मादञ्जनमाचरेत्' ॥
(सु० चि० २४।१८-१९)

अर्थात् सिन्धु प्रदेश में उत्पन्न होने वाला विशुद्ध स्रोताञ्जन श्रेष्ठ होता है। यह दाह, कण्डू तथा नेत्र के मल को नष्ट करता है, नेत्रों की क्लिन्नता (चिपचिपाहट) एवं वेदना को शान्त करता है। नेत्र में तेज आता है, नेत्र वायु तथा धूप को सहने में समर्थ होता है, नेत्र के कोई रोग नहीं होते, इसलिए अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए। महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोः प्रयोजयेत्। पञ्चरात्रेऽष्टरात्रे वा स्त्रावणार्थे रसाञ्जनम्' ॥

अर्थात् नेत्र के लिए हितकारी सौवीर अञ्जन का प्रयोग सर्वदा करना चाहिए। पाँचवें दिन अथवा आठवें दिन नेत्र का दूषित अश्रु निकालने के लिए रसाञ्जन का प्रयोग करना चाहिए। सौवीराञ्जन एण्टिमनी आक्साइड है।

चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम् ॥ २६ ॥
योजयेत् सप्तरात्रेऽस्मात् स्रावणार्थं रसाञ्जनम्।

चक्षु अग्नितत्त्व प्रधान या आग्नेय है। अतः उसे श्लेष्मा (जलतत्त्व प्रधान या जलीय पदार्थ) से विशेष विकृत होने का भय रहता है, इसलिए श्लेष्मा के स्रावणार्थ प्रति सप्ताह रसाञ्जन का प्रयोग करना चाहिए।

सौवीराञ्जन नेत्र को स्वच्छ रखने वाला अञ्जन है, इसका प्रयोग नित्य करना चाहिए। रसाञ्जन नेत्र के दूषित अश्रु को निकालने वाला अञ्जन है, अतः इसका प्रयोग सप्ताह में एक बार करना चाहिए। भावमिश्र के मतानुसार दारुहरिद्रा (*Berberis aristata* DC.) के क्वाथ से घनसत्त्व करके रसाञ्जन बनाया जाता है।

नस्य, गण्डूष एवं कवल

अणुतैलं ततो नस्यं ततो गण्डूषधारणम् ॥ २७ ॥
घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवाऽऽस्यवक्षसः ।
सुगन्धिवदनाः स्निग्धनिःस्वना विमलेन्द्रियाः ॥ २८ ॥
निर्वलीपलितव्यङ्गा भवेयुर्नस्यशीलिनः ।
ओष्ठस्फुटनपारुष्यमुखशोषद्विजामयाः ॥ २९ ॥
न स्युः स्वरोपघाताश्च स्नेहगण्डूषधारणात् ।
खदिरक्षीरिवृक्षारिमेदाम्बुकवलग्रहः ॥ ३० ॥
अरोचकास्यवैरस्यमलपूतिप्रसेकजित् ।
सुखोष्णोदकगण्डूषैर्जायते वक्त्रलाघवम् ॥ ३१ ॥

अञ्जन के पश्चात् अणु तैल का नस्य (Nasal Drops) लेना चाहिए। तत्पश्चात् गण्डूष धारण करना चाहिए। नस्य सेवन करने से त्वचा, कन्धा, ग्रीवा, मुखमण्डल एवं वक्षःस्थल (ठोस–पुष्ट), उन्नत (उठा हुआ विशाल) एवं प्रसन्न (सुन्दर) हो जाते हैं। मुख सुगन्धित बना रहता है। स्वर स्निग्ध तथा इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं। त्वचा पर झुर्रियाँ, केशों में श्वेतता तथा व्यंग (चेहरे पर काली झाँई) नहीं होती है। स्नेह गण्डूष धारण करने से ओष्ठ (होठ) का फटना, परुष (खरदरा) रहना, मुख का सूखना, दाँतों के रोग तथा स्वरभेद (स्वरहानि) नहीं होता है। खदिर (*Acacia Catechu* Wild), क्षीरिवृक्ष (पीपल, गूलर, पाकड़, बड़ आदि) तथा अरिमेद (*Acacia farmesiana* Wild) की छाल के हिम कषाय का कवल धारण करने से अरुचि (Anorexia), मुख की विरसता, मलिनता, दुर्गन्ध एवं लालास्राव का निकलना नष्ट हो जाता है। उष्ण जल से गण्डूष करने पर मुख में हलकापन आता है ॥ ३१ ॥

नस्य का विस्तृत वर्णन आगे उनतीसवें अध्याय में तथा गण्डूष एवं कवल का वर्णन इकतीसवें अध्याय में देखें।

धूमपान

प्रायोगिकं ततो धूमं गन्धमाल्यादि चाचरेत्।
धूमादस्योर्ध्वजत्रूत्था न स्युर्वातकफामयाः ॥ ३२ ॥

गण्डूष के पश्चात् प्रायोगिक धूम (Smoking) का सेवन, सुगन्धित द्रव्य (कस्तूरी चन्दन आदि) का लेप तथा पुष्प की मालाओं को धारण करना चाहिए। धूम के सेवन करने से जत्रु (कण्ठनाड़ी Trachea) के ऊपर वात-कफ जनित रोग नहीं होते।

धूमपान तीन प्रकार का होता है—(१) प्रायोगिक, (२) स्नैहिकी, (३) शिरोवैरेच-

निकी। प्रायोगिक धूमपान स्वस्थ पुरुष के लिए नित्य उपयोगी है। शेष दोनों रोगावस्था-विशेष के लिए है। धूमपान का विस्तृत उल्लेख तीसवें अध्याय में किया गया है।

अञ्जनादि क्रम

अञ्जनोत्क्लेशितं नस्यैः कवलैर्नावनेरितम्।
धूमेन कवलोत्क्लिष्टं क्रमाद्वातकफं जयेत्॥ ३३॥

अञ्जन करने से उत्क्लेशित (कूपित) वात-कफ की शान्ति नस्य से, नावन (नस्य) से कुपित वात-कफ की शान्ति कवल से तथा कवल से कुपित वात-कफ की शान्ति धूमपान से होती है। इसलिए वात-कफ को क्रम से अञ्जन, नस्य, कवल एवं धूमपान से जीतना चाहिए।

प्रसाधन

गन्धमाल्यादिकं वृष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रसाधनम्।

शरीर पर सुगन्धित द्रव्यों का लेप तथा पुष्पों की माला आदि धारण करना वृष्य (पौरुष-कारक Stumulates Libido), अलक्ष्मीघ्न (निर्धनतानाशक) तथा प्रसाधन (कान्तिकर) होता है।

इस सम्बन्ध में महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम्।
सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम्'॥ (च० सू० ५।९६)

अर्थात् गन्ध एवं पुष्पमालाओं का धारण वृष्य, सुगन्धकारक, आयुष्य, काम्यकारक (सौन्दर्यप्रद), शरीर के लिए पुष्टिकारक तथा बलप्रद होता है। मन को प्रसन्न करता है तथा दरिद्रतानाशक होता है।

जीर्णवस्त्र आदि का निषेध

वासो न धारयेज्जीर्णं मलिनं रक्तमुल्बणम्॥ ३४॥
माल्यं न लम्बं न बहिर्न रक्तं जलजादृते।
नैव चान्येन विधृतं वस्त्रं पुष्पमुपानहौ॥ ३५॥

जीर्ण (फटा-पुराना), मलिन (गन्दा) तथा अत्यन्त लाल (रंगीन) वस्त्र नहीं धारण करना चाहिए। लाल कमल (*Nymphaea stellata* Wild) के अतिरिक्त अन्य लाल रंग के फूलों की माला तथा अत्यन्त लम्बी (लटकी हुई) माला नहीं धारण करना चाहिए। ऐसी माला धारण करके घर से बाहर राजमार्ग पर न जायें। दूसरों के द्वारा उपयोग किया हुआ वस्त्र, फूल एवं जूता (चर्मपादुका) नहीं धारण करना चाहिए।

ताम्बूल-सेवन

रुचिवैशद्यसौगन्ध्यमिच्छन् वक्त्रेण धारयेत्।
जातीलवङ्गकर्पूरकङ्कोलकटुकैः सह॥ ३६॥
ताम्बूलीनां किसलयं हृद्यं पूगफलान्वितम्।
रक्तपित्तक्षतक्षीणरूक्षोत्कुपितचक्षुषाम्॥ ३७॥
विषमूर्च्छामदार्तानामपथ्यं शोषिणां च तत्।
पथ्यं सुप्तोत्थिते भुक्ते स्नाते वान्ते च मानवे॥ ३८॥
द्विपत्रमेकं पूगं च सचूर्णखदिरं च तत्।

भोजन में रुचि, विशदता (मुख की स्वच्छता) एवं सुगन्धि चाहने वाले को मुख में जाती-

फल (*Myristi cafragrans* Houtt), लवंग (*Syzygium aromaticum* Merr & L. M.), कपूर (*Cinnamomum camphora* Nees & Eberm), कङ्कोल (शीतलचीनी *Piper cubeba* Linn), कटुक (लता कस्तूरी *Hibiscus abelmoschus* Linn) और सुपारी (*Areca catechu* Linn) के साथ ताम्बूल पत्र (*Piper betle* Linn) को धारण करना चाहिए। पान हृदय के लिए शक्तिवर्धक है।

रक्तपित्त (Bleeding or Haemorrhage), उरःक्षत, क्षीण (कमजोर), रूक्षता से उत्पन्न नेत्ररोग अथवा रूक्ष प्रकृति एवं नेत्ररोग, विष-विकार, मूर्च्छा, मदात्यय (मदजनित रोग) और शोष (राजयक्ष्मा) में ताम्बूल अपथ्य (अहितकर) होता है। सोकर उठने के पश्चात्, भोजन एवं स्नान के पश्चात् तथा वमन के अनन्तर ताम्बूल खाना पथ्य (हितकर) होता है। इसके पश्चात् दो पत्ते पान, एक सुपाड़ी खदिर चूर्ण के साथ सेवन करना चाहिए।

जीविकार्थ यत्न

उत्तिष्ठेत ततोऽत्यर्थमर्थेष्वर्थानुबन्धिषु ॥ ३९ ॥
निन्दितं दीर्घमप्यायुरसन्निहितसाधनम्।
कृषिं वणिज्यां गोरक्षामुपायैर्गुणिनं नृपम् ॥ ४० ॥
लोकद्वयाविरुद्धां च धनार्थी संश्रयेत् क्रियाम्।
मुक्तवेगश्च गमनस्वप्नाहारसभास्त्रियः ॥ ४१ ॥

इसके पश्चात् क्योंकि लम्बी आयु होने पर भी दारिद्र्ययुक्त जीवन निन्दित होता है, इसलिए धन प्राप्त करने के लिए कृषि, व्यापार, गोरक्षा (पशु-पालन) तथा गुणी राजा की सेवा आदि ऐसे कार्य करना चाहिए, जो दोनों लोक (इहलोक तथा परलोक) में विरुद्ध (निन्दनीय) न हो।

मलमूत्र आदि के वेगों से निवृत्त होकर कहीं जाना, सोना, भोजन, सभा में जाना एवं स्त्री प्रसंग करना चाहिए।

महर्षि चरक ने भी प्राणैषणा के पश्चात् धनैषणा की बात कही है—'अथ द्वितीयां धनैषणामापद्येत, प्राणेभ्यो ह्यनन्तरं धनमेव पर्येष्टव्यं भवति, न ह्यतः पापात् पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः, तस्मादुपकरणानि पर्येष्टुं यतेत। तत्रोपकरणोपायाननुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—कृषिपशुपाल्यवाणिज्यराजोपसेवादीनि, यानि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि कर्माणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्तुं, तथा कुर्वन् दीर्घजीवितं जीवत्यनवमतः पुरुषो भवति, इति द्वितीया धनैषणा व्याख्याता भवति'। (च० सू० ११।५) अर्थात् प्राणैषणा के पश्चात् धनैषणा का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि संसार में दारिद्र्ययुक्त होकर लम्बा जीवन व्यतीत करने से बढ़कर कोई बड़ा पाप नहीं है। इसलिए—(१) कृषि, (२) पशुपालन, (३) वाणिज्य तथा (४) राजोपसेवा (सरकारी नौकरी) आदि ऐसे कार्य, जिनकी निन्दा सज्जन लोग नहीं करते हैं, उनको प्रारम्भ कर देना चाहिए।

निष्क्रमण-विधि

पाणिनाऽऽलभ्य निष्क्रामेद्रत्नपूज्याज्यमङ्गलम्।
सातपत्रपदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक् ॥ ४२ ॥
निशि चात्ययिके कार्ये दण्डी मौली सहायवान्।
प्रावृत्य पर्यटेद्रात्रौ न प्रावृत्य शिरोऽहनि ॥ ४३ ॥

कहीं बाहर जाने से पूर्व रत्न, पूज्य (देवता-माता-पिता-गुरु) तथा मंगल(शुभ)कारक वस्तु—घृत, दधि आदि को स्पर्श करके बाहर निकलना चाहिए।

आतपत्र—छाता लगाकर और पदत्राण—जूता पहिन कर चलना चाहिए। चलते समय चारो तरफ देखकर चलना चाहिए। रात्रि में अत्यन्त आवश्यक कार्य होने पर हाथ में डण्डा (लाठी), शिर पर पगड़ी तथा दूसरे सहायक को साथ लेकर बाहर जाना चाहिए। रात्रि में शिर को ढँक कर (बाँधकर) घूमना चाहिए। दिन में शिर को बाँधकर (ढँककर) नहीं घूमना चाहिए।

महर्षि अग्निवेश ने जूता पहनने का लाभ इस प्रकार बतलाया है—'चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम्। बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम्' (च० सू० ५।१००)। अर्थात् जूता पहनना नेत्रों तथा पैरों की त्वचा के लिए लाभप्रद, पैरों के व्यसन (यथा. पैरों का फटना या काँटा चुभना) को नष्ट करने वाला होता है। बलकारक, पराक्रम तथा सुख को बढ़ाने वाला एवं वृष्य होता है। महर्षि सुश्रुत ने चर्मपादुका के गुण इस प्रकार कहे हैं—'पादरोगहरं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्द्धनम्। सुखप्रचारमोजस्यं सदा पादत्रधारणम्'॥ जूता न पहने से होने वाली हानियों के विषय में कहा है—'अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुषोरुपघातकृत्। पादाभ्यामनुपानद्भ्यां सदा चङ्क्रमणं नृणाम्'॥ (सु० चि० २४।७२)। छाता धारण से लाभ के विषय में महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरणशङ्करम्। घर्मानिलरजोऽम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते'॥ (च० सू० ५।१०१)। अर्थात् छाता धारण करना ईति (भावी रोग) को विनष्ट करता है, बलकारक है एवं ऊपर की ओर से रक्षा करता है। धूप, वायु, धूलि तथा जल से रक्षा करता है। महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'वर्षानिलरजोघर्महिमादीनां निवारणम्। वर्ण्यं चाक्षुष्यमोजस्यं शङ्करं छत्रधारणम्'॥ (सु० चि० २४।७५)। दण्ड धारण से होने वाले लाभ के विषय में महर्षि ने कहा है—'स्खलतः सम्प्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषूदनम्। अवष्टम्भनमायुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम्'॥ (च० सू० ५।१०२) महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'शुनःसरीसृपव्यालविषाणिभ्यो भयापहम्। श्रमस्खलनदोषघ्नं स्थविरे च प्रशस्यते॥ सत्त्वोत्साहबलस्थैर्यधैर्यवीर्यविवर्द्धनम्। अवष्टम्भकरं चापि भयघ्नं दण्डधारणम्'॥ (सु० चि २४। ७७-७८)।

वर्जित स्थान

चैत्यपूज्यध्वजाशस्तच्छायाभस्मतुषाशुचीन्।
नाक्रमेच्छर्करालोष्टबलिस्नानभुवो न च॥ ४४॥

चैत्य (किसी देवता से अधिष्ठित लोक-प्रसिद्ध वृक्ष अथवा मन्दिर), पूज्य (गुरुजन), ध्वजा (पताका, झंडा) तथा अशस्त (अमंगल वस्तु) की छाया को लांघकर नहीं जाना चाहिए। भस्म (राख का ढेर), तुष (रेत), लोष्ट (मिट्टी का ढेला), बलिभूमि (जहाँ किसी देवता के निमित्त बलि या उपहार दिया हो) तथा स्नानभूमि (जहाँ किसी ने स्नान किया हो) पर पाँव नहीं रखना चाहिए।

मध्याह्नादि में चतुष्पथादि पर बैठने का विचार

मध्याह्ने सन्ध्ययो रात्रावर्धरात्रे चतुष्पथम्।
न सेवेत न शर्वर्यां वृक्षचैत्यान्न चत्वरम्॥ ४५॥
सूनाटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवाऽपि न।

यात्रा करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि मध्याह्न में, सन्ध्ययोः—सूर्योदय एवं सूर्यास्त काल में, रात्रि में अथवा अर्धरात्रि में चौराहे पर नहीं बैठना चाहिए। शर्वर्यां—रात्रि में वृक्ष या चैत्य (पूज्य वृक्ष) के नीचे या ऊपर, चत्वर (शून्यस्थान-चौपाल-खंडहर-त्रिपथ-त्रिमुहानी) में नहीं रहना चाहिए। सूनाटवी (वधस्थान), शून्यगृह (जिस घर में कोई न रहता हो) तथा श्मशान में दिन में भी नहीं रहना चाहिए।

शव-हुंकारादि प्रतिषेध

न हुङ्कुर्याच्छवं पूज्यं प्रशस्तान्मङ्गलानि च ॥ ४६ ॥
नापसव्यं परिक्रामेन्नेतराण्यनुदक्षिणम् ।
चतुष्पथं नमस्कुर्यात् प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ४७ ॥
न व्यालव्याधिताशस्तैर्नादान्तक्षुत्पिपासितैः ।
न छिन्नपुच्छैर्नैकाक्षैर्गोपृष्ठेन च न व्रजेत् ॥ ४८ ॥
नातिप्रगेऽतिसायं वा न नभोमध्यगे रवौ ।
नासन्निहितपानीयो नातितूर्णं न सन्ततम् ॥ ४९ ॥
न शत्रुणा नाविदितैर्नैको नाधार्मिकैः सह ।

शव—मृतशरीर को देखकर हुंकार (तिरस्कार) नहीं करना चाहिए। पूज्य (गुरुजन), प्रशस्त (श्रेष्ठ) वस्तु तथा मंगलकारक पदार्थों के वामपार्श्व से जाना चाहिए। इनके अतिरिक्त पदार्थों के दक्षिणपार्श्व से जाना जाहिए। चतुष्पथ तथा प्रज्ञात (प्रसिद्ध) वनस्पतियों को नमस्कार करना चाहिए। व्याल (दुष्ट), व्याधित (रोगी), अशस्तैर्नाद (अशुभ आवाज करने वाला), अदान्त (बिना दाँत वाला), क्षुत् (भूखा), पिपासित (प्यासा), छिन्नपुच्छ (कटा हुआ पूँछ वाला) तथा एकाक्ष (एक आँख वाला) बैल या घोड़ा की सवारी नहीं करनी चाहिए।

अत्यन्त प्रातःकाल, अधिक रात्रि अथवा जब सूर्य आकाश के मध्य (मध्याह्न) में हो, यात्रा नहीं करनी चाहिए। असन्निहितपानीयः—बिना जल लिए, अतितूर्ण—अधिक वेग से, सन्ततम्—विश्राम किये बिना लगातार नहीं चलना चाहिए। शत्रु के साथ, अज्ञात लोगों के साथ, अकेले तथा अधार्मिक लोगों के साथ यात्रा नहीं करनी चाहिए।

सद्वृत्त

दद्याद्वर्त्मार्ऽर्तवृद्धस्त्रीभारिचक्रद्विजन्मने ॥ ५० ॥
स्नानभोजनपानानि वाहेभ्यो नाचरेत् पुरः ।
नदीं तरेन्न बाहुभ्यां नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत् ॥ ५१ ॥
नारोहेद्विषमं शैलं नावं संशयितां तरुम् ।
निपातयेन्न लोष्टेन न फलेन फलं द्रुमात् ॥ ५२ ॥
न वार्यमाणः प्रविशेन्नाद्वारेण न चासने ।
स्वयं तिष्ठेत् परगृहे युक्तनिद्रं न बोधयेत् ॥ ५३ ॥
नाचरेत् पाणिवाक्पाददृङ्मेढ्रोदरचापलम् ।
त्रिः पक्षस्य कचश्मश्रुनखरोमाणि वर्धयेत् ॥ ५४ ॥
न स्वहस्तेन दन्तैर्वा स्नानं चानुसमाचरेत् ।

रास्ते या यात्रा में आर्त—रोगी, वृद्ध, स्त्री, भारि—भारवाहक, चक्रि—गाड़ी, ताँगा, मोटर आदि तथा द्विजन्मन्—ब्राह्मण को, वर्त्म दद्यात्—रास्ता देना चाहिए। वाहनों (घोड़ा-बैल) को नहलाने, भोजन खिलाने एवं जल पिलाने के पहले स्वयं स्नान-भोजन आदि नहीं करना चाहिए। बाहुओं से नदी में नहीं तैरें। अर्थात् तैरकर नदी नहीं पार करना चाहिए। अग्निस्कन्धं—जलती अग्नि-राशि की ओर नहीं जाना चाहिए। विषमं शैलं—अति ऊँचे-नीचे पर्वत पर तथा संशयितां नावं—जिस नाव के डूबने का भय हो, उस पर नहीं चढ़ना चाहिए। वृक्ष से फल को मिट्टी के ढेले से अथवा दूसरे फल से मारकर नीचे नहीं गिराना चाहिए। परगृहे—दूसरे

के घर में, वार्यमाणः—मना करने पर प्रवेश नहीं करना चाहिए। अद्वारेण—मुख्य द्वार के अतिरिक्त मार्ग से प्रवेश नहीं करना चाहिए तथा दूसरे के घर पहुँच जाने पर स्वयं आसन पर बिना कहे नहीं बैठना चाहिए। गहरी निद्रा में सोये व्यक्ति को जगाना नहीं चाहिए।

हाथों की चपलता (हाथ नचाना या चुटकी बजाना), वाणी की चपलता (असम्बद्ध वार्ता), पाँव की चपलता (पैर हिलाना), नेत्रों की चपलता (इधर-उधर देखना-घूरना), मेह (लिङ्ग) की चपलता तथा उदर की चपलता (भोजन की लोलुपता का आचरण-प्रदर्शन) नहीं करना चाहिए।

पन्द्रह दिन में तीन बार केश, श्मश्रु (दाढ़ी) के बाल तथा नखों को कटवा देना चाहिए, किन्तु अपने हाथ अथवा दाँतों से नहीं काटना चाहिए। केश-कर्तन के पश्चात् स्नान करना चाहिए।

अभ्यंग विधि

अथ जातान्नपानेच्छो मारुतघ्नैः सुगन्धिभिः ॥ ५५ ॥
यथर्तुसंस्पर्शसुखैस्तैलैरभ्यङ्गमाचरेत् ।
अभ्यङ्गो वातहा पुष्टिस्वप्नदाढर्यबृहत्वकृत् ॥ ५६ ॥
दग्धभग्नक्षतरुजाक्लमश्रमजरापहः ।
रथाक्षचर्मघटवद् भवन्त्यभ्यङ्गतो गुणाः ॥ ५७ ॥
स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रयम् ।
त्वच्यश्च परमभ्यङ्गो यस्मात् तं शीलयेदतः ॥ ५८ ॥
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ।
स केश्यः शीलितो मूर्ध्नि कपालेन्द्रियतर्पणः ॥ ५९ ॥
हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम् ।
पादाभ्यङ्गस्तु तत्स्थैर्यनिद्रादृष्टिप्रसादकृत् ॥ ६० ॥
पादसुप्तिश्रमस्तम्भसङ्कोचस्फुटनप्रणुत् ।
वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृतसंशुद्धचजीर्णिभिः ॥ ६१ ॥

जब खाने-पीने की इच्छा उत्पन्न हो, तो वातनाशक, सुगन्धित, ऋतु के अनुसार (शीत ऋतु में उष्ण एवं उष्ण ऋतु में शीत) सुखकारक तैल से अभ्यंग करना चाहिए। अभ्यंग वायु-नाशक, शरीर को पुष्ट करने वाला, निद्रा लाने वाला, शरीर को दृढ़ (मजबूत) एवं बृहत् (बड़ा) करने वाला होता है। दग्ध—अग्नि से जलने, भग्न—हड्डी के टूटने, क्षत—शस्त्रादि से चोट लगने पर अभ्यंग करने से पीड़ा शान्त होती है। क्लम (मानसिक अवसाद), श्रम (थकावट) एवं जरा (वृद्धावस्था) नष्ट होता है। जिस प्रकार रथ के अक्ष (धुरा) पर तैल लगाने से रथ के पहिए सरलता से चलते हैं, चमड़ा पर तैल लगाने से चमड़ा कोमल तथा मजबूत हो जाता है और मिट्टी के घड़े पर स्नेह लगाने से घड़ा मजबूत, चिकना एवं चमकीला हो जाता है, उसी प्रकार शरीर पर तैल का अभ्यंग करने से शरीर की सन्धियों में गति (आकुञ्चन-प्रसारण) सरलता से होती है, त्वचा कोमल एवं दृढ़ हो जाती है और शरीर स्निग्ध तथा कान्तिमान् हो जाता है।

स्पर्शने—त्वचा में वायु विशेष रूप से रहता है और स्पर्शनं—स्पर्शेन्द्रिय त्वचा में आश्रित है, त्वचा में अभ्यंग अत्यन्त उपयोगी है, इसलिए अभ्यंग का प्रतिदिन सेवन करना चाहिए। शिर,

कान और पैर के तलुओं पर विशेष रूप से प्रतिदिन तैल की मालिश करनी चाहिए। शिर पर तैल लगाना केशों के लिए हितकर, कपालास्थियों तथा इन्द्रियों को तर्पण (तृप्तिकर) करने वाला होता है। कान में तेल डालने से हनुशूल (Lock Jaw), मन्यास्तम्भ (Torticollis), शिरःशूल एवं कर्णशूल नष्ट होते हैं। पैरों पर अभ्यंग करने से पैरों में स्थैर्य (मजबूती), अच्छी निद्रा और नेत्र की ज्योति बढ़ती है। पादसुप्ति (पादशून्यता), स्पर्श ज्ञान का अभाव (Numbness), श्रम (थकावट), स्तम्भ (जकड़ाहट), संकोच (सिकुड़न) तथा स्फुटन (बिवाई फटना Cracking of Feet) नष्ट होता है।

अभ्यंग का निषेध—कफ दोष से पीड़ित रोगी में वमन-विरेचन आदि संशोधन कर्म के पश्चात् तथा अजीर्ण रोग में अभ्यंग नहीं करना चाहिए।

त्वचा में वायु विशेष रूप से रहता है, Sensory nerve endings भी त्वक् में रहते हैं, स्पर्शेन्द्रिय (Tactile Sensation) त्वक् में आश्रित होता है, इसलिये अभ्यंग करने से शीघ्र त्वक्-विकारों में लाभ होता है। अभ्यंग नित्य करना चाहिए, क्योंकि इससे वृद्धावस्था, थकावट तथा वात-विकार नष्ट होते हैं। शरीर में जो टूट-फूट की प्रक्रिया होती है, उसकी मरम्मत हेतु अभ्यंग लाभप्रद है। शिर, कर्ण तथा पादतलों पर विशेष रूप से अभ्यंग का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्ध में इन्दु ने कहा है—'सोऽभ्यङ्गः मूर्धि शिरसि, शीलितः, केश्यः केशेभ्यो हितः, कपालस्येन्द्रियाणाञ्च तर्पणः तृप्तिकरः। स्नेहेन कर्णपूरणं हनुमन्यादिशूलघ्नम्'। महर्षि अग्निवेश ने शिर पर अभ्यंग करने से होने वाले लाभ के विषय में कहा है—

'नित्यं स्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते।
न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतन्ति च। बलं शिरःकपालानां विशेषेणाभिवर्धते॥
दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवन्ति च। इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम्॥
निद्रालाभः सुखं स्यान्मूर्धिन तैलनिषेवणात्।' (च० सू० ५।८१-८३)

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'शिरोगतांस्तथा रोगाञ्छिरोभङ्गोऽपकर्षति।
केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम्॥
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपि चाननम्।
सन्तर्पणं चेन्द्रियाणां शिरसः प्रतिपूरणम्॥' (सु० चि० २४।२५-२६)

कर्ण में तैल-पूरण से होने वाले लाभ के विषय में महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसङ्ग्रहः।
नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात्'॥ (च० सू० ५।८४)

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम्।' (सु० चि० २४।२९)

पैरों में तैलाभ्यङ्ग से लाभ के विषय में अग्निवेश ने कहा है—

'खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः। सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्गनिषेवणात्॥
जायते सौकुमार्यं च बलं स्थैर्यं च पादयोः। दृष्टिः प्रसादं लभते मारुतश्चोपशाम्यति॥
न च स्यादृग्रसीवातः पादयोः स्फुटनं न च। न सिरास्नायुसङ्कोचः पादाभ्यङ्गेन पादयोः'॥
(च० सू० ५।९०-९२)

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'निद्राकरो देहसुखश्चक्षुष्यः श्रमसुप्तिनुत्। पादत्वङ्मृदुकारी च पादाभ्यङ्गः सदा हितः।'

स्नेह का बाह्य प्रयोग इन्दु ने—(१) स्पर्शन, (२) मर्दन तथा (३) अवगाहन, ये तीन प्रकार से किया है—'यथा रथाक्षस्य स्नेहस्पर्शनमात्रेण, चर्मणो मर्दनेन, घटस्य स्नेहसंस्कारेण इति।'

महर्षि सुश्रुत ने भी कहा है—

'अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः। धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः॥
सेकः श्रमघ्नोऽनिलहृद्भग्नसन्धिप्रसादकः। क्षताग्निदग्धाभिहतविघृष्टानां रुजापहः॥
जलसिक्तस्य वर्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः। तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते॥
सिरामुखैः रोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयन्। शरीरबलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने'॥
(सु० चि० २४।३०-३३)

स्नेह का बाह्य प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से होता है—

(१) अभ्यंग—अभ्यंग सम्पूर्ण शरीर को कोमल करता है, वात-कफ की शान्ति, रसादि धातुओं की पुष्टि, त्वचा की शुद्धि, कान्ति एवं बलप्रद होता है।

(२) सेक (सिंचन)—सम्पूर्ण अङ्गों का परिषेक (सिंचन) श्रमनाशक, वायुविकार, हृदयरोग, अस्थिभग्न तथा सन्धिगत विकार को नष्ट करता है। क्षत (चोट), अग्नि से दग्ध, तेज औजार की चोट तथा घर्षण से लगी चोट की पीड़ा को नष्ट करता है। जिस प्रकार वृक्ष के अंकुर जल से सिंचन करने पर बढ़ते हैं, उसी प्रकार स्नेह से सिंचन करने पर धातुओं की वृद्धि होती है।

(३) अवगाहन—इसमें प्रयुक्त स्नेह शिरामुखों द्वारा रोमकूपों से धमनियों को तृप्त करता हुआ स्नेह शरीर में बल उत्पन्न करता है।

व्यायाम

शरीरायासजननं कर्म व्यायाम उच्यते।
लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः॥ ६२॥
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते।
वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च तं त्यजेत्॥ ६३॥
अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः।
शीतकाले वसन्ते च मन्दमेव ततोऽन्यदा॥ ६४॥

जिस क्रिया से शरीर में आयास (श्रम-थकावट) उत्पन्न हो, उसे व्यायाम कहते हैं। व्यायाम करने से शरीर में लघुता (हलकापन), कार्य करने की शक्ति तथा पाचकाग्नि प्रदीप्त होती है। मेदोधातु का क्षय होता है, शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की मांसपेशियाँ पृथक्-पृथक् स्पष्ट हो जाती हैं तथा शरीर घन (ठोस) हो जाता है।

व्यायाम का निषेध—वातपित्त का रोगी, बालक, वृद्ध तथा अजीर्ण रोगी को व्यायाम नहीं करना चाहिए।

व्यायाम का परिमाण—बलवान् एवं स्निग्ध भोजन करने वाले को शीत काल एवं वसन्त ऋतु में अर्द्ध शक्ति भर व्यायाम करना चाहिए। अन्य ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा एवं शरद्) में स्वल्प व्यायाम करना चाहिए।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी। देहव्यायामसङ्ख्याता मात्रया तां समाचरेत्।
लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दुःखसहिष्णुता। दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते॥
स्वेदागमः श्वासवृद्धिर्गात्राणां लाघवं तथा। हृदयाद्युपरोधश्च इति व्यायामलक्षणम्'॥
(च० सू० ७।३१-३३)

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'शरीरायासजनकं कर्म व्यायामसंज्ञितम्'।

अर्द्धशक्ति का लक्षण—

'हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते ।
व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद् बलार्द्धस्य लक्षणम्' ॥ (सु० चि० २४।४७)

तं कृत्वाऽनुसुखं देहं मर्दयेच्च समन्ततः ।
तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः ॥ ६५ ॥
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ।
व्यायामजागराध्वस्त्रीहास्यभाष्यादिसाहसम् ॥ ६६ ॥
गजं सिंह इवाकर्षन् भजन्नति विनश्यति ।

व्यायाम करके समस्त शरीर का सुखपूर्वक मर्दन करना चाहिए। अधिक व्यायाम से हानि—अधिक व्यायाम करने से तृषा (प्यास), क्षयरोग (Consumption), प्रतमक श्वास (A type of Dyspnoea), रक्तपित्त, श्रम (थकावट Exertion), क्लम (मानसिक अवसाद), कास (खाँसी), ज्वर तथा छर्दि (वमन) रोगों की उत्पत्ति होती है।

व्यायाम, जागरण, मार्ग-गमन, मैथुन, हास्य एवं भाषण का साहस (शक्ति) से अधिक सेवन करने पर मनुष्य उसी प्रकार विनष्ट (रुग्ण अथवा मृत) हो जाता है, जिस प्रकार हाथी (अपने से विशाल जन्तु) को खींचता हुआ सिंह (शेर) नष्ट हो जाता है।

महर्षि सुश्रुत ने भी कहा है—'न स्वप्न-जागरण-शयन-अशन-चङ्क्रमण-यान-वाहन-प्रधावन-लङ्घन-प्लवन-प्रतरण-हास्य-भाष्य-व्यवाय-व्यायामादि उचितान् अपि अतिसेवेत।' (सु० चि० २४)

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'व्यायामहास्यभाष्याध्वग्राम्यधर्मप्रजागरान् । नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया' ॥
(च० सू० ७।३४)

उद्वर्तन

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलायनम् ॥ ६७ ॥
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम् ।

व्यायाम के पश्चात् कफहर (कषाय-तिक्त) द्रव्यों से उद्वर्तन (उबटन) करना चाहिए। उद्वर्तन मेदोधातु का विलयन (विग्रह), अंग-प्रत्यंग को स्थिर (दृढ़) तथा त्वचा को प्रसादकर (स्वच्छ-कान्तिमान) करता है।

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'सिरामुखविविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्नेश्च तेजनम् ॥
उद्घर्षणोत्सादनाभ्यां जायेयातामसंशयम् ।
उत्सादनाद् भवेत् स्त्रीणां विशेषात् कान्तिमद्वपुः ॥
प्रहर्षसौभाग्यमृजालाघवादिगुणान्वितम् ।
उद्घर्षणं तु विज्ञेयं कण्डूकोठानिलापहम्' ॥ (सु० चि० २४)

अर्थात् उद्घर्षण एवं उत्सादन करने से त्वचा में स्थित सिराओं का मुख खुल जाता है तथा त्वचागत भ्राजक पित्त दीप्त हो जाता है। उत्सादन से स्त्रियों का शरीर विशेष रूप से सुन्दर हो जाता है। शरीर में प्रहर्ष, सौभाग्य, शुद्धि तथा लघुता आदि गुण आता है। उद्घर्षण कण्डू, कोठ और वायु को नष्ट करता है।

'स्नेहकल्केन उद्घर्षणम् उद्वर्त्तनम्'—जौ या चने के आटे में तेल और दही मिलाकर मलना उद्वर्त्तन तथा 'अस्नेहौषधचूर्णादिभिः घर्षणम् उद्घर्षणम्'—चने या जौ के आटे से मलना उद्घर्षण है।

स्नान

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमोजोबलप्रदम् ॥ ६८ ॥
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित् ।
उष्णाम्बुनाऽधःकायस्य परिषेको बलावहः ॥ ६९ ॥
तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलहृत् केशचक्षुषाम् ।
नानाप्लुत्य शिरः स्नायान्न जलेऽल्पे न शीतले ॥ ७० ॥
स्नानोदकावतरणस्वप्नान्नग्नो न चाचरेत् ।
पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिणि ॥ ७१ ॥

स्नान से लाभ—स्नान जठराग्निदीपक, वृष्य (शुक्रवृद्धिकारक), आयुष्य (आयुर्वर्द्धक), ओजप्रद (ऊर्जा–तेजप्रद) तथा बलप्रद (सामर्थ्यप्रद) होता है और कण्डू (खुजली), मल, श्रम-स्वेद (पसीना), तन्द्रा (जम्भाई), तृषा (प्यास), दाह तथा पाप (बुरी भावना) को नष्ट करता है।

उष्ण जल से अधःकाय (कटि के नीचे) का परिषेक (स्नान) बलकारक होता है, किन्तु उष्ण जल से ही शिर का स्नान केशों एवं नेत्र के बल को नष्ट करता है।

अनाप्लुत्य शिरः न—शिर को बिना भिगोये स्नान नहीं करना चाहिए। नग्न होकर स्नान, उदक अवतरण (जल में उतरना) एवं शयन नहीं करना चाहिए।

परवारिणी—दूसरे के द्वारा बनाये गये तालाब आदि में से पाँच ढेला मिट्टी का बिना निकाले स्नान नहीं करना चाहिए। इससे तालाब की सफाई हो जाती है।

महर्षि अग्निवेश ने स्नान के निम्न लाभ बतलाये हैं—

'पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्। शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम्' ॥
(च० सू० ५।९४)

महर्षि सुश्रुत ने स्नान के निम्न लाभ बतलाये हैं—

'निद्रादाहश्रमहरं स्वेदकण्डूतृषापहम्। हृद्यं मलहरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रियविबोधनम् ॥
तन्द्रापाप्मोपशमनं तुष्टिदं पुंस्त्ववर्द्धनम्। रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम्' ॥
(सु० चि० २४।५७-५८)

शीत एवं उष्ण जल से स्नान का विचार—

'उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा। शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत् ॥
श्लेष्ममारुतकोपे तु ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम्। काममुष्णं शिरःस्नानं भैषज्यार्थं समाचरेत् ॥
अतिशीताम्बु शीते च श्लेष्ममारुतकोपनम। अत्युष्णमुष्णकाले च पित्तशोणितवर्द्धनम्' ॥
(सु० चि० २४।५९-६१)

नात्मानमीक्षेत जले न तटस्थो जलाशयम् ।
न प्रतिस्फालयेदम्बु पाणिना चरणेन वा ॥ ७२ ॥
स्नात्वा न मृज्याद् गात्राणि धुनुयान्न शिरोरुहान् ।
न वसीताऽर्द्र एवाशु सोष्णीषे धौतवाससी ॥ ७३ ॥

न त्वम्बरं पूर्वधृतं न च तैलवसे स्पृशेत्।
वासोऽन्यदन्यच्छयने निर्गमे देवतार्चने ॥ ७४ ॥
स्नानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु ।
आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् ॥ ७५ ॥

जल में अपनी परछाईं नहीं देखना चाहिए। जलाशय के किनारे खड़े होकर जलाशय को न देखें। हाथों अथवा पैरों से जल को नहीं उछालना चाहिए। स्नान करने के पश्चात् फिर शरीर के मैल को मलकर नहीं निकालना चाहिए। स्नान के पश्चात् बालों को नहीं झटकना चाहिए और स्नान के अनन्तर गीले शरीर में ही धोयी हुई पगड़ी एवं वस्त्र नहीं पहनना चाहिए। स्नान के पूर्व धारण किया वस्त्र नहीं पहनना चाहिए। स्नान के पश्चात् तैल एवं वसा (चर्बी) का स्पर्श नहीं करना चाहिए। शयन के समय, घर से बाहर जाने के समय तथा देवपूजन के समय अन्य (अलग-अलग) वस्त्रों को धारण करना चाहिए।

स्नान का निषेध—अदितरोग, नेत्ररोग, मुखरोग, कर्णरोग, अतिसार रोग, आध्मान (Flatulence वायु से उदर का भर जाना), पीनस (Chronic Catarrh जीर्ण प्रतिश्याय) रोग, अजीर्ण रोग तथा भोजन के पश्चात् स्नान गर्हित (निन्द्य) है, अर्थात् स्नान नहीं करना चाहिए।

महर्षि सुश्रुत ने निम्नलिखित अवस्थाओं में स्नान का निषेध किया है—

'तच्चातिसारज्वरितकर्णशूलानिलार्तिषु। आध्मानारोचकाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम्' ॥
(सु० चि० २४।६२)

स्नान के पश्चात् अनुलेपन का विधान महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार बतलाया है—

'सौभाग्यदं वर्णकरं प्रीत्योजोबलवर्द्धनम्।
स्वेददौर्गन्ध्यवैवर्ण्यं श्रमघ्नं अनुलेपनम् ॥
स्नानं येषां निषिद्धं तु तेषामप्यनुलेपनम्'। (सु० चि० २४।६३)

अर्थात् चन्दन आदि का शरीर पर लेप सौभाग्य देने वाला, वर्ण को बढ़ाने वाला, प्रीति, ओज एवं बलवर्द्धक है। यह स्वेद, दौर्गन्ध्य, विवर्णता एवं श्रम को नष्ट करता है। जिन लोगों के लिए स्नान निषिद्ध है, उनके लिए अनुलेपन भी निषिद्ध है।

भोजन-विधि

अन्नपानविधानेन भुञ्जीतान्नं विनात्ययात्।
अभिनन्द्य प्रसन्नात्मा हुत्वा दत्त्वा च शक्तितः ॥ ७६ ॥
पाकं सजलमेकान्ते यथासुखमिति ब्रुवन्।
प्रयच्छेत् सर्वमुद्दिश्य पाचयेन्नान्नमात्मने ॥ ७७ ॥
नान्नमद्यान्मुमूर्षूणां मृतानां दुःखजीविनाम्।
स्त्रीजितक्लीबपतितक्रूरदुष्कृतकारिणाम् ॥ ७८ ॥
गणानिगणिकासत्रधूर्तानां पाणिकं च न।
नोत्सङ्गे भक्षयेद् भक्ष्यान् जलं नाञ्जलिना पिबेत् ॥ ७९ ॥
सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ।
न भुक्तमात्र आयस्येन्न निषिद्धं भजेत् सुखम् ॥ ८० ॥

जब किसी प्रकार की शीघ्रता अथवा कष्ट (रोग) न हो, तो सूत्रस्थान के दशवें अध्याय में कहे गये अन्नपान-विधि के अनुसार भोजन करना चाहिए। भोजन करने से पूर्व अभिनन्द्य भोजन को नमस्कार करके, प्रसन्न होकर, भोजन का अग्नि में हवन करके, शक्ति के अनुसार भोजन का दान करके, पवित्र एकान्त स्थान में, जल सहित भोजन रखकर यह कहे कि सब प्राणियों के सुख के लिए मैं यह अन्न और जल दान कर रहा हूँ। ऐसा कहकर ही भोजन करना चाहिए। केवल अपने लिए भोजन नहीं पकाना चाहिए।

निषिद्ध आहार—मुमूर्ष (थोड़े समय में मरने वाला), मृतक, दुःखी जीवन व्यतीत करने वाले, स्त्री से हारे हुए, क्लीब (नपुसंक), पतित (पापी), क्रूर (क्रोधी) और दुष्कृत (दुराचार) करने वाले का अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिए। गण (समुदाय), अरि (शत्रु), गणिका (वेश्या), सत्र (यज्ञ में बना हुआ भोजन), धूर्त और पणिक (होटल) का अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिए। उत्सङ्गे—झोली में लेकर अन्न नहीं खाना चाहिए। पानी को अञ्जली से नहीं पीना चाहिए। सूर्यास्त हो जाने पर तिलसम्बद्ध (तिलमिश्रित) पदार्थ नहीं खाना चाहिए। भोजन के पश्चात् तुरन्त किसी प्रकार का आयास (परिश्रम) नहीं करना चाहिए और शास्त्र-वर्जित सुखों का उपभोग नहीं करना चाहिए।

आयुर्वेद में समय पर सात्म्य, पवित्र, हितकारी, स्निग्ध, ताजा, लघु, प्रसन्न होकर मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय रसयुक्त, न बहुत शीघ्रता के साथ तथा न बहुत देर से भोजन करने का विधान है। आहार एवं स्वास्थ्य का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वस्थ रहने के लिए ताजा एवं मात्रापूर्वक भोजन करना चाहिए। मात्रा का निर्धारण प्रत्येक व्यक्ति के अग्निबल पर निर्भर करता है। छन्दोग्योपनिषद् में कहा गया है—

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः'।

आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि होती है। सत्त्वशुद्धि से बुद्धि निर्मल एवं निश्चयी होती है। 'तत् सत्त्वमूर्जयति' (च० सू० २७।१) अर्थात् अन्नपान मन को बल प्रदान करता है। महर्षि अग्निवेश ने (च० सू० ८।२०) सद्वृत्त के प्रसंग में भोजन करने के पूर्व अनेकों निर्देश दिये हैं।

मध्याह्न चर्या

धर्मोत्तराभिरर्थ्याभिः कथाभिस्त्रिगुणात्मभिः।
मध्यं दिनस्य गमयेदिष्टशिष्टसहायवान् ॥ ८१ ॥

जिन कथाओं में प्रधानतः धर्म की चर्चा हो, मध्य में अर्थ की चर्चा हो एवं उसी के साथ कुछ काम सम्बन्धी चर्चा हो, ऐसी त्रिगुण कथाओं के द्वारा दिन का मध्यभाग (मध्याह्न) इष्ट (प्रियजनों), शिष्ट (सभ्य) जनों तथा सहायकों के साथ व्यतीत करना चाहिए।

सद्वृत्त

न लोकभूपविद्विष्टैर्न सङ्गच्छेत नास्तिकैः।
कलिवैरुचिर्न स्याद्धीरः सम्पद्विपत्तिषु ॥ ८२ ॥
श्रुतादन्यत्र सन्तुष्टस्तत्रैव तु कुतूहली।
क्षान्तिमान् दक्षिणो दक्षः सुसमीक्षितकार्यकृत् ॥ ८३ ॥
ह्रीमान् धीमान् महोत्साहः संविभागी प्रियातिथिः।
अक्षुद्रवृत्तिर्गम्भीरः साधुराश्रितवत्सलः ॥ ८४ ॥

दाता पितृभ्यः पिण्डस्य यष्टा होता कृपात्मकः ।
अनुज्ञाता सुवार्तानां दीनानामनुकम्पकः ॥ ८५ ॥
आश्वासकारी भीतानां क्रुद्धानामनुनायकः ।
पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशीलः पूज्यपूजकः ॥ ८६ ॥
वित्तबन्धुवयोविद्यावृत्तैः पूज्या यथोत्तरम् ।

प्रजा एवं राजा से द्वेष करने वाले तथा नास्तिकों के साथ संगति नहीं करना चाहिए। कलि (कलह) और वैर में रुचि न रखें। सम्पत्ति एवं विपत्ति में धीर (गम्भीर) होना चाहिए। शास्त्र-श्रवण के अतिरिक्त अन्यत्र भोजनादि में सदा सन्तुष्ट रहना चाहिए और शास्त्रों का श्रवण करने में कुतूहल (उत्कण्ठा) दिखलाना चाहिए। सब प्राणियों के लिए क्षान्तिमान् (क्षमावान्), दक्षिण (पक्षपाती), दक्ष (चतुर) एवं भलीभाँति सोच-विचार कर कार्य करना चाहिए। ह्रीमान् (लज्जाशील), धीमान् (बुद्धिमान्), महोत्साह (बड़ा उत्साही), सविभागी (समय का विभाग करके कार्य करने वाला), प्रियातिथि (अतिथियों का सत्कार करने वाला), अक्षुद्रवृत्ति (कृपणता रहित), गम्भीर, साधु (सज्जन) एवं आश्रितों पर प्रेम करने वाला, दाता (यथाशक्ति दानी), पितरों के लिए दान (श्राद्ध) करनेवाला, यष्टा (यज्ञ करने वाला), होता (हवन करने वाला), कृपात्मक (दयालु), अनुज्ञाता सुवार्तानां—अच्छी बातों को मानने वाला, निर्धनों पर दया करने वाला, आश्वासकारी भीतानां—भयभीतों को आश्वासन-धीरज देने वाला, क्रोधी पुरुषों को समझा-बुझा कर शान्त करने वाला, पूर्वाभिभाषी (अभ्यागत के सामने सर्वप्रथम स्वयं कुशल-मंगल पूछने वाला), सुमुख (प्रसन्नमुख) तथा सुशील (पूज्य जनों की पूजा-सत्कार करने वाला) होना चाहिए। उत्तरोत्तर ये पूज्य होते हैं—धनिक की अपेक्षा बन्धु, बन्धु की अपेक्षा वयोवृद्ध, वयोवृद्ध की अपेक्षा विद्वान् और विद्वान् की अपेक्षा शीलवान् पूज्य होते हैं।

आत्मद्रुहममर्यादं मूढमुज्झितसत्पथम् ॥ ८७ ॥
सुतरामनुकम्पेत नरकार्चिष्मदिन्धनम् ।
धर्म्यमर्थ्यं प्रियं तथ्यं मितं पथ्यं वदेद्वचः ॥ ८८ ॥
नात्मानमवजानीयान्न स्तूयान्न च पीडयेत् ।
न हीनानवमन्येत वृत्त्यर्थाङ्गबलश्रुतैः ॥ ८९ ॥
नारुन्तुदः स्यान्न क्रूरो न तीक्ष्णो नोऽपतापवान् ।
हेतावीर्ष्येन्न तु फले पापं पापेऽपि नाचरेत् ॥ ९० ॥
परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैनं निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शासनार्हाद्धिताशयः ॥ ९१ ॥
नृत्यवादित्रगीतादिनोल्बणां नाचरेत् क्रियाम् ।
प्रसिद्धकेशवाग्वेषशमसान्त्वपरायणः ॥ ९२ ॥
ऊर्ध्वं नाभेः शरीरस्य स्पृशेन्नाधरवाससा ।
न कुर्यान्मिथुनीभूय शौचं प्रति विलम्बनम् ॥ ९३ ॥
नासंवृतमुखो हास्यक्षवोद्गारविजृम्भणम् ।
पाणिद्वयेन युगपत् कण्डूयेन्नात्मनः शिरः ॥ ९४ ॥
वहेन्न भारं शिरसा युगपच्चाग्निवारिणी ।
नासिकां न विकुष्णीयाद्दशनान्न विघट्टयेत् ॥ ९५ ॥
कुर्याद्विलेखनच्छेदभेदास्फोटनमर्दनम् ।
नाकार्ये न च कार्येऽपि मुखाङ्गनखवादनम् ॥ ९६ ॥

पादं पादेन नाक्रामेन्न कण्डूयेन्न शौचयेत् ।
न कांस्यभाजने तौ च नोपविष्टः प्रसारयेत् ॥ ९७ ॥

आत्मद्रुहं—जो अपने से द्रोह करता हो अर्थात् आत्मघाती हो, अमर्यादं—जो मर्यादा का उल्लंघन करे, मूढं—समझाने पर भी न समझता हो, सत्पथ (सन्मार्ग) छोड़ दिया हो, ऐसे लोगों पर अनुकम्पा (कृपा) करनी चाहिए, क्योंकि ये लोग नरक (मानसिक दुःख) की अर्चि (अग्नि की ज्वाला) में इन्धन होते हैं । अर्थात् इन्धन के समान नरक रूपी अग्नि में जलते रहते हैं । धर्म्यं—धर्मानुकूल, अर्थ्यं—अर्थ के लिए हितकर, प्रियं—सुनने में प्रिय, तथ्यं—सत्य, मितं—स्वल्प, पथ्यं—हितकारक वचन बोलना चाहिए । नात्मानमवजानीयात्—अपने शरीर की अवज्ञा (तिरस्कार) नहीं करना चाहिए । न स्तूयात्—अपनी स्तुति (प्रशंसा) नहीं करनी चाहिए, न च पीडयेत्—और अपने को पीड़ित नहीं करना चाहिए । अपनी अपेक्षा वृत्ति (जीविका) से, अर्थ (धन) से, अङ्ग (विकलाङ्ग होने) से, बल अथवा श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) से हीन (न्यून) जनों का तिरस्कार नहीं करना चाहिए । अरुन्तुद—मर्मस्पर्शी वाणी न बोले, क्रूर (कठोर), तीक्ष्ण (तेज), उपतापवान् (दूसरों को कष्ट देने वाला) नहीं होना चाहिए । हेतु अर्थात् सफलता के कारण में ईर्ष्या करनी चाहिए । फल (सफलता) में ईर्ष्या नहीं करना चाहिए । पापी के साथ भी पाप न करे । दूसरे के ऊपर दण्ड (डण्डा) नहीं उठाना चाहिए । पुत्र अथवा शिष्य पर, जो कि अनुशासन के योग्य है, उनको छोड़कर अन्य दूसरे व्यक्ति पर क्रोध करके दण्ड नहीं उठाना चाहिए । नृत्य, वादित्र (बाजे बजाना) तथा गीत आदि में उल्वण (उच्छृंखल) चेष्टा (कर्म) नहीं करनी चाहिए । केश, वाग् (वाणी) एवं वेषभूषा देश एवं काल से अप्रसिद्ध न हो । सान्त्वना देने में तत्पर रहे । नाभि के ऊपर के शरीर के अवयवों को कटि के नीचे पहिनने के वस्त्रों से स्पर्श नहीं करना चाहिए । मैथुन करने के पश्चात् शौच (उपस्थ-प्रक्षालन) में विलम्ब नहीं (शीघ्रता) करना चाहिए । मुख को असंवृत्त—रूमाल अथवा हाथ से ढँके बिना हास्य, क्षव (छींकना), उद्गार (डकार) तथा विजृम्भण (जम्भाई) नहीं लेना चाहिए । दोनों हाथ से एक साथ अपने शिर को नहीं खुजलाना चाहिए । सिर पर भार (बोझा) नहीं उठाना चाहिए, अग्नि एवं जल को एक साथ लेकर नहीं चलना चाहिए । नासिकारन्ध्रों को अंगुली डालकर नहीं कुरेदना चाहिए । दाँतों को आपस में नहीं बजाना चाहिए । विलेखन—भूमि पर अंगुली या तिनके से लिखना या लकीरे खिचना, छेदन—काटना-छाँटना, तिनका तोड़ना, भेदन—पृथ्वी को खोदना, स्फोटन—ढेला आदि को फोड़ना, अंगुलियों को चटकाना, मर्दन—अंगों को मलना आदि व्यर्थ के कार्य नहीं करने चाहिए । कार्य न होने पर और कार्य होने पर भी मुख, अंग और नख नहीं बजाना चाहिए । पैर के द्वारा पैर को नहीं मारना चाहिए । पाँव से पाँव को नहीं खुजलाना चाहिए तथा पाँव से पाँव को मलकर नहीं धोना चाहिए । काँसा के पात्र में रखकर पैरों को नहीं धोना चाहिए, बैठकर पाँव नहीं फैलाना चाहिए ॥ ९७ ॥

अभीक्ष्णं निर्मलान् दध्यान्नखपादमलाशयान् ।
नासमिद्धमुपासीत हुताशं नैव चाशुचिः ॥ ९८ ॥
नानुवातं न विवृतो न क्लान्तो नान्यमानसः ।
धमेन्नास्येन न स्कन्देन्नाधः कुर्यान्न पादतः ॥ ९९ ॥
सततं न निरीक्षेत चलसूक्ष्माप्रियाणि च ।
नाप्रशस्तं न विण्मूत्रं न दर्पणममार्जितम् ॥ १०० ॥
उद्यन्तमस्तमायान्तं तपन्तं प्रतिमागतम् ।
उपरक्तं च भास्वन्तं वाससा वा तिरोहितम् ॥ १०१ ॥

नान्यदप्यतितेजस्वि न क्रुद्धस्य गुरोर्मुखम् ।
स्त्रियं स्रवन्तीं नोदक्यां न नग्नां नान्यसङ्गताम् ॥ १०२ ॥
न पानभोजनस्वप्नक्षुतजृम्भादुरासने ।
शयीत नैकशयने न चाश्नीयात् तया सह ॥ १०३ ॥
तामनीर्ष्यश्च गोपायेत् स्वैरिणीं नाधिवासयेत् ।
नोच्छिष्टस्तारकाराहुतुहिनांशुदिवाकरान् ॥ १०४ ॥
पश्येन्न यायान्न पठेन्न स्वप्यान्न स्पृशेच्छिरः ।
पाययन्तीं चरन्तीं वा नान्यस्मै गां निवेदयेत् ॥ १०५ ॥
अर्केन्दुपरिवेषोल्काशतक्रतुधनूंषि च ।
नान्यद्देवार्चने कर्म कुर्याद्धावेन्न वर्षति ॥ १०६ ॥
तिथिं पक्षस्य न ब्रूयान्नक्षत्राणि न निर्दिशेत् ।
नात्मनो जन्मलग्नर्क्षधनसारं गृहे मलम् ॥ १०७ ॥
प्रकाशयेन्नावमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः ।

नख, पाँव और मलाशय (मलमार्ग) को बार-बार निर्मल (स्वच्छ) करते रहना चाहिए। अपवित्र होकर असमिद्ध हुताशन (अप्रज्वालित अग्नि) की उपासना नहीं करना चाहिए। वायु के अनुकूल दिशा में मुँह खोलकर थका होने पर अथवा मन के अन्यत्र होने पर मुख से अग्नि को प्रज्वलित नहीं करना चाहिए। अग्नि को इधर-उधर नहीं बिखेरना चाहिए। अग्नि को चारपायी अथवा आसन के नीचे नहीं रखना चाहिए। पैरों से अग्नि को तापना नहीं चाहिए अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाना नहीं चाहिए। चल (चञ्चल–अस्थिर, यथा—चलचित्र आदि), सूक्ष्म तथा अप्रिय वस्तुओं को नहीं देखना चाहिए। अप्रशस्त (निन्दित) वस्तुओं को, मलमूत्र को तथा मलिन दर्पण को नहीं देखना चाहिए। उद्यन्तम्–सूर्य के उदय होते हुए, अस्तमायन्तम्—अस्त होते हुए, तपन्तं—तपते हुए, स्वर्ण एवं पीतल आदि की प्रतिमा (मूर्ति) में प्रतिबिम्बित होते हुए, उपरक्तं—राहु आदि से ग्रस्त–आच्छादित या किसी वस्त्र से ढँके सूर्य को नहीं देखना चाहिए। इसी प्रकार अन्य किसी अत्यन्त तेजस्वी (भास्वर) पदार्थ को नहीं देखना चाहिए। क्रुद्ध गुरु का मुख भी नहीं देखना चाहिए। मूत्रोत्सर्ग करती हुई किसी स्त्री को, उदक्यां—रजस्वला स्त्री को, नग्न स्त्री को तथा दूसरे से सहवास करती हुई स्त्री को नहीं देखना चाहिए। भोजन करती हुई, सोती हुई, छींकती हुई, जम्भाई लेती हुई और दुष्ट आसन पर बैठी हुई अपनी पत्नी को भी नहीं देखना चाहिए। अपनी पत्नी के साथ एक शय्या पर न सोयें। उसके साथ एक थाली में भोजन न करें। स्त्री के प्रति ईर्ष्या न करते हुए उसकी रक्षा करनी चाहिए। घर में स्वैरिणी (जो स्त्री स्वतंत्र हो) को नहीं रखना चाहिए।

उच्छिष्ट (जूठे मुख) अवस्था में तारा आदि को, राहु को अर्थात् सूर्य या चन्द्रग्रहण को तथा चन्द्रमा एवं सूर्य को न देखें। जूठे मुख चलना, पढ़ना, सोना तथा सिर को छूना भी नहीं चाहिए। बछड़े को दूध पिलाती हुई या चरती हुई गाय किसी को नहीं दिखलानी चाहिए। सूर्य, चन्द्रमा के परिवेष (मण्डल) को, उल्कापात (टूटते हुए तारा) को तथा इन्द्रधनुष को किसी को न बतलावे (दिखलावें)। देव-पूजन के समय कोई दूसरा काम न करें। जब वर्षा हो रही हो, तब दौड़ना नहीं चाहिए। पक्ष की तिथि तथा नक्षत्रों को न बतलावें। अपना जन्म-लग्न, जन्म-नक्षत्र, धन, सार (गुह्य बातें या शक्ति) तथा गृहमलम्—घर के दोष किसी से नहीं कहना

चाहिए। अपने अपमान तथा स्वामी की निःस्नेहता (स्नेह का अभाव) को किसी से बतलाना नहीं चाहिए।

पुरोवाततपरजस्तुषारपरुषानिलान् ॥ १०८ ॥
अनृजुः क्षवथूद्गारकासस्वप्नान्नमैथुनम् ।
सशब्दमनिलं हस्तभ्रूनेत्रोत्क्षेपवादिताम् ॥ १०९ ॥
कूलच्छायां सुरापानं व्यालदंष्ट्रिविषाणिनः ।
हीनानार्यातिनिपुणसेवां विग्रहमुत्तमैः ॥ ११० ॥
सन्ध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्नाध्ययनचिन्तनम् ।
आरोग्यजीवितैश्वर्यविद्यासुस्थिरमानिताम् ॥ १११ ॥
तोयाग्निपूज्यमध्येन यान धूमं शवाश्रयम् ।
मद्यातिसक्ति विश्रम्भस्वातन्त्र्ये स्त्रीषु च त्यजेत् ॥ ११२ ॥

त्यागने योग्य आचरण—पूर्व दिशा की अथवा सामने की वायु, आतप (धूप), रज (धूल), तुषार (ओस या हिमपात) तथा रूक्ष वायु का परित्याग करना चाहिए। अनृजु (टेढ़ी-मेढ़ी स्थिति में) होकर, क्षवथु (छींक), उद्गार (डकार), कास (खाँसी), स्वप्न (शयन), अन्न (भोजन) तथा मैथुन का परित्याग करना चाहिए। शब्द के साथ वायु (प्राण या अपान) को बाहर करना, बातचीत करते समय हाथ, भ्रू एवं नेत्र चलाना या हाथों को बजाना नहीं चाहिए। नदी के तट पर खड़े वृक्षों की छाया, मदिरापान, व्याल (नरभक्षी-पशु-भक्षी—सिंह), दंष्ट्रिण, (दाँत वाले-सर्प) तथा विषाणिनः (सींग वाले-महिष) आदि से बचना चाहिए। हीन (नीच), अनार्य (अभद्र) तथा अतिनिपुण (चतुर) की सेवा तथा उत्तम (श्रेष्ठ) पुरुषों से विग्रह (झगड़ा) नहीं करना चाहिए। संध्या काल में अभ्यवहार (भोजन), स्त्री (मैथुन), स्वप्न (निद्रा), अध्ययन एवं चिन्तन नहीं करना चाहिए। अपने आरोग्य (स्वास्थ्य), जीवित (जीवन), ऐश्वर्य (धन), विद्या तथा सुन्दर स्थिति का अभिमान नहीं करना चाहिए। जल, अग्नि एवं पूजनीय जनों के मध्य में यान (गमन) नहीं करना चाहिए। श्मशान या चिता के धूम से दूर रहना चाहिए। मद्यातिसक्ति (मद्यपान में रति) नहीं करनी चाहिए। स्त्रियों का विश्रम्भ (विश्वास) नहीं करना चाहिए तथा नारियों को स्वतंत्रता प्रदान नहीं करनी चाहिए।

नैकाहमप्यधिवसेद्वास्तु तज्ज्ञास्त्रगर्हितम् ।
न देशं व्याधिबहुलं नावैद्यं नाप्यनायकम् ॥ ११३ ॥
नाधर्मिजनभूयिष्ठं नोपसृष्टं न पर्वतम् ।

निवास के अयोग्य देश—वास्तुशास्त्र (गृहनिर्माण-विद्या) से गर्हित (निन्दित) गृह में एक दिन भी नहीं रहना चाहिए। जिस देश में बहुत बीमारियाँ होती हैं, या जहाँ कोई वैद्य न हो, जहाँ कोई नायक (नेता) न हो, जहाँ अधर्मी जन अधिक रहते हों, जहाँ उपसृष्ट (महा-मारी) आदि फैली हो तथा जहाँ पर्वत (पथरीली भूमि) हो, वहाँ पर नहीं रहना चाहिए।

वसेत् प्राज्याम्बुभैषज्यसमित्पुष्पतृणेन्धने ॥ ११४ ॥
सुभिक्षक्षेमरम्यान्ते पण्डितैर्मण्डिते पुरा ।
नरामराणां सिद्धानां शास्त्राणां चाजुगुप्सकः ॥ ११५ ॥

[1]आराधकस्त्रिवर्गस्य यथायोग्यं जनस्य च।
दश कर्मपथान् रक्षन् जयन्नाभ्यन्तरानरीन्॥ ११६॥
हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृतम्।
सम्भिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम्॥ ११७॥
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्।

निवास योग्य देश—जिस देश में पर्याप्त अम्बु (जल), भैषज्य (औषधियाँ), समित् (समिधा-यज्ञोपयोगी सामग्री), पुष्प, तृण (घास), ईन्धन (जलाने योग्य लकड़ी) हो, जो देश सुभिक्ष (धनधान्य से पूर्ण), क्षेम (कल्याणकारी), रम्य (रमणीक) एवं पण्डितों से मण्डित (प्रशंसित) हो, वहाँ रहना चाहिए। नर (मनुष्य), अमर (देवता), सिद्ध (साधु-महात्मा) तथा शास्त्रों का अजुगुप्सक (निन्दक) नहीं होना चाहिए। त्रिवर्गस्य—धर्म-अर्थ-काम तथा यथायोग्य जन का आराधक होना चाहिए।

दस धर्म-पथों की रक्षा करता हुआ दस आभ्यन्तर (काम-क्रोध-मद-लोभ आदि) शत्रुओं को जीतता हुआ दस प्रकार के निम्नलिखित पापकर्म शरीर, वाणी एवं मन से त्याग देना चाहिए—(क) शरीर से—(१) हिंसा (प्राणीवध), (२) स्तेय (चोरी), (३) अन्यथाकाम (अगम्या-गमन-पर स्त्री-गमन), (ख) वाणी से—(४) पैशुन्य (चुगली या दूसरों की निन्दा करना), (५) परुष (कठोर वचन), (६) अनृत् (असत्य वचन), (७) सभिन्न आलाप (असम्बद्ध प्रलाप), (ग) मन से—(८) व्यापद् (पर अनिष्ट) (९) अभिध्या (अन्याय-दूसरे का धन लेने की चाह), (१०) दृग्-विपर्यय (मिथ्या दृष्टि-शास्त्र में विपरीत बुद्धि)—इस प्रकार दसविध शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक पापों को त्याग देना चाहिए।

मनुस्मृति में धर्मपथ निम्नलिखित प्रकार से कहा गया है—

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्'॥
(मनुस्मृति-६)

परोपघातक्रियया वर्जयेदर्जनं श्रियः॥ ११८॥
अर्थानां धर्मलब्धानामदाताऽपि ह्यसम्भवात्।
स्वर्गापवर्गविभवानयत्नेनाधितिष्ठति ॥ ११९॥

दूसरों को मारकर या कष्ट पहुँचाकर श्रियः अर्जन (धन-संग्रह) नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्मपूर्वक प्राप्त किये गये अर्थों (थोड़े धन) का अदाता (दान न करने वाला) भी स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) के विभव (आनन्द) को यत्न के बिना प्राप्त कर लेता है। अधर्म से प्राप्त बहुत अधिक धन का दान करने पर भी कुछ फल नहीं मिलता।

अष्टाङ्गहृदय में कहा गया है—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत्'॥ (अ० हृ० सू० २।२४)

सभी प्राणियों की सब प्रवृत्तियाँ सुख के लिए होती हैं। सुख की प्राप्ति धर्म के बिना नहीं होती है, अतः सबको धर्म करना चाहिए। शास्त्रों में 'आचारः प्रथमो धर्मः' से सदाचार को प्रथम श्रेणी का धर्म कहा गया है। अतः मानव मात्र को सदाचार का पालन करना चाहिए।

---

१. 'आधारकः' इति पाठान्तरम्।

आचार्य चरक ने सद्वृत्त के दो लाभ बतलाये हैं—(१) आरोग्य तथा (२) इन्द्रिय-विजय। 'तदध्यनुतिष्ठन् युगपत्सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति'। (च० सू० ८)

आयुर्वेद में सद्वृत्त का उपदेश दो रूपों में किया गया है—हिताभिलाषी मनुष्य के लिए क्या विधेय और क्या निषेधनीय है। विधि एवं निषेध के द्वारा सद्वृत्त का उपदेश मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ क्रियाएँ बतलायी गयी हैं, जिनमें तत्पर रहना सद्वृत्त कहा गया है। मानव शरीर के स्वास्थ-संरक्षण के लिए उपयुक्त सदाचार नितान्त आवश्यक है। इस वैज्ञानिक युग में मनुष्य को विज्ञान से जितना लाभ है, उससे कहीं अधिक हानि है। विश्व के सर्वाधिक सम्पन्न पाश्चात्य देशों में जहाँ धन की प्रचुरता है, इच्छामात्र होने से सभी वस्तुएँ उपलब्ध हैं, वहाँ पर आत्महत्या, गर्भपात (भ्रूणहत्या), तलाक तथा मानसिक अशान्ति आदि अधिक दिखलाई पड़ता है। अब वहाँ के लोग भी भारतीय सदाचार की ओर उन्मुख हो रहे हैं, क्योंकि प्राणिमात्र की सदा से यह इच्छा रही है कि वह जिस परिस्थिति में रहे, स्वस्थ एवं प्रसन्न रहे और यह स्थिति भारतीय सदाचार से ही सम्भव है।

शारीरिक एवं मानसिक दोषों को नियन्त्रित करने के लिए सद्वृत्त का उपदेश महर्षि अग्निवेश ने किया है। सद्वृत्त का प्रभाव मन एवं शरीर दोनों पर होता है। काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या, मोह, हर्ष, लोभ, शोक एवं चिन्ता आदि मनोविकार की उत्पत्ति में रज एवं तम सहायक होते हैं और वे पुनः वात, पित्त एवं कफ को दूषित करते हैं। सद्वृत्त के पालन करने से सत्त्व गुण की स्थिति बनी रहती है, मन की रज एवं तम में प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार सद्वृत्त का पालन करने से शरीर को रोगों से दूर किया जा सकता है और रोगो की उत्पत्ति होने पर उनके शमन में सहायता भी होती है। अतः सद्वृत्त के पालन से रोगों का मूल ध्वस्त हो जाता है तथा बिना किसी व्यय के स्वस्थ रहा जा सकता है।

रात्रिचर्या

सायं भुक्त्वा लघु हितं समाहितमनाः शुचिः।
शास्तारमनुसंस्मृत्य स्वशय्यां चाथ संविशेत्॥ १२०॥
देशे शुचावनाकीर्णे द्वित्राप्तपरिचारकः।
युक्तोपधानं स्वास्तीर्णं विस्तीर्णाविषमं सुखम्॥ १२१॥
जानुतुल्यं मृदु शुभं सेवेत शयनासनम्।
प्राग्दक्षिणशिरा पादावकुर्वाणो गुरून् प्रति॥ १२२॥
पूर्वापरनिशाभागे[1] धर्ममेवानुचिन्तयेत्।

सायंकाल (सूर्यास्त के कुछ पश्चात्), लघु (शीघ्रपाकी), हित (पथ्य) भोजन करके, मन का समाधान (किये हुए कार्यों का लेखा-जोखा करके) और पवित्र होकर, शास्ता (भगवान् बुद्ध) का स्मरण करके अपनी शय्या पर शयन करना चाहिए। सोने का स्थान पवित्र (स्वच्छ स्थान) हो, आकीर्ण (भीड़-भाड़ वाला) नहीं होना चाहिए। पास में दो-तीन आप्त (शिष्ट-विश्वस्त) परिचारक (सेवक) होने चाहिए। शय्या उपधान (तकिया-मसनद) से युक्त, स्वास्तीर्ण विस्तीर्ण (पर्याप्त लम्बी-चौड़ी), अविषम (समतल) तथा सुखदायक होनी चाहिए। शयन आसन (पलंग) जानुतुल्य (जानुभर) ऊँचा, मृदु (कोमल) एवं शुभ (कल्याणकारी) होना चाहिए।

---

१. 'पूर्वापरदिशो' इतीन्दुः।

सोते समय शिर पूर्व या दक्षिण दिशा की ओर होना चाहिए। गुरु की तरफ पाँव नहीं होना चाहिए। रात्रि के पूर्व भाग में तथा अपर (अन्तिम) भाग में धर्म का चिन्तन करना चाहिए।

भावमिश्र ने कहा है—'रात्रौ तु भोजनं कुर्यात् प्रथमं प्रहरान्तरे। किञ्चित् ऊनं समश्नीयात् दुर्जरं तम वर्जयेत्। (भा० प्र० पूर्वखण्ड ४।२७४) अर्थात् रात्रि के प्रथम प्रहर में कुछ कम (भरपेट नहीं) भोजन लेना चाहिए तथा दुर्जर (दुष्पाच्य) भोजन नहीं करना चाहिए।

उपसंहार

आददीत सदा देहादित्थं सारमसारतः ॥ १२३ ॥
बिभ्यत्प्रतिक्षणं मृत्योरयथातथचेष्टितात्।
आरोग्यविभवप्रज्ञा वयो धर्मक्रियावतः ॥ १२४ ॥
सुखमायुर्हितं चोक्तं विपरीतं विपर्यये।

इत्थम्—पहले बतलाये गये सद्वृत्त का पालन करता हुआ नश्वर शरीर से सदा सार वस्तु ग्रहण करते रहना चाहिए। अनियतचारी मृत्यु से प्रतिक्षण डरना चाहिए। इस प्रकार धर्म क्रिया करने से आरोग्य (स्वास्थ्य), विभव (धन-सम्पत्ति), प्रज्ञा (बुद्धि), वय (उम्र), सुख, आयु एवं हित मिलता है, इसके विपरीत आचरण से आरोग्य आदि नष्ट हो जाते हैं।

राजा के प्रति आचरण

सर्वतेजोनिधानं हि नृप इत्युच्यते भुवि।
अदूषयन्मनस्तस्माद् भक्तिमांस्तमुपाचरेत् ॥ १२५ ॥

इस पृथ्वी पर नृप (प्रजापालक राजा) सब प्रकार के तेज (शक्ति) का निधान (खजाना) होता है, इसलिए शुद्ध मन से भक्तिपूर्वक उसकी सेवा करनी चाहिए।

पर्यस्तिकोपाश्रयकोपहासविवादनिष्ठीवनजृम्भणानि ।
सर्वाः प्रकृत्यभ्यधिकाश्च चेष्टास्तत्सन्निधाने परिवर्जयेत् तु ॥ १२६ ॥

तत्सन्निधाने (राजा के समीप) पर्यस्तिका[1] (वस्त्रादि से अपने पीठ तथा जानु—Knee Joint को लपेटना), उपाश्रय (दीवाल आदि से टेक लगाकर बैठना), उपहास (हँसना), विवाद (झगड़ना), निष्ठीवन (थूकना), जृम्भण (जम्भाई लेना) तथा प्रकृति (स्वाभाविक) चेष्टाओं से अधिक चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

सत्त्वाद्यवस्था विविधाश्च तास्ताः सम्यक् समीक्ष्यात्महितं विदध्यात्।
अन्योऽपि यः कश्चिदिहास्ति मार्गो हितोपदेशेषु भजेत तं च ॥ १२७ ॥

सत्त्व, रज तथा तम की विविध (नाना प्रकार) अवस्था-विशेष को भलीभाँति विचार कर, आत्महित—जो अपने लिए हितकारी हो, वह सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो कोई अन्य हितकारी मार्ग कहा गया हो, उसका भी सेवन करना चाहिए।

उपसंहार

इति चरितमुपेतः सर्वजीवोपजीव्यः
प्रथितपृथुगुणौघो रक्षितो देवताभिः।

---

१. 'पर्यस्तिका—वस्त्रादिना स्वपृष्ठजानुपरिवेष्टनम्' इतीन्दुः।

समधिकशतजीवी निर्वृतः पुण्यकर्मा
व्रजति सुगतिनिम्नो देहभेदेऽपि तुष्टिम् ॥ १२८ ॥

इति दिनचर्या नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार के चरित्र प्राप्त करने से मनुष्य सब प्राणियों का उपाजीव्य (सहायक), पृथु (महान्) एवं गुण-समूह से प्रथित (प्रख्यात) होता है, देवता उसकी रक्षा करते हैं, सौ वर्ष से अधिक जीवन प्राप्त करता है, निर्वृत्त (सुखी) एवं पुण्यकर्मा होकर सन्मार्ग में चलता हुआ देह-भेदेऽपि—देह के नाश होने पर भी वह स्वर्ग को प्राप्त कर तुष्टिम्—सन्तुष्ट हो जाता है।

इस प्रकार 'दिनचर्या' नामक तृतीय अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

दिनचर्या-विषयक सारिणी

दिनचर्या	विधि	दिनचर्या से लाभ
१. ब्राह्ममुहूर्त्त में जागरण	जीर्णाजीर्ण का विचार करके प्रातः-काल जागरण	स्वच्छ एवं प्रदूषण रहित वायु की प्राप्ति।
२. मलोत्सर्ग एवं गुद-प्रक्षालन	दिन में उत्तर तथा रात्रि में दक्षिण दिशा की ओर मुख करके मौन होकर मलोत्सर्ग करना चाहिए। प्रयत्नपूर्वक मलोत्सर्ग नहीं करना चाहिए।	पवित्रता तथा दुर्गन्ध-नाशक।
३. आचमन (मुख-प्रक्षालन)	अग्निपक्व, दुर्गन्धित, फेन (बुलबुला-युक्त) तथा क्षारीय जल से आचमन नहीं करना चाहिए।	मुखशुद्धि।
४. दतुअन एवं जिह्वा-निर्लेखन	कषाय-कटु-तिक्त रस प्रधान वृक्षों की दतुअन; यथा—वट, असन, करञ्ज, करवीर, सर्ज, अरिमेद, अपामार्ग एवं अर्जुन की दतुअन, जो बारह अंगुल लम्बी तथा कनिष्ठा अंगुली के बराबर मोटी होनी चाहिए।	मुख की मलिनता, दुर्गन्ध, जिह्वारोग, मुखरोग एवं दन्तरोग विनाशक तथा आहार में रुचि, मुख में स्वच्छता एवं लघुताकारक।
५. अञ्जन	सौवीराञ्जन का प्रयोग नित्य तथा रसाञ्जन का प्रयोग सातवें दिन करना चाहिए। मुँह में पानी भरकर नेत्रों पर छींटें मारना नेत्र के लिए हितकर होता है।	नेत्र सुन्दर, सूक्ष्म पदार्थों के देखने के योग्य तथा स्वच्छ होता है।

६. नस्य	अणुतैल का नस्य लेना चाहिए।	त्वचा, कन्धा, ग्रीवा, मुखमण्डल एवं वक्षस्थल घन तथा उन्नत होता है। स्वर स्निग्ध तथा इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं।
७. गण्डूष	स्नेह गण्डूष एवं उष्ण जल से गण्डूष करना चाहिए।	स्नेह गण्डूष से ओठों का फटना, मुख का सूखना, दाँतों का रोग तथा स्वर-भेद नहीं होता है। उष्ण जल के गण्डूष से मुख में हलकापन होता है।
८. कवल	खदिर, क्षीरिवृक्ष तथा अरिमेद के छाल के हिम कषाय का कवल धारण करना चाहिए।	अरुचि, मुख की विरसता, मलिनता, दुर्गन्ध एवं लालास्राव निकलना बन्द होता है।
९. धूमपान	प्रायोगिक धूमपान का सेवन।	जत्रु के ऊपर वात-कफजनित रोग नहीं होते हैं।
१०. प्रसाधन	सुगन्धित द्रव्यों का लेप तथा पुष्पों की माला पहनना चाहिए।	वृष्य, निर्धनतानाशक तथा कान्तिकर।
११. ताम्बूल	दो पत्ते पान, सुपारी तथा खदिर-चूर्ण, लवंग, कस्तूरी के साथ सेवन करना चाहिए।	भोजन में रुचि, मुख में स्वच्छता तथा हृदय के लिए शक्तिवर्धक है।
१२. जीविका के लिए यत्न	लम्बी आयु होने पर दरिद्रतायुक्त जीवन निन्दित है, अतः कृषि, व्यापार, पशुपालन अथवा गुणी राजा की सेवा करनी चाहिए।	धनैषणा की प्राप्ति होती है।
१३. निष्क्रमण-विधि	गमन के पूर्व रत्न, पूज्यजन एवं मंगल-कारक वस्तु का दर्शन, रात्रि में आत्ययिक स्थिति में बाहर जाना तथा जूता पहन कर चलना चाहिए।	चर्मपादुका पाँव के लिए हितकर है। रत्न, पूज्यजन तथा मंगलकारक वस्तुओं का दर्शन शुभकारक होता है।
१४. अभ्यंग	वातनाशक सुगन्धित तैलों से अभ्यंग करना चाहिए। शिर, शंखप्रदेश तथा पैर के तलुओं में विशेष रूप से अभ्यंग करना चाहिए।	अभ्यंग वायुनाशक, शरीर के लिए पुष्टिकारक तथा निद्राकर होता है। शिर पर तेल लगाना केश्य है, कर्ण-पूरण से कर्णशूल एवं हनुशूल नहीं होता है, पैर के तलुओं में अभ्यंग से पाँवों में मजबूती, अच्छी निद्रा तथा नेत्र की ज्योति बढ़ती है।
१५. व्यायाम	शीत एवं वसन्त ऋतु में अर्द्धशक्ति भर तथा ग्रीष्म, वर्षा एवं शरद् ऋतु में स्वल्प व्यायाम करना चाहिए।	शरीर में लघुता, कार्य करने की क्षमता तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती है।
१६. उद्वर्तन	कफहर, कषाय, तिक्त द्रव्यों से उद्वर्तन करना चाहिए।	मेदोधातु का विलयन (विग्रह), अङ्ग-प्रत्यङ्गों को स्थिर तथा त्वचा को प्रसादकर करता है।

१७. स्नान	उष्ण जल से अधःकाय का परिषेक तथा शीतल जल से सर्वाङ्ग का परिषेक करना चाहिए।	जठराग्नि-दीपक, वृष्य, आयुष्य, ओजप्रद, बलप्रद तथा कण्डू-श्रम-स्वेद-तन्द्रा-तृषा-प्यास नाशक होता है।
१८. भोजन	भोजन को नमस्कार करके, पवित्र होकर, प्रसन्न होकर, अग्नि में हवन करके तथा एकान्त में भोजन करना चाहिए। शत्रु, गणिका, धूर्त तथा पणिक (होटल) का अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिए।	आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि होती है, सत्त्व की शुद्धि से बुद्धि निर्मल तथा निश्चयी होती है।
१९. सद्वृत्त	विधि एवं निषेध द्वारा सद्वृत्त का उपदेश पालन करना चाहिए।	इससे आरोग्य एवं स्वस्थ जीवन, एक सौ वर्ष की आयु, लोक में यश तथा देह का नाश होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।
२०. रात्रिचर्या	सायंकाल लघु एवं हितकारी भोजन करके, पवित्र होकर ईश्वर का स्मरण करके सोना चाहिए। शय्या सुखदायी एवं पर्याप्त लम्बी-चौड़ी होनी चाहिए, रात्रि के पूर्व तथा अपर भाग में धर्म का चिन्तन करना चाहिए।	इससे अच्छी निद्रा (Sound Sleep) आती है।

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो ऋतुचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय के पश्चात् 'ऋतुचर्या अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

ऋतुचर्या—'ऋतौ ऋतौ चर्या ऋतुचर्या। ऋतुः कालविभागः'। (पदार्थचन्द्रिका-व्याख्या) 'चरधात्वोर्गतिभक्षणार्थस्य चर्यमिति रूपम्, तेन आहारो विहारश्च चर्यशब्देनोच्यते। अन्ये····· चर्या शास्त्रनियमित आचारः, ऋतुषु ऋतूनां वा चर्या ऋतुचर्या, ऋतुचर्यार्थोऽध्यायः ऋतुचर्या'। (डल्हण)।

चर्या शब्द चर धातु से बनता है, चर धातु का अर्थ गति तथा भक्षण होता है, इसलिए यहाँ चर्या शब्द का अभिप्राय गति अर्थ में विहार तथा भक्षण अर्थ में आहार है। अन्य लोग शास्त्र-नियमानुकूल आचार को चर्या कहते हैं। 'ऋतु' काल-विभाग को कहते हैं। अतः ऋतुओं में अथवा ऋतुओं की चर्या ऋतुचर्या कही जाती है।

काल-लक्षण

कालो हि नाम भगवाननादिनिधनो यथोपचितकर्मानुसारी यदनुरोधादादित्यादयः खादयश्च महाभूतविशेषास्तथा तथा विपरिणमन्तो जन्मवतां जन्ममरणस्यर्तुरसवीर्यदोष-देहबलव्यापत्सम्पदां च कारणत्वं प्रत्ययतां प्रतिपद्यन्ते ॥ ३ ॥

काल भगवान् (ऐश्वर्य-सम्पन्न) है, इसका आदि (प्रारम्भ) एवं निधन (परिसमाप्ति) नहीं होता है, अर्थात् यह किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता है, इसका निधन (नाश) नहीं होता है। सभी प्राणियों को पूर्वजन्म कृत कर्म के अनुसार कर्मफल में निमित्तकारण होता है। जिस (काल) के अनुरोध से सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र आदि तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी महाभूत वैसे-वैसे प्रमाण, जाति एवं वर्ण आदि नानाविध परिणामों (परिवर्तन) को प्राप्त होते हुए जन्म धारण करने वाले प्राणियों एवं वनस्पतियों के जन्म एवं मरण का प्रत्यय (कारण) बनते हैं तथा हेमन्त आदि ऋतुओं, मधुर आदि छः रसों, शीत-उष्ण वीर्यों, वातादि दोषों (संचय-प्रकोप-शमन), देह एवं बल के व्यापद् (व्यापत्ति–विपन्नता) और सम्पद् (सम्पन्नता) का कारण होता है।

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'कालो हि नाम (भगवान्) स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनः। अत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः, सङ्कलयति कालयति वा भूतानीति कालः'। (सु० सू० ६।३)

काल भगवान् स्वयम्भू है, अर्थात् यह स्वयं उत्पन्न होता है। यह किसी द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता है। इसका आदि, मध्य तथा निधन (नाश) नहीं होता है। यह नित्य है। इसी में अर्थात् इसी के अधीन द्रव्यगत रसों की व्यापत्ति (विपन्नता) तथा सम्पत्ति (सम्पन्नता) है। कारण यह है कि कालचक्र के साथ ही अर्थात् काल परिणामस्वरूप ही रस अपूर्ण एवं पूर्ण वीर्य युक्त होते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों का जन्म-मरण भी इसी के अधीन है। यह काल गतिशील होने

के कारण सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला (काल भर) भी लय (नष्ट) नहीं होता है। काल सब प्राणियों का संकलन (संहार कर एक राशि) अथवा मृत्यु के समीप ले जाता है।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिर्वृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते'। (च० सू० ६।५)

सूर्य, वायु तथा चन्द्रमा काल स्वभाव से दक्षिण एवं उत्तर मार्ग से परिगृहीत होकर शीत, उष्ण एवं वर्षा काल, शिशिर आदि ऋतुएँ, मधुर आदि रस, वातादि दोष तथा देह बल की निवृत्ति (उत्पत्ति) में प्रत्यय (कारण) होते हैं।

काल के द्वादश भेद

स मात्राकाष्ठाकलानाडिकामुहूर्तयामाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनवर्षभेदेन द्वादशधा विभज्यते।

वह काल मात्रा, काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त्त, याम, अहोरात्र (दिन-रात), पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा वर्ष भेद से बारह विभागों में व्यवहार के लिए विभक्त हैं।

मात्रादि काल के लक्षण

तत्राक्षिनिमेषो मात्रा। ताः पञ्चदश काष्ठा। तास्त्रिंशत् कला। ताः सदशभागा विंशतिर्नाडिका। नाडिकाद्वयं मुहूर्तश्च। ते तुल्यरात्रिन्दिवे राशिभागे चत्वारः पादोना यामः। तैश्चतुर्भिरहोरात्रिश्च। पञ्चदशाहोरात्राः पक्षः। पक्षद्वयं मासः। स शुक्लान्तः। तैर्मार्गशीर्षादिभिर्द्विसङ्ख्यैः क्रमाद्धेमन्तशिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरदाख्याः षडृतवो भवन्ति। तेषु शिशिरादयस्त्रयो रवेरुदगयनमादानं च शेषा दक्षिणायनं विसर्गश्च। तावादानविसर्गौ वर्षम् ॥ ५ ॥

आँख की पलकों को बन्द करने में जितना समय लगता है, उतने समय का नाम मात्रा है। पन्द्रह मात्रा की एक काष्ठा, तीस काष्ठा की एक कला, कला का दसवाँ भाग (तीन काष्ठा) सहित बीस कला की एक नाडिका, दो नाडिका का एक मुहूर्त्त, समान रात-दिन वाले राशि भाग में पौने चार (३$\frac{3}{4}$) मुहूर्त्त का एक याम होता है। चार याम का एक दिन एवं चार याम की एक रात्रि, पन्द्रह दिन-रात्रि का एक पक्ष, दो पक्ष (कृष्ण-शुक्ल) का एक मास तथा मास का अन्त शुक्ल पक्ष से होता है। उन मार्गशीर्ष आदि दो-दो महीने के क्रम से हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् छः ऋतुएँ होती हैं। उनमें शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म तीन ऋतुओं में सूर्य का उत्तर दिशा की ओर अयन (गति) होता है, अतः वे तीन ऋतुएँ उत्तरायण या आदान कहलाती हैं तथा शेष वर्षा-शरद्-हेमन्त ऋतुओं में सूर्य का दक्षिण की ओर अयन (गति) होता है, इसलिए यह दक्षिणायन या विसर्ग कहलाती है। वे दोनों आदान-विसर्ग वर्ष कहलाते हैं।

वाग्भट के उपर्युक्त काल-विभाग को हम इस प्रकार कह सकते हैं—

अक्षिनिमेष = १ मात्रा
१५ मात्रा = १ काष्ठा
३० काष्ठा = १ कला
२०$\frac{1}{10}$ कला = १ नाडिका
२ नाडिका = १ मुहूर्त्त
३$\frac{3}{4}$ मुहूर्त्त = १ याम (पहर)

४ याम = १ दिन
४ याम = १ रात
१५ दिन-रात = १ पक्ष
२ पक्ष = १ मास
२ मास = १ ऋतु
३ ऋतु = १ अयन
२ अयन = १ वर्ष

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः। पञ्चदशाक्षिनिमेषाः काष्ठाः। त्रिंशत्काष्ठाः कला। विंशतिकला मुहूर्त्तः कलादशभागश्च। त्रिंशन्मुहूर्त्तमहोरात्रम्। पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः। स च द्विविधः—शुक्लः कृष्णश्च। तौ मासः। तत्र माघादयो द्वादश मासाः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षड् ऋतवो भवन्ति'। (सु० सू० ६।६)

महर्षि सुश्रुत के अनुसार निम्नलिखित काल-विभाग है—
लघु अक्षर उच्चारण में लगा समय = १ अक्षिनिमेष

१५ निमेष = १ काष्ठा
३० काष्ठा = १ कला
२०$\frac{१}{१०}$ कला = १ मुहूर्त्त
३० मुहूर्त्त = १ दिन-रात
१५ दिन-रात = १ पक्ष
२ पक्ष = १ मास
१२ मास = १ संवत्सर
२ मास = १ ऋतु
३ ऋतु = १ अयन
२ अयन = १ वर्ष
५ वर्ष = युग

महर्षि सुश्रुत ने प्राकृतिक आधार पर माघ-फाल्गुन को शिशिर, चैत्र-वैशाख को वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ़ को ग्रीष्म, श्रावण-भाद्रपद को वर्षा, आश्विन-कार्तिक को शरद् तथा मार्गशीर्ष-पौष को हेमन्त ऋतु कहा है। पुनः ऋतुओं का दूसरा वर्गीकरण दोषों के संशोधनार्थ किया है। इसमें भाद्रपद-आश्विन को वर्षा, कार्तिक-मार्गशीर्ष को शरद्, पौष-माघ को हेमन्त, फाल्गुन-चैत्र को वसन्त, वैशाख-ज्येष्ठ को ग्रीष्म तथा आषाढ़-श्रावण को प्रावृट् कहा है। इसका भौगोलिक आधार यह है कि हमारे देश के दक्षिण और पूर्वी भाग में वर्षा अधिक होती है, अतः वहाँ प्रावृट् और वर्षा दो ऋतुएँ होती है तथा शीत कम पड़ने के कारण केवल हेमन्त ऋतु होती है। उत्तर तथा पश्चिमी भाग में ठण्डक अधिक होने के कारण हेमन्त और शिशिर दो ऋतुएँ तथा वर्षा कम होने से एक वर्षा ऋतु होती है। महर्षि काश्यप ने कहा है—

'भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे तटे। अतः प्रावृट् च वर्षाश्च ऋतू तत्र प्रकल्पितौ।
तस्या एवोत्तरे देशे हिमवद्विन्ध्यसङ्कुले। भूयः शीतमतस्तत्र हेमन्तशिशिरावुभौ'॥

राशि के अनुसार मकर-कुम्भ को शिशिर, मीन-मेष को वसन्त, वृष-मिथुन को ग्रीष्म, कर्क-सिंह को वर्षा, कन्या-तुला को शरद् तथा वृश्चिक-धनु को हेमन्त ऋतु माना गया है।

आदान काल

तयोरादानमाग्नेयम् । तस्मिन् खलु कालस्वभावमार्गपरिगृहीतोऽत्यर्थोष्णगभस्तिजालमण्डलोऽर्कस्तत्सम्पर्काद्वायवश्च तीव्ररूक्षाः सोमजं गुणमुपशोषयन्तो जगतः स्नेहमाददाना ऋतुक्रमेणोपजनितरौक्ष्याद्रूक्षान् रसांस्तिक्तकषायकटुकानभिप्रबलयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति ॥ ६ ॥

उन दोनों में आदान काल आग्नेय होता है । इसमें आदान काल के स्वभावानुसार उत्तर दिशा में गमन होने से अत्यन्त उष्ण किरणों के जाल (समूह) से मण्डित (व्याप्त) होने के कारण सूर्य और उसके सम्पर्क से अत्यन्त रूक्ष वायु सोम (चन्द्रमा) से उत्पन्न हुए गुण को सुखाते हुए स्थावर-जंगम जगत् के स्नेह को ग्रहण करते हैं और वे ऋतुक्रम से दिनों-दिन अत्यन्त रूक्षता प्राप्त वायु तिक्त-कषाय-कटु नामक रूक्ष रसों को प्रबल करते हुए मनुष्यों में दुर्बलता उत्पन्न करते हैं ।

विसर्ग काल

विसर्गस्तु सौम्यः । तस्मिन्नपि कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रभावे दक्षिणायनगेऽर्के शशिनि चाव्याहतबले शिशिराभिर्भाभिः शश्वदाप्यायमाने माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसन्तापे जगत्यरूक्षा रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमं बलं चोपचीयते नृणामिति ॥ ७ ॥

विसर्ग काल सौम्य होता है । उस विसर्ग काल में भी सूर्य का दक्षिण दिशा में गमन होने से मेघ, वायु तथा वर्षा से दक्षिणायन सूर्य का प्रभाव उपहत (नष्ट) होने तथा चन्द्रमा का बल विनष्ट न होने से, शीतल किरणों से निरन्तर जगत् का आप्यायन (पोषण) होने के कारण तथा माहेन्द्र सलिल (आकाश से बरसे हुए जल) से जगत् का सन्ताप शान्त हो जाने से अरूक्ष अम्ल-लवण-मधुर रस क्रमशः बढ़ते जाते हैं तथा मनुष्यों का बल बढ़ता है ।

आदान काल एवं विसर्ग काल में भेद

प्राकृतिक भाव	आदान काल	विसर्ग काल
१. सूर्य	उत्तरायण	दक्षिणायन
२. वायु	तीव्र रूक्ष	अरूक्ष
३. स्नेहांश	शोषण एवं ह्रास	वृद्धि एवं पोषण
४. स्वभाव	आग्नेय	सौम्य
५. ऋतुएँ	शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म	वर्षा-शरद्-हेमन्त
६. रस	तिक्त-कषाय-कटु रस की वृद्धि	अम्ल-लवण-मधुर रस की वृद्धि

ऋतु काल में शरीर का बल

भवति चात्र—

हेमन्ते शिशिरे चाग्र्यं विसर्गादानयोर्बलम् ।
शरद्वसन्तयोर्मध्यं हीनं वर्षानिदाघयोः ॥ ८ ॥

ऋतुओं के अनुसार प्राकृतिक स्थिति

ऋतुएँ	भारतीय मास	अंग्रेजी मास	सूर्यबल	चन्द्रबल	भूमण्डल का स्वभाव	द्रव्यों में रस की अभिवृद्धि	प्राणियों का बल	दोष		
								सञ्चय	प्रकोप	शमन
(१) शिशिर (Late Winter)	(i) माघ (ii) फाल्गुन	जनवरी-फरवरी फरवरी-मार्च	पूर्ण	क्षीण	रूक्ष	तिक्त	श्रेष्ठ बल	कफ		
(२) वसन्त (Spring)	(i) चैत्र (ii) वैशाख	मार्च-अप्रैल अप्रैल-मई	पूर्णतर	क्षीणतर	रूक्षतर	कषाय	मध्यम बल		कफ	
(३) ग्रीष्म (Summer)	(i) ज्येष्ठ (ii) आषाढ़	मई-जून जून-जुलाई	पूर्णतम	क्षीणतम	रूक्षतम	कटु	अल्प बल	वात		कफ
(४) वर्षा (Rains)	(i) श्रावण (ii) भाद्रपद	जुलाई-अगस्त अगस्त-सितम्बर	क्षीण	पूर्ण	स्निग्ध	अम्ल	अल्प बल	पित्त	वात	
(५) शरद् (Autumn)	(i) आश्विन (ii) कार्तिक	सितम्बर-अक्टूबर अक्टूबर-नवम्बर	क्षीणतर	पूर्णतर	स्निग्धतर	लवण	मध्यम बल		पित्त	वात
(६) हेमन्त (Early Winter)	(i) मार्गशीर्ष (ii) पौष	नवम्बर-दिसम्बर दिसम्बर-जनवरी	क्षीणतम	पूर्णतम	स्निग्धतम	मधुर	श्रेष्ठ बल			पित्त

विसर्ग एवं आदान काल में हेमन्त तथा शिशिर ऋतु में मनुष्यों का श्रेष्ठ बल, शरद् एवं वसन्त ऋतु में मध्यम बल तथा वर्षा एवं ग्रीष्म ऋतु में हीन बल होता है।

हेमन्त ऋतु के लक्षण

धूमधूम्ररजोमन्दास्तुषाराविलमण्डलाः।
दिगादित्या मरुच्छंत्यादुत्तरो रोमहर्षणः॥ ९।
लोध्रप्रियङ्गुपुन्नागलवल्यः कुसुमोज्ज्वलाः।
दृप्ता गजाजमहिषवाजिवायससूकराः॥ १०॥
हिमानीपटलच्छन्ना लीनमीनविहङ्गमाः।
नद्यः सबाष्पाः सोष्माणः कूपापश्च हिमागमे॥ ११॥

हेमन्त ऋतु में दिशाएँ धूम (धुएँ) के समान धूम्र (मलिन) तथा रज (धूल) से मन्द (व्याप्त) हो जाती हैं। तुषार (कोहरा) से दिशाएँ एवं सूर्यमण्डल आविल (मलिन) हो जाता है। उत्तरी वायु शीतलता से रोमहर्ष उत्पन्न करती है। इस ऋतु में लोध्र (*Symphlocos racemosa* Roxb), प्रियङ्गु (*Callicarpa macrophylla* Vahl), पुन्नाग (*Calophyllun inofyllum* Linn) तथा लवली (*Cicca acidc* Merrih) के सुन्दर फूल खिलते हैं। हाथी (*Elephas indica*), अज (बकरी *Capra sibica*), महिष (भैंसा *Bos bubalus*), वाजि (घोड़ा *Equuas Cabballus*), वायस (कौआ *Corvussplendens*) तथा सूकर (*Sus cristasus*) मदोन्मत हो जाते हैं। नदियाँ हिम (बर्फ के स्तर) से आच्छन्न (अवरुद्ध) हो जाती हैं। मछलियाँ तथा जलचर पक्षी छिप जाते हैं। नदियों के जल में से वाष्प निकलता है। कूप का जल उष्ण हो जाता है।

हेमन्त ऋतु का शरीर पर प्रभाव

देहोष्माणो विशन्तोऽन्तः शीते शीतानिलाहताः।
जठरे पिण्डितोष्माणं प्रबलं कुर्वतेऽनलम्॥ १२॥
विसर्गे बलिनां प्रायः स्वभावादिगुरु क्षमम्।
बृंहणान्यन्नपानानि योजयेत् तस्य युक्तये॥ १३॥
अनिन्धनोऽन्यथा सीदेदत्युदीर्णतयाऽथवा।
धातूनपि पचेदस्य ततस्तेषां क्षयान्मरुत्॥ १४॥
तेजःसहचरः कुप्येच्छीतः शीते विशेषतः।

इस शीत ऋतु में शरीर की ऊष्मा शीतल वायु से आहत (ताड़ित) होकर शरीर के अन्दर प्रवेश करती हैं, जो जठर में पिण्डीभूत अग्नि को प्रबल कर देती है। प्रायः विसर्ग काल में बलवानों की जठराग्नि स्वभाव आदि में गुरु (यथा—माष) आहार को पचाने में समर्थ होती है, उस अग्नि की युक्ति (समता) के लिए बृंहण (पुष्टिकारक) अन्नपान का सेवन करना चाहिए। ऐसा न करने से अर्थात् इन्धन रूपी अन्नपान नहीं मिलने से जठराग्नि नष्ट हो जाती है अथवा अधिक उदीर्ण (तीक्ष्ण) होने के कारण शरीर की धातुओं को भी पचाने लगती है, और धातुओं का क्षय होने पर तेज का सहचर (वर्द्धक) वायु शीतकाल में शीत से विशेष कुपित हो जाता है।

हेमन्त ऋतुचर्या

अतो हिमे भजेत् स्निग्धान् स्वाद्वम्ललवणान् रसान् ॥ १५ ॥
बिलेशयौदकानूपप्रसहानां भृतानि च ।
मांसानि गुडपिष्टोत्थमद्यान्यभिनवानि च ॥ १६ ॥
माषेक्षुक्षीरविकृतिवसातैलनवौदनान् ।
व्यायामोद्वर्तनाभ्यङ्गस्वेदधूमाञ्जनातपान् ॥ १७ ॥
सुखोदकं शौचविधौ भूमिगर्भगृहाणि च ।
साङ्गारयानां शय्यां च [1]कुथकम्बलसंस्कृताम् ॥ १८ ॥
कुङ्कुमेनानुलिप्ताङ्गोऽगुरुणा गुरुणाऽपि वा ।
लघूष्णैः प्रावृतः स्वप्यात् काले धूपाधिवासितः ॥ १९ ॥
पीनाङ्गनाङ्गसंसर्गनिवारितहिमानिलः ।

इसलिए शीतकाल में स्निग्ध-मधुर-अम्ल-लवण रसों का सेवन करना चाहिए। विलेशय (बिलों में रहने वाले गोधा आदि), औदक (कछुआ, मछली आदि), आनूप (महिष आदि), प्रसह (छीनकर मांस खाने वाले बाज-कौआ आदि) प्राणियों का भुना हुआ मांस, गुड़ एवं पीठी से बनाई वस्तु, नूतन मद्य, उड़द (*Phaseolus radiatus*), गन्ने (*Saccharum officinarum*) Linn) का रस, दुग्ध से बनाई वस्तुएँ, वसा (चर्बी), तैल तथा नये चावलों का सेवन करना चाहिए। व्यायाम, उद्वर्तन, अभ्यंग, स्वेदन, धूमपान, अंजन तथा आतप (धूप) का सेवन करना चाहिए। शरीर-शुद्धि में उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए। गर्भगृह (गृहकोष्ठ–घर के भीतरी भाग में) रहना चाहिए। शय्या के पास अँगीठी रखकर कुथ (कपास की रुई से पूर्ण रजाई) तथा कम्बल से संस्कृत (सुन्दर) शय्या पर कुंकुम (केशर *Crocus sativus* Linn) अथवा अगुरु (*Aquilaria agallocha* Roxb) का घना लेप करके हलके किन्तु उष्ण तथा धूप से धूपित वस्त्रों को ओढ़कर समय से सो जाना चाहिए। पुष्ट अङ्ग (शरीर) वाली स्त्री का संसर्ग शीतल वायु को निवारित (नष्ट) करता है।

महर्षि चरक ने इस ऋतु में निम्नलिखित आहार-विहार का निषेध किया है—

'वर्जयेदन्नपानानि वातलानि लघूनि च ।
प्रवातं प्रमिताऽऽहारमुदमन्थं हिमागमे' ॥ (च० सू० ६।१८)

शिशिर ऋतुचर्या

शिशिरे शीतमधिकं मेघमारुतवर्षजम् ॥ २० ॥
रौक्ष्यं चादानजं तस्मात् कार्यः पूर्वोऽधिकं विधिः ।

शिशिर ऋतु में मेघ, वायु तथा वर्षा के कारण शीत अधिक होता है तथा आदान काल होने से रूक्षता उत्पन्न होती है, इसलिए इस ऋतु में हेमन्त ऋतु की चर्या का सेवन कुछ अधिक करना चाहिए।

वसन्त ऋतु का लक्षण

वसन्ते दक्षिणो वायुराताम्रकिरणो रविः ॥ २१ ॥
नवप्रवालत्ववक्त्राः पादपाः ककुभोऽमलाः ।
किंशुकाशोकचूतादिवनराजिविराजिताः ॥ २२ ॥

---

१. 'कुथं कार्पासादिपूर्णम्' इतीन्दुः ।

कोकिलालिकुलालापकलकोलाहलाकुलाः ।
शिशिरे सञ्चितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः ॥ २३ ॥
तदा प्रबाधमानोऽग्निं रोगान् प्रकुरुते बहून् ।

वसन्त ऋतु में दक्षिण दिशा की वायु बहती है, सूर्य की किरणें लोहित (लाल) होती हैं, वृक्षों में नव प्रवाल (नये पत्ते) तथा नई त्वचा (छाल) आ जाते हैं, ककुभ (दिशाएँ) अमला (निर्मल) हो जाती हैं, किंशुक (पलाश *Butea monosperma* Lam), अशोक (*Saraca indica* Linn) तथा चूत (आम *Magnifera indica* Linn) से वन-पंक्तियाँ शोभित होती हैं, अर्थात् उनमें पुष्प आने लगते हैं और दिशाएँ कोयल तथा भ्रमरों के आलापों के मधुर कोलाहल से व्याप्त हो जाती हैं। इस ऋतु में शिशिर ऋतु में संचित श्लेष्मा सूर्य की किरणों से पिघल कर अग्नि को नष्ट करता हुआ बहुत से रोगों को उत्पन्न कर देता है।

वसन्त ऋतुचर्या

अतोऽस्मिंस्तीक्ष्णवमनधूमगण्डूषनावनम् ॥ २४ ॥
व्यायामोद्वर्तनक्षौद्रयवगोधूमजाङ्गलान् ।
सेवेत सुहृदुद्यानयुवतीश्च मनोरमाः ॥ २५ ॥
स्नातः स्वलङ्कृतः स्रग्वी चन्दनागुरुरूषितः ।
विचित्रामत्रविन्यस्तान् सहकारोत्पलाङ्कितान् ॥ २६ ॥
निर्गदांश्चासवारिष्टसीधुमार्द्वीकमाधवान् ।
क्वथितं मुस्तशुण्ठ्यम्बु सारम्भः क्षौद्रवारि वा ॥ २७ ॥
गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत् ।

अतः इस ऋतु में तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण धूमपान, तीक्ष्ण गण्डूष तथा तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करना चाहिए। व्यायाम, उद्वर्तन, क्षौद्र (मधु), यव (*Hordeum vulgare* Linn), गोधूम (*Triticum vulgare* Linn) तथा जांगल पशु-पक्षियों का मांस सेवन करना चाहिए। सुहृद् जनों की संगति, उद्यानगोष्ठी तथा मनोहर युवतियों (रतिक्रीड़ा) का सेवन करना चाहिए। स्नान करके अलंकारों से शोभित होकर स्रग्वी फूलों की माला को धारण करना चाहिए। चन्दन (*Santalum album* Linn) एवं अगुरु (*Aquilaria agallocha* Roxb) का लेप शरीर पर करें। सहकार (आम *Magnifera indica* Linn) एवं उत्पल (कमल *Nymphala stellata* Wild) के चित्रों से अंकित विचित्र (चित्रकारी युक्त) पात्रों में निर्गद (दोष रहित) आसव, अरिष्ट, सीधु (इक्षुरस से बना मद्य), मार्द्वीक (द्राक्षासुरा) तथा माधव (महुआ की सुरा) का पान करें। पकाया हुआ जल या मोथा (*Cyperus rotundus* Linn) एवं शुण्ठी (*Zingiber officinale* Rose) का पका पानी या सारम्भ (सारम्बु–विजयसार *Pterocarpus marsupium* Roxb) से परिपक्व जल या मधु मिश्रित जल पिये।

अपथ्य—इस ऋतु में गुरु एवं शीतल पदार्थ, दिवास्वप्न, स्निग्ध पदार्थ और मधुर तथा अम्ल रस वाले पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।

ग्रीष्म ऋतु का लक्षण

ग्रीष्मेऽतसीपुष्पनिभस्तीक्ष्णांशुर्दावदीपिताः ॥ २८ ॥
दिशो ज्वलन्ति भूमिश्च मारुतो नैर्ऋतः सुखः ।
पवनातपसंस्वेदैर्जन्तवो ज्वरिता इव ॥ २९ ॥

तापार्ततुङ्गमातङ्गमहिषैः कलुषीकृताः ।
दिवाकरकराङ्गारनिकरक्षपिताम्भसः ॥ ३० ॥
प्रवृद्धरोधसो नद्यश्छायाहीना महीरुहाः ।
विशीर्णजीर्णपर्णाश्च शुष्कवल्कलताङ्किताः ॥ ३१ ॥

इस ऋतु में सूर्य तेज किरणों वाला, अतसी (अलसी *Linum usitatissimum* Linn) के पुष्प के समान तथा दावो (वनाग्नि) की भाँति चमकता है। दिशाएँ और भूमि जलती हैं, नैर्ऋत (दक्षिण-पश्चिम) कोण से बहने वाली वायु सुखकारक होती है। उष्ण वायु, धूप एवं स्वेद के कारण प्राणी ज्वर की भाँति तप्त हो जाते हैं, ताप से पीड़ित तुंग (*Elephas indica*), मातुंग (ऊँची हाथियाँ *Elephas indica*) तथा महिषों (भैंसों *Bos bubalus*) द्वारा नदियाँ मैली कर दी जाती हैं। अङ्गारों के समान सूर्य की किरणों से नदियों का जल सूख जाने के कारण नदियों के किनारे विस्तृत हो जाते हैं। वृक्ष गर्मी के कारण छायाहीन हो जाते है, इनके पत्ते जीर्ण होकर गिर जाते हैं, उनकी छाल सूख जाती है एवं उन पर फैली लताएँ भी सूख जाती हैं।

ग्रीष्म ऋतु चर्या

आदत्ते जगतः स्नेहांस्तदादित्यो भृशं यतः ।
व्यायामातपकट्वम्ललवणोष्णं त्यजेदतः ॥ ३२ ॥
मद्यं न सेव्यं स्वल्पं वा सेव्यं सुबहु वारि वा ।
अन्यथा शोषशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत् ॥ ३३ ॥
नवमृद्भाजनस्थानि हृद्यानि सुरभीणि च ।
पानकानि समन्थानि सिताढ्यानि हिमानि च ॥ ३४ ॥
स्वादुशीतं द्रवं चान्नं जाङ्गलान्मृगपक्षिणः ।
शालिक्षीरघृतद्राक्षानारिकेराम्बुशर्कराः ॥ ३५ ॥
तालवृन्तानिलान् हारान् स्रजः सकमलोत्पलाः ।
तन्वीर्मृणालवलयाः कान्ताश्चन्दनरूषिताः ॥ ३६ ॥
सरांसि वापीः सरितः काननानि हिमानि च ।
सुरभीणि निषेवेत वासांसि सुलघूनि च ॥ ३७ ॥
निष्पतद् यन्त्रसलिले स्वप्याद्धारागृहे दिवा ।
रात्रौ चाकाशतलके सुगन्धिकुसुमास्तृते ॥ ३८ ॥
कर्पूरचन्दनार्द्राङ्गो विरलाङ्गसङ्गमः ।

क्योंकि इस ऋतु में सूर्य जगत् के स्नेहों का आदान (ग्रहण) अधिक मात्रा में कर लेता है, इसलिए व्यायाम, आतप (धूप), कटु-अम्ल-लवण रसवाले एवं उष्ण पदार्थों का सेवन त्याग देना चाहिए। मद्य का सेवन नहीं करना चाहिए। यदि पीना भी हो तो थोड़ी मात्रा में पीयें अथवा उसमें बहुत सा जल मिलाकर सेवन करें। अन्यथा वह मद्य शोष (कृशता), शैथिल्य, दाह (Burning Sensation) एवं मोह को पैदा कर देता है। मिट्टी के नूतन भाण्डों में रखे गये, हृदय को शक्ति देने वाले एवं सुगन्धित शर्करा मिश्रित शीतल पानक एवं मन्थ (सत्तू) का घोल पिये। मधुर-शीत-द्रव (पतला) अन्न, जांगल पशु-पक्षी हरिण का मांस, शालि चावल, दुग्ध, घृत, द्राक्षा (*Vitis vinifera* Linn), नारियल (*Cocus nucifera* Linn) का जल तथा शर्करा का सेवन करना चाहिए। ताड़ (*Borasus flabellifer* Linn) के पंखों की हवा, कमल एवं उत्पल

(*Nyphaea stellata* Wild) की माला तथा मृणाल (कमलनाल) के वलय (कर्कण) पहनी हुई कान्ता (प्रिय) तथा शरीर पर चन्दन (*Santalum album* Linn) का लेप किये हुए तन्वी (पतली स्त्रियों) का सेवन करना चाहिए। सर (तालाब), वापी, सरित् (नदी), शीतल जंगल तथा सुगन्धित हलके वस्त्रों का सेवन करना चाहिए। दिन में यन्त्र (फव्वारे) के द्वारा जहाँ पानी के फव्वारे पड़ रहे हों, ऐसे धारागृह में सोना चाहिए। रात्रि में आकाश के नीचे सुगन्धित पुष्पों की शय्या पर सोना चाहिए। कपूर (*Cina momum Camphora*) तथा चन्दन (*Santalum album*) के घोल से शरीर को आर्द्र (गीला) करके कभी-कभी मैथुन करना चाहिए। प्रतिदिन मैथुन नहीं करना चाहिए।

मन्थ के विषय में चरकोपस्कार के व्याख्याता श्री योगीन्द्रनाथ सेन ने कहा है—'सक्तवः सर्पिषा युक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः। नात्यच्छा नातिसान्द्रश्च मन्थ इत्यभिधीयते' ॥

वर्षा ऋतु के लक्षण

वर्षासु वारुणो वायुः सर्वसस्यसमुद्गमः ॥ ३९ ॥
भिन्नेन्द्रनीलनीलाभ्रवृन्दमन्दाविलं नभः।
दीर्घिका नववार्यौघमग्नसोपानपङ्क्तयः ॥ ४० ॥
वारिधाराभृशाघातविकाशितसरोरुहाः ।
सरितः सागराकारा भूरव्यक्तजलस्थला ॥ ४० ॥
मन्द्रस्तनितजीमूतशिखिदर्दुरनादिता ।
इन्द्रगोपधनुःखण्डविद्युद्द्योतदीपिता ॥ ४१ ॥
परितः श्यामलतृणा सिलीन्ध्रकुटजोज्ज्वला।

वर्षा ऋतु में वारुण (वरुण—जल देवता से अधिष्ठित), वायु (मानसून) बहने लगती है, जिससे सभी प्रकार के शस्य (अनाज) उत्पन्न होते हैं, आकाश तोड़े हुए इन्द्रनील नामक रत्न के समान नीले बादलों के समूह से आच्छादित एवं मलिन होता है, वर्षा के नये जल के समूह से दीर्घिका (पुष्पकरणी—बावली) में सीढ़ियों की पंक्तियाँ डूब जाती हैं, वर्षा के पानी के भृशम् (अत्यधिक) आघात से कमल (*Nelumbo nucifera* Gaertn) खिल जाते हैं, नदियाँ समुद्र के सदृश दिखलाई पड़ती हैं, पृथ्वी पर जल फैलने से स्थल स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता। जीमूत (मेघ) मन्द-मन्द गरजने लगते हैं, शिखिन (मयूर *Pavo cristasus*) तथा दर्दुर (मेढक *Rana tigrina*) बोलने लगते हैं, इन्द्रगोप (वीरबहूटी कृमि *Mutella occidentalis*), इन्द्रधनुष और विद्युत् चमकने लगती है। भूमि पर चारों ओर श्यामल तृण (हरी घास), शिलीन्ध्र (छत्रक) तथा कुटज (*Holarrhena antidysenterica*) के फल खिलते हैं।

वर्षाऋतुचर्या

तदाऽऽदानाबले देहे मन्देऽग्नौ बाधिते पुनः ॥ ४२ ॥
वृष्टिभूबाष्पतोयाम्लपाकदुष्टैश्चलादिभिः ।
बस्तिकर्म निषेवेत कृतसंशोधनक्रमः ॥ ४३ ॥
पुराणशालिगोधूमयवान् यूषरसैः कृतैः।
निर्गदं मदिरारिष्टमार्द्रीकं स्वल्पमम्बु वा ॥ ४४ ॥
दिव्यं क्वथितकूपोत्थं चौण्डं सारसमेव वा।
वृष्टिवाताकुले त्वह्नि भोजनं क्लेदवातजित् ॥ ४५ ॥

परिशुष्कं लघु स्निग्धमुष्णाम्ललवणं भजेत् ।
प्रायोन्नपानं सक्षौद्रं संस्कृतं च घनोदये ॥ ४६ ॥
असरीसृपभूबाष्पशीतमारुतशीकरम् ।
साग्नियानं च भवनं निर्दंशमशकोन्दुरम् ॥ ४७ ॥
प्रघर्षोद्वर्तनस्नानधूमगन्धागुरुप्रियः ।
यायात्करेणुमुख्याभिश्चित्रस्रग्वस्त्रभूषितः ॥ ४८ ॥
नदीजलोदमन्थाहः स्वप्नातिद्रवमैथुनम् ।
तुषारपादचरणव्यायामार्ककरांस्त्यजेत् ॥ ४९ ॥

गत आदान काल के प्रभाव से शरीर दुर्बल एवं जठराग्नि मन्द होती है तथा पुनः वृष्टि हो जाने से भूमि से वाष्प निकलने से पिये गये जल का अम्लविपाक होने से तथा दूषित वातादि के प्रभाव से जठराग्नि और मन्द हो जाती है। वमन और विरेचन से शरीर का संशोधन करके बस्तिकर्म का सेवन करें। पुराने शालि चावल, गेहूँ (*Triticum vulgare* Linn) एवं यव (*Hordium vulgare*) को कृतयूष (स्नेह शुण्डी आदि से युक्त) के साथ लेना चाहिए। निर्गदं (दोष रहित) मदिरा, अरिष्ट, माद्वीक (अंगूर की शराब) या थोड़ा पानी पीयें। दिव्य (आकाश का जल) पकाकर, कूप का जल एवं चौण्डं (शिलाकूपिका) का जल अथवा सारस (तालाब) का जल पीयें। जिस दिन वर्षा हो रही हो, वायु बह रही हो, उस दिन क्लेदनाशक (सूखा–रूक्ष) तथा वातनाशक भोजन करना चाहिए। वर्षा ऋतु में परिशुष्क (सूखा), हलका, स्निग्ध, उष्ण, अम्ल एवं लवण रस से युक्त भोजन करना चाहिए। प्रायः सभी अन्नपान मधु मिश्रित एवं कालयोग्य द्रव्यों से संस्कृत होना चाहिए। सरीसृप (सर्प बिच्छू आदि), भूवाष्प (नमी), शीत (ठण्डक), वर्षा की फुहार तथा दंस (डाँस), मशक (छोटा मच्छर) एवं उन्दूर (चूहों *Rattus rattus*) से रहित तथा अंगीठी से गर्म किये गये भवन में रहना चाहिए। प्रघर्षण (वस्त्र आदि से देह का घर्षण), उद्वर्तन, स्नान, धूमपान तथा सुगन्धित अगुरु (*Aquilaria agallocha* Roxb) का लेप करें। यात्रा करनी हो, तो अच्छे तरह के हाथी आदि की सवारी पर बैठकर करना चाहिए। चित्र-विचित्र पुष्पों की माला तथा सुन्दर वस्त्र से विभूषित होकर रहना चाहिए।

निषेध—नदियों का जल, मन्थ (सत्तू), दिन में शयन, अतिद्रव (अत्यन्त पतला पदार्थ), अधिक मैथुन, तुषार (ओस), पैदल चलना, व्यायाम तथा सूर्य की किरणों का सेवन त्याग देना चाहिए।

प्रायः सभी अन्नपान मधुमिश्रित करने का निर्देश किया गया है। इस ऋतु में वायु का प्रकोप होता है। मधु का गुण भी रूक्ष, लघु, शीत कषाय तथा अल्प वातल होता है, ऐसी स्थिति में इसका सेवन कैसा होगा? इस विषय में चक्रपाणि ने कहा है—'क्षौद्रं च यद्यपि वातप्रकोपि, तथापि वार्षिकक्लेदशमनार्थं स्वल्पमात्राया क्षौद्रान्वितपदेन विहितम्'।

जिन देशों में वर्षा अधिक होती है, वहाँ वर्षा काल की दो ऋतुएँ होती हैं—१. प्रावृट् (आषाढ़ एवं श्रावण) तथा २. वर्षा ऋतु (भाद्रपद एवं आश्विन)। प्रावृट् ऋतु का लक्षण महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार बतलाया है—

प्रावृष्यम्बरमानद्धं पश्चिमानिलकर्षितैः ।
अम्बुदैर्विद्युदुद्द्योत प्रस्तुतैस्तुमुलस्वनैः ॥

कोमलश्यामशष्पाढ्या शक्रगोपोज्ज्वला मही ।
कदम्बनीपकुटजसर्जकेतकिभूषिता ॥ (सु० सू० ६।३१-३२)

अर्थात् प्रावृट् ऋतु में पश्चिम दिशा की वायु से लाये गये बादलों से आकाश आच्छादित रहता है, बिजली चमकती रहती है, जल गिरता रहता है तथा बादलों की तुमुलध्वनि होती रहती है। भूमि कोमल एवं श्यामल दूर्वा से परिपूर्ण हो जाती है, पृथ्वी पर वीरबहूटी क्रिमि दिखलाई पड़ते हैं तथा कदम्ब, नीम, कुटज, राल एवं केतकी से पृथ्वी सुशोभित हो जाती है।

शरद् ऋतु का लक्षण

शरदि व्योम शुभ्राभ्रं किञ्चित् पङ्काङ्किता मही ।
प्रकाशकाशसप्ताह्वकुमुदा शालिशालिनी ॥ ५० ॥
विक्षिप्ततीक्ष्णकिरणो मेघौघविगमाद्रविः ।
बभ्रुवर्णोऽतिविमलाः क्रौञ्चमालाकुला दिशः ॥ ५१ ॥
कमलान्तरसल्लीनमीनहंसांसघट्टनैः ।
तरङ्गभङ्गतुङ्गानि सरांसि विमलानि च ॥ ५२ ॥
वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः ।
तप्तानां सञ्चितं पूर्वं तदा पित्तं प्रकुप्यति ॥ ५३ ॥

शरद् ऋतु में आकाश सफेद बादलों वाला तथा पृथ्वी थोड़ी-थोड़ी पङ्क (कीचड़) वाली होती है। काश (*Saccharum spontaneum* Linn), सप्ताह्व (सप्तपर्ण *Alstonia scholaris*) R. Br.) तथा कुमुद (*Nymphaea alba* Linn) खिलने लगते हैं, शालिधान्य की खेती से पृथ्वी सुशोभित होती है। बादलों का समूह हट जाने के कारण सूर्य की तीक्ष्ण किरणें पृथ्वी पर पड़ती हैं तथा बभ्रु (कपिल) वर्ण का सूर्य होता है। दिशाएँ अत्यन्त निर्मल हो जाती हैं, उनमें क्रौञ्च पक्षियों की माला (पक्तियाँ) उड़ने लगती हैं। सर (झीलों) में कमलों के बीच में छिपी हुई मछलियों तथा हंसों (*Anser indicus*) के अंस (कन्धों) के टकराने से उत्पन्न तरंगों के टूटने से ऊँची-ऊँची तरंगें उठती हैं, किन्तु उनका जल निर्मल रहता है। वर्षा एवं शीत का अनुभव करने वाले अङ्गों में सहसा ही सूर्य की किरणों से तपने पर जो पित्त वर्षा एवं शीत से वंचित था, वह अब कुपित हो जाता है।

शरद्-ऋतुचर्या

शस्तं तिक्तहविःपानं विरेकोऽस्रस्रुतिः सदा ।
शीतं लघ्वन्नपानं च कषायस्वादुतिक्तकम् ॥ ५४ ॥
शालिषष्टिकगोधूमयवमुद्गसितामधु ।
पटोलामलकं द्राक्षा जाङ्गलं क्षुद्वतां भृशम् ॥ ५५ ॥
दिवा दिवाकरकरैर्निशाकरकरैर्निशि ।
सन्तप्तं ह्लादितं तोयमगस्त्येनाविषीकृतम् ॥ ५६ ॥
निर्मलं शुचि कालेन पक्वं पानेऽमृतोपमम् ।
हंसौघपक्षविक्षेपभ्रमद्भ्रमरपङ्क्तिषु ॥ ५७ ॥
सुसरोरुहसेव्यासु सरसीषु प्लवेत च ।
लघुशुद्धाम्बरः स्रग्वी शीतोशीरविलेपनः ॥ ५८ ॥

सेवेत चन्द्रकिरणान् प्रदोषे सौधमाश्रितः ।
तृप्तिदध्यातपक्षारवसातैलपुरोऽनिलान् ॥ ५९ ॥
तीक्ष्णमद्यदिवास्वप्नतुषारांश्च विवर्जयेत् ।

इस ऋतु में तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत, विरेचन तथा रक्तमोक्षण प्रशस्त है। प्रतिदिन शीतल, हलका अन्नपान तथा कषाय, मधुर और तिक्त रसवाले द्रव्यों का सेवन पथ्य है। भूख लगने पर शालि चावल, षष्टिक (साठी) चावल, गेहूँ, यव, मूँग (*Phaseolus mungo* Linn), शर्करा, मधु, परवल (*Trichosanthes cucumerina* Linn), आमलकी (*Emblica officinalis* Gaertn), द्राक्षा (*Vitis vimifera* Linn) तथा जांगल प्राणियों के मांस का सेवन करना चाहिए।

जल जो दिन में सूर्य की किरणों से सन्तप्त हो जाता हो, रात्रि में चन्द्रकिरणों से शीतल हो जाता हो, अगस्त नक्षत्र से निर्विष हो, निर्मल हो, पवित्र हो तथा काल के प्रभाव से पक्व (शुद्ध) हो गया हो, वह जल पीने में अमृत के समान होता है।

जिन झीलों में हंस-समूह (*Anser indicus*) पक्षों (पंख) को चलाते हुए तैर रहे हों, भ्रमरों की पंक्तियाँ जहाँ मँडरा रही हों, सुसरोरुहसेव्य—ऐसे कमलों से युक्त होने के कारण जो सेवनीय है, उनमें तैरना चाहिए। हलके तथा शुद्ध वस्त्रों को पहनकर तथा फूलों की माला गले में डालकर, शरीर पर उशीर (खस *Veteriveria zizanioides* Linn) का शीतल लेप लगाकर प्रदोष (सन्ध्या) काल में छत पर बैठकर चन्द्रकिरणों का सेवन करें।

निषेध—तृप्ति (पेट भर भोजन), दधि, आतप (धूप), क्षार, वसा, तैल, पूर्वीवायु, तीक्ष्ण मद्य, दिन में शयन तथा ओस का सेवन त्याग देना चाहिए।

जिस जल का प्रयोग बतलाया गया है, उसकी संज्ञा महर्षि अग्निवेश ने हंसोदक दी है—
'दिवासूर्यांशुसन्तप्तनिशिचन्द्रांशुशीतलम् । कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम् ।
हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि । स्नानपानावगाहेषु शस्यते तद्यथाऽमृतम्' ॥
(च० सू० ६।४६-४७)

चक्रपाणि ने हंसोदक का अर्थ दो प्रकार से किया है—

१. 'हंसशब्देन सूर्यचन्द्रमसावभिधीयते ताभ्यां शोधितमुदकं हंसोदकम्' अर्थात् हंस शब्द से सूर्य एवं चन्द्रमा दोनों को ग्रहण किया जाता है, इसलिए उन दोनों से शुद्ध जल को हंसोदक कहते हैं।

२. 'हंससेवायोग्यं हंसोदकं, हंसाः किल विशुद्धमेवोदकं भजन्ते' अर्थात् हंस के सेवन योग्य जल को हंसोदक कहते हैं, क्योंकि हंस शुद्ध जल का सेवन करता है।

नित्यसर्वरसाभ्यास

नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ ॥ ६० ॥

नित्य सभी ऋतुओं में सभी रसों का अभ्यास (सेवन) करना चाहिए, किन्तु जिस ऋतु में जो रस कहे गये हैं, उन रसों का उन-उन ऋतुओं में अधिक सेवन करना चाहिए।

ऋतुसन्धि

ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहादृतुसन्धिरिति स्मृतः ।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात् ॥ ६१ ॥
असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात् ।

वर्तमान ऋतु का अन्तिम सप्ताह तथा आगामी ऋतु का प्रथम सप्ताह (चौदह दिन) ऋतुसन्धि कहलाता है। इस समय वर्तमान ऋतुचर्या का क्रमशः धीरे-धीरे परित्याग तथा आगामी ऋतुचर्या का क्रमशः धीरे-धीरे सेवन प्रारम्भ करना चाहिए, क्योंकि वर्तमान ऋतुचर्या का सहसा त्याग तथा आगामी ऋतुचर्या का सहसा सेवन करने से असात्म्य जन्य रोग होते हैं।

उपसंहार

ऋतुष्वेवंविधेष्वेव विधिः स्वास्थ्ये च देहिनाम् ॥ ६२ ॥
निर्दिश्यतेऽन्यरूपेषु विरुद्धज्ञानिको विधिः।
मासराशिस्वरूपाख्यमृतोर्यल्लक्षणत्रयम् ॥
यथोत्तरं भजेच्चर्यां तत्र तस्य बलादिति ॥ ६३ ॥

इति ऋतुचर्या नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

उक्त प्रकार की ऋतुओं में ही तथा स्वस्थावस्था में मनुष्यों के लिए यह ऋतुचर्या की विधि निर्दिष्ट है, इसके विपरीत अवस्था में विरुद्धान्नविज्ञानीय के प्रसंग में बतलाया गया है। १. मासरूप में अर्थात् मार्गशीर्ष-पौष आदि के विचार से, २. राशिस्वभाव से अर्थात् मेष-कर्क आदि विचार से तथा ३. ऋतु के अपने-अपने लक्षणों के विचार से—ये ऋतु के जो तीन लक्षण कहे गये हैं, उनमें उत्तरोत्तर उस ऋतु के बल के वृद्ध होने से उस ऋतु की चर्या का पालन करना चाहिए।

इस प्रकार 'ऋतुचर्या' नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

ऋतुओं के अनुसार सेवन योग्य रस-गुण-आहार-विहार तथा अपथ्य

(१) **हेमन्त ऋतु**—(मार्गशीर्ष–पौष)।

रस—मधुर-अम्ल-लवण।

गुण—स्निग्ध-गुरु।

आहार—विलेशय, औदक, आनूप एवं प्रसह प्राणियों का मांस, गुड़ एवं पीठी का बना पदार्थ, नूतन मद्य, उड़द, गन्ना का रस तथा दुग्ध से बने पदार्थ, वसा, तेल तथा नया चावल आदि।

विहार—व्यायाम, उद्वर्तन, अभ्यंग, स्वेदन, धूमपान, अञ्जन तथा आतप का सेवन, उष्ण जल का प्रयोग, उष्ण गर्भगृह में निवास, कुथ तथा कम्बल की शय्या, कुंकुम तथा अगुरु का लेप तथा मैथुन।

अपथ्य—वातल तथा लघु आहार, अल्पाहार, प्रवात (तीव्र वायु) एवं उदमन्थ (जल में घुला सत्तू)।

(२) **शिशिर ऋतु**—(माघ–फाल्गुन) ।

रस—मधुर-अम्ल-लवण ।

गुण—स्निग्ध-गुरु ।

आहार—इस ऋतु में मेघ, वायु तथा वर्षा से शीत अधिक पड़ता है तथा आदानकाल होने से रूक्षता उत्पन्न हो जाती है । इसलिए हेमन्त ऋतु की चर्या का कुछ अधिक सेवन करना चाहिए ।

विहार—उपर्युक्त ऋतुचर्या का कुछ अधिक सेवन, विशेष रूप से निवात (वायुरहित) तथा उष्ण गृह में निवास ।

अपथ्य—कटु, तिक्त, कषाय रस तथा वातल, लघु एवं शीतल अन्नपान ।

(३) **वसन्त ऋतु**—(चैत्र–वैशाख) ।

रस—कटु-तिक्त-कषाय ।

गुण—लघु ।

आहार—क्षौद्र (मधु), यव, गोधूम, जांगल पशु-पक्षियों का मांस, आसव, अरिष्ट, सीधु, मार्द्वीक, पक्व जल अथवा मोथा एवं शुण्ठी का पका पानी अथवा विजयसार से परिपक्व जल या मधु मिश्रित जल का सेवन ।

विहार—तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण धूमपान, तीक्ष्ण गण्डूष, तीक्ष्ण नस्य, व्यायाम, उद्वर्तन, सुहृद् जनों की संगति, उद्यानगोष्ठी, मनोहर युवतियों (रतिक्रीड़ा) का सेवन, फूलों की माला का धारण करना तथा चन्दन एवं अगुरु का लेप ।

अपथ्य—गुरु, शीतल पदार्थ, दिवास्वप्न, स्निग्ध पदार्थ, मधुर-अम्ल रस ।

(४) **ग्रीष्म ऋतु**—(ज्येष्ठ–आषाढ़) ।

रस—मधुर ।

गुण—शीत-द्रव-लघु-स्निग्ध ।

आहार—नूतन मिट्टी के पात्र में रखा गया शर्करा मिश्रित शीतल पानक, मन्थ (सत्तू का घोल), जांगल पशु-पक्षी का मांस, शालि चावल, दुग्ध, घृत, द्राक्षा, नारियल का जल तथा शर्करा ।

विहार—ताड़ के पंखों की हवा, कमल तथा उत्पल की माला, सर-वापी-सरित् शीतल जल तथा सुगन्धित हलके वस्त्र का सेवन, दिन में शीत धारागृह तथा रात्रि में खुले आकाश के नीचे शयन, कपूर, चन्दन का लेप तथा दिवास्वाप ।

अपथ्य—व्यायाम, आतप, कटु-अम्ल-लवण रस एवं उष्ण पदार्थ तथा मद्य ।

(५) **वर्षा ऋतु**—(श्रावण–भाद्रपद) ।

रस—अम्ल-लवण ।

गुण—स्निग्ध ।

आहार—पुराना शालि चावल, गेहूँ, यव, कृतयूष, मदिरा, अरिष्ट, मार्द्वीक, पक्व आकाश का जल, क्लेदनाशक, वातनाशक तथा मधु मिश्रित आहार ।

विहार—वमन-विरेचन से शरीर का संशोधन, वस्तिकर्म, सरीसृप (सर्प-बिच्छू आदि) भूवाष्प, शीत, वर्षा की फुहार, मच्छर एवं चूहों से रहित गृह में निवास, प्रघर्षण, उद्वर्तन, स्नान, धूमपान तथा सुगन्धित अगुरु का लेप ।

अपथ्य—नदियों का जल, मन्थ (सत्तू का घोल), दिन में शयन, अतिद्रव (अत्यन्त पतला पदार्थ), अधिक मैथुन, तुषार, पैदल चलना, व्यायाम तथा सूर्य की किरणें।

(६) **शरद् ऋतु**—(आश्विन–कार्तिक)।

रस—मधुर-तिक्त-कषाय।

गुण—शीत-लघु।

आहार—तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत, शालि चावल, षष्टिक (साठी) चावल, गेहूँ, यव, मूँग, शर्करा, परवल, आमलकी, द्राक्षा, जागंल प्राणियों का मांस, हंसोदक।

विहार—विरेचन, रक्तमोक्षण, हलका तथा स्वच्छ वस्त्र, फूलों की माला, खस का शीतल लेप, चन्द्रकिरणों का सेवन, झीलों में तैरना।

अपथ्य—भर पेट भोजन, दधि, आतप, क्षार, वसा, तैल, पूर्वी वायु, तीक्ष्ण मद्य, दिन में शयन तथा ओस।

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो रोगानुत्पादनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

चतुर्थ अध्याय के पश्चात् 'रोगानुत्पादनीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

'रोगाणामनुत्पादनमिति रोगानुत्पादनम्। रोगानुत्पादनाय हितमिति रोगानुत्पादनीय'। अर्थात् रोगों का जो अनुत्पादन है (रोग जिसमें उत्पादन योग्य न हो), उसका हित जिसमें वर्णित किया गया है—इसका अभिप्राय यह है कि जिससे रोगों की उत्पत्ति ही न हो। क्योंकि कहा गया है—'रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः।' वेगों के उदीरण (बलात्प्रेरण) तथा धारण (बलात् रोधन) से प्रायः सभी प्रकार के रोग होते हैं, इससे स्वास्थ्य असम्भव है। अतः वेगधारण प्रतिषेध से रोग उत्पादन के अयोग्य हो जाते हैं। इन्दु ने कहा है—'वेगधारणशीलस्य च स्वास्थ्यासम्भवः। अतो वेगधारणप्रतिषेधेन च रोगानुत्पत्तिः। तामधिकृत्याध्याय आरभ्यते अथात' इत्यादि।

'प्रवृत्तेराभिमुख्येनोपस्थितत्वं वेगः' (पदार्थचन्द्रिका)। मूत्र-पुरीष आदि की प्रवृत्ति का सम्मुख रूप से उपस्थित होना वेग है। 'प्रवृत्तेरुन्मुखत्वं वेगः' (हेमाद्रि)। मूत्र-पुरीष की प्रवृत्ति का उन्मुख होना वेग है। 'स्वभावतः प्रवृत्तानां, प्रकृत्यैव स्वाशयच्युतानाम्' (डल्हण)। अर्थात् प्रकृति से ही अपने स्थान से च्युत होना वेग है।

महर्षि चरक ने अधारणीग तथा धारणीय दो प्रकार के वेगों का वर्णन किया है। अधारणीय वेगों का वर्णन विस्तार से इस अध्याय में किया गया है। धारणीय वेगों का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। महर्षि चरक ने धारणीय वेगों के विषय में कहा है—

'इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च। साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥
लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्। नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामाभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥
पुरुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च। वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम् ॥
देहप्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया। स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत्' ॥
(च० सू० ७।२६-२९)

वेगधारण निषेध

वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम्।
निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाश्रुच्छर्दिरेतसाम् ॥ ३ ॥

१. वात (अधोवात Flatus तथा ऊर्ध्ववात Eructation), २. विट् (पुरीष Defecation), ३. मूत्र (Micturition), ४. क्षव (छींक Sneezing), ५. तृट् (प्यास Thirst), ६. क्षुधा (भूख Hunger), ७. निद्रा (Sleep), ८. कास (खाँसी Cough), ९. श्रमश्वास (Breathing Caused by Over Exertion), १०. जृम्भा (जम्भाई Yawning), ११. अश्रु (आनन्दजं शोकजं वा नेत्रोदकम् Lachrymation), १२. छर्दि (वमन Vomiting) तथा १३. रेतस (शुक्र Semen) के वेगों (Natural Urges) को नहीं रोकना चाहिए।

महर्षि चरक ने वात (अपानवायु) तथा उद्गार (ऊर्ध्ववात) का अलग-अलग उल्लेख किया है, काय का उल्लेख नहीं किया है। कहा है—

'न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान् मूत्रपुरीषयोः । न रेतसो न वातस्य न च्छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः । न वाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च' ॥
(च० सू० ७।३-४)

महर्षि सुश्रुत ने कहा है कि इन वेगों को रोकने से तेरह प्रकार का उदावर्त होता है—

'अधश्चोर्ध्वं च भावानां प्रवृत्तानां स्वभावतः ।
न वेगान् धारयेत् प्राज्ञो वातादीनां जिजीविषुः ॥
वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः ।
व्याहन्यमानरुदितैरुदावर्तो निरुच्यते' ॥ (सु० उ० ५५।३-४)

अधोवात का वेग रोकने से हानि तथा उसकी चिकित्सा

अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्तरुक्क्लमाः ।
वातमूत्रशकृत्सङ्गदृष्ट्यग्निवधहृद्गदाः ॥ ४ ॥
स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च ।
पानानि वस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम् ॥ ५ ॥

अधोवात का वेग रोकने से गुल्म (Abdominal tumour due to gaseous distension of instestinal coil), उदावर्त (Group of diseases caused by retention of various natural urges), रुक् (कोष्ठशूल), क्लम (ग्लानि Exhaustion), मूत्र एवं शकृत (पुरीष) का संग (स्वाभाविक प्रवृत्ति-रोध Retention), दृष्टिवध (दृष्टिनाश), अग्निवध (अग्निमान्द्य) तथा हृदोग उत्पन्न होते हैं ।

इसकी चिकित्सा स्नेहन (Oleation), स्वेदन (Fomentation), फलवर्तियाँ (Suppositories), वातनाशक भोजन, उष्णोदक (गर्म जल) पान, वस्ति (Enema) कर्म एवं जिस किसी क्रिया से वायु का अनुलोमन हो, वह कार्य करना प्रशस्त है ।

'वातविण्मूत्रादीनामावर्तो भ्रमणं यस्मिन् रोगे सः उदावर्तः' (डल्हण) । 'उदावर्तः शकृदादीनामूर्ध्वगमनम्' अर्थात् पुरीष आदि का ऊर्ध्वगमन उदावर्त है ।

पुरीष का वेग रोकने से व्याधियाँ

शकृतः पिण्डिकोद्वेष्टप्रतिश्यायशिरोरुजः ।
ऊर्ध्ववायुः परीकर्तो हृदयस्योपरोधनम् ॥ ६ ॥
मुखेन विट्प्रवृत्तिश्च पूर्वोक्ताश्चामयाः स्मृताः ।

पुरीष का वेग रोकने से जंघा के पश्चिम भाग (पिण्डिलियों) में ऐंठन के समान पीड़ा (Cramps in the Calf Muscles), प्रतिश्याय (पीनस Catarrh), शिरोरुज (Headache), वायु की ऊर्ध्व प्रवृत्ति, परिकर्तन (उदर में काटने की-सी पीड़ा), हृदय का उपरोध (हृदयगति में अवरोध), मुखमार्ग से पुरीष की प्रवृत्ति तथा अधोवायु को रोकने वाली व्याधियाँ होती हैं ।

मूत्रोरोध

अङ्गभङ्गाश्मरीबस्तिमेढ्रवङ्क्षणवेदनाः ॥ ७ ॥
स्युर्मूत्ररोधात् पूर्वे च प्रायो रोगाः—

मूत्र का वेग रोकने से अङ्ग-भङ्ग (अङ्गों का स्फोटन-टूटना Malaise), अश्मरी (Stone), वस्ति (Urinary Bladder), मेढ्र (Penis), वंक्षण (Lower Abdomen) में वेदना तथा प्रायः पुरीष एवं अधोवात के वेग को रोकने से उत्पन्न होने वाले पूर्वोक्त रोग होते हैं ।

वेगरोध जन्य रोगों की चिकित्सा

—तदौषधम् ।
वर्त्यभ्यङ्गावगाहाश्च स्वेदनं बस्तिकर्म च ॥ ८ ॥
अन्नपानं च विड्भेदि विड्रोधोत्थेषु यक्ष्मसु ।

वर्ति (मलप्रवर्तनी तीक्ष्ण द्रव्यों की वर्ति Suppositories) को गुद में प्रवेश करें, अभ्यंग (Massage), अवगाहन (तैल आदि से पूर्ण द्रोणी में स्नान Tub bath), स्वेदन (Fomentation), वस्तिकर्म (मलद्वार से क्वाथ एवं तैल द्रव्यादि का प्रयोग) तथा मल-भेदक अन्नपान (Laxative) का प्रयोग पुरीषरोधजन्य रोगों में करना चाहिए ।

मूत्रवेगरोध जन्य रोगों की चिकित्सा

मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्ताच्छस्यते घृतम् ॥ ९ ॥
जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम् ।
अवपीडकमेतच्च संज्ञितं—

मूत्रवेगरोधजन्य रोगों में भोजन (भक्त) के पूर्व एवं भोजन के पच जाने पर उत्तम मात्रा (जो दिन-रात में पच सके) में घृतपान श्रेष्ठ है । इस प्रकार दिये घृत की 'अवपीडक' संज्ञा है ।

उद्गारवेगरोध जन्य रोग तथा उसकी चिकित्सा

—धारणात् पुनः ॥ १० ॥
उद्गारस्यारुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः ।
आध्मानकासहिध्माश्च हिध्मावत्तत्र भेषजम् ॥ ११ ॥

उद्गार (डकार) का वेग रोकने से अरुचि (भोजन में अनिच्छा Anorexia), कम्प (अङ्गों का काँपना Tremor), हृदय एवं वक्ष में जकड़ाहट, आध्मान (Flatulance), कास तथा हिक्का (Hiccough) होती है । इसमें हिक्का रोग के समान चिकित्सा करनी चाहिए ।

छींक का वेग रोकने से रोग एवं उसकी चिकित्सा

शिरोर्तीन्द्रियदौर्बल्यमन्यास्तम्भार्दितं क्षुतेः ।
तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राणनावनार्कविलोकनैः ॥ १२ ॥
प्रवर्तयेत् क्षुतिं सक्तां स्वेदाभ्यङ्गौ च शीलयेत् ।
योज्यं वातघ्नमन्नं च घृतं चोत्तरभक्तकम् ॥ १३ ॥

शिरोऽर्ति (शिरोवेदना Headache), इन्द्रियदौर्बल्य (चक्षुरादि इन्द्रियों की अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थता), मन्यास्तम्भ (Torticollis) तथा अर्दित (वायु से आधे मुख का वक्र हो जाना Facial Paralysis) हो जाता है । इसमें तीक्ष्ण धूमपान (Smoking), तीक्ष्ण अंजन, तीक्ष्ण नस्य (Nasal Drops) तथा सूर्य की ओर देखकर छींक को प्रवृत्त करना चाहिए । स्वेदन तथा अभ्यंग भी करना चाहिए । भोजन में वातघ्न अन्न तथा भोजन के पश्चात् घृत देना चाहिए ।

तृषा रोकने से व्याधि तथा उसकी चिकित्सा

शोषाङ्गसादवाधिर्यसम्मोहभ्रमहृद्गदाः ।
तृष्णाया निग्रहात् तत्र शीतः सर्वो विधिर्हितः ॥ १४ ॥

तृषा (प्यास) का वेग रोकने से शोष (मुखशोष Dryness of Mouth), अङ्गसाद (अनुत्साह), बाधिर्य (Deafness), सम्मोह (ज्ञानाभाव Fainting), भ्रम (चक्कर आना

Giddiness) तथा हृद्रोग होता है। इसमें सभी प्रकार के शीतल स्नान एवं अन्नपान आदि का प्रयोग करना चाहिए।

क्षुधा का वेग रोकने से व्याधि तथा उसकी चिकित्सा

अङ्गभङ्गारुचिग्लानिकार्श्यशूलभ्रमाः क्षुधः।
तत्र योज्यं लघु स्निग्धमुष्णमल्पं च भोजनम् ॥ १५ ॥

भूख को रोकने से अङ्गों का टूटना, अरुचि, ग्लानि (अप्रहर्ष), कार्श्य (कृशता Emaciation), शूल (वेदना) तथा भ्रम होता है। इसमें लघु (शीघ्रपाकी Light Food), स्निग्ध (Unctuous), उष्ण (Hot) तथा अल्प भोजन का प्रयोग करना चाहिए।

निद्रा का वेग रोकने से व्याधि तथा उसकी चिकित्सा

निद्राया मोहमूर्धाक्षिगौरवालस्यजृम्भिकाः।
अङ्गमर्दश्च तत्रेष्टः स्वप्नः संवाहनानि च ॥ १६ ॥

निद्रा का वेग रोकने से मोह (वैचित्य), मूर्धा (शिर Head) एवं नेत्रों में भारीपन, आलस्य (अनुत्साह), जम्भाई (Yawning) तथा अङ्गमर्द (अङ्गभङ्ग Malaise) होता है। इसमें शयन तथा संवाहन (स्वल्प मर्दन Masssage of the Body) इष्ट है।

कास का वेग रोकने से व्याधि तथा उसकी चिकित्सा

कासस्य रोधात् तद्वृद्धिः श्वासारुचिहृदामयाः।
शोषो हिध्मा च कार्योऽत्र कासहा सुतरां विधिः ॥ १७ ॥

कास का वेग रोकने से कास की वृद्धि, श्वास, अरुचि, हृद्रोग, शोष (राजयक्ष्मा Tuberculosis) तथा हिक्का होता है। इसमें कासघ्न उपचार अतिशय रूप में करना चाहिए।

श्रमजन्य श्वास के वेग को रोकने से उत्पन्न व्याधि तथा उसकी चिकित्सा

गुल्महृद्रोगसम्मोहाः श्रमश्वासाद्विधारितात्।
हितं विश्रमणं तत्र वातघ्नश्च क्रियाक्रमः ॥ १८ ॥

व्यायामादि श्रमजन्य श्वास के वेग को रोकने से गुल्मरोग, हृद्रोग तथा सम्मोह (Fainting) होता है। इसमें विश्राम (आराम करना) तथा वातनाशक उपचार हितकर (पथ्य) है।

जृम्भा-रोध से होने वाले रोग तथा उसकी चिकित्सा

जृम्भायाः क्षववद्रोगाः सर्वश्चानिलजिद्विधिः।

जम्भाई का वेग रोकने से छींक के वेग को रोकने के समान रोगों की उत्पत्ति होती है। इसमें वातनाशक सभी चिकित्सा करनी चाहिए।

अश्रु का वेग रोकने से होने वाले रोग तथा उसकी चिकित्सा

पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ्मन्यास्तम्भारुचिभ्रमाः ॥ १९ ॥
सगुल्मा बाष्पतस्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः।

अश्रु का वेग रोकने से पीनस (प्रतिश्याय–नासास्राव Catarrh), अक्षिरोग, शिरोरोग, हृद्रोग, मन्यास्तम्भ (Torticollis), अरुचि, भ्रम तथा गुल्म होता है। इसमें शयन, मद्यपान तथा प्रिय कहानियों का श्रवण करना चाहिए।

छर्दि का वेग रोकने से होने वाले रोग तथा उसकी चिकित्सा

विसर्पकोठकुष्ठाक्षिकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः ॥ २० ॥
सकासश्वासहृल्लासव्यङ्गश्वयथवो वमेः।

गण्डूषधूमानाहारं रूक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः ॥ २१ ॥
व्यायामः स्रुतिरस्रस्य शस्तं चात्र विरेचनम् ।
सक्षारलवणं तैलमभ्यङ्गार्थं च शस्यते ॥ २२ ॥

छर्दि का वेग रोकने से विसर्प रोग (Erysipelas), कोठ (रक्त वर्ण का कठिन मण्डल Urticaria), कुष्ठ रोग (Skin diseases), नेत्ररोग, पाण्डुरोग (Anaemia), ज्वर, कास, श्वास, हृल्लास (हृदय में व्यथा Nausea), व्यंग (श्यामल मण्डल Black Pigmentation of Face) तथा शोथ (Oedema) होता है। इसमें गण्डूष, धूम्रपान, अनाहार (उपवास), रूक्ष अन्न खाकर पुनः वमन करना, व्यायाम, रक्तस्रावण (Blood Leting) तथा विवेचन करना चाहिए और क्षार तथा लवण मिलाकर तैल से अभ्यंग करना चाहिए।

शुक्र का वेग रोकने से होने वाले रोग तथा उसकी चिकित्सा

शुक्रात् तत्स्रवणं गुह्यवेदनाश्वयथज्वराः ।
हृद्व्यथामूत्रसङ्गाङ्गभङ्गवृद्ध्यश्मषण्ढताः ॥ २३ ॥
ताम्रचूडसुराशालिबस्त्यभ्यङ्गावगाहनम् ।
वस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं भजेत् क्षीरं प्रियाः स्त्रियः ॥ २४ ॥
तत्र सेवेत —

शुक्र का वेग रोकने से शुक्रस्राव (Seminal Discharge), गुह्य वेदना (लिङ्ग तथा वृषण में वेदना), शोथ, ज्वर, हृदय में पीड़ा (Cardiac Pain), मूत्रसंग (मूत्र की अप्रवृत्ति Retention of Urine), अङ्गभङ्ग (Malaise), वृद्धि (मुष्कवृद्धि-अण्डवृद्धि Inguinoscrotal Swelling), अश्म (अश्मरी) तथा षण्ढता (स्त्री-गमन में असक्तता–नपुंसकता Impoteney) होती है। इसमें ताम्रचूड़ (कुक्कुट) का माँस, सुरापान, शालिचावल, वस्तिकर्म, अभ्यंग तथा अवगाहन प्रशस्त हैं। वस्ति (मूत्राशय) को शुद्ध करने वाले यवक्षार, कूष्माण्ड (*Benincasa hispida* Thunb) तथा गोक्षुर (*Tribulus terrestris* Linn) आदि औषधियों द्वारा सिद्ध किये हुए दुग्ध का सेवन तथा प्रिय स्त्रियों के साथ सहवास करना चाहिए।

वेगरोधी में चिकित्सा का निषेध

—सर्वं च वर्जयेद्वेगधारिणम् ।
विड्वामिनं परिक्लिष्टं क्षीणं तृट्शूलपीडितम् ॥ २५ ॥

वेग धारण करने वाले व्यक्ति को यदि वमन में पुरीष आता हो, परिक्लिष्ट (पीड़ित) हो, धातुएँ क्षीण हों, प्यास एवं शूल से पीड़ित हो, तो इन सबकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

रोगों का सामान्य निदान

रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः ।

सभी प्रकार के रोग वेगोदीरण (वेगों के बलात् प्रवर्तन) एवं वेगविधारण से होते हैं।

वेगोदीरण-धारण से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा

निर्दिष्टं साधनं तत्र भूयिष्ठं ये तु तान् प्रति ॥ २६ ॥
ततश्चानेकधा प्रायः पवनो यत् प्रकुप्यति ।
अन्नपानौषधं तस्य युञ्जीतातोऽनुलोमनम् ॥ २७ ॥

वेगोदीरण तथा वेगविधारण करने पर जो व्याधियाँ बहुलता से होती हैं, उनकी साधना (चिकित्सा) कही जा चुकी है। वेगोदीरण तथा वेगधारण द्वारा प्रायः अनेक प्रकार से वायु प्रकुपित होती है, इसलिए उस वायु का अन्नपान एवं औषध से अनुलोमन करना चाहिए।

(पायुमेहनमुष्केषु शूलं शोषो हृदि व्यथा।
तेषु तेषु विकारेषु यथास्वं च चिकित्सितम्[1] ॥)

वायु के कोप से पायु (गुदा), मेहन (मूत्रमार्ग) तथा मुष्क (वृषण) में शूल हो जाता है, शोष (क्षय) रोग तथा हृदय में पीड़ा होती है, अतः उन रोगों में उनकी अपनी चिकित्सा करनी चाहिए।

दोष-सञ्चय से रोगोत्पत्ति

[2]क्रमादपामपि मणौ पङ्कोऽवश्यं भवेत्यतः ॥ २८ ॥
उत्तिष्ठेत यथाकालं मलानां शोधनं प्रति।

जिस प्रकार निर्मल मणि में भी क्रमात् (कालान्तर) से मलिनता अवश्य हो जाती है, उसी प्रकार धीरे-धीरे शरीर में भी मलों का संचय हो जाता है, इसलिए मलों के शोधन में यथा-समय जागरूक रहना चाहिए।

संशोधन का महत्त्व

चयकाष्ठामुपारुह्य कुर्वते ते ह्युपेक्षिताः ॥ २९ ॥
प्रायशः सुचिरेणापि भेषजद्वेषिणो गदान्।
अतिस्थौल्याग्निसदनमेहकुष्ठहृतौजसः ॥ ३० ॥
स्रोतोरोधाक्षविभ्रंशश्वासश्वयथुपाण्डुताः।
आमोरुस्तम्भजठरकृच्छ्रालसकदण्डकान् ॥ ३१ ॥
(तृप्तिप्रमीलकालस्यग्रहण्यर्शोभगन्दरान्।
प्लीहविद्रधिवीसर्पमदसंन्यासपीनसान्[3] ॥ ३२ ॥)
छर्दिगण्डकृमिग्रन्थितन्द्रादुःस्वप्नदर्शनम्।
कण्ठामयान्मूर्धरुजं प्रणाशं बुद्धिनिद्रयोः ॥ ३३ ॥
तेजोवर्णबलानां च तृप्यतो बृंहणैरपि।
उचितैरपि चाहारैर्यस्मादस्य वहन्ति न ॥ ३४ ॥
दोषोपलिप्तवदना रसं रसवहाः शिराः।
वमनादीनतो युञ्ज्यात् स्वस्थस्यैव यथाविधि ॥ ३५ ॥
दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥ ३६ ॥[4]

मल के संचय की सीमा पर पहुँच कर भी जो लोग मलों की उपेक्षा करते हैं, वे मल उपेक्षित होकर प्रायः चिर काल के लिए भेषजद्वेषी रोगों को पैदा कर देते हैं। वे रोग हैं—अति-स्थौल्य (Obesity), अग्निसदन (मन्दाग्नि), कुष्ठ, मेह (प्रमेह), हृतौजस (सन्निपातज्वर

१. इन्दुकृत टीका-ग्रन्थ में यह श्लोक नहीं है।
२. 'क्रमादपङ्केऽपि' इति पाठान्तरम्।
३. इन्दुकृत टीका-ग्रन्थ में यह श्लोक नहीं है।
४. च० सू० १६।२०।

पर्याय), स्रोतोरोध, अक्षविभ्रंश (इन्द्रिय-विनाश), श्वासरोग, शोथरोग, पाण्डुरोग, आमवात (Rheumatism), उरुस्तभ, उदररोग, मूत्रकृच्छ्र (Dysurea), अलसक, दण्डक, तृप्ति (बिना खाये पेट में भारीपन), प्रमीलक[1] (चिपचिपापन), आलस्य, ग्रहणी रोग (A Syndrome of Indigestion and Malabsorption), अर्श (Piles), भगन्दर (Fistula in Ano), प्लीहारोग, विद्रधि (Abscess), विसर्प, मदरोग (Intoxication), संन्यास (Syncope), पीनस, छर्दि (वमन), गण्डमाला (Chronic Lymphadenitis), कृमिरोग (Intestinal Worms), ग्रंथिशोथ, तन्द्रा (जम्भाई Yawning), दुःस्वप्न का दर्शन (बुरे स्वप्न का दर्शन), कण्ठरोग (Diseases of the Throat and Larynx), शिरोरोग, बुद्धिनाश तथा निद्रानाश (Insomnia)। बृंहण द्रव्यों का सेवन करने पर भी रसवाही सिराएँ रसधातु का उचित रूप से वहन नहीं करती हैं, क्योंकि उनके मुख दोषों से उपलिप्त रहते हैं। इसलिए स्वस्थ अवस्था में यथाविधि वमनादि का प्रयोग करना चाहिए।

यद्यपि लंघन (Lightening Therapy) एवं पाचन (Drugs that Stimulate the Digestion) द्वारा जीते (शांत किये) गये वातादि दोष कदाचित् कुपित हो सकते हैं, परन्तु जो दोष वमनादि संशोधनों द्वारा शुद्ध (निष्कासित) कर दिये जाते हैं, उनका पुनः कभी उद्भव (उत्पत्ति) नहीं होता है।

रसायन तथा वृष्य योगों का प्रयोग

यथाक्रमं यथायोगमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत्।
रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित् ॥ ३७ ॥

संशोधन के पश्चात् क्रमानुसार तथा यथायोग्य सिद्ध (सफल) रसायन एवं वृष्य योगों का प्रयोग काल को समझने वाला वैद्य करे।

शोधनान्तर पथ्य

भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैर्बृंहणं क्रमात्।
शालिषष्टिकगोधूममुद्गमांसघृतादिभिः ॥ ३८ ॥
हृद्यदीपनभैषज्यसंयोगाद्रुचिपत्तिदैः ।
साभ्यङ्गोद्वर्तनस्नाननिरूहस्नेहबस्तिभिः ॥ ३९ ॥
तथा स लभते शर्म सर्वपावकपाटवम्।
धीवर्णेन्द्रियवैमल्यं वृषतां दैर्घ्यमायुषः ॥ ४० ॥

वमन आदि संशोधन के सेवन से शरीर में क्षपित (कृशता) हो जाने पर क्रम से (सहसा नहीं) बृंहण आहार (Nourishing Therapy) हितकर होता है।

पथ्य आहार—शालिधान्य, साठीधान्य, गेहूँ (*Triticum vulgare* Linn), मूँग (*Phaseolus mungo* Linn), मांस, घृत आदि। हृदय को शक्ति देने वाले तथा अग्नि को प्रदीप्त करने वाले आर्द्रक (*Zingiber officinale* Rose), पिप्पली (*Piper longum* Linn), मरिच (*Piper nigrum* Linn), दाड़िम (*Punica granatum* Linn) तथा सैंधव आदि औषधियों के संयोग (सम्पर्क) से रुचिप्रद तथा अग्निबलप्रद आहारों द्वारा बृंहण करे। इसके साथ अभ्यंग, उबटन, स्नान, निरूहण (आस्थापन—काष्ठ औषधियों के क्वाथ से निर्मित वस्ति), स्नेह (अनुवासन स्निग्ध द्रव्यों से निर्मित वस्ति) वस्तियों का भी प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार

---

१. 'प्रमीलकं स्तैमित्यम्' इतीन्दुः। प्रमीलक का शाब्दिक अर्थ नेत्रों का खुलना होता है।

पहले शोधन, इसके पश्चात् बृंहण, तत्पश्चात् रसायन का प्रयोग करने से संशोधन सेवी पुरुष शर्म (स्वास्थ्य) प्राप्त करता है। सर्वे पावकाः—जठराग्नि, भूताग्नियाँ तथा धात्वग्नियाँ शक्ति (पाचन-सामर्थ्य) प्राप्त करती है; धी, बुद्धि, वर्ण तथा इन्द्रियों की निर्मलता, वृषता (सम्भोग-क्षमता) एवं दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है।

आगन्तुज रोग का कारण

ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादिसम्भवाः।
कामक्रोधभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः॥ ४१॥

भूत (Evil Spirits), विष (Poison), वायु (Air), अग्नि (Fire), क्षत (शस्त्र-क्षत Injury) एवं भंग (स्खलन आदि से गात्रभंग Dislocation) आदि तथा काम, क्रोध, भय आदि मानसिक कारणों से उत्पन्न होने वाले सभी रोग आगन्तुज (Exogenous Diseases) हैं।

आगन्तुज रोगों की चिकित्सा

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।[1]
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्॥ ४२॥
अथर्वविहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम्।
भूताद्यस्पर्शनोपायो निर्दिष्टश्च पृथक् पृथक्॥ ४३॥
अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेषः प्रदर्शितः।
निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये॥ ४४॥

प्रज्ञापराध (निषिद्ध आचरण) का परित्याग, श्रोत्रादि इन्द्रियों का शब्दादि विषयों मे अतिप्रवृत्ति का संयमन (अलोलुपता), सदुपदेशों का स्मरण रखना, जांगल आदि देश, शीतादि काल एवं आत्मा (शरीर की वातादि प्रकृति तथा ब्रह्म स्वरूप) को समझना, सद्वृत्त (सदाचार) का अनुवर्तन (पालन), अथर्ववेदानुसार शांति का विधान, प्रतिकूल ग्रहों का पूजन तथा भूतविद्या में पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट वे उपाय करना, जिनसे भूतो (ग्रहों) का स्पर्श न हो।

निज रोगों (Endogenous Diseases) एवं आगन्तुज रोगों (Exogenous Diseases) को उत्पन्न न होने में तथा उत्पन्न रोगों की शांति के लिए संक्षेप में यह विधि (उपाय) बतलायी गयी है।

शोधन काल

शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले[2]।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु॥ ४५॥

शीतकाल (हेमन्त एवं शिशिर ऋतु) में संचित दोषों का निर्हरण वसन्त ऋतु में, ग्रीष्म में संचित दोषों का अभ्रकाल (वर्षा ऋतु) में तथा वार्षिक (वर्षा ऋतु) में संचित दोषों का घनात्यय (शरद् ऋतु) में शीघ्र सम्यक् प्रकार से निर्हरण करने से ऋतुजन्य रोग कभी नहीं होते हैं।

आरोग्यता के साधन

नित्यं हिताहारविहारसेवी समीक्षकारी विषयेष्वसक्तः[3]।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥ ४६॥

---

१. च० सू० ७।५३।
२. च० शा० २।४५।
३. च० शा० २।४६

सदैव हित आहार-विहार का सेवन करने वाला, हेय-उपादेय को जानकर शुभ कार्य करना तथा अशुभ का परित्याग करने वाला, विषयों में अलोलुप रहने वाला, दाता (त्यागी–दानशील), सम (सभी प्राणियों में रागद्वेषादि से रहित भाव रखने वाला), सत्यपर (सत्य बोलने वाला), क्षमावान् (क्षमाशील) तथा आप्त (शिष्टजनों) की उपसेवा (साथ–उपासना) करने वाला मनुष्य निरोग रहता है, अर्थात् रोगी नहीं होता है ।

अर्थेष्वलभ्येष्वकृतप्रयत्नं कृतादरं नित्यमुपायवत्सु ।
जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम् ॥ ४७ ॥

जो अलभ्य (अप्राप्य) अर्थों में प्रयत्नशील न हो, प्राप्त होने वाले विषयों के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता हो और जितेन्द्रिय हो, उसको रोग नहीं होते हैं; यदि उस समय दैव (पूर्वकृत कर्म) प्रतिकूल न हो ।

कालोऽनुकूलो विषया मनोज्ञा धर्म्याः क्रियाः कर्म सुखानुबन्धि ।
सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिर्भवन्ति धीरस्य सदा सुखाय ॥ ४८ ॥

इति रोगानुत्पादनीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

काल (हीन-अति-मिथ्यायोग वर्जित) अनुकूल हो, शब्दादि विषय प्रिय हो, धर्म-प्रधान क्रिया हो, इहलोक तथा परलोक में सुखदायक कर्म हो, मन आज्ञाकारी (नियन्त्रित) हो और बुद्धि विशद (निर्मल) हो, तो ये धैर्यवान् पुरुषों के लिए सुखदायक होता है ।

इस प्रकार 'रोगानुत्पादनीय' नामक पञ्चम अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

वेगावरोधजन्य विकार और उनकी चिकित्सा

वेगावरोध	लक्षण	चिकित्सा
१. अधोवात (Flatus)	गुल्म, उदावर्त, रुक्, क्लम, मूत्र एवं मल का संग, दृष्टिवध, अग्निवध तथा हृद्रोग ।	स्नेहन, स्वेदन, फलवर्तियाँ, वातनाशक भोजन, उष्णोदक पान, वस्तिकर्म तथा अनुलोमन कर्म ।
२. पुरीष (Defecation)	पिण्डिकोद्वेष्टन, प्रतिश्याय, शिरोरुज, वायु की उर्ध्वप्रवृत्ति, परिकर्त्तन, हृदय का उपरोध, मुख से विड् प्रवृत्ति तथा अधोवातावरोधजन्य व्याधियाँ ।	वर्ति, अभ्यंग, अवगाहन, स्वेदन, वस्तिकर्म तथा मलभेदक अन्नपान ।
३. मूत्र (Micturition)	अङ्गभङ्ग, अश्मरी, वस्ति-मेढ्र-वंक्षण में वेदना, पुरीष एवं अधोवातावरोधजन्य व्याधियाँ ।	अवगाहन, वर्ति, अभ्यंग, वस्तिकर्म, स्वेदन, भोजन के पूर्व एवं पच जाने पर उत्तम मात्रा में घृतपान ।

४. उद्गार (Eructation)	अरुचि, कम्प, हृदय एवं वक्ष में जकड़ाहट, आध्मान, कास तथा हिक्का।	हिक्का रोग का चिकित्सा क्रम।
५. छींक (Sneezing)	शिरोवेदना, इन्द्रिय-दौर्बल्य, मन्यास्तम्भ तथा अर्दित।	तीक्ष्ण धूमपान, तीक्ष्ण अजंन, तीक्ष्ण नस्य, सूर्य की ओर देखना, स्वेदन, अभ्यंग, वातघ्न अन्न तथा भोजन के पश्चात् घृतपान।
६. तृषा (Thirst)	शोष, अङ्गसाद, बाधिर्य, सम्मोह, भ्रम तथा हृद्रोग।	शीतल स्नान एवं अन्नपान।
७. क्षुधा (Hunger)	अङ्गभङ्ग, अरुचि, ग्लानि, कार्श्य, शूल तथा भ्रम।	लघु, स्निग्ध, उष्ण तथा अल्प भोजन।
८. निद्रा (Sleep)	मोह, मूर्धा एवं नेत्रों में भारीपन, आलस्य, जम्भाई तथा अङ्गमर्द।	शयन तथा संवाहन (स्वल्प मर्दन)।
९. कास (Cough)	कास की वृद्धि, श्वास, अरुचि, हृद्रोग, शोष तथा हिक्का।	कासघ्न उपचार।
१०. श्रमजन्यश्वास (Breathing)	गुल्मरोग, हृद्रोग तथा सम्मोह।	विश्राम तथा वातनाशक उपचार।
११. जृम्भा (Yawning)	छींक का वेग रोकने से होने वाले रोग।	वातनाशक चिकित्सा।
१२. अश्रु (Lachrymation)	पीनस, नासास्राव, अक्षिरोग, शिरोरोग, हृद्रोग, मन्यास्तम्भ, अरुचि, भ्रम तथा गुल्म।	शयन, मद्यपान तथा प्रिय कहानियों का श्रवण।
१३. छर्दि (Vomiting)	विसर्प रोग, कोठ, कुष्ठरोग, नेत्ररोग, पाण्डुरोग, ज्वर, कास, श्वास, हृल्लास, व्यंग तथा शोथ।	गण्डूष, धूमपान, अनाहार (उपवास), रूक्ष अन्न खाकर पुनः वमन करना, व्यायाम, रक्तस्रावण, विरेचन तथा क्षार-लवण मिलाकर तैल से अभ्यंग।
१४. शुक्र (Semen)	शुक्रस्राव, गुह्याङ्ग (लिङ्ग तथा वृषण) में वेदना, शोथ, ज्वर, हृदय में पीड़ा, मूत्रसंग, अङ्गभङ्ग, वृद्धि (मुष्कवृद्धि), अश्मरी तथा षण्ढता।	कुक्कुट मांस सेवन, सुरापान, शालिचावल, वस्तिकर्म, अभ्यंग, अवगाहन, यवक्षार, कूष्माण्ड एवं गोक्षुर से सिद्ध दुग्ध का सेवन तथा प्रिय स्त्रियों के साथ सहवास।

षष्ठोऽध्यायः

अथातो द्रवद्रव्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

पञ्चम अध्याय के पश्चात् 'द्रवद्रव्य-विज्ञानीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

द्रव शब्द द्रु धातु से अच् प्रत्यय लगकर बना है। द्रु का अर्थ गतिमान होता है। अतः जो पदार्थ गतिमान हो, उसे द्रव कहते हैं। जल, क्षीर, इक्षुरस, तैल तथा मद्यादि का हित-अहित रूप में रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना 'द्रवद्रव्य विज्ञान' कहा जाता है। इसके लिए जो हितकर अध्याय है, उस अध्याय का नाम 'द्रवद्रव्य-विज्ञानीय' है। द्रव स्वभावतः पाँच वर्गों में होता है, इसलिए उसके पाँच ही भेद हैं। उनके सम्बन्ध में स्वल्प वक्तव्य है, इसलिए 'द्रवद्रव्य विज्ञान' का पहले कहना उचित है। अन्न का भी प्रथम परिणाम अधिकांश द्रव रूप में होता है। अतः द्रव द्रव्यों का निर्देश सर्वप्रथम किया जा रहा है। जल का स्वाभाविक गुण होता है कि वह द्रव होता है, जल-प्रधान होता है; कहा गया है—'पानीयं प्राणीनां प्राणा विश्वमेतच्च तन्मयम्। अतोऽत्यन्तनिषेधेन न क्वचिद्वारि वर्ज्यते'। इसलिए द्रवों का और द्रवों में सर्वप्रथम जल का उपदेश किया गया है।

(१) जलवर्ग

जल के गुण

जीवनं तर्पणं हृद्यं ह्लादि बुद्धिप्रबोधनम्।
तन्वव्यक्तरसं मृष्टं शीतं[1] शुच्यमृतोपमम् ॥ ३ ॥
सूर्योद्धृतप्रमुक्तत्वाल्लघु वातकफापहम्।
शैत्यजीवनसौम्यत्वैः पित्तरक्तविषार्तिजित् ॥ ४ ॥
गङ्गाम्बु नभसो भ्रष्टं स्पृष्टं त्वर्केन्दुमारुतैः।
हिताहितत्वे तद्भूयो देशकालावपेक्षते ॥ ५ ॥

जल जीवन (प्राणधारक), तर्पण (तृप्तिकारक), हृद्य (हृदय के लिए हितकारी अथवा हृदय का प्रिय), ह्लादि (सुखकारक), बुद्धि-प्रबोधन (प्रज्ञाविकास कारक), तनु (स्वच्छ), अव्यक्तरस (मधुरादि अव्यक्त रसवाला), मृष्ट (जिह्वेन्द्रिय प्रिय), शीत (स्पर्श तथा वीर्य में शीत), शुचि (पवित्र), अमृत के समान, सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से ऊपर खींच (शोषित) कर पुनः नीचे गिरने से लघु (शीघ्रपाकी), वात-कफ नाशक, शीतल, जीवन तथा सौम्यत्व के कारण पित्त, रक्त एवं विष को विनष्ट करता है।

गंगाम्बु आकाश से गिरता हुआ सूर्य, चन्द्र एवं वायु से स्पर्श होकर देश एवं काल के अनुसार हित (पथ्य) एवं अहित (अपथ्य) होता है।

गाङ्ग एवं सामुद्र-जल के लक्षण

येनाभिवृष्टममलं शाल्यन्नं राजतस्थितम्।
अक्लिन्नमविवर्णं वा तत् पेयं गाङ्गमन्यथा ॥ ६ ॥

---

१. 'लघु' इति पाठान्तरम्।

सामुद्रं तन्न पातव्यं मासादाश्वयुजाद्विना ।

जिस जल से अभिवृष्ट (सिक्त–सिंचन) करने पर चाँदी के पात्र में स्थित शालिचावल अमल (निर्मल), अक्लिन्न (प्रक्लेद रहित) तथा अविवर्ण (विवर्ण रहित) हो, वह गांग जल है। इससे विपरीत लक्षणों वाला विवर्ण, मलिन तथा क्लिन्न सामुद्र जल होता है। आश्वयुज—आश्विन मास के बिना समुद्र का जल नहीं पीना चाहिए।

दिव्य उदक पान

खातधौतशिलापृष्ठवस्त्रादिभ्यः स्रुतं जलम् ॥ ७ ॥
हेममृन्मयपात्रस्थमविपन्नं सदा पिबेत् ।
तदभावे च भूमिष्ठमान्तरिक्षानुकारि यत् ॥ ८ ॥

खात (जल ग्रहण के लिए भू-कुण्डिका), धोये हुए शिलापृष्ठ, धोये हुए वस्त्र आदि से परिस्रुत (छाना हुआ-) जल तथा स्वर्ण या मिट्टी के पात्र में रखा हुआ अविपन्न (अविकृत) जल सदा पीना चाहिए। इस जल के अभाव में भूमि का पानी पीना चाहिए। यह गुणों में अन्तरिक्ष जल के समान होता है।

देश भेद से जल का गुण

श्वेते कषायं तत्स्वादु कृष्णे तिक्तं च पाण्डुरे ।
नीले कषायमधुरं देशे लवणमूषरे ॥ ९ ॥
सक्षारं कपिले मिश्रं मिश्रेऽथाम्बुगुणाधिके ।
मधुरं लवणाम्लं तु भवेद् भूमिगुणाधिके ॥ १० ॥
तेजोधिके तिक्तकटु कषायं पवनाधिके ।
दिव्यानुकारि त्वव्यक्तरसत्वात् खगुणाधिके ॥ ११ ॥
शुचिपृथ्वसितश्वेते देशे चार्कानिलाहतम् ।

श्वेत वर्ण की मिट्टी में स्थित जल कषाय रस, काली मिट्टी में मधुर रस, पाण्डुर (केतकी फूल के पराग का वर्ण), मिट्टी में तिक्त रस, नील देश में कषाय-मधुर रस, ऊषर (क्षार) मिट्टी में लवण रस, कपिल वर्ण की मिट्टी में क्षारत्व गुणयुक्त तथा मिश्र लक्षण युक्त भूमि में मिश्रगुण वाला जल होता है। जलमहाभूत की अधिकता वाले देश में जल मधुर रस, पृथिवीमहाभूत की अधिकता वाले देश में लवण-अम्ल रस, अग्निमहाभूत की अधिकता वाले देश में तिक्त-कटु रस, वायुमहाभूत की अधिकता वाले देश में कषाय रस वाला जल होता है। आकाशमहाभूत की अधिकता वाले देश में अव्यक्त रस वाला जल होने से गुण में अन्तरिक्ष जल के समान गुण वाला होता है। पवित्र, पृथु (विस्तीर्ण), काली एवं श्वेत मिट्टी में स्थित, सूर्य की किरणों तथा वायु से आहत (स्पृष्ट) जल भी दिव्य (अन्तरिक्ष) जल के समान होता है।

जल के आठ भेद

कौपसारसताटाकचौण्डयप्रास्रवणौद्भिदम् ॥ १२ ॥
वापीनदीतोयमिति तत् पुनः स्मृतमष्टधा ।

कौप्य (कुँए का जल), सारस (छोटा ताल–बड़ा तालाब), ताटाक (छोटा तालाब का जल), चौण्डय (पाषाण के नीचे स्थित जल), प्रास्रवण (पर्वत से गिरता हुआ जल–झरना आदि), औद्भिद् (साधारण भूमि में जल का निकलना), वापी (कूपवत् जिसमें जाने के लिए नीचे तक सीढ़ियाँ हों) का जल तथा नदी का जल—ये आठ प्रकार का जल है।

आठों प्रकार के जल के गुण

सक्षारं पित्तकृत्कौपं दीपनं नातिवातलम् ॥ १३ ॥
सारसं स्वादु लघु च ताटाकं[1] गुरु वातलम् ।
चौण्डयं तु पित्तलं दोषहरं प्रस्रवणोदकम् ॥ १४ ॥
औद्भिदं स्वादु पित्तघ्नं स्वादु वापीजलं लघु ।
नादेयं वातलं रूक्षं कटुकं च तथाऽऽदिशेत् ॥ १५ ॥
धन्वानूपमहीध्राणां सामीप्याद् गुरुलाघवम् ।

कूप का जल क्षारगुणयुक्त तथा पित्तकारक, सारस का जल अग्निदीपक, अल्पवातकारक, मधुर तथा लघु होता है । ताटाक (तालाब) का जल गुरु तथा वातकारक, चौण्ड्य का जल पित्तकारक, झरना का जल त्रिदोषहर, औद्भिद् जल मधुर एवं पित्तनाशक, वापी का जल मधुर एवं लघु तथा नदी का जल वातकारक, रूक्ष तथा कटु होता है । धन्वदेश (जांगल देश), आनूप देश या पर्वतीय प्रदेश के सामीप्य से कूप आदि के जल में गुरुता एवं लघुता समझनी चाहिए ।

नदियों के गुण

पश्चिमोदधिगाः शीघ्रवहा याश्चामलोदकाः ॥ १३ ॥
पथ्याः समासात्ता नद्यो विपरीतास्ततोऽन्यथा ।
उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः ॥ १७ ॥
हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्यास्ता एव च स्थिराः ।
कृमिश्लीपदहृत्कण्ठशिरोरोगान् प्रकुर्वते ॥ १८ ॥

जो नदियाँ पश्चिमी समुद्रों में गिरती हैं, शीघ्रता (वेग) से बहती हैं, जिनका जल निर्मल है, संक्षेपतः ये सब नदियाँ पथ्य (हितकारी) हैं । इसके विपरीत लक्षणों वाली नदियाँ अपथ्य हैं । हिमालय तथा मलयाचल पर्वत से निकलने वाली नदियों का जल पत्थरों से टकराता है, पत्थरों पर गिरता है एवं स्थान-स्थान पर छिन्न होता है, इस कारण से उस जल का मन्थन हो जाता है, इसलिए वह प्राणिमात्र के लिए पथ्य होता है और जो नदियाँ स्थिर हैं अर्थात् जिनकी गति मन्द है, उन नदियों का जल कृमि एवं श्लीपद आदि रोगों को उत्पन्न करता है ।

प्राच्यावन्त्यपरान्तोत्था दुर्नामानि महेन्द्रजाः ।
उदरश्लीपदातङ्कान् सह्यविन्ध्यभवाः पुनः ॥ १९ ॥
कुष्ठपाण्डुशिरोरोगान् दोषघ्न्यः पारियात्रजाः ।
बलपौरुषकारिण्यः सागराम्भस्त्रिदोषकृत् ॥ २० ॥

प्राच्य (पूर्वी प्रदेश–गौड़ प्रदेश बंगाल), अवन्ती (मालवा प्रदेश–उज्जैन) एवं अपरान्त (कोंकण प्रदेश) से उत्पन्न होने वाली नदियाँ दुर्नाम (अर्श) रोग को उत्पन्न करती हैं । महेन्द्र पर्वत से उत्पन्न होने वाली नदियाँ उदर रोग एवं श्लीपद रोग को उत्पन्न करती हैं । सह्य पर्वत एवं विन्ध्याचल से उत्पन्न होने वाली नदियाँ कुष्ठरोग, पाण्डुरोग एवं शिरोरोग को उत्पन्न करती हैं । पारियात्र पर्वत से निकलने वाली नदियाँ त्रिदोषनाशक, बल एवं पौरुष (वृषता) को बढ़ाने वाली होती हैं । समुद्र का जल त्रिदोषकारक होता है ।

---

१. 'ताडागं' इति पाठान्तरम् ।

आचार्य प्रियवत शर्मा ने 'वाग्भट-विवेचन' में प्राचीन जनपदों एवं पर्वतों का निम्नलिखित ढंग से परिचय दिया है—

(क) जनपद—

(१) प्राच्य—इनमें वंग, सुह्म और किरात मुख्य जनपद हैं, जिसमें वंग गंगा नदी के पूर्व और गंगा ब्रह्मपुत्र की घाटी का वंग प्रदेश था। सुह्म बंगाल का वह भाग था, जो गंगा के पश्चिम में पड़ता था और जिसमें ताम्रलिप्ति नामक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। किरात—ब्रह्मपुत्र का तराई प्रदेश है, जिसे आजकल नागा प्रदेश (लैण्ड) कहते हैं।

(२) अवन्ति—यह जनपद देश का प्रमुख केन्द्रस्थल था। उत्तरापथ और दक्षिणापथ के बीच में यह स्थित था, इसके दो भाग थे। एक उत्तरी और दूसरा दक्षिणी, जिनके बीच से वेगवती (वेतवा) नदी बहती थी। उत्तरी भाग उत्तर अवन्ति तथा दक्षिणी भाग अवन्ति दक्षिणापथ कहलाता था। उत्तरी भाग की राजधानी उज्जयिनी और दक्षिणी भाग की महिष्मती थी।

(३) अपरान्त—यह पश्चिम (अपर) की समुद्रतटीय सीमा पर (अन्त) था। इसमें बम्बई या महाराष्ट्र से काठियावाड़ गुजरात का प्रदेश सम्मिलित था। इसमें सुराष्ट्र, तापी तथा मरु जनपद आते हैं। सुराष्ट्र से आधुनिक काठियावाड़, मरु से राजस्थान तथा तापी से ताप्ती नदी का प्रदेश है, जिसमें सूरत जिला आता है।

(ख) पर्वत—

(१) हिमवान्—हिमालय नाम से प्रसिद्ध है। यह दिव्य औषधियों का स्थान बतलाया गया है। अनेकों वनस्पतियाँ यहाँ पर प्राप्त होती हैं।

(२) मलय—सह्याद्रि और कावेरी के दक्षिण-पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग इसे माना है। इसे त्रावनकोर की पहाड़ियाँ भी कहते हैं। मालावार की पहाड़ियाँ भी इसके ही भाग हैं। मलय भारत के कुल पर्वतों में एक माना गया है।

(३) महेन्द्र—उड़ीसा से मदुरा जिले तक के पहाड़ी विस्तार का नाम महेन्द्र पर्वत है। रघुवंश के अनुसार यह कलिंग में स्थित है।

(४) सह्य—यह विन्ध्यशृंखला में स्थित आज भी सह्याद्रि के नाम से विख्यात है। वस्तुतः यह मलय के उत्तर नीलगिरि तक के पश्चिमी घाटों का प्रसार है।

(५) विंध्याचल—विन्ध्यपर्वत मध्यप्रदेश की दक्षिणी सीमा और मध्यदेश तथा दक्षिणापथ के बीच की विभाजन रेखा है। आज विन्ध्यशृंखला में ऋक्ष (दक्षिणी भाग), परियात्र (पश्चिमी भाग) और विन्ध्य (पूर्वी भाग) तीनों सम्मिलित हैं।

(६) पारियात्र—बौधायनधर्मसूत्र में दक्षिणी सीमा पारियात्र द्वारा निर्धारित की गयी है। यह विन्ध्यपर्वत शृंखला का कोई भाग है। सम्भवतः अरावली पर्वत है।

दूषित जल एवं उसके संस्कार

कीटाहिमूत्रविट्कोथतृणजालोत्कटाविलम् ।
पङ्कपङ्कजशैवालहठपर्णादिसंस्तृतम् ॥ २१ ॥
सूर्येन्दुपवनादृष्टं जुष्टं च क्षुद्रजन्तुभिः ।
अभिवृष्टं विवर्णं च कलुषं स्थूलफेनिलम् ॥ २२ ॥
विरसं गन्धवत् तप्तं दन्तग्राह्यतिशैत्यतः ।
अनार्तवं च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत् ॥ २३ ॥

लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम् ।
तत्कुर्यात् स्नानपानाभ्यां तृष्णाऽऽध्मानोदरज्वरान् ॥ २४ ॥
कासाग्निसादाभिष्यन्दकण्डूगण्डादिकानतः ।
तद्वर्जयेदभावे वा तोयस्यान्यस्य शस्यते ॥ २५ ॥
घनवस्त्रपरिस्रावैः क्षुद्रजन्त्वभिरक्षणम् ।
व्यापन्नस्यास्य तपनमग्न्यर्कायसपिण्डकैः ॥ २६ ॥
पर्णीमूलविसग्रन्थिमुक्ताकतकशैवलैः ।
वस्त्रगोमेदकाभ्यां वा कारयेत् तत्प्रसादनम् ॥ २७ ॥
पाटलाकरवीरादिकुसुमैर्गन्धनाशनम् ।

कीट (कृमि) तथा अहि (सर्प) आदि के मूत्र-विट् (पुरीष), कोथ (मृत शरीर की सड़न), तृण समूह तथा उत्कट (कूड़ा-करकट) से मलिन जल, पङ्क (कीचड़), जलकमल (*Nelumbo nucifera* Gaertn), शैवाल (Allies sp.), हठ (जलकुम्भी) के पत्तों आदि से आच्छादित जल, सूर्य-चन्द्र की किरणों तथा वायु के स्पर्श से रहित जल, क्षुद्र जन्तुओं तथा मेढक-मछली आदि से जुष्ट (सेवित-युक्त) जल, अभिवृष्ट–तत्काल बरसा हुआ (अभिनव वृष्ट) जल, विवर्ण (विकृत वर्ण) जल, कलुष (मलिन) जल, स्थूलफेनिल (बृहत् झागयुक्त) जल, विरस (दुर्गन्धयुक्त) जल, गन्धवतः तप्तं—जिसमें गर्म करने पर गंध आती हो, दन्तग्राह्यतिशैव्यतः—अति शीतल होने से जो दाँतों के लिए अग्राह्य हो, अनार्तव (बिना ऋतु के बरसा जल), वर्षा काल में भी प्रथम वर्षा का जल एवं लूता (मकड़ी) आदि के तन्तु (जाल)-पुरीष-मूत्र-विष के सम्पर्क के कारण दूषित जल से स्नान तथा पान करने से तृषा, आध्मान, उदररोग, ज्वर, कास, अग्निमान्द्य, कण्डू, गलगण्ड आदि रोग हो सकते हैं, इसलिए ऐसे जल का परित्याग करना चाहिए अथवा अन्य (शुद्ध) जल के अभाव में क्षुद्र जन्तुओं से युक्त जल को घने (मोटे) वस्त्र से कई बार छानकर पीने योग्य या नहाने योग्य बना लें। व्यापन्न (विकृत–पैंछिल्यादि युक्त) जल को अग्नि से, सूर्य की धूप से अथवा तप्त अयस् (लोहे) के गोले को जल में डूबाकर तपा लेना चाहिए। पर्णीमूल (दाभ या दर्भ की जड़ *Imperata cylendrica*), बिसग्रन्थि (कमल मूल *Nelumbo nucifera*), मुक्ता (मोती), कतक (*Strychnus potatorum* Linn), शैवाल, वस्त्र (वस्त्र से छानकर) अथवा गोमेद के द्वारा जल का प्रसादन (निर्मलीकरण) करना चाहिए। पाटला (*Stereospermum suaveolens* DC.) एवं करवीर (*Nerium indicum* Mill) आदि के पुष्पों के द्वारा जल की दुर्गन्ध को नष्ट करना चाहिए।

उपर्युक्त प्रकार से छानने से ठोस अशुद्धियाँ (Solid suspended impurities) निकल जाती हैं, फिर जो अग्नि से या सूर्य आदि ऊष्मीय स्रोतों से जल को गर्म करने या उबालने का विधान है, इससे रोग फैलाने वाले जीवाणुओं का निस्संक्रमण (Sterilisation) होता है। आधुनिक समय में जीवाणुओं का निस्संक्रमण अन्य आधुनिक उपायों, यथा—क्लोरीनीकरण द्वारा, ओजोनीकरण द्वारा, अल्ट्रावायलेट किरणों द्वारा तथा वायुवातन द्वारा (By Aeration) भी बृहत् स्तर पर किया जाता है।

इसके अतिरिक्त पानी को मृदु जल एवं कठोर जल के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है। मृदु जल वह है, जो साबुन के साथ जल्दी से झाग देता है और यही हमारे नित्य प्रति कार्यों, यथा—स्नान, पान, वस्त्र-प्रक्षालन आदि में प्रयुक्त होता है। तद्विपरीत लक्षणों वाला जल कठोर जल कहलाता है। जल की यह कठोरता भी दो प्रकार की होती है—

(१) अस्थाई कठोरता (Temporary Hardness)—यह कठोरता कैल्सियम और मैग्नीशियम के बाईकार्बोनेट्स के जल में रहने के कारण होती है। इसे जल को उबालने से या सोडियम कार्बोनेट मिलाने से अथवा क्लार्क्स विधि (Clark's Process) द्वारा दूर कर सकते हैं।

(२) स्थाई कठोरता (Permanent Hardness)—इसे मात्र पानी को उबाल कर दूर नहीं किया जा सकता है। यह पानी में मैग्नीशियम और कैल्सियम के क्लोराइड और सल्फेट घुले रहने के कारण होता है। इसे सोडियम कार्बोनेट के मिलाने से या परम्यूटिट विधि (Permutit Process) द्वारा कैलगन विधि से दूर किया जा सकता है।

जल-सेवन विधि का निषेध

पानीयं न तु पानीयं पानीयेऽन्यप्रदेशजे ॥ २८ ॥
अजीर्णे क्वथितं चामे पक्वे जीर्णेऽपि नेतरत्।
शीते विधिरयं तप्ते त्वजीर्णे शिशिरं त्यजेत् ॥ २९ ॥

दूसरे प्रदेश का जल पीने पर उसके अजीर्ण रहने पर विजातीय प्रदेश का जल नहीं पीना चाहिए। अर्थात् कुँए का जल पीने पर जब तक वह जीर्ण (पच) न हो जाय, तब तक तालाब का जल नहीं पीना चाहिए। आम (अपक्व–कच्चा) जल के अजीर्ण रहने पर क्वथित (पक्व) जल नहीं पीना चाहिए। पक्व (पकाया हुआ) जल जीर्ण हो जाने (पच जाने) पर भी इतर (आम) जल नहीं पीना चाहिए। इन्दु ने कहा है कि इसमें सजातीय जल भी बिना भोजन किये नहीं पीना चाहिए। तप्त जल के पीने के पश्चात् जब तक वह जीर्ण न हो जाय, तब तक ठण्डा जल नहीं पीना चाहिए।

जल की आवश्यकता

पानीयं प्राणिनां प्राणा विश्वमेव च तन्मयम्।
अतोऽत्यन्तनिषेधेऽपि न क्वचिद्वारि वार्यते ॥ ३० ॥
आस्यशोषाङ्गसादाद्या मृत्युर्वा तदलाभतः।
न हि तोयाद्विना वृत्तिः स्वस्थस्य व्याधितस्य च ॥ ३१ ॥

जल प्राणियों (जीवों) का प्राण (जीवन) है और स्थावर-जंगम जगत् ही जलमय है, इसलिए जल का अत्यन्त (पूर्ण) प्रतिषेध करने पर भी कहीं जलपान का निषेध नहीं किया जाता। जल की प्राप्ति न होने पर आस्यशोष (मुख का सूखना), अङ्गसाद (शिथिलता) अथवा मृत्यु हो जाती है और जल के बिना स्वस्थ तथा रोगी का जीवन-यापन नहीं होता है।

सेवन योग्य जल का प्रकार

केवलं सौषधं पक्वमाममुष्णं हितं च तत्।
समीक्ष्य मात्रया युक्तममृतं विषमन्यथा ॥ ३२ ॥

अवस्था विशेष से केवल जल, औषध के साथ जल या पक्व (क्वथित) जल, आम (शीत) जल तथा उष्ण (गर्म) जल हितकारी होता है। इस जल का सोच-विचार कर मात्रा-पूर्वक प्रयोग अमृत के समान होता है और अनुपयुक्त मात्रा में सेवन विष के समान होता है।

अधिक मात्रा में जल सेवन से होने वाली व्याधियाँ

अतियोगेन सलिलं तृष्यतोऽपि प्रयोजितम्।
प्रयाति पित्तश्लेष्मत्वं ज्वरितस्य विशेषतः ॥ ३३ ॥

वर्धयत्यामतृण्निद्रातन्द्राऽऽध्मानाङ्गगौरवम् ।
कासाग्निसादहृल्लासप्रसेकश्वासपीनसान् ॥ ३४ ॥

प्यास लगने पर भी अधिक मात्रा में जल का प्रयोग करने से वह जल पित्त एवं कफ रोग को उत्पन्न करता है । विशेषतः ज्वर पीड़ित शरीर में यह आमदोष, तृषा, निद्रा, तन्द्रा, आध्मान, अंगों का भारीपन, कास, मन्दाग्नि, हृल्लास (मिचली), प्रसेक (लालास्राव), श्वास तथा पीनस (प्रतिश्याय) को बढ़ा देता है ।

उष्ण जल के गुण

पाके स्वादु हिमं वीर्ये तदुष्णमपि योज़ितम् ।
तस्मादयोगपानेन लाघवान्न वियोजयेत् ॥ ३५ ॥

उष्ण जल भी मधुर विपाक एवं शीतवीर्य होता है । इसीलिए अयोग (कम–थोड़ा) पीने पर यह लघुत्व गुण से वियुक्त नहीं होता ।

कोष्ण (ईषदुष्ण) जल

आमविष्टब्धयोः कोष्णं निष्पिपासोऽप्यपः पिबेत् ।
यावत्यः क्लेदयन्त्यन्नमतिक्लेदोऽग्ननाशनः ॥ ३६ ॥
विबद्धः कफवाताभ्यां मुक्तामाशयबन्धनः ।
पच्यते क्षिप्रमाहारः कोष्णतोयद्रवीकृतः ॥ ३७ ॥

आमाजीर्ण तथा विष्टब्धाजीर्ण (वाताजीर्ण) में प्यास न होने पर भी सुखोष्ण जल पीते रहना चाहिए । जितना जल अन्न का क्लेदन कर सकने में समर्थ हो, उतना ही जल पीना चाहिए । अधिक जल पीने से तथा अतिक्लेदन होने से अग्निनाश (मन्दाग्नि) हो जाता है । कफ एवं वायु से उदर में रुका हुआ अपच्यमान अन्न उष्ण जल से द्रवीभूत होकर आमाशय के बंधन (रुकावट) से मुक्त होकर शीघ्र पच जाता है ।

जलपान निषेध की परिस्थितियाँ

अनवस्थितदोषाग्नेर्व्याधिक्षीणबलस्य च ।
नाल्पमप्यामुदकं हितं तद्धि त्रिदोषकृत् ॥ ३८ ॥
तेजसः प्रतिपक्षत्वान्मन्दाग्निर्वर्जयेज्जलम् ।
सर्वमेव तथा स्यन्दप्लीहविद्रधिगुल्मिनः ॥ ३९ ॥
पाण्डूदरातिसारार्शोग्रहणीशोषशोफिनः ।
काममल्पमशक्तौ तु पेयमौषधसंस्कृतम् ॥ ४० ॥
ऋते शरन्निदाघाभ्यां पिबेत्स्वस्थोऽपि चाल्पशः ।

जिसके वातादि दोष एवं अग्नि अनवस्थित (विषम) हों और जिसका बल रोगों के कारण क्षीण हो, उस मनुष्य के लिए आम (कच्चा) जल अल्प मात्रा में भी हितकर (पथ्य) नहीं होता है, अपितु वह त्रिदोषकारक होता है । जल अग्नि का प्रतिपक्षी होने के कारण मन्दाग्नि में कच्चा जल नहीं पीना चाहिए । अभिष्यन्द, प्लीहारोग, विद्रधि(फोड़ा), गुल्मरोग, पाण्डुरोग, उदररोग, अतिसार, अर्शरोग, ग्रहणी, शोष तथा शोफ से पीड़ित रोगी को कच्चे एवं पक्व सभी प्रकार के जल वर्जनीय हैं, किन्तु जल के बिना प्राणधारण में असमर्थता हो, तो रोग योग्य औषधियों से संस्कृत (संस्कार) करके थोड़ा जल पीना चाहिए । स्वस्थ मनुष्य को भी शरद् एवं ग्रीष्म ऋतुओं को छोड़कर अल्प मात्रा में (थोड़ा) जल पीना चाहिए ।

जलपान काल

भक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशाङ्गताम् ॥ ४१ ॥
अन्ते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वं चामाशयात् कफम् ।
मध्ये मध्याङ्गतां साम्यं धातूनां जरणं सुखम् ॥ ४२ ॥

भोजन काल में अन्न खाने से पूर्व जल पीने से अग्निमान्द्य तथा शरीर में कृशता उत्पन्न होती है। पूरा भोजन करके अन्त में जल पीने से शरीर में स्थूलता तथा आमाशय के ऊपर कफ की वृद्धि होती है। भोजन के मध्य में जल पीने से अङ्गों में समता तथा धातुओं की समता होती है तथा यह अन्न को सुखपूर्वक पचाता है।

शीतल जल का गुण

शीतं मदात्ययग्लानिमूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान् ।
तृष्णोष्मदाहपित्तासृग्विषाण्यम्बु निहन्ति तत् ॥ ४३ ॥

शीतल जल मदात्यय (मद्योत्थ व्याधि), ग्लानि (क्लान्ति), मूर्च्छा (मोह), छर्दि (वमन), श्रम (स्वेद), भ्रम (भ्रान्ति), तृष्णा, उष्णदाह (उष्ण आहार-विहार आदि से उत्पन्न दाह), पित्तास्र (रक्तपित्त) तथा विषविकार (स्थावर-जंगम) को नष्ट करता है।

उष्ण जल का गुण

क्षीणपादत्रिभागार्धं देशर्तुगुरुलाघवात् ।
क्वथितं फेनरहितमवेगममलं हितम् ॥ ४४ ॥
हिध्माऽऽध्मानानिलश्लेष्मतृट्कासश्वासपीनसे ।
पार्श्वशूलाममेदःसु सद्यःशुद्धौ नवज्वरे ॥ ४५ ॥
दीपनं पाचनं कण्ठ्यं लघु वस्तिविशोधनम् ।

देश, ऋतु, गुरु (चिरपाकी) और लघु (शीघ्रपाकी) का विचार करके क्षीणपाद (क्षीण चतुर्भाग—चार भाग जल का तीन भाग शेष), क्षीण त्रिभाग (चार भाग जल का एक भाग शेष) तथा क्षीणार्ध (आधा भाग शेष) करके गरम किया झाग-रहित, वेग-रहित तथा निर्मल जल पथ्य-कारक होता है। यह जल हिक्का, आध्मान, वायु, श्लेष्मा, तृषा, कास, श्वास, पीनस, पार्श्वशूल, आमदोष, मेदोरोग, तत्काल किये गये संशोधनकर्म एवं नव ज्वर में उपयोगी है तथा दीपन, पाचन, कण्ठ्य (कण्ठ के लिए पथ्यकारक), लघु और वस्तिशोधक है।

विशिष्ट जल के गुण

पाषाणरूप्यमृद्धेमजतुतापार्कतापितम् ॥ ४६ ॥
पानीयमुष्णं शीतं वा त्रिदोषघ्नं तृर्दतिजित् ।
लघ्वरूक्षं क्लमघ्नं च तोयं क्वथितशीतलम् ॥ ४७ ॥
संसर्गे पित्तकफयोः सन्निपाते च शस्यते ।
तोयं वह्निगुणभ्रष्टं पाकेऽम्लं सर्वदोषकृत् ॥ ४८ ॥
भवेत्पर्युषितं तच्च—

अग्नि में तप्त किये गये पाषाण, रूप्य (चाँदी), मिट्टी के ढेले, हेम (स्वर्ण), जतु (लाख) को जल में डालकर या सूर्य की किरणों से तपाया गया जल अथवा शीतल करके पिया जल त्रिदोषघ्न एवं तृष्णानाशक होता है। गरम करके शीतल किया जल लघु (शीघ्रपाकी),

रूक्षतारहित तथा क्लमनाशक होता है और पित्त के साथ कफ का संसर्ग होने पर तथा सन्निपात में पथ्य होता है। क्वथित शीतल (गरम करके शीतल किया) जल दिन-रात व्यतीत हो जाने से अग्नि के दीपन-पाचन गुण के नष्ट हो जाने के कारण विपाक में अम्ल तथा सर्वदोषकारक हो जाता है।

—तोयं हिमकरोद्भवम्।
अतिशैत्यगुरुस्थैर्यसङ्घातैः कफवातकृत् ॥ ४९ ॥
चन्द्रकान्तभवं रक्षोविषपित्तज्वरापहम्।
दृष्टिमेधावपुःस्थैर्यकरं स्वादु हिमं लघु ॥ ५० ॥
नारिकेलोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु।
तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥ ५१ ॥

हिमकरोद्भव (बर्फ या ओले से उत्पन्न) जल अतिशीतल, गुरु, स्थिर तथा संघात (संग्रथित Condensed) होने से कफ-वात को उत्पन्न करने वाला होता है। चन्द्रकांतमणि से उत्पन्न जल रक्षोघ्न, विषविकार-नाशक, पित्तविकार-नाशक, ज्वरनाशक, दृष्टिवर्धक, मेधावर्धक, शरीर को दृढ़ करने वाला, मधुर, शीतल तथा लघु होता है। नारिकेलोदक (नारियल का जल) स्निग्ध, मधुर, वृष्य (शुक्रवृद्धिकर), शीतल, लघु, पिपासानाशक, पित्तघ्न, वातघ्न, दीपन तथा वस्तिशोधक (मूत्राधार को शुद्ध करने वाला) होता है।

उपसंहार

दिव्यं वारि वरं वर्षे नादेयमवरं परम्।

इति तोयवर्गः।

वर्षाकाल में अन्तरिक्ष का जल अत्यत पथ्य तथा नदी का जल अपथ्य होता है।

(२) क्षीरवर्ग

गव्यं माहिषमाजं च कारभं स्त्रैणमाविकम् ॥ ५२ ॥
ऐभमैकशफं चेति क्षीरमष्टविधं स्मृतम्।[1]
स्वादुपाकरसं स्निग्धमोजस्य धातुवर्धनम् ॥ ५३ ॥
वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम्।
प्रायः पयः—

१. गव्य (गाय *Bos indicus*), २. महिष (भैंस *Bos bubalus*), ३. अज (बकरी *Capra sibica*), ४. कारभ (ऊँटनी *Camelus dromediarius*), ५. स्त्री (*Homo sapiens*), ६. आविक (भेड़ *Ovis vignei*), ७. ऐभ (हथिनी *Elephas indica*) ८. ऐकशफ (अविभाजित नख—एक खुर वाली—गधी-घोड़ी *Equus* sp.)—इस प्रकार आठ प्रकार का दूध माना जाता है।

प्रायः सभी प्रकार के दूध मधुर रस, मधुर विपाक, स्निग्ध, ओजवृद्धिकर, धातुवृद्धिकर, वातपित्तघ्न, वृष्य (शुक्रवृद्धिकर), श्लेष्मकारक, गुरु तथा शीतल होते हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी दुग्ध को सन्तुलित आहार का एक प्रमुख अंग माना गया है। शाकाहारी मनुष्यों में क्षीर या क्षीरविकार (दूध से बने विभिन्न पदार्थ) ही प्रथम श्रेणी के प्रोटीन के स्रोत हैं। दूध 'कैल्सियम' नामक खनिज का भी उत्तम स्रोत है। दूध में प्रोटीन

१. उपर्युक्त श्लोक इन्दुकृत टीका-ग्रन्थ में नहीं है।

(लगभग ३.५%), कार्बोहाइड्रेट (लैक्टोज ४–५%), वसा (इमल्सीफाइड ग्लिसराइड्स के रूप में ३–४%), सभी विटामिन (मात्र विटामिन 'ई' को छोड़कर), खनिजों में कैल्सियम, पोटैशियम, सोडियम के क्लोराइड्स फॉस्फेट्स एवं विभिन्न एञ्जाइम्स तथा प्रोटियोलिटिक एञ्जाइम (Proteolytic Enzyme) तथा लाइपोलिटिक एञ्जाइम (Lipolytic Enzyme) आदि पाये जाते हैं। दूध में जलीय अंश लगभग ८५% होता है।

गाय के दुग्ध का गुण

—अत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् ॥ ५४ ॥
क्षतक्षीणहितं मेध्यं वर्ण्यं स्तन्यकरं सरम्।
श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः ॥ ५५ ॥
जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत्।

गाय (*Bos indicus*) का दूध विशेष रूप से जीवनीय (प्राणधारण के लिए उपयोगी), रसायन (वयःस्थापन), क्षत (उरःक्षत) तथा क्षीण (क्षयरोगी) के लिए हितकर, मेध्य (बुद्धि के लिए हितकर), वर्ण्य (कान्तिकारक), स्तन्यकर (स्त्रियों का दुग्ध बढ़ाने वाला) तथा सर (शरीर में एक स्थान पर न रहने वाला) होता है। श्रम, भ्रम, मद, अलक्ष्मी (दारिद्र्य), श्वास, कास, प्यास एवं भूख की अधिकता, जीर्णज्वर, मूत्रकृच्छ्र तथा रक्तपित्त को नष्ट करता है।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार भी इसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है।

भैंस के दुग्ध का गुण

हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिषं हिमम् ॥ ५६ ॥

भैंस (*Bos bubalus*) का दुग्ध तीक्ष्णाग्नि तथा अनिद्रा (नष्ट निद्रा) के लिए पथ्य है। यह गाय के दूध से गुरु तथा शीतवीर्य है।

बकरी के दुग्ध का गुण

अल्पाम्बुपानव्यायामकटुतिक्ताशनैर्लघु ।
आजं शोषज्वरश्वासरक्तपित्तातिसारजित् ॥ ५७ ॥

थोड़ा जल पीने, कूदने-फाँदने आदि व्यायाम करने तथा कटु-तिक्त रस वाले पदार्थों का सेवन करने से बकरी (*Capra sibica*) का दूध लघु होता है तथा शोष (राजयक्ष्मा), ज्वर, श्वास, रक्तपित्त तथा अतिसार को नष्ट करता है।

ऊँटनी के दुग्ध का गुण

ईषद्रूक्षोष्णलवणमौष्ट्रकं दीपनं लघु।
शस्तं वातकफानाहकृमिशोफोदरार्शसाम् ॥ ५८ ॥

ऊँटनी (*Camelus dromediarius*) का दूध कुछ रूक्ष, कुछ उष्ण, कुछ लवण रस युक्त, अग्निदीपक तथा लघु होता है। वातरोग, कफरोग, आनाह, कृमिरोग, शोफ, उदररोग तथा अर्शरोग में पथ्य है।

स्त्री के दुग्ध का गुण

मानुषं वातपित्तासृगभिघाताक्षिरोगजित्।
तर्पणाश्चोतनैर्नस्यैः—

स्त्री (*Homo sapiens*) का दुग्ध वात, पित्त, रक्त तथा अभिघात से उत्पन्न नेत्ररोगों को तर्पण (नेत्रपूरण), आश्चोतन (नेत्रसिंचन) एवं नस्य के द्वारा नष्ट करता है।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार भी मानव दुग्ध शुद्ध, साफ और जीवाणुओं से रहित होता है। इसमें प्रोटीन की मात्रा गाय के दूध की अपेक्षा कम परन्तु कार्बोहाइड्रेट (Lactose Sugar) की मात्रा अधिक होती है, जो कैल्सियम के अवशोषण (Absorption) में सहायक होती है।

ईस्ट्रिन नामक हार्मोन दुग्धोत्पादन हेतु स्तनों को पुष्ट करता है एवं पिट्यूटरी ग्रन्थि का एक हार्मोन प्रोलेक्टिन या लैक्टोजोनिक हार्मोन या ल्यूटियोट्रॉपिक हार्मोन दुग्धस्राव हेतु स्तन-ग्रन्थियों को प्रेरित करता है।

गाय, भैंस, बकरी और स्त्री के दुग्ध में विभिन्न संघटकों की मात्रा : प्रति १०० ग्राम में

दुग्ध	जल ग्राम	प्रोटीन ग्राम	वसा ग्राम	थाइमीन मिलीग्राम	लैक्टोज ग्राम	कैलोरीज
गाय	८७.५	३.२	४.१	०.०३	४.४	६७
भैंस	८१.०	४.३	८.८	०.०४	५.१	११७
बकरी	८६.८	३.३	४.५	०.०५	४.६	७२
स्त्री	८८.०	१.१	३.४	०.०२	७.४	६५

भेंड़ के दुग्ध का गुण

—अहृद्यं तूष्णमाविकम् ॥ ५९ ॥

वातव्याधिहरं हिध्माश्वासपित्तकफप्रदम्।

भेंड़ (*Ovis vignei*) का दुग्ध अहृद्य (हृदय के लिए अहित) तथा उष्णवीर्य होता है। यह वातव्याधिविनाशक, हिक्का, श्वास, पित्तरोग तथा कफ रोगों का उत्पादक है।

हथिनी के दुग्ध का गुण

हस्तिन्याः स्थैर्यकृद् बाढम्—

हथिनी (*Elephas indica*) का दूध अतिशय स्थिरता करने वाला होता है।

घोड़ी एवं गधी के दूध का गुण

—उष्णं त्वैकशफं लघु ॥ ६० ॥

शाखावातहरं साम्ललवणं जडताकरम्।

एक नख वाले (घोड़ी एवं गधी *Equus* sp.) का दुग्ध उष्णवीर्य, लघु, शाखा (बाह्य रोगमार्ग रक्तादि धातुएँ तथा त्वक्) स्थित वात का विनाशक, किञ्चित् अम्ल तथा किञ्चित् लवण रस वाला जडताकर (बुद्धिहीन करने वाला) होता है।

अपक्व तथा पक्व दुग्ध के गुण

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं युक्त्या श्रृतमतोऽन्यथा ॥ ६१ ॥
विना तु वनितास्तन्यमाममेव तु तद्धितम्।[1]
भवेद् गरीयोऽतिश्रृतं धारोष्णममृतोपमम् ॥ ६२ ॥

कच्चा दूध अभिष्यन्दी (श्लेष्मप्रकोपक होने से स्रोतःस्रावि) तथा गुरु होता है और युक्ति पूर्वक गर्म किया (दुग्ध) इसके विपरीत नाभिष्यन्दि तथा लघु होता है। स्त्री का दुग्ध कच्चा ही हितकर होता है। अतिश्रृत (अतिशय क्वथित) दुग्ध गुरुतर होता है और धारोष्ण दुग्ध अमृत के समान होता है।

१. यह पंक्ति इन्दुकृत टीका-ग्रन्थ में नहीं है।

दुग्ध पर आहार, विहार एवं प्रकृति आदि का प्रभाव

पिण्याकाम्लाशिनीनां तु गुर्वभिष्यन्दि तद्भृशम् ।
अचेष्टया च प्रादोषाद् गरीयः स्मृतमौषसम् ॥ ६३ ॥
व्याख्यातस्तेन लघिमा चेष्टावत् प्रकृतिष्वपि ।
ह्रस्वेषु चातिदेहेभ्यो मांसेष्वप्येवमादिशेत् ॥ ६४ ॥

पिण्याक (तिलादि की खली) तथा अम्ल रस वाले पदार्थों को खाने वाले दुधारु पशुओं का दुग्ध गुरु तथा अभिष्यन्दी होता है। प्रदोष (अपराह्ण-सायंकाल) के दुग्ध की अपेक्षा रात्रि में चेष्टा (चलना-फिरना) न होने से औषस् (प्रातःकालीन) दुग्ध प्रदोष (सायंकाल) के दुग्ध की अपेक्षा गुरु होता है। चेष्टाशील स्वभाव वाले प्राणियों का दुग्ध लघु होता है। भारी शरीर वालों की अपेक्षा छोटे शरीर वाले प्राणियों का दुग्ध लघु होता है। इसी प्रकार प्राणियों के मांस के विषय में भी गुरु-लघु का विचार करना चाहिए।

दधि के गुण

अम्लपाकरसं ग्राहि गुरूष्णं दधि वातजित् ।
मेदःशुक्रबलश्लेष्मरक्तपित्ताग्निशोफकृत् ॥ ६५ ॥
रोचिष्णु शस्तमरुचौ शीतके विषमज्वरे ।
पीनसे मूत्रकृच्छ्रे च रूक्षं तु ग्रहणीगदे ॥ ६६ ॥
नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न ।
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं तन्नाघृतसितोपलम् ॥ ६७ ॥
न चानामलकं नापि नित्यं नो मन्दमन्यथा ।
ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डुभ्रमप्रदम् ॥ ६८ ॥

दधि विपाक तथा रस में अम्ल, ग्राही (स्तम्भन–पुरीष आदि को पिण्डीकृत करता है), गुरु, उष्णवीर्य होने से वातनाशक, मेद, शुक्र, बल, श्लेष्मा, रक्तपित्त, अग्नि तथा शोफ को उत्पन्न करने वाला होता है। रोचिष्णु (रुचिकारक), अरुचि, शीतपूर्वक विषमज्वर, पीनस (नासास्राव) तथा मूत्रकृच्छ्र में पथ्य है। ग्रहणीरोग में रूक्ष (मलाई निकाली) दधि पथ्य है।

दही का निषेध—रात्रि में दधि न खाये, बहुत गरम करके दधि न खाये, वसन्त ऋतु, ग्रीष्म ऋतु तथा शरद् ऋतु में दधि नहीं खाना चाहिए। मूँग (*Plaseolus mungo*) की दाल, क्षौद्र (मधु), घृत, सितोपला (शर्करा) तथा आँवला (*Emblica officinalis* Gaertn) के बिना दधि नहीं खाना चाहिए, प्रतिदिन दधि नहीं खाना चाहिए। मन्द (सम्यक् प्रकार से न जमी हुई) दधि नहीं खाना चाहिए। अन्यथा ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डु तथा भ्रमरोग उत्पन्न हो जाते हैं।

तक्र के गुण

तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजित् ।
शोफोदरार्शोग्रहणीदोषमूत्रग्रहारुचीः ॥ ६९ ॥
गुल्मप्लीहघृतव्यापद्गरपाण्ड्वामयान् जयेत् ।
नैव तक्रं क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले ॥ ७० ॥
न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके[1] ।

तक्र लघु, रस में कषाय, अम्ल रस वाला, अग्निदीपक, कफवातनाशक होता है। शोफ, उदर-

---

१. उपर्युक्त श्लोक इन्दुकृत टीका में नहीं है।

रोग, अर्शरोग, ग्रहणीरोग या ग्रहणीदोष (ग्रहणी नामक षष्ठी पित्तधराकला की विकृति), मूत्रग्रह (मूत्रकृच्छ्र), अरुचि, गुल्म, प्लीहारोग, घृतव्यापद् (घृत के अतिपान से उत्पन्न रोग), गरविष (कृत्रिम विष) तथा पाण्डुरोग नष्ट करता है।

तक्र का निषेध—तक्र का प्रयोग उरःक्षत, उष्णकाल (ग्रीष्म ऋतु) में, दुर्बल व्यक्ति को, मूर्च्छा, भ्रम, दाह तथा रक्तपित्त रोग में नहीं करना चाहिए।

दधि को मथकर उसमें से मक्खन निकाल लेने पर, मथते समय अर्ध भाग जल मिलाने पर वह तक्र नाम से जाना जाता है। यह न अधिक गाढ़ा न अधिक पतला एवं रस में मधुर, अम्ल, कषाय होता है। यथा—

'मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमर्द्धोदकं च यत्।
नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे' ॥ (सु० सू० ४५।८५)

मस्तु के गुण

तद्वन्मस्तु सरं स्रोतःशोधि विष्टम्भजिल्लघु ॥ ७१ ॥

मस्तु (दही को वस्त्र में बाँधकर निचोड़ने से निकला हुआ द्रव भाग—पानी) के गुण तक्र के समान हैं। किन्तु यह सर (मलानुलोमक), स्रोतशोधक, विष्टम्भजित् (वातानुलोमक) और लघु है।

नवनीत के गुण

शीतं स्वादु कषायाम्लं नवनीतं नवोद्धृतम्।
यक्ष्माऽर्शोदितपित्तासृग्वातजिद् ग्राहि दीपनम् ॥ ७२ ॥
क्षीरोद्भवं तु सङ्ग्राहि रक्तपित्ताक्षिरोगजित्।

नवोद्धृत (शीघ्र निकाला हुआ) मक्खन शीतवीर्य, रस में मधुर, कषाय तथा अम्ल रस वाला होता है। राज्ययक्ष्मा, अर्शरोग, अर्दितरोग (वायु से आधा मुख वक्रीकृत होना), पित्तविकार, रक्तविकार तथा वातविकार को नष्ट करता है और ग्राही (शकृद् आदि को पिण्डीकृत करता है) तथा अग्निदीपक है। क्षीरोद्भव (दूध से निकाला) मक्खन संग्राही, रक्तपित्त तथा नेत्ररोग को नष्ट करता है।

घृत के गुण

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबिलायुःशुक्रचक्षुषाम् ॥ ७३ ॥
बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम्।
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम् ॥ ७४ ॥
वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्।
स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं घृतम् ॥ ७५ ॥
सहस्रवीर्यं विधिभिः शृतं कर्मसहस्रकृत्।
मदापस्मारमूर्च्छायशिरःकर्णाक्षियोनिजान् ॥ ७६ ॥
पुराणं जयति व्याधीन् व्रणशोधनरोपणम्।
पूर्वोक्तांश्चाधिकान् कुर्याद् गुणांस्तदमृतोपमम् ॥ ७७ ॥

घृत धी (बुद्धि—वस्तु-ग्रहणशक्ति), स्मृति (अतीत विचारशक्ति), मेधा (प्रज्ञा—वस्तुविवेकशक्ति) अग्नि, बल, आयु (जीवन), शुक्र तथा नेत्रों के लिए हितकर है। बालक, वृद्ध, प्रजा (अपत्य—सन्तान), कान्ति (शरीरस्थ शोभा), सुकुमारता तथा स्वर चाहने वालों के लिए हितकर है।

उरःक्षत, क्षीण, परीसर्प (विसर्प), शस्त्रघात एवं अग्निदाह से पीड़ित के लिए हितकर है। वातविकार, पित्तविकार, उन्माद, शोष (राजयक्ष्मा), अलक्ष्मी (निर्धनता) तथा जीर्णज्वर को नष्ट करता है। यह सभी स्नेहों में श्रेष्ठ, शीतवीर्य, वयःस्थापन (तारुण्य-स्थापक) है। यह सहस्रवीर्य (अनेक शक्तियों वाला) तथा नानाविध योजनाओं से हजारों कार्यों को करने वाला है। पुराण (पुराना) घृत मद, अपस्मार, मूर्च्छा, शिरोरोग, कर्णरोग, नेत्ररोग तथा योनिरोग को नष्ट करता है। यह व्रणों का शोधन एवं रोपण करता है। पुरातन घृत पूर्वोक्त कहे गये गुणों से अधिक गुणकारक तथा अमृत के समान होता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार घी में वसा के अतिरिक्त विटामिन 'ए' की मात्रा अधिक होती है। गाय के घी में विटामिन 'ए' की मात्रा भैंस के घी की अपेक्षा अधिक होती है।

घृतमण्ड के गुण

तद्वच्च घृतमण्डोऽपि रूक्षस्तीक्ष्णस्तनुश्च सः।

घृतमण्ड (ऊपर का स्वच्छ भाग) घृत के समान गुणवाला तथा रूक्ष, तीक्ष्ण एवं तनु (पतला) होता है।

किलाट आदि के गुण

किलाटदधिकूचीकातक्रपिण्डकमोरटाः ॥ ७८ ॥
सक्षीरशाकपीयूषा रोचना वह्निसादनाः।
शुक्रनिद्राकफकरा विष्टम्भिगुरुदोषलाः ॥ ७९ ॥

किलाट (फटे हुए दूध का घन भाग), कूचीका (दधि अथवा तक्र का गाढ़ा भाग), तक्र-पिण्ड (तक्र को घने वस्त्र पर डालने से द्रवांश निकल जाने पर शेष भाग), मोरट या मोरण (फटे दूध का पानी), क्षीरशाक (तक्र अथवा दधि आदि अम्ल द्रव के संयोग के बिना फटा दूध) तथा पीयूष (सद्यः प्रसूता गाय आदि का दूध जो आग पर रखते ही गाढ़ा हो जाता है) बलकारक, रुचिकारक, जठराग्नि को मन्द करने वाला, शुक्र, निद्रा एवं कफ को बढ़ाने वाला, विष्टम्भि (अधोवात अवरोधि), गुरु तथा दोषकारक है।

उपसंहार

विद्याद् दधिघृतादीनां गुणदोषान् यथा पयः।

इति क्षीरवर्गः।

दधि-घृत आदि के गुण-दोष दूध के समान होते हैं।

गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे निन्दिते चाविसम्भवे ॥ ८० ॥

गाय (*Bos indicus*) का दुग्ध एवं घृत श्रेष्ठ तथा भेड़ (*Ovis vignei*) का दुग्ध और घृत निन्दित है।

(३) इक्षुवर्ग

इक्षुरस का गुण

इक्षो रसो गुरुः स्निग्धो बृंहणः कफमूत्रकृत्।
वृष्यः शीतः पवनजिद् भुक्ते वातप्रकोपनः ॥ ८१ ॥
रक्तपित्तप्रशमनः स्वादुपाकरसः सरः।

इक्षु (*Saccharum officinarum* Linn) का रस गुरु, स्निग्ध, बृंहण, कफ, मूत्र को बढ़ाने वाला, वृष्य, शीतल तथा वातनाशक है। भोजन के पश्चात् पीने से यह वायुप्रकोपक तथा रक्तपित्त-शामक है। मधुर विपाक, मधुर रस तथा सर (शकृद्भेदी) है।

इक्षु (*Saccharum officinarum*) ग्रैमिनी कुल (*Graminaea family*) का एक बहुवर्षीय (Perennial) पादप है, जो शर्करा का एक महत्त्वपूर्ण एवं मुख्य स्रोत है। शर्करा एक प्रकार की डाइसेकेराइड (Disaccharide-Sucrose) है। यह गन्ने (*Saccharurm officinarum*) में १५ से २० प्रतिशत तक होती है।

दांत द्वारा पीड़ित इक्षु रस का गुण

सोऽग्रे सलवणो दन्तपीडितः शर्करासमः ॥ ८२ ॥

ईख का अग्रभाग कुछ लवण रस तथा दाँतों द्वारा चूसने पर शर्करा के समान गुण वाला होता है।

मशीन द्वारा पीड़ित रस का गुण

मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मलसङ्करात् ।
किञ्चित्कालविधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः ॥ ८३ ॥
विदाही गुरुविष्टम्भी तेनासौ—

गन्ने का मूल भाग (जड़), अग्रभाग जंतुजग्ध (कृमि-भक्षित) होने से यन्त्र (मशीन) द्वारा निकाला रस यन्त्र का मल (गन्दगी) मिल जाने से तथा थोड़े समय तक रखा रहने से विकृत हो जाता है। इसलिए यह रस विदाही (विदहनशील), गुरु तथा विष्टम्भी होता है।

पौण्ड्रक का गुण

—तत्र पौण्ड्रकः।

शैत्यप्रसादमाधुर्याद्वरस्तमनुवांशिकः ॥ ८४ ॥
शतपर्वककान्तारनैपालाद्यास्ततः क्रमात्।
सक्षाराः सकषायाश्च सोष्णाः किञ्चिद्विदाहिनः ॥ ८५ ॥

पौण्ड्रक (श्वेत इक्षु *Saccharum* sp.) शीतल, प्रसाद (निर्मल) तथा मधुर होने से सभी इक्षु में श्रेष्ठ है। वांशिक (वासा गन्ना *Saccharum* sp.) पौण्ड्रक से हीन गुण वाला होता है। शतपर्वक (छोटा तथा अनेक गाँठों वाला गन्ना *Saccharum* sp.), कान्तार (*Saccharum* sp.) तथा नैपाल (*Saccharum* sp.) आदि इक्षु के रस उत्तरोत्तर हीन गुण वाले होते हैं और ये सभी कुछ क्षारयुक्त, कुछ कषायरस, कुछ उष्ण तथा किञ्चित् विदहनशील होते हैं।

फाणित

फाणितं गुर्वभिष्यन्दि चयकृन्मूत्रशोधनम्।

फाणित (राब–क्षुद्रगुड) गुरु, अभिष्यन्दी (श्लेष्मप्रकोपकारी), चयकृत (त्रिदोषकर) तथा मूत्र को निर्मल करने वाला अथवा मूत्रप्रवर्तक होता है।

धौत (स्वच्छ) गुड़

नातिश्लेष्मकरो धौतः सृष्टमूत्रकृद्गुडः ॥ ८६ ॥

धौत गुड़—संस्कार के द्वारा निर्मल किया गुड़ ईषत् श्लेष्मकर तथा मूत्र एवं पुरीष को बाहर निकालने वाला होता है।

अधौत गुड़

प्रभूतकृमिमज्जासृङ्मेदोमांसकफोऽपरः ।

अपर (अर्थात् मलिन) गुड़ अधिक मात्रा में कृमि उत्पादक, मज्जा, रक्त, मेद, मांस और कफ को बढ़ाता है ।

नया एवं पुराने गुड़ का गुण

हृद्यः पुराणः पथ्यश्च नवः श्लेष्माग्निसादकृत् ॥ ८७ ॥

पुराना गुड़ हृदय के लिए हितकर तथा पथ्य होता है । नया गुड़ कफकारक तथा मन्दाग्नि-कारक होता है ।

शर्करा के गुण

वृष्याः क्षीणक्षतहिता रक्तपित्तानिलापहाः ।
मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः ॥ ८८ ॥
तद्गुणा तिक्तमधुरा कषाया यावशर्करा ।
त्रिदोषघ्नी सिता काशेषुदर्भच्छदसम्भवा ॥ ८९ ॥
दाहतृट्छर्दिमूर्च्छासृक्पित्तघ्न्यः सर्वशर्कराः ।

मत्स्यण्डिका, खण्ड एवं सिता वृष्य (शुक्रकारक), क्षीणरोगी तथा क्षतरोगी के लिए हितकारक, रक्तपित्त तथा वातनाशक है । ये उत्तरोत्तर गुणवान् है । याव शर्करा (यवशर्करा) मत्स्यण्डिका के समान गुणों वाली तथा रस में तिक्त, मधुर तथा कषाय है । काश एवं दर्भ के पत्तों से बनी शर्करा त्रिदोषघ्न होती है । सभी शर्करा दाह, प्यास, वमन, मूर्च्छा तथा रक्तपित्त नाशक है ।

सिता और फाणित की श्रेष्ठाश्रेष्ठता

शर्करेक्षुविकाराणां फाणितं च वरावरे ॥ ९० ॥

इतीक्षुवर्गः ।

इक्षुविकारों में शर्करा श्रेष्ठ और फाणित हीन होती है ॥ ९० ॥

मधु के गुण

चक्षुष्यं छेदि तृट्श्लेष्मविषहिध्माऽस्रपित्तनुत् ।
कुष्ठमेहकृमिच्छर्दिश्वासकासातिसारजित् ॥ ९१ ॥
व्रणशोधनसन्धानरोपणं वातलं मधु ।
रूक्षं कषायमधुरं तत्तुल्या मधुशर्करा ॥ ९२ ॥

मधु नेत्रों के लिए हितकर, छेदनशील (पिण्डीभूत कफादि दोषों को छिन्न-भिन्न करने वाला), प्यास, कफ, विष, हिक्का, रक्तपित्त, कुष्ठ, प्रमेह, कृमिरोग, छर्दिरोग, श्वास, कास तथा अतिसार को नष्ट करता है । व्रणशोधक (दूषित पूय आदि को निकालने वाला), संधान (व्रणोष्ठों को मिलाने वाला), रोपण (क्षीण मांसादिवर्द्धक), वातकारक, रूक्ष, रस में कषाय एवं मधुर होता है । मधुशर्करा मधु के समान गुणवाली है ।

उष्ण मधु

उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैर्निहन्ति तत् ।
विषान्वयत्वेन विषपुष्पेभ्योऽपि यतो मधु ॥ ९३ ॥

कुर्वते ते स्वयं यच्च सविषा भ्रमरादयः।
प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्णं न निवार्यते ॥ ९४ ॥
अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्तते।

उष्ण (अग्नि पर गर्म किया हुआ) मधु मारक है, धूप आदि से पीड़ित मनुष्य के लिए मधु मारक (विष) है, उष्ण देश में और उष्ण काल में तथा उष्ण पदार्थों के साथ मिला हुआ मधु मारक (विष) है। मधु विष के साथ मिला होता है, क्योंकि मधु विषैले पुष्पों से तथा विषैले भ्रमर और मधुमक्षिका द्वारा बनता है। इसलिए मधु विषयुक्त होता है। वमन तथा निरूहबस्ति में उष्ण मधु का प्रयोग निषिद्ध नहीं है, क्योंकि मधु बिना पचे ही तुरन्त शरीर से बाहर निकल जाता है।

मधु के गुण तथा मात्रा

गुरुरूक्षकषायत्वाच्छैत्याच्चाल्पं हितं मधु ॥ ९५ ॥
न हि कष्टतमं किञ्चित्तदजीर्णाद्यतो नरम्।
उपक्रमविरोधित्वात् सद्यो हन्याद्यथा विषम् ॥ ९६ ॥

गुरु, रूक्ष, कषाय तथा शीत होने के कारण अल्प मात्रा में मधु हितकर है, क्योंकि अधिक मात्रा में मधु का सेवन करने से मधुजन्य अजीर्ण से बढ़कर अन्य कोई कष्टकारक रोग नहीं है। यह मधुजन्य अजीर्ण चिकित्साक्रम में विरोधी होने से विषवत् मनुष्य को मार डालता है।

अजीर्ण की चिकित्सा उष्णोदक पान आदि है, यह मधु के विपरीत है। इसलिए शीत चिकित्सा की जाती है, वह अजीर्ण के लिए अपथ्य है।

मधु का प्रयोग

नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु।
वृष्ययोगैरतो युक्तं वृषतामनुवर्तते ॥ ९७ ॥

अनेक प्रकार के पुष्पों के रस से बने होने के कारण मधु परम योगवाही होता है। इस लिए वृष्ययोगों के साथ सेवन करने से यह उत्तम वाजीकर होता है।

मधु के भेद

भ्रामरं पौत्तिकं[1] क्षौद्रं माक्षिकं च यथोत्तरम्।
वरं जीर्णं च तेष्वन्त्ये द्वे एव ह्युपयोजयेत् ॥ ९८ ॥

इति मधुवर्गः

१. भ्रामर, २. पौत्तिक, ३. क्षौद्र तथा ४. माक्षिक भेद से मधु चार प्रकार का होता है। इसमें उत्तरोत्तर तथा पुराना मधु उत्तम होता है। इनमें क्षौद्र एवं माक्षिक नामक मधु का उपयोग करना चाहिए।

मधु को उपर्युक्त चार भेदों में मक्षिकाओं की उन जातियों के आधार पर विभाजित किया गया है, जो मधु संचित करती हैं। यथा—भ्रामर मधु—भ्रमरों (भौरों) द्वारा सञ्चित किया जाता है; पौत्तिक मधु—पुत्तिका नामक मक्षिकाओं द्वारा सञ्चित मधु है; क्षौद्र मधु—क्षुद्रा नामक मक्षिकाओं द्वारा सञ्चित मधु है तथा माक्षिक मधु—बड़े आकार की पीतवर्णी तथा विषैली मक्षिकाओं द्वारा सञ्चित मधु। मधु के उपर्युक्त चार भेदों के अतिरिक्त महर्षि सुश्रुत ने चार अन्य

१. 'पौष्पिकम्' इति पाठान्तरम्।

भेद—(१) छात्र—बर्रे के छत्ते में पाया जाने वाला, रस में मधुर पदार्थ, (२) आर्घ्य—अर्घ्या नामक मक्षिका द्वारा सञ्चित, (३) औद्दालक—बाम्बी में रहने वाले एवं अल्प आकार के कपिल वर्ण के कीड़ों द्वारा संचित मधु, (४) दाल—इन्द्रनील के दल के आकार की सुन्दर, सूक्ष्म मक्षिकाएँ जो वृक्ष-कोटर में निवास करती हैं, उसके द्वारा संचित मधु भी माने है।

(४) तैलवर्ग

तैल के गुण

तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च।
त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च ॥ ९९ ॥
कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय च।
बद्धविट्कं कृमिघ्नं च संस्कारात्सर्वरोगजित् ॥ १०० ॥
तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमाः।
आसन्नतिबला युद्धे दैत्याधिपतयः पुरा ॥ १०१ ॥

सभी तैल स्वयोनिवत् (स्वकारण समगुण–अपनी उत्पत्ति-स्थान के समान गुण वाले) होते हैं। सभी तेलों में मुख्य (प्रधान) तिल (*Sesamum indicum* Linn) का तैल तीक्ष्ण (मन्द विपरीत), व्यवायि (व्याप्तशील), त्वचा को दूषित करने वाला, अचक्षुष्य (नेत्रों के के लिए अहितकर), सूक्ष्म (स्रोतोगामी) तथा उष्णवीर्य होता है, जो कफकारक नहीं होता। कृश लोगों को बृंहण एवं स्थूल लोगों को कृश करने में पर्याप्त है। मल को बाँधने वाला, कृमिघ्न, विशिष्ट द्रव्यों के साथ संस्कार करने पर सभी रोगों को शान्त करता है। प्राचीन काल में दैत्यों के राजा तैल के प्रयोग से अजर (अकाल में जरा से रहित), नीरोग, श्रम को जीतने वाले तथा युद्ध-क्षेत्र में अत्यन्त बलवान् होते थे।

आधुनिक रसायन-विज्ञान के अनुसार सभी तेल ग्लिसराल (Glycerol) के ट्राईएस्टर (Triester) हैं, जिनमें लम्बी शृंखलाओं के कार्बनिक अम्ल (Long chain organic acids) यथा—पामेटिक अम्ल (Palmatic acid $C_{15}H_{31}$ COOH), ओलिक अम्ल (Oleic acid $C_{17}H_{33}$ COOH), स्टियरिक अम्ल (Stearic acid $C_{17}H_{35}$ COOH) का ही संयोग होता है। इन तैलों में ही हाइड्रोजनीकरण (Hydrogenation) की क्रिया के द्वारा वनस्पति घी या साबुन तैयार करते हैं। तेल असंतृप्त द्रवीय यौगिक है, जब कि घी संतृप्त ठोस पदार्थ है।

एरण्ड तैल

सतिक्तोषणमैरण्डं तैलं स्वादु सरं गुरु।
वर्ध्मगुल्मानिलकफानुदरं विषमज्वरम् ॥ १०२ ॥
रुक्शोफौ च कटी गुह्यकोष्ठपृष्ठाश्रयौ जयेत्।

एरण्ड (*Ricinus communis* Linn) का तैल (Castor oil) ईषत् तिक्त कटु होता है। रस में मधुर, सर (विरेचक) तथा गुरु है। वर्ध्म (मुष्कवृद्धि), गुल्मरोग, वातरोग, कफज रोग, उदररोग एवं विषमज्वर को नष्ट करता है तथा कटी, गुह्य (लिङ्ग), कोष्ठ (उदर), पृष्ठ (पीठ) के शूल एवं शोथ को नष्ट करता है।

लाल एरण्ड का तैल

तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं विस्रं रक्तैरण्डोद्भवं भृशम् ॥ १०३ ॥

रक्त एरण्ड (*Ricinus communis* Linn) का तैल अतिशय तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पिच्छिल (अंगुली ग्राह्य) तथा विस्र (अप्रियगन्धी) होता है।

सरसों का तैल

(कटूष्णं सार्षपं तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहम् ।
लघुपित्तास्रकृत्काठकुष्ठार्शोव्रणजन्तुजित्[1] ।।)

सरसों (*Brassica compestris*) का तैल (Mustard oil) रस में कटु, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, कफ-शुक्र-वायुनाशक एवं लघु होता है। यह रक्त-पित्तकारक तथा कोठ (क्षुद्ररोग), कुष्ठ, अर्श तथा व्रण-कृमिनाशक है।

अलसी एवं कुसुम्भ का तैल

उमाकुसुम्भजं सोष्णं त्वग्दोषकफपित्तकृत् ।। १०४ ।।

उमा (अलसी *Linum usitattissimum*) का तैल (Linseed oil) और कुसुम्भ (*Carthamas tinctorius* Linn) का तैल उष्णवीर्य, त्वक् दोषकारक, कफकारक तथा पित्तकारक होता है।

दन्ती आदि के तैल

दन्तीमूलकरक्षोघ्नकरञ्जारिष्टशिग्रुजम् ।
सुवर्चलेङ्गुदीपीलुशङ्खिनीनीपसम्भवम् ।। १०५ ।।
सरलागुरुदेवाह्वशिशुपासारजन्म च ।
तुवरारुष्करोत्थं च तीक्ष्णं कट्वम्लपित्तकृत् ।। १०६ ।।
अर्शःकुष्ठकृमिश्लेष्मशुक्रमेदोनिलापहम् ।

दन्ती (*Baliospermum montanum* Muel), मूलक (मूली के बीज *Raphanus sativus*), रक्षोघ्न (सरसों *Brassica compestris*), करञ्ज (*Pongamia pinnata* Linn), अरिष्ट (निम्ब *Azadirachta indica*), शिग्रु (सहिजन *Moringa oleifera* Linn), सुवर्चल (हुलहुल *Cleome viscosa*), इंगुदी (हिंगोट *Balanites algyptiaca* Linn), पीलु (*Salvadora indica* Wight), शंखिनी (*Andrographis* sp.), नीप (कदम्ब *Anthocephalus indicus* A. Rich.), सरल (चीड़ *Pinus roxburghii* Sargent), अगुरु (*Aquilaria agallocha* Roxb), देवदारु (*Cedrus deodara*), शिशपा (शीशम *Dalbergia sissoo* Roxb), तुवरक (चालमोगरा *Hydnocarpus laurifolia*) तथा अरुष्कर (भिलावा *Semecarpus anacardium* Linn) से उत्पन्न तैल तीक्ष्ण (आशुकारी), रस में कटु तथा रक्तपित्तकारक होता है। यह अर्श, कुष्ठ, कृमि, कफरोग, शुक्रदोष, मेदोरोग तथा वायु विकार को नष्ट करता है।

करञ्ज तथा निम्ब का तैल

करञ्जनिम्बजे तिक्ते नात्युष्णे तत्र निर्दिशेत् ।। १०७ ।।

करञ्ज (*Pongamia pinnata* Linn) और निम्ब (*Azadirachta indica*) का तैल रस में तिक्त होता है तथा अति उष्णवीर्य नहीं होता।

---

१. यह श्लोक इन्दुकृत टीका में नहीं है।

सरल का तैल

कषायतिक्तकटुकं सारलं व्रणशोधनम् ।

सरल (*Pinus roxburghii* Sargent) का तैल रस में कषाय, तिक्त, कटु तथा व्रण-शोधक होता है

तुवरक और भिलावे का तैल

भृशोष्णतीक्ष्णकटुके तुवारुष्करोद्भवे ॥ १०८ ॥
विशेषात् कृमिकुष्ठघ्ने तथोर्ध्वाधोविरेचने ।

तुवरक (*Hydnocarpus laurifolia*) एवं अरुष्कर (भिलावे *Semecarpus anacardium* Linn) का तैल अतिशय उष्ण, तीक्ष्ण, रस में कटु होता है, विशेषकर कृमिघ्न एवं कुष्ठघ्न है, उर्ध्व-विरेचन (वमन) तथा अधोविरेचन (विरेचन) द्वारा दोषों का निर्हरण करता है ।

बहेड़ा आदि का तैल

अक्षातिमुक्तकाक्षोडनालिकेरमधूकजम् ॥ १०९ ॥
त्रपुसोर्वारुकूष्माण्डश्लेष्मातकपियालजम् ।
वातपित्तहरं केश्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम् ॥ ११० ॥

अक्ष (बिभीतक–बहेड़ा *Terminalia indica* W. & A.), अतिमुक्तक (मधुमालती *Hiptage madoblata*), अक्षोड (अखरोट *Junglans regia* Linn), नारिकेल (नारियल *cocos nucifera* **Linn.**), मधूक (महुआ *Madhuca latifolia*), त्रपुस (खीरा *Cucumis sativus*), एर्वारुक (ककड़ी *Cucumis* sp.), कूष्माण्ड (*Benincasa hispida*), श्लेष्मातक, (लिसोड़ा *Cordia dichotoma* Forst.), प्रियाल (चिरौंजी *Buchanania lanzan*) का तैल वातनाशक, पित्तनाशक, केश्य (केशों के लिए हितकारी), श्लेष्मकारक, गुरु तथा शीतवीर्य है ।

श्रीपर्णी एवं किंशुक का तैल

पित्तश्लेष्मप्रशमनं श्रीपर्णीकिंशुकोद्भवम् ।

श्रीपर्णी (गम्भारी *Gmelina arborea* Linn) तथा किंशुक (पलाश *Butea monosperma* Linn) का तैल पित्तशामक एवं कफशामक है ।

उपसंहार

तिलतैलं वरं तेषु कौसुम्भमवरं परम् ॥ १११ ॥

इन सब तैलों में तिल (*Sesamum indicum*) का तैल श्रेष्ठ तथा कुसुम्भ (*Carthamus tinctorius*) का तैल अश्रेष्ठ होता है ।

वसा और मज्जा

वसा मज्जा च वातघ्नौ बलपित्तकफप्रदौ ।
मांसानुगस्वरूपौ च विद्यान्मेदोऽपि ताविव ॥ ११२ ॥

वसा (मांस–स्नेह) और मज्जा (षष्ठ धातु) वातनाशक, बल-पित्त-कफवर्द्धक एवं मांस के समान गुण वाले होते हैं तथा मेद भी वसा और मज्जा के समान गुण वाला होता है ।

औलूकी शौकरी पाकहंसजा कुक्कुटोद्भवा ।
वसा श्रेष्ठा स्ववर्गेषु कुम्भीरमहिषोद्भवा ॥ ११३ ॥
काकमद्गुवसा तद्वत् कारण्डोत्था च निन्दिता ।

बालूकी (उल्लू *Tyto alba*), शौकरी (सूकर *Sus cristasus*), हंस (*Anser indicus*) तथा कुक्कुट (मुर्गा *Gallus gallus*) की वसा अपने वर्ग के प्राणियों की वसा से श्रेष्ठ है। कुम्भीर (*Crocodilus porosus*), महिष (*Bos bubalus*), काकमद्गु (?) तथा कारण्ड (*Anser indicus*) की वसा निन्दित है।

शाखादमेदसां छागं हास्तिनं च वरावरे ॥ ११४ ॥

इति तैलवर्गः।

शाखाद (पेड़-पौधों की शाखा, पत्ती आदि खाने वाले Herbivorous) प्राणियों में छाग (बकरी *Capra sibica*) की मेद श्रेष्ठ तथा हाथी (*Elephas indica*) की मेद निन्दित है।

(५) मद्यवर्ग

मद्य के गुण

दीपनं रोचनं मद्यं तीक्ष्णोष्णं तुष्टिपुष्टिदम्।
सस्वादुतिक्तकटुकमम्लपाकरसं सरम् ॥ ११५ ॥
सकषायं स्वरारोग्यप्रतिभावर्णकृल्लघु।
नष्टनिद्रातिनिद्रेभ्यो हितं पित्तास्रदूषणम् ॥ ११६ ॥
कृशस्थूलहितं रूक्षं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनम्।
वातश्लेष्महरं युक्त्या पीतं विषवदन्यथा ॥ ११७ ॥

सभी प्रकार के मद्य दीपन (अग्निदीप्तिकारक), रोचन (भोजन में अभिलाषा उत्पन्न करने वाला), तीक्ष्ण (सन्धिबन्धनों को ढीला करने वाला), उष्णवीर्य, तुष्टि (चित्त-संतोष), पुष्टि (शरीरपोषक), किञ्चित् मधुर, किञ्चित् तिक्त, किञ्चित् कटु रस वाला, रस एवं विपाक में अम्ल, सर (भेदि), किञ्चित् कषाय रस वाला, स्वर (वाक्पटुत्व), आरोग्य (स्वास्थ्य), प्रतिभा (प्रागल्भ्य), वर्ण (कान्ति) को देने वाला और लघु है। जिनको निद्रा नहीं आती है या जिनको अधिक निद्रा आती है, उनके लिए पथ्य तथा पित्त एवं रक्त को दूषित करने वाला है। कृश एवं स्थूल के लिए हितकारक, रूक्ष (स्नेहरहित), सूक्ष्म (स्रोतोगामी), स्रोतों का विशोधक तथा वातघ्न एवं श्लेष्मघ्न है। युक्तिपूर्वक (बल-काल-सात्म्य-प्रकृति-वय-मात्रादि का विचार कर) किया गया मद्यपान अमृत के समान है, अन्यथा अयुक्तिपूर्वक मद्यपान विषतुल्य है।

नव एवं जीर्ण मद्य के गुण

गुरु तद्दोषजननं नवं जीर्णमतोऽन्यथा।

नव (तत्काल निष्पन्न) मद्य गुरु एवं त्रिदोषकर होता है। जीर्ण (चिरकाल निष्पन्न–वर्णरसगन्धोत्पन्न) मद्य लघु तथा वातश्लेष्मघ्न होता है।

मद्यपान का निषेध

पेयं नोष्णोपचारेण न विरिक्तक्षुधातुरैः ॥ ११८ ॥
नातितीक्ष्णमृदुस्वच्छघनं व्यापन्नमेव वा।

उष्ण उपचार (उष्ण आहार-विहार) के साथ मद्य का सेवन न करें। विरेचन के पश्चात् तथा भूखे पेट मद्य न पिये। अत्यन्त तीक्ष्ण (अतितीव्र), अत्यन्त मृदु (मद उत्पादन में असमर्थ), अत्यन्त स्वच्छ (पतला), अत्यन्त घन (गाढ़ा) अथवा व्यापन्न (पात्र-देश-काल से दूषित) मद्य नहीं पीना चाहिए।

सुरा के गुण

गुल्मोदरार्शोग्रहणीशोषहृत्स्नेहनी गुरुः ॥ ११९ ॥
सुराऽनिलघ्नी मेदोसृक्स्तन्यमूत्रकफावहा ।

सुरा (शालिधान्य को पीसकर बनाया मद्य) गुल्मरोग, उदररोग, अर्शरोग, ग्रहणीरोग एवं शोष (राज्यक्ष्मा) को नष्ट करती है । शरीर को स्निग्ध करती है, गुरु एवं वातशामक है । मेद, रक्त, स्तन्य (दुग्ध), मूत्र तथा कफ को बढ़ाती है ।

वारुणी के गुण

तद्गुणा वारुणी हृद्या लघुस्तीक्ष्णा निहन्ति च ॥ १२० ॥
शूलकासवमिश्वासविबन्धाध्मानपीनसान् ।

वारुणी (श्वेतसुरा–श्वेतपुनर्नवादि के मूल तथा शालिधान्य को पीसकर बनाया गया मद्य हेमाद्रि के मतानुसार) तद्गुणा (सुरातुल्य), हृदय के लिए पथ्य, लघु तथा तीक्ष्ण होता है । शूल, कास, वमन, श्वास, विबन्ध (मलावरोध), आध्मान (उदर फूला होना) तथा पीनस को नष्ट करती है ।

जगल, मेदक एवं वक्कस के गुण

शूलप्रवाहिकाशोफतृष्णाऽऽटोपार्शसां हितः ॥ १२१ ॥
जगलः पाचनो ग्राही रूक्षस्तद्वच्च मेदकः ।
बक्कसो हृतसारत्वाद्विष्टम्भी दोषकोपनः ॥ १२२ ॥

जगल (वारुणी या सुरा का नीचे का भाग) शूलरोग, प्रवाहिका, शोफ, तृष्णा, आटोप (गुड़गुड़ाहट) तथा अर्श के लिए पथ्य है । मेदक (जगल के नीचे का गाढ़ा भाग) जगल के समान गुणवाला, पाचक, संग्राही तथा रूक्ष है । वक्कस (पानी के साथ मद्यकल्क को निचोड़ने से निकाला पदार्थ) सुरासार निकल जाने से विष्टम्भि तथा त्रिदोषकारक होता है ।

बहेड़े की सुरा

नातितीव्रमदा लघ्वी पथ्या बैभीतकी सुरा ।
व्रणे पाण्ड्वामये कुष्ठे न चात्यर्थं विरुध्यते ॥ १२३ ॥

बिभीतक (*Terminalia belerica* Roxb) की सुरा अति तीव्र मद उत्पन्न नहीं करती, लघु एवं पथ्य होती है । इसका सेवन व्रणों में, पाण्डुरोग में तथा कुष्ठ रोग में अधिक हानिकर नहीं होता ।

यवसुरा, कौहली एवं मधूलक

विष्टम्भिनी यवसुरा गुर्वी रूक्षा त्रिदोषला ।
कौहली बृंहणी गुर्वी श्लेष्मलस्तु मधूलकः ॥ १२४ ॥

जौ (*Hordeum vulgare*) से बनायी गई सुरा विटम्भकारक, रूक्ष तथा त्रिदोषकर होती है । कौहली (जौ के सत्तू से बनाया गया मद्य) बृंहण एवं गुरु होता है तथा मधूलक (वह मद्य जिसका सन्धान ठीक तरह न किया गया हो) कफकारक होता है ।

अरिष्ट के गुण

यथा द्रव्यगुणोऽरिष्टः सर्वमद्यगुणाधिकः ।
ग्रहणीपाण्डुकुष्ठार्शःशोषशोफोदरज्वरान् ॥ १२५ ॥

हन्ति गुल्मकृमिप्लीह्नः कषायकटुवातलः ।

जिन द्रव्यों के संयोग एवं संस्कार से अरिष्ट बनता है, वह उन्हीं द्रव्यों के समान गुणवाला होता है, सभी प्रकार के मद्यों की अपेक्षा अधिक गुणवाला होता है। ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, कुष्ठ, अर्श, शोफ, शोष (राज्यक्ष्मा), उदररोग, ज्वर, गुल्मरोग, कृमिरोग तथा प्लीहारोग को नष्ट करता है। वह रस में कषाय, कटु तथा वातकारक होता है।

माद्वीक के गुण

माद्वीकं लेखनं हृद्यं नात्युष्णं मधुरं सरम् ॥ १२६ ॥
अल्पपित्तानिलं पाण्डुमेहार्शःक्रिमिनाशनम् ।

माद्वीक (द्राक्षारसोद्भव) लेखन (विकर्षण), हृदय के लिए प्रिय, न अधिक उष्ण, रस में मधुर, सर (रेचक), अल्प पित्तकारक तथा अल्प वातकारक होता है। यह पाण्डुरोग, प्रमेह, अर्श एवं कृमिरोग को नष्ट करता है।

खार्जूर मद्य के गुण

अस्मादल्पान्तरगुणं खार्जूरं वातलं गुरु ॥ १२७ ॥

खार्जूर मद्य माद्वीक की अपेक्षा अल्पगुण वाला, वातकारक तथा गुरु होता है।

शार्कर मद्य

शार्करः सुरभिः स्वादुर्हृद्यो नातिमदो लघु ।

शार्कर (शर्कराकृत मद्य) सुगन्धित, रस में मधुर, हृदय के लिए प्रिय, अल्प मदकारक तथा लघु होता है।

गौड मद्य

सृष्टमूत्रशकृद्वातो गौडस्तर्पणदीपनः ॥ १२८ ॥

गौड़ (गुड़कृत मद्य) मूत्र, पुरीष तथा वायुप्रवर्तक, तर्पण (तृप्तिजनक) तथा अग्निदीपक है।

सीधु

वातपित्तकरः शीधुः स्नेहश्लेष्मविकारहा ।
मेदः शोफोदरार्शोघ्नस्तत्र पक्वरसो वरः ॥ १२९ ॥

पक्वापक्व इक्षुरसकृत मद्य सीधु वातकारक, पित्तकारक, स्नेहविकारनाशक तथा श्लेष्म-विकारनाशक है। मेदोरोग, शोफ, उदररोग एवं अर्शनाशक है। पक्व रस से बना सीधु श्रेष्ठ है।

आसव

छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मेहपीनसकासजित् ।
सुरासवस्तीक्ष्णमदः स्वादुस्तीक्ष्णोऽनिलापहः ॥ १३० ॥
मैरेयो मधुरो वृष्यः सरः सन्तर्पणो गुरुः ।
धातक्यभिषुतो जीर्णो रूक्षो रोचनदीपनः ॥ १३१ ॥
द्राक्षासवो मधुसमः परमं स तु दीपनः ।
माद्वीकसदृशः प्रोक्तो मृद्वीकेक्षुरसासवः ॥ १३२ ॥

१. मध्वासव (मधुकृत मद्य)—यह छेदी (कफादि विश्लेषी) एवं तीक्ष्ण होता है। प्रमेह, पीनस तथा कास को नष्ट करता है।

२. सुरासव (जल की जगह सुरा में औषध डालकर बनाया गया आसव)—यह तीक्ष्ण (तीव्र) मद करने वाला, रस में मधुर, तीक्ष्ण तथा वातघ्न है।

३. मैरेय (आसव एवं सुरा के बन जाने पर इन दोनों का एक पात्र में सन्धान कर कोद्रव धान्य के संयोग से निर्मित)—यह रस में मधुर, वृष्य, सर, सन्तर्पणकारक और गुरु होता है।

४. धाय (*Wood fordia fruticasa*) के पुष्प से बना मैरेय—यह जीर्ण (पुराना) होने पर रूक्ष, रुचिकारक तथा दीपन होता है।

५. द्राक्षासव (दाख—छोटी जाति के अंगूर *Vitis vinifera* से निर्मित)—यह मध्यासव के समान किन्तु अत्यन्त अग्निदीपक होता है।

६. मृद्वीकासव (मुनक्का से बना आसव) एवं इक्षुरसासव मार्द्वीक के समान गुण वाला होता है।

उपसंहार

समासादासवो हृद्यो वातलः स्वौषधानुगः।

संक्षेपतः आसव हृद्य, वातकारक तथा अपने औषध द्रव्यों के सदृश गुण वाले होते हैं।

मद्याकर (मद्ययोनि)

द्राक्षेक्षुर्माक्षिकं शालिरुत्तमा व्रीहिपञ्चमाः ॥ १३३ ॥
मद्याकरा यत्तेभ्योऽन्यत्तन्मद्यप्रतिरूपकम्।
गुणैर्यथोल्बणैर्विद्यान्मद्यमाकरसङ्करात् ॥ १३४ ॥

द्राक्षा (अंगूर-मुनक्का-दाख *Vitis vinifera*), इक्षु (गन्ने का गुड़ एवं शर्करा *Saccharum officinarum*), माक्षिक (मधु), शालि (हेमन्त ऋतु के चावल *Oryza sativa* var ?), व्रीहिधान्य (यव *Hordeum vulgare*)—ये पाँच पदार्थ मद्य के उत्तम आकर (योनि) हैं, इनके अतिरिक्त अन्य मद्याकर द्रव्य उक्त पञ्च पदार्थों के प्रतिरूप (प्रतिनिधि मात्र) हैं। मद्याकरों के संकर (मिश्रण) से निर्मित मद्य, मद्याकरों के अनुरूप गुणों में उल्बण (तेज) होता है।

वस्तुतः मद्य (Alcoholic beverages) शर्करा (Sugar) या स्टार्च (Starch) आदि के किण्वीकरण (Fermentation) की क्रिया के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। यह किण्वन की क्रिया (Fermentation Process) यीस्ट (Yeast) की उपस्थिति में होती है और इनवर्टेज (Invertase) तथा जाइमेज (Zymase) नामक एञ्जाइम भाग लेते हैं। सभी मद्यों में ईथिल अल्कोहल (Ethyl alcohol C_2H_5 OH) की कुछ प्रतिशत मात्रा अवश्य रहती है, जो मद्य की मादकता, उत्तेजना, विषाक्तता, संज्ञाहीनता आदि गुणों का हेतु होता है।

आजकल मद्य के निम्नलिखित मुख्य प्रकार प्रचलित हैं। उनमें अल्कोहल का प्रतिशत एवं प्राप्ति-साधन इस प्रकार है—

मद्य का नाम	प्राप्ति का स्रोत	अल्कोहल का प्रतिशत
क्लेरेट (Claret)	अंगूर	७–१३% लगभग
पोर्ट (Port)	,,	१५–२४% ,,
शेरी (Shery)	,,	१८–२४%,,
शैम्पेन (Champagne)	,,	८–१०% ,,
बीयर (Beer)	जौ	३–५% ,,
ह्विस्की (Whisky)	,,	४०–५०% ,,
ब्राँडी (Brandy)	सेव	४०–५०% ,,
होलैंड (Holland)	Rys	४०% ,,
रम (Rum)	मोलसेज	४५–५५% ,,
जिन (Gin)	जौ	४०–५५% ,,

विभिन्न प्रकार के आसव, अरिष्ट आदि में अल्कोहल की मात्रा ५ से १० प्रतिशत तक होती है।

शुक्त (सिरका) के गुण

रक्तपित्तकफोत्क्लेदि शुक्तं वातानुलोमनम्।
विदाहि भृशतीक्ष्णोष्णं हृद्यं रुचिकरं सरम् ॥ १३५ ॥
दीपनं शिशिरस्पर्शं पाण्डुदृक्कृमिनाशनम्।

रक्त-पित्त-कफ का उत्क्लेदन (निःसारण—बाहर निकालने हेतु प्रेरण), वायु का अनुलोमक, विदाही, अतिशत तीक्ष्ण, अतिशय उष्णवीर्य, हृदय के लिए प्रिय, रुचिकारक, सर, अग्निदीपक तथा स्पर्श में शीतल होता है। पाण्डुरोग, दृष्टिदोष तथा कृमिरोग को नष्ट करता है।

गुड़ादि शुक्त के गुड़

गुडेक्षुमद्यमार्द्वीकशुक्तं लघु यथोत्तरम् ॥ १३६ ॥

गुड़शुक्त, इक्षुशुक्त, मद्यशुक्त तथा मार्द्वीकशुक्त—ये उत्तरोत्तर क्रमशः लघु होते हैं।

कन्दमूलादि आसुत गुण

कन्दमूलफलाद्याँश्च तद्वद्विद्यात् तदासुतम्।

कन्द-मूल-फल आदि के संयोग से बना आसुतशुक्त गुड़ से बने आसुतशुक्त के समान होता है।

शाण्डाकी का गुण

शाण्डाकी चासुतं चान्यत् कालाम्लं रोचनं लघु ॥ १३७ ॥

शाण्डाकी एवं आसुत (उबाल कर) और अन्य शाकादि जो कुछ समय रखने से अम्ल हो जाते हैं, वे रोचन एवं लघु होते हैं।

धान्याम्ल

धान्याम्लं भेदि तीक्ष्णोष्णं पित्तकृत्स्पर्शशीतलम्।
श्रमक्लमहरं रुच्यं दीपनं बस्तिशूलजित् ॥ १३८ ॥
शस्तमास्थापने हृद्यं लघु वातकफापहम्।

धान्याम्ल (काञ्जिक) भेदि (पुरीषभेदक), तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पित्तकारक, स्पर्श में शीत, श्रमहर, क्लमहर, रुचिकारक, अग्निदीपक, वस्तिशूलनाशक, आस्थापनवस्ति में उपयोगी, हृद्य, लघु, वातनाशक तथा कफनाशक है।

सौवीरक एवं तुषोदक

एभिरेव गुणैर्युक्ते सौवीरकतुषोदके ॥ १३९ ॥
कृमिहृद्रोगगुल्मार्शःपाण्डुरोगनिबर्हणे।
ते क्रमाद्वितुषैर्विद्यात्सतुषैश्च यवैः कृते ॥ १४० ॥

इति मद्यवर्गः।

सौवीरक एवं तुषोदक भी धान्याम्ल के समान गुणवाले होते हैं। ये कृमिरोग, हृदयरोग, गुल्मरोग, अर्शरोग तथा पाण्डुरोग को नष्ट करते हैं। उनमें सौवीरक तुष-रहित यव (*Hordeum vulgare*) तथा तुषोदक तुष-युक्त यवों से बनाया जाता है।

(६) मूत्रवर्ग

मूत्रं गोऽजाविमहिषीगजाश्वोष्ट्रखरोद्भवम् ।
पित्तलं रूक्षतीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं कटु ॥ १४१ ॥
कृमिशोफोदरानाहशूलपाण्डुकफानिलान् ।
गुल्मारुचिविषश्वित्रकुष्ठार्शांसि जयेल्लघु ॥ १४२ ॥
विरेकास्थापनालेपस्वेदादिषु च पूजितम् ।
दीपनं पाचनं भेदि तेषु गोमूत्रमुत्तमम् ॥ १४३ ॥

गो (गाय *Bos indicus*), अजा (बकरी *Capra sibica*), महिषी (भैंस *Bos bubalus*), गज (हाथी *Elephas indica*), अश्व (घोड़ा *Elephas cabalus*) तथा उष्ट्र (ऊँट *Camelus dromediarius*), खर (गर्दभ *Equus vulgaris*) का मूत्र पित्तवर्धक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, लवण अनुरस ('रसस्य यः पश्चाद् भवति स च अव्यक्तो वा किञ्चिदन्ते') तथा रस में कटु होता है। कृमिरोग, शोफ, उदररोग, आनाहरोग, शूलरोग, पाण्डुरोग, कफविकार, वातविकार, गुल्मरोग, अरुचि, विषविकार, श्वित्ररोग, कुष्ठरोग तथा अर्शरोग को नष्ट करता है तथा लघु होता है। इसका प्रयोग विरेचन, आस्थापनवस्ति, आलेप, स्वेदन में किया जाता है। यह अग्निदीपक, पाचक तथा पुरीष का भेदन करता है। इन सभी में गोमूत्र उत्तम होता है।

बकरी, हाथी, घोड़ा एवं गधा का मूत्र

श्वासकासहरं छागं पूरणात्कर्णशूलजित् ।
'दद्यात् क्षारे किलासे च गजवाजिसमुद्भवम् ॥ १४४ ॥

बकरी (*Capra sibica*) का मूत्र श्वासनाशक, कासनाशक तथा कान में डालने से कर्णशूलनाशक है। हाथी (*Elephas indica*) और घोड़े (*Equus cabalus*) का मूत्र किलास (श्वित्र–सफेद दाग) में तथा क्षार (पच्यमानावस्था) में बाह्य प्रयोगार्थ देना चाहिए। गदहे (*Equus vulgaris*) का मूत्र उन्माद, अपस्मार, कृमिरोग एवं प्रमेह को नष्ट करता है।

गवादि के पुरीष का गुण

हन्त्युन्मादमपस्मारं क्रिमीन्मेहं च रासभम् ।
कषायतिक्तमेतेषां हिध्माश्वासहरं शकृत् ॥ १४५ ॥
मार्गमोजःक्षयहरं वैष्किरं वातरोगनुत् ।
प्रसहानामपस्मारमुन्मादं च नियच्छति ॥ १४६ ॥
महामृगसमुद्भूतं कुष्ठहृज्जलचारिणाम् ।
नेत्ररोगहरं पित्तं प्रवृद्धं च नियच्छति ॥ १४७ ॥

गाय (*Bos indicus*), बकरी (*Capra sibica*), भेड़ (*Ovis vignei*), भैंस (*Bos bubalus*), हाथी (*Elephas indica*), घोड़ा (*Equus cabalus*), ऊँट (*Camelus dromediarius*) और गधे (*Equus vulgaris*) का पुरीष रस में कषाय एवं तिक्त होता है तथा हिक्का एवं श्वास रोग को नष्ट करता है। मार्ग (मृग *Cervus axis*) का पुरीष ओजः क्षयनाशक होता है, वैष्किर (मुर्गा आदि) का पुरीष वातविकार को नष्ट करता है तथा प्रसह-वर्ग के प्राणियों का पुरीष अपस्मार एवं उन्माद को नष्ट करता है।

महामृग वर्ग के प्राणियों का पुरीष कुष्ठ को नष्ट करता है तथा जलचर प्राणियों का पुरीष नेत्ररोग और बढ़े हुए पित्त को शान्त करता है।

पित्तं तिक्तं कृमिहरं रोचना कफवातजित्।
तिक्ता पाप्माहरा—

इन सभी प्राणियों का पित्त रस में तिक्त तथा कृमिनाशक होता है। गोरोचन (गाय का शुष्क पित्त) कफनाशक, वातनाशक, रस में तिक्त तथा पाप्माहर (दौर्भाग्य-नाशक) होता है।

मनुष्य का मूत्र

—मूत्रं मानुषं तु विषापहम्॥ १४८॥

इति मूत्रवर्गः।

मनुष्य (*Homo sapiens*) का मूत्र विषघ्न होता है।

उपसंहार

तोयक्षीरेक्षुतैलानां वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात्।
इति द्रवैकदेशोऽयं यथास्थूलमुदाहृतः॥ १४९॥

इति द्रवद्रव्यविज्ञानीयो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इस अध्याय में जलवर्ग, दुग्धवर्ग, इक्षुवर्ग, तैलवर्ग तथा मद्यवर्ग का क्रमशः द्रव-द्रव्यों का एक देश (भाग) स्थूल रूप से कहा गया है।

विशेष—मूत्र वर्ग भी कहा गया है।

इस प्रकार 'द्रवद्रव्यविज्ञानीय' नामक षष्ठ अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

द्रवद्रव्यों का वर्गीकरण

१. **जलवर्ग**—ईषद् उष्ण, उष्ण एवं शीतल जल का गुण।

२. **क्षीरवर्ग**—गाय, भैंस, बकरी, ऊँटनी, स्त्री, भेड़, हथिनी एवं घोड़ा-गधी का दुग्ध, घृत, दधि, नवनीत एवं तक्र आदि का गुण।

३. **इक्षुवर्ग**—इक्षु एवं मधु।

४. **तैलवर्ग**—तिल, एरण्ड, सरसों, अलसी, कुसुम्भ, दन्ती आदि का तैल एवं वसा तथा मज्जा का गुण।

५. **मद्यवर्ग**—विभिन्न प्रकार की सुरा, सीधु, आसव, सिरका, सौवीरक एवं तुषोदक आदि।

६. **मूत्रवर्ग**—गाय, बकरी, महिष, हाथी, अश्व, उष्ट्र, गधा एवं मनुष्य का मूत्र, पुरीष एवं गोरोचन का गुण।

सप्तमोऽध्यायः

अथातोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

षष्ठ अध्याय के पश्चात् 'अन्नस्वरूप-विज्ञानीय' अध्याय का वर्णन करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

अन्न शब्द अद् भक्षणे धातु में क्त प्रत्यय से सिद्ध होता है। जो भक्षण किया जाय, उसे अन्न कहते हैं। अन्न का स्वभाव—रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, गुण एवं कर्म आदि के रूप में प्रकट होता है, इसलिए उसका ज्ञान अन्नस्वरूपविज्ञान है; इस विज्ञान के लिये हितकर जो अध्याय है, उसे 'अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय' कहते हैं। उस अध्याय की व्याख्या करेंगे। 'आह्रियते अन्ननलिकया इति आहारः' अर्थात् अन्ननली के द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब आहार है।

(१) शूकधान्यवर्गः

(क) शालि-भेद

रक्तो महान् सकलमस्तूर्णकः शकुनाहृतः।
सारामुखो दीर्घशूको रोध्रशूकः सुगन्धकः ॥ ३ ॥
पुण्ड्रः पाण्डुः पुण्डरीकः प्रमोदो गौरशारिवौ।
काञ्चनो महिषः शूको दूषकः कुसुमाण्डकः ॥ ४ ॥
लाङ्गला लोहवालाख्याः कर्दमाः शीतभीरुकाः।
पतङ्गास्तपनीयाश्च ये चान्ये शालयः शुभाः ॥ ५ ॥
स्वादुपाकरसाः स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पवर्चसः।
कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमाः ॥ ६ ॥

१. रक्तशालि	२. महाशालि	३. कलमशालि	४. तूर्णकशालि
५. शकुनाहृत् शालि	६. सारामुख	७. दीर्घशूक	८. रोध्रशूक
९. सुगन्धकशालि	१०. पुण्ड्रशालि	११. पाण्डुशालि	१२. पुण्डरीकशालि
१३. प्रमोद	१४. गौर	१५. शाखि	१६. काञ्चन
१७. महिष	१८. शूकशालि	१९. दूषकशालि	२०. कुसुमाण्डकशालि
२१. लाङ्गलशालि	२२. लोहवालशालि	२३. कर्दमशालि	२४. शीतभीरुकशालि
२५. पतंगशालि	२६. तपनीयशालि	२७. इनके अतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ शालि।	

सामान्यतः सभी शालि रस एवं विपाक में मधुर, स्निग्ध एवं वृष्य (शुक्रल) होते हैं। इनसे बंधा हुआ तथा अल्प मात्रा में मल निकलता है। ये कषाय अनुरस, पथ्य, लघु, मूत्रल (मूत्रकारक) तथा शीतवीर्य होते हैं।

जिन धान्यों में शूक (टूंण) लगा होता है, वे शूकधान्य कहे जाते हैं। पुनश्च शूकधान्य के भेदों में शालिधान्य की संज्ञा उन्हें देते हैं, जो हेमन्त ऋतु में होते हैं और बिना कूटे ही स्वच्छ निकलते हैं।

शूकधान्य में श्रेष्ठत्व एवं अश्रेष्ठत्व

शूकजेषु वरस्तत्र रक्तस्तृष्णात्रिदोषहा ।
महांस्तं चानु कलमस्तं चाप्यनु ततः परे ॥ ७ ॥
तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशः शालयोऽवराः ।[1]

शूकज धान्य में रक्तशालि श्रेष्ठ है, यह तृषानाशक तथा त्रिदोषघ्न होता है । रक्तशालि की अपेक्षा महाशालि और महाशालि की अपेक्षा कलमशालि और उसकी अपेक्षा तूर्णक आदि क्रमशः हीन गुण वाले होते हैं ।

यवकादि यथापूर्व निन्दित

यवका हायनाः पांशुवाप्यनैषधकादयः ॥ ८ ॥
स्वादूष्णा गुरवः स्निग्धाः पाकेऽम्लाः श्लेष्मपित्तलाः ।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च पूर्वं पूर्वं च निन्दिताः ॥ ९ ॥

यवक, हायनक, पांशु, वाप्य, नैषधक आदि रस में मधुर, उष्णवीर्य, गुरु, स्निग्ध, विपाक में अम्ल, श्लेष्मकारक, पित्तकारक, मूत्र तथा पुरीष-प्रवर्तक होते हैं, ये सब यथापूर्व निन्दित (गर्हित) होते है । अर्थात् नैषधक से वाप्य, वाप्य से पांशु, पांशु से हायनक तथा हायनक से यवक निन्दित होता है ।

(ख) व्रीहिधान्य .

स्निग्धो ग्राही लघुः स्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरो हिमः ।
षष्टिको व्रीहिषु श्रेष्ठो गौरश्चासितगौरतः ॥ १० ॥
ततः क्रमान्महाव्रीहिकृष्णव्रीहिजतूमुखाः ।
कुक्कुटाण्डकलावाक्षपारावतकसूकराः ॥ ११ ॥
वरकोद्दालकोज्वालचीनशारददर्दुराः ।
गन्धनाः कुरुविन्दाश्च गुणैरल्पान्तराः स्मृताः ॥ १२ ॥
स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो व्रीहिः पित्तकरो गुरुः ।
बहुमूत्रपुरीषोष्मा त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ॥ १३ ॥

व्रीहिधान्यों में षष्टिक (साठी) चावल श्रेष्ठ है । यह स्निग्ध, ग्राही (स्तम्भन), लघु, रस में मधुर, त्रिदोषघ्न, स्थिर (शरीर में चिरकाल तक रहने वाला) तथा शीतवीर्य होता है । यह गौर तथा असित गौर (कृष्णगौर) दो प्रकार का होता है । इनमें कृष्णगौर की अपेक्षा गौर श्रेष्ठ होता है ।

षष्टिक की अपेक्षा क्रम से हीन गुण वाले निम्नलिखित व्रीहिधान्य हैं—

१. महाव्रीहि	२. कृष्णव्रीहि	३. जतूमुख	४. कुक्कुटाण्डक
५. लावाक्ष	६. पारावतक	७. सूकर	८. वरक
९. उद्दालक	१०. उज्वाल	११. चीन	१२. शारद
१३. दर्दुर	१४. गन्धन	१५. कुरुविन्द	

इन व्रीहिधान्यों से अन्य (इतर) धान्य रस में मधुर, अम्लविपाक, पित्तकारक, गुरु, मूत्र, पुरीष तथा शरीर की उष्मा (अग्नि) को बढ़ाने वाला होता है ।

---

१. यह पंक्ति इन्दुकृत टीका-ग्रन्थ में नहीं है ।

उपर्युक्त सभी शूक एवं व्रीहिधान्य, चावल या धान की प्राचीन काल (ग्रन्थ-लेखन काल) की प्रचलित विभिन्न जातियाँ-प्रजातियाँ हैं। आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार चावल (*Oryza sativa*) को ग्रैमिनी (Gramineae) नामक कुल के अन्तर्गत रखा गया है। आधुनिक समय में चावल की प्रचलित विभिन्न जातियाँ—Basmati-307, IR-49, Jaya, Padma, Satya, Surya, Krishna, Pusa 2-21, Caveri, AC-49, IRRI-8 तथा IRRI-33 आदि हैं। संघटनात्मक दृष्टि से चावल में सर्वाधिक मात्रा कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) की होती है।

तृष्णधान्य के सामान्य गुण

कङ्गुकोद्रवजूर्णाह्वगदीवरुणपादिकाः[1]।
श्यामाकतोयश्यामाकहस्तिश्यामाकशिल्बिका[2] ॥ १४ ॥
शिशिरोद्दालनीवारवर्रूकबरकोत्कटाः[3]।
[4]मधूलिकान्तनिर्गण्डीवेणुपर्णीप्रशान्तिका ॥ १५ ॥
गवेधुकाण्डलौहित्यतोदपर्णीमुकुन्दराः[5] ।
कफपित्तहरा रूक्षाः कषायमधुरा हिमाः ॥ १६ ॥
वातला बद्धविण्मूत्रा लघवो लेखनात्मकाः।

१. कंगुनी (*Panicum milliaceum*) २. कोद्रव
३. जूर्णाह्व (बाजरा *Pennisetum glaucum*) ४. गदी या गर्मूटी
५. वरुणपादिक या चूर्णपादिका ६. श्यामाक
७. तोयश्यामाक ८. हस्तिश्यामाक
९. शिल्बिक या शिम्बिर १०. शिशिरोद्दालक
११. नीवार १२. वरूक (वरू)
१३. बरक १४. उत्कट
१५. मधूलिका १६. अन्तनिर्गण्डी या शान्तनुसण्डी
१७. वेणुपर्णी १८. प्रशान्तिका
१९. गवेधुक २०. अण्डलौहित्य
२१. तोदपर्णी २२. मुकुन्दर

ये सब धान्य कफ-पित्तनाशक, रूक्ष, रस में कषाय, मधुर, शीतवीर्य, वातकारक, मल-मूत्र को बाँधने वाले, लघु तथा लेखन होते हैं।

(घ) कंगु आदि के विशेष गुण

भग्नसन्धानकृत्तत्र प्रियङ्गुर्बृंहणी गुरुः ॥ १७ ॥
कोरदूषः परं ग्राही स्पर्शशीतो विषापहः।
उद्दालकस्तु वीर्योष्णो नीवारः श्लेष्मवर्धनः ॥ १८ ॥
शीतवीर्या विशेषेण स्निग्धा वृष्या मधूलिका।

इनमें प्रियंगु (कंगु.*Panicum malliaceum*) टूटी हुई अस्थियों का सन्धान करने वाली (जोड़ने वाली), बृंहण तथा गुरु होती है। कोरदूष (कोदों *Paspalum scrobiculatum* Linn)

१. 'गर्मूटीचूर्णपादिकाः' इति पाठान्तरम्। २. 'शिम्बिरा' इति पाठान्तरम्। ३. 'शिम्बिरोदारु' इति पाठान्तरम्। ४. 'कूबर' इति पाठान्तरम्। ५. 'मधूली शान्तनुः सण्डि' इति पाठान्तरम्। ६. 'मुकुन्दकाः' इति पाठान्तरम्।

अतिशय संग्राही, स्पर्श में शीत तथा विषनाशक होता है। उद्दालक उष्णवीर्य और नीवार कफ-वर्द्धक होता है। मधूलिका शीतवीर्य, विशेष रूप से स्निग्ध तथा वृष्य होती है।

(च) यव के गुण

रूक्षः शीतो गुरुः स्वादुः सरो विड्वातकृद्यवः ॥ १९ ॥
वृष्यः स्थैर्यकरो मूत्रमेदःपित्तकफान् जयेत्।
पीनसश्वासकासोरुस्तम्भकण्ठत्वगामयान् ॥ २० ॥
गुणैर्न्यूनतरा ज्ञेया यवादनुयवाह्वयाः।
उष्णाः सरा वेणुयवाः कषाया वातपित्तलाः ॥ २१ ॥

यव (जौ *Hordeum vulgare*) रूक्ष, शीतवीर्य, गुरु, रस में मधुर, सर (भेदक), पुरीषकारक तथा वातकारक होता है, वृष्य (शुक्रकारी), दृढ़ताकारक, मूत्र, मेद, पित्त एवं कफ नाशक होता है। पीनस, श्वास, कास, ऊरुस्तम्भ, कण्ठरोग तथा त्वक् रोग को नष्ट करता है। अनुयव (छोटे जौ) गुण में यव से अल्प (न्यून) होते हैं। वेणुयव (बाँस से उत्पन्न जौ) उष्णवीर्य, सर, रस में कषाय तथा वातपित्तकारक होते हैं।

पहले जौ भी गेहूँ की तरह भोजन में प्रयुक्त होता था, परन्तु गेहूँ अधिक स्वादिष्ट या रुचिकारक होने के कारण अब अत्यधिक प्रयुक्त होता है। जौ का प्रयोग मात्र मद्य उत्पादन आदि कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रह गया है।

(छ) गेहूँ के गुण

वृष्यः शीतो गुरुः स्निग्धो जीवनो वातपित्तहा।
सन्धानकारी मधुरो गोधूमः स्थैर्यकृत्सरः ॥ २२ ॥
पथ्या नन्दीमुखी शीता कषाया मधुरा लघुः।

इति शूकधान्यवर्गः।

गोधूम (गेहूँ *Triticum vulgare*) वृष्य (स्त्रीगमन-शक्तिकर), शीतवीर्य, गुरु, स्निग्ध, जीवन (धातुवृद्धिकर), वातपित्तनाशक, टूटी हुई अस्थियों को जोड़ने वाला, रस में मधुर, स्थिरताकारक तथा सर होता है। नन्दीमुखी गोधूम (*Triticum* sp. ?) पथ्य, शीतवीर्य, रस में कषाय, मधुर तथा लघु होता है।

(२) शिम्बीधान्यवर्गः

शिम्बिजा मुद्गमङ्गल्यवनमुद्गमकुष्ठकाः ॥ २३ ॥
मसूरचवलाढक्यश्चणकाश्च पृथग्विधाः।
कषायस्वादुलघवो विबन्धाध्मानकारिणः ॥ २४ ॥
रूक्षा बद्धमलाः शीता विपाके कटुका हिताः।
पित्तासृक्कफमेदस्सु सूपालेपादियोजनात् ॥ २५ ॥

१. मुद्ग (मूँग *Phaseolus mungo*), २. मङ्गल्यक (पीली मसूर *Lens culinaris* var ?), ३. वनमुद्ग (*Phaseolus* sp.), ४. मकुष्ठक (*Phaseolus aconitifolius*), ५. मसूर (*Lens culinaris*), ६. चवल (मटर *Pisum sativum*), ७. आढ़की (अरहर *Cajanus cajan* Linn), ८. चणक (चना *Cicer arietinum*)—उक्त अनेक प्रकार के शिम्बीधान्य रस में कषाय, मधुर, लघु, विबन्ध एवं आध्मानकारक, रूक्ष, मल को बाँधने वाले, शीतवीर्य, कटु विपाक एवं

पथ्य होते हैं। पित्तविकार, रक्तविकार, कफविकार तथा मेदोरोग में पथ्य होते हैं। इनका प्रयोग सूप (दाल) तथा लेपादि के रूप में किया जाता है।

मुद्ग, मकुष्ठ, मसूर एवं राजमाष

सूप्यानामुत्तमा मुद्गा लघीयांसोऽल्पमारुताः।
हरितास्तेष्वपि वरा मकुष्ठाः कृमिकारिणः ॥ २६ ॥
वर्ण्याः परं प्रलेपाद्यैर्मसूरा ग्राहिणो भृशम्।
राजमाषो गुरुर्भूरिशकृद्रूक्षोऽतिवातलः ॥ २७ ॥

मूँग (*Phaseolus mungo*) सभी दालों में उत्तम है, यह लघु तथा वातकारक है। इसमें हरा मुद्ग श्रेष्ठ है। मकुष्ठ (मोठ *Phaseolus aconitifolius*) कृमिकारक है। मसूर (*Lens culinaris*) प्रलेप आदि के रूप में प्रयोग करने पर अतिशय कान्तिकारक तथा आन्तरिक प्रयोग में अत्यन्त संग्राही है। राजमाष (*Dolichose sinensis*) गुरु, अत्यन्त पुरीषकारक, रूक्ष तथा अतिशय वातकारक होता है।

कुलत्थी

कषायस्वादुरूक्षोष्णाः कुलत्था रक्तपित्तलाः।
पीनसश्वासकासार्शोहिध्माऽऽनाहकफानिलान् ॥ २८ ॥
घ्नन्ति शुक्राश्मरीं शुक्रं दृष्टिं शोफं तथोदरम्।
ग्राहिणो लघवस्तीक्ष्णा विपाकेऽम्ला विदाहिनः ॥ २९ ॥

कुलथी (*Dolichos biflorus* Linn) रस में कषाय, मधुर, रूक्ष, उष्णवीर्य एवं रक्तपित्तकारक होती है। पीनस, श्वास, कास, अर्श, हिक्का, आनाह, कफ, वायु, शुक्राश्मरी, शुक्रधातु, दृष्टिशक्ति, शोफ तथा उदररोग को नष्ट करता है। यह संग्राही, लघु, तीक्ष्ण, अम्लविपाक तथा विदाही है।

निष्पाव (सेम)

निष्पावस्तु सरो रूक्षः कषायमधुरो गुरुः।
पाकेऽम्लो वातविष्टम्भी स्तन्यमूत्रास्रपित्तकृत् ॥३०॥
उष्णो विदाही दृक्शुक्रकफशोफविषापहः।

निष्पाव (सेम *Dolichos lablab*) सर, रूक्ष, रस में कषाय, गुरु, अम्लविपाक, वायु को स्तब्ध (रोकने वाला) करने वाला, स्तन्य (दुग्धकारक), मूत्र एवं रक्तपित्तकारक होता है। उष्णवीर्य, विदाही तथा दृष्टि-शुक्र-कफ-शोफ-विष को नष्ट करता है।

माष, काकाण्डोला, केंवाच एवं कुशाम्रशिम्बी

माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकरः सरः ॥ ३१ ॥
गुरूष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत्।
फलानि माषवद्विन्द्यात् काकाण्डोलात्मगुप्तयोः ॥ ३२ ॥
कुशाम्रशिम्बी मधुरा वातपित्तहरा हिमा।

माष (उड़द *Phaseolus radiatus*) स्निग्ध, बल-श्लेष्म-पुरीष-पित्तकारक, सर, गुरु, उष्णवीर्य, वातनाशक, रस में मधुर, शुक्रवर्धक तथा लिङ्गमार्ग में शुक्र की प्रवृत्ति में प्रेरक है।

काकाण्डोला तथा आत्मगुप्त (केवाच *Mucuna prurita* Hook) के फलों का गुण माष के समान होता है। कुशाम्रशिम्बी रस में मधुर, वातपित्तशामक तथा शीतवीर्य होता है।

अन्य शिम्बीधान्य

मधुराः शीतला गुर्व्यो बलघ्न्यो रूक्षणात्मिकाः ॥ ३३ ॥
स्नेहाढ्या बलिभिर्भोज्या विविधाः शिम्बिजातयः।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक शिम्बीधान्य रस में मधुर, शीतवीर्य, गुरु, बलनाशक तथा रूक्ष होते हैं। इनका प्रयोग घृत आदि स्नेहद्रव्यों के साथ बलवान् पुरुषों को करना चाहिए।

उपर्युक्त शिम्बीधान्य अधिकांशतः दाल के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अधिकांश को आधुनिक वर्गीकरण के अन्तर्गत लेग्यूमिनोसी कुल (Leguminoseae Family) में रखा गया है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार ये सभी प्रोटीन की अत्यधिक मात्रा से युक्त होते हैं, जो शरीर की रचना एवं वृद्धि में उपयोगी होते हैं। वस्तुतः इन्हीं के द्वारा शाकाहारी मनुष्य प्रोटीन और विटामिन बी काम्पलेक्स की अधिकांश मात्रा प्राप्त करते हैं।

तिल के गुण

स्निग्धोष्णतिक्तकटुकः कषायमधुरस्तिलः ॥ ३४ ॥
मेध्यः केश्यो गुरुर्वर्ण्यः स्पर्शशीतोऽनिलापहः।
अल्पमूत्रः कटुः पाके मेधाऽग्निकफपित्तकृत् ॥ ३५ ॥
कृष्णः प्रशस्तस्तमनु शुक्लस्तमनु चारुणः।

तिल (*Sesamum indicum* Linn) स्निग्ध, उष्णवीर्य, रस में तिक्त, कटु, कषाय एवं मधुर होता है। मेध्य, केश्य, गुरु, कान्तिकारक, स्पर्श में शीत, वातनाशक, मूत्र की मात्रा को कम करने वाला, कटु विपाक एवं मेधा-अग्नि-कफ-पित्त को बढ़ाने वाला होता है। तिलों में कृष्ण तिल श्रेष्ठ, सफेद तिल कृष्ण से कम तथा रक्त तिल सबसे हीन गुणों वाला होता है।

महर्षि चरक ने तिल को मेध्य के स्थान पर बल्य माना है। उन्होंने तिल के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है—

'स्निग्धोष्णो मधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः।
त्वच्यः केश्यश्च बल्यश्च वातघ्नः कफपित्तकृद्' ॥ (च० सू० २७।३०)

अलसी तथा कुसुम्भ-बीज के गुण

स्निग्धोमा स्वादुतिक्तोष्णा कफपित्तकरी गुरुः ॥ ३६ ॥
दृक्शुक्रहृत्कटुः पाके तद्वद् बीजं कुसुम्भजम्।

उमा (असली *Linum usitatissimum* Linn) स्निग्ध, रस में मधुर-तिक्त, उष्णवीर्य, कफ-पित्तवर्धक तथा गुरु होता है। शुक्रनाशक, दृष्टिनाशक तथा विपाक में कटु होता है। कुसुम्भ (*Carthamus tinctorius* Linn) का बीज असली के समान होता है।

शूक एवं शिम्बी धान्यों में अश्रेष्ठ

माषोऽत्र सर्वेष्ववरो यवकः शूकजेषु च ॥ ३७ ॥

शिम्बी धान्यों में माष (उड़द *Phaseolus radiatus*) सबसे अवर (अश्रेष्ठ) तथा शूक धान्यों में यवक (जई ?) सबसे अश्रेष्ठ है।

नूतन एवं पुरातन धान्य के गुण

नवं धान्यमभिष्यन्दि सेक्यं केदारजं च यत् ।
लघु वर्षोषितं दग्धभूमिजं स्थलसम्भवम् ॥ ३८ ॥
शीघ्रजन्म तथा सूप्यं निस्तुषं युक्तिभर्जितम् ।

इति शिम्बीधान्यवर्गः ।

जो धान्य नव (नूतन–एक वर्ष के भीतर उत्पन्न) हो तथा बहुत जल वाले क्षेत्र (खेत) में उत्पन्न हुआ हो, वह अभिष्यन्दि (स्रोतोरोधक) होता है । जो धान्य एक वर्ष पुराना हो, दग्ध-भूमिज (तृण, पुवाल आदि की अग्नि से दग्ध जमीन) में उत्पन्न हुआ हो, स्थलसम्भव (जल रहित भूमि में उत्पन्न) हो, शीघ्रजन्मा (शीघ्र पकने वाला) हो तथा युक्तिपूर्वक भूना हुआ तुषरहित सूप (मुद्गादि दाल) लघु होते हैं ।

(३) कृतान्नवर्गः

मण्डपेयाविलेपीनामोदनस्य च लाघवम् ॥ ३९ ॥
यथापूर्वं शिवः—

मण्ड, पेया, विलेपी तथा ओदन पूर्वोक्त क्रमानुसार लघु (शीघ्रपाकी) तथा शिव (कल्याण-कारी पथ्य) होते हैं । अर्थात् ओदन की अपेक्षा विलेपी, विलेपी की अपेक्षा पेया तथा पेया की अपेक्षा मण्ड लघु होते हैं ।

हेमाद्रि ने कहा है—'असिक्थं द्रवं मण्डः, ससिक्थं यवागूः सा द्विविधा—अल्पसिक्था पेया, बहुसिक्था विलेपी, अद्रवाणि सिक्थान्योदनः' । अर्थात् जिसमें सिक्थ (ठोस) भाग छोड़कर केवल द्रव लिया जाय, उसे मण्ड कहते हैं । सिक्थ-युक्त द्रव यवागू है, यह दो प्रकार का होता है—(१) अल्पसिक्थ (पेया)—जिसमें द्रव भाग अधिक तथा ठोस भाग अल्प हो । (२) बहुसिक्थ–जिसमें ठोस भाग अधिक किन्तु द्रव कम हो (विलेपी) । द्रव रहित सिक्थ (ठोस) को ओदन कहते हैं ।

मण्ड के गुण

—तत्र मण्डो वातानुलोमनः ।
तृड्ग्लानिदोषशेषघ्नः पाचनो धातुसाम्यकृत् ॥ ४० ॥
स्रोतोमार्दवकृत्स्वेदी सन्धुक्षयति चानलम् ।

मण्ड वायु का अनुलोमक है; प्यास, ग्लानि (क्लम), वमन, विरेचन, लंघन आदि से शेष (बचे) दोषों का नाशक है, आमदोषों का पाचक, धातुओं को साम्यावस्था में करने वाला, स्रोतसों को मृदु करने वाला, स्वेदकारक और अनल (जठराग्नि) को उद्दीप्त करता है ।

पेया के गुण

क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्यकुक्षिरोगज्वरापहा ॥ ४१ ॥
मलानुलोमनी पथ्या पेया दीपनपाचनी ।

पेया भूख, प्यास, ग्लानि, दुर्बलता, कुक्षिरोग (अतिसार, ग्रहणी-उदरशूल आदि) और ज्वर को नष्ट करती है । यह पुरीष वातादि मलों की अनुलोमक (स्वमार्गस्थापिनी), पथ्य, अग्निदीपक तथा आमदोष की पाचक है ।

विलेपी के गुण

विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता ॥ ४२ ॥
व्रणाक्षिरोगसंशुद्धदुर्बलस्नेहपायिनाम् ।

विलेपी संग्राही, हृदय के लिए हितकारक, तृषानाशक, अग्निदीपक तथा पथ्य है। व्रण, नेत्ररोग, वमन-विरेचन आदि से संशुद्ध, दुर्बल तथा स्नेहपान करने वालों के लिए पथ्य है।

ओदन के गुण

सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नस्त्यक्तोष्मा चोदनो लघु ॥ ४३ ॥
यश्चाग्नेयौषधक्वाथसाधितो भृष्टतन्दुलः ।
विपरीतो गुरुः क्षीरमांसाद्यैर्यश्च साधितः ॥ ४४ ॥

ओदन (तण्डुल)—जो ओदन सुधौत–सम्यक् प्रकार से प्रक्षालित हो, प्रस्रुत–सम्यक् प्रकार से मण्ड निकाला हो, स्विन्न–सम्यक् पक्व हो, अत्युक्तोष्ण–परित्यक्त वाष्प अर्थात् शीतल हो गया हो, वह लघु होता है। जो ओदन आग्नेय पंचकोल आदि क्वाथ से सिद्ध हो, भृष्ट–भुने हुए चावलों से बनाया जाता हो, वह भी लघु होता है। जो ओदन पूर्वोक्त प्रकार से नहीं बनाया जाता है, वह गुरु होता है तथा जो ओदन दुग्ध अथवा मांस रस से सिद्ध करके बनाया जाता है, वह गुरु होता है।

उपसंहार

इति द्रव्यक्रियायोगमानाद्यैः सर्वमादिशेत् ।

इस प्रकार सभी कृतान्न द्रव्यों के स्वरूप को क्रिया, संयोग (नानाविध विकल्प) तथा प्रमाण के द्वारा जानना चाहिए।

मांस रस के गुण

शुष्यतां व्याधिमुक्तानां शुद्धानां शुद्धिकाङ्क्षिणाम् ॥ ४५ ॥
कृशक्षामक्षतोरस्कक्षीणधात्विन्द्रियौजसाम् ।
दृष्टिश्रवणवह्न्यायुर्बलवर्णस्वरार्थिनाम् ॥ ४६ ॥
भग्नविश्लिष्टसन्धीनां व्रणिनां वातरोगिणाम् ।
हृद्यः पथ्यः परं वृष्यो बृंहणः प्रीणनो रसः ॥ ४७ ॥

रस (मांसरस)—जो सूखे हुए (अतिकृश पुरुष) हों, व्याधि से मुक्त लोगों को बलप्राप्ति हेतु, जो वमन-विरेचन आदि से संशुद्ध हों, जो संशोधन की आकांक्षा रखते हों, कृश, क्षाम (निर्बल) हों, उरःक्षत से पीड़ित हों, धातुक्षय हो गया हो, इन्द्रियाँ (विषयों को ग्रहण करने में) दुर्बल (क्षीण) हो गयी हों, जिनका ओज क्षय हो गया हो, जो दृष्टि (नेत्रज्योति), श्रवणशक्ति, जाठराग्नि, आयु, बल, कान्ति तथा स्वर को चाहते हों, जिनकी अस्थियाँ टूट गयी हों अथवा सन्धियाँ अपने स्थान से हट गयी हों, जिसको व्रण (घाव) हुआ हो तथा जो वातरोग से ग्रस्त हो, उनके लिए लाभप्रद है। यह हृदय के लिए हितकारक, पथ्य, अतिशय वृष्य और तृप्तिजनक है।

मुद्ग-कुलत्थी-माष यूष

मौद्गस्तु पथ्यः संशुद्धव्रणकण्ठाक्षिरोगिणाम् ।
वातानुलोमी कौलत्थो गुल्मतूनीप्रतूनिजित् ॥ ४८ ॥
प्रभूताभ्यन्तरमलो [1]माषयूषः परं स्मृतः ।

---

१. 'माषसूपः' इति पाठान्तरम् ।

मूँग (*Phaseolus mungo*) का यूष (दाल का पानी) वमन आदि से संशुद्ध लोगों को, व्रण-रोगियों, कण्ठ-रोगियों तथा नेत्र-रोगियों के लिए पथ्य होता है । कुलथी (*Dolichos biflorus* Linn) का यूष वायु का अनुलोमक, गुल्मरोग, तूनी एवं प्रतूनी नामक वातव्याधि को नष्ट करता है । माष (उड़द *Phaseolus radiatus*) का यूष आभ्यन्तर मल (पुरीष) को अधिक बनाता है ।

खल एवं काम्बलिक के गुण

खलकाम्बलिकौ हृद्यौ छेदिनौ स्वौषधानुगौ ॥ ४९ ॥
पिशितेन रसस्तत्र यूषो धान्यैः खलः फलैः ।
मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः ॥ ५० ॥

खल एवं काम्बलिक हृदय को प्रिय, छेदक एवं जिन औषधियों के संस्कार से बनते हैं, उन औषधियों के गुण वाले होते हैं । मांस के द्वारा जो बनाया जाता है वह रस; शिम्बीधान्य (मुद्ग आदि) से जो बनाया जाता है वह यूष; फलों (बेल आदि) से जो बनाया जाता है वह खल है । मूली (*Raphanus sativus*), तिल (*Sesamum indicum* Linn) कल्क एवं अनार (*Punica granatum* Linn) से जो बनाया जाता है, वह काम्बलिक कहा जाता है ।

कृत एवं अकृत

ज्ञेया कृताकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिताः ।

स्नेह आदि से भूने और शुण्ठी आदि से संस्कृत द्रव्य को कृत और इसके विपरीत स्नेह आदि से न भूने द्रव्यों को अकृत कहते हैं ।

दकलावणिक

अल्पमांसादयः स्वच्छा दकलावणिकाः स्मृताः ॥ ५१ ॥

जो थोड़ा सा मांस एवं थोड़ा सा शुण्ठी डालकर स्वच्छ (पतला) बनाया जाता है, उसको दकलावणिक कहते हैं ।

यूष आदि में गुरुता

विद्याद्यूषे रसे सूपे शाके चैवोत्तरोत्तरम् ।
गौरवं तनुसान्द्राम्लस्वादुष्वेषु पृथक् तथा ॥ ५२ ॥

द्रव्य गुण में समता होने पर भी यूष की अपेक्षा रस, रस की अपेक्षा सूप एवं सूप की अपेक्षा शाक गुरु होते हैं । इस प्रकार तनु यूष की अपेक्षा सांद्र यूष तथा अम्लरस यूष की अपेक्षा मधुररस यूष गुरु होते हैं ।

तिलपिण्याक आदि के गुण

तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं विरूढकम् ।
[1]शाण्डाकीवटकं दृग्घ्नं दोषलं ग्लपनं गुरु ॥ ५३ ॥

तिल की खली से बनाये गये पदार्थ, शुष्क शाक, विरूढक (अंकुरित एवं भूने हुए धान्य) तथा शाण्डाकी वटक (मुद्गादि वटक) दृष्टि को नष्ट करने वाले, दोषकारक, ग्लानिकारक और गुरु होते हैं ।

पापड़ के गुण

पर्पटा लघवो रुच्या लघीयान् क्षारपर्पटः ।

---

१. 'चाण्डाकी' इति पाठान्तरम् ।

पर्पटा (पापड़) लघु एवं रुचिकारक होता है तथा सज्जीक्षार से बनाया गया पापड़ अत्यन्त लघु होता है ।

राग एवं षाडव के गुण

हृद्या वृष्या रुचिकरा गुरवो रागषाडवाः ॥ ५४ ॥
प्रीणना भ्रमतृट्छर्दिमदमूर्च्छाश्रमच्छिदः ।

राग (मधु आदि कृत) एवं षाडव (अम्ल, शर्करा आदि कृत) हृदय के लिए प्रिय, वृष्य, रुचिकारक तथा गुरु एवं मन को प्रसन्न करने वाले होते हैं । भ्रम, तृषा, छर्दि, मद, मूर्च्छा तथा श्रम को नष्ट करने वाले होते है ।

मन्थ एवं रसाल के गुण

तृट्छर्दिश्रमनुन्मन्थः शीतः सद्यो बलप्रदः ॥ ५५ ॥
प्रमेहक्षयकुष्ठानि न च स्युर्मन्थपायिनः ।
रसाला बृंहणी वृष्या स्निग्धा बल्या रुचिप्रदा ॥ ५६ ॥

मंथ (पानी में घोला सत्तू) तृषा, छर्दि, श्रम (थकावट) को नष्ट करता है । वीर्य में शीत तथा शीघ्र बलप्रद होता है । इसका नित्य सेवन करने वालों को प्रमेह, राजयक्ष्मा तथा कुष्ठ रोग नहीं होते हैं । रसाला पुष्टिकारक, वृष्य, स्निग्ध, बलकारक तथा रुचिकारक होता है ।

पानक के गुण

श्रमक्षुत्तृट्क्लमहरं पानकं प्रीणनं गुरु ।
विष्टम्भि मूत्रलं हृद्यं यथाद्रव्यगुणं च तत् ॥ ५७ ॥

पानक (पेय पदार्थ) श्रम, भूख, प्यास, क्लम (मानसिक थकावट) को नष्ट करता है तथा तृप्तिकारक, गुरु, स्रोतोविष्टम्भिकारक, मूत्रल एवं हृद्य होता है और अपने द्रव्य के गुणानुसार होता है, अर्थात् जिन द्रव्यों से बनाया जाता है, उनके गुणों के अनुसार गुण वाला होता है ।

लाजा के गुण

लाजास्तृट्छर्द्यतीसारमेहमेदःकफच्छिदः ।
कासपित्तोपशमना दीपना लघवो हिमाः ॥ ५८ ॥

लाजा (लावा या खील) प्यास, छर्दि, अतिसार, प्रमेह, मेदोधातु तथा कफ को नष्ट करती है । कास एवं पित्त को शांत करती है । यह अग्निदीप्तिकर, लघु एवं वीर्य में शीत होती है ।

पृथुक के गुण

पृथुका गुरवो बल्याः कफविष्टम्भकारिणः ।

पृथुक (चिउड़ा) गुरु, बलकारक तथा कफ-विष्टम्भकारक होता है ।

धाना के गुण

धाना विष्टम्भिनी रूक्षा तर्पणी लेखनी गुरुः ॥ ५९ ॥

धाना (भृष्ट धान्य) विष्टम्भी, रूक्ष, तृप्तिकारक, लेखन तथा गुरु होते हैं ।

सत्तू के गुण

कण्ठनेत्रामयक्षुत्तृट्श्रमच्छर्दिव्रणापहा ।
सक्तवो लघवः पानात् सद्य एव बलप्रदाः ॥ ६० ॥
निचयात् कठिना गुर्वी प्रोक्ता पिण्डी मृदुर्लघुः ।
सक्तूनां द्रवतायोगाल्लघीयस्यवलेहिका ॥ ६१ ॥

शष्कुलीमोदकादीनां व्याख्यातैवं च कल्पना ।
नोदकान्तरितान्न द्विर्न निशायां न केवलान् ॥ ६२ ॥
न भुक्त्वा न द्विजैश्छित्त्वा सक्तूनद्यान्न वा बहून् ।

सत्तू कण्ठरोग, नेत्ररोग, भूख, प्यास, श्रम, छर्दि तथा व्रण रोग को नष्ट करता है। यह लघु होता है। जल में घोलकर पीने से सद्यः बलकारक होता है। सत्तू की बनी हुई कठिन पिण्डी गुरु होती है तथा मृदु पिण्डी लघु होती है। सत्तू को जल में डालकर बनायी गयी अवलेहिका अत्यंत लघु होती है। शष्कुली (पूड़ी) मोदक आदि भक्ष्य पदार्थों के गुणों की कल्पना संयोग, संस्कार आदि से करना चाहिए।

सत्तू सेवन-विधि—सत्तू भक्षण करते समय बीच-बीच में जल न पिये, दिन में दो बार सत्तू न खायें, रात्रिकाल में सत्तू न खायें, केवल सत्तू न खायें, दाँत से चबा-चबा कर सत्तू न खायें एवं अधिक मात्रा में भी सत्तू न खायें।

फलों के सत्तू (चूर्ण) के गुण

कर्कन्धुबदरादीनां श्रमतृष्णाक्लमच्छिदः ॥ ६३ ॥
सक्तवोऽम्लरसा हृद्या यथाद्रव्यगुणाश्च ते ।

कर्कन्धु (झाड़ी के छोटे बेर *Zizyphus nummularia*) तथा बदर (बड़े बेर *Zizyphus jujuba* Lam) आदि के सत्तू श्रम, तृष्णा तथा क्लम को नष्ट करते हैं। रस में अम्ल तथा हृदय के लिए हितकारक होते हैं तथा द्रव्यों के अनुसार गुण वाले होते हैं।

पिण्याक (तिलकुट) के गुण

पिण्याको ग्लपनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषणः ॥ ६४ ॥

पिण्याक ग्लानिकारक, रूक्ष, विष्टम्भिकारक तथा दृष्टि को दूषित करने वाला होता है।

वेशवार के गुण

वेसवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः ।

वेशवार (शुष्ठी, मरिच आदि से संस्कृत मांस) गुरु, स्निग्ध, बलवर्धक तथा पुष्टिकारक होता है।

मुद्गादि वेशवार

मुद्गादिजास्तु गुरवो यथाद्रव्यगुणानुगाः ॥ ६५ ॥

मूँग (*Phaseolus mungo*) आदि धान्यों से बनाये गये वेशवार गुरु होते हैं तथा जिन-जिन द्रव्यों के संयोग से बनाये जाते हैं, उनके अनुसार गुण वाले होते हैं।

अपूप

[1]कुकूलखर्पर[2]भ्राष्ट्रकन्द्वङ्गारविपाचितान् ।
एकयोनील्लघून्विद्यादपूपानुत्तरोत्तरम् ॥ ६६ ॥
घारीकेण्डरिकाद्याश्च गुरवश्च यथोत्तरम् ।

इति कृतान्नवर्गः ।

---

१. 'कुकूलो बाष्पस्वेदः । क्षारपाक इत्यन्ये । कर्परो ज्वालासन्तप्तकपालः । भ्राष्टं प्रसिद्धम् । कन्दुः अङ्गारतप्ता भित्तिः अङ्गारस्वरूपेणैव' इतीन्दुः ।

२. 'कर्परः' इति पाठान्तरम् ।

कुकूल, खर्पर, भ्राष्ट्र, कन्दु और अंगारों पर पकाये गए एक योनिजन्य (एक धान्य द्रव्यों से बने) अपूप उत्तरोत्तर लघु होते हैं और धारिका एवं इंदीरिका आदि उत्तरोत्तर गुरु होते हैं।

(४) मांसवर्गः

(क) मृगवर्ग

हरिणैणकुरङ्गर्श्यगोकर्णमृगमातृकाः ॥ ६७ ॥
कालपुच्छकचारुष्कवरपोतशशोरणाः ।
श्वदंष्ट्रारामशरभकोहकारकशम्बराः ॥ ६८ ॥
करालकृतमालौ च पृषतश्च मृगाः स्मृताः ।

मृगवर्ग—हरिण (*Cervus axis*), एण (कृष्णवर्ण हरिण *Antilope cervicupra*), कुरंग (*Cervus* sp.), ऋष्य (नीलाण्ड *Antilope* sp.), गोकर्ण (नीलगाय *Boselapus tragocamelus*), मृगमातृका (लघुपृथूदरा—लघु एवं चौड़े उदर वाला हरिण *Cervus porcinus*), कालपुच्छक (काले पूछों वाला मृग *Antilope cervicapra ?*), चारुष्क (अत्यन्त सुन्दर मृग ?) वरपोत (मृग-विशेष *Antilope* sp.), शश (खरगोश *Oryctolagus cuniculus*), उरण (खरगोश का एक भेद *Lepus ruficaudatus*), श्वदंष्ट्र (चतुर्दंष्ट्रा—अतिदुष्टा ?), राम (हिमालय में रहने वाला मृग *Tragulus memmina*), शरभ (अष्टपद वाला मृग—जिसके चार पैर पीठ पर होते हैं), कोहकारक (चरकानुसार कोट्टकारक *Cervus sp.*), शम्ब (विकट बहुविषाण—अनेक सींगों वाला मृग *Cervus duvauceli*), कराल (कस्तूरी मृग *Moschus tragulus*), कृतमाल (मृगविशेष *Axis porcinus ?*) तथा पृषत (बिन्दुओं से चित्रित मृग ?)। ये मृग की उन्नीस विशेष जातियाँ हैं।

आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार उक्त वर्ग के जन्तुओं को संघ—कार्डेटा (Chordata); वर्ग—स्तनधारी (Mammalia) एवं उपवर्ग—थीरिया (Theria) में व्यवस्थित किया गया है। आचार्य चरक ने उपर्युक्त प्राणियों को जांगल वर्ग के अन्तर्गत रखा है।

(ख) विष्किर वर्ग (चोंच से बिखेर कर खाने-वाले जन्तु)

लाववर्तीकवार्तीररक्तवर्त्मककक्कुभाः[1] ॥ ६९ ॥
कपिञ्जलोपचक्राख्यचकोरकुरुबाहवः ।
वर्तको वर्तिका चैव तित्तिरः क्रकरः शिखी ॥ ७० ॥
ताम्रचूडाख्यवरकगोनर्दगिरिवर्तिकाः ।
तथा सारपदेन्द्राभवरटाश्चेति[3] विष्किराः ॥ ७१ ॥

विष्किर वर्ग—लाव (लावा पक्षी *Turnix* sp.), वर्त्तीक (वनचटक—बटेर *Fracolinus* sp.), वार्त्तीर (गौर तित्तिर के सदृश पक्षी), रक्तवर्त्मक (घरों में रहने वाली गौरेया *Passer domesticus*), कक्कुभ (जंगली मुर्गा *Gallus gallus*), कपिञ्जल (गौर तित्तिर

---

१. 'कर्कटा' इति पाठान्तरम्। २. 'रुरुबाहव': इति पाठान्तरम्। ३. 'शारपदेन्द्राह्वबारटाश्चेति' इति पाठान्तरम्।

Francolinus sp.), उपचक्र (चकवा *Alectoris graeca*), चकोर (*Alectoris graeca chukar*), कुरुबाहु (नीली ग्रीवा, रक्त शिखा एवं श्वेत पंख वाला पक्षी ?), वर्तक (बत्तख *Sarkidiornis melanatos*), कुर्वातिका (छोटा बटेर *Francolinus* sp.), तित्तिर (तीतर *Francolinus* sp.), क्रकर (काली-पीली ग्रीवा, काली चोंच, काले पंख तथा रक्तपीठ वाला बया नामक पक्षी *Ploceus phillipinus*), शिखी (मयूर *Pavo cristasus*), ताम्रचूड़ (मुर्गा *Gallus gallus*), बरक (बगुला *Bubulcus ibis*), गोनर्द (गोक्ष्वेड *Hill partridge*), गिरिवर्तिका (पहाड़ी बटेर Mountain quail–Engl. name ?), सारपद (कंक सदृश पक्षी *Ciconia ciconia*), इन्द्राभ (कंक सदृश विविध वर्ण वाला पक्षी ?) तथा वरट (हंस सदृश पक्षी *Anser* sp.)—इस प्रकार ये इक्कीस विष्किर जन्तु कहे गये हैं ।

उपर्युक्त सभी विष्किर जन्तु आधुनिक वर्गीकरण के संघ–कार्डेटा (Chordata) तथा वर्ग—पक्षी वर्ग (Aves) में आते हैं ।

(ग) प्रतुद वर्ग (चोंच से चोट करने वाले जन्तु)

शतपत्रो भृङ्गराजः [1]कोयष्टिर्जीवजीवकः ।
खञ्जरीटकहारीतदुर्नामारिक्रृशा गृहाः[2] ॥ ७२ ॥
लट्वा लडूषो वटहा गोक्ष्वेडो डिण्डिमाणवः ।
जटी दुन्दुभिपार्कारलोहपृष्ठकुलिङ्गका ॥ ७३ ॥
सारिकाशुकशार्ङ्ग्याख्यचिरीटीककुयष्टिकाः ।
[3]मञ्जूलीयकदात्यूहगोपॉपुत्रप्रियात्मजाः ॥ ७४ ॥
[5]कलविङ्कः परभृतः कपोतोऽङ्गारचूडकः ।
पारावतः पाणविक इत्युक्ताः प्रतुदा द्विजाः ॥ ७५ ॥

प्रतुद वर्ग—शतपत्र (काष्ठ कुक्कुट–कठफोड़ा *Brachypternus bengalensis*), भृंगराज (कृष्णवर्ण वाला शिखावान ?), कोयष्टि (जलमुर्गी, Coucal ?), जीवजीवक (?), खंजरीटक (खंजन), हारीत (हरित-पीत वर्ण वाला पक्षी विशेष हरियल *Crocopus phoeni copterus*), दुर्नामारि (उल्लू *Tyto alba*), कृशगृह (?), लट्वा (*Scarlet minivet* ?), लडूषक (?), गोक्ष्वेड (?), डिंडिमाणव (Toucan ?), जटी (*Hea poe* Engl, name ?), दुंदुभि (*Horn bill* Engl. name ?), पार्कार (?), लोहपृष्ठ (*Alcedo* atthis), कुलिंगक (बबैया *Ploceus phillipinus*), सारिका (मैना *Acrido therus tristis*), शुक (तोता *Psittacula eupatrica*), शार्ङ्ग (पक्षी विशेष ?), चिरीटी (?), कुयष्टिक (?), मंजुलीयक (?), दात्यूह (नीलकण्ठ), गोपापुत्र (गोधापुत्र *Varanus monitor*), प्रियात्मज (*Columba* sp.), कलविंक (*Passer domesticus*), परभृत (कोयल *Eudynamis scolpaceus*), कपोत (कबूतर *Columba livia*), अंगारचूडक (?), पारावत (जंगली कबूतर *Columba* sp.), पाणविक (कबूतर विशेष *Columba* sp.)—ये चौंतीस प्रतुद पक्षी कहे जाते हैं ।

ये भी आधुनिक वर्गीकरण में संघ—कार्डेटा, वर्ग—पक्षी वर्ग के सदस्य हैं ।

---

१. 'कोषष्टी' इति पाठान्तरम् । २. 'ग्रहा' इति पाठान्तरम् । ३. 'मञ्जरीयक' इति पाठान्तरम् । ४. 'गोधापुत्र' इति पाठान्तरम् । ५. 'कलपिङ्कः' इति पाठान्तरम् ।

(घ) विलेशय वर्ग (बिल में रहने वाले जन्तु)

श्वेतः श्यामश्चित्रपृष्ठः कालकः काकुली मृगः ।
भेकचिल्लटकूचीकागोधाशल्यकशाण्डकाः ॥ ७६ ॥
वृषाहिकदलीश्वाविन्नकुलाद्या बिलेशयाः ।

बिलेशय—श्वेत (श्वेतवर्णक), श्यामवर्णक, चित्रित पीठ वाला, कृष्णवर्णी—ये चार काकुली (मृग *Antilope* sp.) नाम के प्राणी, भेक (मेढक–Toad, *Bufo melanostrictus*), चिल्लट (?), कूचीक (अंगों को संकुचित करने वाला ?), गोधा (गोह *Varanus monitor*), शल्लक (साही *Hystrix indica*), गंडक (सोडा *Vromastrix hardwickii*), वृष (जंगली बिलाव *Lutra lutra*), अहि (सर्प Member of class-reptilia family ophidia), कदली (बिलाव जैसा जन्तु *Lutra* sp.), श्वावित (बड़ी साही *Hystrix leucura*) तथा नकुल (नेवला *Herpestes edwardis*)—ये बिलेशय कहलाते हैं ।

आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार ये सभी संघ—कार्डेटा के प्राणी हैं ।

(च) प्रसह वर्ग (दूसरे से छीनकर आहार द्रव्य खाने वाले जन्तु)

गोखराश्वतरोष्ट्राश्वद्वीपिसिंहर्क्षवानराः ॥ ७७ ॥
मार्जारमूषकव्याघ्रवृकबभ्रुतरक्षवः ।
लोपाकजम्बुकश्येनचाषोलूकश्ववायसाः ॥ ७८ ॥
शशघ्नीभासकुररगृध्रवेश्यकुलिङ्गकाः ।
धूमिका मधुहा चेति प्रसहा मृगपक्षिणः ॥ ७९ ॥

प्रसह—गो (गाय *Bos indicus*), खर (गर्दभ *Equus vulgaris*), अश्वतर (खच्चर, *Mull*), उष्ट्र (ऊँट *Camelus dromediarius*), अश्व (घोड़ा *Equus caballus*), द्वीपी चित्रव्याघ्र (*Panthera tigris*), सिंह (*Panthera leo persica*), ऋक्ष (भालू *Vrsus torquatus*), वानर (*Macaca silenus*), मार्जार (बिल्ली *Felis chaus*), मूषक (चूहा *Rattus rattus*), वृक (भेड़िया *Canis lupus*), वभ्रु (भूटानी कुत्ता *Canis sp.*), तरक्ष (लकड़बग्घा *Hyaena striata*), लोपाक (लोमड़ी *Vulpes vulpes*), जंबुक (सियार या गीदड़ *Canis aureus*), श्येन (शिगरा बाज *Hawk*), चाष (श्वेतवर्णी चील *Milvus migrans*), उलूक (*Tyto alba*), श्व (कुत्ता *Canis jemiliaris*), वायस (कौआ *Carvus splendens*), शशघ्न (चील *Milvus migrans*), भास (श्वेत शिखावान गीध *Neophron perenopterus*), कुरर (अरुण एवं श्वेतमस्तक मछलियाँ पकड़ने वाला पक्षी *Ciconia* sp.), गृध्र (कृष्णवर्णी दूरदर्शी गीध *Sarcogyps calvus*), वेश्य (?), कुलिंग (घरों में रहने वाली सामान्य चिड़िया *Copsychus malabaricus*), धूमिका (Bubo bubo) तथा मधुहा (मधुघातक *Merops orientalis*)—ये सभी प्रसह जाति के पक्षी हैं ।

(छ) महामृग वर्ग (विशाल जन्तु)

महिषन्यङ्कुरोहीतवराहरुरुवारणाः ।
सृमरश्चमरः खड्गो गवयश्च महामृगाः ॥ ८० ॥

महिष (भैंस *Bos bubalus*), न्यंकु (हरिण *Antilope antilope*), रोहीत (लोहित वर्ण का मृग *Cervus* sp.), वराह (सुअर *Sus cristasus*), रुरु (बहुविषाण ?), वारण (हाथी *Elephes indica*), सृमर (वनतुरंग *Equus* sp.), चमर (जंगली गाय *Bos* sp.) खड्ग (गैंडा *Rhinoceros unicornis*), गवय (*Bos indicus*)—ये सभी महामृग कहे गये हैं ।

उपर्युक्त सभी महामृग वर्ग के प्राणी आधुनिक वर्गीकरण में संघ–कार्डेटा (Chordata), वर्ग स्तनधारी (Mammalia), उपवर्ग-थीरिया (Theria) में रखे गये हैं ।

(ज) जलचारी वर्ग (पानी में चलने वाले जन्तु)

हंससारसकादम्बबककारण्डवप्लवाः ।
मृणालकण्ठचक्राह्वबलाकारक्तशीर्षकाः ॥ ८१ ॥
उत्क्रोशपुण्डरीकाक्षशरारीमणितुण्डकाः[1] ।
काकतुण्डघनारावमद्गुक्रौञ्चाम्बुकुक्कुटाः ॥ ८२ ॥
नन्द्यास्यमल्लिकाद्याश्च पक्षिणो जलचारिणः ।

हंस (*Anser indicus*), सारस (*Antigone antigone*), कादंबक (कलहंस *Anser* sp.), बक (बगुला *Bubulcus ibis*), कारंडक (शुक्ल हंस सदृश पक्षी *Anser* sp.), प्लव (लमढीक ?), मृणालकंठ (Snake bird Engl name ?), चकवा, बलाका (बगुला *Bulbus* sp.), रक्तशीर्षक (लाल सिर वाला सारस *Ciconi ciconia*), उत्क्रोश (ऊँचे स्वर में बोलने वाला पक्षी ?), पुण्डरीकाक्ष (White eyed pochard Engl. name), शरारि (?), मणि-तुण्डक (Red watted lap wing Engl. name), काकतुंडिक (*Ardea cinerea*), घनाराव (?), मद्गु (जलकौआ *Phalacrocorax niger*), क्रौंच (*Anthropoides virgo*) अम्बुकुक्कुट (जलमुर्गा *Podiceps ruficollis*), नंदीमुख (?) तथा मल्लिका (हंस-सदृश, *Anser* sp.)—ये सब जलचारी पक्षी हैं ।

आधुनिक वर्गीकरण में उपर्युक्त सभी जलचारी पक्षी संघ–कार्डेटा, वर्ग–पक्षीवर्ग एवं Super order—Neognathae or Carinatae के अन्तर्गत रखे गये हैं ।

(झ) मत्स्य वर्ग

मत्स्या रोहितपाठीनकूर्मकुम्भीरकर्कटाः ॥ ८३ ॥
शुक्तिशङ्खोद्रुशम्बूकशफरीवर्त्मिचन्द्रिकाः ।
चुल्लकीनक्रमकरशिशुमारतिमिङ्गिलाः ॥ ८४ ॥
राजीचिलिचिमाद्याश्च मांसमित्याहुरष्टधा ।

रोहित (रोहू मछली *Labeo rohita*), पाठीन मछली (?), कूर्म (कछुआ *Trionyx* sp.) कुंभीर (घड़ियाल *Corocodilus propus*), कर्कट (केकड़ा *Seillia serrata*), शुक्ति (सीप बनाने वाला कृमि *Lamellidens marginalis*), शंख (शंख कृमि *Turbo mormoratus*), उद्र (जलविडाल Cat fishes), शंबूक (क्षुद्र शंखकृमि *Lymnaea* sp.), शफरी (क्षुद्र मत्स्य ?), वर्मि (सर्पाकार मछली ?), चन्द्रिका (जिसके पार्श्व में काँटे हों *Pristis cuspidatus*), चुल्लकी (?), नक्र (बड़ा मगर *Crocodilos prososus*), शिशुमार (सुंहिस *Eotumerine croccodile-crocadilos* sp.), तिमिंगल (शतयोजन विस्तृत मछली ह्वेल *Delphinus perniger*), राजी (?) तथा चिलचिम (?)—ये सब मत्स्य वर्ग कहे जाते हैं ।

---

१. 'सुण्डिका' इति पाठान्तरम् ।

उपर्युक्त मत्स्य वर्ग में कुछ जन्तु आधुनिक वर्गीकरण के सरीसृप वर्ग के सदस्य यथा नक्र भी रखे गये है। इस तरह आठ प्रकार का मांस वर्ग माना जाता है।

बकरी और भेड़

योनिष्वजावीव्यामिश्रगोचरत्वादनिश्चिते ॥ ८५ ॥

बकरी (अज *Capra sibica*) और भेंड़ (आविक *Ovis vignei*) ये दोनों प्राणी उपर्युक्त आठ मांस योनियों (वर्ग) के मध्य निश्चित नहीं कहे गये हैं, क्योंकि ये दोनों जन्तु पानी (आनूप) एवं जांगल दोनों देशों में रहते हैं।

मांस, मत्स्य और अंडे में विभिन्न संघटकों की मात्रा (प्रति १०० ग्राम)

	प्रोटीन	वस	खनिज लवण
मांस (बकरी)	१८.५	१३.३	१.३
मत्स्य	२१.५	१६	२.०
अंडा (मुर्गी)	१३.३	१३.३	१.०

अन्य विवेचन

आद्यान्त्या जाङ्गलानूपा मध्यौ साधारणौ स्मृतौ।
विकीर्यादिक्रियायोगैर्भक्षणाद्विष्किरादयः ॥ ८६ ॥

इन आठ मांस-वर्गों में पहले के तीन (मृग, विष्किर एवं प्रतुद) जांगल, अन्तिम तीन (महामृग, जलचारी एवं मत्स्य) आनूपदेशीय तथा मध्य के शेष दो (विलेशय और प्रसह) साधारण देश के हैं।

बिखेर कर खाने के कारण इनके विष्किर आदि नाम रखे गये हैं।

जांगल मांस

तत्र बद्धमला रुच्या मांसानामुत्तमा हिमाः।
कषायस्वादुविशदा लघवो जाङ्गला हिताः ॥ ८७ ॥
पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे।

जांगल मांस मल को बाँधने वाला, रुचिकारक, सब मांसों में उत्तम, वीर्य में शीत, रस में कषाय एवं मधुर, विशद, लघु होता है। उस सन्निपात में जिसमें पित्त प्रधान, वात मध्य और कफ स्वल्प होता है, उसमें हितकारी होता है।

हरिण एवं खरगोश के मांस का गुण

ताम्रोऽत्र हरिणः कृष्णस्त्वेणो हृद्यस्त्रिदोषजित् ॥ ८८ ॥
लघीयान् षड्रसश्चासौ ग्राही रूक्षो हिमः शशः।
कटुपाकोऽग्निकृत्पथ्यः सन्निपातेऽनिलावरे ॥ ८९ ॥

जांगल देश के प्राणियों में ताम्रवर्ण वाला जो हरिण है, वह मृगवर्ग में हरिण और काले रंग का एण कहा गया है। इन दोनों का मांस हृद्य एवं त्रिदोषनाशक होता है। यह लघु, छः रस वाला, ग्राही, रूक्ष एवं शीतवीर्य होता है। खरगोश का मांस विपाक में कटु, अग्निवर्धक तथा सन्निपात में हितकर होता है।

विभिन्न मांसों का गुण

तद्वल्लावोऽप्यरूक्षस्तु किञ्चिद्रूक्षः कपिञ्जलः ।
पारावताः कपोताश्च तद्वद्वन्याः सुपूजिताः ॥ ९० ॥
ईषदुष्णगुरुस्निग्धा बृंहणा वर्तकादयः ।
तित्तिरिस्तेष्वपि वरो मेधाऽग्निबलशुक्रकृत् ॥ ९१ ॥
ग्राही वर्ण्योऽनिलोद्रिक्तसन्निपातहरः परम् ।
धन्वानूपविचारित्वात् स्निग्धोष्णगुरुबृंहणः ॥ ९२ ॥

लावा (लाव नामक पक्षी *Turnix* sp.) का मांस खरगोश (*Oryctolagus cuniculus*) के मांस के गुण वाला होता है, किन्तु रूक्ष नहीं होता । कपिंजल (*Francolinus* sp.) नामक पक्षी का मांस कुछ रूक्ष होता है । पारावत (*Columba* sp.) एवं कबूतर (*Columba livia domestica*) भी खरगोश (*Oryctolagus cuniculus*) के समान गुण वाले होते हैं, किन्तु जंगली कबूतर (*Columba* sp.) एवं पारावत (*Columba* sp.) अधिक उत्तम होते हैं ।

वर्तक (बत्तख *Sarkidiornis melanatos*) आदि के मांस कुछ उष्ण, गुरु, स्निग्ध तथा बृंहण होते हैं । इनमें तीतर (*Francolinus francolinus*) सबसे उत्तम होता है एवं बुद्धि, अग्नि, बल और शुक्र को बढ़ाता है, ग्राही तथा कांतिकारक होता है । वाताधिक सन्निपात नाशक होता है । जांगल एवं आनूपदेश में विचरण करने के कारण स्निग्ध, उष्ण, गुरु, एवं बृंहण होता है ।

नातिपथ्यः शिखी पथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदृशाम् ।
तद्वच्च कुक्कुटो वृष्यो ग्राम्यस्तु श्लेष्मलो गुरुः ॥ ९३ ॥
मेधानलकरा हृद्याः क्रकराः सोपचक्रकाः ।
गुरुः सलवणः काणकपोतः सर्वदोषकृत् ॥ ९४ ॥

शिखी (मयूर *Pavo cristasus*) का मांस अधिक पथ्य नहीं होता है, किन्तु श्रोत्र (श्रवणेन्द्रिय), वय तथा दृष्टि के लिए पथ्य होता है । कुक्कुट (*Gallus gallus*) का मांस मयूर (*Favo cristasus*) के मांस के समान होता है । इनमें ग्राम्य कुक्कुट कफकारक एवं गुरु होता है ।

क्रकर (बया नामक पक्षी *Ploceus phillipinus*) एवं चकवा (?) नामक पक्षियों का मांस मेध्य, अग्निकारक एवं हृद्य होता है । काणकपोत (काले कबूतर *Columba livia*) का मांस गुरु, किंचित् लवण रस एवं त्रिदोषकर होता है ।

गुरूष्णस्निग्धमधुरा वर्गाश्चातो यथोत्तरम् ।
मूत्रशुक्रकृतो बल्या वातघ्नाः कफपित्तलाः ॥ ९५ ॥

इसके आगे विलेशयादि वर्ग के प्राणियों के मांस उत्तरोत्तर गुरु, उष्ण, स्निग्ध एवं मधुर होते हैं । सभी मूत्रल एवं शुक्रकारक होते हैं । बल्य, वातघ्न, कफ एवं पित्तकारक होते हैं ।

शीता महामृगास्तेषु क्रव्यादाः प्रसहाः पुनः ।
चक्षुष्याः सृष्टविण्मूत्रा मांसलाः कटुपाकिनः ॥ ९६ ॥

जीर्णार्शो ग्रहणीदोषशोषार्तानां परं हिताः।
गोधा नियच्छति विषं मूषकः शुक्रवर्धनः॥ ९७॥

इन मांसवर्गों के मध्य में महामृग वर्ग का मांस शीतवीर्य है। क्रव्यादि (आम मांस-भक्षक या मांसाहारी) प्रसह का मांस चक्षुष्य, मल-मूत्रप्रवर्त्तक, मांसवृद्धिकारक एवं विपाक में कटु होता है। जीर्ण अर्श, ग्रहणी, राज्यक्ष्मा आदि रोगों से पीड़ित रोगियों को अत्यन्त हितकारी होता है। गोधा (गोह *Varanus monitor*) का मांस विषघ्न तथा मूषक (*Rattus rattus*) का मांस शुक्रवर्धक होता है।

शुष्ककासश्रमात्यग्निविषमज्वरपीनसान् ।
कार्श्यं केवलवाताँश्च गोमांसं सन्नियच्छति॥ ९८॥
चटकाः श्लेष्मलाः स्निग्धा वातघ्नाः शुक्रलाः परम्।
गुरूष्णो महिषः स्निग्धः स्वप्नदार्ढ्यबृहत्वकृत्॥ ९९॥
तद्वद्वराहः श्रमहा रुचिशुक्रबलप्रदः।

गाय (*Bos indicus*) का मांस शुष्क, कास, थकावट, विषम ज्वर, पीनस, कृशता और केवल वातरोगों को शान्त करता है। चटक (गौरैया *Passer domesticus*) का मांस कफ-कारक और अत्यन्त शुक्रवर्धक होता है।

भैंस (*Bos bubalus*) का मांस गुरु, उष्ण, मेद को लाने वाला तथा दृढ़ताकारक एवं शरीर को वृहत् (स्थूल) करने वाला होता है। सूअर (*Sus cristasus*) का मांस भैंस (*Bos bubalus*) के मांस के समान गुण वाला होता है तथा श्रमनाशक, रुचि, शुक्र एवं बल को पैदा करने वाला होता है।

हंसः स्वरकरः पित्तरक्तजिन्मधुरो[1] हिमः॥ १००॥

हंस (*Anser indicus*) का माँस स्वरकारक, रक्तपित्तकारक, रस में मधुर तथा वीर्य में शीत होता है।

कफपित्तकरा मत्स्याः परं पवननाशनाः।
प्रतिस्रोतोविचारित्वादाकाशप्लवनेन च॥ १०१॥
रोहितः प्रवरस्तेषां परं चिलिचिमोऽवरः।
अगोचरविचारित्वात् सर्वदोषकरो हि सः॥ १०२॥
कुलीरः परमं वृष्यो बृंहणः प्रीणनो गुरुः।

मछली (Fish) का मांस सामान्यतः कफ-पितकारक तथा अत्यन्त वातनाशक होता है। रोहू मछली (*Labeo rohita*) जल की धार के प्रतिकूल चलने से, जल के मध्य में तैरने तथा छलांग मारने के कारण इसका मांस उत्तम होता है। चिलचिम (?) का मांस सबसे निकृष्ट होता है, क्योंकि यह अगोचर (अयोग्य) स्थान शैवाल आदि में विचरने से सर्वदोषकारक होती है। कुलीर (केकड़ा *Seillia serrata*) का मांस अत्यन्त वृष्य, बृंहण, प्रीतिकर तथा गुरु होता है।

नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम्॥ १०३॥
शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम्।
विपरीतमतो ज्ञेयमाविकं बृंहणं तु तत्॥ १०४॥

---

१. 'मेदुरो' इति पाठान्तरम्।

बकरी (*Capra sibica*) का मांस न अधिक शीत, न अधिक गुरु और न अधिक स्निग्ध होता है। मानव-शरीर की धातुओं के समान गुण वाला होने के कारण दोषकारक एवं अभिष्यन्दि नहीं होता, किन्तु बृंहण होता है। भेंड़ (*Ovis vignei*) का मांस बकरे (*Capra sibica*) के मांस के विपरीत गुण वाला होता है, किन्तु बृंहणकारक होता है।

त्याज्य (अभक्ष्य) मांस

अतिमेद्यं त्यजेन्मांसं हतं व्याधिविषोदकैः।
स्वयं मृतं धूमपूर्णमगोचरमृतं कृशम् ॥ १०५ ॥

अति मेदस्वी जन्तु का मांस, रोग से, विष से या पानी में डूबने से मरे, अगोचर स्थान में मृत तथा अत्यन्त कृश जन्तु का मांस नहीं खाना चाहिए।

प्रशस्त (भक्ष्य) मांस

सद्योहतं वयस्थं च शुद्धं सुरभि शस्यते।

तत्काल मारे हुए जन्तु का मांस, युवा जन्तु का मांस, शुद्ध माँस तथा दुर्गन्धि रहित मांस प्रशस्त (भक्ष्य) है।

आनन्दित मांस

एणः कुरङ्गो हरिणः शशो लावः कपिञ्जलः ॥ १०६ ॥
तित्तिरिः क्रकरो गोधा श्वाविद् गृध्रो मृगाधिपः।
बर्हिणः सारिकान्यङ्कुर्हंसो रोहितकच्छपौ ॥ १०७ ॥
वर्त्मी चाग्र्यः स्ववर्गेषु प्रवरास्तेष्वपि स्मृताः।
लावैणगोधाः सिंहाश्च—

एण (*Antilope ceruicupra*), कुरंग (*Cervus* sp.), हरिण (*Cervus axis*), शश (*Oryctolagus cuniculus*) मृगवर्ग में श्रेष्ठ हैं। लाव (*Turnix* sp.), कपिञ्जल (*Francolinus* sp.) तथा क्रकर (बया *Ploceus phillipinus*) विष्किर वर्ग में श्रेष्ठ हैं। गोधा (*Varanus monitor*) और श्वावित् (बड़ी साही *Hystrix leucura*) ये विलेशय वर्ग में श्रेष्ठ हैं। गृध्र (*Sarcogyps calvus*) एवं सिंह (*Panthera leo persica*) प्रसह वर्ग में श्रेष्ठ है। प्रतुद वर्ग में सारिका (मैना *Acridotherus tristis*) श्रेष्ठ है। न्यंकु (*Antilope antilope*) महामृगों में श्रेष्ठ है। हंस (*Anser indicus*) जलचारी वर्ग में श्रेष्ठ है। रोहित (*Labeo rohita*), कछुआ (*Kachuga tectum*) तथा वर्मि (सर्पाकार मछली ?) जलज वर्ग में श्रेष्ठ है। इन सबमें भी एणादि में एण (*Antilope ceruicupra*), लवादि में लाव (*Turnix* sp.), श्वाविद् में गोधा (*Varanus monitor*), एवं सिंह में सिंह (*Panthera leo persica*) श्रेष्ठ है।

निन्दित मांस

—निन्दितो गौः सदर्दुरः ॥ १०८ ॥
ऋष्यः काणकपोतश्च शेषमुक्तं यथायथम्।

गाय (*Bos indicus*), मेढक (*Rana tigrina*), ऋक्ष (भालू *Ursus torquatus*), काणकपोत (*Columba livia* var. ?) ये चार अपने वर्गों में निन्दित हैं। शेष प्राणियों में मांस गुणानुसार समझना चाहिए।

अंडा, बाल एवं वृद्ध पक्षियों में मांस के गुण

गुरूण्यण्डानि बालानां कषायलवणं पलम् ॥ १०९ ॥
वृद्धानां स्नायुभूयिष्ठमबल्यं गुरुदोषलम् ।

पक्षियों के अण्डे गुरु होते हैं, बालक पक्षियों का मांस रस में कषाय एवं लवण होता है। वृद्ध पक्षियों का मांस स्नायुबहुल, अबल्य, गुरु और त्रिदोषकारक होता है।

मांस की गुरुता-लघुता

पुंस्त्रियोः पूर्वपश्चार्धे गुरुणी गर्भिणी गुरुः ॥ ११० ॥
लघुर्योषिच्चतुष्पात् सु विहङ्गेषु पुनः पुमान् ।
शिरःस्कन्धोरुपृष्ठस्य कट्याः सक्थ्नोश्च गौरवम् ॥ १११ ॥
तथाऽऽमपक्वाशययोर्यथापूर्वं विनिर्दिशेत् ।
शोणितप्रभृतीनां तु धातूनामुत्तरोत्तरम् ॥ ११२ ॥
मांसाद् गरीयो वृषणमेण्ढ्रवृक्कयकृद्गुदम् ।

पुमान् (पुरुष) जन्तु का नाभि से ऊपर का मांस गुरु होता है। गर्भिणी जन्तु का सारा मांस गुरु होता है। चौपायों में स्त्री जन्तु का मांस लघु होता है और पक्षियों में पुरुष जन्तु का मांस लघु होता है। सक्थि मांस से कटि मांस, कटि से पृष्ठ मांस, पृष्ठ से उरु, उरु से स्कन्ध तथा स्कन्ध से शिरःप्रदेश का मांस गुरु होता है, पक्वाशय से अधिक आमाशय का मांस गुरु होता है। रक्तादि धातुएँ यथोत्तर गुरु होती हैं। मांस से वृषण, वृषण से मेढ्र, मेढ्र से वृक्क, वृक्क से यकृत् और यकृत् से गुदा गुरु होती है।

इति मांसवर्गः ।

(५) शाकवर्ग

पाठा आदि शाक के गुण

शाकं पाठा शठी [1]सूषा [2]सुनिषण्णसतीनजम् ॥ ११३ ॥
त्रिदोषघ्नं लघु ग्राहि सराजक्षववास्तुकम् ।
सुनिषण्णोऽग्निकृद्वृष्यस्तेषु राजक्षवः परम् ॥ ११४ ॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नो वर्चोभेदि तु वास्तुकम् ।
हन्ति दोषत्रयं कुष्ठं वृष्या सोष्णा रसायनी ॥ ११५ ॥
काकमाची सरा स्वर्या चाङ्गेर्यम्लाग्निदीपनी ।
ग्रहण्यर्शोऽनिलश्लेष्महितोष्णा ग्राहिणी लघुः ॥ ११६ ॥

पाठा (अम्बष्ठा *Cyclea peltata* Diels), शठी (कचूर *Hedychium spicatum* Ham), सूषा (कासमर्दिका *Cassia occidentalis* Linn.), सुनिषण्णक (वर्तुल चांगेरी सदृश पर्ण *Marsilea minuta* Linn.), सतीन (विष्णुकांता मटर *Pisum sativum*), राजक्षव (नकछिकनी *Centipeda orbicularis*) एवं वास्तूक (*Chenopodium album* Linn) का शाक त्रिदोष-शामक, लघु और ग्राही होता है। इनमें सुनिषण्णक (*Marsilea minuta* Linn) का शाक अग्नि-कृत (दीपन), वृष्य (शुक्रल) तथा राजक्षवक (*Centipeda orbicularis*) का शाक उत्तम

१. 'श्रूषा' इति पाठान्तरम् । २. 'सुनिषण्ड' इति पाठान्तरम् ।

कोटि का ग्रहणी रोग एवं अर्श रोग का नाशक होता है। बथुआ (वास्तूक *Chenopodium album*) का शाक वर्चोभेदी (मलभेदक–सर) होता है। काकमाची (मकोय *Solanum nigrum*) का शाक त्रिदोघ्न, कुष्ठरोगनाशक, वृष्य, किंचित् उष्ण, रसायन (आयुवृद्धिकारक), सर (मलभेदक) तथा स्वर्य (कंठ के लिए हितकारी) होता है। चांगेरी (*Oxalis corniculata* Linn.) का शाक रस में अम्ल, अग्निदीपक, ग्रहणीरोग, अर्शरोग, वातविकार एवं कफविकार में पथ्य, वीर्य में उष्ण, ग्राहिणी (संग्रहणशीला) तथा लघु होता है।

पटोल आदि शाक के गुण

पटोलसप्तलारिष्टशार्ङ्गेष्टाऽवल्गुजाऽमृताः ।
वेत्राग्रबृहतीवासाकुन्तलीतिलपर्णिकाः ॥ ११७ ॥
मण्डूकपर्णीकर्कोटकारवेल्लकपर्पटाः ।
नाडीकलायगोजिह्वावार्ताकं वनतिक्तकम् ॥ ११८ ॥
करीरं कुलकं नन्दी कुचैला[1] शकुलादनी ।
कटिल्लं केम्बुकं शीतं सकोशातककर्कशम् ॥ ११९ ॥
तिक्तं पाके कटु ग्राहि वातलं कफपित्तजित् ।

परवल (पटोल *Trichosanthes cucumerina* Linn.), सप्तला (सातला–शिकाकाई *Euphorbia dracunculoides* Linn.), अरिष्ट (निम्ब *Azadirachta indica* A. Suss), शार्ङ्गेष्टा (अंगारवल्ली–काकजंघा *Peristrophe bicalyculata* Nees.), अवल्गुजा (बाकुची *Psoralea corylifolia* Linn.), अमृता (गुडूची *Tinospora cordifolia* Willd), वेत्राग्र (वेंत का अग्र भाग *Salix caprea* Linn.), बृहती (बड़ी कटेरी *Solanum indicum* Linn.), वासा (आटरूषक अडूसा *Adhatoda vasica* Nees.), कुंतली (सूक्ष्म तिल जाति ?), तिलपर्णिका (बदरक *Gynandropsis gynandra* Linn.), मंडूकपर्णी (*Centella asiatica* Linn.), कर्कोटक (कर्कोटी फल *Momordica cochinensis*), कारवेल्लक (करैला *Momordica cochinensis*), पर्पट (ज्वरघ्न *Fumaria parviflora* Lam), नाड़ीकलाय (मत्स्याक्ष *Alternanthera sessilis* ?), गोजिह्वा (दर्वीपत्रिका *Elephantopus scaber* Linn.), वार्ताक (बैंगन *Solanum melongena* Linn.), वनतिक्तक (किराततिक्तक–चिरायता *Swertia chirayita* Roxb. ex. Flem), करीर (गूढपत्र *Capparis decidua* Edgew.), कुलक (काकतिन्दुक–पटोल *Trichosanthes dioica* Roxb.), नन्दी (*Gmelina arborea* Linn.), कुचैला (*Strychnos nuxvomica* Linn.), शकुलादनी (कटुरोहिणी *Picrorrhiza kurrora* Roylex Benth.), कटिल्ल (पुनर्नवा *Boerhavia diffusa* Linn.), केंबुक (करेमुम *Costus speciosus* Simith), कोशातकी (*Luffa acutangula* Linn.) एवं कर्कश (काम्पिल्लक *Mallotus philippinensis*)—ये अठाइस शाक शीतवीर्य, रस में तिक्त, विपाक में कटु, ग्राही, वातकारक तथा कफ-पित्तशामक होते हैं।

हृद्यं पटोलं कृमिनुत् स्वादुपाकं रुचिप्रदम् ॥ १२० ॥
पित्तलं दीपनं भेदि वातघ्नं बृहतीद्वयम् ।
वृष्यं तु वमिकासघ्नं रक्तपित्तहरं परम् ॥ १२१ ॥

---

१. 'कुवेला' इति पाठान्तरम् ।

कारवेल्लं सकटुकं दीपनं कफजित्परम्[1] ।
वार्ताकं कटुतिक्तोष्णं मधुरं कफवातजित् ॥ १२२ ॥
सक्षारमग्निजननं हृद्यं रुच्यमपित्तलम् ।

इनमें परवल (*Trichosanthes cucumerina* Linn.) हृद्य, कृमिनाशक, विपाक में मधुर तथा रुचिकारक होता है । छोटी एवं बड़ी कटेरी (*Solanum xanthocarpum & Solaum indicum*) का शाक पित्तकारक, अग्निदीपक, मलभेदक तथा वातघ्न होता है । वासा (अडूसा *Adhatoda vasica* Nees.) वमन और कास को नष्ट करता है तथा अत्यन्त रक्तपित्तनाशक होता है । करैला (*Momordica cochinersis*) रस में किंचित् कटु, अग्निदीपक तथा कफशामक है । वार्ताक (बैंगन *Solanum melongena* Linn.) का शाक रस में कटु-तिक्त-मधुर, वीर्य में उष्ण और कफ-वातशामक होता है । कुछ क्षारयुक्त, अग्निदीपक, हृद्य, रोचक एवं अपित्तल (किंचित् पित्तकर) होता है ।

करीरमाध्मानकरं कषायं स्वादु तिक्तकम् ॥ १२३ ॥
कोशातकावल्गुजकौ भेदनावग्निदीपनौ ।

करीर (*Cappris decidua* Edgew.) का शाक आध्मानकारक, रस में कषाय, मधुर और तिक्त होता है । कोशातकी (*Luffa acutangula*) तथा अवगुल्जिका (*Psoralea corylifolia* Linn.) के शाक मलभेदक और अग्निदीपक होते हैं ।

श्यामादिक शाक के गुण

श्यामाशाल्मलिकाश्मर्यभञ्जीकर्णकयूथिकाः ॥ १२४ ॥
वृक्षादिनीक्षीरिवृक्षबिम्बीतनिकवृक्षकाः ।
लोध्रः शणः कर्बुदारः[2] ससेलुर्वृषमुष्टिका ॥ १२५ ॥
भल्लातकः कोविदारः कमलोत्पलकिंशुकम् ।
पटोलादिगुणं स्वादु कषायं पित्तजित्परम् ॥ १२६ ॥

श्यामा (त्रिवृत् *Operculum turpethum* Linn.), शाल्मली (सेमल *Salmalia malabaraca*), काश्मर्य (गंभारी *Gmelina arborea* Linn.), भञ्जी (भार्ङ्गी *Rivea ornata chois*), कर्णक (?), यूथिका (जूही *Jasmine auriculatum* Vahl.), वृक्षादन (बंदाक *Dendrophthoe falcata* Linn. f.), क्षीरिवृक्ष (वट–गूलर आदि *Ficus* sp.), बिम्बी (कुन्दरु *Coccinia indica* W. & A.), तनिक (शाक-विशेष ?), वृक्षक (कुटज *Holarrhena antidysenterica*), लोध्र (*Symphlocos racemoso* Roxb.), शण (सनई *Crotalaria juncea* Linn.), कर्बुदार (श्वेत काञ्चनार *Bahunia perpurea* Linn.), शेलु (श्लेष्मातक–लसोड़ा *Cordia dichotoma* Forst.), विषमुष्टिका (कुचिला का फल *Strychnos nuxvomica* Linn.), भल्लातक (*Semecarpus anacardium*), कोविदार (काँचनार *Bahunia varigata*), कमल (*Nelumbo nucifera*), उत्पल (*Nymphea stellata* Willd.) और किंशुक (पलाश *Butea monosperma*) । ये पटोलादि वर्ग के समान गुण वाले, रस में मधुर, कषाय और अत्यन्त पित्तशामक हैं ।

---

१. 'कफपित्तजित्' इति पाठान्तरम् । २. 'कच्छदारः' इति पाठान्तरम् ।

बद्धमूत्रं सरा भञ्जी करीरं स्यादभीरुजम् ।
सतिक्तं लघु चक्षुष्यं वृष्यं दोषत्रयप्रणुत् ॥ १२७ ॥
तण्डुलीयो हिमो रूक्षः स्वादुपाकरसो लघुः ।
मदपित्तविषासृग्घ्नो[1] मुञ्जातं वातपित्तजित् ॥ १२८ ॥
स्निग्धं शीतं गुरु स्वादु बृंहणं शुक्रकृत् परम् ।
पालक्या पिच्छिला गुर्वी श्लेष्मला भेदिनी हिमा ॥ १२९ ॥
मदघ्न्युपोदका चुञ्चुर्ग्राही तौ पूर्ववत्तथा ।
विदारी वातपित्तघ्नी मूत्रला स्वादुशीतला ॥ १३० ॥
जीवनी बृंहणी कण्ठ्या गुर्वी वृष्या रसायनी ।
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नौ जीवन्ती मधुरा हिमा ॥ १३१ ॥
शाकानां प्रवरा न्यूना द्वितीया किञ्चिदेव तु ।
वातपित्तहरा भण्डी पर्वणी पर्वपुष्पिका ॥ १३२ ॥

इनमें भञ्जी (भार्ङ्गी *Rivea ornata chois*) मूत्र को कम करने वाली एवं सर (विरेचक) होती है । अभीरुज (शतावरी *Asparagus racemosus* Willd.), करीर (*Capparis decidua* Edgew.) रस में किञ्चित् तिक्त, लघु, नेत्रों के लिए हितकर, वृष्य एवं त्रिदोषशामक होता है । तंडुलीयक (चौलाई *Amaranthus spinosus* Linn) शीतवीर्य, रूक्ष, विपाक एवं रस में मधुर तथा लघु होता है । यह मद (नशा), पित्तविकार, विषविकार और रक्तविकार को शान्त करता है । मुञ्जातक (कंद-विशेष *Orchis latifolia* Linn.) का शाक वातपित्तशामक, शीतवीर्य, गुरु, रस में मधुर तथा अत्यन्त शुक्रवर्धक होता है । पालक (*Spinacia oleracea*) का शाक पिच्छिल, गुरु, कफकारक, मलभेदक तथा शीतवीर्य होता है । उपोदिका (पोय *Nigella rubra* Linn) का शाक मदनाशक तथा चंचु (*Corchorus capsularis* Linn.) का शाक ग्राही होता है । ये दोनों पालक (*Spinacia oleracea*) के समान होते हैं । विदारीकन्द (*Pueraria tuberosa* DC.) का शाक वात-पित्तशामक, मूत्रल, रस में मधुर, शीतवीर्य, जीवनदाता, बृंहण, कण्ठ्य, गुरु, वृष्य और रसायन होता है । जीवन्ती (*Leptadenia reticulata* W. & A.) का शाक चक्षुष्य, सर्वदोषघ्न, रस में मधुर, वीर्य में शीत तथा सभी शाकों में उत्तम होता है । दूसरे प्रकार की जीवन्ती (*Leptadenia reticulata* var. जो मधुर नहीं होती) इससे कुछ न्यून (कम) गुण वाली होती है । भंडी (मंजिष्ठा *Hibiscus esculentus* Linn.), पर्वणी (?) तथा पर्वपुष्पिका (नागदन्ती *Euphorbia* sp.) का शाक वात-पित्तशामक होता है ।

फलों के शाकों के गुण

कूष्माण्डतुम्बकालिङ्गकर्कार्वेर्वारुतिण्डिशम् ।
तथा त्रपुसचीनाकचिर्भटं कफवातकृत् ॥ १३३ ॥
भेदि विष्टम्भ्यभिष्यन्दि स्वादुपाकरसं गुरु ।

कूष्मांड (*Benincasa hispida* Thumb.), तुंब (कद्दू *Cucurbita maxima*), **कलिंग** (तरबूज *Citrullus vulgaris* Schrad.), कर्कारु (खरबूजा *Cucumis* sp.), एर्वारु (**ककड़ी** *Cucumis melo var. utilissima*), तिंडिश (टिंडा *Citrullus vulgaris var. fistu-*

---

१. 'विषास्रघ्न' इति पाठान्तरम् ।

losus), त्रपुस (खीरा *Cucumis sativus*), चीनाक (चीना ककड़ी *Cucumis melo* var ?), चिर्भट (?)—ये कफ-वातकारक, मलभेदक, विष्टम्भक, अभिष्यन्दी, विपाक एवं रस में मधुर तथा गुरु होते हैं।

वल्लीफलानां प्रवरं कूष्माण्डं वातपित्तजित् ॥ १३४ ॥
वस्तिशुद्धिकरं वृष्यं त्रपुसं त्वतिमूत्रलम् ।
तुम्बं रूक्षतरं ग्राहि कालिङ्गैर्वारुचिर्भिटम् ॥ १३५ ॥
बालं पित्तहरं शीतं विद्यात् पक्वमतोऽन्यथा ।

इनमें वल्ली (लता जाति) फलों में कुम्हड़ा (*Cucurbita maxima*) उत्तम है। यह वात-पित्तनाशक, वस्तिशोधक तथा वृष्य होता है। खीरा (*Cucumis sativus*) अत्यन्त मूत्रल होता है। तुम्ब (*Lagenaria siceraria* Standl.) अति रूक्ष और ग्राही होता है। तरबूज (*Citrullus vulgaris*), ककड़ी (*Cucumis melo*) और चिर्भिट (?) जब कच्चा रहता है, तब पित्तनाशक, वीर्य में शीत तथा पक जाने पर पित्तजनक तथा उष्णवीर्य हो जाता है।

शीर्णवृन्तं तु सक्षारं पित्तलं कफवातजित् ॥ १३६ ॥
रोचनं दीपनं हृद्यमष्ठीलाऽऽनाहनुल्लघु ।

शीर्णवृन्त (पक जाने पर स्वयं डंठल से अलग हो जाने पर), कूष्माण्ड (*Cucurbita maxima*) आदि फल किंचित् क्षारयुक्त, पित्तकारक, कफ-वातशामक, रुचिकारक, अग्निदीपक, हृदय को बल देने वाला, अष्ठीला एवं आनाहनाशक तथा लघु होता है।

जलज पदार्थ

मृणालबिसशालूकशृङ्गाटककसेरुकाः ॥ १३७ ॥
नन्दीमाषककेलूटक्रौञ्चादनकलोड्यकम् ।
सतरूढं कदम्बं च रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु ॥ १३८ ॥

मृणाल (सूक्ष्म कमल का मूल *Neumbo nucifera* Gaertn.), बिस (मोटे कमल का मूल *Nelumbo nucifera* Gaertn.), शालूक (पद्मकाण्ड *Nymphaea stellats*), शृंगाटक (सिंघाड़ा *Trapa bispinosa* Roxb.), कशेरुक (*Scirpuskysoor* sp. Roxb.), नंदीमाषक (कन्द-विशेष ?), केलूट (जलकन्द-विशेष ?), क्रौंचादन (जलकन्द-विशेष ?), कलोड्य (*Euryale ferox salisb*), तरुढ़ (*Dioscorea* sp.) तथा कदम्ब (*Anthocephalus indicus* A. Rich.)—ये सभी रूक्ष, संग्राही, शीत एवं गुरु होते हैं।

अन्य शाक

कलम्बनालिकामार्षकुटिञ्जरकुतुम्बकम् ।
चिल्लीनिष्पावलट्वाककुरूढकगवेधुकाः ॥ १३९ ॥
जातुका[1] सालकल्याणी त्रिपर्णी[2] पीलुपर्णिका ।
[3]कुमारजीवलोणीका यवशाकं सुवर्चलाः ॥ १४० ॥
कुकुण्डनलिनीमुष्टवृकधूमकलक्ष्मणम् ।
आलुकानि च सर्वाणि तथा सूप्यानि रालकः[4] ॥ १४१ ॥

---

१. 'यातुका' इति पाठान्तरम् ।
२. 'श्रीपर्णी' इति पाठान्तरम् ।
३. 'कुमारी' इति पाठान्तरम् ।
४. 'लक्ष्मणा' इति पाठान्तरम् ।

जीवन्तकश्चञ्चुपर्णीप्रपुन्नाटकुठेरकम्[1] ।
स्वादु रूक्षं सलवणं वातश्लेष्मकरं गुरु ॥ १४२ ॥
शीतलं सृष्टविण्मूत्रं प्रायो विष्टभ्य जीर्यति ।
स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं नातिदोषलम् ॥ १४३ ॥

कलम्ब (*Onosma echioides*), नालिका (नाड़ी नामक शाक *Phargmites karka* ?), मार्ष (गान्धारी *Amaranthes paniculatus*), कुटिजर (बनबथुआ *Chenopadium* sp.) तथा कुतुंबक (द्रोणपुष्पी *Lencus cephalotes*), चिल्ली (*Chenopodium* sp.), निष्पाव (सेम *Dolichos lablab*), लट्वाक (गुग्गुल शाक *Commiphora mukul* Engl.), कुरुढक (?), गवेधुक (तृणधान्य-विशेष), जातुका (हिंगु *Ferula nathrex boiss*), साल (*Shorea robusta*) कल्याणी (माषपर्णी *Teramnus labeialis spreng*), त्रिपर्णी (गंभारी *Gmelina arborca* Linn.), पीलुपर्णी (*Alvadoru indica*), कुमारजीव (जियापोता ?), लोणिका (कुलफा शाक *Portulaca quadrifida* Linn.), यवशाक (*Chenopodium album* Linn.), सुवर्चला हुरहुर *Cleome viscosa*), कुकुण्ड (?), नलिनी (*Nelumbo nucifera*), मुष्ट (मोठ *Phaseolus radiatus*), वृक (*Brassica napus*), धूमक (मंजीठ *Rubia cordifolia* Linn.), लक्ष्मणा (श्वेतकंटकारी *Solanum surattense* Burm. f.), आलू (*Solanum tuberosum*) तथा सभी प्रकार की मूंग (*Phaseolus mungo*), राजमाष (*Dolichos sinensis*) आदि दालों के पत्र, रालक, जीवन्ती (*Leptadenia reticulata*), चञ्चुपर्णी (*Corchorus capsularis* Linn.), प्रपुन्नाट (चक्रमर्द *Cassia tora* Linn.), कुठेरक (तुलसी *Ocimum sanctum*) । ये सब रस में मधुर, रूक्ष, किंचित् लवण, वात-कफकारक, गुरु, शीतल, पुरीष एवं मूत्रप्रवर्तक तथा प्रायः विष्टम्भित होकर पचने वाले होते हैं । इनको उबालकर रस को निचोड़कर, स्नेह मिलाकर खाने पर ये अधिक दोषकारक नहीं होते ।

लघुपत्रा तु या चिल्ली सा वास्तुकसमा मता ।

चिल्ली (*Chenopodium* sp. ?) छोटे-छोटे पत्ते वाली वास्तूक (बथुआ *Chenopodium album*) के समान गुण वाली होती है ।

तर्कारीवरुणं स्वादु सतिक्तं कफवातजित् ॥ १४४ ॥
वर्षाभ्वौ कालशाकं च सक्षारं कटुतिक्तकम् ।
दीपनं भेदनं हन्ति गरशोफकफानिलान् ॥ १४५ ॥
दीपनाः कफवातघ्नाश्चिरबिल्वाङ्कुराः[2] सराः ।
लघुरुष्णा सरा तिक्ता सोरुबूका च लाङ्गली ॥ १४६ ॥
वातलौ कटुतिक्ताम्लौ भेदिनौ तिलवेतसौ ।
तद्वत् पञ्चाङ्गुलो वंशकरीरास्तु विदाहिनः ॥ १४७ ॥
वातपित्तकरा रूक्षाः कटुपाकाः कफापहाः ।

तर्कारी (अरणी *Premna integrifalia* Linn) तथा वरुण (*Crataeva nurala* Buch, Ham.) के पत्तों का शाक रस में मधुर, किंचित् तिक्त तथा कफ-वातशामक होता है । वर्षाभू

---

१. 'कुबेरकम्' इति पाठान्तरम् । २. 'चिरिबिल्वाङ्कुरा' इति पाठान्तरम् ।

(श्वेतरक्त पुनर्नवा *Trianthema portulacastrum* Linn.) कालशाक (*Corchorus capsularis*) किंचित् क्षारयुक्त, रस में कटु, तिक्त, वह्निदीपक, मलभेदक तथा गरविष, शोफ, कफ एवं वायु नाशक है। चिरबिल्व (*Holoptelea integrifolia*) के अंकुरों का शाक वह्निदीपक, कफ-वातघ्न एवं सर होता है। उरुबुक (रक्त एरण्ड *Ricinus communis*) तथा लांगली (*Gloriosa superba* Linn.) का शाक लघु, उष्णवीर्य, सर तथा रस में तिक्त होता है। तिल (*Sesamum indicum* Linn.) के पत्ते और वेंत (*Salix caprea*) का शाक वातकारक, रस में कटु, तिक्त, अम्ल तथा मलभेदक होता है। पंचांगुल शुक्ल एरण्ड (*Ricinus communis* Linn.) के शाक भी तिल (*Sesamum indicum* Linn.) एवं वेंत (*Salix caprea* Linn.) के शाक के समान गुण वाले होते हैं। वंशकरीर (बाँस के अंकुर *Bambusa bambos Druce*) का शाक विदाही, वात-पित्त-कारक, रूक्ष, विपाक में कटु तथा कफनाशक होता है।

बिल्वरास्नाबलाशाकं वातघ्नमतिसारजित् ॥ १४८ ॥

बिल्व (*Aegle marmelos* Correa), रास्ना (*Pluchea lanceolata*) तथा बला (*Sida cordifolia* Linn.) का शाक वातघ्न एवं अतिसारनाशक होते हैं।

वायुं वत्सादनी हन्यात् कफं गण्डीरचित्रकौ।
पत्तूरो दीपनस्तिक्तः प्लीहार्शः कफवातजित् ॥ १४९ ॥
कृमिकासकफोत्क्लेदान् कासमर्दो जयेत्सरः।
रूक्षोष्णमम्लं कौसुम्भं गुरु पित्तकरं सरम् ॥ १५० ॥

वत्सादनी (गिलोय *Timospora cordifolia* Willd. Miers) वायुनाशक होता है तथा गण्डीर (*Euphorbia nerifolia* Linn.) और चित्रक (*Plumbogo zeylanica* Linn.) के शाक कफनाशक होते हैं। पत्तूर (जलपिप्पली *Lippia nodiflora*) का शाक अग्निदीपक, तिक्तरस तथा प्लीहा, अर्शरोग एवं कफ-वातशामक होता है। कासमर्द (*Cassia occidentalis* Linn.) का शाक कृमिरोग, कास, कफ, उत्क्लेद को नष्ट करने वाला तथा मलप्रवर्तक होता है। कुसुम्भ (*Carthamus tinctorius* Linn.) का शाक रूक्ष, उष्णवीर्य, अम्लरस, गुरु, पित्तकारक तथा सर होता है।

सक्षारमधुरं स्निग्धमुष्णं गुरु च सार्षपम्।
शाकानामवरं बद्धविण्मूत्रं सर्वदोषकृत् ॥ १५१ ॥

सरसों (*Brassica compestris*) का शाक किंचित् क्षारयुक्त, रस में मधुर, स्निग्ध, वीर्य में उष्ण तथा गुरु होता है। सब शाकों में हीन, मलमूत्र को बाँधने वाला एवं त्रिदोषकारक होता है।

यद् बालमव्यक्तरसं किञ्चित् क्षारं सतिक्तकम्।
तन्मूलकं दोषहरं लघु सोष्णं नियच्छति ॥ १५२ ॥
गुल्मकासक्षयश्वासव्रणनेत्रगलामयान्।
स्वराग्निसादोदावर्तपीनसांश्च—

बालमूली (कच्ची मूली *Raphanus sativus*) अव्यक्त रस, किञ्चित् क्षारयुक्त, रस में किंचित् तिक्त, त्रिदोषनाशक, लघु, वीर्य में किंचित् उष्ण तथा गुल्म, कास, क्षय, श्वास, व्रण, नेत्र-रोग, गला (कण्ठ) के रोग, स्वरभेद, मन्दाग्नि, उदावर्त और पीनस को नष्ट करता है।

—महत् पुनः ॥ १५३ ॥

रूक्षोष्णं कटुकं स्वादु विपाके सर्वदोषकृत् ।
गुर्वभिष्यन्दि च स्निग्धसिद्धं तदपि वातजित् ॥ १५४ ॥
वातश्लेष्महरं शुष्कं सर्वमामं तु दोषलम् ।

बड़ी मूली (*Raphanus sativus*) रूक्ष, वीर्य में उष्ण, कटुरस, मधुर विपाक, सर्वदोष-कारक, गुरु तथा अभिष्यन्दी होती है, किन्तु यही मूली स्निग्ध द्रव्यों से सिद्ध करने पर वातनाशक होती है । सभी प्रकार की सूखी मूली वात-श्लेष्मनाशक तथा सभी प्रकार की कच्ची मूली दोष-कारक होती है ।

कटूष्णो वातकफहा पिण्डालुः पित्तवर्धनः ॥ १५५ ॥

पिण्डालु (आलू *Solanum tuberosum*) रस में कटु, उष्णवीर्य, वात-कफनाशक तथा पित्तकारक होता है ।

हरीतक वर्ग

कुठेरशिग्रुसुरससुमुखाऽऽसुरिभूस्तृणाः ।
धान्यतुम्बरुशैलेययवानीशृङ्गबेरकाः ॥ १५६ ॥
पर्णाशो गृञ्जनोऽजाजी जीरकं गजपिप्पली ।
फणिज्जार्जकजम्बीरखराश्वाकालमालिकाः ॥ १५७ ॥
दीप्यकक्षवकद्वीपिबस्तगन्धादिबद्धविट् ।
रसे पाके च कटुकं दोषोत्क्लेशकरं लघु ॥ १५८ ॥
विदाहि रूक्षं तीक्ष्णोष्णं दृक्शुक्रकृमिनाशनम् ।
वर्गो हरितकाख्योऽयमुपदंशेषु युज्यते ॥ १५९ ॥
वासनो व्यञ्जनानां च हृद्यो दीपनरोचनः ।

कुठेरक (तुलसी भेद *Ocimum sanctum*), शिग्रु (सहिजन *Moringa oleifera* Linn.) सुरसा (तुलसी *Ocimum sanctum* Linn.), सुमुख (राजिका *Braissica nigra* B. juncea), आसुरी (*Brassica napa*), भूस्तृण (श्यामाक *Cymbopogon* sp.), धान्यक (धनिया *Coriandrum sativum*), तुम्बरु (*Zanthoxylum alatum* Roxb.), शैलेय (*Parmelia ferlata* ACH), अजवायन (*Apium graveolens* Linn.), शृङ्गबेर (अदरक *Zinziber officinale*), पर्णाश (*Ocimum* sp.), गृंजन (गाजर *Daucus carota* Linn.), अजाजी (काला जीरा *Carum carvi* Linn.), कण्डीर (*Ranunculus sceleratus* Linn.), जलपिप्पली (*Lippia nodiflora* Mich), फणिज्जक (*Caogestemon parviflorus* Benth), अर्जक (*Ocimum basilicum* Linn.), जंबीर (करपत्रक *Citrus limon* Linn.), खराश्वा (बड़ी अजवायन *Apium graveolens* Linn.), क्षवक (*Centipeda minima* A. Br.), द्वीपि (चित्रक *Plumbago zeylanica* Linn.), बस्तगन्धा (अजमोद *Gynandropsis gynandra*)—ये सभी द्रव्य मल को बाँधने वाले, रस एवं विपाक में कटु, दोषों को कुपित करने वाले, लघु, विदाही, रूक्ष-तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, दृष्टि-शुक्र-कृमि को नष्ट करने वाले होते हैं । यह हरीतक वर्ग कहलाता है । इसका प्रयोग उपदंश (भोजन के साथ नाना विधि व्यंजन) के रूप में किया जाता है और भोजन में सुगन्ध पैदा करने के लिए भी किया जाता है । ये हृद्य, अग्निदीपक तथा रुचिकर होते हैं ।

हिध्माकासविषश्वासपार्श्वरुक्पूतिगन्धहा ॥ १६० ॥
सुरसः सुमुखः शोफगरहा धानका पुनः ।
कषायतिक्तमधुरा मूत्रला न च पित्तकृत् ॥ १६१ ॥
[1]खराश्वाबस्तिशूलघ्नी चित्रको दीपनः परः[2] ।

इनमें सुरस (तुलसी *Ocimum sanctum*), हिक्का (हिचकी), कास, विष, श्वास, पार्श्वशूल और दुर्गन्ध को नष्ट करता है । सुमुख (*Brassica nigra* B. Juncea) शोफ और गरविष को नष्ट करता है । धनियाँ (*Coriandrum sativum*) रस में कषाय, तिक्त, मधुर और मूत्रल है, यह पित्तकारक नहीं होती । खराश्वा (अजवायन *Apium graveolens* Linn.) वस्तिशूल को नष्ट करता है और चित्रक (*Plumbago zeylanica* Linn.) श्रेष्ठ अग्निदीपक है ।

लहसुन

पत्रे सक्षारमधुरो मध्ये मधुरपिच्छिलः ॥ १६२ ॥
तीक्ष्णोष्णो लशुनः कन्दे कटुपाकरसः सरः ।
हृद्यः केश्यो गुरुर्वृष्यः स्निग्धो दीपनपाचनः[3] ॥ १६३ ॥
भग्नसन्धानकृद् बल्यो रक्तपित्तप्रदूषणः ।
किलासकुष्ठगुल्मार्शोमेहकृमिकफानिलान् ॥ १६४ ॥
सहिध्मापीनसश्वासकासान् हन्ति रसायनम् ।

लहसुन (*Allium sativum*) का पत्र किंचित् क्षारयुक्त, रस में मधुर एवं पिच्छिल होता है । इसका कन्द तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रस में कटु, विपाक में कटु और मलप्रवर्तक, हृद्य, केश्य, गुरु, वृष्य, स्निग्ध, अग्निदीपक एवं पाचक होता है । टूटी हुए अस्थि को जोड़ने वाला, बल्य तथा रक्त एवं पित्त को दूषित करता है । किलास, कुष्ठ, गुल्म, अर्श, प्रमेह, कृमिरोग, कफरोग, वातरोग, हिक्का, पीनस, श्वास एवं कास को नष्ट करता है और रसायन है ।

पलाण्डु

पलाण्डुस्तद्गुणैर्न्यूनो विपाके मधुरस्तु सः ॥ १६५ ॥
कफं करोति नो पित्तं केवलानिलनाशनः ।

पलाण्डु (प्याज *Allium cepa*), लहसुन (*Allium sativum*) से न्यून (कम) गुण वाला, विपाक में मधुर एवं कफकारक होता है, किन्तु पित्त को नहीं बढ़ाता । यह शुद्ध वायु को नष्ट करता है ।

सूरणकंद शाक के गुण

दीपनः सूरणो रुच्यः कफघ्नो विशदो लघुः ॥ १६६ ॥
विशेषादर्शसां पथ्यो भूकन्दस्त्वतिदोषलः ।

सूरण (जिमीकन्द *Amorphophallus campanulatus* Roxb.) अग्निदीपक, रुचिकारक, कफघ्न, विशद (पिच्छिलता रहित) तथा लघु होता है । यह अर्श रोगियों के लिए अतिपथ्य होता है । भूकंद अत्यधिक दोषकारक होता है ।

---

१. 'खराह्वा' इति पाठान्तरम् । २. 'परम्' इति पाठान्तरम् । ३. 'रोचनदीपनः' इति पाठान्तरम् ।

उपसंहार

पुष्पे पत्रे फले नाले कन्दे च गुरुता क्रमात् ॥ १६७ ॥
वरा शाकेषु जीवन्ती सार्षपं त्ववरं परम् ।

पुष्पों, पत्रों, फलों, नालों एवं कंदशाकों में क्रमशः गुरुता होती है। पुष्प से पत्र, पत्र से फल, फल से नाल तथा नाल से कंद गुरु (चिरपाकी) होता है। सभी शाकों में जीवन्ती (*Leptadenia reticulata* W. & A.) का शाक सर्वश्रेष्ठ और सरसों (*Brassica campestris*) का शाक अश्रेष्ठ होता है।

इति शाकवर्गः ।

(६) फलवर्ग

द्राक्षा आदि फल के गुण

द्राक्षा फलोत्तमा वृष्या चक्षुष्या मृष्टमूत्रविट् ॥ १६८ ॥
स्वादुपाकरसा स्निग्धा सकषाया हिमा गुरुः ।
निहन्त्यनिलपित्तास्रतिक्तास्यत्वमदात्ययान् ॥ १६९ ॥
तृष्णाकासज्वरश्वासस्वरभेदक्षतक्षयान् ।
उद्रिक्तपित्तान् जयति त्रिदोषान् स्वादु दाडिमम् ॥ १७० ॥
पित्ताविरोधि नात्युष्णमम्लं वातकफापहम् ।
सर्वं हृद्यं लघु स्निग्धं ग्राहि रोचनदीपनम् ॥ १७१ ॥

द्राक्षा (*Vitis vinifera* Linn.)—सभी फलों में उत्तम, वृष्य, चक्षुष्य, मल-मूत्रप्रवर्तक, विपाक एवं रस में मधुर, स्निग्ध, किंचित् कषाय, शीतवीर्य तथा गुरु होता है। वायु, पित्त, रक्त, मुख की तिक्तता, मदात्यय, तृष्णा, कास, ज्वर, श्वास, स्वरभेद, उरःक्षत तथा क्षय (राजयक्ष्मा) को नष्ट करता है।

दाडिम (मीठा अनार *Punica granatum* Linn.)—उद्रिक्त (अधिक) पित्त को शान्त करता है। अम्ल दाडिम (खट्टा अनार *Punica granatum* var.) पित्त का अविरोधी, नात्युष्ण तथा वात-कफनाशक होता है। सभी प्रकार के अनार (*Punica* sp.) हृद्य, लघु, स्निग्ध, ग्राही, रुचिकारक एवं अग्निदीपक होते हैं।

मोचखर्जूरपनसनारिकेलपरूषकम् ।
आम्रातालकाश्मर्यराजादनमधूकजम् ॥ १७२ ॥
सौवीरबदराङ्कोल्लफल्गुश्लेष्मातकोद्भवम् ।
वातामाभिषुकाक्षोडमुकूलकनिकोचकम् ॥ १७३ ॥
उरुमाणं प्रियालं च बृहणं गुरु शीतलम् ।
दाहक्षतक्षयहरं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥ १७४ ॥
स्वादुपाकरसं स्निग्धं विष्टम्भि कफशुक्रकृत् ।

मोच (कदलीफल *Musa paradisiaca* Linn.), खर्जूर (*Phoenix dactylifera* Linn.), पनस (*Artocarpus heterophyllus* Linn.), नारिकेल (*Cocos nucifera*), परूषक (फालसा *Grewia asiatica* Linn.), आम्रातक (आमड़ा *Spondius pinnata* Kurz), ताल (ताड़ *Borasus flabellifer* Linn.), काश्मर्य (गंभारी *Gmelina arborea* Linn.), राजादन (खिरनी

Mimusops hexandra Roxb.), मधूक (महुआ *Madhuca latifolia*), सौवीर (बड़े बेर *Zizyphus sativa*), बदर (*Zizyphus jujuba*), अंकोल (*Alangium salvifolium*), फल्गु (अंजीर *Ficus hispida* Linn.), श्लेष्मातक (लिसोड़ा *Cordia dichotoma* Forst.), वाताम (बादाम *Prunus amygydalus* Benth.), अभिषुक (पिस्ता *Pistaci averal*), अक्षोड (अखरोट *Junglans regia* Linn.), मुकूलक (चिलगोजा), निकोचक (*Anacardium occidantale* Linn.), उरुमाण (स्निग्ध फल—पिस्ता *Prunus armeniaca* Linn.), प्रियाल (चिरौंजी *Buchanania langan* Spreng) । ये फल बृंहण, गुरु, शीतवीर्य, दाह, क्षत एवं क्षय नाशक, रक्त, पित्त-प्रसादक, रस एवं विपाक में मधुर, स्निग्ध, विष्टम्भी, कफ एवं शुक्रवर्धक होते है ।

कुछ फलों की आहारात्मक संघटनात्मक मात्रा

(खाने योग्य भाग की प्रति १०० ग्राम मात्रा अनुसार)

नाम	कैलोरी	कैल्सियम (मिलीग्राम)	लौहतत्त्व (मिलीग्राम)	विटामिन 'ए' (आई० यू०)	विटामिन 'सी' (मिलीग्राम)
ताजे फल—					
केला	१०४	१०	०·५	१२४	६
अंगूर	७१	२०	१.५	—	१
हरे फल—					
अमरूद	५१	१०	१.४	—	२१२
आम	५१	१०	०.३	४,८००	१३
सन्तरा	३३	५०	०.१	३२६	६८
पपीता	३२	१७	०.५	१,११०	५७
सीताफल	११४	३९८	०·३	—	१६
आँवला	५८	५०	१·२	१५	६००
सूखे फल—					
खजूर	३१७	१२०	७·३	४४	३
द्राक्षा	३१५	१००	४·०	—	—

नारिकेलं गुरु स्निग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम् ॥ १७५ ॥
बलमांसकरं हृद्यं बृंहणं बस्तिशोधनम् ।
मोचं स्वादुरसं प्रोक्तं कषायं नातिशीतलम् ॥ १७६ ॥
रक्तपित्तहरं वृष्यं रुच्यं श्लेष्मकरं गुरु ।
स्निग्धं स्वादु कषायं च राजादनफलं गुरु ॥ १७७ ॥

नारिकेल (*Cocos nucifera*)—गुरु, स्निग्ध, पित्तनाशक, रस में मधुर, शीतवीर्य, बल एवं मांस को बढ़ाने वाला, हृद्य, बृंहण तथा वस्तिशोधक होता है ।

मोच (कदलीफल *Musa paradisiaca*)—रस में मधुर, कषाय, नातिशीतल, रक्तपित्त-नाशक, वृष्य, रुचिकारक, श्लेष्मकारक और गुरु होता है ।

राजादन (खिरनी *Mimusops hexandra* Roxb.)—स्निग्ध, रस में मधुर, कषाय एवं गुरु होता है ।

फलं तु पित्तलं तालं सरं काश्मर्यजं हिमम् ।
शकृन्मूत्रविबन्धघ्नं केश्यं मेध्यं रसायनम् ॥ १७८ ॥
मधूकजमहृद्यं तु बदरं सरणात्मकम् ।
वातामाद्युष्णवीर्यं तु कफपित्तकरं सरम् ॥ १७९ ॥
परं वातहरं स्निग्धमनुष्णं तु प्रियालजम् ।
प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः ॥ १८० ॥
कोलमज्जा गुणैस्तद्वच्छर्दितृट्कासजिच्च सः ।

तालफल (ताड़ *Borasus flabellifer* Linn.) पित्तकारक तथा मल-प्रवर्तक होता है। काश्मर्य (गम्भारी *Gmelina arborea* Linn) शीतवीर्य, पुरीष एवं मूत्र के विबंध का नाशक, केश्य, मेध्य तथा रसायन होता है।

महुआ (*Madhuca latifolia*) का फल अहृद्य (हृदय के लिए अहितकर) होता है। बदर का फल (*Zizyphus jujuba*) मलप्रवर्तक होता है। बादाम (*Prunus amyzydalus*), पिस्ता (*Prunus ameniaca* Linn.), अखरोट (*Junglans regia* Linn.) आदि का फल उष्णवीर्य, कफ-पित्तकारक तथा मलप्रवर्तक होता है। प्रियाल (चिरौंजी *Buchanania lanzan* Spreng.) अत्यन्त वातहर, स्निग्ध एवं अनुष्ण (उष्णता रहित) होता है। प्रियाल (चिरौंजी) की मज्जा रस में मधुर, वृष्य, पित्त और वातनाशक होती है।

कोल मज्जा (बेर की मज्जा *Zizyphus jujuba* Lam.) प्रियाल की मज्जा के समान गुण वाली, वमन, प्यास और कास को नष्ट करती है।

तिन्दुकाश्मन्तकासीनफलिनीबिम्बितोदनम् ॥ १८१ ॥
टङ्काश्वकर्णबकुलगाङ्गेरुधवधन्वनम् ।
श्वेतपाकं कपित्थानि सिञ्चतीभव्यजाम्बवम् ॥ १८२ ॥
क्षीरिवृक्षफलं बीजं पौष्करं कफपित्तजित् ।
कषायमधुरं रूक्षं शीतलं गुरु लेखनम् ॥ १८३ ॥
विबन्धाध्मानजननं स्तम्भनं वातकोपनम् ।

तिन्दुक (तेंदू *Diospyros peregrina*), अश्मन्तक (अम्लोट *Ficus rumphii* Blame.), आसीन (फल-विशेष ?), फलिनी (प्रियंगु *Callicarpa macrophylla* Vahl.), बिम्बी (कुन्दरु *Coccinia indica* W. &. A.), तोदन (शहतूत *Morus indica* Mc. Nigr.), टंक (कपित्थ *Feronia* sp.), अश्वकर्ण (शाल *Shorea robusta* Gaertn.) बकुल (मौलसरी *Mimusops Eleng.* Linn.), गांगेरी (*Grewia tenax*), धव (*Anogeissus latifolia* Wall.), धन्वन (*Grewia tiliaefolia* Vahl.), श्वेतपाक (एक प्रकार का फल-विशेष ?), कपित्थ (*Feronia limonia* Linn.), सिंचती (बदर *Zizyphus jujuba*), भव्य (कमरख *Dillenia indica* Linn.), जांबव (जामुन *Syzygium cumuni* Linn.), क्षीरवृक्षों (*Ficus* sps.) के फल एवं बीज, पौष्कर (पुष्करमूल *Inula racemosa* Hook. f.) । ये सब फल कफ-पित्तनाशक, रस में कषाय, मधुर, रूक्ष, शीतवीर्य, गुरु, लेखन, विबंध और आध्मान करने वाले, स्तम्भक तथा वातप्रकोपक होते हैं।

कपित्थ

कपित्थमामं कण्ठघ्नं कषायाम्लं त्रिदोषकृत् ॥ १८४ ॥
पक्वं रुच्यं कषायाम्लं स्वादु हिध्मावमिप्रणुत् ।
दोषघ्नं षाडवारिष्टरागयुक्तिषु पूजितम् ॥ १८५ ॥
विषघ्नमुभयं ग्राहि कपित्थाद्येवमादिशेत् ।

इनमें कच्चा कपित्थ (*Feronia limonia* Linn.) कण्ठ के लिए अहितकर, रस में कषाय, अम्ल, मधुर, हिक्का एवं वमननाशक तथा दोषघ्न होता है । यह षाडव, अरिष्ट एवं राग (चटनी) आदि में प्रयोग करने के लिए प्रशस्त है । कच्चा और पका दोनों प्रकार का कपित्थ (कैथा *Feronia limonia* Linn.) विषघ्न तथा ग्राही होते हैं ।

बृंहणं वातपित्तघ्नं स्निग्धं सिञ्चतिकाफलम् ॥ १८६ ॥
भव्यं विशदमम्लं च जाम्बवं त्वतिवातलम् ।
विष्टम्भकृदकण्ठ्यं च साम्लं तु क्षीरिवृक्षजम् ॥ १८७ ॥
पित्तश्लेष्मघ्नमम्लं च वातलं चाक्षकीफलम् ।

सिंचितका फल (बदर *Zizyphus* sp. या सेव *Pyrus malus* syn. ***Malus sylvestris***) बृंहण वात-पित्तनाशक तथा स्निग्ध होता है । भव्य (कमरख *Dillenia indica* Linn.) विशद तथा रस में अम्ल होता है । जामुन (*Syzygium cumuni* Linn.) अतिशय वातकारक, विष्टम्भिकारक तथा कण्ठ के लिए अहितकर होता है । क्षीरिवृक्ष (वट, पीपल आदि Ficus sps.) के फल किंचित् अम्ल रस वाले होते हैं । आक्षकी (बहेड़ा *Terminalia belerica* Roxb.) के फल पित्त-कफनाशक, रस में अम्ल तथा वातकारक होते हैं ।

आम

बालं कषायकट्वम्लं रूक्षं वातास्रपित्तकृत् ॥ १८८ ॥
सम्पूर्णमाम्रमम्लं तु रक्तपित्तकफप्रदम् ।
स्वादु साम्लं गुरु स्निग्धं मारुतघ्नमपित्तलम् ॥ १८९ ॥
हृद्यं पर्यागतं श्लेष्ममांसशुक्रबलप्रदम् ।
सहकाररसो हृद्यः सुरभिः स्निग्धरोचनः ॥ १९० ॥
दीपनः पित्तवातघ्नः शुक्रशोणितशुद्धिकृत् ।

कच्चा आम (जिसमें गुठली न पड़ी हो *Mangifera indica* Linn.) कटु, अम्ल, रूक्ष, वात, रक्त एवं पित्तकारक होता है । सम्पूर्ण आम (जिसमें गुठली पड़ी हो) रस में अम्ल, रक्त-पित्त एवं कफकारक होता है । पर्यागत (पका हुआ) आम रस में मधुर, किंचित् अम्ल, गुरु, स्निग्ध, मारुतघ्न एवं अपित्तल होता है । यह हृद्य, कफ, मांस, शुक्र और बल को बढ़ाता है । आम का रस हृद्य, सुगन्धित, स्निग्ध, रुचिकारक, अग्निदीपक, पित्तघ्न, वातघ्न और शुक्र एवं रक्त को शुद्ध करने वाला होता है ।

कषायं रोचनं हृद्यं वातलं लवलीफलम् ॥ १९१ ॥
गुर्वग्निसादकृद्बिल्वं दोषलं पूतिमारुतम् ।
पक्वं बालं पुनस्तीक्ष्णं पित्तलं लघु दीपनम् ॥ १९२ ॥

वातश्लेष्मघ्नमुष्णं च स्निग्धं ग्राह्यभयं परम् ।
वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं लघु रोचनदीपनम् ॥ १९३ ॥
वातश्लेष्महरं किञ्चिदूनं कोशाम्रजं ततः ।
फलं करञ्जं विष्टम्भि पित्तश्लेष्माविरोधि च ॥ १९४ ॥
गुरूष्णमधुरं रूक्षं केशघ्नं च शमीफलम् ।

लवली (*Cicca acida* Merril) फल रस में कषाय, रुचिकारक, हृदय के लिए प्रिय तथा वातकारक होता है। बिल्व फल (*Aegle marmelos correa.*) पका हुआ गुरु, अग्नि को मंद करने वाला, दोषकारक एवं अपान वायु को दुर्गन्धित करने वाला होता है। बिल्व का कच्चा फल तीक्ष्ण, पित्तकारक, लघु तथा अग्निदीपक होता है। दोनों प्रकार के कच्चे एवं पके बिल्व वात-कफनाशक, उष्ण, स्निग्ध एवं संग्राही होते हैं। वृक्षाम्ल (*Garcinia indica* Chois) का फल संग्राही, रूक्ष, उष्ण, लघु, रुचिकारक तथा अग्निदीपन एवं वात-कफनाशक होता है। कोशाम्र (*Spondius pinnata*) का फल वृक्षाम्ल की अपेक्षा कुछ न्यून गुण वाला होता है। करंज (*Pongamia pinnata*) का फल विष्टम्भी तथा पित्त और कफ का विरोधी नहीं होता है। शमीफल (*Prospis spicigra* Linn.) गुरु, उष्णवीर्य, मधुर रस, रूक्ष और केशों के लिए अहितकर होता है।

कटुपाकरसं पीलु तीक्ष्णोष्णं भेदि पित्तलम् ॥ १९५ ॥
क्रिमिगुल्मोदरगरप्लीहार्शः कफवातजित् ।
सतिक्तं स्वादु यत्पीलु नात्युष्णं तत्त्रिदोषजित् ॥ १९६ ॥
नीपं शताक्षिकं प्राचीनागरं तृणशून्यकम् ।
अस्मादल्पान्तरगुणमैङ्गुदं सविकङ्कतम् ॥ १९७ ॥
त्वक् तिक्ता कटुका स्निग्धा मातुलुङ्गस्य वातजित् ।
बृंहण मधुरं मांसं वातपित्तहरं गुरु ॥ १९८ ॥
लघु तत्केसरं कासश्वासहिध्मामदात्ययान् ।
आस्यशोषानिलश्लेष्मविबन्धच्छर्द्यरोचकान् ॥ १९९ ॥
गुल्मोदरार्शःशूलानि मन्दाग्नित्वं च नाशयेत् ।

पीलु (*Salvadera indica*) का फल विपाक एवं रस में कटु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मलभेदक तथा पित्तकारक होता है और कृमिरोग, गुल्मरोग, उदररोग, गरविष, प्लीहारोग, अर्श, कफ और वायु को नष्ट करता है। जो पीलु किञ्चित् रस में तिक्त और मधुर होता है, वह नात्युष्ण तथा त्रिदोषशामक होता है। नीप (कदम्ब *Anthocephalus indicus* A. Rich.), शताक्षिक (शरीफा), प्राचीनागर (आमलक सदृश *Facourtia cataphracto* Roxb.), तृणशून्य (केतकी *Pandanus odorotissimus*), इंगुदी (*Balanites aegyptiaca*), विकङ्कत (*Facourta indica*) के फल पीलु (*Salvadora indica*) से गुणों में कुछ न्यून (अन्तर वाले) होते हैं। मातुलुंग (बिजौरा नींबू *Citrus aurantifolia* Swingle.) का छिलका रस में तिक्त, कटु, स्निग्ध और वातनाशक होता है। इसका मांस (गूदा) बृंहण, मधुर, वात-पित्तशामक तथा गुरु होता है। इसकी केसर लघु होती है तथा कास, श्वास, हिक्का, मदात्यय, मुखशोष, वातरोग, कफविकार, विबन्ध, छर्दि, अरुचि, गुल्म, उदररोग, अर्श, शूल और मन्दाग्नि को नष्ट करती है।

भल्लातकस्य त्वङ्मांसं बृंहणं स्वादु शीतलम् ॥ २०० ॥
तदस्थ्यग्निसमं मेध्यं कफवातहरं परम् ।
स्वाद्वम्लं शीतमुष्णं च द्विधा पारावतं गुरु ॥ २०१ ॥
रुच्यमत्यग्निशमनं रुच्यं मधुरमारुकम् ।
पक्वमाशु जरां याति नात्युष्णं गुरु दोषलम् ॥ २०२ ॥
द्राक्षापरूषकं चार्द्रमम्लं पित्तकफप्रदम् ।
गुरूष्णवीर्यं वातघ्नं सरं सकरमर्दकम् ॥ २०३ ॥
तथाऽम्लं कोलकर्कन्धुलिकुचाम्रातकारुकम् ।
ऐरावतं दन्तशठं सतूदं मृगलिण्डिकम् ॥ २०४ ॥
नाति पित्तकरं पक्वं शुष्कं च करमर्दकम् ।
दीपनं भेदनं शुष्कमम्लिकाङ्कोलयोः फलम् ॥ २०५ ॥
तृष्णाश्रमक्लमच्छेदि लघ्विष्टं कफवातयोः ।

भल्लातक (*Semecarpus anacardium*) के फल की त्वचा और मांस बृंहण, रस में मधुर तथा शीतवीर्य होता है । इसकी अस्थि (गिरी) अग्नि के समान, मेध्य तथा अत्यन्त कफ-वातनाशक है । पालेवत (पारावत *Celastrus panniculatus* Willd.) दो प्रकार का होता है—मधुर और अम्ल । इनमें मधुर पारावत शीतवीर्य और अम्ल उष्णवीर्य होता है । दोनों गुरु, रुचिकारक और तीक्ष्णाग्नि को शान्ति करते हैं । आरुक (आलूबुखारा) रुचिकारक एवं रस में मधुर होता है । पका हुआ आलूबुखारा शीघ्र पच जाता है । यह नात्युष्ण, गुरु तथा दोषकारक होता है । आर्द्र (कच्चा) दाक्षा (*Vitis vinifera* Linn.), फालसा (*Grewia asiatica* Linn.) तथा करमर्द (करौंदा *Carrisa corandal*) रस में अम्ल, पित्त-कफकारक, गुरु, उष्ण-वीर्य, वातशामक तथा सर होता है । अम्ल (खट्टा) कोल (बेर *Zizyphus jujuba* Lam.), कर्कन्धु (छोटे-छोटे बेर *Zizyphus nummularia*), लकुच (बड़हर *Artocarpus lakoocha* Roxb.), आम्रातक (आमड़ा *Spondius pinnata* Kurz.), आरुक (आलूबुखारा या आड़ू *Prunus persica* Batrch.), ऐरावत (नारंगी *Citrus aurantium* Linn.), दंतशठ (नींबू विशेष *Citrus* sp.), तूद (छोटा शहतूत *Morus acedosa*) तथा मृगलिंडिक (बड़ा शहतूत *Morus indica* M. nigra), ये सब पकने पर अत्यन्त पित्तकारक नहीं होते हैं और सूखा कर-मर्दक (*Carrisa corandal*) भी रक्तपित्तकारक नहीं होता । सूखी इमली (*Tarmarindus indica* Linn.) और अंकोलफल (*Alangium salvifalium*) ये अग्निदीपक तथा मलभेदक होते हैं और तृष्णा, श्रम, क्लमशामक, लघु तथा एवं वात विकार में इष्ट (प्रशस्त) होते हैं ।

फलानामवरं तत्र लिकुचं सर्वदोषकृत् ॥ २०६ ॥

लकुच (*Artocarpus lakoocha* Roxb.) का फल सभी फलों में अवर (निकृष्ट) तथा सर्वदोषकारी होता है ।

त्याज्य धान्य, शाक एवं फल

हिमानलोष्णदुर्वातव्याललालादिदूषितम् ।
जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमानार्तवम् ॥ २०७ ॥

अन्यधान्ययुतं हीनवीर्यं जीर्णतयाऽपि च ।
धान्यं त्यजेत्तथा शाकं रूक्षसिद्धमकोमलम् ॥ २०८ ॥
असञ्जातरसं तद्वच्छुष्कं चान्यत्र मूलकात् ।
प्रायेण फलमप्येवं तथाऽऽमं बिल्ववर्जितम् ॥ २०९ ॥

बर्फ (ओला) गिरने, अग्नि के द्वारा जलने, दूषित वायु, सर्प के लालास्राव आदि द्वारा दूषित होने, जंतुजुष्ट (कृमि आदि से युक्त होने), जल में डूबने, अभूमि (विपरीत भूमि) में उत्पन्न होने, अनार्तव (अप्राप्त समय) में उत्पन्न होने, अन्य धान्यों से मिश्रित, हीनवीर्य तथा बहुत वर्षों का पुराना होने से धान्य त्याज्य है ।

इसी प्रकार के शाक तथा रूक्षसिद्ध (स्नेह-रहित सिद्ध), अकोमल तथा जिसमें पूर्ण रस की उत्पत्ति न हुई हो और शुष्क शाक त्याज्य हैं, किन्तु सुखाए गये मूली (*Raphanus sativus*) के शाक को छोड़कर उपर्युक्त सब प्रकार के फल तथा कच्चे फल त्याज्य हैं । केवल कच्चा बिल्व फल (*Aegle marmelos correa*) ग्राह्य है ।

इति फलवर्गः ।

उपसंहार

शूकशिम्बिजपक्वान्नमांसशाकफलाश्रयैः ।
वर्गैरन्नैकदेशोऽयं भूयिष्ठमुपयोगवान् ॥ २१० ॥
निर्दिष्टो रसवीर्याद्यैर्यथास्वं कर्मसाधने ।
न शक्यं विस्तरेणापि वक्तुं सर्वं तु सर्वथा ॥ २११ ॥
हिताहितत्वेऽप्येकान्तनियमोऽस्मादनिश्चितः ।
मात्रायोगक्रियादेशकालावस्थादिभेदतः ॥ २१२ ॥
ततस्ततो यतो दृष्टास्ते ते भावास्तथा तथा ।

शूकधान्य वर्ग, शिम्बीधान्य वर्ग, पक्वान्न (कृतान्न) वर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग तथा फलवर्ग के अन्नपान के अत्यन्त उपयोगी भाग जो रस, वीर्य, विपाक आदि के द्वारा अपना कार्य करने में समर्थ हैं, उसको निर्दिष्ट कर दिया गया है; विस्तार के साथ सबका वर्णन सर्वथा नहीं किया जा सकता । किसी द्रव्य के हित (पथ्य) अथवा अहित (अपथ्य) होने में निश्चित रूप से कोई नियम नहीं है, क्योंकि मात्रा (परिमाण), योग (संयोग), क्रिया (संस्कार), देश (भूमि), काल, अवस्था (वय) तथा स्वभाव आदि से वैसे-वैसे भाव देखे जाते हैं ।

अर्थात् सब चीज हर प्रकार से विस्तार में नहीं कही जा सकतीं । इसीलिए हित द्रव्यों तथा अहित द्रव्यों का निश्चित नियम बतलाना अनिश्चित है, क्योंकि ये मात्रा, योग, काल, अवस्था आदि भेद से पृथक् हो जाने के कारण उन-उन रूपों में देखे गए हैं ।

मात्रा का उदाहरण

मात्रया सेवितं मद्यं हन्ति रोगांस्तदुद्भवान् ॥ २१३ ॥
निषेव्यमाणं तिलशो विषमप्यमृतायते ।
हीनातिमात्रमशनं मरुन्निचयकोपनम् ॥ २१४ ॥
भजतो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषी ।

मात्रा में सेवन किया मद्य, मद्य से उत्पन्न रोगों को नष्ट करता है। तिल (अल्प) मात्रा में सेवन किया गया विष भी अमृत के समान होता है। हीन (न्यून) मात्रा में सेवन किया गया भोजन वायु को और अधिक मात्रा में सेवन किया भोजन सन्निपात को कुपित करता है। समान मात्रा में लिया गया मधु और घृत भी विष के समान होता है।

प्रयोग का उदाहरण

क्षारोऽम्लरससंयोगे मधुरी भवति क्षणात् ॥ २१५ ॥
उत्तुण्डक्यास्तिन्दुकेन तिक्तता मधुरायते।
हिङ्गुगैरिकसिन्धूत्थं गन्धवर्णरसाधिकम् ॥ २१६ ॥
पूगताम्बूलशङ्खेभ्यो वर्णगन्धरसोद्भवः।
कोद्रवो हन्त्यसृक्पित्तं करोत्येव विदाहिभिः ॥ २१७ ॥
कुष्ठं तत्कार्यपि तिलो हन्ति भल्लातकैः सह।
गुडः कर्ताऽग्निसादस्य स हिनस्त्यभयादिभिः ॥ २१८ ॥
तृष्यत्यग्नेः समदनं सर्पिरप्युपदिश्यते।
जीवनीयमपि क्षीरं विषलेशेन मृत्यवे ॥ २१९ ॥
तुल्ये अपि हतोऽन्योन्यं विषे स्थावरजङ्गमे।
सक्तवो वातला रूक्षाः पीतास्ते तर्पयन्ति तु ॥ २२० ॥

क्षार अम्लरस के संयोग होने पर तत्काल मधुर हो जाता है। तिन्दुक (*Diospyros pergerina*) के साथ संयोग होने पर उत्तुण्ड (करंज *Pongamia pinnata*) की तिक्तता संयोग विशेष से मधुर हो जाती है।

हींग (*Ferula foetida* Regel.) के साथ संयोग होने पर गैरिक (गेरू) और सैंधव नमक में गंध आ जाती है। गेरू से हींग और सैंधव में रंग आ जाता है। सैंधव से हींग और गेरू में भी लवण रस आ जाता है। सुपाड़ी (*Areca catechu* Linn.), ताम्बूल (*Piper betle* Linn.) और चूना के संयोग से विलक्षण वर्ण, गंध एवं रस की उत्पत्ति होती है। कोद्रव (*Paspalum scrobiculatum*) रक्तपितनाशक है, किन्तु विदाहि द्रव्यों के संयोग से रक्तपित्त भी उत्पन्न करता है। तिल (*Sesamum indicum* Linn.) कुष्ठ को उत्पन्न करता है, किन्तु भिलावे (*Semecarpus anacardium*) के साथ संयोग होने पर कुष्ठ को नष्ट भी करता है। गुड़ अग्निमांद्य करता है, किन्तु हरीतकी (*Terminalia chebula*) एवं शुण्ठी (*Zingiber officinale* Rose.) आदि के संयोग से मन्दाग्नि को नष्ट भी करता है। अग्नि तीक्ष्ण (प्रदीप्त) होने पर अग्नि को प्रदीप्त करने वाला घृत भी मदन (मोम) के साथ प्रयुक्त होने पर अग्नि को मंद करता है। तृषा में अग्नि-दीपक होने के कारण घृत उपशोषण पैदा करता है, तृषा और बढ़ती है, इसलिए घृत अपथ्य माना जाता है। परन्तु मोम के संयोग से सर्पि (घृत) तृषा के लिए पथ्य हो जाता है।

जीवनीय दुग्ध भी लेशमात्र विष के मिलने पर मृत्यु का कारण होता है। स्थावर-जांगम विष मारक होने पर भी एक-दूसरे को नष्ट करते हैं। सक्तू वातकारक होने पर भी पानी में घोल कर पीने से तृप्तिकारक होता है।

विनाऽपि चोपयोगेन मणिमन्त्रादि कार्यकृत् ।

बिना अन्तःप्रयोग के भी मणि-मंत्र आदि अपना कार्य करते हैं । गिलोय (गूडूची *Tinospora cordifolia*) की भाँति इनका अन्तःप्रयोग नहीं किया जाता है ।

संस्कार के उदाहरण

आर्द्रकाज्जायते शुण्ठी संस्कारेण लघीयसी ॥ २२१ ॥
लघुभ्योऽपि हि सक्तुभ्यो गुरवः सिद्धपिण्डिकाः ।
भृष्टः क्षुण्णोऽपि पृथुको रक्तशालेर्लघोर्गुरुः ॥ २२२ ॥
शालिः पिष्टो गरीयस्त्वं गोधूमादपि गच्छति ।
लघुपित्तहरा लाजा व्रीहितो गुरुपित्तलात् ॥ २२३ ॥
सङ्ग्राहिणो लघोर्मुद्गात् कुल्माषो भेदनो गुरुः ।
आमं ग्राहितरं तक्रं नागरीकृतमार्द्रकम् ॥ २२४ ॥
गुडात् तोयाच्च सुतरां मूत्रलं गुरु पानकम् ।
गरीयो गुडदध्युत्था रसाला चातिशुक्रला ॥ २२५ ॥
दण्डाभिमथनाद्दध्नो गुरुणाश्चातिशोफदात् ।
अनुद्धृतस्नेहमपि तक्रं शोफहरं लघु ॥ २२६ ॥
सर्पिः स्निग्धतरं हन्ति नार्दितं नवनीतवत् ।
चक्षुष्योऽपि हि गोधूमस्तैलपक्वस्तु दृष्टिहा ॥ २२७ ॥
मूलकं दोषजननं [1]स्निग्धसिद्धं त्वदोषलम् ।
उष्णं विषीभवत्येव विषघ्नमपि माक्षिकम् ॥ २२८ ॥
दुर्भाजनस्था द्राक्षाम्ला दोषला च प्रजायते ।
श्लक्ष्णशुष्कघनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् ॥ २२९ ॥
त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृत्त्वन्यथाऽगुरोः ।
मेध्यस्तिलः स्पर्शशीतो मेध्यं तैलं खलो हिमः ॥ २३० ॥
तस्यैव श्लेष्मकारित्वं न तैलस्य खलस्य वा ।
दध्निः श्वयथुकारित्वं न तक्रनवनीतयोः ॥ २३१ ॥

आर्द्रक (अदरक *Zingiber officinale* Rose.) से संस्कार के द्वारा शुण्ठी (*Zingiber officinale* Rose.) बनाई जाती है । वह आर्द्रक की अपेक्षा लघु होती है । सत्तू लघु होने पर भी उससे बनी हुई पिण्डियाँ गुरु होती हैं । लालशालि धान्य (*Oryza sativa* Var. ?) लघु होता है, किन्तु उसको भूनकर एवं कूटकर बनाया गया पृथुक (चिउड़ा) गुरु होता है । लघु गुण वाला शालिचावल भूनने के बाद गेहूँ (*Triticum vulgare*) से भी गुरु हो जाता है । व्रीहिधान्य गुरु एवं पित्तकारक होता है, किन्तु उससे बना लाजा लघु एवं पित्तल होता है । मूँग (*Phaseolus mungo*) संग्राही एवं लघु होता है, किन्तु उससे बना कुल्माष (अल्प स्विन्न) मलभेदक तथा गुरु होता है । कच्चा तक्र अत्यन्त ग्राही होता है, पक्व तक्र उतना संग्राही नहीं है । गुड़ और जल की अपेक्षा गुड़ एवं जल से बनाया गया पानक (शर्बत) अधिक मूत्रल एवं गुरु होता है । गुड़ और दधि दोनों गुरु होते हैं, इनसे बनी रसाला अत्यन्त शुक्रवर्धक होती है । दही गुरु तथा अति शोथकारक

१. 'सिद्धं तु' इति पाठान्तरम् ।

होता है, किन्तु उसको मथनी द्वारा मथने से उसका स्नेह न निकलने पर भी लघु और शोफनाशक हो जाता है। सर्पि (घृत) मक्खन से अधिक स्निग्ध होता है, किन्तु अर्दित रोग को घृत उस प्रकार नष्ट नहीं करता है, जैसे कि मक्खन नष्ट करता है।

गेहूँ (*Triticum vulgare*) चक्षुष्य होने पर भी तैल में परिपाक होकर (तैल से बनी पूड़ी आदि) दृष्टि को हानि पहुँचाता है। मूली (*Raphanus sativus*) दोषकारक होती है, परन्तु घृत आदि स्निग्ध द्रव्यों से सिद्ध होने पर दोषकारक नहीं होती। मधु विषघ्न होता है किन्तु उष्ण होकर विष हो जाता है। दूषित पात्र में रखी हुई द्राक्षा अम्ल एवं दोषकारक हो जाती है। चंदन (*Santalum album*) का लेप दाहनाशक होता है, किन्तु शिला पर पीसने से उसका बारीक सूक्ष्म मोटा लेप सूख जाने पर दाहकारक होता है, क्योंकि चंदन का लेप त्वचा की ऊष्मा का निरोध कर देता है। अगरु (*Aquilaria agallocha* Roxb.) उष्ण होता है, किन्तु उसका पतला लेप दाहशामक होता है। तिल (*Sessamum indicum* Linn.) मेध्य तथा स्पर्श में शीतल होती है, तिल-तैल मेध्य और उसकी खली शीतल होती है। इन तीनों में कफ के समान गुण होने पर भी केवल तिल ही कफकारक होता है, तैल एवं खली नहीं। दही स्निग्ध होने से शोथकारक है, किन्तु तक्र एवं नवनीत स्निग्ध होने पर भी शोथकारक नहीं होते।

भूमिसात्म्य

भूमिसात्म्यं दधिक्षीरकरीरं मरुवासिषु।
क्षारः प्राच्येषु मत्स्यास्तु सैन्धवेष्वश्मकेषु च ॥ २३२ ॥
तैलाम्लं कन्दमूलानि मलये कोङ्कणे पुनः।
पेया मन्थ उदीच्येषु गोधूमोऽवैन्तिभूमिषु ॥ २३३ ॥
बाह्लीका बाह्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः।
मांसगोधूममार्द्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः ॥ २३४ ॥

भूमिसात्म्य अर्थात् देशसात्म्य के कारण मरुदेशवासी (मारवाड़ निवासी) को दधि, दूध और करीर (*Capparis decidua* Edgew), प्राच्य (पूर्व) देशवासियों को क्षार, सिन्ध देशवासियों को मछली (Fish), अश्मक (पठान) देशवासियों को तैल और अम्ल, मलय देशवासियों को कन्दमूल, कोंकण देशवासियों को पेया, उदीच्य (उत्तर देश) वासियों को मंथ, अवंती (मालवादेश) वासियों को गेहूँ (*Triticum vulgare*), वाह्लीक, बाह्लव और चीन देशवासियों को मांस को अंगारों पर सेंक करके खाना, यवन एवं शक लोगों को मांस, गेहूँ (*Triticum vulgare*), द्राक्षा (*Vitis vinifera*) तथा शस्त्र में फँसा कर आग में भूनकर मांस भक्षण सात्म्य है।

देहसात्म्य

देहसात्म्यं घृतं क्षीरं मद्यं मांसं च कस्यचित्।
पेया यूषो रसोऽन्यस्य गोधूमोऽन्यस्य शालयः ॥ २३५ ॥
अहितैरपि तेषां च तैरेवोपहितं हितम्।

घृत, क्षीर, मद्य एवं मांस किसी को सात्म्य हो जाते हैं, किसी को पेया, किसी को यूष, किसी को गेहूँ (*Triticum vulgare*) तथा किसी को चावल (*Oryza sativa*) सात्म्य होते हैं। उन्हीं लोगों को अहितकर के साथ मिले हुए और भी अन्नपान तथा औषध हितकारी बन जाते हैं।

अन्नपानौषधं दोषमात्राकालाद्यपेक्षया ॥ २३६ ॥
सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते नातिदोषं च बह्वपि ।
स्रंसनं सत् पयो गव्यं भवति ग्राहि कस्यचित् ॥ २३७ ॥
मन्दोऽग्निर्भवति प्रायः कफवातोत्तरे हिमे ।
विषघ्नेनापि पयसा देहेऽहेर्वर्धते विषम् ॥ २३८ ॥
स्थूलस्थविरबालादौ वमनादि निषिध्यते ।
तक्रमामं कफं कोष्ठे हन्ति कण्ठे करोति तु ॥ २३९ ॥
वातहृत्त्वेऽपि मृद्वीकाखर्जूरं कोष्ठवातकृत् ।

औषध, मात्रा एवं काल आदि की अपेक्षा से लिया गया औषध सात्म्य होने से शीघ्र बल कारक होता है । मात्रा में अधिक होने पर अत्यन्त दोषकारक नहीं होते हैं । गाय (*Bos indicus*) का दूध संस्रन होने पर किसी के लिए संग्राही (मलरोधक) बन जाता है । शिशिर तथा हेमन्त ऋतु में जठराग्नि प्रायः प्रदीप्त हो जाती है, किन्तु कफ-वात प्राधान्य व्यक्ति की जठराग्नि मंद हो जाती है । दुग्ध विषनाशक होता है, किन्तु दुग्धपान करने से सर्प के शरीर में विष की वृद्धि हो जाती है । वमन आदि पंचकर्म सबके लिए पथ्य होता है, किन्तु स्थूल, वृद्ध तथा बालकों के लिए निषिद्ध है । आम (कच्चा तक्र) उदर में कफ को नष्ट करता है, परन्तु कण्ठमार्ग के कफ को बढ़ाता है । द्राक्षा (*Vitis vinifera*) और खर्जूर (*Phoenix dactylifera* Linn) वात-नाशक होने पर भी उदर में वायु की वृद्धि करते हैं ।

नातिपथ्यः शिखी पथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदृशाम् ॥ २४० ॥
दृष्टेः स्पर्शहिमं द्रव्यं श्रोत्रस्योष्णं तु पूजितम् ।
पयः स्वादु सरं शीतं विपरीतं ततो दधि ॥ २४१ ॥
कालेन जायते तस्मात् क्षीरवच्च पुनर्घृतम् ।
पयो दधि च वातघ्नमजातं वातलं तु तत् ॥ २४२ ॥
तक्रं ग्राहि कषायाम्लमम्लमेव तु भेदनम् ।
धातकीगुडतोयानि कारणं मद्यसुक्तयोः ॥ २४३ ॥
शीते न तु तदाद्यन्ते स्निग्धाम्ललवणा हिताः ।
उदमन्थदिवास्वप्नौ ग्रीष्मादन्यत्र गर्हितौ ॥ २४४ ॥
समयोगेऽपि घर्माद्या वातादिचयहेतवः ।

मोर (*Pavo cristasus*) का मांस पुरुष (*Homo sapiens*) के लिए अत्यन्त पथ्य नहीं है, किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय, स्वरवाही स्रोतस्, वय और दृष्टि के लिए पथ्य है । दृष्टि के लिए शीत स्पर्श पथ्य है और श्रोत्र के लिए उष्ण स्पर्श प्रशस्त है । दुग्ध रस में मधुर, सर एवं शीतवीर्य होता है; कालान्तर में दूध से दही बनता है, दही रस में अम्ल, ग्राही और उष्णवीर्य होता है । दही से घृत बनता है और यह घृत दुग्ध के समान मधुर, सर और शीतल होता है । दुग्ध और दही वात-नाशक परन्तु अजात (न जमी हुई) दधि वातकारक होती है । कषाय और अम्ल रस वाला तक्र ग्राही होता है, किन्तु अम्ल रस वाला तक्र मलभेदक होता है । धातकी (*Woodfordia fruticosa* Kurz.) का फूल, गुड़ और जल मद्य एवं शुक्त के उत्पादक हैं । शीत काल में स्निग्ध, अम्ल

एवं लवण रस हितकर होते हैं, किन्तु ये रस शीत के प्रारम्भ या अन्त काल में प्रशस्त नहीं होते। उदमंथ (पानी में घुला सत्तू) और दिन में सोना ग्रीष्मऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में निन्दित है।

ऋतुष्वन्यो रसेष्वन्यो रूक्षस्नेहबलक्रमः ॥ २४५ ॥
रसायनी काकमाची सद्यः पर्युषिता विषम्।
मूलकं दोषजिद्बालं विपरीतं तु कन्दवत् ॥ २४६ ॥
ज्वरे पेयाः कषायाश्च सर्पिः क्षीरं विरेचनम्।
षडहं षडहं युञ्ज्याद्वीक्ष्य दोषबलाबलम् ॥ २४७ ॥
छर्दिहृद्रोगगुल्मार्ते वमनं च चिकित्सितम्।
निषिद्धमपि निर्दिष्टं बस्तिरर्शसकुष्ठिनोः ॥ २४८ ॥
ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यत्वहेतवः ॥ २४९ ॥

हेमन्त आदि ऋतुओं में रूक्षता, स्नेहन और बल, मधुर आदि रसों के लिए इनका दूसरा क्रम है। सद्यः सिद्ध (तुरन्त बनाया हुआ) काकमाची (*Solanum nigrum*) का शाक रसायन है, यही मकोय एक रात के पश्चात् विष बन जाती है। बाल (कच्ची) मूली त्रिदोषनाशक है, किन्तु यही मूली (*Raphanus sativus*) कन्द के समान मोटी हो जाने पर दोषकारक है।

बलाबल का विचार—ज्वर में रोग के दोष के बल और अबल का विचार करके छः-छः दिन पर पेया, कषाय, घी, दुग्ध और विरेचन देना चाहिए।

विधि निषेध का विचार—छर्दि, हृदयरोग और गुल्मरोग में वमन निषिद्ध होने पर भी इन रोगों की चिकित्सा में वमन का विधान भी आ गया है। इसी प्रकार अर्श तथा कुष्ठरोग में वस्ति का निषेध है, परन्तु उक्त रोगों में वस्ति का विधान किया गया है। ज्वर में ऋतु और दोष की समानता, प्रमेह में दोष एवं दूष्यों की समानता तथा रक्तगुल्म में रोग का पुराणत्व सुखसाध्यता का हेतु कहा गया है।

आश्चोतनमभिष्यन्दे युञ्जीतोर्ध्वं दिनत्रयात्।
अञ्जनं पक्वदोषस्य प्रतिश्याये च नावनम् ॥ २५० ॥
नातिप्रवृद्धे तिमिरे सिरामोक्षो विधीयते।
दुष्टास्रसम्भवेऽपीष्टो नास्रपित्ते सिराव्यधः ॥ २५१ ॥
अपथ्यं पथ्यमप्यन्नं निशायां नेत्ररोगिणाम्।
अहिताः सक्तवः शुष्का हितास्ते तु प्रमेहिणः ॥२५२ ॥
गुल्मिनः क्षीरदध्यादि हपुषाद्यैर्युतं हितम्।
वातलं वातकोपेऽपि वर्षासु मधु शस्यते ॥ २५३ ॥
तदेव मद्यं मद्यस्य विषस्य तु विषान्तरम्।
घृतमानूपदेशोत्थं हेमन्ते च बलाधिकम् ॥ २५४ ॥
आलस्यगौरवे रूपं वातजेऽपि ज्वरे पुरः।
स्वेदैर्याति शामं दाहः प्रायो लशुनपाकजः ॥ २५५ ॥

१. 'पानजः' इति पाठान्तरम्।

अभिष्यन्द में आश्च्योतन पथ्य होते हुए भी तीन दिन के पश्चात् प्रयोग करना चाहिए। दोष के पक्व होने पर अंजन, प्रतिश्याय में नस्य तथा तिमिर रोग के अत्यधिक न बढ़ने पर सिरामोक्षण पथ्य है। दुष्ट रक्त से उत्पन्न रक्तपित्त में भी शिरामोक्षण प्रशस्त नहीं है। नेत्ररोगियों के लिए पथ्यकारी अन्न भी रात्रि में अपथ्य होता है। शुष्क सत्तू अपथ्य होते हुए भी प्रमेह रोगियों के लिए पथ्य होता है। गुल्म रोगी के लिए दूध, दही आदि अपथ्य होने पर भी हपुषा (*Juniperus commusis* Linn.) आदि से युक्त होने पर पथ्य होता है। वर्षा ऋतु में वात का प्रकोप होने पर भी वातकारक मधु प्रशस्त है। मद से उत्पन्न मदात्यय आदि रोग मद्य से शान्त होते हैं। विषविकार विषान्तर (दूसरे जाति के विष) यथा जांगम विष के विकार स्थावर विष से एवं स्थावर विष के विकार जांगम विष से शान्त होते हैं। आनूपदेशीय घृत से हेमन्त ऋतु में बल की अधिकता होती है। वातजन्य ज्वर में आलस्य और गौरव (भारीपन) कफ के लक्षण होते हैं। लशुन (*Allium sativum*) के प्रयोग से उत्पन्न दाह प्रायः अग्नि आदि के द्वारा स्वेदन करने से शान्त हो जाता है, जबकि अन्य प्रकार का दाह स्वेदन के बढ़ जाता है।

दिवास्वप्नाज्जरां याति भुक्तमन्येद्युरद्य न।
कोष्ठे रुद्धोऽग्निकृद्वायुर्मेदसार्शोभिरग्निहृत् ॥ २५६ ॥
दुष्पानं दुर्जरं सर्पिर्दीपनं च पयोऽन्यथा।
सर्पादिशवकोथेभ्यो वृश्चिकानां समुद्भवः ॥ २५७ ॥
ते तैरेव पुनर्दष्टाः सद्यो मुञ्चन्ति[२] जीवितम्।
स्वयमेव विषं तीव्रं तान् पुनर्नातिबाधते ॥ २५८ ॥
सर्वाङ्गव्यापि तेषां च शुक्रवत् संस्मृतं विषम्।
तन्मांसमुपयोगाय मांसवर्गे च पठ्यते ॥ २५९ ॥
छर्दिघ्नी मक्षिकाविट् च मक्षिकैव तु वामयेत्।

दिन में शयन करने से एक दिन पहले खाया भोजन पच जाता है, किन्तु उसी दिन का भोजन नहीं पचता। कोष्ठ में मेदोधातु के द्वारा अवरुद्ध वायु अग्नि को बढ़ाता है, यही अवरुद्ध वायु अर्श रोग में अग्नि का नाश करता है। कठिनाई से पीने योग्य, देर में पचने वाला घृत वह्निदीपक होता है किन्तु आसानी से पीने योग्य सुपाच्य दुग्ध अग्निवर्धक नहीं होता। सर्प आदि के मृत शरीर के सड़ने से बिच्छू की उत्पत्ति होती है, किन्तु इन्हीं बिच्छू (*Palamnaeus* sps.) के काटने से सर्प (Snakes) तत्काल मर जाते हैं। सर्प का विष तीव्र (तीक्ष्ण) होने पर भी सर्प को हानि नहीं करता है। शुक्र के समान विष सर्प के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने पर भी सर्प के मांस का उपयोग करने के लिए मांस वर्ग में कहा गया है। मक्खी (Musca nebulo) मुख में चले जाने से उत्पन्न वमन में मक्षिका बिष्ठा वमननाशक होती है।

कफे लङ्घनसाध्येऽपि कर्तरि ज्वरगुल्मयोः ॥ २६० ॥
तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न समञ्जसम्[१]
सर्वथा दोषजित् तक्रं ग्रहण्यां दोषकृद् व्रणे ॥ २६१ ॥
पीनसश्वासकासादौ सिद्धमेव प्रशस्यते।
इत्येतेऽन्ये च बहवः सूक्ष्मा दुर्लभहेतुकाः ॥ २६२ ॥
धर्मा विचित्रा भावेषु किञ्चित् तेषां निदर्शितम्।

१. 'जहृति' इति पाठान्तरम्। २. 'समं मतम्' इति पाठान्तरम्।

दिशाऽनया शेषमपि स्वयमूहेत बुद्धिमान् ।
न शास्त्रमात्रशरणो न चानालोचितागमः ॥ २६३ ॥

इति मात्रादिप्रकरणम् ।

इत्यन्नस्वरूपविज्ञानीयो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

देश, काल, रोगी की प्रकृति आदि के समान होने पर भी ज्वर तथा गुल्म दोनों के उत्पादक हेतु कफ लंघन द्वारा शांत होने पर भी कफज ज्वर में लंघन पथ्य है, किंतु कफजन्य गुल्म में लंघन से वायु बढ़ता है। ग्रहणीरोग में तक्र तीनों दोषों को शान्त करती है, किन्तु व्रण में तक्र दोषकारक होता है। पीनस, श्वास, कास आदि रोगों में तक्र अप्रशस्त है, किन्तु संस्कार द्वारा सिद्ध होने पर प्रशस्त है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथा अन्य अनेकों सूक्ष्म विचित्र भाव पदार्थों में देखे जाते हैं, जिनका कारण दुर्लभ है। कुछ विचित्र भावों का निर्देश कर दिया गया है। बुद्धिमान् स्वयं शेष भावों का विचार करता रहे, क्योंकि केवल शास्त्र पर ही आश्रित नहीं रहना चाहिए अथवा शास्त्र के अध्ययन से शून्य रहना भी ठीक नहीं है।

इस प्रकार 'अन्नस्वरूपविज्ञानीय' नामक सप्तम अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

अन्न द्रव्यों का वर्गीकरण

१. **शूकधान्य वर्ग**—(क) शालिधान्य, (ख) व्रीहिधान्य, (ग) तृणधान्य, (घ) कंगुधान्य, (च) यव, (छ) गोधूम।

२. **शिम्बीधान्य वर्ग**—मुद्ग, मङ्गल्यक, वनमुद्ग, मकुष्ठक, मसूर, चवल (मटर), आढकी (अरहर), चणक।

३. **कृतान्न वर्ग**—मण्ड, पेया, विलेपी, ओदन, मांसरस, कृत एवं अकृत यूष, खल एवं काम्बलिक, दकलावणिक, राग एवं षाडव, मन्थ एवं रसाला, पानक, लाजा, पृथुक, धाना, सक्तू, पिण्याक, वेशवार एवं अपूप।

४. **मांसवर्ग**—(क) मृग वर्ग, (ख) विष्किर वर्ग, (ग) प्रतुद वर्ग, (घ) विलेशय वर्ग, (च) प्रसह वर्ग (छ) महामृग वर्ग (ज) जलचारी वर्ग (झ) मत्स्य वर्ग।

५. **शाकवर्ग**—पाठा, शठी, सूषा, सुनिषण्णक, वास्तूक, काकमाची एवं चांगेरी आदि।

६. **फलवर्ग**—द्राक्षा, दाडिम, मोच (कदलीफल), खर्जूर, पनस, नारिकेल, परूशक (फालसा), आम्रातक (आमड़ा), ताल, काश्मर्य, राजादन (खिरनी), मधूक, बदर, फल्गु (अंजीर) आदि।

७. **हरीतक वर्ग**—कुठेरक (तुलसी), शिग्रु, सुरसा, सुमुख, धान्यक, अजवायन, शृंगवेर (अदरख), गृंजन (गाजर), अजाजी (कालाजीरा), खराश्वा (अजवायन), वस्तगन्धा (अजमोदा) आदि।

अष्टमोऽध्यायः

अथातोऽन्नरक्षाविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'अन्नरक्षाविधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है ॥ २ ॥

अन्नपान का स्वरूप पहले कहा जा चुका है। पथ्य अन्नपान भी यदि विष आदि से उपहत (दूषित) हो गया हो, तो उससे रोग अथवा मृत्यु हो जाती है, इसलिए अन्नपान के रक्षण का यह अध्याय प्रारम्भ किया जाता है। साधारण रूप से अन्नरक्षा शब्द का विग्रह 'अन्नस्य रक्षा अन्नरक्षा' अर्थात् 'अन्न की रक्षा' होता है। परन्तु यहाँ पर 'अन्नरक्षोपदेश्या यस्मिन् अध्याये सः अध्यायोऽपि लक्षणया अन्नरक्षः इति प्रोच्यते'। अर्थात् अन्न की रक्षा का उपदेश जिस अध्याय में किया जाय, वह अध्याय भी लक्षणा से अन्नरक्षा कहा जाता है। जैसे शिशुपाल-वध काव्य कहा जाता है। रक्षा, विष, विरोधी अन्न, अविधि-सेवन, शयन तथा सम्भोग से अन्न की रक्षा होती है। यह सब राजाओं को प्रायः हुआ करते हैं, इसलिए इनसे रक्षा करना वैद्य का कर्तव्य है।

ईश्वराणां वसुमतां विशेषेण तु भूभुजां प्रायेण मित्रेभ्योऽप्यमित्रा भूयांसो भवन्ति। ततस्तत्प्रयुक्ताः समासन्नवर्तिनोऽन्नपानादिषु विषं प्रयच्छन्ति। स्त्रियश्च तत्प्रणिधिप्रयुक्ताः सौभाग्यलोभेन ॥ ३ ॥

ऐश्वर्यवान्, धनवान् विशेषतः राजाओं के प्रायः मित्रों की अपेक्षा अमित्र (शत्रु) अधिक होते हैं, इसलिए शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त विष को समीपवर्ती पाचक (रसोइया) आदि अन्नपान आदि में मिला देते हैं। स्त्रियाँ सौभाग्य लोभ से वशीकरण आदि रूप में विष का प्रयोग कर देती हैं।

राजकीय प्राणाचार्य के गुण

तस्माद्राजा कुलीनं स्निग्धमाप्तमास्तिकमार्यमार्यपरिग्रहं दक्षं दक्षिणं[1] निभृतं शुचिमनुद्धतमनलसमव्यसनिनमनहङ्कृतमकोपनमसाहसिकं वाक्यार्थावबोधकुशलं निष्णातमष्टाङ्गे यथाऽऽम्नायमायुर्वेदे सुविहितयोगक्षेमं सन्निहितागदादियोगं सात्म्यज्ञं च प्राणाचार्यं परिगृह्णीत[2] ॥ ४ ॥

इसलिए राजा को चाहिए कि वह ऐसे गुण वाले प्राणाचार्य (वैद्य) को राजगृह के समीप रखे, जो कुलीन (उत्कृष्ट कुलोत्पन्न), स्निग्ध (स्नेही), आप्त (रागद्वेषरहित), आस्तिक, आर्य (साधुवृत्त), आर्यपरिग्रह (आर्यपत्नी वाला), दक्ष (चतुर), दक्षिण (मैत्रीयुक्त), निभृत (राजकार्य में निश्चल), शुचि (पवित्र), अनुद्धत (नम्र), अनलस (उत्थानशील), अव्यसनी (व्यसनरहित), अहंकार रहित, अकोपन (क्रोधरहित), असाहसिक (दुस्साहसिक न

---

१. 'दक्षिणं राज्ञोऽन्येषां च मैत्रीपरम्' इतीन्दुः।
२. 'अव्यसनिनमदुःखाभिभूतम्' इतीन्दुः।
३. 'परिगृह्णीयात्' इति पाठान्तरम्।

हो), वाक्य के अर्थ को समझने में कुशल, अष्टांग आयुर्वेद में शास्त्रानुसार निष्णात, जिसके योगक्षेम (जीवन-निर्वाह) का सुन्दर प्रबन्ध हो, जिसके निकट विसूचिका आदि रोगों के प्रशमन के लिए औषधियाँ हों तथा जो सात्म्यज्ञ (सभी प्रकार के सात्म्य को जानने वाला) हो।

प्राणाचार्य का सम्मान

तमर्थमानाभ्यां यथाकालं गुरुमिव शिष्यः पितरमिव पुत्रः पूजयेत्। प्रतिकूलमपि तद्वचः साम्प्रतं मतमिति प्रतिमन्येत। न हि भद्रोऽपि गजपतिर्निरङ्कुशः श्लाघनीयो जनस्य। तस्मात्तदायत्तमाहारविहारं प्रति चात्मानं कुर्यात् ॥ ५ ॥

राजा को प्राणाचार्य की अर्थ तथा सत्कार के द्वारा यथासमय पूजा करनी चाहिए, जिस प्रकार शिष्य गुरु की और पुत्र पिता की पूजा करता है। प्राणाचार्य के प्रतिकूल वचन को भी युक्तियुक्त मानना चाहिए, क्योंकि सुशील (नम्र) हाथी भी यदि निरंकुश हो, तो जनता के लिए सराहनीय नहीं होता। इसलिए राजा अपने आहार-विहार को प्राणाचार्य के अधीन कर दे।

उपात्तमपि खलु जीवितमुपायबलेन स्वयमधितिष्ठति ॥ ६ ॥

उपात्त (अदृष्ट) कर्म के द्वारा प्राप्त जीवन उचित आहार-विहार आदि उपायों के बल द्वारा अपने निश्चित समय तक शरीर में स्थिर रहता है।

राजा के लिए चिकित्सक की आवश्यकता

अपि च—बहुपरिग्रहा नरपतयः। सन्ति चाशुकारिणः शूलसंन्यासादयः। प्रतिक्षणं प्रत्यवेक्षणीयावस्थाश्च रोगिणो विशेषेण राजानः। ते हि प्रमादपरिगता दुःखासहिष्णवश्च स्वयमप्यपथ्यरुचयः सन्निहिता हितप्रियवचनप्रायपरिवाराश्च। तस्माद् भिषजो राजा राजगृहासन्ने निवेशनं कारयेत्। तथाहि सर्वोपकरणेषु नृपतिशरीरोपयोगिष्वपरोक्षवृत्तिर्भवति ॥ ७ ॥

राजा की पत्नियाँ, नौकर, बान्धव एवं परिवार बहुत होता हैं। शूल आदि शारीरिक व्याधियाँ तथा संन्यास आदि मानसिक व्याधियाँ शीघ्र मारक होती हैं, इसलिए सभी रोगियों की रोगावस्था की प्रतिक्षण देखभाल करनी चाहिए, किन्तु राजा की विशेष रूप से। यद्यपि राजा स्वतन्त्र होने से प्रमाद करते हैं, रोग आदि के सहने में असहिष्णु तथा स्वयं स्वभाव से अपथ्याभिलाषी, प्रायः अहित एवं प्रिय वचन बोलने वाले परिचारकों से घिरे रहते हैं। इसलिए राजा को चाहिए कि वह राजगृह के समीप भिषक् को रखे। इस प्रकार चिकित्सक राजा के शरीरोपयोगी आहार-विहार के साधनों पर प्रत्यक्ष रूप से ध्यान दे सकता है।

राजकीय भोजन की परीक्षण-विधि

स सम्यक्सम्पन्नमन्नं सुपरीक्षितं विशुद्धमग्न्यादिषु प्रागुपनीतं शिखिना दृष्टमभिप्रोक्षितं प्रोक्षणैः पुरस्थितो राजानं हस्तबद्धौषधिरत्नं भोजयेत् ॥ ८ ॥

वैद्य ठीक प्रकार से तैयार किये गये अन्न की भलीभांति परीक्षा करके विशुद्ध अन्न को सर्वप्रथम अग्नि में डालकर तथा सविष, निर्विष ज्ञानार्थ मयूर (*Pavo cristasus*) को खिलाकर मन्त्र, जल आदि से अभिमन्त्रित करके राजा के सामने बैठकर राजा के हाथ में औषधि और रत्न को बाँधकर भोजन करायें।

भोजन के समय दुन्दुभिवादन

भुञ्जानस्यास्य दुन्दुभीनगदप्रलिप्तान् वादयेत् ॥ ९ ॥

राजा के भोजन करते समय अगद से प्रलिप्त दुंदुभि (ढोलक एवं नगाड़ा आदि) बजाना चाहिए।

सविष अन्न के लक्षण

तत्र सविषमन्नं स्राव्यमानमविस्राव्यं भवति चिरेण पच्यते पक्वं च सद्यः पर्युषितमिव निरूष्मस्तब्धं च जायते यथा स्ववर्णगन्धरसैर्व्यापद्यते प्रक्लिद्यते चन्द्रिकाचितं च भवति ॥ १० ॥

विषमिश्रित अन्न निथारने (चुआने) पर उसका स्राव नहीं गिरता है, देर से पकता है, पक जाने पर जल्दी ही बासी हो जाता है अर्थात् बाष्परहित तथा कठिन हो जाता है, उसका स्वाभाविक रूप,रस, वर्ण एवं गंध विकृत हो जाता है और वह पसीज जाता है तथा उस पर मोर-पंख के समान नाना प्रकार के मण्डल (चन्द्रिकाएँ) दिखलाई पड़ते हैं।

विषमिश्रित व्यञ्जन के लक्षण

व्यञ्जनानामाशु शुष्कत्वं भवति। क्वाथस्य ध्यामता हीनातिरिक्तविकृतानां चात्र छायानां दर्शनमदर्शनमेव वा फेनपटलसीमन्तकोर्ध्वविविधराजितन्तुबुद्बुदप्रादुर्भावः। विशेषेण लवणोल्बणे फेनमाला ॥ ११ ॥

सविष व्यंजन (शाक, सब्जी, दाल आदि) शीघ्र सूख जाता है। व्यंजन का क्वाथ ध्याम (मलिन) हो जाता है। क्वाथवत् व्यंजनों में अपने मुख आदि का प्रतिबिम्ब हीन, अधिक अथवा विकृत दिखलायी पड़ता है या सर्वथा नहीं दिखलायी पड़ता। झागसमूह अथवा उस तरल भाग पर झाग, सीमंतक (रेखा-धारियाँ) अथवा उसके ऊपर विविध रेखाएँ, तंतु अथवा बुलबुले उत्पन्न हो जाते हैं। विशेषकर लवण बहुल अन्न में फेनमाला दिखलाई पड़ती है।

विषमिश्रित मांसरस आदि के लक्षण

रसस्य मध्ये नीला राजी। पयसस्ताम्रा। मद्यतोययोः काली। दध्नः श्यावा। तक्रस्याऽऽनीलपीता। मस्तुनः कपोताभा। धान्याम्लस्य कृष्णा। द्रवौषधस्य कपिला। घृतस्य सलिलाभा। क्षौद्रस्य हरिताः। तैलस्यारुणा वसागन्धश्च ॥ १२ ॥

विषमिश्रित मांसरस में नीली रेखा, दुग्ध में लाल रेखा, मद्य एवं जल में काली रेखा, दही में साँवली (कपिश) रेखा, तक्र में नीली-पीली रेखा, मस्तु (दही का तोड़) में कबूतर की तरह आभा, कांजी में काली, द्रव औषधियों में कपिल, घृत में जल जैसा, मधु में हरा, तैल में लाल रेखा और वसागंध जैसी गंध उत्पन्न हो जाती है।

फल, पुष्प, वस्त्र, धातु एंवं रत्नों पर विष का प्रभाव

फलानामामानां पाकः। पक्वानां प्रकोथः ॥ १३ ॥

द्रव्याणामार्द्राणां सहसा म्लानत्वमन्यत्वभावः[1]। शुष्काणां श्यावता वैवर्ण्यं च। कठिनानां मृदुता। मृदूनां कठिनत्वम् ॥ १४ ॥

माल्यस्य म्लानता गन्धनाशः स्फुटिताग्रत्वम् ॥ १५ ॥

आस्तरणप्रावरणानां ध्याममण्डलता तन्तुरोमपक्ष्मसदनं[2] च ॥ १६ ॥

लोहमणिमयानां पङ्कमलोपदेहः स्नेहरागगौरवप्रभावर्णस्पर्शनाशश्च ॥ १७ ॥

---

१. 'म्लानत्वमुत्पक्वभाव' इति पाठान्तरम्।

२. 'पक्ष्मसातनञ्च' इति पाठान्तरम्।

विष के कारण कच्चे फल शीघ्र पक जाते है और पके फल सड़ जाते हैं। आर्द्र (कच्चा) द्रव्य सहसा पक जाता है। सूखे द्रव्यों (शुण्ठी-हरिद्रा आदि) में श्यावता (नील-लोहित) और विवर्णता आ जाती है। कठिन द्रव्य मृदु और मृदु द्रव्य कठिन हो जाते हैं। पुष्प में मलिनता, गंधनाश तथा उनके अग्र भाग फट जाते हैं। आस्तरण (बिछाने के वस्त्र) तथा प्रावरण (ओढ़ने के वस्त्र) पर ध्याममण्डलता (मलिन बिंबोत्पत्ति) हो जाती है। उनके तंतु (धागे), रोम (रोयें) तथा पक्ष्म (सूक्ष्मावयव) गिरने लगते हैं। लोहा (सुवर्ण आदि) एवं मणि (रत्न आदि) के बने आभूषण आदि पर कीचड़ के समान मलिनता दिखलाई पड़ती है। उनका स्नेह (स्निग्धता), राग (रंग), गौरव, प्रभा (चमक), वर्ण तथा स्पर्श आदि नष्ट हो जाता है या उसमें परिवर्तन हो जाता है।

विषदाता के लक्षण

विषदस्तु स्वदोषशङ्क्या त्रस्तो, भीतः, स्वेदवेपथुमान्, शुष्कश्यावववक्त्रः, समन्तात् सोद्वेगं विलक्षोऽभिवीक्षते, यत्र चानेन विषं प्रयुक्तं तद्विशेषेण। तथा स्रस्तोत्तरीयः स्तम्भकुड्यादिभिरात्मानमन्तर्धत्ते। स्खलितगतिर्दीनो लज्जवानस्थानहासी पृष्टोऽसम्बद्धमुत्तरं ददाति। नैव वा विवक्षुर्मुह्यत्यङ्गुलीः स्फोटयति, ग्रीवामालभते, शिरःकण्डूयत्योष्ठौ परिलेढि, जृम्भते, भुवं लिखति, क्रियासु त्वरते, विपरीतमाचरति, स्वभूमौ च नावतिष्ठते ॥ १८ ॥

विषद (विष देने वाला) अपने दोष (अपराध) की शंका से घबराया हुआ भयभीत होता है। वह पसीने से युक्त, काँपता हुआ, शुष्क एवं श्याव (नीललोहित) चेहरेवाला चारों ओर घबराया हुआ देखता है और जिस द्रव्य में वह विष प्रयुक्त करता है, उसे विशेषकर देखता है तथा उसका उत्तरीय पट कंधे से नीचे गिर जाता है। स्तंभ (खंभा) या कुड्य (दीवार) आदि के पीछे अपने को छिपाता रहता है। चलने में लड़खड़ाता (स्खलित होता) है। दीन (गरीब), लज्जावान, अस्थानहासी (बिना प्रसंग के हँसने वाला), पूछने पर भी असम्बद्ध उत्तर देता है अथवा कुछ उत्तर नहीं देता। उत्तर देते समय घबड़ा जाता है, अंगुलियों को चटकाता है, ग्रीवा को छूता है, सिर खुजलाता है, ओठों को जैसे चाटता है, जम्भाई लेता है, भूमि कुरेदता रहता है, काम-धन्धे में शीघ्रता तथा विपरीत आचरण करता है और एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं बैठता।

सावधानी

नृपाज्ञया त्वरयाऽपि केचिदपराधान्तराद्वाऽनवस्थितसत्त्वाः समाचरन्त्येवं। तस्मादग्न्यादिष्वपि परीक्षेत ॥ १९ ॥

कभी-कभी राजा की आज्ञा से या शीघ्रता होने पर या किसी अपराध के कारण या अनवस्थित सत्त्व (चंचल मन) होने से उपर्युक्त प्रकार का आचरण करता है। इसलिए अग्नि आदि में विषमिश्रित द्रव्य की परीक्षा करें।

अग्नि द्वारा विष की परीक्षा

वह्निस्तु सविषमन्नं प्राप्यैकावर्तो रूक्षमन्दार्चिरिन्द्रायुधवदनेकवर्णज्वालो भृशं चटचटायते ॥ २० ॥

विषयुक्त अन्न को पाकर अग्नि सीधी मूसलाकार होकर जलती है। उसकी ज्वाला रूक्ष, मन्द, इन्द्रधनुष के समान अनेक वर्ण वाली हो जाती है तथा उसमें से चट-चट की ध्वनि निकलती है।

धूम से विषमिश्रित द्रव्य की परीक्षा

कुणपगन्धी धूमश्चास्य मूर्च्छाप्रसेकरोमहर्षशिरोवेदनापीनसदृष्ट्याकुलताः जनयति ॥ २१ ॥

विषयुक्त अन्न पड़ने पर अग्नि का धुँआ कुणपगंधि (मुर्दे की गंध के समान) होता है तथा मूर्च्छा, लालास्राव, लोमहर्ष, शिरःशूल, पीनस अथवा दृष्टि-व्याकुलता (आँखों में बेचैनी) उत्पन्न करता है ।

सविष विकृत धूम की चिकित्सा

तत्र नलदकुष्ठलामज्जकैः क्षौद्रप्लुतैर्नस्यमञ्जनं च कुर्यात् । धूममेव वाऽपामार्ग-विडङ्गबलाद्वयचित्रकमेषशृङ्गीपुष्पसुमनःक्षारकद्राक्षाघृतगुडकृतं पिबेत् ॥ २२ ॥

इसके लिए नलद (जटामांसी *Nardostachys jatamansi* DC.), कुष्ठ (कूठ *Saussurea lappa* C. B. Cl.) तथा लामज्जक (खस *Veteriveria zizanioides* Linn.) को समभाग लेकर मधु मिलाकर इससे नस्य और अञ्जन करना चाहिए । इसी प्रकार इनसे धूम्रपान करें अथवा अपामार्ग (*Achyranthus aspera* Linn), विडंग (*Embelia ribes* Burm. f.), बला (*Sida cordifolia* Linn.), अतिबला (*Abuliton indicum* Linn. Swat.), चित्रक (*Plumbago zeylanica* Linn.) मेषशृंगी (*Gmnema sylvestre* R. Br.) के पुष्प, चमेली (*Jasmine grandiflorum*) के पत्र एवं क्षार, द्राक्षा (*Vitis vinifera* Linn.) एवं घृत तथा गुड़ मिलाकर धूम्रपान करें ।

विषमिश्रित आहार की पक्षियों द्वारा परीक्षा

स्नेहलवणयोगादपि चाग्निरित्थं स्यात् । अतो वयोभिः परीक्षेत । तत्र विषजुष्टाहाराभ्यवहारात्काकाः क्षामस्वरा भवन्ति । मक्षिकाः सविषान्ने न निलीयन्ते, निलीना वा विपद्यन्ते । दृष्ट एव चास्मिञ्चकोरस्याक्षिणी विरज्येते । कोकिलस्य स्वरो विकृतिमेति । हंसस्य गतिः स्खलति । कूजति भृङ्गराजः । माद्यति क्रौञ्चः । विरौति कृकवाकुः । विक्रोशति शुकः सारिका च । छर्दयति चामीकरः । अन्यतो याति कारण्डवः । म्रियते जीवञ्जीवको, ग्लायति वा । हृष्टरोमा भवति नकुलः । शकृद्विसृजति वानरः । रोदिति पृषतः । हृष्यति मयूरो । दर्शनादेव चास्य विषं मन्दतामुपैति ॥ २३ ॥

स्नेह और लवण आदि से युक्त अन्न अग्नि में डालने पर भी उपर्युक्त प्रकार के लक्षण होते हैं, इसलिए पक्षियों आदि के द्वारा परीक्षा करनी चाहिए ।

विषमिश्रित आहार खाने से कौए (*Corvus splendens*) की आवाज क्षीण हो जाती है । मक्खियाँ (*Musca nebulo*) विषयुक्त अन्न में नहीं बैठती अथवा बैठने पर मर जाती हैं । विषयुक्त अन्न को देखकर चकोर (*Alectoris graeca chukar*) की आँखें रंगहीन हो जाती हैं, कोयल (*Eudynamis scolopaceus*) का स्वर विकृत हो जाता है । हंस (*Anser indicus*) की चाल लड़खड़ाने लगती है, भृंगराज (King Bird of Paradise) बोलने लगता है, क्रौंच (*Anthropoides virgo*) मतवाला हो जाता है, कृकवाकु (मुर्गा *Gallus gallus*) उच्च स्वर में बोलने लगता है, तोता (*Psittacula eupatria*) एवं सारिका (मैना *Acridotherus tristis*) चिल्लाने लगते हैं । चामीकर (पक्षी विशेष) वमन करती हैं । कारण्डव (*Anser* sp.) नामक पक्षी विष के पास नहीं रुकता अपितु दूसरी जगह चला जाता है । जीवजीवक पक्षी (*Acridotherus* sp.) विष को देखते ही मर जाता है या ग्लानि को प्राप्त करता है ।

नेवले (*Herpestes edwardis*) के रोयें खड़े हो जाते हैं, वानर (*Macaca silenus*) मलत्याग करता है, हरिण (*Cervas axis*) रोने लगता है, मोर (*Pavo cristasus*) प्रसन्न होता है और उसके देखने से विषशक्ति मन्द हो जाती है ।

विषमिश्रित आहार के लक्षण

विषदूषितस्य पुनराहारस्योष्मा मयूरकण्ठाभोऽभ्युदेति । तद्बाष्पेण धूमवन्मूर्च्छादयः । तेषां तद्वदेव साधनम् ॥ २४ ॥

हस्तेन स्पृष्टमन्नं विषवद्दाहशोफस्वापनखशातान् करोति । तत्र श्यामेन्द्रगोपसोमोत्पलैर्लेपः ॥ २५ ॥

विषयुक्त आहार की वाष्प (भाप) मोर (*Pavo cristasus*) के कंठ के समान वर्ण वाली होती है और उस वाष्प के द्वारा विषैली मूर्च्छा आदि उपद्रव होते हैं । उन उपद्रवों की चिकित्सा उसी प्रकार की जाती है, जैसे विषैले धूम के उपद्रवों की । विषयुक्त अन्न को हाथ से स्पर्श करने पर विष के समान दाह, शोफ, स्वाप (संज्ञानाश) तथा नखों का गिरना आदि होता है ।

इसके लिए प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla*), इंद्रगोप (वीरबहूटी *Mutella occidentalis*), सोमा (ब्राह्मी *Centella asiatica* Linn.) तथा उत्पल (कमल *Nymphaea stellata* Willd) का लेप करना चाहिए ।

विषमिश्रित आहार का मुख में लक्षण

अभ्यवह्रियमाणं त्वोष्ठचिमिचिमान्तर्वक्त्रदाहजिह्वामूलगौरवहनुस्तम्भदन्तहर्षलालाः करोति रसापरिज्ञानं च । तत्र धूमोक्तं दन्तकाष्ठोक्तं च कर्म ॥ २६ ॥

विषयुक्त अन्न खाने पर ओष्ठों में चिमचिमाहट, मुख के अन्दर दाह, जिह्वामूल में भारीपन, हनुस्तंभ, दन्तहर्ष तथा लालास्राव एवं रस का ज्ञान नहीं होता है । इसकी चिकित्सा में धूमोक्त तथा दन्तकाष्ठोक्त कर्म करना चाहिए ।

विष का आमाशय पर प्रभाव

आमाशयगतं स्वेदमदमूर्च्छाच्छर्दिवैवर्ण्याध्मानरोमहर्षदाहारुचिदृष्टिहृदयोपरोधान् बिन्दुभिश्चाचयमज्ञानां करोति ॥ २७ ॥

विषैला अन्न आमाशय में पहुँचने से स्वेदन, मद (नशा), मूर्च्छा, छर्दि, त्वचा की विवर्णता, आध्मान, हर्ष, रोमांच, दाह, अरुचि, दृष्टिस्तम्भ, हृदयस्तम्भ तथा अनेक रंगों के धब्बों से शरीर युक्त हो जाता है ।

चिकित्सा

तत्र मदनफलालाबुबिम्बीकोशातकीफलैर्दधिमधुयुक्तमाशु वमनं दद्यात्, निष्पावाम्बुभिर्वा । ततः स्निग्धशरीरं विरेचयेत् ॥ २८ ॥

इसके लिए मदनफल (*Randia dumetorum*), कटुतुम्बी (आलाबु *Lagenaria siceraria* Standl), बिम्बी (कुंदरु *Coccinia indica* W. & A.) अथवा कोशातकी (*Luffa acutangula* Linn), के फल में दही, मधु आदि मिलाकर देना चाहिए अथवा निष्पाव (सेम (*Dolichos lablab*) के पानी से वमन कराना चाहिए । इसके पश्चात् स्निग्ध शरीर को विरेचन देना चाहिए ।

वमन आमाशयगत विष का एवं विरेचन आन्त्रगत एवं मलाशयगत विष का निःस्रावण करता है।

जीवन अगद

त्रिफलात्रिकटुनागपुष्पमधुकबर्हिणपर्णीबृहतीद्वयचूर्णं सिंहव्याघ्रवृकतरक्षवर्क्षद्वीपिमार्जारशृगालमृगगोधानामन्यतमपित्तयुक्तं[1] सक्षौद्रं पानमेष जीवनो नामाऽगदः परं सर्वविषौषधम् ॥ २९ ॥

त्रिफला (हरड़ *Terminalia chebula*), बहेड़ा-(*Terminalia belerica* Roxb.) और आँवला (*Emblica officinalis* Gaertn.) का योग, त्रिकटु (सोंठ *Zingiber officinale* Rose.), मरिच (*Piper nigrum* Linn.) और पिप्पली (*Piper longum* Linn.) का योग, नागकेसर (*Mesua ferrea* Linn), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn), बर्हिण (तगर *Valeriana wallichii* DC.), शालपर्णी (*Desmodium gangeticum* DC.), बृहतीद्वय (छोटी एवं बड़ी कटेरी (*Solanum xanthocarpum* Schrad. & *Solanum indicum* Linn.) इनको समान भाग में लेकर चूर्ण कर लें और सिंह (*Panthera leo persica*), व्याघ्र (*Panthera tigris*), भेड़िया (*Canis lupus*), तरक्षु (*Hyaena striata*), ऋक्ष (*Ursus torquatus*), चीता (*Panthera tigris*), बिलाव (*Felis chaus*), शृगाल (*Canis aureus*), हरिण (*Cerbus axis*), गोध (*Varanus monitor*) में से किसी एक प्राणी के पित्त द्रव की भावना देकर रख लें। इसको मधु के साथ पीना चाहिए। यह जीवन नामक अगद सभी विषों की उत्तम औषध है।

आहार

तस्मिन् जीर्णे श्यामाव्योषातिविषासिद्धेन पयसा घृतेन चोपस्तम्भितां यवागूं पाययेत् ॥ ३० ॥

इस औषध के पच जाने पर व्योष (त्रिकटु—सोंठ, मरिच एवं पिप्पली) एवं अतिविषा (*Aconitum heterophyllum* Wall.) से सिद्ध (शुद्ध) दूध और घी से बने यवागू का पान करें।

परिणतायां च तस्यां त्रिकटुकसिद्धेन मुद्गयूषेण किञ्चिल्लवणेन ससर्पिष्केण मृद्वोदनं भोजयेत् ।०मधुकशिरीषचन्दनैश्चैनमालिम्पेत् ॥ ३१ ॥

यवागू के पच जाने पर त्रिकटु (सोंठ, मरिच एवं पिप्पली) के क्वाथ तथा सिद्ध मूंग (*Phaseolus mungo*) के यूष में थोड़ा सा नमक एवं थोड़ा घी डालकर थोड़ा मृदु चावल (*Oryza sativa*) खिलावें। मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra*), शिरीष (*Albizzia lebbeck* Benth.) तथा चंदन (*Santalum album*) को पीसकर शरीर पर लेप करें।

पक्वाशयगत विष के लक्षण

पक्वाशयगतं तृड्दाहमदमूर्च्छातीसाराटोपतन्द्रेन्द्रियविकृतिबलभ्रंशकार्श्यपाण्डुत्वोदराणि जनयति ॥ ३२ ॥

विष पक्वाशय में पहुँचकर प्यास, दाह, मद, मूर्च्छा, अतिसार, आटोप, तन्द्रा का नाश, बल का नाश, कृशता, पाण्डुरोग तथा उदररोग को पैदा करता है।

---

१. 'तरक्षुद्वीपि' इति पाठान्तरम्। २. 'पित्तरससंयुक्तम्' इति पाठान्तरम्।

चिकित्सा

तत्र नीलिनीफलयुक्तेन सर्पिषा विरेचनम्। समाक्षिकं च दूषीविषारिं दध्ना पाययेत् ॥ ३३ ॥

इसमें नीलिनीफल (*Indigofera tinctoria* Linn.) से युक्त घृत से विरेचन कराना चाहिए और दूषीविषारि नामक अगद को मधु तथा दही मिलाकर पिलाना चाहिए।

दतुअन द्वारा प्रयुक्त विष के लक्षण

दन्तकाष्ठप्रयुक्ते तु विषे कूर्चकविशरणमौषधगन्धो रूक्षता तालुदन्तजिह्वोष्ठमांस-शोफश्च ॥ ३४ ॥

दतुअन में विष देने से दतुअन की कूर्चा (कूँची) टूटकर गिरने लगती है, औषधि की गंध एवं रूक्षता आती है। तालु, दाँत, जिह्वा, ओठ और दन्तमांस पर शोथ हो जाता है।

चिकित्सा

तत्र प्रच्छाय धातकीपुष्पजाम्बवास्थिहरीतकीचूर्णैः सक्षौद्रैः सप्तच्छदकल्केन वा प्रतिसारणं कुर्यात्। दाडिमकरमर्दभव्याम्राम्रातककोलबदररसं क्षौद्रयुतं गण्डूषम् ॥ ३५ ॥

शोथ के स्थानों पर शस्त्र द्वारा चीरा लगा दिया जाता है। धाय (*Woodfordia fruticosa* Kurz.) के पुष्प एवं जामुन (*Syzygium cumini* Linn.) की गुठली के चूर्ण को मधु में मिलाकर अथवा सप्तपर्ण (*Alstonio scholaris* R. Br.) की छाल के कल्क का प्रतिसारण (मंजन) करें और अनार (*Punica granatum* Linn.), करौंदा (*Carrisa corandal*), भव्य (*Dillenia indica* Linn.), आम्र (*Mangifera indica* Linn.), आम्रातक (आमड़ा *Spondias pinnata* Kurz.), कोल (*Zizyphus numularis*) तथा बदर (*Zizyphus jujuba* Lam.) के रस में मधु से मिलाकर गंडूष करें।

अनेन जिह्वानिर्लेखनकवलगण्डूषा व्याख्याताः ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार जिह्वानिर्लेखन (जीभी — जिससे जीभ का मैल साफ किया जाता है), कवल, एवं गंडूष से विष का सम्पर्क रहने से दतुअन के समान लक्षण होते हैं और इसी के समान चिकित्सा की जाती है।

अंजन द्वारा विष-प्रयोग

अञ्जनप्रयुक्तेऽश्रुदूषिकोपदेहदाहरागवेदनादृष्टिविभ्रमा भवन्त्यान्ध्यं च ॥ ३७ ॥

अंजन में विष प्रयुक्त करने पर अश्रु एवं नेत्रों में मलिनता, नेत्रों में चिपचिपाहट, दाह, लालिमा, वेदना, दृष्टिविभ्रम (असत्य दर्शन) तथा अंधापन हो जाता है।

चिकित्सा

तत्र सर्पिःपानं योज्यम्। शृतेन पयसा सप्तकृत्वः पिप्पलीर्भावयेत्। ततस्तत्कल्केन सर्पिर्विपक्वं नेत्रतर्पणं। कपित्थमेषशृङ्गीभल्लातकानां पुष्पैर्वरणनिर्यासेन चाञ्जनं। बृहती-शिरीषबीजप्रपौण्डरीकनागबलाचूर्णं सप्तकृत्वो मधुना भावयेत्। तच्च स्रोतोऽञ्जनसुवर्ण-चूर्णयुक्तमञ्जनम् ॥ ३८ ॥

इसमें घृतपान कराना चाहिए, गरम किये दूध से पीपल (*Ficus religiosa* DC.) को सात बार भावना देकर फिर उसके कल्क से घृत पकाकर उस घृत से नेत्र का तर्पण करना चाहिए।

---

१. 'देहरागवेदना' इति पाठान्तरम्।

कपित्थ (कैथा *Feronia limonia* Linn.), मेषशृंगी (*Gmnema sylvestre*), भल्लातक (भिलावा *Semecarpus anacardium*) के फूल अथवा वरण (*Crataeva nurala* Buch. Ham.) की गोंद से अंजन बनाकर लगाना चाहिए। बृहती (*Solanum indicum* Linn.), शिरीष बीज (*Albizzia lebbeck* Benth.), पुण्डरीक (कमल *Nelumbo nucifera*), नागबला (*Grewia populifolea*) का चूर्ण बनाकर मधु की सात भावना देकर उसमें स्रोताञ्जन (सुरमा) और स्वर्ण चूर्ण मिलाकर अंजन लगायें।

नस्य एवं धूम्रपान में विष का प्रयोग

नस्यधूमप्रयुक्ते शिरोरुक्कफास्रावः खेभ्यो रुधिरागमनमिन्द्रियवैकृतं च ॥ ३९ ॥

नस्य और धूम्रपान में विष का प्रयोग करने पर शिरःशूल, कफस्राव, नासा-मुख से रक्त का गिरना तथा श्रोत्र आदि इंद्रिय एवं मन में विकृति होती है।

चिकित्सा

तत्रातिविषाश्वेताकाकमाचीमदयन्तिकाकल्कक्षीरसिद्धं सर्पिर्नस्ये पाने च विदध्यात् ॥ ४० ॥

इसमें अतीस (*Aconitum heterophyllum* Wall.), श्वेत पुष्प (अपराजिता *Clitoria ternatea* Linn.), काकमाची (मकोय *Solanum nigrum*), मदयंतिका (*Lawsonia inermis* Linn.) के कल्क तथा दुग्ध से सिद्ध करके घृत का नस्य एवं पान में प्रयोग करें।

अभ्यंग में विष का प्रयोग

अभ्यङ्गप्रयुक्ते त्वग्दाहस्वेदपाकस्फोटावदरणानि ॥ ४१ ॥

अभ्यंग के तैल आदि में विप प्रयुक्त करने पर त्वचा में दाह, पसीना, त्वचा में पाक, छाले पड़ना तथा त्वचा फटने लगती है।

चिकित्सा

तत्र शीताम्बुपरिषिक्तस्य चन्दनतगरोशीरकुष्ठवेणुपत्रिकाऽमृतासोमवल्लीश्वेतापद्मकालेयकैरनुलेपनम्। एतान्येव च सकपित्थरसगोमूत्राणि पानम्। गिरिकर्णिकाश्वेतमूलप्रियङ्गुसारिवामधुकसर्पसुगन्धामृगैर्वारुमूलानि[1] शेलुक्वाथपिष्टानि प्रलेपः ॥ ४२ ॥

इसमें शीतल जल का सिचन करें। चंदन (*Santalum album*), तगर (*Voleriana wallichii* DC.), उशीर (खस *Veteriveria zizanioides* Linn.), कुष्ठ (कूठ *Saussurea lappa* C.B.Cl.), वेणुपत्रिका (*Bambusa bambosa*), अमृता (गिलोय *Tinospora cordifolia* Willd.), सोमवल्ली (ब्राह्मी *Centella asiatica* Linn.) श्वेता (अपराजिता *Clitoria ternatea* Linn.), पद्म (कमल *Nelumbo nucifera*), कालेयक (*Santalum* sp. or *Aquilaria* sp.) को जल में पीसकर लेप करें और उपर्युक्त चंदन आदि सभी द्रव्यों के कल्क को कपित्थ (कैथ *Feronia limonia* Linn.) का रस और गोमूत्र मिलाकर पीयें। गिरिकर्णिका (कुटज *Holarrhena antidysenterica*), श्वेतमूल (पुनर्नवा *Boerhaavia verticillata* Poir.), प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla*), सारिवा (*Hemidesmus indicus*), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra*), सर्पगंधा (*Rauwolfia serpentina* Benth.) तथा इन्द्रायणी (*Citru-*

---

१. 'मृगोर्वारुकतकमूलानि' इति पाठान्तरम्।

llus colocynthis Schrad.) की जड़ तथा शेलु (श्लेष्मातक *Cordia dichotoma* Forst.) के क्वाथ में पीसकर लेप करें ।

उद्वर्तन द्वारा विष-प्रयोग एवं उसकी चिकित्सा

[1]अनेनोद्वर्तनोद्घर्षणपरिषेकानुलेपनभूषणयानशय्याऽऽस्तरणवस्त्रकवचरथपादुकोपानत्पादपीठा व्याख्याताः ॥ ४३ ॥

उद्वर्तन (उबटन), उद्घर्षण (सूखे चूर्ण का घर्षण), परिषेक, अनुलेपन, आभूषण, यान (सवारी), शय्या, आस्तरण (बिछावन), वस्त्र, कवच, रथ, पादुका (खड़ाऊँ), उपानद (जूता) तथा पादपीठ में विष प्रयुक्त किया गया हो, तो अभ्यंग के समान लक्षण होते हैं एवं उसी के समान चिकित्सा करनी चाहिए ।

आभूषण द्वारा विष-प्रयोग

विशेषतस्त्वाभरणकृते विकारेऽश्वगन्धाऽपामार्गकिणिहीखदिरशिरीषकल्कैर्गोपित्तप्रयुक्तैः प्रदेहः ॥ ४४ ॥

विशेष रूप से आभरण (आभूषण) द्वारा विष देने पर उत्पन्न विकार में अश्वगंधा (*Withania somnifera* Dunal), अपामार्ग (*Achyranthus aspera* Linn.), किणही (लाल मंजरीयुक्त अपामार्ग *Achyranthus aspera* var ?), खदिर (खैरसार *Acacia catechu* Willd) तथा शिरीष (*Albizzia lebbeck* Benth.) के कल्क में गोरोचन मिलाकर प्रलेप करना चाहिए।

पादपीठ द्वारा विष-प्रयोग

पादपीठकृते श्लेष्मातकसर्पसुगन्धाकल्को मधुयुक्तः ॥ ४५ ॥

पादपीठ में प्रयुक्त विष से उत्पन्न रोग में श्लेष्मातक (*Cordia dichotoma* Forst.) तथा सर्पगंधा (*Rauwolfia serpentina* Benth.) के कल्क को मधु में मिलाकर प्रयुक्त करें ।

छत्र द्वारा विष-प्रयोग

छत्रप्रयुक्ते वेदनास्फोटानां क्षिप्रपाकानां पक्वजाम्बवप्रकाशानां प्रादुर्भावः ॥ ४६ ॥

छत्र (छतरी) द्वारा विष का प्रयोग होने से शरीर में छाले पड़ जाते हैं तथा उनका शीघ्रपाक हो जाता है । उनका रंग पके हुए जामुन (*Syzygium cumini* Linn.) के समान होता है ।

चिकित्सा

तत्र मधुकपाटलाकसेरुकरोध्राञ्जनकुष्ठसर्पसुगन्धाखदिरशिरीषकल्कैः सर्वगात्रप्रदेहः । अनेन चामरव्यजने व्याख्याते ॥ ४७ ॥

इसमें मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra*), पाटला (*Stereospermum suaveolens* DC.), कशेरुक (*Scirpus kysoor* sp.), लोध्र (*Symphlocos racemosa* Roxb.), अंजन, कुष्ठ (कूठ *Saussurea lappa*), सर्पगन्धा (*Rauwolfia serpentina* Benth.), खदिर (*Acacia catechu*) तथा शिरीष (*Albizzia lebbeck* Benth) के बीजों के कल्क का सम्पूर्ण शरीर में लेप करना चाहिए । इसी प्रकार चामर एवं व्यजन में प्रयुक्त विष से रोग उत्पन्न होते हैं एवं उस दशा में उपर्युक्त मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra*) आदि का लेप किया जाता है ।

---

१. 'अनेनोद्वर्तनघर्षण' इति पाठान्तरम् ।

शिरोभ्यंग द्वारा विष का प्रयोग

शिरोऽभ्यङ्गप्रयुक्ते वेदना[1] ग्रन्थिजन्म केशच्यवनं च ॥ ४८ ॥

शिरोभ्यंग में प्रयुक्त तैल द्वारा विष देने से शिरोवेदना तथा ग्रन्थियाँ हो जाती हैं और केश गिरने लगते हैं।

चिकित्सा

तत्र श्यामापालिन्दीतन्दुलीयकचूर्णघृतर्क्षपित्तैः सुभावितकृष्णमृत्प्रलेपः[2]। गोमय-मालतीमूषिकपर्ण्यन्यतमकल्को रसो[3] वाऽगारधूमो वा। श्लेष्मातकत्वक्पाटलाशिरीषमधुक-हरिद्राद्वयैरजाक्षीरालोडितैः परिषेकः। अनेन [4]शिरःस्नानस्नपनोदककङ्कतकस्रगुष्णीषा व्याख्याताः ॥ ४९ ॥

इसमें श्यामा (त्रिवृत *Operculum turpethum* Linn.), पालिन्दी (श्वेत त्रिवृत *Marsdenia tenacissima*), तन्दुलीयक (चौलाई *Amaranthus spinosus* Linn.) का चूर्ण, घृत एवं भालू (*Ursus orquatus*) के पित्त से सात बार भावना दी गई काली मिट्टी का लेप करें अथवा गोबर, मालती (*Jasmine grandiflorum*), मूषिकपर्णी (*Merremia emarginata*) इनमें से किसी एक का कल्क अथवा रस अथवा घर का धुँआ जल में घोलकर लगावें। श्लेष्मातक (लिसोड़ा *Cordia dichotoma* Forst.) की छाल, पाटला(*Stereospermum suaveolens* DC.), शिरीष (*Albizzia lebbeck* Benth.), मधुक (मुलेठी *Glycyerrhiza glabra*), हरिद्रा (हल्दी *Curcuma longa* Linn.), दारुहरिद्रा (*Berberis aristata* DC.) के चूर्ण को बकरी (Capra sibica) के दूध में घोलकर उससे परिषेक करें। इस शिरोभ्यंग से शिर धोने के जल, कंघी, माला और पगड़ी में प्रयुक्त विष के लक्षण तथा उसकी चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया है।

कर्णपूरण में विष का प्रयोग

कर्णपूरणप्रयुक्ते शोफशूलपाकाः श्रोत्रवैगुण्यं च ॥ ५० ॥

तत्र बहुपत्रास्वरसो घृतक्षौद्रयुक्तः प्रतिपूरणं सोमवल्करसो वा सुशीतः ॥ ५१ ॥

कान में प्रयुक्त तैल आदि में विष का मिश्रण होने पर कान में शोफ, शूल तथा पाक हो जाता है और श्रवण-शक्ति में विकार आ जाता है। इससे लिए बहुपत्र (बृहती *Solanum indicum*) का स्वरस, घृत एवं मधु मिलाकर अथवा सोमवल्क (कायफल) के ठंडे रस को कान में डालना चाहिए।

मुखलेप में विष का प्रयोग

मुखालेपप्रयुक्ते मुखस्य श्यावता पद्मकण्टकाश्च भवन्त्यभ्यङ्गजाश्च विकाराः ॥५२॥

मुखलेप में प्रयुक्त द्रव्यों में विष का प्रयोग होने पर मुखमण्डल में श्यावता और पद्मकण्टकों की उत्पत्ति (रोग विशेष) और अभ्यंग के विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

चिकित्सा

तत्र मधुकपयस्याबन्धुजीवकफञ्जीपुनर्नवाचन्दनैः सघृतैर्लेपः सर्पिषः पानं च ॥५३॥

---

१. 'शिरोवेदना' इति पाठान्तरम्। २. 'सुभावितया कृष्णमृदा लेपः' इति पाठान्तरम्।
३. 'मूषिककर्ण्यन्यतमरसो' इति पाठान्तरम्। ४. 'शिरःस्नानोदक' इति पाठान्तरम्।

इसमें मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra*), क्षीर, विदारीकंद (*Pueraria tuberosa* DC.), बंधुजीवक (दुपहरिया पुष्प *Pentapetes phoenicea* Linn), फञ्जी (भार्ङ्गी *Rivea ornata* Chois.), पुनर्नवा (*Boerhaavia diffusa* Linn.) और चंदन (*Santalum album*) को घृत में मिलाकर लेप करना चाहिए और असमान मात्रा में घृत और मधु का पान करना चाहिए।

पुष्प द्वारा विष का प्रयोग

सविषपुष्पाघ्राणाच्छिरोव्यथा साश्रुनेत्रत्वं गन्धाज्ञानं च। तत्रानन्तरोक्तो विधिर्बाष्पोदितश्चेति ॥ ५४ ॥

फूलों की माला में विष का प्रयोग किया गया हो (अथवा फूल ही विषैले हों), तो उनकी गंध से शिर में व्यथा, नेत्र में आँसू तथा गन्ध ज्ञान नष्ट हो जाता है। इस दशा में विष-चिकित्सा करें और सविष अन्न की बाष्प से उत्पन्न विकारों के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

भवति चात्र—

फलमूलच्छदादीनां दद्यात् प्रक्षालनोदकम्।
भाजनव्यञ्जनानां च तथा कुर्यादतन्द्रितः ॥ ५५ ॥
घ्रेयाणि घ्रापयित्वा तु स्पृश्यान् संस्पृश्य तानपि।
प्रतिवापं ततो दत्त्वा प्रतीक्ष्यैवैकनाडिकाम् ॥ ५६ ॥
ततो विज्ञाय शुद्धिं च भाजनस्योदकस्य च।
आहारमुपयुञ्जीत यथावद्वसुधाधिपः ॥ ५७ ॥

फल, मूल, पत्र आदि को और पात्र एवं पंखों को जल से धोकर शुद्ध कर लेना चाहिए। सूँघने योग्य पदार्थों को सूँघकर और स्पर्श करने योग्य पदार्थों को स्पर्श कर उनमें प्रतिवाप (प्रक्षेप द्रव्य) डालकर एक घंटे प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसके पश्चात् पात्र की शुद्धि हो गयी है, ऐसा निश्चय करके राजा विधिपूर्वक आहार का उपयोग करे।

विषहरण

मन्दं तीक्ष्णविषाभ्यासाद्विषमुत्क्षीयते भृशम्।
तस्मात्तीक्ष्णविषं हस्ते बध्नीयात्कुशलो भिषक्।
विषसन्धारणं धन्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम् ॥ ५८ ॥

तीक्ष्ण विष के अभ्यास से मंद विष बहुत क्षीण हो जाता है, इसलिए कुशल चिकित्सक हाथ में तीक्ष्ण विष को बाँधे। विष का धारण करना धन्य, रक्षोघ्न एवं प्रीतिवर्द्धक है।

भेषजगृह

अपि च—
सपिधानघटीमूषाफलकस्थापितौषधम्[1]।
प्रागुदीच्योर्दिशोर्गुप्तं भैषज्यागारमिष्यते ॥ ५९ ॥

भेषजागार ऐसा होना चाहिए जिसमें ढक्कन युक्त घड़ा, मूषा (कुठाली) तथा फलक (लकड़ी की सन्दूक) में औषधियाँ रखी हों। वह निवास-स्थान से पूर्व या उत्तर दिशा में गुप्त (सुरक्षित) होना चाहिए।

---

१. 'मूटफलक' इति पाठान्तरम्।

महानस

उच्चैः प्रशस्तदिग्देशं बहुवातायनं महत् ।
महानसं सुसम्मृष्टं विश्वास्यजनसेवितम् ॥ ६० ॥
[1]सद्वाःस्थाधिष्ठितद्वारं कक्ष्यावत्सवितानकम् ।
सुधौतदृढकुम्भादिपरिशुद्धजलेन्धनम् ॥ ६१ ॥

रसोईघर ऊँचे स्थान में हो, प्रशस्त (पूर्व या उत्तर) दिशा में हो, अनेक झरोखों वाला हो, लम्बा-चौड़ा हो और स्वच्छ हो, उसमें कार्य करने वाले विश्वसनीय हों, सब स्थान ठीक प्रकार से विभक्त हों, ऊपर उत्तम वितान (तम्बू आदि) लगा हो, सुन्दर, दृढ़ जलपात्र आदि से संयुक्त हो तथा शुद्ध जल और ईंधन से युक्त हो ।

महानस के कर्मचारी

स्वकर्मकुशला दक्षाः सूदास्तत्राप्रमादिनः ।
कृत्तकेशनखाः पित्र्या राज्ञः कृत्यैरसङ्कुलाः ॥ ६२ ॥

महानस के कर्मचारी अपने कार्य में कुशल हों, दक्ष हों, सूद (अपने कर्म में कुशल) हों, अप्रमादी हों, केश-नख कटवाये हुए हों, वंश-परम्परा से उसी घर में कार्य कर रहे हों तथा क्रोधी एवं लोभी—इस प्रकार के कृत्य से युक्त न हों ।

महानसाध्यक्ष

तेषामधिपतिर्विप्रः कुलजः सुपरीक्षितः ।
संविभक्तश्च भक्तज्ञश्च शुचिर्वैद्यवशानुगः ॥ ६३ ॥

महानसाध्यक्ष (रसोइयों में प्रमुख) ब्राह्मण, कुलीन, अच्छी प्रकार परीक्षित, भक्ष्य वस्तुओं का ठीक से विभाग कर सकने वाला, पवित्र और वैद्य के आधीन होना चाहिए ।

अन्य कर्मचारी

सर्वेऽपि भूभृदासन्नाः शस्ताः सन्ततमीदृशाः ।
मिथोविग्रहसङ्घातरहिता भूभृते हिताः ॥ ६४ ॥

राजा के आस-पास रहने वाले सब लोग इसी प्रकार के होने चाहिए जो परस्पर विग्रह (लड़ाई) न करने वाले और राजा का हित चाहने वाले हों ।

राजवैद्य

तान्वैद्यो गुणवानेको मनसा प्रतिजागृयात् ।
भूभृद्देहोपकरणसंरक्षणसमुद्यतः ॥ ६५ ॥

उनमें से एक गुणवान् वैद्य मन से सचेष्ट होकर जागरूक रहे । वैद्य (राजवैद्य) को राजा के शरीर रूपी उपकरण के संरक्षण हेतु सदैव उद्यत (प्रयत्नशील) रहना चाहिए ।

अथाभ्यमित्र्यं व्रजतो जिगीषोर्वैद्यः सुसज्जौषधशस्त्रयन्त्रः ।
तुङ्गध्वजाख्यातनिवासभूमिर्युद्धागतं योधजनं चिकित्सेत् ॥ ६६ ॥

शत्रु के प्रति युद्ध के लिए जाते हुए जिगीषु (विजयेच्छु) राजा का वैद्य औषध, शस्त्र एवं यन्त्र से सुसज्जित हो और तुङ्ग (ऊँची) ध्वजा से ज्ञात निवासस्थान से युक्त होकर युद्ध के लिए आये हुए योद्धाजनों (सैनिकों) की चिकित्सा करें ।

---

१. 'सद्द्वाःस्था' इति पाठान्तरम् ।

पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम् ।
दूषयन्त्यरयो यस्मात्तान् विद्याच्छोधयेत च ॥ ६७ ॥
प्रस्थानं वा निवेशं वा नाविज्ञाय प्रयोजयेत् ।
भूवारितृणकाष्ठाश्ममार्गान्मार्गवनस्पतीन् ॥ ६८ ॥

शत्रु लोग पंथ, पानी, छायो आदि विश्राम के स्थान, भात (ओदन) आदि सामग्री, यवस (घोड़ा आदि के लिए) घास एवं ईंधन को विष-प्रयोग से दूषित करते हैं, इसलिए वैद्य को यत्न-पूर्वक जानना चाहिए और दूषित जानकर उनका शोधन करना चाहिए। भली प्रकार जाने बिना सेना का प्रस्थान अथवा निवेष (पड़ाव) नहीं करना चाहिए। ठहरने के लिए भूमि, पीने के लिए पानी, ईंधन, बैठने हेतु पत्थर आदि तथा मार्ग की छाया का प्रयोग ठीक प्रकार से जाने बिना नहीं करना चाहिए।

विषदूषित भूमि का लक्षण एवं चिकित्सा

विषेणोपहता भूमिः क्वचिद्दग्धेव लक्ष्यते ।
प्रम्लानतृणगुल्मादिमृतकीटसरीसृपा ॥ ६९ ॥
विशीर्यन्ते खुरनखा दाहकण्डूरुजान्विताः ।
छर्दिर्मूर्च्छा ज्वरो मोहः शिरोदुःखं च जायते ॥ ७० ॥
तत्र शोभाञ्जनान्मूलं सोमवल्लीमुशीरकम् ।
मातुलुङ्गरसं हिङ्गु पाययेद् दधि मात्रया ॥ ७१ ॥
मूत्राण्यजाविहस्तिभ्यो मांसानि रुधिराणि च ।
सर्वगन्धैः समं योज्य पचेत् पक्वे च निक्षिपेत् ॥ ७२ ॥
सोमराजीं सुनन्दाख्यां सरलां गन्धनाकुलीम् ।
चारटीं त्रायमाणां च प्रोक्षयेत् तेन तां भुवम् ॥ ७३ ॥

विष से दूषित भूमि कहीं जली हुई-सी दिखलाई पड़ती है, तिनके एवं गुल्म आदि मलिन (मुरझाएँ) हो जाते हैं। कीट, सर्प आदि प्राणी मर जाते हैं। उस पर चलने वाले जानवरों के खून और नख गिरने लगते हैं, जलन, खुजली एवं पीड़ा पशुओं में हो जाती है तथा वमन, मूर्च्छा, ज्वर, मोह और सिर में पीड़ा की उत्पत्ति मनुष्यों में हो जाती है। इसके लिए शोभांजन (शिग्रु *Moringa oleifera* Linn.) का मूल, गिलोय (*Tinospora cordifolia* Willd.), उशीर (खस *Veteriveria zizanioides* Linn.), मातुलुंग (बिजौरा नीबू *Citrus aurantifolia* Swingl.) का रस, हींग (*Ferula foetida* Regel.) को थोड़े से दही के साथ मिलाकर पीना चाहिए। बकरी (*Capra sibica*), भेड़, (*Ovis vignei*), हाथी (*Elephas indicus*) का खून, मांस और मूत्र को सर्वगन्ध द्रव्यों के साथ पकावें। पकाने पर इसमें सोमराजी (बाकुची *Psoralea corylifolia*), रास्ना (*Pluchea lanceolata*), सरला (त्रिवृत *Operculina terpethum* Linn.), सर्पगन्धा (*Rauwolfia serpentina* Benth.), चारटी (*Clerodentrum serratum* Linn.), त्रायमाण (*Gentina karroo* Royle.) को प्रक्षेप रूप में मिला कर इसको भूमि पर छिड़क देना चाहिए।

विष-दूषित जल का लक्षण और चिकित्सा

सविषं विरसं तोयं कवोष्णं राजिभिश्चितम् ।
फेनिलं गुरु विच्छिन्नं खगैरनभिनन्दितम् ॥ ७४ ॥

मृताकुलितमत्स्यं च स्पर्शाद्रुक्शोफकण्डुकृत् ।
ओदनः साधितस्तेन भुक्तमात्रो[1] विदह्यते ॥ ७५ ॥
विदग्धः पच्यते कृच्छ्रात् पक्वो मूर्च्छाज्वरप्रदः ।
दर्शयेत् सर्वतो नीलपीतलोहितकर्बुरम्[2] ॥ ७६ ॥
तत्र शिग्वादिमगदं भूमिदोषोदितं पिबेत् ।
अजशृङ्गी विशालाख्यां विषघ्नीमुत्तमारणीम् ॥ ७७ ॥
फणिज्जकं प्रतिविषां दग्ध्वा तद् भस्म गालयेत् ।
बहुशो गालितं तच्च पाचयेत् तत्र च क्षिपेत् ॥ ७८ ॥
कल्कयित्वा प्रतीवापं सरलां[3] रजनीद्वयम् ।
एलामुदीच्यं[4] मञ्जिष्ठां सुनन्दां बाकुचीमपि ॥ ७९ ॥
पात्यन्ते बिन्दवस्तस्माद्यत्र तन्निर्विषी भवेत् ।
पाटलापारिभद्राश्वकर्णशम्याकशिग्रुकान्[5] ॥ ८० ॥
कलशान्तर्गतान् दग्ध्वा प्रक्षिपेत् सविषेऽम्भसि ।

विष दूषित जल विकृत रस वाला, थोड़ा-सा उष्ण, अनेक प्रकार की रेखाओं से भरा, झागदार, गुरु, विच्छिन्न (एक समान नहीं) होता है और उस पर पक्षी भी नहीं बैठते। मछली आदि व्याकुल हो जाती हैं या मर जाती हैं और उस जल को स्पर्श करने से वेदना, शोफ और खुजली उत्पन्न हो जाती है। इस जल से पकाया गया भात खाने के साथ ही तुरन्त जलन करने लगता है, कष्टपूर्वक पचता है, पच जाने पर नीला, पीला, रक्त और कर्बुरक (कपोत) वर्ण का दिखलायी पड़ता है। इसके लिए भूमि देश में कहे गये शिग्रु (*Moringa oleifera* Linn.) आदि अगद को दही के साथ पीना चाहिए। अजशृंगी (मेढ़ाशृंगी *Pergularia extensa* N. E. Br.), विशाला (इन्द्रायण *Citrullus colocynthis* Schrad.), विषघ्नी (गिलोय *Tinospora cordifolia*), उत्तमारणी (अरणी *Clerodendrum phlomidis* Linn f.), फणिज्जक (मरुवक *Pogestemon parviflorus* Benth.), प्रतिविषा (अतीस *Aconitum heterophyllum* Wall.) इन सबको जलाकर इनकी भस्म को पानी में घोलकर छान लें। इस तरह कई बार करें। इसके पश्चात् छाने हुए जल को अग्नि पर पकाते समय उसमें सरल (चीड़ *Pinus roxburghii* Sargent की लकड़ी), हरिद्रा-द्वय (हल्दी *Curcuma Longa* Linn) और दारुहल्दी (*Berberis aristata* DC.), इलायची (*Elettaria cardamomum*), उदीच्य (नेत्रवाला ?), मंजिष्ठा (*Rubia Cordifolia* Linn.), रास्ना (सुनन्दा *Pluchea lanceolata* Oliver.), बाकुची, (*Psoralea corylifolia* Linn.) का कल्क बनाकर प्रक्षेप रूप में डाल दें। इस द्रव के बिन्दु उस दूषित जल में गिराये जाते हैं, तो वह जल निर्विष हो जाता है। पाटला (*Stereospermum suaveolens*), पारिभद्र (*Erythrina indica* Lam.), अश्वकर्ण (शाल *Shorea robusta* Gaertn.), शम्याक (आरग्वध *Cassia fistula* Linn.), शिग्रु (सहिजन *Moringa oleifera* Linn.) को जलाकर उनकी भस्म को विषैले पानी के घड़े में डाल दें। इससे पानी स्वच्छ हो जाता है।

---

१. 'भुक्तमात्रोऽपि' इति पाठान्तरम्। २. 'कर्बुरलोहितम्' इति पाठान्तरम्। ३. 'सरलम्' इति पाठान्तरम्। ४. सुगन्धबाला (*Valeriana wallichii* DC.)। ५. 'सिध्रकान्' इति पाठान्तरम्।

विषदूषित वायु का लक्षण

शीते घर्मो हिमश्चोष्णे मारुतो विषसंयुतः ॥ ८१ ॥
भ्रममूर्च्छादिकारी च शिग्रवादिस्तत्र चेष्यते ।
देवादारुनतानन्तामधुकाञ्जनगैरिकम्[1] ॥ ८२ ॥
वज्रकन्दं लतां लोध्रं विकिरेत् श्लक्ष्णचूर्णितम् ।
वृक्षाग्रेषु पताकासु दूष्येषु सुमहत्सु च ॥ ८३ ॥
सर्वतश्चूर्णसम्पर्कान्निर्विषो जायतेऽनिलः ।

विषमिश्रित वायु शीत ऋतु में अति उष्ण तथा ग्रीष्म ऋतु में अति शीतल होती है । इससे श्रम, मूर्च्छा, छर्दि आदि उत्पन्न होते हैं । इसके लिए शोभांजन (शिग्रु *Moringa oleifera* Linn.) वाले अगद का प्रयोग करना चाहिए । देवदारु (*Cedrus deodaru* Roxb.), नत (तगर *Valeriana wallichii* DC.), अनन्ता (सारिवा *Hemidesmus indicus* R. Br.), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn.), अंजन (सुरमा), गैरिक (गेरू), वज्रकंद (*Euphorbia* sp.), लता (मंजिष्ठा *Rubia cordifolia* Linn.) तथा लोध्र (*Symphlocos racemosa*) का महीन चूर्ण बनाकर वृक्षों के ऊँचे अग्र भाग पर, ध्वजाओं, तम्बू आदि पर तथा ऊँचे-ऊँचे बड़े दूषित ध्वनि वाले स्थानों पर बिखेर देवें । चारों ओर इस चूर्ण का सम्पर्क होने पर वायु निर्विष हो जाती है ।

विषदूषित छाया

विकृता भवति च्छाया पादपे विषदूषिते ॥ ८४ ॥
निर्गन्धमतिगन्धं वा तत्पुष्पं हृच्छिरोरुजम् ।
कुर्यात् फलपलाशादि कण्डूपाकातिसारकृत् ॥ ८५ ॥
भूमीमुद्दिश्य यत् प्रोक्तं तत्सर्वं तत्र शस्यते ।

वृक्ष के विष से दूषित होने पर उसकी छाया विकृत हो जाती है । उसका पुष्प निर्गन्ध या अतिगन्धित हो जाता है । इस फूल को सूँघने से हृदय एवं शिर में वेदना होने लगती है । इसका फल और पत्ता खुजली, पाक और अतिसार करता है । इसमें भूमिदोषोक्त सभी चिकित्सा करनी चाहिए ।

विषकन्या

न च कन्यामविदितां संस्पृशेदपरीक्षिताम् ॥ ८६ ॥
विविधान् कुर्वते योगान् कुशलाः खलु मानवाः ।
आजन्मविषसंयोगात् कन्या विषमयी कृता ॥ ८७ ॥
स्पर्शोच्छ्वासादिभिर्हन्ति तस्यास्त्वेतत् परीक्षणम् ।
तद्धस्तकेशसंस्पर्शान् म्लायेते पुष्पपल्लवौ ॥ ८८ ॥
शय्यायां मत्कुणैर्वस्त्रे यूकाभिः स्नानवारिणा ।
जन्तुभिर्म्रियते ज्ञात्वा तामेवं दूरतस्त्यजेत् ॥ ८९ ॥

किसी ऐसी कन्या का स्पर्श राजा को नहीं करना चाहिए, जिसका कुल तथा शील विदित न हो एवं जिसकी परीक्षा पूर्ण रूप से वैद्य द्वारा न कर ली गयी हो; क्योंकि चतुर मनुष्य नाना

१. 'अर्जुनः' इति पाठान्तरम् ।

प्रकार के योगों द्वारा शत्रु को मार डालने का प्रयत्न करते हैं। जन्म से ही विष का संयोग करा कर कन्या को विषमयी बनाया जाता है। यह कन्या स्पर्श एवं उच्छ्वास आदि से मनुष्य को मारती हैं। विषकन्या की परीक्षा में उसके हाथ और केश का स्पर्श होने से पुष्प, फल और पत्ते मुरझा जाते हैं, मत्कुण (खटमल), वस्त्रों में यूका (जुँए) और स्नान किए हुए पानी में जन्तु मर जाते हैं। इस कन्या का दूर से ही परित्याग करना चाहिए।

विषकन्या इस प्रकार की कन्या अथवा नारी को कहते हैं जिसे बाल्यकाल से ही विष के खान-पान से (प्रारम्भ में अल्प मात्रा में फिर क्रमशः कालान्तर में विष की मात्रा को बढ़ाकर सेवन कराते जाते हैं।) शरीर विषमय बना दिया जाता है। इस प्रकार की कन्या के संसर्ग से मनुष्य अति दुसह्य मृत्यु को प्राप्त होता है।

गुप्तांग के रोगों जैसे सुजाक आदि से युक्त कन्या को भी विषकन्या कहते हैं। अति प्राचीन काल से ही शत्रु के विनाश हेतु विषकन्या का प्रयोग होता रहा है। मुद्राराक्षस आदि में इसका उल्लेख हुआ है। महर्षि सुश्रुत ने भी विषकन्या से राजा की रक्षा हेतु वैद्य को सचेष्ट रहने का निर्देश देते हुए कहा है—

'विषकन्योपयोगाद् वा क्षणाज्जह्यादसून्नरः।
तस्माद् वैद्येन सततं विषाद् रक्ष्यो नराधिपः' ॥ (सु० क० १।६)

उपसंहार

नाप्रोक्षितं नाविदितं भिषजा नानवेक्षितम्।
नाप्राशितं च सूदाद्यैः किञ्चिदप्याहरेयेन्नृपः ॥ ९० ॥

राजा को चाहिए कि वह मंत्र, औषधि एवं जल आदि से प्रोक्षित किए बिना, वैद्य के बिना जाने, वैद्य को बिना बतलाए तथा पाचक आदि को बिना खिलाए कुछ भी न खाये।

सर्वार्थसिद्ध अंजन

धन्यं सर्वार्थसिद्धाख्यं पापरक्षोविषापहम्।
परं चक्षुष्यमायुष्यं शत्रुघ्नं वक्ष्यतेऽञ्जनम् ॥ ९१ ॥

यह अंजन धन्य, सबको सिद्ध करने वाला, पाप, राक्षस तथा विष को नष्ट करने वाला, नेत्रों के लिए अत्यन्त हितकारी, आयुवर्द्धक एवं शत्रुनाशक है।

अथ शुक्लपक्षे पुण्येऽहनि पुष्यपुनर्वसुहस्तचित्रामृगशिरःश्रवणरेवतीशतभिषक्प्राजापत्योत्तराणामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवत्यौषधिपतौ प्रशस्ते मुहूर्ते सिन्धुस्रोतःसमुत्थं स्निग्धं सप्रभं गन्धवर्णच्छेदैर्नीलोत्पलाभमञ्जनमाहरेत् ॥ ९२ ॥

शुक्ल पक्ष में किसी पवित्र दिन को पुष्य, पुनर्वसु, हस्त, चित्रा, मृगशिरा, श्रवण, रेवती, शतभिषक्, रोहिणी, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा अथवा उत्तरभाद्रपद नामक किसी एक नक्षत्र के साथ औषधिपति चन्द्रमा का संयोग होने पर प्रशस्त मुहूर्त में सिन्धु नदी के प्रवाह में उत्पन्न, स्निग्ध, प्रभावान्, गंधवर्णयुक्त तथा नीलकमल (उत्पल *Nymphae stellata*) के समान अंजन को लायें।

तस्याष्टौ भागाः कनकरजतोदुम्बराणामेकैको भागस्तत्सर्वं मूषायां प्रक्षिप्य बलिमङ्गलपूर्वकमग्निमुपसमाधाय खदिरकदरधवस्यन्दनान्यतमदारुभिर्गोमयैर्वा प्रज्वालयेत्[1] ॥

इस अंजन को आठ भाग तथा स्वर्ण, रजत, उदुम्बर (ताम्र के) को एक-एक भाग लेकर इन सबको मूषा (कोठाली) में डालकर बलि एवं मंगलाचरण द्वारा अग्नि की पूजा करके खदिर

१. 'स्यन्दनानामन्यतम्' इति पाठान्तरम्।

(खैर *Acacia catechu* Willd.), कदर (विट्खदिर *Acacia farnisiana* Willd.), धव (*Anogeissus latifolia* Wall.), स्यन्दन (तिनिश *Dugeinia dalbergioides*) की लकड़ियों अथवा सूखी कंडी से अग्नि को प्रज्वलित करें।

ततश्चार्यावलोकितेश्वरमार्यतारां ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रादित्यसोमवरुणवैश्वानरवायुविष्णुजनकभरद्वाजधन्वन्तरिसुश्रुतभव्यसुकन्यास्कन्दच्यवनवैनतेयानन्याँश्च यथाविध्युक्तदेवताः सुमनोऽक्षतलाजस्वस्तिकसंयावनिस्तुषयवसंस्कृतगुडघृतमिश्रपायसैरर्चयित्वा वृद्धवैद्यब्राह्मणाँश्च शुक्लवाससो महतीभिर्दक्षिणाभिः पूजयित्वा तस्मिन्नग्नौ तदञ्जनं ध्मातं ध्मातमावर्त्य पृथक् पृथङ्निषेचयेत्-गोशकृद्रसमूत्रघृतदधिक्षौद्रवसामज्जतैलमद्यसर्वगन्धाम्बुशर्करोदकेक्षुरसेषु तथा हरीतक्यामलकबिभीतककाश्मर्यमृद्वीकाशृङ्गाटककसेरुकोत्पलनलिनसौगन्धिकमृणालिकाक्वाथेषु तथा लावकपिञ्जलैणशशहरिणकुलीररसेषु तथा मधुकचन्दनकालानुसार्यनलदपद्मकोशीरमञ्जिष्ठाऽनन्तागैरिककुङ्कुमोदकेषु ॥ ९४ ॥

इसके पश्चात् आर्या (चन्द्रमा), अवलोकितेश्वर, आर्यतारा (ध्रुवतारा), ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमारों, रुद्र, इन्द्र, आदित्य, सोम, वरुण, वैश्वानर, वायु, विष्णु, जनक, भरद्वाज, सुश्रुत, भव्य, सुकन्या, स्कन्द, च्यवन, वैनतेय और अन्य देवताओं की यथाविधि फूल, अक्षत, लाजा, स्वस्तिक (कल्याणकारी मांगलिक पदार्थ), संयाव (हलुवा), निस्तुष (छिलका रहित) जौ (*Hordeum vulgare*), गुड़ एवं घृत से मिले पदार्थ से पूजा करके वृद्ध, वैद्य एवं ब्राह्मणों को श्वेत वस्त्र धारण करा, पूजा करके उस उपर्युक्त अग्नि में इस अंजन को शस्त्र शलाका से धीरे-धीरे उलट-पलट कर, तपाकर, पृथक्-पृथक् निम्न द्रव्यों में डालें।

गोशकृद् (गोबर), गोमूत्र, घृत, दधि, क्षौद्र (मधु), वसा, मज्जा, तैल, मद्य, सर्वगन्ध (पानी), शर्करा मिश्रित पानी, इक्षुरस (गन्ने *Saccharum officinale* का रस) तथा हरीतकी (*Terminalia chebula*), आँवला (*Emblica officinalis* Gaertn.), बहेड़ा (अक्ष *Terminalia belerica* Roxb.), काश्मर्य (गंभारी *Gmelina arborea* Linn.), माद्वीक (*Vitis vinifera* Linn,), शृंगाटक (सिंघाड़ा *Trapa bispinosa*), कसेरुक (*Scirpusky-soor* sp.), उत्पल (नीलकमल *Nymphae stellata*), नलिन (श्वेत कमल *Nelumbo nucifera* Gaertn.), सौगन्धिक (कुमुद *Nymphae alba* Linn.) एवं मृणालिका (*Nelumbo nucifera* var.) के क्वाथ में तथा लावक (बटेर नामक पक्षी *Turnix* sp.), कपिंजल (*Francolinus* sp.), एण (*Antilope ceruicupra*), शशक (*Oryctolagus cuniculus*), हरिण (*Cervus axis*), कुलीर (*Seillia serrata*) के मांस रस में तथा मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra*), चंदन (*Santaulm album*), कालानुसारी (? तगर इति डल्हणः), नलद (जटामांसी *Nardostachys* Jatamansi), पद्मक (पद्मकाष्ठ *Prunus cerasoides* D. Don) उशीर (खस *Veteriveria zizanioides* Linn.), मंजिष्ठा (*Rubia cordifolia* Linn.), अनन्ता (सारिवा *Hemidesmus indicus* R. Br.), गैरिक तथा कुंकुम (केसर) के पानी में पृथक्-पृथक् बुझाएँ।

ततः शुक्लवाससि बध्वा द्वादशरात्रमान्तरिक्षेऽम्भसि वासयेत् ॥ ९५ ॥

इसके पश्चात् उस अंजन को श्वेत वस्त्र में बाँध कर बारह रात्रि तक वर्षा के जल में रख दें।

ततश्छायायां विशोष्य स्फटिकमुक्ताप्रवालकालानुसार्यप्रतिवापं पुनरपि बलिमङ्गल-पूर्वकं महद्वाससा कन्यया दृषदि पेषयित्वा सुवर्णरजतताम्रशङ्खशैलद्विरदरदनगवलवैदूर्य-स्फटिकमेषशृङ्गासनसारान्यतमघटितायामञ्जनिकायां निधापयेत् ॥ ९६ ॥

इसके पश्चात् उसे छाया में सुखाकर फिटकरी, मोती, प्रवाल एवं कालानुसार्य (?) का सूक्ष्म चूर्ण मिलाकर पुनः बलि से मंगलपूर्वक और कुमारी कन्या को महावस्त्र (उत्तम वस्त्र) पहनाकर उसी के हाथ से खरल में उसे पिसवाकर, स्वर्ण, रजत, ताम्र, शंख, पत्थर, हाथी (*Elephas indicus*) के दाँत, भैंस (*Bos bubalus*) की सींग, अथवा वैदूर्य, स्फटिक, मेढ़ा की सींग, विजयसार (असन *Pterocarpum marsupium* Roxb.) इनमें से किसी एक से बनी अञ्जनिका (सुरमेदानी) में रख दे।

अथ पुनरपि पूर्ववत्कृतस्वस्त्ययनं सावित्रेण कर्मणा **सर्वविद् द्विजन्मा** विधिवत्तद-भिसंस्कुर्यात् ॥ ९७ ॥

इसके पश्चात् पुनः पूर्वोक्त प्रकार से बलि-मंगल करके **अथर्ववेदविद्** ब्राह्मण अखिल कर्म (सौरकर्म) से विधिपूर्वक अंजन का अभिसंस्कार करे।

ततो गजस्कन्धमारोप्य पाण्डुरच्छत्रचामरवालव्यजनैरनुगतं तथा शङ्खदुन्दुभिस्वनै-र्द्विजातिवरप्रयुक्तैश्च वेदवादमिश्रैः पुण्याहघोषैः कृतपुष्पोपहारं वैद्यगृहान्नायकगृहमनुप्रवे-शयेत् ॥ ९८ ॥

इसके पश्चात् उस अञ्जनिका को हाथी के कन्धे पर रखकर पीतवर्ण का छत्र तानकर चामर बालों से बने पंखों को हिलाते हुए शंख-दुंदुभि की आवाज से तथा ब्राह्मणों के मुख से निकलते वेद-वाक्यों से मिश्रित पुण्यकारी शब्दों से पुष्प की वर्षा करते हुए राजवैद्य के गृह से राजा के घर में ले जायें।

अनन्तरं च तेन विदेहाधिपोपदिष्टेन सर्वार्थेषु सिद्धेनाञ्जनेन यथोक्तानामेवाञ्जन-भाजनद्रव्याणामन्यतमया शलाकया गोब्राह्मणपूजापूर्वकं शुचिः सनियमो भूत्वा धारणीमिमां विद्यामधीयानः पूतः पूर्वमक्षि दक्षिणमञ्जयेत् ॥ ९९ ॥

इसके पश्चात् विदेह राजा के द्वारा उपदिष्ट सब अर्थों में सिद्धि देने वाले इस अञ्जन को यथोक्त सुरमेदानी के द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य से बनी शलाका द्वारा गाय एवं ब्राह्मण की पूजा करके पवित्र होकर तथा नियमपूर्वक निम्नलिखित धारणीय विद्या को जपते हुए पवित्र मन से दाहिनी आँख से अञ्जन करना चाहिए।

अंजनधारण मन्त्र

नमश्चक्षुःपरिशोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक्सम्बुद्धाय।

तद्यथा—

ॐचक्षुःप्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्विज्ञानचक्षुर्विशोधय स्वाहा ॥ १०० ॥

अंजन करते समय निम्न मन्त्रों का जाप करे—

१. चक्षु को शुद्ध करने वाले श्रेष्ठ सम्यक् बुद्धि वाले तथागत (भगवान् बुद्ध) को नमस्कार। २. ओ३म् चक्षु, प्रज्ञा-चक्षु, ज्ञान-चक्षु, विज्ञान-चक्षु को शोधन करो, स्वाहा।

ततः परं तामेव धारणीमनुसंस्मरन् सायं प्रातः प्रत्यहं, एतत्परमं पवित्रमारोग्य-करमूर्जस्करं सर्वविघ्नहरमञ्जनमश्विभ्यामिन्द्रस्य वृत्रवधाभ्युदितस्य प्राक् प्रकल्पितम्।

१. 'गवयशृङ्गः' इति पाठान्तरम्। २. 'विषघ्नम्' इति पाठान्तरम्।

तस्मादेतद्राज्ञां राजमहामात्राणां च महीं विजिगीषमाणानां ब्राह्मणानां च वेदाध्ययन-मन्यद्वा महच्छास्त्रमवगाहमानानां प्रसन्नमना भिषक् प्रकल्पयेदिति ॥ १०१ ॥

इसके पश्चात् इसी धारणीय मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रतिदिन अत्यन्त पवित्र, आरोग्यकर, ऊर्जस्कर, सभी प्रकार के विघ्नों को नष्ट करने वाले इस अञ्जन की कल्पना अश्विनीकुमारों ने वृत्रासुर को मारने के लिए उद्यत इन्द्र के लिए की थी। तब से यह राजाओं और राजा के समान ऐश्वर्यशाली भूमि को जीतने की इच्छा करने वाले, वेदाध्ययन करने वाले ब्राह्मणों तथा अन्यान्य बड़े-बड़े शास्त्रों का अवगाहन करने वालों के लिए प्रसन्न मन वाला चिकित्सक बनाये।

भवन्ति चात्र—

अथ योगाः प्रवक्ष्यन्ते बृहस्पतिकृताः शिवाः।
यान्सेवमानो नृपतिः शत्रुभ्यो नैति वञ्चनाम् ॥ १०२ ॥

इस विषय में अन्य उपदेश हैं—

इसके पश्चात् बृहस्पति द्वारा बनाये गये कल्याणकारी योग कहे जाते हैं, जिनका उपयोग करता हुआ राजा शत्रुओं से नहीं ठगा जा सकता।

बिल्वाढकीयवक्षारपाटलीबाल्हिकोषणाः ।
श्रीपर्णी शल्लकीयुक्ता निःक्वाथः प्रोक्षणं परम् ॥ १०३ ॥
सविषं प्रोक्षयेत्तेन सद्यो भवति निर्विषम् ।
यवसेन्धनपानीयवस्त्रशय्यासनोदकम् ॥ १०४ ॥
कवचाभरणच्छत्रवालव्यजनवेश्म च ।

बिल्व (*Aegle marmelos* Correa), अरहर (आढकी *Cajanus carjam* (Linn.) (Mill.), यवक्षार (यव *Hordeum vulgare* से बना हुआ क्षार), पाटली (*Stereospermum suaveolens* DC.), बाल्हिक (हिंगु *Ferula foetida*), ऊषण (काली मरिच *Piper nigrum*), श्रीपर्णी (गम्भारी *Gmelina arborea* Linn.), शाल्मली (सेमल *Salmalia malabaroca*) का क्वाथ बनायें, यह अत्यन्त प्रोक्षण है। इस प्रोक्षण से विषैली वस्तुएँ शीघ्र ही निर्विष हो जाती हैं। इसके क्वाथ का प्रोक्षण घास, ईंधन, जल, वस्त्र, शय्या, आसन, उदक, कवच, आभूषण, छत्र, पंखा तथा घर में करें।

सेलुपाटल्यतिविषाशिग्रुगोपीपुनर्नवम् ॥ १०५ ॥
समङ्गाविषमूलत्वक्कपित्थवृषशोणितम् ।
सहदन्तशठं तद्वत् प्रोक्षणं विषनाशनम् ॥ १०६ ॥

सेलु (लिसोड़ा *Cordia myza*), पाटला (*Stereospermum suaveolens* DC.), अतिविषा (अतीस *Aconitum heterophyllum*), शिग्रु (सहिजन *Moringa oleifera* Linn.), गोपी (सारिवा *Hemidesmus indicus* R. Br.), पुनर्नवा (*Boerhavia diffusa* Linn.), मंजिष्ठा (*Rubia cordifolia* Linn.), विषमूलत्वक् (वत्सनाभ *Aconitum ferox* Wall ex Seringe की जड़ की छाल), कपित्थ (कैथ *Feronia limonia* Linn.) का फल, वृष (बैल *Bos indicus*) का रक्त, दन्तशठ (नीबू विशेष *Citrus* sp.) पूर्ववत् विषनाशक प्रोक्षण है।

विषनाशक मणियां

लाक्षाप्रियङ्गुमञ्जिष्ठासमङ्गाऽऽलहरेणुकाः ।
सयष्ट्याह्वा मधुयुता बभ्रुपित्तेन कल्किताः ॥ १०७ ॥
निखनेद्गोविषाणस्थाः सप्तरात्रं महीतले ।
ततः कृत्वा मणिं हेम्ना बद्धं हस्तेन धारयेत् ॥ १०८ ॥
संस्पृष्टं सविषं तेन सद्यो भवति निर्विषम् ।

लाक्षा (लाही *Rosa centifolia*), प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla*), मंजिष्ठा (मंजीठ *Rubia cordifolia*), लज्जावन्ती (समंगा *Mimusops pudica*), हरताल, हरेणु (निर्गुण्डी *Vitex negundo* Linn.) के बीज, मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra*) को समान भाग में लेकर मधु और नेवला (*Herpestes edwardis*) नामक जंतु के पित्त के साथ पीसकर कल्क बना लें और गाय (*Bos indicus*) की सींग में भरकर सात दिनों तक भूमि के अन्दर गाड़ दें । फिर इसके पश्चात् इसे निकालकर गोलाकार बना उसके ऊपर सुवर्ण लपेट कर हाथ में धारण करें । इससे विषैले पदार्थ स्पर्श करने पर शीघ्र निर्विष हो जाते है ।

मनोह्वाऽऽलशमीपुष्पत्वङ्निशाश्वेतसर्षपाः ॥ १०९ ॥
कपित्थकुष्ठमञ्जिष्ठाः पित्तेन श्लक्ष्णकल्किताः ।
शुनो गोः कपिलायाश्च सौम्याख्योऽयं वरोऽगदः ॥ ११० ॥
विषजित्परमं कार्यो मणिरत्र[1] च पूर्ववत् ।

मनोह्वा (मैनसिल), आल (हरताल), शमी (*Prosopis spicigra* Linn.) का पुष्प एवं छाल, हल्दी (*Curcuma longa* Linn.), सरसों (*Brassica campestris*), कपित्थ (कैथ *Feronia limonia* Linn.) का फल, कुष्ठ (कूठ *Saussurea lappa* C. B. Cl.), मजीठ (*Rubia cordifolia* Linn.) को समान भाग में लेकर कुत्ता (*Canis femiliaris*) या काली गाय (*Bos indicus*) के पित्त द्रव में महीन पीसकर कल्क बनावे । यह सौम्य नामक श्रेष्ठ अगद है । यह अत्यन्त विषनाशक है । पूर्व की भाँति इसकी मणि बनानी चाहिए ।

मूषिकाजरुहा वाऽपि हस्ते बद्धा विषापहा ॥ १११ ॥

मूषिका (मूषाकर्णी *Merremia emarginata* Burm. f.) और अजरुहा (प्लक्षरुहा ?) नामक औषधि हाथ में बाँधने से विष का नाश होता है ।

हरेणुमांसीमञ्जिष्ठारजनीमधुकं मधु ।
अक्षत्वक् सुरसं लाक्षा श्वपित्तं पूर्ववन्मणिः ॥ ११२ ॥

हरेणु (निर्गुण्डी *Vitex negundo* Linn.), जटामांसी (*Nardostachys jatamansi* DC.), हल्दी (*Curcuma longa* Linn.), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra*), मधु, बहेड़ा (*Terminalia belerica* Roxb.) की छाल, सुरसा (तुलसी *Ocimum sanctum* Linn) तथा लाक्षा (*Rosa centifolia*) इनको कुत्ते (*Canis femiliaris*) के पित्त में पीसकर पूर्वोक्त विधि से मणि बनाकर हाथ में धारण करना चाहिए ।

---

१. 'मणिरत्नम्' इति पाठान्तरम् ।

वाद्ययन्त्र तथा पताका पर विषघ्न लेप

वादित्राणि पताकाश्च पिष्टैरेभिश्च लेपिताः[1] ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा समाघ्राय सद्यो भवति निर्विषः ॥ ११३ ॥

उपर्युक्त औषधियों को पीसकर ढोलक, नगाड़ा आदि वाद्यों तथा पताकाओं पर लेप करने से वाद्यों की आवाज सुनकर, पताका को देखकर तथा इनकी गन्ध को सूँघकर प्राणी शीघ्र विष रहित हो जाते हैं ।

त्र्यूषणादि योग

त्र्यूषणं पञ्चलवणं मञ्जिष्ठां रजनीद्वयम् ।
सूक्ष्मैलां त्रिवृतां पत्रं विडङ्गानीन्द्रवारुणीम् ॥ ११४ ॥
मधुकं चेति सक्षौद्रं गोविषाणे निधापयेत् ।
तस्मादुष्णाम्बुना मात्रां प्राग्भक्तं योजयेत्तथा[2] ॥ ११५ ॥
विषं भुक्तं जरां याति निर्विषेऽपि न दोषकृत् ।

त्र्यूषण (सोंठ *Zingiber officinale* Rose, मरिच *Piper nigrum* और पिप्पली *Piper langum* Linn.), पंचलवण (सैंधव, सौवर्चल, विड्, उद्भिद् और सांभर नमक), मंजीठ (*Rubia cardifolia* Linn.), हल्दी (*Curcuma longa*), दारुहल्दी (*Berberis aristata* DC.), सूक्ष्म एला (छोटी इलाइची *Elettaria cardamomum*), त्रिवृत (*Ipomea turpethum* R. Br.), तेजपत्र (*Cinnamomum tamala* Nees & Eberm), वायविडंग (*Embelia ribes* Burm. f.), इन्द्रायण (*Citrullus colocynthis* Schrad.), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra*) तथा मधु के साथ गाय (*Bos indicus*) के सींग में रख दें । इसकी मात्रा उष्णजल के साथ भोजन के पूर्व लें । इससे खाया हुआ विष पच जाता है । विष न खाने पर भी औषधि दोष-कारक नहीं होती है ।

विषघ्न धूप

जतुसर्जरसोशीरसर्षपापत्रवालकैः ॥ ११६ ॥
सवेल्लारुष्करपुरैः कुसुमैरर्जुनस्य च ।
धूपो वासगृहे हन्ति विषं स्थावरजङ्गमम् ॥ ११७ ॥
न कीटाः सविषास्तत्र नोन्दुरा न सरीसृपाः ।
न कृत्याः कार्मणाद्याश्च[3] धूपोऽयं यत्र दह्यते ॥ ११८ ॥

जतु (लाख *Rosa centifolia*), सर्ज (*Vateria indica* Linn.), रस, उशीर (खस *Vetiveria zizanioidis* Linn.), सरसों (*Brassica campestris*), तेजपत्र (*Cinnamomum tamala* Nees. & Burm.), बालक (ह्रीबेर ?), वेल्ल (*Piper nigrum*), अरुष्कर (भिलावा *Semecarpus anacardium* Linn.), पुर (गुग्गुलु *Commiphora mukul* Engle.), अर्जुन (*Terminalia arjuna* W. & A.) के पुष्प की धूम निवास-गृह में देने से स्थावर-जंगम

---

१. 'लेखिताः' इति पाठान्तरम् । २. 'विनियोजयेत्' इति पाठान्तरम् । ३. 'कर्षणाद्याश्च' इति पाठान्तरम् ।

विष नष्ट हो जाते हैं। जहाँ यह धुंआ दिया जाता है, वहाँ पर विषैले कीड़े, चूहे (*Rattus rattus*) एवं सर्प आदि नहीं जाते तथा मारण, मोहन, वशीकरण आदि कृत्य भी नहीं होते।

अन्य विषनाशक धूप

शिखिपिच्छं बलाकास्थि सर्षपाश्चन्दनं घृतम् ।
धूपो विषघ्नः शयनवसनासनगेहगः ॥ ११९ ॥

मोर (*Pavo cristasus*) का पंख, बगुला (*Bubulcus ibis*) की अस्थि, सरसों (*Brassica campestris*), चन्दन (*Santalum*) तथा घृत को मिलाकर इनकी धूप शय्या, वस्त्र, आसन तथा पूरे घर में देना विषनाशक होता है।

विशालाव्योषमञ्जिष्ठायष्टीलवणपञ्चकम् ।
द्विनिशापत्रवेल्लैलात्रिवृच्चूर्णं समाक्षिकम् ॥ १२० ॥
गोशृङ्गे निहितं योग्यं स्नानीयेऽम्भसि भूमतेः ।
पूर्वोक्तं व्यूषणादि च स्नानीयेऽम्भसि योजयेत् ।

विशाला (इन्द्रायण *Citrullus colocynthis* Schrad.), व्योष (त्रिकटु या व्यूषण—सोंठ, मरिच और पिप्पली), मंजीठ (*Rubia cordifolia* Linn.), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra*), पंचलवण (सैंधवादि लवण), हल्दी (*Curcuma longa*), दारुहल्दी (*Berberis aristata* DC.), तेजपत्र (*Cinnamomum tamala* Nees. & Eberm.), वायविडंग (*Embelia ribes* Burm. f.), छोटी इलाइची (*Elettaria cardamomum*), त्रिवृत (*Ipomoea turpethum* R. Br.) का चूर्ण और मधु को मिश्रित कर गाय की सींग में रखकर राजा के स्नान करने के जल में मिलाना चाहिए। इसी प्रकार पूर्वोक्त व्यूषणादि अगद को भी स्नान करने योग्य जल में मिलाना चाहिए।

क्वाथोऽथवार्ककुसुमश्वेतापामार्गसर्षपैः ॥ १२१ ॥
सदध्याज्यः कृतो युक्तैः कतकानाकुलीद्वयैः ।
कल्को वा चन्दनक्षीरिपलाशद्रुमवल्कलैः ॥ १२२ ॥
मूर्वैलवालुसुरसनाकुलीतन्दुलीयकैः ।
क्वाथः सर्वोदकार्येषु काकमाचीयुतैर्हितः ॥ १२३ ॥

अर्क (आक *Calotropis procera* R. Br.) का फूल, श्वेत (अपराजिता *Clitoria ternatea* Linn.), अपामार्ग (*Achyranthes aspera* Linn.), सरसों (*Brassica campestris*), मकोय (*Solanum nigrum*) तथा नाकुलीयक (सर्पगन्धा *Rauwolfia serpentina* Benth.) के क्वाथ में दही तथा घृत मिला कर स्नान करें। अथवा चंदन (*Santalum album*), क्षीरिवृक्ष (वट *Ficus bengalensis* Linn.) की छाल, पलाश (*Butea monosperma* Lam.) की छाल का कल्क जल में मिलाकर स्नान करें। मूर्वा (*Marsdenia roylei* Wight.), एलवालुक (*Prunus avium* Linn.), सुरस (तुलसी *Ocimum sanctum*), नाकुली (सर्पगन्धा *Rauwolfia serpentina* Benth.) तथा चौलाई (तन्दुलीयक *Amaranthus spinosas* Linn.) तथा मकोय (*Solanum nigrum*) का क्वाथ स्नान आदि सभी कार्यों में प्रयुक्त करें।

तिलक का योग

रोचनापत्रनेपालीकुङ्कुमैस्तिलकान् बहून् ।
विषैर्न बाध्यते स्याच्च नारीनरनृपप्रियः ॥ १२४ ॥

रोचन (गोरोचन), तेजपत्र (*Cinnamomum tamala* Nees. & Burm. f.), नेपाली (मैनसिल), कुंकुम (*Crocos sativus* Linn.) का तिलक लगाकर रहने वाला विष से बाधित (पीड़ित) नहीं होता तथा नर-नारी एवं राजा का प्रिय हो जाता है।

हरिद्रादि उपलेप

चूर्णैर्हरिद्रामञ्जिष्ठाकिणिहीकणनिम्बजैः।
दिग्धं निर्विषतामेति गात्रमित्याह गौतमः ॥ १२५ ॥

गौतम ऋषि ने कहा है कि हल्दी (*Curcuma longa*), मंजीठ (*Rubia cordifolia* Linn.), अपामार्ग (*Achyranthus aspera* Linn.) तथा नीम (*Agadirachta indica* A. Juss.) की छाल का चूर्ण शरीर पर लगाने से शरीर विषरहित हो जाता है।

विष-चिकित्साधिकारी

नस्यपानाञ्जनालेपैर्युञ्ज्यात् सञ्जीवनात्मकान्[1]।
अगदान्विषजग्धस्य तीक्ष्णानि वमनानि च ॥ १२६ ॥
पिप्पलीमधुकक्षौद्रशर्करेक्षुरसैः सह।
द्विनिशापत्रवेल्लैलात्रिवृच्चूर्णं समाक्षिकम् ॥ १२७ ॥
विरेचनं सिरामोक्षं प्राप्तं विस्रावणं यदि।
हृदयावरणं कार्यं प्रागेवामित्रमध्यतः ॥ १२८ ॥
पिबेद् घृतमजेयाख्यममृतं चाप्यभुक्तवान्[2]।
सर्पिः क्षौद्रं दधि क्षीरमन्ततः शीतलं जलम् ॥ १२९ ॥

विष-प्रतिषेध अधिकार में कथित संजीवन आदि अगदों का नस्य, पान, अंजन, लेप आदि के रूप में प्रयोग करना चाहिए। तीक्ष्ण वमन, पिप्पली (*Piper longum* Linn.), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra*), मधु और शर्करा, गन्ने (*Saccharum officinalis*) के रस के साथ देना चाहिए। वमनोपरान्त हल्दी (*Curcuma longa* Linn), दारुहल्दी (*Berberis aristata* DC.), तेजपत्र (*Cinnamomum tamala* Nees. & Eberm.), कालीमिर्च (*Piper nigrum*), इलाइची (*Elettaria cardamomum*) एवं त्रिवृत (*Ipomoea turpethum*) चूर्ण मधु में मिलाकर विरेचन हेतु देना चाहिए।

रक्त में विष का अंश व्याप्त होने पर शिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण कराना चाहिए। रोगी के हृदय की सर्वप्रथम रक्षा करनी चाहिए। इसके लिए भोजन के पूर्व अजेय घृत अथवा अमृत घृत पीना चाहिए। अन्त में घी, मधु, दधि एवं क्षीर के अभाव में शीतल जल पीना चाहिए।

मांस का प्रयोग

सितामधुकपालिन्दीकल्कवन्मांसमिष्यते।
गोधाहरिणवभ्रूणां सकणाशुण्ठिपार्षतम् ॥ १३० ॥
सनागरं सातिविषं शिखिनः ससितोपलम्।
सुशीताः सघृताश्चैषां यथास्वं कल्पिता रसाः ॥ १३१ ॥

गोह (*Varanus monitor*), हरिण (*Cervus axis*), वभ्रु (नेवला *Herpestes edwardis*) का मांस मिश्री, मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra*) एवं पालिन्दी (*Marsdenia*

१. 'सञ्जीवनादिकान्' इति पाठान्तरम्। २. 'विषभुक्तस्य' इति पाठान्तरम्।

tenacissima) का कल्क मिलाकर मांस खाना चाहिए। पृषत नामक हरिण (*Cervus axis*) का मांस, पिप्पली (*Piper longum* Linn.) अथवा सोंठ (*Zingiber offlcinale* Rose.) मिलाकर खाना चाहिए। मोर (*Pavo cristasus*) का मांस, सोंठ (*Zingiber officinale*), अतीस (*Aconitum heterophyllum*) तथा मिश्री मिलाकर खाना चाहिए अथवा उपर्युक्त प्राणियों का मांस विधिपूर्वक बनाकर ठंडा होने पर घृत मिलाकर पीना चाहिए।

ताम्र का प्रयोग

विषपीताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा।
सूक्ष्मं ताम्ररजः काले सक्षौद्रं हृद्विशोधनम् ॥ १३२ ॥

विषपान किये हुए मनुष्य का वमन-विरेचन से शोधन होने पर ताम्र भस्म को मधु में मिलाकर देने से हृदय का शोधन हो जाता है।

सुवर्ण भस्म का प्रयोग

शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्।
न सज्जते हेमपाङ्क्ते पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम् ॥ १३३।
जायते विपुलं चायुर्गरेऽप्येष विधिः स्मृतः।

हृदय के शुद्ध हो जाने के पश्चात् स्वर्ण भस्म एक शाण (२० डेसी ग्राम) की मात्रा में दें। स्वर्ण भस्म का सेवन करने वाले शरीर में विष का प्रभाव नहीं होता है, जैसे कमल (*Nelumbo nucifera*) के पत्र पर पानी का प्रभाव नहीं होता। इससे आयु लम्बी हो जाती है। गर विष में भी यही चिकित्सा करनी चाहिए।

राजा का महत्व एवं वैद्य का कर्तव्य

इत्थं विषगरादिभ्यो रक्षेद् वैद्यो नरेश्वरम् ॥ १३४ ॥
स्यात् तदुच्छेद उच्छेदः प्रज्ञानां सर्वकर्मणाम्।
आज्ञाधैर्यक्षमात्यागा मानुषत्वेऽप्यमानुषाः ॥ १३५ ॥
यद्राज्ञः कर्मभिस्तस्मादाराध्योऽसावतीन्द्रियैः।

इस प्रकार वैद्य विष एवं गरविष आदि से राजा की रक्षा करे, क्योंकि राजा का विनाश हो जाने ने प्रजा के सभी कर्मों का विनाश हो जाता है। राजा अन्य मनुष्यों के समान ही होता है, किन्तु आज्ञा, धैर्य, क्षमा एवं त्याग आदि कर्म दूसरों की अपेक्षा विशिष्ट होते हैं। इसलिए भिषक् अतीन्द्रिय (मन से यत्नपूर्वक बुद्धि आदि से) राजा की आराधना करें।

यत्र साक्षान्नृपस्तत्र विज्ञातः प्रविशेद् भिषक् ॥ १३६ ॥
न सम्मतोऽप्यनुचितं यानस्थानासनं भजेत्।
[1]उचितं पुरतो राज्ञस्तिष्ठेद्वाक्यं न चाक्षिपेत् ॥ १३७ ॥
अहीनकालं राजार्थं स्वार्थं प्रियहितैः सह।
देशे काले परार्थं च वदेद्धर्मार्थसंहितम् ॥ १३८ ॥
नानुशिष्यादपृच्छन्तं महदेतद्धि साहसम्।
नाचरेदहितेनैनं मूलच्छेदकरं हि तत् ॥ १३९ ॥

---

१. 'उचिते' इति पाठान्तरम्।

अनुकूलं हितं वाच्यमहिताद्वारयेन्मिथः ।
उदारैः सान्त्वयन्वाक्यैर्दोषश्चेत्तदुपेक्षया ॥ १४० ॥
तूष्णीं वा प्रतिवाक्ये स्याद् वर्जयेत् द्वेषसङ्कथाम् ।
विपश्चिदप्यचित्तज्ञो बालिशोऽपि तु भाववित् ॥ १४१ ॥
अतिप्रियोऽपि द्वेष्योऽपि यात्याशु विपरीतताम् ।
निवेद्य राज्ञे कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि ॥ १४२ ॥
न यायान्न चिरं तिष्ठेत् कोशस्थानावरोधयोः ।
स्वल्पेऽपि दर्शयेत् तुष्टिं लाभेऽनुद्धतमानसः ॥ १४३ ॥
मिथः कथनमन्येन कौलीनं द्वन्द्ववादिताम् ।
वस्त्रादि राज्ञः सदृशं राजलीलां च वर्जयेत् ॥ १४४ ॥
दत्तं यत्तु नृपेणैव तद्धार्यं तुष्टिवृद्धये ।
हसितव्ये स्मितं कुर्यात् प्रभोरेवानुवृत्तितः ॥ १४५ ॥
उच्यमानेऽवलम्बेत परमर्मणि मूकताम् ।
स्वमर्मणि तु बाधिर्यधैर्यमाधुर्यसौष्ठवम् ॥ १४६ ॥
अत्यायासेन नात्मानं कुर्यादतिसमुच्छ्रितम् ।
पातो यथा हि दुःखाय नोच्छ्रायः सुखकृत्तथा ॥ १४७ ॥

राजगृह में जहाँ राजा साक्षात् (सामने) बैठा हो, वहाँ सूचना देकर वैद्य को प्रवेश करना चाहिए । राजा की सम्मति होने पर भी अनुचित यान, स्थान और आसन पर नहीं बैठना चाहिए, अपितु राजा के सामने उचित स्थान पर बैठना चाहिए । राजा के वाक्यों पर आक्षेप नहीं करना चाहिए । राजा के लिए उपयोगी वचन तत्काल कहें । स्वार्थयुक्त, प्रिय एवं अपने लिए हितकारी वचन राजा से कहें । दूसरे के लिए हितकारी वचन उचित देश-काल में कहें । धर्म एवं अर्थयुक्त वचन की बिना पूछे शिक्षा न दें । यह बहुत बड़ा साहस (त्याज्य) कर्म है । राजा के साथ कोई अहित आचरण न करें, क्योंकि ऐसा करना मूल सहित नाश करने वाला है । राजा के अनुकूल हितकारी वचन कहना चाहिए और अहित बातें एकान्त में कहनी चाहिए । उदार वाक्यों से सांत्वना दें, यदि कोई दोषापत्ति हो, तो उसकी उपेक्षा करें । राजा के प्रति अथवा दूसरों के प्रति द्वेष उत्पन्न करने वाली वार्ता कदापि नहीं करनी चाहिए । राजा के चित्त को न समझने वाला विद्वान् भी तथा राजा के भाव को समझने वाला मूर्ख भी राजा का अतिप्रिय होते हुए भी शीघ्र ही द्वेष्य अर्थात् विपरीत बन जाता है । अत्यन्त छोटा कार्य भी राजा को सूचित करके करना चाहिए । कोश-स्थान (जहाँ खजाना रखा जाता है) एवं अवरोधस्थान (अन्तःपुर) में बिना कारण नहीं जाना चाहिए और न बहुत देर वहाँ रुकना चाहिए । स्वल्प लाभ पर भी सन्तोष दिखलाएँ । राजा के सामने दूसरे के साथ बातचीत न करें । राजा के समान लीला आदि न करें । राजा को प्रसन्न करने के लिए उनसे जो प्राप्त हो, उसे धारण कर लें । राजा का अनुसरण करते हुए जहाँ हँसना चाहिए, वहाँ मुस्करा दें । राजा जब दूसरे के विषय में कह रहा हो, तब चुप्पी धारण कर लेना चाहिए और जब अपने विषय में कह रहा हो तो बधिरता धारण कर लें । धीरता, माधुर्य तथा शिष्टता से युक्त रहना चाहिए । अत्यन्त परिश्रम के द्वारा अपने को बहुत ऊँचा नहीं उठाना चाहिए, क्योंकि ऊँचाई से नीचे गिरना जितना दुःखदायी है, उतना नीचे से ऊपर उठना सुख-दायक नहीं है ।

राजसेवा में कठिनता

आसन्नसेवा नृपतेः क्रीडा शस्त्राहिपावकैः ।
कौशलेनातिमहता विनीतैः सा निरुह्यते[1] ॥ १४८ ॥
प्राप्य दुष्प्रापमैश्वर्यं बहुमानं च भूपतेः ।
यथोपभुञ्जीत चिरं तथा स्यादप्रमादवान् ॥ १४९ ॥

राजा के समीप रहकर सेवा करना शस्त्र, साँप और आग से खेलने के समान है । यह सेवा अत्यन्त विनम्र पुरुषों द्वारा अत्यन्त कुशलता से सम्पन्न होती है । राजा से दुष्प्राप्य ऐश्वर्य तथा प्रतिष्ठा को पाकर अप्रमादवान (सावधान होकर) रहें, जिससे उस ऐश्वर्य एवं प्रतिष्ठा का चिरकाल तक उपभोग किया जा सके ।

विदध्यात् परितः शय्यां रक्षामन्त्राभिमन्त्रिताम् ।

वैद्य राजा की शय्या को चारों ओर से अभिमन्त्रित कर दिया करें ।

रात्रौ सिद्धार्थकान् भूतिमक्षतैरन्वितां शुचिम् ॥ १५० ॥
रक्षाशक्तिं तथोच्छीर्षे सयवाङ्कुरयावकाम् ।
सदूर्वं पूर्णकलशं सपुष्पफलपल्लवम् ॥ १५१ ॥
उपहारं च सन्ध्यायां भुक्त्वा चान्ते निशासु च ।
एतत्स्वस्त्ययनं कर्म कर्तव्यं शुचिनाऽऽशु च ॥ १५२ ॥
आयुष्यं पौष्टिकं भूतविषकार्मणपाप्मजित् ॥ १५३ ॥

रात्रि में श्वेत सरसों (*Brassica* sp.) एवं चावल (*Oryza sativa*) से मिश्रित पवित्र भस्म को शय्या पर रखें । सिरहाने की ओर रक्षा-शक्ति (रक्षा देवी) की स्थापना करें और यवांकुर (यव *Hordeum vulgare* के अंकुर), यावक, दूर्वा (*Cynodon dactylon* Linn.), अनेक प्रकार के पुष्प, फल तथा पत्ते से युक्त जलपूर्ण कलश की स्थापना करें। संध्याकाल में भोजन करके तथा रात्रि के अन्त में उपहार (बलि) दें । इस प्रकार स्वस्त्ययन (कल्याणकारी कर्म) पवित्र होकर करना चाहिए । यह कर्म आयुर्वर्द्धक, पुष्टिकारक एवं भूतबाधा, विषविकार, कार्मण (वशीकरण कर्म) तथा पाप्म को नष्ट करने वाला है ।

उपसंहार

सङ्क्षेप एष विषपालनसाधनाय
प्रोक्तस्तु विस्तरविधिः पुनरुत्तरेषु ।
आलोक्य सम्यगखिलं मतिपूर्वकारी
युञ्जीत तं परिविकल्प्य विकारचिह्नम् ॥ १५४ ॥

इस प्रकार इस अध्याय में विष से उत्पन्न रोगों तथा उनकी चिकित्सा संक्षेप में कह दी गयी है । विस्तार विधि से पुनः उत्तरस्थान में कही जायेगी । इसे बुद्धि से भली प्रकार विचार कर रोग के लक्षण की परीक्षा करके उसकी चिकित्सा करें ।

---

१. 'निरुध्यते' इति पाठान्तरम् ।

इति विषगररक्षोरक्षणायोपदेशं
भजति नरपतिर्यो नित्यमेवाप्रमत्तः ।
निजपुररिपुवृन्दैरप्रधृष्यो महात्मा
जनयति स जनानां क्षेमयोगौ चिराय ॥ १५५ ॥

इत्यन्नरक्षाविधिर्नामाष्टमोऽध्याय ॥ ८ ॥

इस प्रकार जो राजा विषरक्षण के लिए, गररक्षण के लिए एवं भूतरक्षण के लिए अप्रमत्त (सावधान) होकर उपदेशों के अनुसार आहार-विहार करता है, वह राजा अपने नगर के रिपु-समूह (शत्रु-वृन्द) द्वारा तिरस्कृत (पराजित) नहीं होता और महात्मा बनकर चिरकाल तक प्रजा के योगक्षेम को सम्पन्न करता है ।

इस प्रकार 'अन्नरक्षाविधि' नामक अष्टम अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

राजकीय प्राणाचार्य के गुण—कुलीन, स्निग्ध, आप्त, आस्तिक, आर्य, आर्यपरिग्रह, दक्ष, मैत्रीयुक्त, राजकार्य में निश्चल, शुचि, नम्र, अव्यसनी, अहंकार रहित, वाक्य के अर्थ को समझने वाला, अष्टांग आयुर्वेद में निष्णात एवं औषधियों से युक्त ।

राजकीय भोजन की परीक्षण-विधि—अन्न की भलीभाँति परीक्षा करके विशुद्ध अन्न को सर्वप्रथम अग्नि में डाल कर सविष एवं निर्विष के ज्ञानार्थ मयूर को खिलाकर जल आदि से अभिमन्त्रित करके राजा को भोजन खिलावें ।

विषदाता के लक्षण—विष देने वाला अपने अपराध से घबराया हुआ भयभीत होता है । वह घबराया हुआ चारों ओर देखता है तथा जिस द्रव्य में विष प्रयुक्त करता है, उसे विशेष रूप से देखता है । वह खम्भा एवं दीवाल आदि के पीछे छिपना चाहता है । चलने में लड़खड़ाता, लज्जावान्, असम्बद्ध बोलना, काम-धन्धा में शीघ्रता तथा विपरीत आचरण करता है ।

विष-मिश्रित आहार की परीक्षा—विष-मिश्रित आहार खाने से कौए की आवाज क्षीण हो जाती है, मक्खियाँ विष युक्त आहार पर नहीं बैठतीं अथवा बैठने पर मर जाती हैं । ऐसे अन्न को देखकर चकोर की आँखें रंग-रहित हो जाती हैं, कोयल का स्वर विकृत हो जाता है, मुर्गा ऊँचे स्वर में बोलने लगता है, तोता चिल्लाने लगता है, सारिका वमन करती है, नेवले के रोएँ खड़े हो जाते हैं, बन्दर मलत्याग करता है, हरिण रोने लगता है तथा मोर के देखने से विष-शक्ति मन्द हो जाती है ।

भेषजगृह—भेषजागार में ढक्कन युक्त घड़ा, मूषा (कुठाली) तथा फलक (लकड़ी की सन्दूक) में औषधियाँ होनी चाहिए । यह आवास से पूर्व या उत्तर दिशा में गुप्त (सुरक्षित) होना चाहिए ।

महानस (रसोइया) के गुण—कार्य में कुशल, दक्ष, अप्रमादी, केश तथा नख कटे हुए एवं वंश-परम्परा से उसी घर में कार्य करने वाले, क्रोध एवं लोभ रहित ।

महानसाध्यक्ष—ब्राह्मण, कुलीन, अच्छी प्रकार परीक्षित, भोज्य वस्तुओं को विभक्त करने वाला, पवित्र एवं वैद्याधीन ।

विषदूषित भूमि—ऐसी भूमि कहीं जली हुई और तिनके एवं गुल्म आदि मुरझाए हुए होते हैं । वहाँ कीट-सर्प आदि प्राणि मर जाते हैं ।

विषदूषित जल—यह विकृत रस वाला, थोड़ा सा उष्ण, अनेक प्रकार की रेखाओं से भरा हुआ, झागदार, गुरु, विच्छिन्न (असमान) और उस पर पक्षी नहीं बैठते हैं । मछली आदि व्याकुल रहती हैं या मर जाती हैं । ऐसे जल के स्पर्श से खुजली होती है ।

विषदूषित वायु—ऐसी वायु शीत ऋतु में उष्ण तथा ग्रीष्म ऋतु में अति शीतल होती है । इससे श्रम, मूर्च्छा तथा छर्दि उत्पन्न होते हैं ।

विष-कन्या—जन्म से ही विष का संयोग करा कर कन्या को विषमयी बना दिया जाता है । ऐसी कन्या के हाथ में पुष्प मुरझा जाता है । इनका प्रयोग शत्रुओं को मारने के लिए प्राचीन काल में किया जाता था ।

नवमोऽध्यायः

अथातो विरुद्धान्नविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'विरुद्धान्नविज्ञानीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

विरुद्ध अन्न गर-विष के सदृश होता है, इसलिए विरुद्ध अन्न कौन-कौन हैं, उनके सम्बन्ध में इस अध्याय में बतलाया जायेगा। विरुद्ध अन्न (वैरोधिक आहार Dietetic Incompatibilities) की परिभाषा महर्षि आत्रेय ने निम्न ढंग से बतलायी है—

'तमुवाच भगवानात्रेयः—देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते, परस्परगुणविरुद्धानि कानिचित्, कानिचित् संयोगात्, संस्कारादपराणि देशकालमात्रादिभिश्चापराणि, तथा स्वभावादपराणि। (च० सू० २६।८१)

अर्थात् देह की धातुओं के विपरीत गुण वाले द्रव्य (औषध एवं आहार) शरीर की धातुओं एवं दोषों के विरुद्ध होते हैं। इनमें कुछ द्रव्य परस्पर गुणविरुद्ध, कुछ द्रव्य संयोगविरुद्ध, कुछ द्रव्य संस्कारविरुद्ध, कुछ द्रव्य देश-काल-मात्रा आदि से विरुद्ध और कुछ द्रव्य स्वभाव से विरुद्ध होते हैं। जैसे परस्पर गुणविरुद्ध—मछली और दुग्ध का प्रयोग, संयोगविरुद्ध—गुड़ या मधु के साथ मूली का प्रयोग, संस्कारविरुद्ध—सर्षप के तैल से भृष्ट कपोत के मांस का प्रयोग, देशविरुद्ध—आनूपदेश में स्निग्ध, शीत, औषध अन्न का प्रयोग, कालविरुद्ध—शीतकाल में शीत एवं रूक्ष द्रव्यों का प्रयोग, मात्राविरुद्ध—सममात्रा में मधु एवं घृत का प्रयोग तथा स्वभावविरुद्ध—विष का प्रयोग—ये वैरोधिक आहार है।

विरोधी मांस

ग्राम्यानूपौदकपिशितानि मधुगुडतिलपयोमाषमूलकबिसैर्विरूढधान्यैश्च नैकध्यमद्यात् ॥ ३ ॥

ग्राम्य, आनूपदेशीय और औदक (जलज) प्राणियों के मांस को मधु, गुड़, तिल, (*Sesamum indicum* Linn.), दूध, माष (उड़द *Phaseolus radiatus*), मूली (*Raphanus sativus*), बिस (कमल *Nelumbo nucifera* की मूल) तथा विरूढ (अंकुरित) धान्यों के साथ एक समय में नहीं खाना चाहिए।

दूध और मछली

विशेषतः पयसा मत्स्यान्। उभयं ह्येतन्मधुररसविपाकत्वादत्यभिष्यन्दि शीतोष्णवीर्यत्वात्परस्परं विरुद्धम् ॥ ४ ॥

विशेष रूप से दूध के साथ मछली नहीं खाना चाहिए, क्योंकि दोनों रस और विपाक में मधुर होने से अत्यन्त अभिष्यन्दि होते हैं। दूध शीतवीर्य तथा मछली उष्णवीर्य होने से दोनों परस्पर विरोधी हैं।

चिलचिम मछली का मांस

तेष्वपि विशेषेण चिलिचिमः। स पुनः शकली लोहितनयनः सर्वतो लोहितराजिर्लोहितप्रभाकरः प्रायो भूमौ विचरति। सोऽत्यभिष्यन्दितमत्वात्सुतरां व्याधीनुपजनयत्यामविषं च ॥ ५ ॥

इन मछलियों में विशेष रूप से चिलिचिम मछली का मांस दूध के साथ नहीं खाना चाहिए। चिलिचिम मछली शकली (शकलों में विभक्त), लाल नेत्र, संपूर्ण शरीर पर लालधारी, लाल सूर्य के समान एवं प्रायः जल के निकट भूमि में विचरती हैं। यह अत्यधिक अभिष्यन्दी होने से निरन्तर व्याधियों को तथा आमविष को उत्पन्न करती है।

अम्ल-रस और दुग्ध

सर्वं चाम्लं द्रवमद्रवं[1] पयसैकध्यं विरुद्धं तत उत्तरं वा विरुद्धं फलं च। कङ्गुवरक-[2]मकुष्ठकुलत्थमाषनिष्पावाश्च ॥ ६ ॥

सभी प्रकार के मद्य तथा धान्याम्ल आदि अम्लरस वाले द्रव पदार्थ तथा इमली (*Tarmindus indica* Linn.) आदि अद्रव (ठोस) द्रव्य दूध के साथ खाने से अथवा दुग्धपान के पश्चात् खाने से विरुद्ध होते हैं। अन्य रस वाले फल भी दूध के साथ लेने से अथवा दुग्धपान के पश्चात् लेने से विरुद्ध होते हैं। कंगु (कंगुनी *Panicum miliaceum*), वरक (धान्य विशेष), मोठ (*Phaseolus aconitifolius*), कुल्थी (*Dolichos biflorus* Linn.), माष (*Phaseolus radiatus*) तथा निष्पाव (सेम *Dalichos lablab*) नामक धान्य भी दूध के साथ विरोधी है।

मूली आदि द्रव्य और दूध

न मूलकादि हरितकं भक्षयित्वा पयः सेव्यं कुष्ठाबाधभयात् ॥ ७ ॥

मूली (*Raphanus sativus*) आदि हरे द्रव्य खाकर दूध नहीं पीना चाहिए। इससे कुष्ठरोग होने का भय रहता है।

अन्यशाक

पौष्करं रोहिणीकं जातुकं वा शाकं सह मधुपयोभ्यां नाभ्यवहरेत्। ताभ्यां च सह कपोतान् सर्षपतैलभृष्टान् ॥ ८ ॥

पौष्कर (कमल *Nelumbo nucifera* एवं उसके मूल) का शाक, रोहिणी (*Soymida febrifuge*) का शाक तथा जातुक (*Ferula nathrex*) का शाक मधु एवं दूध के साथ नहीं खाना चाहिए। सरसों (*Brassica campestris*) के तेल में तला कबूतर (*Columba livia*) का मांस मधु एवं दूध के साथ नहीं खाना चाहिए।

तथा सर्षपतैलभृष्टानां [3]मत्स्यवराहाणां मांसानि। बदराणि श्वाविट्वराहमांसानि चैकध्यम्। पित्तेनाममांसानि। दध्ना कुक्कुटं पृषतं च। कुसुम्भशाकेनौरभ्रम्। सौवीरकेण तिलशष्कुलीः। क्षीरेण लवणम्। मूलकेन माषसूपम्। नवनीतेन मूलशाकम्[4]। उपोदकां मैरेयमार्द्रीकाभ्याम्। पीलूनि करीरैः। बिसैर्विरूढकानि। दध्ना माषसूपेन गुडेन मधुना घृतेन वा लकुचफलम्। दध्ना तक्रेण तालफलेन वा कदलीफलम्। पिप्पलीमरिचाभ्यां मधुना गुडेन वा काकमाचीम् ॥ ९ ॥

सरसों (*Brassica campestris*) के तेल में भूनी मछली और सुअर (*Sus cristasus*) का मांस नहीं खाना चाहिए। बेर (*Zizyphus jujuba*) के फल को श्वावित (साही *Hystrix*

---

१. इन्दुकृत टीका में यह पाठ नहीं है। २. 'वेल्लकुलत्थ' इति पाठान्तरम्। ३. 'मत्स्यवदराणां' इति पाठान्तरम्। ४. 'शाकम्' इति पाठान्तरम्।

indica) तथा सुअर (*Sus cristasus*) के मांस के साथ नहीं खाना चाहिए। अपक्व मांस को पित्त के साथ नहीं खाना चाहिए। दही के साथ मुर्गा (*Gallus gallus*) और हरिण (*Cerbus axis*) का मांस, कुसुम्भ (*Carthamus tinctorius* Linn.) शाक के साथ और भ्र (मेढ़ा *Ovis vignei*) का मांस, सौवीरक (काँजी) के साथ तिल (*Sesamum indicum* Linn.) के तेल में बनी पूड़ी, दूध के साथ लवण, मूली (*Raphanus sativus*) के साथ उड़द (*Phaseolus radiatus*) की दाल, मक्खन के साथ मूली (*Raphanus sativus.*) का शाक, मैरेय (मद्य) तथा द्राक्षासव के साथ पोई (*Nigella rubra*) का शाक, करीर (*Capparis decidua*) के फल एवं पीलु (*Salvadora indica*) के फल एक साथ, कमलकंद (बिस *Nelumbo nucifera*) के साथ अंकुरित धान्य, लकुच (बड़हल का फल *Artocarpus lakoocha* Roxb.) दही के साथ, उड़द (*Phaseolus radiatus*) के साथ, गुड़ के साथ, मधु के साथ अथवा घृत के साथ; कदली (*Musa paradisiaca*) फल के साथ दही, तक्र अथवा तालफल (ताड़ *Borasus flabellifer*) को तथा पिप्पली (*Piper longum*) और मरिच (*Piper nigrum* Linn) के साथ, मधु के साथ, गुड़ के साथ अथवा मकोय (*Solanum nigrum* Linn.) नहीं खाना चाहिए।

तामेव मत्स्यपचने शृङ्गबेरपचने वा भाजने [1]सिद्धामन्यत्र वा सिद्धां रात्रिमुषिताम् ॥ १० ॥

जिस पात्र में मछली या शुंठी (*Zingiber officinale*) पकाया गया हो, उसमें मकोय (*Solanum nigrum*) को नहीं खाना चाहिए। अथवा किसी अन्य पात्र में भी पकाया गया मकोय (*Solanum nigrum*) का शाक एक रात्रि का रखा हुआ अर्थात् एक दिन का बासी नहीं खाना चाहिए।

कांस्यभाजने दशरात्रोषितं सर्पिः ॥ ११ ॥

काँसा के पात्र में दस रात्रि तक रखा हुआ घृत नहीं खाना चाहिए।

मद्यदधिमधुभल्लातकेषु चोष्णम् ॥ १२ ॥

मद्य, दधि, मधु और भल्लातक (भिलावा *Semecarpus anacardium*) में सभी उष्ण द्रव्य विरुद्ध हैं।

तक्रसिद्धः काम्पिल्लको विरुद्धः। अङ्गारशूल्यो भासः। सुराकृशरापायसाश्चैकध्यं विरुद्धाः ॥ १३ ॥

तक्र के साथ पकाया गया काम्पिल्लक (*Mallotus philippinensis*) विरुद्ध है। अग्नि के अंगारों पर भूना गया भास पक्षी (*Neophran perenopterus*) का मांस विरुद्ध है। सुरा, कृशरा (खिचड़ी) और खीर परस्पर एक दूसरे के साथ नहीं खाना चाहिए।

मधुसर्पिर्वसातैलोदकानि समधृतानि द्विशस्त्रिशः समस्तानि वा ॥ १४ ॥

मधु एवं घृत इन दोनों को; मधु, घृत एवं वसा इन तीनों को अथवा मधु, घृत, तैल, वसा एवं जल को समान मात्रा में नहीं खाना चाहिए।

मधुघृते भिन्नांशे वा दिव्योदकानुपाने। मधुपुष्करबीजम्। पद्मोत्तरिकाशाकं शार्करो मैरेयो मधु च सहोपयुक्तं [2]सर्वं विरुद्धं वातं चातिकोपयति ॥ १५ ॥

---

१. 'सिद्धामन्यत्र नाभ्यवहरेत्। नाभ्यां वा' इति पाठान्तरम्।

२. इन्दुकृत टीका-ग्रन्थ में यह पद नहीं है।

मधु और घृत असमान मात्रा में खाकर वर्षा का जल नहीं पीना चाहिए। मधु और पुष्कर बीज (*Inula racemosa*) को एक साथ नहीं खाना चाहिए। पद्मोत्तरिका (कुसुम्भ *Carthamus tinctorius* Linn.) का शाक, शर्करा से बनाया हुआ आसव (खर्जूरासव), मैरेय तथा मधु इन सबका एक साथ सेवन करना विरुद्ध है। ये वात को अत्यन्त कुपित कर देते हैं।

हारिद्रकः सर्षपतैलभृष्टो विरुद्धः पित्तं चातिकोपयति ॥ १६ ॥

सरसों (*Brassica campestris*) के तैल में भुना हुआ हारिद्रक (भूप्रसव कन्द का शाक अथवा हरियल नामक पक्षी *Crocopus phoenicopterus* का मांस) खाने में विरुद्ध है। यह पित्त को अत्यन्त कुपित करता है।

पायसो मन्थानुपानो विरुद्धः श्लेष्माणं चातिकोपयति। उपोदका तिलकल्कसिद्धा हेतुरतिसारस्य। बलाका वारुण्या कुल्माषैश्च विरुद्धा। सैव वराहवसया परिभृष्टा सद्यो व्यापादति ॥ १७ ॥

खीर खाकर मंथ (सत्तू का पानी में बनाया गया घोल) पीना विरुद्ध होता है। इससे कफ अत्यधिक कुपित होता है। तिल (*Sesamum indicum* Linn.) के कल्क के साथ बनाया गया उपोदिका (पोई *Nigella rubra* Linn.) का शाक अतिसार को पैदा करता है। बलाका पक्षी (बगुला *Bubulcus ibis*) का मांस, वारुणी (सुरा) तथा कुल्माष (उबाला हुआ धान्य) के साथ विरुद्ध होता है। बलाका (*Bubulcus ibis*) का मांस सुअर की वसा में भूनकर सेवन करना तत्काल मारक होता है।

गोधालावतित्तिरिमयूरकपिञ्जलाश्चैरण्डदार्वग्निसिद्धा ऐरण्डतैलसम्मूर्च्छिताः ॥

गोधा (गोह *Varanus monitor*), लावा (*Turnix* sp.), तीतर (*Francolinus francolinus*) एवं मयूर (*Pavo cristasus*), कपिंजल (*Francolinus* sp.) नामक पक्षियों के मांस को एरण्ड (*Ricinus communis*) की लकड़ी से पकाकर अथवा एरण्ड (*Ricinus communis*) के तेल में भूनकर सेवन करना मारक होता है।

हारीतमांसं हारिद्रशूलकावसक्तं हरिद्राग्निप्लुष्टं च। तदेव भस्मपांशुपरिध्वस्तं सक्षौद्रं च ॥ १९ ॥

हारीत पक्षी (*Crocopus phoenicopterus*) का मांस हरिद्रावृक्ष (*Curcuma longa* Linn.) की लकड़ी की शलाका में लपेट कर हरिद्रा (*Curcuma longa* Linn.) की लकड़ी की अग्नि में भूनकर सेवन करना सद्यः मारक होता है। हारीत पक्षी (*Crocopus phoenicopterus*) का मांस राख और धूल में मिला होने पर मधु के साथ सेवन करना मारक होता है।

तथा मत्स्यनिस्तलनसिद्धाः[1] पिप्पल्यः ॥ २० ॥

मछली जिस स्नेह (तैल आदि) में तली गयी हो, उसी स्नेह में तली गयी पिप्पली (*Piper longum* Linn.) विरुद्ध (मारक) होती है।

शीतोष्णं नवपुराणमामपक्वं च नैकध्यमद्यात् ॥ २१ ॥

सामान्य रूप से शीतवीर्य एवं उष्णवीर्य वाले द्रव्य अथवा शीतस्पर्श एवं उष्णस्पर्श वाले पदार्थों को एक साथ नहीं खाना चाहिए तथा नया और पुराना धान्य एक साथ नहीं खाना चाहिए। आम (कच्चा) तथा पक्व (पका हुआ) पदार्थ एक साथ नहीं खाना चाहिए।

१. 'स्नेहसिद्धाः' इति पाठान्तरम्।

सलिलाभ्यवगाहः सहसोष्णाभितप्तस्य त्वग्दृष्ट्योरुपघाताय तृष्णाऽभिवृद्धये च। तथैव च पयःपानं रक्तपित्ताय ॥ २२ ॥

आतप (धूप) एवं अग्नि आदि से तप्त प्राणी को सहसा (तत्काल) जल में गोता लगाने से त्वक् एवं दृष्टि की हानि होती है तथा तृष्णा की अत्यन्त वृद्धि होती है। इसी प्रकार गर्मी से तप्त होकर सहसा दुग्धपान रक्तपित्तकारक होता है।

शरीरेणायस्तस्य सहसाऽभ्यवहारश्छर्दिषे गुल्माय वा। वाचा त्वायस्तस्य स्वरसादाय ॥ २३ ॥

शरीर में थकान उत्पन्न होने पर तत्काल भोजन करना वमन अथवा गुल्म रोग को पैदा करता है। बोलने से उत्पन्न श्रम में तत्काल भोजन करना स्वरभेद नामक रोग को पैदा करता है।

उपसंहार

इत्यन्नपानद्रव्यविरोधैकदेशो बाहुल्येनोपयोगी कथितः। भेषजद्रव्याणां तु यथोपदेशमेव प्रयोगो न्याय्यतरः। तद्विरोधः पुनरतिप्रसङ्गभयान्नोक्तः। न च तद्विज्ञानमेकान्तभद्रकम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार बहुत उपयोगी अन्नपान द्रव्यों में विरुद्ध औषध द्रव्यों का शास्त्रानुसार प्रयोग करना न्यायपरक है। औषध-द्रव्यों का विरोध अत्यधिक होने के भय से यहाँ नहीं कहा गया है। भेषजद्रव्यविरोधी एकांकी ज्ञान कल्याणकारक नहीं है।

विरुद्ध तथा सामान्य के लक्षण

अपि च—

उत्क्लेश्यदोषान्न हरेद् द्रव्यं यत्तत्समासतः।
विरुद्धं तद्धि धातूनां प्रत्यनीकतया स्थितम् ॥ २५ ॥

और भी—संक्षेप में जो द्रव्य दोषों को उत्क्लिष्ट (बाहर निकलने की प्रवृत्ति) करता है, किन्तु दोषों को शरीर से बाहर नहीं निकालता, वह विरुद्ध होता है, क्योंकि वह द्रव्य रसादि धातुओं के प्रत्यनीक (प्रतिपक्षीय–प्रतिकूल) होने पर भी शरीर में स्थित होता है।

भगवान् पुनर्वसु ने भी दोषों को उत्क्लिष्ट करने वाले परन्तु बाहर न निकलने वाले आहार को अहित का हेतु माना है। यथा—

'यत किञ्चिद्दोषमुत्क्लेश्य न निर्हरति कायतः।
आहारजातं तत्सर्वमहितायोपपद्यते' ॥ (च० सू० २६।९०)

विरोध का कारण

बलिनां मिथोगुणानां विषमतया समतयाऽप्युभयथापि।
संस्कारादिवशादपि[1] भवति निसर्गादपि विरोधः ॥ २६ ॥

बलवान् द्रव्यों में परस्पर गुणों की विषमता (असदृश्यता) से अथवा समता (सदृश्यता) अथवा गुणों की समता एवं विषमता दोनों से अथवा संस्कार, संयोग, देश, काल आदि से अथवा निसर्ग (स्वभाव) से विरोध होता है।

---

१. 'वशेन च' इति पाठान्तरम्।

उदाहरण

क्षीरं कुलत्थैः पनसेन मत्स्यैस्तप्तं दधि क्षौद्रघृते समांशे ।
वार्यूषरे रात्रिषु सक्तवश्च तोयान्तरास्ते यवकास्तथैव ॥ २७ ॥

दूध, कुलथी (*Dolicos biflorus*) नामक धान्य के साथ विरुद्ध है, क्योंकि दूध रस एवं विपाक में मधुर तथा वीर्य में शीत होता है, जबकि कुलथी (*Dolichos biflorus*) विपाक में अम्ल और वीर्य में उष्ण होती है। यह असदृश्य गुणों का उदाहरण है। दूध, कटहल (*Artocarpus heterophyllus*) के साथ विरुद्ध है, जबकि दूध एवं कटहल (*Artocarpus heterophyllus*) रस तथा विपाक में मधुर और शीतवीर्य हैं। ये सदृश होने पर विरुद्ध हैं। दूध मछली के साथ विरुद्ध है। दोनों रस एवं विपाक में मधुर किन्तु दूध वीर्य में शीत और मछली वीर्य में उष्ण होती है। यह असदृश एवं सदृश दोनों गुणों के कारण विरुद्ध है। तप्त दही विरुद्ध होता है। यह संस्कार-विरुद्ध है।

समान मात्रा में मधु एवं घृत विरुद्ध हैं, (विषम मात्रा में विरुद्ध नहीं है)। यह मात्रा विरुद्ध है। ऊसर भूमि में स्थित जल देशविरुद्ध है। रात्रि में सत्तू खाना कालविरुद्ध है। सत्तू खाने के पहले एवं पीछे जल पीना संयोगविरुद्ध है। केवल यवक (धान्य विशेष) का सेवन स्वभावविरुद्ध है।

कुशाग्रीयधियामेतदुदाहरणमात्रकम् ।
उपनीतमलं विद्वान् सर्वत्र क्रमते यतः ॥ २८ ॥

तीक्ष्ण बुद्धि वालों के लिए यह सब उदाहरण मात्र है, क्योंकि विद्वान् (शास्त्रज्ञ) अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से क्रमशः सब कुछ जान जाता है।

विरुद्धाहार से उत्पन्न होने वाले रोग

विस्फोटशोफमदविद्रधिगुल्मयक्ष्म-
तेजोबलस्मृतिमतीन्द्रियचित्तनाशान् ।
कुर्याद्विरुद्धमशनं ज्वरमस्रपित्त-
मष्टौ गदांश्च महतो विषवच्च मृत्युम् ॥ २९ ॥

विरुद्धाहार विस्फोट, शोफ, मद, विद्रधि, गुल्म, यक्ष्मा, तेज (कान्ति) का क्षय, दौर्बल्य, स्मृतिक्षय, मति (बुद्धि) का क्षय, श्रोत्र आदि इन्द्रियों का नाश, चित्तनाश, ज्वर, रक्तपित्त, आठ महागद (वातव्याधि, अश्मरी, कुष्ठ, प्रमेह, उदररोग, अर्श, भगन्दर एवं ग्रहणी) तथा विष की तरह मृत्यु करता है।

विरुद्धाहारजनित रोगों की चिकित्सा

तेष्वाशु कुर्यात् संशुद्धिं शमं वा तद्विरोधिभिः ।
द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसंस्कृतिम् ॥ ३० ॥

विरुद्ध भोजन से उत्पन्न रोगों में वमन-विरेचन आदि से शरीर की संशुद्धि करनी चाहिए अथवा विरुद्ध भोजन के विपरीत गुण वाले द्रव्यों से रोगों का शमन करना चाहिए अथवा पहले से ही विरुद्ध आहार के विपरीत गुण वाले द्रव्यों से शरीर का अभिसंस्कार (निरन्तर प्रयोग) करना चाहिए, जिससे भविष्य में विरुद्ध आहार व्याधि को न उत्पन्न कर सके।

विरुद्धाहार का अहानिकर प्रभाव

व्यायामस्निग्धदीप्ताग्निवयस्थबलशालिनाम् ।
विरोध्यपि न पीडायै सात्म्यमल्पं च भोजनम् ॥ ३१ ॥

व्यायाम करने वाले, घी, दूध आदि स्निग्ध द्रव्यों का सेवन करने वाले, प्रदीप्त पाचकाग्नि वाले, युवा व्यक्ति तथा बलवान् पुरुषों को विरुद्ध आहार पीड़ित नहीं करता है और सात्म्य बना विरुद्धाहार तथा अल्प मात्रा में सेवन किया गया विरुद्ध आहार हानिकारक नहीं होता है।

दोषादिवैपरीत्येन हरन्ती रोगिणो रुजम्[1] ।
ऐकध्यं दधिदुग्धादियोजना न विरुध्यते ॥ ३२ ॥
योगादिभेदाद्यद्यद्वा पथ्यानामप्यपथ्यता ।
तद्भेदान्तरतस्तद्वद्विरोधोऽपि निवर्तते ॥ ३३ ॥

दोषादि (दोष, दूष्य, बल, काल) आदि के विपरीत गुण होने के कारण एक साथ दधि-दुग्ध की योजना रोगी की व्यथा को शान्त करती हुई परस्पर विरुद्ध नहीं होती है। योग आदि के भेद से जो-जो पथ्य वस्तुओं में अपथ्यता पैदा होती है, उनके दूसरे भेद के कारण उनका विरोध भी नष्ट हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संयोग विशेष से जिस प्रकार पथ्य द्रव्य अपथ्य होते देखे जाते हैं, उसी प्रकार विरुद्ध द्रव्य भी अन्य संयोग से अपने विरोध को छोड़ देते हैं। इसलिए अपथ्य वस्तु प्रिय होने से अभ्यासवश सात्म्य हो जाता है। लेकिन उसका भविष्य में अहितकर होना अवश्यम्भावी है, इसलिए उसका त्याग करना चाहिए और पथ्य वस्तु भले ही असात्म्य हो, उसका सेवन करना चाहिए।

पादांशेन त्यजेत्सात्म्यमहितं हितमाचरेत् ।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा ॥ ३४ ॥
क्रमेणानेन सन्त्यक्ता दोषाः संवर्धिता गुणाः ।
प्रभवन्ति न पीडायैः प्राप्नुवन्ति स्थिरात्मताम् ॥ ३५ ॥

यदि कोई अहित पदार्थ सात्म्य हो गया हो, तो उसे चतुर्थांश क्रम से क्रमशः छोड़ देना चाहिए और उसके स्थान पर चतुर्थांश क्रम से हितकारी (पथ्य) अन्न का सेवन एक दिन, दो दिन तथा तीन दिन के अन्तर से ग्रहण करें। इस क्रम द्वारा त्यक्त दोष (दुष्टि उत्पन्न करने वाले अहित द्रव्य) किसी पीड़ा (विकार) को नहीं उत्पन्न करते और हित पदार्थों के क्रमशः सेवन से उत्पन्न हुए गुण स्थिर बने रहते हैं।

चक्रपाणि के मतानुसार अहित पदार्थ त्यागने का नियम

एकान्तर (प्रथम दिन)	द्व्यन्तर (तीसरे-चौथे दिन)	त्र्यन्तर (छठे दिन)	चतुरन्तर (सातवें दिन)
$\frac{3}{4}$ भाग अहित का सेवन $\frac{1}{4}$ हित का सेवन	$\frac{1}{2}$ भाग अहित का सेवन $\frac{1}{2}$ भाग हित का सेवन	$\frac{1}{4}$ भाग अहित का सेवन $\frac{3}{4}$ भाग हित का सेवन	४ भाग हित का सेवन

१. 'हरते रोगिणां रुजम्' इति पाठान्तरम्।

सात्म्य, पथ्य एवं हित आहार एक समान अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं, परन्तु वे परस्पर सूक्ष्म भिन्नताओं से युक्त भी हैं।

भगवान् पुनर्वसु ने पथ्य आहार के बारे में कहा है कि पथ्य वह आहार-विहार है जो पथ अर्थात् जीवन यात्रा के अनुकूल एवं मन को प्रिय हो तथा तद्विपरीत आहार-विहारादि अपथ्य नाम से जाना जाता हो। यथा—

'पथ्यं पथोऽनपेतं यच्चोक्तं मनसः प्रियम्।
यच्चाप्रियमपथ्यं च नियतं तन्न लक्षयेत्॥' (च० सू० २५।४५)

पुनः भगवान् पुनर्वसु ने हिताहार का लक्षण बतलाते हुए कहा है—हे अग्निवेश! जो आहार साम्यावस्था में वर्तमान शरीर की धातुओं को प्राकृतिक (सम) अवस्था में बनाये रखता है और विषमावस्था में वर्तमान धातुओं को साम्यावस्था में लाता है, वह हिताहार कहलाता है और तद्विपरीत अहित आहार जाना जाता है। यथा—

'यदाहारजामग्निवेश! समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोतीत्येतद्धितं विद्धि, विपरीतम्·····।' (च० सू० २५।३३)

भगवान् पुनर्वसु के ही अनुसार सात्म्य (आहार-विहार) वह होता है जो आत्मानुकूल हो और किसी प्रकार की हानि न करें। उपशय शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा—

'सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते, सात्म्याऽर्थो ह्युपशयार्थः।' (च० वि० १।२०)

तीन उपस्तम्भ

त्रितयं चेदमुपष्टम्भनमाहारः स्वप्नोऽब्रह्मचर्यं च। एभिर्युक्तियुक्तैरुपष्टब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुषः संस्कारः॥ ३६॥

शरीर के तीन उपस्तम्भ (धारक) हैं—१. आहार, २. स्वप्न एवं ३. अब्रह्मचर्य। युक्तिपूर्वक इन तीन उपस्तम्भों से धारण किया हुआ यह शरीर जब तक आयु का संस्कार है, तब तक बल, वर्ण तथा उपचय (पुष्टि) से युक्त रहता है।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने आहार, स्वप्न (निद्रा) और ब्रह्मचर्य नामक तीन उपस्तम्भों का उल्लेख किया है। यथा—त्रय उपस्तम्भाः—'आहारः स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति'। (च० सू० ११।३२)

आचार्य वाग्भट ने ब्रह्मचर्य के स्थान पर अब्रह्मचर्य को स्वीकार किया है। परन्तु दोनों आचार्यों ने इनके युक्तिपूर्वक (सम्यक् रूप में) सेवन का विधान किया है। वस्तुतः जहाँ ब्रह्मचर्य की महत्ता—'ब्रह्मचर्यमायुष्कराणां श्रेष्ठतमम्' और 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नतः' आदि वाक्यों से शास्त्रों में बतलायी गयी है, वहीं गृहस्थाश्रम में रहने की और युक्तिपूर्वक सहवास के द्वारा संतानोत्पत्ति को भी जीवन का आवश्यक अंग माना गया है। इसे ही पितृ-ऋण की मुक्ति का मार्ग बतलाया गया है। यही अब्रह्मचर्य है। अतः ब्रह्मचर्य और अब्रह्मचर्य शब्द एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों का सम्यक् परिपालन जीवन का एक आवश्यक अंग है। अतः त्रयस्तम्भ के अन्तर्गत दोनों में से किसी भी एक का उल्लेख करना उचित ही प्रतीत होता है।

आहार

तत्राहार उक्तो वक्ष्यते च॥ ३७॥

इनमें आहार का वर्णन पिछले अध्यायों में किया गया है। आगे के अध्यायों में इसका वर्णन किया जायेगा।

षड्रसों के अनुसार आहार का विवेचन

क्र. सं.	रस	पाञ्चभौतिक संगठन	गुण	कर्म	दोषप्रभाव	आहार द्रव्यों के उदाहरण
१.	मधुर	पृथ्वी + जल	स्निग्ध, शीत, गुरु	बृंहण, जीवन, आयुष्य, बल्य	कफप्रकोपक, वात-पित्तशामक	क्षीर, शर्करा, ईक्षु, आलू, गेहूँ आदि
२.	अम्ल	पृथ्वी + अग्नि	स्निग्ध, उष्ण, गुरु	दीपन, पाचन, रोचन, अवृष्य, अनुलोमन	कफ-पित्तप्रकोपक, वातशामक	अम्लिका, आमलक, करौंदा, नीबू आदि
३.	लवण	जल + अग्नि	स्निग्ध, उष्ण, गुरु	दीपन, पाचन, छेदन, भेदन क्लेदन, शुक्रघ्न	कफ-पित्तप्रकोपक, वातशामक	क्षार, सैन्धव, विड् लवण, कृष्णलवण आदि
४.	कटु	आकाश + वायु	लघु, रूक्ष, उष्ण	दीपन, पाचन, लेखन, ग्राही, मुखशोधन	वात-पित्तप्रकोपक, कफशामक	सोंठ, मरिच, पिप्पली, हिंगु दालचीनी आदि
५.	तिक्त	अग्नि + वायु	लघु, रूक्ष, शीत	दीपन, पाचन, रोचन, विषघ्न, ज्वरघ्न	वातप्रकोपक, कफ-पित्तशामक	गिलोय, परवल, नीम, चिरायता आदि
६.	कषाय	पृथ्वी + वायु	रूक्ष, लघु, शीत	शोषण, रोपण, अवृष्य, स्तम्भन सन्धानीय	वातप्रकोपक, कफ-पित्तशामक	खदिर, जम्बु, बिल्व, हरीतकी आदि

आयुर्वेद में समय पर, सात्म्य, पवित्र, हितकारी, स्निग्ध, ताजा, लघु, प्रसन्न मन से षड्रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय) युक्त, न बहुत शीघ्रता के साथ और न बहुत देर से भोजन करने का निर्देश दिया गया है—

'काले सात्म्यं शुचिहितं स्निग्धोष्णं लघु तन्मनाः ।
षड्रसं मधुरं प्रायः नातिद्रुतविलम्बितम्' ॥ (अ० ह० सू० । ८)

आहार की जीवन में आवश्यकता एवं उपादेयता का वर्णन करते हुए आचार्यों ने कहा है—

'प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति ।
वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम् ।
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्' ॥ (च० सू० २७।३४९)
'आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद् देहधारकः ।
आयुस्तेजः समुत्साहस्मृत्योजोऽग्निविवर्द्धनः' ॥ (सु० चि० २४।६८)
'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' । (छान्दोग्य उपनिषद्)

आहार पाञ्चभौतिक, चतुर्विधि (लेह्य, पेय, भोज्य, भक्ष्य), रस भेद से छः प्रकार का एवं वीर्य भेद से दो अथवा आठ प्रकार का होता है । आहार को रस के आधार पर छः भेदों में विभक्त कर प्रत्येक के पाञ्चभौतिक संगठन, दोषों पर प्रभाव एवं कर्म आदि का सारणीबद्ध रूप में सुगमतापूर्वक उल्लेख वाम पृष्ठ पर किया गया है ।

स्वप्न (निद्रा) की उत्पत्ति

लोकादिसर्गप्रभवा तमोमूला तमोमयी ।
बाहुल्यात्तमसो रात्रौ निद्रा प्रायेण जायते ॥ ३८ ॥

जगत् की उत्पत्ति काल में उत्पन्न तम ही जिसका मूल कारण है, तमोमयी (तमः स्वरूप), तमोगुण की अधिकता से उत्पन्न होने वाली निद्रा प्रायः रात्रि में उत्पन्न होती है ।

निद्रा की संप्राप्ति

श्लेष्मावृतेषु स्रोतःसु श्रमादुपरतेषु च ।
इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्रा विशति देहिनम् ॥ ३९ ॥

आहार रस से उत्पन्न श्लेष्मा द्वारा स्रोतों के आवृत होने पर तथा इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने से उत्पन्न श्रम के कारण इन्द्रियाँ अपने विषयों से निवृत्त हो जाती हैं, तत्फलस्वरूप मनुष्यों को निद्रा आती है ।

स्वप्न

सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोऽनुपरतं यदा ।
विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यति ॥ ४० ॥

सभी इन्द्रियाँ अपने विषयों से जब निवृत्त हो जाती हैं, परन्तु मन निवृत्त नहीं होता है, तो नाना प्रकार के स्वप्न दिखलायी पड़ते हैं ।

निद्रा से लाभालाभ

निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम् ।
वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥ ४१ ॥

सम्यक् प्रकार से आने वाली निद्रा से सुख, पुष्टि, बल, वृषता (स्त्रीगमन-शक्ति), ज्ञान और जीवन की प्राप्ति होती है तथा असम्यक् प्रकार की निद्रा से दुःख, कृशता, निर्बलता, क्लीबता, अज्ञान और मृत्यु की प्राप्ति होती है।

अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता।
सुखायुषी पराकुर्यात् कालरात्रिरिवापरा ॥ ४२ ॥

अकाल (असमय) में स्वल्प निद्रा का सेवन करना तथा समय पर भी अत्यन्त निद्रा का सेवन करना अथवा सर्वदा अत्यधिक निद्रा का सेवन करना अथवा निद्रा का सेवन न करना सुख एवं आयु (जीवन) को नष्ट कर देता है तथा वह दूसरी कालरात्रि (मरण निशा) के सदृश होता है।

सैव युक्ता पुनर्युङ्क्ते निद्रा देहं सुखायुषा।
योगाभियोगिनो बुद्धिर्निर्मला तपसा यथा ॥ ४३ ॥

निद्रा के सम्यक् प्रयोग से देह को सुख एवं आयु की प्राप्ति होती है, जिस प्रकार तत्त्व ज्ञान में लगे योगियों की बुद्धि तप से निर्मल (स्वच्छ) हो जाती है।

रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा।
अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥ ४४ ॥

रात्रि में जागरण से शरीर में रूक्षता बढ़ती है तथा दिन में सोने से शरीर में स्निग्धता बढ़ती है और बैठे-बैठे सोना (स्वल्पनिद्रा) न रूक्ष है, न अभिष्यदि है।

ग्रीष्मऋतु में दिवास्वप्न

ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावतः ।
दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन् कफपित्तकरो हि सः ॥ ४५ ॥

ग्रीष्मऋतु में वायु का संचय होने से, आदान काल होने से, रूक्षता होने से तथा रात्रि छोटी होने से दिन में सोना पथ्य है। अन्य ऋतुओं में दिन में सोना कफ-पित्तकारक है।

मुक्त्वातिभाष्ययानाध्वमद्यस्त्रीभारकर्मभिः ।
क्रोधशोकभयैः क्लान्तान् श्वासहिध्माऽतिसारिणः ॥ ४६ ॥
वृद्धबालाबलक्षीणक्षततृट्च्छूलपीडितान् ।
अजीर्ण्यभिहतोन्मत्तान् दिवास्वप्नोचितानपि ॥ ४७ ॥
धातुसाम्यं तथा ह्येषां श्लेष्मा चाङ्गानि पुष्यति।

अत्यधिक भाषण करने से, गाड़ी-घोड़ा आदि की सवारी करने से, पैदल चलने से, मद्यपान करने से, मैथुन करने से, भार (बोझ) ढोने से, क्रोध, शोक, भय से थके हों, श्वास, हिचकी आध्मान और अतिसार नामक रोगों से पीड़ित हों, वृद्ध, बालक, दुर्बल, क्षीण, क्षुधा, प्यास तथा शूल से पीड़ित हों, अजीर्ण रोगी, अभिघात (चोट) आदि से घायल, उन्माद रोग से पीड़ित तथा जिनको दिन में सोना सात्म्य हो, इन सबके लिए दिन में सोने से धातुओं में समता आ जाती है और सोने के कारण बढ़ा हुआ श्लेष्मा उनके अंगों को पुष्ट कर देता है।

बहुमेदःकफाः स्वप्युः स्नेहनित्याश्च नाहनि ॥ ४८ ॥
विषार्त्तः कण्ठरोगी च नैव जातु निशास्वपि।

जिनके शरीर में मेदोधातु और कफ अधिक मात्रा में हो तथा जो नित्य स्नेह द्रव्यों का सेवन करते हों, उनको दिन में नहीं सोना चाहिए। विष से पीड़ित तथा कण्ठरोग से पीड़ित लोगों को रात्रि में नहीं सोना चाहिए।

अहित निद्रा जन्य रोग

हृल्लीमकशिरोजाड्यस्तैमित्यगुरुगात्रताः ॥ ४९ ॥
ज्वरभ्रममतिभ्रंशस्रोतोरोधाग्निमन्दताः।
शोफारोचकहृल्लासपीनसार्द्धविभेदकाः ॥ ५० ॥
कण्डूरुक्कोठपिटकाकासतन्द्रागलामयाः ।
विषवेगप्रवृत्तिश्च भवेदहितनिद्रया ॥ ५१ ॥

हृल्लीमक, शिर की जड़ता (गुरुता), स्तैमित्य (शरीर में चिपचिपापन), शरीर में भारीपन, ज्वर, भ्रम, मतिभ्रंश (बुद्धि का नाश), स्रोतोवरोध, मन्दाग्नि, शोफ, अरोचक, हृल्लास (जी मचलाना), पीनस, अर्धविभेदक (आधा शीशी का दर्द), कण्डू, कोठ (शीत-पित्त), पिटका, कास, तन्द्रा, गले का रोग और विष वेग की प्रवृत्ति अहित निद्रा से होते हैं।

अतिनिद्रा से हानि

अपच्यमानो बाहुल्यात् स्रोतांस्यावृणुते कफः।
ततः स्रोतस्सु रुद्धेषु जायते गात्रगौरवम् ॥ ५२ ॥
गुरुगात्रस्य चालस्यमालस्यादतिनिद्रता ।

अतिनिद्रा के कारण कफ की बहुलता से अग्नि पाचन करने में समर्थ नहीं होती है, अतः अन्न का पाचन नहीं होता है। अत्यधिक निद्रा के कारण अग्नि कफ को नहीं पचा पाती, इसलिए अपच्यमान कफ स्रोतसों को अवरुद्ध कर देता है। स्रोतसों के अवरोध से शरीर में भारीपन आ जाता है। शरीर में भारीपन से आलस्य आ जाता है तथा आलस्य से अतिनिद्रा आती है।

अहित (अति) निद्रा रोकने के उपाय

विरेकः कायशिरसोर्वमनं रक्तमोक्षणम् ॥ ५३ ॥
धूमक्षुत्तृड्व्यथाहर्षशोकमैथुनभीक्रुधः ।
चिन्तोत्कण्ठाऽसुखा शय्यासत्त्वौदार्यं तमोजयः ॥ ५४ ॥
रूक्षान्नं चाहितां निद्रां वारयन्ति प्रसङ्गिनीम्।

कायविरेचन, शिरोविरेचन, वमन, रक्तमोक्षण, धूम्रपान, भूख (उपवास), प्यास, व्यथा, हर्ष, मैथुन, भय, क्रोध, चिन्ता, उत्कण्ठा, असुख शय्या (कष्टदायक शय्या), सत्त्व औदार्य (मन की उत्कृष्टता), तमोगुण पर विजय और रूक्ष अन्न—ये सभी अहित (अधिक) निद्रा को दूर करते हैं।

एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः ॥ ५५ ॥
कालशीलक्षयो व्याधिर्वृद्धिश्चानिलपित्तयोः।

उपर्युक्त सभी कारण सम्यक् निद्रानाश के हेतु समझने चाहिए। इसके अतिरिक्त काल (जैसे—प्रभात काल एवं वृद्धावस्था से), शील (कार्य में लगे रहने से), क्षय धातुक्षय), व्याधि (ज्वरादि रोग), वातवृद्धि एवं पित्तवृद्धि—ये निद्रानाश के कारण हैं।

निद्रा से उत्पन्न होने वाले रोग

निद्रानाशादङ्गमर्दशिरोगौरवजृम्भिकाः ॥ ५६ ॥
जाड्यग्लानिभ्रमापक्तितन्द्रारोगाश्च वातजाः ।

अंगमर्द, शिर में भारीपन, जंभाई, जाड्य (जड़ता), ग्लानि, भ्रम, आहार का न पचना, तन्द्रा तथा वातजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ।

तन्द्रा का लक्षण

कफोऽल्पो वायुनोद्धूतो धमनीः सन्निरुध्य तु ॥ ५७ ॥
कुर्यात् संज्ञापहां तन्द्रां दारुणां मोहकारिणीम् ।
उन्मीलितविनिर्भुग्ने परिवर्ततताराके ॥ ५८ ॥
भवतस्तत्र नयने स्रुते लुलितपक्ष्मणी ।
अर्द्धत्रिरात्रात्सा साध्या न सा साध्या ततः परम् ॥ ५९ ॥
यथाकालमतो निद्रां रात्रौ सेवेत सात्म्यतः ।
असात्म्याज्जागरादर्धं प्रातः स्वप्यादभुक्तवान् ॥ ६० ॥

जब अल्प कफ वायु द्वारा प्रेरित होकर संज्ञावाही धमनियों (स्रोतस) को अवरुद्ध कर संज्ञानाश कर देता है, तब दारुण (भीषण) मोह (ज्ञाननाश) करने वाली तंद्रा उत्पन्न होती है । इसमें नेत्र की पलकें कुछ खुली और कुछ बन्द रहती हैं, नेत्रतारक टेढ़ा-मेढ़ा रहता है, नेत्रों से अश्रुस्राव होता है । नेत्रपक्ष्म चंचल रहते हैं । साढ़े तीन दिन तक तंद्रारोग साध्य होता है, इसके पश्चात् तंद्रा असाध्य होती है ।

अतः रात्रि में ठीक समय पर निद्रा का सेवन सात्म्यानुसार करना चाहिए । रात्रि में असात्म्य (प्रतिकूल) कारण से जितनी देर नींद न आई हो, तो दिन में भोजन किए बिना उसका आधा सोना चाहिए ।

नींद लाने के उपाय

शीलयेन्मन्दनिद्रस्तु क्षीरमिक्षुरसं रसम्[1] ।
आनूपौदकमांसानां भक्ष्यान् गौडिकपैष्टिकान् ॥ ६१ ॥
शालीन्मद्यानि मांषांश्च किलाटान्माहिषं दधि ।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमूर्द्धश्रवणपूरणम् ॥ ६२ ॥
चक्षुषस्तर्पणं लेपं शिरसो वदनस्य च ।
प्रवाते सुरभौ देशे सुखां शय्यां यथोचिते ॥ ६३ ॥
संवाहनं स्पर्शसुखं चित्तज्ञैरनुजीविभिः ।
सर्पिः क्षीरानुपानं च जीवनीयैः श्रृतं पिबेत् ॥ ६४ ॥
कान्ताबाहुलताऽऽश्लेषो निर्वृतिः कृतकृत्यता ।
मनोऽनुकूला विषयाः कामं निद्रासुखप्रदाः ॥ ६५ ॥

जिसे विरेचन आदि या वातविकार आदि के कारण थोड़ी नींद आती हो, उसे दूध, गन्ने का रस, मांस रस, आनूपदेशीय प्राणियों का मांस, औदक (जलज) प्राणियों का मांस रस, गुड़

१. 'रसान्' इति पाठान्तरम् ।

और पिठ्ठी के बने भक्ष्य पदार्थ, शालिधान्य चावल (*Oryza sativa* var.) का मद्य, माष (उड़द *Phaseolus radiatus*), किलाट, भैंस (*Bos bubalus*) का दही, अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नान मूर्द्धा (शिर) एवं कर्णगुहा (कान) में तैल से तर्पण, नेत्र-तर्पण, शिर और शरीर पर सुस्निग्ध द्रव्यों का लेप, हवादार सुन्दर स्थान में सुखकारक संवाहन (धीरे-धीरे अंगों का दबाना), चित्त को सुख देने वाले पुत्र आदि प्रियजन तथा अनुजीवियों (भृत्यों) के साथ वार्तालाप, जीवनीयगण के द्रव्यों से सिद्ध घृत का सेवन करने के पश्चात् दूध का सेवन, स्त्री की बाहुओं का आलिङ्गन, सुख-दुःखों से मुक्त (निश्चिन्त), कार्यों को पूर्ण करना, इच्छानुकूल विषय—ये सभी सुखदायक निद्रा को देते हैं।

ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्यसुखनिस्पृहचेतसः।
निद्रा सन्तोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते ॥ ६६ ॥

जो ब्रह्मचर्य में रत (आसक्त) है, जिसका चित्त ग्राम्यसुख (संभोग) से दूर रहता है और सन्तोष से तृप्त रहता है, उसको निद्रा अपने समय पर आती है।

एतान्येव च भूयिष्ठं निद्रालुः परिवर्जयेत् ॥ ६७ ॥

जिसको अधिक निद्रा आती हो, वह क्षीर आदि का परित्याग करे।

निद्रा के भेद

कालस्वभावाऽऽमयचित्तदेहखेदैः कफागन्तुतमोभवा च।
निद्रा बिभर्ति प्रथमा शरीरं पापात्मिका व्याधिनिमित्तमन्या ॥ ६८ ॥

निद्रा सात प्रकार की होती है—१. कालस्वभाव प्रभाव से (स्वाभाविक निद्रा), २. आमयज (व्याधि के खेद से), ३. चित्त के खेद से, ४. देह के खेद से, ५. श्लेष्मप्रभवा, ६. आगन्तुक (शस्त्र-प्रहार आदि से) एवं ७. तमोभवा निद्रा।

इनमें प्रथम कालस्वभाव प्रभवा निद्रा शरीर को धारण करती है। तमोभवा पाप्मा (दुष्टा) है, अन्य शेष व्याधि के कारण से उत्पन्न होती हैं।

अब्रह्मचर्य

मैथुन के लिए अयोग्य स्त्री

ग्राम्यधर्मप्रवृत्तौ तु रजस्वलामनिष्टामनिष्टाचारामशस्तामतिस्थूलामतिकृशां गर्भिणीं सूतिकामनुत्तानां विकृताङ्गीं गणिकामप्रजसं दुष्टयोनिमन्ययोनिमन्यस्त्रियं विशेषाच्च वयोवर्णवृद्धां सगोत्रां गुरुमित्रबन्धुभृत्यपत्नीं वर्णिनीं, तथा चैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानायतनसलिलौषधिद्विजगुरुसुरनृपालयेष्वहनि गोसर्गे मध्यन्दिनेऽर्द्धरात्रे पर्वदिनेष्वनङ्गे, पिपासुरप्रणीतसङ्कल्पो वा न गच्छेत् ॥ ६९ ॥

रजस्वला, अनिष्ट (बुरे) आचरण वाली, अशस्त (हीनाकृति वाली), अतिस्थूल, अतिकृश, गर्भवती, सूतिका, प्रसूता, अनुत्तान (जो चित न लेटी हुई हो), विकृतांगी (कुब्जा, बौना आदि), गणिका (वेश्या), अप्रजस (वन्ध्या), दुष्टयोनि (उपदंश आदि से व्याधित योनि), अन्यस्त्री (परस्त्री), विशेषकर अपने से वय (आयु) एवं वर्ण (जाति) में श्रेष्ठ, समान गोत्र वाली, गुरुपत्नी, मित्र की पत्नी, भाई की पत्नी, भृत्य की पत्नी, वर्णिनी (ब्रह्मचारिणी) के साथ ग्राम्यधर्म (मैथुनकर्म) में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। चैत्य (ग्राम से बाहर बड़ा वृक्ष), चत्वर

(आँगन), चतुष्पथ (चौराहा), उपवन, श्मशान, आपतन (वधस्थान), जल, औषधि, ब्राह्मण, गुरु, देवता, राजगृह, दिन के समय, गोसर्ग (रात्रि का अंतिम प्रहर), मध्यदिन, अर्द्धरात्रि, पर्व के दिन (चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी और अमावास्या) तथा अनंग (योनि को छोड़कर पाणि एवं ऊरु आदि) में मैथुन कर्म नहीं करना चाहिए। प्यास लगी होने पर और बिना संकल्प के (बिना इच्छा उत्पन्न हुए) मैथुन नहीं करना चाहिए।

विशेषेण चातिव्यवायितां गर्भिणी नवप्रसूतामृतुमतीं संवृतयोनिं च न विपरीत-व्यवाये योजयेत् ॥ ७० ॥

विशेष रूप से अत्यन्त मैथुनशील, गर्भिणी, नवप्रसूता, ऋतुमती एवं जिसकी योनि संवृत (संकुचित) हो, ऐसी स्त्रियों के साथ मैथुन नहीं करना चाहिए। स्त्री को विपरीत व्यवाय (पुरुषकर्म) में नहीं लगायें।

मूर्धादिघातं च परिहरेत्। न च निषेकाभिमुखं शुक्रं धारयेत् ॥ ७१ ॥

मैथुन के समय सिर पर चोट नहीं करना चाहिए। स्खलित होते हुए शुक्र को नहीं रोकना चाहिए।

मैथुन-विधि

मनःशरीरस्थितिमात्रमेव सेवेद्व्यवायं न च तत्परः स्यादिति ॥ ७२ ॥

भवति चात्र—

विश्रब्धहृष्टो रहसि तत्कामस्तरुणः पुमान्।
समस्थिताङ्गः सुरभिर्मुक्तमूत्रादिरव्यथः ॥ ७३ ॥
नानाशितो नात्यशितो वृष्याणां तर्पितस्त्र्यहात्।
नारीं नारीगुणैर्युक्तां सहपूर्वगुणां व्रजेत् ॥ ७४ ॥

जितने व्यवाय (मैथुन) से मन और शरीर में स्थिरता हो अर्थात् औत्सुक्य और बेचैनी न हो, उतनी ही मात्रा में व्यवाय (संभोग) करना चाहिए। इससे अधिक मैथुन नहीं करना चाहिए।

मैथुन के समय स्त्री-पुरुष विश्रब्ध (स्वस्थ मन) हों, एकांत-स्थित हों, मैथुन की कामना से युक्त हों, सम्यक् प्रकार से स्थित अंगों वाले हों, सुगन्धित पुष्प आदि धारण किये हों, मूत्र-पुरीष आदि का त्याग किये हों, अव्यथित (स्वस्थ) हों, भूखे न हों, अत्यधिक भोजन किये न हों एवं सम्भोग करने से तीन दिन पूर्व वृष्य आहार से तृप्त होकर पुरुष नारी-गुणों से युक्त तथा पूर्वकथित गुणों से भी युक्त स्त्री के साथ सम्भोग करना चाहिए।

मैथुन की मात्रा

द्व्यहाद्वसन्तशरदोः पक्षाद्वृष्टिनिदाघयोः।
सेवेत कामतः कामं हेमन्ते शिशिरे बली ॥ ७५ ॥

वसंत और शरद् ऋतु में दो दिन के अन्तर से, वर्षा और निदाघ (ग्रीष्म) में पन्द्रह दिन के अन्तर से और हेमन्त और शिशिर में इच्छानुसार बली पुरुष मैथुन का सेवन करें।

स्नानाङ्गरागव्यजनेन्दुपादमांसासवक्षीररसान् रसालाम्।
भक्ष्मान् सिताढ्यान् सलिलं सुशीतं सेवेत निद्रां च रतान्ततान्तः ॥ ७६ ॥

मैथुन के अंत में तान्त (थका हुआ) व्यक्ति को स्नान, अंगराग (केसर आदि का लेप), पंखे की वायु का सेवन, चाँदनी रात में चन्द्रमा की किरणों में बैठना, मांस, आसव, दूध, मांसरस, रसाला, मिश्रीबहुल भक्ष्य पदार्थ, शीतल जल और निद्रा का सेवन करना चाहिए ।

स्त्रीसंसर्गाद्धि सद्यः स्यात् क्लीबता बलिनामपि ।
एवं त्वाप्यायते शीघ्रं तेषां शुक्रं च धाम च ॥ ७७ ॥
दृष्ट्वायुरोजःशुक्राणां क्षयं मेढ्राश्रयान् गदान् ।
वायोः कोपमधर्मं च मूढः प्राप्नोत्यतोऽन्यथा ॥ ७८ ॥

बलवान् व्यक्तियों में भी स्त्री-संसर्ग करने से तत्काल क्लैव्य (नपुंसकता या कमजोरी) अवश्य होती है । स्नान आदि उपर्युक्त विधियों से शीघ्र ही शुक्र का पोषण होता है तथा धाम (शारीरिक बल) की वृद्धि होती है । इसके विपरीत स्नान आदि नियमों का पालन किये बिना यदि कोई मूढ़ मैथुन में प्रवृत्त होता है, तो उसकी आयु, ओज तथा शुक्र का क्षय होता है, और वह मेढ्र (शिश्न) के रोग, वायु का कोप तथा अधर्म को प्राप्त होता है ।

[1]उत्तानो वेगरोधी वा वृद्धिमेहाश्मशर्कराः ।
तिमिरादिगदोत्पत्तिं मूर्धाद्याहननाद्ध्रुवम् ॥ ७९ ॥

यदि पुरुष उत्तान होकर (उत्तान सोकर) स्त्री से पुरुष के समान मैथुन कर्म कराता हो अथवा शुक्र के उपस्थित वेग को रोकता है, तो वृद्धि (अन्त्रवृद्धि), प्रमेह, अश्मरी, शर्करा (मूत्र में छोटे-छोटे कण) उत्पन्न होते हैं और मूर्धा आदि पर आघात करने से तिमिर आदि रोगों की उत्पत्ति होती है ।

अति मैथुन से उत्पन्न रोग

भ्रमक्लमोरुदौर्बल्यबलधात्विन्द्रियक्षयाः ।
अपर्वमरणं च स्याद्विशेषेणातिमैथुनात् ॥ ८० ॥

अत्यधिक मैथुन से भ्रम, क्लम (ग्लानि), ऊरुदौर्बल्य (सक्थि-शैथिल्य), दुर्बलता, धातु-क्षय, इन्द्रिय-क्षय एवं अकाल मृत्यु आदि होते हैं ।

[2]न चर्ते षोडशाद्वर्षात्सप्ततेः परतो न च ।[3]
आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति ॥ ८१ ॥

आयु चाहने वाले पुरुष को सोलह वर्ष से नीचे और सत्तर वर्ष से ऊपर की स्त्री के साथ संसर्ग नहीं करना चाहिए ।

अतिबालो ह्यसम्पूर्णसर्वधातुः स्त्रियं व्रजन् ।
उपतप्येत सहसा तडागमिव[4] काजलम् ॥ ८२ ॥

अत्यन्त बाला (सोलह वर्ष से कम आयु वाली) तथा असंपूर्ण अर्थात् अपुष्ट धातुओं वाली बालिका के साथ मैथुन करने से शरीर सहसा वैसे ही सूख जाता है, जैसे थोड़े पानी वाला तालाब सूख जाता है ।

---

१. 'स्त्रियाः पुरुषायिते पुरुषोत्तानो गच्छन् वायोर्वैपरीत्येनाशु शुक्रनिर्गमनाद् वृध्यादीन् प्राप्नोति' इतीन्दुः । २. 'न चोनः' इति पाठान्तरम् । ३. 'गन्तुमर्हति' इति पाठान्तरम् । ४. 'तटाकमिव' इति पाठान्तरम् ।

शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम् ।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत् तथा वृद्धः स्त्रियं व्रजन् ॥ ८३ ॥

सत्तर साल से ऊपर आयु वाला वृद्ध पुरुष स्त्री के साथ मैथुन करने से उसी प्रकार शीघ्र नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार शुष्क, रूक्ष एवं कृमि-भक्षित काष्ठ पुराना होने से स्पर्शमात्र से नष्ट हो जाता है ।

कायस्य तेजः परमं हि शुक्रमाहारसारादपि सारभूतम् ।
जितात्मना तत्परिरक्षणीयं ततो वपुः सन्ततिरप्युदारा ॥ ८४ ॥

शरीर का उत्कृष्ट तेज शुक्र है और शुक्र ही आहार के रस, रूप तथा सार का भी सारभूत है । जितात्मा बनकर उसकी रक्षा करनी चाहिए । शुक्र की रक्षा से शरीर उत्कृष्ट तथा संतति उत्तम होती है ।

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नतः' (वेद) । अर्थात् ब्रह्मचर्य रूपी तप से देवताओं ने अमरता को प्राप्त किया । 'ब्रह्मचर्यशब्देन इन्द्रियसंयमसौमनस्यप्रभृतयो ब्रह्मज्ञानानुगुणा गृह्यन्ते' (चक्रपाणि) । अर्थात् ब्रह्मचर्य शब्द से चक्षु आदि इंद्रियों का संयम, मानसिक दोषों का निवारण आदि ब्रह्मज्ञान के अनुकूल गुणों का ग्रहण करना चाहिए ।

परन्तु यदि ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ स्त्री-प्रसंग (सम्भोग) का परित्याग ग्रहण करेंगे, तो अब्रह्मचर्य का अर्थ निश्चित ही तद्विपरीत अर्थात् स्त्री-प्रसंग (सम्भोग) का सम्पादन ही होगा, जिसे आचार्य वाग्भट ने यहाँ ग्रहण किया है । शुक्र की रक्षा के लिए निम्नलिखित आठ प्रकार के मैथुनों से दूर रहना चाहिए—

'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निर्वृतिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।'

अप्रमत्तो भजेद् भावाँस्तदात्वसुखसंज्ञकान् ।
सुखोदर्केषु सज्जेत देहस्यैतदलं हितम् ॥ ८५ ॥

तत्काल सुख के लिए आहार, निद्रा एवं मैथुन आदि का सेवन अप्रमत्त (सावधान) होकर करना चाहिए और परिणाम में सुख देने वाले (अदृष्टसुखदायक तप–दान आदि) पदार्थों का आश्रय लेना चाहिए । यह दोनों नियम शरीर के हित के लिए पर्याप्त हैं ।

इस प्रकार आचार्य वाग्भट ने तीनों उपस्तम्भों का वर्णन कर दिया है । इन्हीं तीनों उपस्तम्भों (आहार, निद्रा और अब्रह्मचर्य) का सम्यक् परिपालन ही आरोग्यता (स्वास्थ्य) का आधारभूत मूल स्तम्भ है ।

प्रज्ञापराधोऽसात्म्यार्थसंयोगः कालवैकृतम् ।
हितेऽपि रतमाहारे योजयन्त्यामयैर्नरम् ॥ ८६ ॥

हितकारक आहार करने पर भी प्रज्ञापराध, असात्मेन्द्रियार्थसंयोग और कालविकृति—ये तीन कारण पुरुष को रोगों से युक्त करते हैं ।

भगवान् पुनर्वसु ने भी धी, धैर्य एवं स्मृति का विभ्रंश (प्रज्ञापराध), हीन, मिथ्या एवं अतियोग वाले काल एवं असात्म्य अर्थों के साथ इन्द्रियों के संयोग को दुःख का हेतु बतलाया है—

'धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम्।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः' ॥ (च० शा० १।९८)

नापथ्यसेविनं मद्यः प्रबाधन्ते तदा मलाः।
प्रकोपं प्रतिबध्नन्ति[1] भिन्नैर्दूष्यादिभिर्यदा ॥ ८७ ॥
न च सर्वोपचारोऽपि सर्वदा सर्वदोषकृत्।
न हि सर्वाण्यपथ्यानि तुल्यदोषाणि नैव च ॥ ८८ ॥
सर्वे तुल्यबला दोषा न सर्वाणि वपूंषि च।
व्याधिक्षमत्वे शक्तानि यतोऽपथ्यं तदेव तु ॥ ८९ ॥
गच्छत्यपथ्यतमतां तुल्यदूष्यादिवर्धितम्।

उस दशा में मल (वातादि) अपथ्य सेवन करने वाले पुरुष में तत्काल कोई बाधा (रोगोत्पादन) नहीं करते, जबकि विसदृश (असमान) दूष्य-देश आदि प्रकोप में विघ्नकारक होते हैं (यथा—आनूपदेश में पित्तप्रकोपक अपथ्य सेवन तत्काल रोगों को उत्पन्न नहीं करता है)। सर्वोपचार अर्थात् सभी प्रकार का अपथ्य सेवन भी हमेशा सर्वदोषकारक नहीं होता। सभी अपथ्य एक समान दोष वाले (एक दोष को कुपित करने वाले) नहीं होते हैं और सभी दोष एक समान बल वाले नहीं होते हैं। सभी शरीर रोग-क्षमता में समान रूप से समर्थ नहीं होते हैं, क्योंकि वही अपथ्य भी समान गुण वाले रस, रक्तादि दूष्य से अपथ्यतम (अधिक हानिकारक) हो जाते हैं।

त एव च पुनर्दोषा हेतुभिर्बहुभिश्चिताः ॥ ९० ॥
मिथो विरुद्धा बलिनो दीर्घकालानुबन्धिनः।
सर्वे समं प्रकुप्यन्ति[2] प्राप्याल्पमपि कारणम् ॥ ९१ ॥
प्राणायतनमाश्रित्य गम्भीराः सर्वमार्गगाः।
देहेऽहितोचिते ते स्युश्चिरादप्याशुकारिणः ॥ ९२ ॥

बहुत कारणों से संचित, परस्पर विरुद्ध, बलवान्, अधिक समय तक शरीर में स्थित दोष थोड़े कारणों से प्रकुपित होकर प्राणायतन (प्राणस्थान हृदय आदि) का आश्रय लेकर गम्भीर धातुओं एवं सर्वमार्ग (सभी स्रोतसों) में फैल जाते हैं। अहितोचित (अपथ्य करने वाले) शरीर में चिरकाल से दोष रहने से तत्काल रोगोत्पादक बन जाते हैं।

अहितान्यपि चान्येषामभ्यासादुपशेरते।
दोषाश्चैषां क्षयं यान्ति कर्म वातातपादिभिः ॥ ९३ ॥

कुछ लोगों में अभ्यास से अहित आहार भी अनुकूल हो जाते हैं। इनमें लंघन, दौड़ना आदि कर्म, वायु एवं धूप आदि से दोष नष्ट हो जाते हैं।

जनपदोध्वंस

भिन्नाहारवयःसात्म्यप्रकृतीनां समं भवेत्।
एको विकृतवाय्वादियुगपत् सेवनाद् गदः ॥ ९४ ॥

---

१. 'प्रतिविघ्नन्ति' इति पाठान्तरम्।

२. 'समप्रकुपिता' इति पाठान्तरम्।

भिन्न-भिन्न आहार, भिन्न-भिन्न वय, भिन्न-भिन्न सात्म्य तथा भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले व्यक्तियों में भी एक ही समय में विकृत वायु, जल, देश एवं काल का एक साथ सेवन करने से एक समान रोग हो जाता है।

वायु आदि की विकृति के कारण

वातादीनां तु विकृतिर्विकृताद्ग्रहचारतः।
भौमान्तरिक्षदिव्येभ्य उत्पातेभ्यश्च जायते ॥ ९५ ॥
सम्भवः पुनरेतेषां कर्मणः सामुदायिकात्।

वायु, जल, देश, काल आदि की विकृति के दो कारण हैं—(१) ग्रहों की विकृति (राशियों की गति से) एवं (२) पृथ्वी, अन्तरिक्ष और दिव्य (स्वर्ग) में होने वाले उत्पात। इन सबका कारण प्राणियों का इस जन्म तथा पूर्व जन्मकृत सामुदायिक कर्म है।

चरकसंहिता के अनुसार भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने वायु आदि की विकृति के कारणों में मूल कारण इस लोक में प्राणियों में व्याप्त अधर्म और पूर्वजन्म के कर्म माना है।

जनपदोध्वंस

हेतु— दूषित वायु, दूषित जल, दूषित देश, दूषित काल → —ग्रहों की विकृति, —पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग में होनेवाला उत्पात ← प्राणियों का इस जन्म तथा पूर्वजन्म का सामुदायिक कर्म

दूषित वायु के लक्षण

दुष्टो वायुरभिष्यन्दी स्तिमितोऽत्युष्णशीतलः ॥ ९६ ॥
कुण्डली भैरवरवः परुषोऽनार्तवो बली।
अन्योन्यव्याहतगतिः पांसुबाष्पविषान्वितः ॥ ९७ ॥

दूषित वायु अभिष्यन्दि, स्तिमित (अवेगवान्), अति उष्ण, अत्यन्त शीतल, कुण्डली (आवर्तवान् अर्थात् भँवरयुक्त हवा), भैरवरव (भीषण शब्द वाली), परुष (रूक्ष), अनार्तव (ऋतु-विपरीत), बलवान्, परस्पर एक-दूसरी दिशा से वायु चलने के कारण अवरुद्ध गति वाला, पांसु (धूल), वाष्प तथा विष से युक्त होती है।

दूषित जल के लक्षण

रसवर्णादिविकृतमपक्रान्तविहङ्गमम्।
निन्दितप्रभवं तोयमुपक्षीणजलाक्षयम् ॥ ९८ ॥

दूषित जल का रस एवं वर्ण आदि विकृत हो जाता है। दूषित जल में रहने वाले जलचर पक्षी (Aquatic animals) वहाँ से अन्यत्र चले जाते हैं और उनमें कृमि आदि निन्दित प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं। जल में रहने वाले जंतु—मछली आदि क्षीण हो जाते (मरने लगते) हैं।

दूषित देश के लक्षण

मक्षिकामूषिकाव्यालबहूत्पातप्रदूषितः।
देशोऽपथ्यान्नबहुलो नष्टधर्ममहौषधिः ॥ ९९ ॥

दूषित देश मक्षिका (*Musca nebulo*), चूहे (*Rattus rattus*) एवं व्याल (सर्प आदि हिंसक जन्तु) के अत्यन्त उत्पात से प्रदूषित हो जाता है। इस देश में अत्यन्त अपथ्यकारक अन्न उत्पन्न होते हैं तथा धर्म और महौषधियाँ (उत्तम औषधियाँ) नष्ट हो जाती हैं।

दूषित काल के लक्षण

कालश्च विपरीतोऽतिहीनलिङ्गौ यथायथम्।
एते दुष्परिहारत्वादहितायोत्तरोत्तरम् ॥ १०० ॥

दूषित काल अपने वास्तविक ऋतु के लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाला, अति (अत्यधिक) लक्षणों वाला अथवा हीन लक्षणों वाला होता है। यह दूषित वायु, जल, देश एवं काल उत्तरोत्तर दुष्परिहार्य होने से अहितकारक होते हैं।

दूषित वायु और दूषित जल के जो लक्षण बतलाये गये हैं, वही लक्षण शत्रु द्वारा प्रयुक्त विष के भी हो सकते हैं। इनमें वायु, जल, देश और काल को शुद्ध करना क्रमशः अत्यन्त कठिन होता जाता है।

जनपदोध्वंस से बचने के साधन

येषामनियतं कर्म तस्मिन्काले सुदारुणे।
कर्म पञ्चविधं तेषां योज्यं तद्वद्रसायनम् ॥ १०१ ॥
शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः।
ब्रह्मचर्यं दया दानं सदाचाररतिः शमः ॥ १०२ ॥
सद्धर्म सत्कथा पूजा देवर्षीणां जितात्मनाम्।
देशानामविपन्नानां साधूनां च निषेवणम् ॥ १०३ ॥
दैवव्यपाश्रयं चेष्टं कर्म जीवितरक्षणम्।

इस दारुण समय में जिनका पूर्वजन्मकृत कर्म निश्चित फल देने वाला नहीं होता है, उनको उस काल में वमन-विरेचन आदि पञ्चकर्म तथा रसायन का प्रयोग करना चाहिए। वायु आदि के विकृत होने से पूर्व उखाड़ी गयी औषधियों से शरीर का पोषण करना चाहिए। ब्रह्मचर्य, दया, दान, सदाचार, शांति, सद्धर्म का पालन, सत्कथाओं का श्रवण, देवर्षियों तथा संयमी लोगों की पूजा करनी चाहिए। दुष्ट देश को छोड़कर किसी अच्छे देश में चले जाना चाहिए तथा साधुओं की सेवा करनी चाहिए। जीवन की रक्षा के लिए दैवव्यपाश्रय चिकित्सा-कर्म करना चाहिए।

वस्तुतः स्थान-परित्याग, सद्वृत्त-पालन एवं धार्मिक आचरण को ही महर्षि चरक और महर्षि सुश्रुत ने भी जनपदोध्वंस से बचने का मार्ग बतलाया है।

हेमन्तादिषु कुर्वीत स्वं स्वं चाकालिकेष्वपि ॥ १०४ ॥
विधिं तच्छीलनं यस्माच्छीतादिद्वन्द्वकारितम्।
ऋतुचर्या हि शीतोष्णवृष्टिदोषप्रतिक्रिया ॥ १०५ ॥
अत एवर्तुचर्यायां हेमन्तशिशिरौ समौ[1]।

अकाल (विपरीत ऋतु लक्षण) में होने वाली हेमंत आदि ऋतुओं में इन ऋतुओं की अपनी-अपनी विधि के अनुसार ऋतुचर्या का पालन करना चाहिए। इस विधि के अभ्यास से शीत,

---

१. 'हेमन्तशिशिरे समे' इति पाठान्तरम्।

उष्ण एवं वर्षा आदि द्वन्द्वों का प्रतिकार हो जाता है, क्योंकि ऋतुचर्या का अभिप्राय शीत, उष्ण, वर्षा के दोषों का प्रतिकार करना है। इसलिए हेमंत और शिशिर ऋतु में समान ऋतुचर्या कही गयी है।

सर्वप्राणभृतां नित्यमायुर्युक्तिमपेक्षते ॥ १०६ ॥
दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम्।

सब प्राणियों की आयु नित्य युक्ति की अपेक्षा रखती है। इस आयु का बल (स्थिति) एवं अबल (विनाश) दोनों दैव एवं पुरुषाकार (पौरुष) पर आश्रित हैं।

अन्यजन्मकृतं कर्म दैवं पौरुषमैहिकम् ॥ १०७ ॥
विद्यात्ते कर्मणी त्रेधा श्रेष्ठमध्यावरत्वतः।
तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य सुसुखस्य च ॥ १०८ ॥
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चापरा।
मध्या मध्यस्य मिश्रस्य सङ्कीर्णा शृणु चापरम् ॥ १०९ ॥
दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते।
तथा दैवेन बलिना पौरुषं कर्म दुर्बलम् ॥ ११० ॥
दृष्ट्वा तदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः।
कर्म किञ्चित् क्वचित्काले विपाके नियतं महत् ॥ १११ ॥
किञ्चिच्च कालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते।
एवं च द्विविधो मृत्युः कालाकालविभेदतः ॥ ११२ ॥
उपदिष्टस्ततश्चैष हिताहितविधिक्रमः।

दूसरे जन्म में कृत कर्म को दैव कहते हैं एवं इस जीवन में किया गया कर्म पौरुष है। ये दोनों प्रकार के कर्म श्रेष्ठ कर्म, मध्य कर्म एवं अवर कर्म के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। श्रेष्ठ दैव और श्रेष्ठ पुरुषकर्म की युक्ति दीर्घ और सुखमय आयु का कारण होता है। मध्यम दैवकर्म एवं मध्यम पुरुषकर्म की युक्ति मध्यम आयु एवं मध्यम सुख का कारण होता है। मिश्रकर्म (एक प्रकार के श्रेष्ठ कर्म और दूसरे प्रकार का मध्यम या हीन कर्म) की युक्ति मिश्रित आयु का कारण होता है। इसमें और भी हेतु सुनिए—दान आदि बलवान् पौरुष (पुरुषाकार) से दुर्बल दैव नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार बलवान् दैव से दुर्बल पौरुषकर्म नष्ट हो जाता है। बलवान् दैवकर्म को देखकर कुछ लोग आयु का नियत प्रमाण (परिमाण) मानते हैं। किसी महान कर्म का किसी समय परिणाम नियत होता है और किसी अल्पकार्य का परिणाम अनियत होता है, उसका ज्ञान आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमानप्रमाण द्वारा किया जाता है। काल और अकाल भेद से दो प्रकार की कालमृत्यु और अकालमृत्यु होती है। अनियत फल से अकालमृत्यु तथा नियत फल से कालमृत्यु होती है। इसलिए मृत्यु के दो कारणों से आयुर्वेद में हित और अहित दो विधि-क्रम कहा गया है।

एकोत्तरं मृत्युशतं ब्रुवते वेदवादिनः ॥ ११३ ॥
तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषास्त्वागन्तवः स्मृताः।
श्येनादिना च यागेन धातूव्ययस्य तथा च तैः ॥ ११४ ॥

[1]दैर्घ्यश्रवससामाद्यैर्विहितः स्वात्मनो वधः[2]।
आयुष्कामस्य तत्प्राप्तिस्तथेष्ट्या मित्रविन्दया ॥ ११५ ॥
सर्वस्मादेव चात्मानं गोपयेदीदृशी स्मृतिः।

वेदवादी एक सौ एक प्रकार की मृत्यु मानते हैं। इनमें एक मृत्यु कालमृत्यु है, शेष सौ आगन्तुक (अकाल) मृत्यु हैं। श्येन आदि यज्ञ से भ्रातृव्य (शत्रु) के वध का विधान है। इसी प्रकार दैर्घ्यश्रवस एवं सामादि यज्ञों द्वारा अपने वध का विधान किया गया है। आयु की कामना करने वाले को आयु की प्राप्ति के लिए मित्रविन्दा नामक इष्टि यज्ञ से आयु की प्राप्ति होती है। स्मृति-ग्रन्थों का ऐसा उपदेश है कि सब प्रकार से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

बौद्धानुसार मृत्यु के भेद

तथा मरणमुद्दिष्टं सौगतानां चतुर्विधम् ॥ ११६ ॥
विषमापरिहारेण जायते नियतायुषाम्।

बौद्ध (सौगत) चार प्रकार की मृत्यु मानते हैं—(१) आयु के क्षय से, (२) हृदय आदि का कार्य रुक जाने से, (३) आयु एवं प्रारब्ध का क्षय हो जाने से एवं (४) उपच्छेद—शस्त्रादि के आघात एवं मारण-मोहन आदि से।

अकाल एवं काल मृत्यु

ध्रुवं रोगित्वमन्येषां मृत्युरेव त्वपर्वणि ॥ ११७ ॥
अकाण्डशस्त्रघाताद्यैः प्रत्यक्षो मृत्युरन्यथा।
उद्भ्रान्तचण्डमातङ्गतुरङ्गादिसमागमम् ॥ ११८ ॥
अरातिदुष्टवाय्वादिसाहसाहितभोजनम्।
वर्जयेदिति न ब्रूयुर्मुनयो दिव्यचक्षुषः ॥ ११९ ॥
दैवव्यपाश्रयादींश्च रसायनविधिं न वा।[3]
न वा तेऽपि यथाकाममायुषः स्थितिमाप्नुयुः ॥ १२० ॥
अहिंसिहगजादिभ्यो विदुषां न भयं भवेत्।
मिथ्या प्राकारदुर्गाणि मिथ्या मारणरक्षणम् ॥ १२१ ॥
आयुष्कामस्य मिथ्यैव परदारादिवर्जनम्।
मन्त्रदेवतयाऽऽहूता नाचक्षीरन्महाह्वयः ॥ १२२ ॥
विषसुप्तप्रबुद्धस्थाभावभावौ तदायुषः।

आयु का नियत (निश्चित) काल मानने वाले भी विषम आहार-विहार से अवश्य रोगी होते हैं और दूसरों (आयु का नियत काल न मानने वालों) की अपर्व (असमय—अकाल) मृत्यु हो जाती है। अकाण्ड—अकाल में शस्त्र आदि के आघात से प्रत्यक्ष मृत्यु होती है। यदि अकाल मृत्यु न होती, तो दिव्यदृष्टि वाले ऋषि लोग यह न कहते कि उन्मत्त एवं प्रचण्ड हाथी-घोड़े के समागम से दूर रहना चाहिए; दुष्ट शत्रु, दूषित वायु, साहसिक कार्य एवं अहित भोजन से बचकर रहना चाहिए। वे दिव्यदृष्टि वाले ऋषि लोग भी दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा तथा रसायन के सेवन से यथेच्छ (इच्छानुसार) आयु को नहीं प्राप्त हो सके। यदि अकामृत्यु न होती, तो विद्वानों को

---

१. 'दीर्घश्रवम' इति पाठान्तरम्। २. 'विहितश्चात्मनो वधः' इति पाठान्तरम्।
३. 'रसायनविधींस्तथा' इति पाठान्तरम्।

सर्प (Snake), सिंह (*Panthera leo persica*), हाथी (*Elephas indica*) आदि से भय नहीं होता। शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिए प्राकार (नगर की चहारदीवारी) और दुर्ग आदि निरर्थक हो जाते। शत्रु को मारने के लिए मंत्र आदि का प्रयोग तथा शत्रु से बचने के लिए प्रयोग, सब निरर्थक हो जाते। आयु की कामना करने वालों के लिए परायी स्त्री के साथ संभोग के परित्याग का उपदेश न दिया जाता। यदि अकाल मृत्यु न होती तो वासुकि आदि महासर्प द्वारा दंष्ट व्यक्ति जब विष से प्रसुप्त (चेतनाहीन) होता है और मन्त्रों द्वारा प्रबुद्ध हो जाता है, तब आयु के भाव और अभाव स्पष्ट नहीं बतलाता अर्थात् उसकी मृत्यु होगी अथवा नहीं होगी।

संन्यासरोहिणीकादिग्रस्तस्य सहसा भवेत्॥ १२३॥
उपेक्षया न मरणं जीवितं वा चिकित्सया।
प्रत्यहं नृसहस्रस्य युद्धेऽन्योन्यमभिघ्नतः॥ १२४॥
साधुवृत्तस्य चातुल्या न भवेदायुषः स्थितिः।
नायुर्धैर्द्विषमिन्द्राद्या नौषधैरार्तमश्विनौ॥ १२५॥
उपक्रमैरन्न भवेदकालमरणं यदि।
घटानामामपक्वानां पालनापरिपालनैः॥ १२६॥
चिरात्पकालवर्तित्वं चित्रस्थानां च दृश्यते।
इत्यत्यन्तप्रसिद्धेऽपि सिद्धे सर्वागमैरपि॥ १२७॥
दृष्टेऽप्यकालमरणे विचिकित्सेत् कथं बुधः।
गुणवद्भिषगादीनां सम्भवे सम्भवेत्तु यः॥ १२८॥
मृत्युस्तं कालजं प्राहुरितरं तद्विपर्यये।

यदि अकाल मृत्यु न होती, तो सन्यास और रोहिणी आदि महारोग से ग्रस्त पुरुष की वैद्य द्वारा उपेक्षा करने से भी सहसा मृत्यु नहीं होती अथवा चिकित्सा करने से भी जीवन रक्षा नहीं होती। प्रतिदिन युद्ध में शस्त्र द्वारा एक-दूसरे पर प्रहार करते हुए हजारों व्यक्तियों की और साधु-वृत्त (सद्वृत्त) करने वालों के आयु की स्थिति असमान नहीं होनी चाहिए। यदि अकाल मृत्यु न होती, तो इंद्र आदि देवता शत्रुओं का आयुधों (शस्त्र) द्वारा वध न करें, अश्विनीकुमारों द्वारा रोगों की औषधियों द्वारा चिकित्सा न की जाय। कच्चा घड़ा और पका घड़ा की रक्षा करने से देर तक रहता है और रक्षा न करने से शीघ्र टूट जाता है, इसी प्रकार चित्र में स्थित घड़े आदि की रक्षा करने पर चिरकाल तक तथा रक्षा न करने पर शीघ्र टूट जाते हैं। इस प्रकार अत्यन्त प्रसिद्ध सब शास्त्रों से सिद्ध अकाल मृत्यु के विषय में विद्वान् कैसे सन्देह कर सकता है ? चिकित्सा के चारों पाद चिकित्सक, औषध, परिचारक तथा रोगी के गुणवान् होने पर भी जो मृत्यु होती है, वह 'कालज मृत्यु' है तथा इसके विपरीत जो मृत्यु होती है वह 'अकाल मृत्यु' कही जाती है।

यथा रथो बाह्यमानो न्यायेन क्रमशः क्षयम्॥ १२९॥
यायादात्मवतामायुस्तथाऽन्येषां विपर्ययः।
शुचितैलदशो दीपः कीटवाताद्यपीडितः॥ १३०॥
दीप्तिमान्वर्तते सम्यक् यथैवास्नेहसङ्क्षयात्।
स एवातो यथा च स्याद् विपरीतो विपर्यये॥ १३१॥
हिताहितोपचारेण तथैव पुरुषो ध्रुवम्।

जिस प्रकार सम भू-भाग में युक्तिपूर्वक चलाया गया रथ क्रमशः धीरे-धीरे समय आने पर अवश्य नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार हित-सेवन तथा अहित का परित्याग करने से पुरुषों की आयु धीरे-धीरे क्षय को प्राप्त होती है। अपथ्य सेवन करने वाले की आयु मध्य में ही नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार निर्मल तैल युक्त दीपक कीट एवं वायु आदि से पीड़ित न होकर तैल के क्षय होने तक सम्यक् प्रकाश देता है और वही दीपक इसके विपरीत अवस्था में मलिन तैल युक्त होने पर कीट एवं वायु आदि से पीड़ित होकर तैल के शेष रहने पर भी शीघ्र बुझ जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की आयु हित (पथ्य) आहार-विहार से नियत समय पर्यन्त अवश्य रहती है तथा अहित आहार-विहार से बीच में ही नष्ट हो जाती है।

शरीर-रक्षण का उपदेश

सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीरं पालयेदतः[1] ॥ १३२ ॥
तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम्।
नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी सदा[2] ॥ १३३ ॥
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्।

इसलिए सब कुछ छोड़कर शरीर का पालन करना चाहिए, क्योंकि प्राणियों को शरीर के अभाव में सब पदार्थों का अभाव (दृष्ट-अदृष्ट प्रयोजन का अभाव) हो जाता है। जिस प्रकार नगर का मालिक अपने नगर की तथा रथ वाला अपने रथ की सदैव रक्षा करता है, ठीक उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति अपने शरीर के कार्यों के प्रति सावधान रहे।

हितचर्या

आहारकल्पनाहेतून् स्वभावादीन् विशेषतः ॥ १३४ ॥
समीक्ष्य हितमश्नीयाद्देहो ह्याहारसम्भवः।
भीलज्जायन्त्रणालोभहर्षशोकवशंगतः ॥ १३५ ॥
न जातु धारयेद्वेगांस्तद्धि सर्वापदां पदम्।
हितमभ्यस्यतः पुंसो नाकाले कालदंष्ट्रया ॥ १३६ ॥
सञ्जायते परामर्शो बलोत्साहेन्द्रियायुषाम्।
अहितानि च सन्त्यज्य दोषमप्याप्नुयाद्यदि ॥ १३७ ॥
तथाप्यानृण्यमायाति साधूनामात्मवानिति।
यच्च रोगसमुत्थानं न शक्यमिह केनचित् ॥ १३८ ॥
परिहर्तुं न तत्प्राप्य शोचितव्यं मनीषिणा।
हिताहारविहाराणां सदाचारनिषेविणाम् ॥ १३९ ॥
लोकद्वयव्यपेक्षाणां जीवितं ह्यमृतायते।

आहार की कल्पना में स्वभाव, संस्कार एवं मात्रा आदि जो हेतु हैं, उनको विशेष रूप से विचार कर हित भोजन को करना चाहिए, क्योंकि शरीर आहार से बनता है। भय, लज्जा, यन्त्रणा (कष्ट), लोभ, हर्ष तथा शोक के वश में होकर मूत्रादि के अधारणीय वेग को नहीं धारण करना चाहिए, क्योंकि इन वेगों को धारण करना अनेक विपत्तियों का स्थान (कारण) है। हित-कारी (पथ्य) आहार-विहार का निरन्तर सेवन करने वाले पुरुषों के बल, उत्साह, इन्द्रिय तथा

१. च० नि० ६।७। २. च० सू० ५।१०३।

आयु पर अकाल में कालदंष्ट्रा (यमराज) का आक्रमण नहीं होता है। अहित आहार-विहार का त्याग करने पर भी यदि किसी व्यक्ति को रोगादि उत्पन्न दिखलायी पड़ते हैं, तो आत्मवान् व्यक्ति साधुओं के ऋण से मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मवान् व्यक्ति ने सज्जनों के कथनानुसार हित का सेवन किया ही है, यदि कोई व्याधि हो गयी, तो उसका क्या दोष है ? रोगों के जिन कारणों का परिहार नहीं किया जा सकता, उनके कारण यदि कोई रोग उत्पन्न हो जाय, तो बुद्धिमान को चिन्ता (शोक) नहीं करनी चाहिए। जो हित आहार-विहार तथा सदाचार (सद्वृत्त) का सेवन करते हैं, इस लोक तथा परलोक का ध्यान रखते हैं, उनका जीवन अमृत की भाँति हितकारक होता है।

गृध्नुर्ग्राम्यसुखे वश्यः क्लेशानां हृतसत्पथः ॥ १४० ॥
मूढ़ो जीवत्यनर्थाय दुर्गतिं परिबृंहयन्।
विदुषाऽन्तःशरीरस्थान्नित्यं सन्निहितानरीन् ॥ १४१ ॥
जित्वा वर्ज्यानि वर्ज्यानि चिरं जीवितुमिच्छता।
तदात्वे चानुबन्धे वा तस्मात्कर्माशुभोदयम्।
स्मरन्नात्रेयवचसो न धीमान् कर्तुमर्हति ॥ १४२ ॥

इति विरुद्धान्नविज्ञानीयो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

जो मूर्ख व्यक्ति ग्राम्य-सुख (इन्द्रिय-सुख) में अतृप्त होता है, राग-लोभ आदि के वश में रहता है तथा सत्पथ (सन्मार्ग) को छोड़ देता है, वह अपनी दुर्गति ही बढ़ाता है, अनर्थ के लिए जीता है। इसलिए विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि शरीर के भीतर नित्य समीप रहने वाले काम-क्रोध-राग-द्वेष आदि शत्रुओं को जीतकर चिरकाल तक जीने की इच्छा से त्याज्य वस्तुओं का परित्याग करना चाहिए। चिरकाल तक जीने की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान् मनुष्य को भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के वचन (उपदेशों) का स्मरण करते हुए ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए, जिसका तत्काल अथवा भविष्य में अशुभ फल हो।

इस प्रकार 'विरुद्धान्नविज्ञानीय' नामक नवम अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

विरुद्ध आहार का हेतु

१. गुण-विरुद्ध—

(क) गुणों की समता—मछली और दुग्ध रस एवं विपाक में मधुर होने से अभिष्यन्दि।

(ख) गुणों की विषमता—दुग्ध शीतवीर्य एवं मछली उष्णवीर्य होने से दोनों परस्पर विरोधी हैं।

२. मात्रा-विरुद्ध—मधु एवं घृत सम मात्रा में विरुद्ध हैं।

३. संस्कार-विरुद्ध—तप्त दही संस्कार-विरुद्ध है।

४. देश-विरुद्ध—ऊषर भूमि में स्थित जल देश-विरुद्ध है।

५. काल-विरुद्ध—रात्रि में सत्तू खाना काल-विरुद्ध है।

६. संयोग-विरुद्ध—सत्तू खाने के पहले एवं पीछे जल पीना संयोग-विरुद्ध है।
७. स्वभाव-विरुद्ध—केवल यवक (धान्य-विशेष) का सेवन स्वभाव-विरुद्ध है।

तीन उपस्तम्भ

१. आहार।
२. स्वप्न (निद्रा)।
३. अब्रह्मचर्य।

निद्रा के भेद

१. कालस्वभावज।
२. आमयज।
३. चित्तस्वेदज।
४. देहस्वेदज।
५. श्लेष्मप्रभवा।
६. आगन्तुक।
७. तमोभवा।

जनपदोध्वंस से बचने का उपाय

ब्रह्मचर्य, दया, दान, सदाचार, शान्ति, सद्धर्म का पालन, सत्कथाओं का श्रवण, देवर्षियों तथा संयमी लोगों का पूजन, दूषित देश को छोड़कर अच्छे देश में गमन, साधुओं की सेवा तथा दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा।

आयु की स्थिति एवं विनाश का आधार

दैव (दूसरे जन्म में कृत कर्म)		पुरुषाकार (इस जन्म में कृत पौरुष)
श्रेष्ठ कर्म	सुखमय आयु	श्रेष्ठ कर्म
मध्यम कर्म	मध्यम आयु	मध्यम कर्म
अवर कर्म		अवर कर्म

मृत्यु के विभिन्न भेद

(क) दो प्रकार की मृत्यु—
काल मृत्यु
अकाल मृत्यु

(ख) वेदवादी के मतानुसार एक सौ एक प्रकार मृत्यु—
काल मृत्यु— १
आगन्तुक (अकाल) मृत्यु—१००

(ग) बौद्ध के मतानुसार चार प्रकार की मृत्यु—
आयु के क्षय से।
हृदय आदि का कार्य रुक जाने से।
आयु एवं प्रारब्ध का क्षय हो जाने से।
उपच्छेद शस्त्रादि के आघात एवं मारण-मोहन आदि से।

दशमोऽध्यायः

अथातोऽन्नपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'अन्नपानविधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

सुरक्षित भी अन्न और पान (अनुपान) अविधि के द्वारा यदि उपयोग किया जाय, तो रोग या मृत्यु हो जाती है। इसलिए उसके उपयोग में विशेष विधि के प्रदर्शन हेतु इस अध्याय का आरम्भ किया जा रहा है। 'अन्नं शाल्यादि, पानमनुपानादि, विधिर्विधानं, कल्पनं प्रकारो वा' (डल्हण)। अर्थात् शालि आदि अन्न तथा अनुपान आदि पान की विधि (विधान, कल्पना या प्रकार) बतलाने के लिए इस अध्याय की व्याख्या की जा रही है।

विधिपूर्वक सेवित अन्नपान का फल

विधिविहितमन्नपानमिष्टेन्द्रियार्थमायतनमायुषो ब्रुवते। यत्तदायत्तानि ह्योजस्तेजोधात्विन्द्रियबलतुष्टिपुष्टिप्रतिभारोग्यादीनि। तदिन्धना चान्तरग्नेः स्थितिः। अग्निमूलं च देहधारणमिति ॥ ३ ॥

विधिपूर्वक लिया गया अन्न-पान (आहार), इन्द्रियार्थों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) के लिए इष्ट (अभीष्ट या हितकारी) तथा आयु का आयतन (मूल कारण) कहा गया है, क्योंकि ओज, तेज, रसादि धातुएँ, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ, बल, तुष्टि (प्रसन्नता), प्रतिभा तथा आरोग्य आदि सभी इसी (अन्नपान) के अधीन हैं। इसी अन्नपानरूपी ईन्धन से अन्तराग्नि (जठराग्नि) की स्थिति है और जठराग्नि ही शरीर-धारण का मूल है।

अग्नि के विषय में महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'बलमारोग्यमायुश्च प्राणश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः। अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्ज्वलति व्येति चान्यथा' ॥
(च० सू० २७।३४२)

अर्थात् बल, आरोग्य, आयु एवं प्राण अग्नि के आश्रित हैं। आहार रूपी ईन्धन से जठराग्नि प्रज्वलित रहती है, इसलिए आहार रूपी ईन्धन के न मिलने से जठराग्नि शान्त हो जाती है।

सप्ताहार की कल्पना

अथात्मवान् स्वभावसंयोगसंस्कारमात्रादेशकालोपयोगव्यवस्थाः सप्ताहारकल्पनाविशेषाणां स्वास्थ्यास्वास्थ्यफलानां हेतुभूताः समीक्ष्य हितमेवानुरुद्ध्येत ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् आत्मवान् (बुद्धिमान्) मनुष्य स्वास्थ्य एवं अस्वास्थ्य के होने में कारणभूत **आहार का** (१) स्वभाव, (२) संयोग, (३) संस्कार, (४) मात्रा, (५) देश, (६) **काल और** (७) उपयोग व्यवस्था नामक सात कल्पना विशेषों को सम्यक् प्रकार से विचार कर हिताहार का ही सेवन करे।

महर्षि अग्निवेश ने सप्त आहार-कल्पना के स्थान पर 'अष्टाऽऽहारविधिविशेषायतन' का उल्लेख किया है—'तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति, तद्यथा—प्रकृतिकरण-संयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि (भवन्ति)। (च० वि० १।२१) अर्थात् (१) प्रकृति (स्वभाव), (२) करण (संस्कार), (३) संयोग, (४) राशि, (५) देश, (६) काल, (७) उपयोगसंस्था (उपयोग-व्यवस्था) एवं (८) उपयोक्ता (उपभोक्ता)—ये आठ आहारविधिविशेषायतन होते हैं। जबकि महर्षि वाग्भट ने उपयोगसंस्था एवं उपभोक्ता को एक मान करके सप्ताहार-कल्पना की है।

स्वभाव

तत्र स्वभावतो दिव्योदकरक्तशालिषष्टिकमुद्गैणलावादयो लघवः। क्षीरेक्षुव्रीहि-माषानूपामिषादयो गुरव इति ॥ ५ ॥

वर्षा का जल, रक्तचावल (*Oryza sativa* var ?), साठी का चावल (*Oryza sativa* var ?), मुद्ग (*Phaseolus mungo*), एण (हरिण का भेद *Antiolpe ceruicapra*) तथा लावा पक्षी (*Turvix* sp.) का मांस आदि आहार द्रव्य स्वभाव (द्रव्य स्वरूप) से लघु होते हैं और दूध, गन्ना (*Saccharum officinale*), व्रीहिधान्य, उड़द (*Phaseolus radiatus*) तथा आनूपदेशीय प्राणियों का मांस आदि आहार द्रव्य स्वभाव से ही गुरु होते हैं।

इस प्रकार आहार द्रव्यों का स्वाभाविक गुण गुरु-लघु, स्निग्ध-रूक्ष, शीत-उष्ण आदि का विचार करके आहार का सेवन करना चाहिए।

संयोग

ते खल्वपि संयोगादिविशेषैरन्यथात्वं प्रतिपद्यन्ते ॥ ६ ॥

ये द्रव्य संयोग आदि विशेषताओं से विपरीत स्वभाव के बन जाते हैं।

तत्र संयोगो नाम द्वयोर्बहूनां वा संहतीभावः। स विशेषमारभते यन्नैकशो द्रव्याणि ॥ ७ ॥

दो या बहुत से द्रव्यों का एक साथ मिलना संयोग कहलाता है। जो कार्य एक द्रव्य से नहीं होता है, वही अनेक द्रव्यों के संयोग से हो जाता है। जैसे मधु-घृत तथा मछली-दुग्ध का संयोग मारक होता है, किन्तु पृथक्-पृथक् वे स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होते हैं।

संस्कार

संस्कारस्तु तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालभावनाभाजनादिभिरुपजन्यते।८।

जल तथा अग्नि के सन्निकर्ष, शौच (स्वच्छता), मन्थन, देश, काल, भावना तथा भाजन (पात्र) आदि से द्रव्य का जो विशेष गुण प्राप्त किया जाता है, उसका नाम संस्कार है।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः। संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणास्तोयाऽग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनभावनादिभिः काल-प्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते'। (च० वि० १।२१-२)

अर्थात् स्वाभाविक द्रव्यों का अन्य गुणों के आधान के लिए अभिसंस्करण करण हैं। अन्य गुणों का आधान संस्कार है। वे गुण जल, अग्निसन्निकर्ष, शौच, मन्थन, देश, काल, वासन

(सुगन्धित द्रव्यों द्वारा वासने से), भावना (स्वरसादि द्वारा भावना देने से), कालप्रकर्ष (संस्कार हेतु निर्धारित समय-यापन) और भाजन (भाण्ड) से आधान किये जाते हैं।

मात्रा

मात्रा पुनः पिण्डपरिमाणतः समुदायेन प्रतिद्रव्यापेक्षया चाहारराशिः ॥ ९ ॥

मात्रा दो प्रकार की होती है—(१) पिण्ड परिमाण से (२) प्रत्येक द्रव्य के गुरु एवं लघु आदि गुणों के समुदाय से आहार राशि कहलाती है।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ। मात्राऽमात्राफलविनिश्चयार्थः।'

अर्थात् मात्रा और अमात्रा का फल विनिश्चय करने के लिए सर्वग्रह एवं परिग्रह राशियाँ हैं। सभी आहार द्रव्यों को एक में मिलाकर पिण्ड रूप में ग्रहण करना पिण्ड-परिमाण (सर्वग्रह) तथा आहार-द्रव्यों को अलग-अलग निश्चित मात्रा में ग्रहण करना परिग्रह कहलाता है।

देश

देशो द्रव्यस्योपयोक्तुश्चोत्पत्त्यवस्थाने। तत्र पुनरुपयोक्ता स्वस्थातुरत्वतः प्रकृतिभेदतश्च परीक्ष्यः ॥ १० ॥

आहार-द्रव्यों का उत्पत्ति स्थान तथा उपयोग करने वाले का उत्पत्ति-स्थान देश कहलाता है। इसमें उपभोक्ता के स्वास्थ्य की तथा रोगी की प्रकृति की दृष्टि से परीक्षा करनी चाहिए।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'देशः पुनः स्थानं, स द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यं चाचष्टे। (च० वि० १।२१-५)

अर्थात् देश पुनः स्थान को कहते हैं। द्रव्यों की उत्पत्ति और प्रचार देश सात्म्य को बतलाता है।

काल

कालस्तु ऋतुव्याध्यपेक्षो जीर्णाजीर्णलक्षणश्च ॥ ११ ॥

[1]अजीर्णं हि पूर्वस्याहारस्यापरिणतो रस उत्तरेण संसृज्यमानः सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु ॥ १२ ॥

जीर्णे तु स्वस्थानस्थेषु दोषेषु वातानुलोम्यात्सृष्टेषु मूत्रपुरीषवेगेषु विशुद्धेषूद्गारहृदयस्रोतोमुखेषु विशदकरणे लघुनि शरीरेऽग्नावुदीर्णे जातायां बुभुक्षायामभ्यवहृतमन्नमप्रदूषयद्दोषानायुर्बलवर्णानभिवर्धयति ॥ १३ ॥

केवलमयमेव कालो भोजनस्य ॥ १४ ॥

अतीतकालं पुनस्तद्वातविष्टब्धं कृच्छाद्विपच्यते कर्शयत्यन्नरुचिं च पुनरुपहन्ति।१५।

काल ऋतु की अपेक्षा से, व्याधि की अपेक्षा से तथा आहार के जीर्ण एवं अजीर्ण के लक्षणों के अनुसार होता है।

अजीर्ण में भोजन करने से पहले खाये हुए आहार का अपरिणत (अपक्व) रस उत्तराहार के रस के साथ मिलकर शीघ्र सब दोषों को प्रकुपित करता है।

भोजन के जीर्ण होने पर (खाये हुए अन्न के परिपक्व होने पर) वात आदि दोष अपने स्थान में स्थित होते हैं। वायु की अनुलोमता से मूत्र और पुरीष का विसर्जन होता है। उद्गार

---

१. 'अजीर्णेऽपि' इति पाठान्तरम्।

(डकार) तथा हृदय के स्रोतों के मुख विशुद्ध होते हैं, इन्द्रियाँ स्वच्छ होती हैं, शरीर में लघुता आती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, भूख लगती है और इस समय किया गया आहार दोषों को दूषित नहीं करता तथा आयु, बल एवं वर्ण (कान्ति) की वृद्धि करता है।

भोजन का यही ठीक समय है।

भोजन का समय व्यतीत हो जाने पर भोजन करने से वायु विष्टब्ध (अवरुद्ध) हो जाता हैं, आहार कष्ट के साथ पचता है, शरीर को कृश करता है तथा भोजन की रुचि नष्ट करता है।

आहार के उपयोग के नियम

उपयोगव्यवस्था तु नास्नातो न दिग्वासा नैकवस्त्रधृक् न मलिनवसनो नाहुत्वा नाजपित्वा नानिरूप्य देवताभ्यो न पितृभ्यो नादत्वाग्रमग्नये न गुरुभ्यो नातिथये नाभ्यागतेभ्यो न श्ववयःश्वपचेभ्यः प्रत्यवेक्ष्य चाश्रितोपाश्रितानपि तिरश्चोऽपि स्वपरिगृहीतान् प्रशस्तदेशकालोपकरणयुक्तः स्रग्वी विभूषितः सुगन्धिरार्द्रपाणिपादः सुविशुद्धवदनोऽभिमतसहायः केशमक्षिकाद्यजुष्टमनिन्द्यमनिन्दन्न निन्दितं पुनर्नोष्णीकृतं नात्युष्णमनुपदग्धं सुसिद्धमलोलो नासात्म्यं नाविदितं नाविदितागमं नातिसायं नातिप्रगेनाकाशे नातपे नान्धकारे नाधो वृक्षस्य न शय्यास्थो नोन्नम्य प्रदेशिनीं न पात्रे भिन्ने नासंवृते न मलिने भावदूषिते वा न चासनस्थितेन हस्तस्थे न हस्ते प्राङ्मुखः सुमनाः शुचिभक्ताक्षुधितानुकूलजनोपहितं हितमन्नमश्नीयात् ॥ १६ ॥

स्नान किये बिना, नंगा होकर, एक वस्त्र पहनकर, मलिन वस्त्र पहन कर, बिना आहुति (हवन) किये, बिना मन्त्रों का जाप किये, देवताओं एवं पितरों को समर्पित किये बिना, सभी भोजन का प्रथम भाग अग्नि में डाले बिना, गुरु-अतिथि-अभ्यागत को दिये बिना, कुत्ता (*Canis familiaris*), वयांसि (पक्षी) एवं श्वपच (मेहतर) को दिये बिना, अपने आश्रित भृत्य आदि तथा उपाश्रित को दिये बिना एवं गाय (*Bos indicus*), घोड़े (*Equuas cabellus*) आदि के भोजन का प्रबन्ध किये बिना भोजन नहीं करना चाहिए। प्रशस्त देश तथा प्रशस्त काल में भोजन के पात्र एवं आसन आदि समस्त उपकरणों से युक्त होकर, माला पहन कर, आभूषणों से विभूषित होकर, सुगन्धि लगाकर, हाथ-पाँव धोकर, मुख को शुद्ध कर एवं अनुकूल सहायकों के साथ भोजन करना चाहिए। भोजन केश एवं मक्खी (*Musca nebulo*) आदि से अदूषित, अनिन्द्य (जो निन्दनीय न हो), निन्दित (अप्रिय) होने पर भी उसकी निन्दा न करते हुए, दुबारा गर्म किये बिना करना चाहिए। अत्यन्त उष्ण तथा अग्नि आदि से जला हुआ आहार नहीं करना चाहिए। अच्छी प्रकार पकाये हुए, आहार का लालच किये बिना, असात्म्य तथा अविदित (अज्ञात), अविदितागम (यह ज्ञात नहीं हो कि भोजन कहाँ से आया है), अति सायंकाल (सायंकाल में बहुत विलम्ब करके) तथा अति प्रातःकाल (अत्यन्त सबेरे), खुले आकाश में, धूप में, अन्धकार में, वृक्ष के नीचे, शय्या पर बैठकर, प्रदेशनी (तर्जनी अँगुली) को खड़ी करके भोजन नहीं करना चाहिए। टूटे बर्तन में भोजन नहीं करना चाहिए। खुला हुआ भोजन (बिना ढँका हुआ) तथा मलिन अथवा दूषित पात्र में भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन को आसन पर रखकर अथवा हाथ में लेकर अथवा हाथ में पात्र लेकर नहीं करना चाहिए। पूरब की ओर मुख करके, प्रसन्न मन से, पवित्र भक्त, अक्षुधित (भूख रहित) तथा अनुकूल जनों द्वारा लाया गया हितकारक आहार करना चाहिए।

आहार-सेवन-विधि

न पर्युषितमन्यत्र मांसोपदंशभक्ष्येभ्यः ॥ १७ ॥

नाशेषमन्यत्र दधिमधुघृतसलिलसक्तुशुक्तपायसेभ्यः ॥ १८ ॥

अपि च । स्निग्धं लघूष्णमविलम्बितमनतिद्रुतमजल्पन्नहसंस्तन्मनाः समीक्ष्य सम्यगात्मानम् ॥ १९ ॥

मांस एवं उपदंश (चटनी आदि) भक्ष्य को छोड़कर अन्य पर्युषित (बासी) भोजन नहीं करना चाहिए ।

दधि, मधु, घृत, जल, सत्तू, काँजी एवं खीर को छोड़कर अन्य आहार द्रव्यों को खाते समय थोड़ा छोड़ देना चाहिए ।

स्निग्ध, लघु एवं उष्ण आहार सेवन करना चाहिए । बहुत धीरे-धीरे अथवा बहुत जल्दी-जल्दी, बातचीत करते हुए तथा हँसते हुए भोजन नहीं करना चाहिए । एकाग्रचित्त (तन्मय) होकर अपनी आहार-शक्ति एवं पाचन-शक्ति की सम्यक् समीक्षा (कल्पना) करके आहार करना चाहिए ।

स्निग्ध, लघु एवं उष्ण आहार

स्निग्धलघूष्णानि हि वह्निमौदर्यमुदीरयन्ति कोष्ठं परिशोधयन्ति धातून्न विकुर्वते क्षिप्रं जीर्यन्त्यनिलमनुलोमयन्ति ॥ २० ॥

तथा स्निग्धं दृढीकरोतीन्द्रियाण्युपचिनोति शरीरमपचिनोति जरसं बलमभिवर्धयति वर्णप्रसादमभिनिर्वर्तयति ॥ २१ ॥

लघु च पुनः स्वभावादिभिरन्नप्रतिपीडयद्दोषानव्यथमानं परिणाममेति । विपन्नमपि चाल्पदोषं भवति ॥ २२ ॥

उष्णं पुनर्जनयति रुचिमुपशोषयति श्लेष्माणम् ॥ २३ ॥

स्निग्ध, लघु एवं उष्ण आहार जठराग्नि को प्रदीप्त करते हैं, कोष्ठ का शोधन करते हैं, धातुओं को विकृत नहीं करते, सन्ध्या समय तक पच जाते हैं एवं वायु का अनुलोमन करते हैं ।

स्निग्ध आहार इन्द्रियों को दृढ़ (बलवान्) करता है, शरीर को पुष्ट करता है, वृद्धावस्था को रोकता है, बल को बढ़ाता है, वर्ण (कान्ति) एवं प्रसाद (प्रसन्नता) को उत्पन्न करता है ।

स्वभाव, संयोग, संस्कार आदि से लघु आहार दोषों को बिना पीड़ित किये हुए पच जाता है; न पचने पर (अपथ्य होने पर) स्वल्प दोषकारक होता है ।

उष्ण भोजन रुचि को उत्पन्न करता है तथा कफ को सुखाता है ।

आहार-सेवन की अन्य विधियाँ

विलम्बितं तु भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति बहु च भुङ्क्ते शीती भवति चान्नजातं विषमपाकं च भवति ॥ २४ ॥

अतिद्रुतं तु भुञ्जानस्य जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भवेदुत्स्नेहनमवसादनं भोजनस्याप्रतिष्ठानं गुणदोषाविभावनं च ॥ २५ ॥

समीक्ष्य सम्यगात्मानमिति । ममेदं सात्म्यमिदमसात्म्यमिति च नित्यमप्रमत्तः प्रत्यवेक्षेत ॥ २६ ॥

धीरे-धीरे (रुक-रुक कर) खाने से तृप्ति नहीं होती, बहुत खाया जाता है, भोजन ठंडा हो जाता है और अन्न का विषम पाक होता है ।

बहुत जल्दी-जल्दी भोजन करने से, खाते समय बातचीत करने तथा हँसने से अथवा अन्यमनस्क होकर खाने से आहार का उत्स्नेहन (अन्य नाड़ी श्वास-मार्ग में गमन), अवसादन (भोजन के पाचन में शिथिलता) होता है, भोजन की स्थिति तथा भोजन के गुण दोष का ज्ञान नहीं होता है ।

अपने आहार को सम्यक् प्रकार से समझकर भोजन करना चाहिए । मुझे यह सात्म्य (अनुकूल–हित) है और यह मुझे असात्म्य (प्रतिकूल–अहित) है, इस प्रकार सावधान होकर देखें ।

सात्म्य

तत्र सात्म्यं नाम सहात्मना भवत्यभ्यस्तं तदौचित्यादुपशेत इत्येके । सात्म्यविपरीतमनुपशयादसात्म्यम् ॥ २७ ॥

अन्ये पुनः प्रकृतिवयोदेशर्तुदोषव्याधिवशेन सात्म्यं बहुविधमिच्छन्ति । ते ह्युपशयमात्रमङ्गीकृत्य विपरीतगुणमप्युपचारेण सात्म्यमाचक्षते । तुल्यगुणं चानुपशयादसात्म्यम् ।

सात्म्य उसे कहते हैं, जो मन, शरीर तथा आत्मा के साथ अभ्यस्त होने से सुखावह (अनुकूल) होता है । जो सात्म्य के विपरीत होता है, वह अनुपशय या असात्म्य कहलाता है । कुछ अन्य आचार्य प्रकृति, वय, देश, ऋतु, दोष तथा व्याधि के भेद से सात्म्य को अनेक प्रकार का मानते हैं । वे उपशय मात्र को विपरीत गुण वाला होने पर भी उपचार की दृष्टि से सात्म्य मानते हैं । चिकित्सा की दृष्टि से समान गुण वाला आहार भी अनुपशय होने से असात्म्य होता है ।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते, सात्म्याऽर्थो ह्युपशयार्थः' । (च० वि० १।२०)

'सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते' । (च० वि० ८।११८)

अर्थात् जो आत्मा (शरीर) के लिए सुखावह हो, उसे सात्म्य कहा जाता है । सात्म्य का जो अर्थ होता है, वही अर्थ उपशय का भी होता है । निरन्तर सेवन करने पर अपनी प्रकृति के अनुकूल जो हो जाय, वही सात्म्य है ।

सात्म्य के भेद

सात्म्यं तु प्रवरावरमध्यविभागेन त्रिविधं । तत्र सर्वरसं प्रवरमेकरसमवरं मध्यं तु मध्यममेव ॥ २९ ॥

तेषु प्रवरं समदोषस्योपदिशन्तीति । इतरेषामपि क्रमेण सात्म्यमपि चाहितं पादेन पादांशेन वा विवर्जयेदित्युक्तं प्राक् ॥ ३० ॥

तत्र यदाहारजातं समान् धातूननुवर्तयति विषमांश्च समीकरोति तत्समासतो हितम् । विपरीतमहितम् ॥ ३१ ॥

तत्पुनर्मात्रायोगादिवैचित्र्यादनियतमपि यथोपदेशं यथाभूयिष्ठं च शीलयेत् परिहरेच्च ॥ ३२ ॥

प्रवर, अवर और मध्य भेद से सात्म्य तीन प्रकार का होता है। इनमें प्रवर सात्म्य वह है, जिसमें सभी रस सात्म्य होते हैं। अवर सात्म्य वह है, जिसमें कोई रस सात्म्य होता है तथा मध्यम सात्म्य प्रवर और अवर सात्म्य के मध्य का होता है। इसमें प्रवर सात्म्य समदोष प्रकृति के व्यक्ति के लिए कहा गया है। यदि किसी को क्रमशः सेवन करने से अहितकारक वस्तु सात्म्य हो गयी है, तो उसको पादेन (चतुर्थांश) अथवा पादांशेन (सोलहवें भाग) से छोड़ देना चाहिए। यह पहले भी कहा जा चुका है। संक्षेप में जो आहार समान धातुओं का अनुवर्तन (वृद्धि) करता है तथा विषम धातुओं को समान करता है, वह हित कहलाता है। इसके विपरीत आहार अहित कहलाता है।

हित-अहित आहार— मात्रा-संयोग आदि की विभिन्नता से आहार निश्चित रूप से हित अथवा अहित होता है, तथापि शास्त्रोपदेश के अनुसार यथासम्भव हित आहार का सेवन करना चाहिए और अहित आहार का परित्याग करना चाहिए।

समशन, अध्यशन, अमात्रा अशन एवं विषमाशन

तथा विशेषतः समशनमध्यशनममात्राशनं विषमाशनं च वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

तत्र पथ्यापथ्यमेकत्र भुक्तं समशनम्। भुक्तस्योपरि भुक्तमध्यशनम्। अमात्राशनं पुनः पृथगेवोपदेक्ष्यते। अप्राप्तातीतकालं तु भुक्तं विषमाशनमिति ॥ ३४ ॥

विशेष रूप से समशन, अध्यशन, अमात्राशन और विषमाशन को त्याग देना चाहिए।

पथ्य और अपथ्य को एक साथ मिलाकर खाना समशन कहा जाता है। भोजन करके किञ्चित् काल के पश्चात् पुनः खाना अध्यशन है। अमात्राशन को पुनः पृथक् से कहेंगे। यथोचित भोजन काल आने पर अथवा बीत जाने पर भोजन करना विषमाशन है।

भोजन देने की विधि

भुज्जानस्तु पेयायूषरसान् व्यञ्जनानि राजतेषु पात्रेषु निदध्यात् ॥ ३५ ॥

परिशुष्कप्रदिग्धान्त्युष्णं च पयः सौवर्णेषु। खलकट्वरकाम्बलिकान् कांस्येषु[1]। रागषाण्डवसट्टकान्[2] वज्रवैदूर्यविचित्रेषु। घृतमायसे। पयः सुशीतं ताम्रमये। पानीयं पानकानि च मृद्वेमस्फटिककाचमयेषु। ओदनं च विस्तीर्णे मनोरमे स्थाने ॥ ३६ ॥

अन्यथा हि वर्णगन्धरसान्यत्वादहितं स्यात् ॥ ३७ ॥

अपि च। दक्षिणपार्श्वे भक्ष्यं स्थापयेत्। सव्ये पेयं मुखोद्घर्षणपिण्डीं च ॥ ३८ ॥

मध्ये भोज्यमिति ॥ ३९ ॥

भोजन करते समय पेय पदार्थ—यूष, मांसरस, व्यंजन (शाक आदि) को चाँदी के पात्र में देना चाहिए। परिशुष्क (सूखे हुए) पदार्थ, प्रदिग्ध (दही आदि से लिप्त) पदार्थ, अत्यन्त उष्ण दुग्ध स्वर्ण पात्र में देना चाहिए। खल, कट्वर तथा काम्बलिक काँसे के बर्तन में देना चाहिए। राग, षाण्डव, सट्टक को हीरा एवं वैदूर्य के विभिन्न पात्रों में देना चाहिए। घृत को लोहे के पात्र में देना चाहिए। अत्यन्त शीतल जल को ताम्र के पात्र में देना चाहिए। पानीय द्रव्य और पानक आदि मिट्टी, सोना या स्फटिक के पात्रों में देना चाहिए। चावल (*Oryza sativa*) को विस्तीर्ण (फैले हुए) एवं मनोहर पात्र में देना चाहिए। ऐसा न करने से भक्ष्य पदार्थों के वर्ण,

---

१. 'कट्वरो नाम कट्वम्लोपदेहव्यञ्जनविशेषः' इतीन्दुः।

२. 'सट्टकनामा रागषाडवसदृशो देशान्तरे प्रसिद्धः'।

गन्ध, रस आदि विकृत होकर अहितकारक बन जाते हैं। इतना ही नहीं बल्कि, भोजन करते समय दक्षिण भाग में भक्ष्य वस्तुओं को रखना चाहिए, वाम भाग में पीने योग्य द्रव्य तथा चबाने योग्य द्रव्य रखना चाहिए एवं भोज्य पदार्थों (चावल दाल आदि) को सामने रखना चाहिए।

भोजन की विधि

यथाऽग्निसात्म्यं तु प्राक् द्रवमुपशुष्कं वाऽश्नीयात्। प्रागेव तु गुरुस्वादुस्निग्धं च। मध्येऽम्ललवणम्। अन्ते रूक्षं द्रवमितररसयुक्तं च ॥ ४० ॥

तत्र मन्दाग्नेर्द्रवोष्णेन समुत्तेजितोष्मणोऽन्यदुपयुक्तं सम्यक्पाकमेति ॥ ४१ ॥

अग्नि-सात्म्य के अनुसार पहले द्रव पदार्थ अथवा सूखे पदार्थ खाना चाहिए तथा गुरु, मधुर, स्निग्ध पदार्थ (भोजन) को पहले खाना चाहिए। मध्य में अम्ल एवं लवण भोजन को करना चाहिए। अन्त में रूक्ष, द्रव एवं इतर रस (कटु, तिक्त, कषाय रस) वाले द्रव्यों को खाना चाहिए। यदि मन्दाग्नि हो, तो उष्ण द्रव्य पदार्थ को खायें। इससे समुत्तेजित हुई अग्नि अन्य खाये हुए पदार्थ को सम्यक् रूप से पचा देती है।

अनुपान

अनुपानं तु सलिलमेव श्रेष्ठं सर्वरसयोनित्वात्सर्वभूतसात्म्यत्वाज्जीवनादिगुणयोगाच्च ॥ ४२ ॥

तच्छीतं दधिमधुगोधूममद्यविशेषेषु सर्वेषु च विदाहिषु शरद्ग्रीष्मयोश्च ॥ ४३ ॥
उष्णं पिष्टमयेष्वन्येषु च दुर्जरेषु हेमन्ते च ॥ ४४ ॥
द्रवद्रव्यविज्ञानीयं चेक्षेत ॥ ४५ ॥

क्षीरं शालिषष्टिकयोस्तथोपवासाध्वभाष्यस्त्रीव्यायामक्लान्तबालवृद्धेषु। मांसरसः शोषादिषु। वाते त्वम्लानि च। पित्ते शर्करोदकम्। त्रिफलोदकं तु सक्षौद्रं श्लेष्मणि प्रायशश्चाक्षिगलरोगेषु। मस्त्वेव वा दध्नि कूचीकाकिलाटयोश्च। धान्याम्लं मस्तु तक्रं वा शाकावरान्नेषु। मद्यं मांसेषु ॥ ४६ ॥

फलाम्लमम्बु वाऽऽसवांश्च विविधान् विभज्य प्रयोजयेत् ॥ ४७ ॥

विशेषतस्तु मध्वासवान् ग्राम्येषु। तीक्ष्णान् त्रिफलासवान्वन्येषु। न्यग्रोधादिफलासवान् विष्किरेषु। अर्कसेलुशिरीषकपित्थासवान् बिलेशयेषु दिग्धहृतेषु च। अम्लफलासवान् प्रसहेषु ॥ ४८ ॥

काशेक्षुपद्मबीजशृङ्गाटककसेरुकमृद्वीकाखदिरासवान्। क्षौद्रयुक्तं वा शीतमुदकमुदश्विद्वा महामृगेष्वौदकेषु च ॥ ४९ ॥

सुरां प्रतुदेषु तथा श्रमार्तेषु कृशेषु च ॥ ५० ॥
मधूदकं स्थलेषु ॥ ५१ ॥
मद्यं मद्यमांससात्म्याल्पाग्निषु ॥ ५२ ॥
अपि च। समासेनान्नविपरीतमविरोधि च ॥ ५३ ॥

जल आहार के अनुपान में सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यह सभी रसों की उत्पत्ति का कारण तथा सभी प्राणियों के लिए सात्म्य तथा जीवन आदि गुणों से युक्त है।

मद्य के सेवन करने में, सभी प्रकार के विदाहकारक आहार के सेवन में एवं ग्रीष्म ऋतु तथा शरद ऋतु में शीतल जल उत्तम अनुपान होता है।

पिट्ठी से बने पदार्थ, अन्य दुर्जर (देर से पचने वाले आहार) तथा हेमन्त ऋतु में उष्ण जल उपयुक्त होता है।

शीत और उष्ण जल के लिए 'द्रवद्रव्यविज्ञानीय' अध्याय को अनुपान की दृष्टि से देखना चाहिए।

शालि चावल (*Oryza sativa var. ?*), साठी चावल (*Oryza sativa var. ?*) के आहार सेवन में, उपवास, पैदल यात्रा, भाषण, स्त्री-सहवास (मैथुन), व्यायाम, बिना परिश्रम के थकान, बालक एवं वृद्ध में दुग्ध उत्तम अनुपान है। शोष (राजयक्ष्मा) आदि में मांसरस अनुपान है। वातविकार में अम्ल, पित्तविकार में शर्करा का शर्बत, कफविकार में और आँख तथा गले के रोगों में मधु मिश्रित त्रिफला का जल अनुपान है। दही, कूर्चिका एवं किलाट के आहार में मस्तु (दही का पानी) ही अनुपान है। शाक या अवर अन्न में धान्याम्ल, मस्तु या तक्र अनुपान है। मांसों में मद्य अनुपान है।

अम्ल फलों के रस तथा विविध प्रकार के आसवों को विभाग करके प्रयोग करना चाहिए।

विशेष रूप से ग्राम्य प्राणियों के मांस में मध्वासव, जांगल प्राणियों के मांसाहार में तीक्ष्ण त्रिफलासव, विष्किर वर्ग के प्राणियों के मांस में न्यग्रोध (वट *Ficus bengalensis* Linn.) आदि फलों के आसव, बिलेशय वर्ग के प्राणियों के मांस में और शस्त्र से हत प्राणियों के मांस में आक (*Calotropis procera*), शेलु (लिसोड़ा *Cordia dichotoma* Forst.), शिरीष (*Albizzia lebbeck* Benth.), कपित्थ (*Feronia limonia* Linn.) के आसव तथा प्रसह वर्ग के प्राणियों के मांसों में खट्टे फलों के आसव अनुपान रूप में दें।

महामृग तथा औदक वर्ग के प्राणियों के मांस में काश (*Saccharum spontanum*), इक्षु (*Saccharum officinale*), पद्मबीज (कमलगट्टा *Nelumbo nucifera*), शृंगाटक (सिंघाड़ा *Trapa bispinosa* Roxb.), कशेरुक (*Scirpuskysoor* sp.), मनुक्का (*Vitis vinifera* Linn.) तथा खदिर (*Acacia catechu* Willd.) के आसव को शहद के साथ अथवा शीतल पानी अथवा उदस्वित (पतली छाछ) के अनुपान में देवें।

प्रतुद वर्ग के प्राणियों के मांसों में तथा श्रम से थके एवं कृश पुरुषों में अनुपान में सुरा देना चाहिए।

स्थूल पुरुषों में मधु-मिश्रित जल अनुपान में देना चाहिए।

मद्य-मांस जिनको सात्म्य (अनुकूल) हो अथवा मंदाग्नि हो, उनको अनुपान में मद्य देना चाहिए।

संक्षेप में जो खाये हुए अन्न से विपरीत गुणों वाला हो, किन्तु वह विरोधी (विरुद्धाहार) न हो, उसको अनुपान के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

'अनु सह पश्चाद् वा पीयते इति अनुपानम्'। जो द्रव पदार्थ किसी औषध आहार के साथ या उसके सेवन के पश्चात् दिया जाता है, उसे अनुपान कहते हैं। शार्ङ्गधर ने कहा है—'यथा जलगतं तैलं क्षणेनैव प्रसर्पति। तथा भैषज्यमङ्गेषु प्रसर्पत्यनुपानतः'॥ अर्थात् जिस प्रकार जल में पड़ा तैल क्षण भर में फैल जाता है, उसी प्रकार अनुपान के द्वारा औषधि सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है। लोलिम्बराज ने कतिपय रोगों में निम्नलिखित अनुपान बतलाये हैं—

'शूले हिङ्गुघृतान्वितं, मधुयुता कृष्णा पुराणज्वरे
वाते साज्यरसोनकः, श्वसनके क्षौद्रान्वितं त्र्यूषणम् ।
शीते व्याललतादलं समरिचं मेहे वरा सोपला,
दोषाणां त्रितयेऽनुपानमुचितं सक्षौद्रमार्द्रादिकम् ॥
घनपर्पटकं ज्वरे, ग्रहण्यां मथितं हेम, गरे वमीषु लाजाः ।
कुटजोऽतिसृतौ, वृषोऽस्तपित्ते, गुदकीलेष्वनलः कृमौ कृमिघ्नः' ॥

अर्थात् शूलरोग में घृतमिश्रित हींग, पुराने ज्वर में मधु के साथ पीपर, वात रोग में घी से युक्त लहसुन, श्वास रोग में शहद मिश्रित त्र्यूषण (सोंठ-मरिच-पीपल), शीत रोग में पान के रस के साथ मरिच, प्रमेह में शर्करा के साथ त्रिफला, सन्निपात रोग में शहद के साथ अदरख, ज्वर में नागरमोथा तथा पित्तपापड़ा, ग्रहणी में तक्र, गरविष में स्वर्ण, वमन में धान का लावा, अतिसार में कुटज, रक्तपित्त में वासा, अर्श में चित्रक तथा कृमिरोग में वायविडंग का अनुपान लाभप्रद है ।

अनुपान सेवन से लाभ

अनुपानं खलु तर्पयति प्रीणयत्यूर्जयति बृंहयति देहस्य पर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति भुक्तमवसादयत्यन्नसङ्घातं भिनत्ति मार्दवमापादयति क्लेदयति सुखपरिणामितामाशुव्यवायितां चाहारस्योपजनयति ॥ ५४ ॥

अनुपान शरीर का तर्पण (तृप्ति) करता है, प्रसन्न करता है, उत्साह को बढ़ाता है, बृंहण करता है, देह की पर्याप्त वृद्धि करता है, खाये हुए अन्न को शिथिल करता है एवं छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त करता है । आन्त्र में कोमलता तथा क्लिन्नता को उत्पन्न करता है, आहार को सुखपूर्वक पचाता है तथा आहार को शीघ्र ही पूरे शरीर में फैला देता है ।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'अनुपानं हितं युक्तं तर्पयत्याशु मानवम् । सुखं पचति चाहारमायुषे च बलाय च' ॥

(च० सू० २७।३२६)

अर्थात् उचित रूप में सेवन किया अनुपान मनुष्य को शीघ्र तृप्त करता है । आयु तथा बल के लिए आहार को सुखपूर्वक पचाता है ।

अनुपान का निषेध

वर्ज्यं तूर्ध्वजत्रुगदश्वासकासप्रसेकहिध्मास्वरभेदोरःक्षतिभिर्गीतभाष्यप्रसक्तैश्च ।५५।

तेषां हि प्रदूष्यामाशयमुरःकण्ठस्थितमाहारजं स्नेहमासाद्य तदभिष्यन्दाग्निसादच्छर्यादीनामयान्विदध्यात् ॥ ५६ ॥

पीत्वा च भाष्यगेयाध्वस्वप्नान्न शीलयेत् ॥ ५७ ॥

पानं तु प्रक्लिन्नदेहमेहकण्ठाक्षिरोगव्रणिन इति ॥ ५८ ॥

जत्रु के ऊपर के रोग, श्वास, कास, प्रसेक (लालास्राव), हिचकी, स्वरभेद, उर क्षत, गायन तथा भाषण में लगे हुए लोगों को अनुपान सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि अनुपान आमाशय को दूषित करके उर एवं कण्ठ में स्थित आहार जन्य स्नेह से मिलकर अभिष्यन्द, मन्दाग्नि तथा छर्दि आदि रोगों को उत्पन्न कर देता है ।

अनुपान को पीकर भाषण, गायन, मार्गगमन तथा निद्रा-सेवन नहीं करना चाहिए ।

प्रक्लिन्न देह (जिनके शरीर में कुष्ठ आदि क्लेद हो), प्रमेही, कण्ठरोगी, अक्षिरोगी तथा व्रणरोगी को अनुपान का सेवन नहीं करना चाहिए ।

भोजनोत्तर कर्म

ततः पाणिगतमन्नमन्येनापनीय दन्तान्तरस्थं च शनैः शनैः शोधनेन विशोध्य लेपगन्धस्नेहापनोदमाचान्तोऽङ्गुल्यग्रगलिताम्बुपरिषिक्तनेत्रस्ताम्बूलादिकृतवदनवैशद्यो धूमपानादिहृतोर्ध्वकफवेगः पदशतमात्रं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत् । द्रवोत्तरभोजनस्तु शय्यां नातिसेवेत् ॥ ५९ ॥

यानप्लवनवाहनाग्न्यातपांश्च भुक्तवान् वर्जयेत् ॥ ६० ॥

भोजन के पश्चात् हाथ में लगे अन्नकणों को जल के द्वारा अन्य हाथ से साफ करें। दाँत में लगे अन्न को धीरे-धीरे दन्तशोधन यन्त्र से साफ करके मुख के भीतर आहारजन्य चिपचिपाहट, आहारजन्य गन्ध तथा स्नेह को जल का आचमन करके दूर करें। अँगुळ्यिों के अग्रभाग से गिरने वाले जल से नेत्रों का सिञ्चन करें। तम्बाकू आदि से मुख को स्वच्छ करें। ऊर्ध्व कफ के वेग को कम करने के लिए धूमपान का सेवन करें। सौ कदम जाकर वाम पार्श्व (बाईं करवट) में सो जायें। अधिक मात्रा में द्रव पदार्थों को खाकर शय्या पर बहुत देर तक नहीं सोना चाहिए।

भोजन करके यात्रा (गाड़ी आदि की सवारी), प्लवन (तैरना, उछलना-कूदना), वाहन (घोड़ा आदि पर चढ़कर जाना), अग्नि और धूप का सेवन नहीं करना चाहिए।

आहार परिणामकर भाव

आहारपरिणामकराः पुनरिमे भावाः । तद्यथा—उष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालः समयोगश्च ॥ ६१ ॥

तत्रोष्मा पाचयति[1] वायुरपकर्षति क्लेदः शैथिल्यमापादयति स्नेहो मार्दवं जनयति कालः सर्ववपुर्व्याप्तिमभिनिर्वर्तयति । समयोगस्त्वेषां परिणामधातुसाम्यकरः सम्पद्यते ।६२।

समयोगस्य पुनः कारणान्युचितो हितश्च देहसंस्कारोऽभ्यवहारश्चेष्टा शयनं सौमनस्यं च ॥ ६३ ॥

परिणामतस्त्वाहारगुणाः[2] शरीरजगुणभावमापद्यन्ते यथास्वमविरुद्धाः ॥ ६४ ॥
विरुद्धास्तु विहिताश्च विरोधिभिर्विहन्युः शरीरमिति ॥ ६५ ॥

आहार का परिपाक करने वाले भाव ये हैं—(१) ऊष्मा, (२) वायु, (३) क्लेद, (४) स्नेह, (५) काल एवं (६) समयोग। इनमें (१) ऊष्मा (जठराग्नि) आहार को पचाती है, (२) वायु (समान वायु) पाचन के लिए मुख से आमाशय की ओर अन्न का अपकर्षण करता है, (३) क्लेद (क्लेदक कफ) अन्न का संघात अर्थात् शिथिलता उत्पन्न करता है, (४) स्नेह अन्न के काठिन्य को नष्ट करता है, (५) काल (परिणाम) अन्न को सम्पूर्ण शरीर में फैलाता है तथा (६) समयोग (क्लेद आदि तथा आहार राशि का समयोग) अन्न के परिणाम से उत्पन्न (रस-रक्त आदि धातुओं में) साम्यता पैदा करता है।

सम्यक् योग का कारण उचित (अभ्यस्त), हित (पथ्य), देह के अनुकूल संस्कार से बनाया गया आहार, चेष्टा, शयन और मन की प्रसन्नता है। इन सब कारणों से आहार का परिपाक सम्यक् रूप से होता है।

---

१. 'पचति' इति पाठान्तरम् ।

२. 'शरीरगुण' इति पाठान्तरम् ।

आहार का परिणाम हो जाने पर आहार के गुरुत्व-द्रवत्व आदि गुण शरीर के गुरुत्व-द्रवत्व आदि गुणों में परिणत हो जाते हैं। भोजन किये हुए आहार के विरुद्ध गुण (स्वभाव) प्रकृति आदि शरीर के प्रकृति (स्वभाव) आदि गुणों के विरुद्ध होने से शरीर का नाश करते हैं।

आयुर्वेदीय पाचन-प्रक्रिया

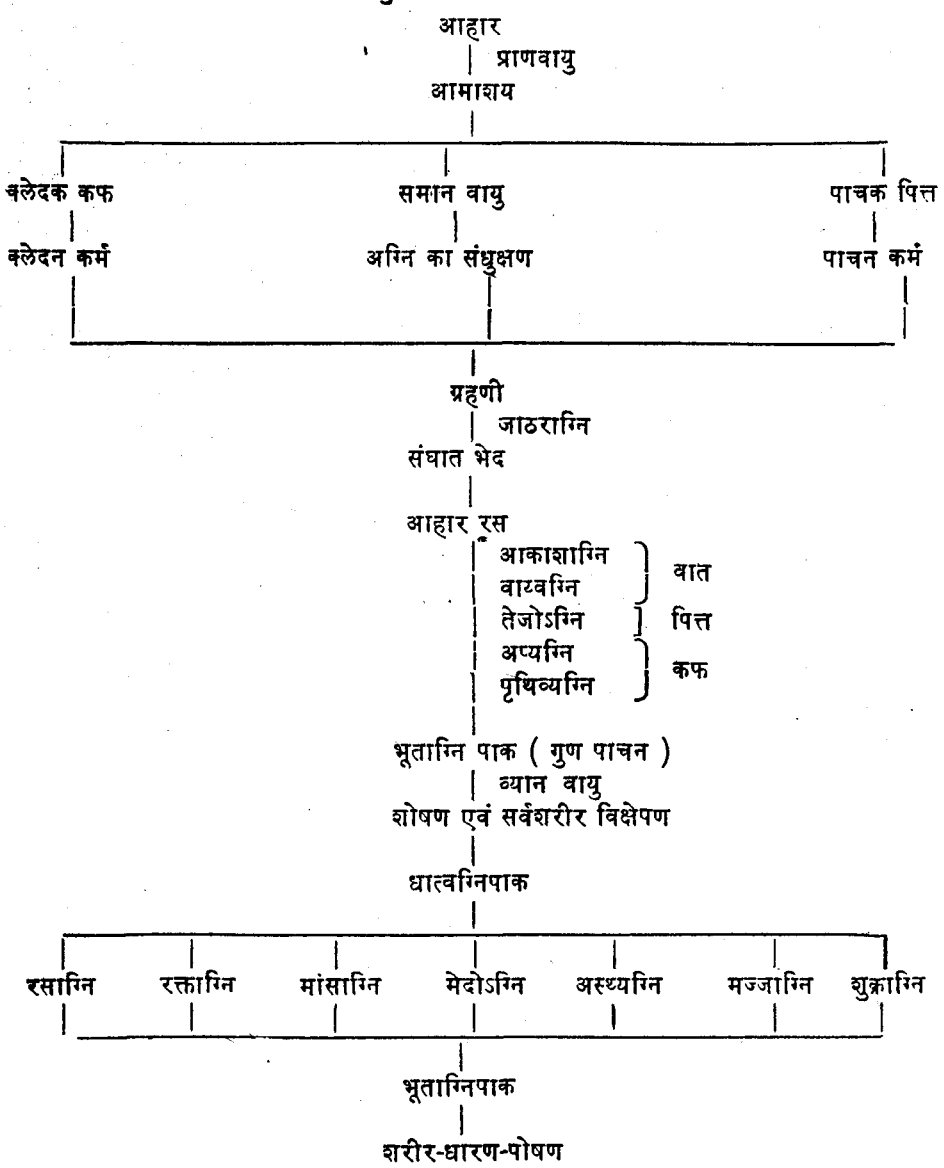

त्याज्य आहार

भवन्ति चात्र—

औकुलाभ्योषपृथुकान् सुपिष्टकृततन्दुलान् ।
न जातु भुक्तवानद्यान्मात्रयाऽद्यात्सुकाङ्क्षितः ॥ ६६ ॥

शाकावरान्नकट्वम्लकषायलवणोत्कटम् ।
त्यजेदेकरसासात्म्यं गुरु शुष्कं च भोजनम् ॥ ६७ ॥
वक्ष्यते यन्निदानादौ सर्वरोगप्रकोपणम् ।
अत्यभिष्यन्दि विष्टम्भि विदाहि हिमरूक्षणम्[1] ॥ ६८ ॥
किलाटदधिकूचीकामत्स्यशुष्काममूलकम् ।
क्षारपिष्टविरूढाद्यं तत्समस्तं न शीलयेत् ॥ ६९ ॥

औकूल (बाल या फली में लगे हुए अपक्व अन्न को आग में भूनकर तैयार करना), अभ्योष (पूर्ववत् भुना हुआ यव), पृथुक (चूड़ा) तथा पीसा हुआ चावल (चावल का आटा) भोजन करने के पश्चात् नहीं खाना चाहिए । अत्यधिक भोजन की आकांक्षा होने पर थोड़ी मात्रा में खाना चाहिए । शाक, अवरान्न (साँवा, कोदो आदि हलके अन्न), कटु, अम्ल, कषाय रस, अधिक लवण रस तथा किसी एक ही रस का निरन्तर सेवन, असात्म्य एवं गुरु और शुष्क भोजन नहीं करना चाहिए । निदानस्थान के प्रारम्भ में सब रोगों के कारण बतलाये गये हैं, उनको तथा अत्यन्त अभिष्यन्दी, विष्टम्भकारक, विदाहकारक, शीत एवं रूक्ष आहार, किलाट, दही, कूचीका, मछली का मांस, शुष्क आहार, कच्ची मूली (*Raphanus sativus*), क्षार, पिट्ठी से बने पदार्थ, विरूढ़ (अंकुरित अन्न) आदि सभी वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए ।

पथ्याहार

शीलयेच्छालिगोधूमयवषष्टिकजाङ्गलम् ।
सुनिषण्णकजीवन्तीबालमूलकवास्तुकम् ॥ ७० ॥
पथ्याऽऽमलकमृद्वीकापटोलीमुद्गशर्कराः ।
घृतदिव्योदकक्षीरक्षौद्रदाडिमसैन्धवम् ॥ ७१ ॥
त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां निशि नेत्रबलाय च ।
स्वास्थ्यानुवृत्तिकृद्यच्च रोगोच्छेदकरं च यत् ॥ ७२ ॥

शालिधान्य (*Oryza sativa*), गेहूँ, (*Triticum vulgare*), यव (*Hordeum vulgare*), साठी (*Oryza sativa var.*), जांगल प्राणियों के मांस, सुनिषण्णक (*Marsilea minuta* Linn.), जीवन्ती (*Leptadenia reticulata*), छोटी मूली (*Raphanus sativa*), बथुआ (*Chenopodium album*), हरड़ (*Terminalia chebula*), आँवला (*Emblica officinalis*), मुनक्का (*Vitis vinifera*), पटोल (*Trichosanthes cucumerina*), मूंग (*Phaseolus mungo*), शर्करा, घृत, वर्षा का जल, दूध, मधु, अनार (*Punica granatum*) तथा सैन्धव लवण का सेवन करना चाहिए । रात्रि में त्रिफला को मधु एवं घृत के साथ नेत्रों में शक्ति के लिए सेवन करना चाहिए । जो आहार स्वास्थ्य को बनाये रखे तथा रोग को नष्ट करे, उसका सेवन करना चाहिए ।

विरुद्धाहार

स्वभावमात्रायोगादिपरस्परविपर्ययैः ।
भोजनानि विरुध्यन्ते तानि विद्वान् विवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

---

१. 'गुरुरूक्षणम्' इति पाठान्तरम् ।

आहार के स्वभाव, मात्रा एवं संयोग आदि के परस्पर विपर्यय के कारण भोजन विरुद्ध हो जाते हैं। विद्वान् को इस भोजन का परित्याग करना चाहिए।

त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥ ७४ ॥

दोषधातु में विषमता उत्पन्न करने वाले कारणों के त्याग करने से धातु विषम नहीं होते हैं तथा समान (यथोचित हित) कारणों के सेवन से धातु सम बने रहते हैं।

अन्न-सेवन का प्रमाण

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ॥ ७५ ॥
मन्दानलबलारोग्यनृपेश्वरसुखात्मसु ।
योज्यः क्रमोऽयं सततं नावश्यमितरेषु च ॥ ७६ ॥

अन्न से कुक्षि (आमाशय) के दो भाग को पूर्ण करना चाहिए। तृतीय भाग को पेय पदार्थ (द्रव) से पूरा करना चाहिए। वायु आदि को संचरण के लिए चतुर्थ भाग को खाली रखना चाहिए। यह आहार क्रम मन्दाग्नि, मन्दबल (क्षीणशक्ति), मन्द आरोग्य, राजा, ऐश्वर्यशाली तथा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने वालों को निरन्तर सेवन करना चाहिए तथा इतर लोगों को इसकी आवश्यकता नहीं है।

रूक्ष तथा अतिस्निग्ध आहार का परिणाम

करोति रूक्षं बलवर्णनाशं त्वग्रूक्षतां वातशकृन्निरोधम् ॥
स्निग्धं त्वतिश्लेष्मचयप्रसेकहृद्गौरवालस्यरुचिप्रणाशान् ॥ ७७ ॥

रूक्ष आहार बल एवं कान्ति को नष्ट करता है, त्वचा में रूक्षता तथा वायु और मल का निरोध (रुकावट) करता है। अति स्निग्ध आहार कफ का संचय, प्रसेक (अधिक लालास्राव का बनना), हृदय में गुरुता, आलस्य तथा अरुचि को उत्पन्न करता है।

अति उष्ण तथा शीताहार का परिणाम

अत्युष्णमन्नं मददाहतृष्णाबलप्रणाशभ्रमरक्तपित्तम्।
शीतं तु सादारुचिवह्निनाशं हल्लासविष्टम्भनरोमहर्षान् ॥ ७८ ॥

अति उष्ण अन्न मद, दाह, तृषा, दौर्बल्य, भ्रम तथा रक्तपित्त को उत्पन्न करता है और शीत आहार साद (शिथिलता), अरुचि, वह्निनाश (मन्दाग्नि), हृल्लास (मिचली), विष्टम्भ तथा रोमहर्ष (रोमांच) उत्पन्न करता है।

अति स्थिर तथा अति द्रव अन्न का परिणाम

अतिस्थिरं मूत्रशकृद्विबन्धमतृप्तिमव्याप्तिमशीघ्रपक्तिम्।
अतिद्रवं पीनसमेहकासस्यन्दान् करोत्यग्निबलं च हन्ति ॥ ७९ ॥

अति स्थिर (अति कठिन) आहार मूत्र एवं पुरीष में विबन्ध (मल-मूत्र का अवरोध) उत्पन्न करता है। इससे तृप्ति नहीं होती है, शरीर में नहीं फैलता है तथा शीघ्र नहीं पचता है।

अति द्रव आहार प्रतिश्याय, प्रमेह, कास और अभिष्यन्द को उत्पन्न करता है तथा अग्निबल को नष्ट करता है।

अति मधुर, लवण एवं अम्ल अन्न का परिणाम

अतिमधुरमनलशमनं भुक्तमसात्म्यं न पुष्टये वपुषः।
अतिलवणमचक्षुष्यं तीक्ष्णात्यम्लं जरा साक्षात् ॥ ८० ॥

अति मधुर भोजन अग्नि को नष्ट करता है, असात्म्य आहार शरीर को पुष्ट नहीं करता, अत्यन्त लवण रस वाला आहार आँखों के लिए हानिकारक होता है और अतितीक्ष्ण तथा अति अम्ल आहार साक्षात् (अत्यधिक) वृद्धावस्था का कारण है।

उपसंहार

इति विधिमवलम्ब्य योऽन्नपानं बलमिव विग्रहवत्सदोपयुङ्क्ते।
तनुमपि तनुजां रुजं त्वनाप्य व्रजति नरः स समाशतस्य पारम् ॥ ८१ ॥

इत्यन्नपानविधिर्नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस विधि-क्रम का आश्रय लेकर जो व्यक्ति अपने शरीर के बल के अनुसार अन्नपान का सेवन करता है, वह व्यक्ति थोड़े भी शारीरिक रोग से न पीड़ित होकर सौ वर्ष से अधिक जीवित रहता है।

इस प्रकार 'अन्नरक्षाविधि' नामक दशम अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

१. **सप्ताहार**—स्वभाव, संयोग, संस्कार, मात्रा, देश, काल एवं उपयोग व्यवस्था।
२. **सात्म्य**—प्रवर, अवर एवं मध्य।
३. **आहार परिपाक करने वाले भाव**—ऊष्मा, वायु, क्लेद, स्नेह, काल एवं समयोग।

एकादशोऽध्यायः

अथातो मात्राशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'मात्राशितीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

'मात्रापरिमाणम्, अशितमशनं (भक्षणं), मात्रयाऽशितं मात्राशितम्'। अर्थात् निश्चित मात्रा में सेवन; उस मात्रा में सेवन के लिए हितकर जो अध्याय हैं, उस अध्याय को 'मात्राशितीय अध्याय' कहते हैं। यहाँ पर मात्रा शब्द से सम्यक् योग की प्रतीति होती है। सम्यक् योग भी असम्यक् योग के त्याग से सम्भव होता है। असम्यक् योग सात प्रकार का होता है—संकीर्णाशन, विरुद्धाशन, अमात्राशन, अजीर्णाशन, समशन, अध्यशन एवं विषमाशन।

मात्रापूर्वक आहार का सेवन

मात्राशी स्यात् ॥ ३ ॥
मात्रा पुनरग्निबलाहारद्रव्यापेक्षिणी ॥ ४ ॥

मात्रा (समयोग) के अनुसार भोजन करना चाहिए। मात्रा जठराग्नि के बल एवं आहार द्रव्यों की अपेक्षा रखने वाली होती है।

प्रत्येक मनुष्य के आहार की मात्रा उसके जठराग्नि बल (पाचन-शक्ति) तथा आहार के गुरु-लघु आदि प्रकृति पर निर्भर होती है।

मात्रा का लक्षण

कुक्षेरप्रतिपीडनमाहारेण हृदयस्यासंरोधः पार्श्वयोरविपाटनमनतिगौरवमुदरस्य प्रीणनमिन्द्रियाणां क्षुत्पिपासोपरतिः स्वस्थानासनशयनगमनोच्छ्वासप्रश्वासहास्यसङ्कथासु सुखानुवृत्तिः सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनं बलवर्णोपचयकरत्वं चेति मात्राया लक्षणम् ॥ ५ ॥

आहार से कुक्षि (आमाशय) में पीड़न (दबाव) न हो, हृदय की गति में रुकावट न हो, पार्श्वों में अन्न से फटने जैसी स्थिति न हो, उदर का भारीपन न हो, चक्षु आदि इन्द्रियों की तृप्ति हो, भूख और प्यास नष्ट हो, खड़े होने, बैठने, सोने, चलने, श्वास-प्रश्वास, हँसने तथा भली-भाँति बोलने में सुख की प्रवृत्ति हो। सायंकाल का भोजन प्रातःकाल तथा प्रातःकाल का भोजन सायंकाल सुखपूर्वक पच जाये तथा बल, वर्ण और उपचय (पुष्टि) का होना ये मात्रा के लक्षण हैं।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'यावद्धयस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति।' (च० सू० ५।४)

अर्थात् जितने परिमाण में खाने वाले मनुष्य का खाया हुआ भोजन प्रकृति को बिना हानि पहुँचाए ठीक समय पर पच जाता है, उतना उसका मात्रा-प्रमाण समझना चाहिए।

गुरु-लघु द्रव्यों के अनुसार आहार की मात्रा

त्रिभागसौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरूणा समुपदिश्यते ॥ ६ ॥

लघूनामपि नातिसौहित्यम् ॥ ७ ॥

अनिलानलगुणबहुलानि हि लघूनि तुल्यगुणत्वादग्निसन्धुक्षणान्यविधिना चाल्पदोषाणि ॥ ८ ॥

इतराणि तु पृथिवीसलिलगुणबहुलान्यसामान्याद्विपरीतान्यन्यत्र व्यायामाग्निबलात् ॥ ९ ॥

गुरु आहार द्रव्यों को त्रिभाग तृप्ति तक अथवा अर्धभाग तृप्ति तक खाना चाहिए। अर्थात् यदि एक किलोग्राम पचाने की शक्ति हो, तो साढ़े सात सौ ग्राम अथवा पाँच सौ ग्राम ही भोजन करना चाहिए।

लघु आहार द्रव्यों को भी अति सौहित्य (पेट भर) नहीं खाना चाहिए।

लघु आहार में वायु और अग्नि गुण की अधिकता होती है। लघु द्रव्य स्वभाव से अग्नि के समान गुण वाला होने से जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। विधि-पूर्वक सेवन नहीं करने पर थोड़ा दोषकारक होता है।

गुरु द्रव्यों में पृथ्वी और जल के गुणों की बहुलता होती है। लघु द्रव्यों से असमान होने के कारण अग्नि को प्रदीप्त नहीं करते। व्यायाम करने से अथवा अग्नि के बलवान् होने से गुरु द्रव्य दोषकारक नहीं होते।

आहार की अमात्रा

अमात्रा पुनरशनस्य हीनताऽऽधिक्यं च ॥ १० ॥

तत्र हीनमात्रमशनं बलवर्णोपचयमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं विबन्धकृदवृष्यमनायुष्यमनौजस्यं सारविध्मापनमलक्ष्मीजननमशीतेश्च वातविकाराणामायतनम् ॥ ११ ॥

अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपनमाहुः ॥ १२ ॥

आहार की अमात्रा दो प्रकार की होती है—(१) आहार की हीनता और (२) आहार की अधिकता। इसमें हीन मात्रा का आहार बल, वर्ण, पुष्टि, मनोबल, बुद्धि तथा इन्द्रियों को नष्ट करता है तथा विबन्धकारक, अवृष्य, अनायुष्य, अनौजस्य (ओज की वृद्धि न करने वाला), त्वक् आदि सारों को नष्ट करने वाला, दरिद्रता उत्पन्न करने वाला तथा वात रोगों का कारण होता है।

अतिमात्रा में भोजन करना पुनः सब दोषों का प्रकोप करने वाला होता है।

आहार की हीन मात्रा से उपर्युक्त विकार तथा अति मात्रा से तीनों दोष प्रकुपित होकर निम्नलिखित रोगों को उत्पन्न करते हैं।

अलसक एवं विसूचिका

तेन हि प्रपीड्यमाना वातादयो युगपत्प्रकुपिताः कुक्ष्यैकदेशस्थास्तदेवापरिपक्वमाविश्य विष्टम्भयन्तोऽलसकमभिनिर्वर्तयन्ति, सहसा वाऽधरोत्तराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तो विसूचिकाम्[1] ॥ १३ ॥

---

१. 'विषूचिकाम्' इति पाठान्तरम्।

आहार की अतिमात्रा के कारण वातादि दोष एक साथ प्रकुपित होकर कुक्षि (आमाशय) के एक प्रदेश में स्थित होकर उसी अपरिपक्व आहार में प्रविष्ट होकर स्रोतसों को अवरुद्ध करते हुए अलसक रोग उत्पन्न करते हैं अथवा सहसा अधोमार्ग (गुदमार्ग) या ऊर्ध्वमार्ग (मुखमार्ग) से आहार को निकालते हुए विसूचिका रोग उत्पन्न करते हैं।

महर्षि अग्निवेश ने विसूचिका का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—'तत्र विसूचिकमूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात्'। (च० वि० २।१०)

अर्थात् विसूचिका में मुखमार्ग तथा गुदमार्ग द्वारा आमदोष प्रवृत्त होता है।

अलसक का लक्षण

अचि च—

प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न च पच्यते।
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः ॥ १४ ॥

आमाशय के अलसीभूत (निष्क्रिय) होने के कारण आहार न तो ऊर्ध्वमार्ग से (मुख से वमन के रूप में) निकलता है, न अधःमार्ग से (गुदा से अतिसार के रूप में) निकलता है और न ही आमाशय में पचता है। इसलिए इसे अलसक कहते हैं।

विसूचिका का लक्षण

विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपतः।
सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विसूचिका ॥ १५ ॥

वायु आदि तीनों दोष अत्यन्त प्रकुपित होने के कारण नाना प्रकार की वेदनाओं के उत्पन्न होने से शरीर में सुइयों की चुभन के समान वेदना होती है, इसलिए इसे विसूचिका कहते हैं।

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिलः।
यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥
मूर्च्छातिसारो वमथुः पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहः।
वैवर्ण्यकम्पो हृदये रजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः' ॥ (सु० उ० ५६)

अर्थात् जिस रोग में अजीर्ण से प्रकुपित वायु शरीर में सुई की चुभन के समान पीड़ा उत्पन्न करता है, उसे विसूचिका कहते हैं। इसमें मूर्च्छा, अतिसार, वमन, प्यास, शूल, भ्रम, ऐंठन, जम्भाई, दाह, विवर्णता, कम्पन, हृदय-प्रदेश में पीड़ा तथा शिरःशूल होता है।

विसूचिका में वातादि के लक्षण

तत्र वातः शूलानाहाङ्गमर्दमुखशोषप्रलापकम्पमूर्च्छाभ्रमजृम्भोद्वेष्टनाऽक्षिप्रवेश-शिरोहृदयातिरुक्शिराकुञ्चनस्तम्भनानि करोति। पित्तं पुनर्ज्वरातिसारान्तर्दाहवैवर्ण्य-तृष्णामदभ्रमप्रलपनानि। श्लेष्मा तु छर्द्यरोचकप्रसेकाङ्गसादाविपाकशीतज्वरगात्र-गौरवाणि ॥ १६ ॥

इसमें वायु—शूल, आनाह, अंगमर्द, मुखशोष, प्रलाप, कम्पन, मूर्च्छा, भ्रम, जम्भाई, ऊरु-स्तम्भ, अंगों में ऐंठन, अक्षिप्रवेश (आँखो का अन्दर धँस जाना), सिर और हृदय में अत्यधिक वेदना, शिराओं में आकुञ्चन और जड़ता उत्पन्न करता है। पित्त—ज्वर, अतिसार, दाह,

विवर्णता, तृष्णा, मद, भ्रम तथा प्रलाप करता है। श्लेष्मा—छर्दि, अरुचि, लालास्राव, अंगसाद (अंगों में शिथिलता) अविपाक (अपच), शीतज्वर और शरीर में भारीपन करता है।

अलसक का विशेष लक्षण

विशेषतस्तु दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणोऽन्नपानमनिल-प्रपीडितं श्लेष्मणा विबद्धमार्गमलसत्वादवहिर्मुखी भवेत्। छर्द्यतीसारवर्ज्यानि यथोक्तानि शूलादीन्युपजनयत्यतिमात्राणि। सोऽलसः ॥ १७ ॥

दुर्बल अथवा मन्द अग्नि वाले, अधिक कफ वाले, वायु, मूत्र, पुरीष के वेग को रोकने वाले का अन्नपान जब वायु द्वारा दूषित एवं कफ द्वारा अवरुद्ध मार्ग वाला हो जाता है, तो गति रहित होकर आमाशय एवं आँत से बाहर की ओर (बहिर्मुख) प्रवृत्त नहीं हो पाता। अर्थात् छर्दि और अतिसार के रूप में नहीं निकलता है। परिमाणतः शूल आदि लक्षणों को अत्यधिक उत्पन्न कर देता है।

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत् परिकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षानुपरि धावति॥
वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु॥' (सु० उ० ५६)

अर्थात् अलसक में कुक्षि (उदर) अतिशय फूल जाती है, रोगी मूर्च्छित होता है, कराहता है, रुकी हुई वायु उदर के ऊपर की ओर घूमती है, अधोवायु एवं मल का अवरोध हो जाता है तथा प्यास और उद्गार बहुत आता है।

दण्डालसक

अतिमात्रदुष्टास्तु दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्तः कदाचिदस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति ततस्तमलसकमसाध्यं ब्रुवते॥ १८॥

कभी-कभी अत्यधिक मात्रा में दूषित दोष दूषित आम से अवरुद्ध होकर समस्त शरीर में तिर्यक् व्याप्त होकर रोगी के शरीर को दण्ड के समान स्तब्ध (जड़) बना देते हैं। इस रोग को दण्डालसक कहते हैं और यह असाध्य हो जाता है।

आमविष

[1]विरुद्धाध्यजीर्णाशनशीलिनः पुनरामदोषमामविषमामनन्ति विषसदृशलिङ्गत्वात् [2]तत्परमसाध्यमाशुकारितया विरुद्धोपक्रमत्वाच्च॥ १९॥

विरुद्ध आहार करने से, अध्यशन करने से (पहले किये हुए भोजन के न पचने पर पुनः भोजन करने) और अजीर्ण में भोजन करने से जो आमदोष बनता है, उसको आम विष कहते हैं। इसमें विष के सदृश लक्षण होते हैं। यह परम असाध्य होता है, क्योंकि यह आशुकारी (शीघ्र मारक) होता है तथा इसकी चिकित्सा परस्पर विरुद्ध होती है, क्योंकि विष में शीतोपक्रम तथा आम में उष्णोपक्रम किया जाता है।

---

१. 'विरुद्धाध्यशनाजीर्णशालिनः' इति पाठान्तरम्।
२. 'तत्परमसाध्यानामाशुकारितया' इति पाठान्तरम्।

आहार द्रव्य के स्वभाव आदि से आम प्रदूषण

न च केवलं मात्रयैव कृत्स्नमाहारफलमवाप्तुं शक्यं स्वभावादीनां भिन्नफलत्वात् ॥ २० ॥

केवल मात्रापूर्वक आहार का सेवन करने से सम्पूर्ण आहार के फल सात्म्य नहीं किये जा सकते, क्योंकि स्वभाव, संयोग एवं काल आदि के भिन्न-भिन्न फल होते हैं।

आमदोष का हेतु

तथा हि—गुरुरूक्षशुष्कशीतद्विष्टविष्टम्भिविदाह्यशुचिविरुद्धात्यम्बुपानद्रवमकाले काले वा कामक्रोधलोभेर्ष्याह्रीशोकोद्वेगभयक्षुदुपतप्तेन वा यदन्नपानमुपयुज्यते तदप्याममेव प्रदूषयति ॥ २१ ॥

गुरु, रूक्ष, शुष्क, शीत, द्विष्ट (जिस आहार से मानसिक द्वेष हो), विष्टम्भि, विदाही, अशुचि (अपवित्र) आहार से या अत्यधिक जल पीने से, अत्यधिक द्रवरूप आहार लेने से, अकाल में भोजन लेने से अथवा भोजन के समय काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, लज्जा, शोक, उद्वेग, भय एवं भूख से प्रेरित होने पर (उपवास के पश्चात् सहसा खाने पर) जो अन्नपान किया जाता है, वह आम को दूषित करता है।

साध्य आम की चिकित्सा

तत्र साध्यमामं दुष्टमलसीभूतमुल्लिखेत् पाययित्वा सलवणमुष्णं वारि ॥ २२ ॥

तथा त्वच्छर्दयन्तमतिलीनदोषं कृष्णानागदन्तीकल्कयुक्तं पाययेत्। मदनफलकषायं वा पिप्पलीसिद्धार्थककल्कयुक्तम्। दन्तीमागधिकाऽवचूर्णितं वा कोशातकीरसम्। अवस्थापेक्षी वा वमनकल्पोक्तानि तीक्ष्णवमनानि ॥ २३ ॥

ततः स्वेदनवर्तिप्रणिधानाभ्यामुपाचरेत् ॥ २४ ॥

इसमें दुष्ट एवं अलसीभूत आम आदि साध्य हो, तो लवण से युक्त जल मिलाकर वमन कराना चाहिए तथा यदि दोष अत्यन्त लीन हो (वमनोन्मुख न हो), तो कृष्ण (पिप्पली *Piper longum* Linn.) और नागदन्ती (*Euphorbia* sp.) के चूर्ण को उष्ण जल के साथ पिलाना चाहिए अथवा पिप्पली (*Piper longum* Linn.) और सरसों (*Brassica campestris*) के चूर्ण को मदनफल (*Randia dumetorum*) के कषाय के साथ देना चाहिए अथवा दन्ती (*Baliospermum montanum*) और पिप्पली (*Piper longum* Linn.) के चूर्ण को कोशातकी (कड़वी तरोई *Luffa acutangula* Linn.) के रस में मिलाकर देना चाहिए अथवा रोग की अवस्था के अनुसार वमन कल्प में बतलाये गये तीक्ष्ण वमन योगों का प्रयोग करना चाहिए। वमन के पश्चात् स्वेदन तथा गुदवर्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

अपि च—सद्यः सम्यग्विशुद्धस्य शाम्यन्ति तदुपद्रवाः।
शूले निरन्नकोष्ठेऽद्भिः कोष्णाभिश्चूर्णिताः पिबेत् ॥ २५ ॥

सम्यक् शुद्ध हो जाने पर आमजन्य उपद्रव शीघ्र शान्त हो जाते हैं। कोष्ठशुद्धि हो जाने पर शूल आदि होने पर उष्ण जल के साथ निम्नलिखित चूर्णों को देना चाहिए।

हिङ्गुप्रतिविषा व्योषसौवर्चलवचाभयाः।
अथवा पिप्पलीमूलत्रिवृतादारुसैन्धवम् ॥ २६ ॥

शुण्ठीस्नुक्क्षीरलवणपिप्पलीमरिचानि च।
पाठाम्लवेतसक्षारयवानीपौष्करााणि वा ॥ २७ ॥

(१) हींग (*Ferula foetida* Regel.), अतीस (*Aconitum heterophyllum*), व्योष (शुण्ठी, मरिच, पीपल), सौवर्चल (काला नमक), वच (*Acorus calamus* Linn.) और हरड़ (*Terminalia chebula*) का चूर्ण।

(२) पिप्पलीमूल (Root of *Piper longum*), त्रिवृत (निशोथ *Ipomoea turpethum*), दारु (देवदारु या दारुहल्दी *Cedrus deodara* or *Berberis aristata* DC.) और सैन्धव का चूर्ण।

(३) शुण्ठी (*Zingiber officinale*), स्नुहीक्षीर (*Euphorbia nerifolia*), सैन्धव नमक, पिप्पली (*Piper longum*) और मरिच (*Piper nigrum*) का चूर्ण।

(४) पाठा (*Cyclea peltata*), अम्लवेतस (*Gardenia pedunculate* Roxb.), क्षार (यवक्षार), यवानी (अजवायन *Apium graveolens*) और पुष्करमूल (*Inula racemose* Hook f.) का चूर्ण।

इन चारों चूर्णों का प्रयोग शूल एवं अजीर्ण में दोष-व्याधि की अपेक्षा से यथायोग्य करना चाहिए।

हिंग्वादि चूर्ण

द्विरुत्तरं हिङ्गुवचाऽग्निकुष्ठसुवर्चिकाक्षारबिडाजमोदम्।
शूलोदरानाहविसूचिकार्शो हृद्रोगगुल्मोर्ध्वसमीरणघ्नम् ॥ २८ ॥

हींग (*Ferula foetida*) एक भाग, वच (*Acorus calamus*) दो भाग, चित्रक (*Plumbago zeylanica*) चार भाग, विड्नमक बत्तीस भाग, अजमोदा (*Apium graveolens*) चौंसठ भाग—इस प्रकार इन सबका चूर्ण शूल, उदररोग, आनाह, विसूचिका, अर्श, हृद्रोग, गुल्म और उर्ध्ववायु को नष्ट करता है।

मुस्तादि क्वाथ

मुस्ताजमोदपूतीकवचाशुण्ठ्यग्निधान्यकैः।
सवालकशठीबिल्वैः क्वाथं तृट्शूलवान् पिबेत् ॥ २९ ॥

मुस्ता (नागरमोथा *Cyperus rotandus*), अजमोदा (*Apium graveolens*), पूतीक (करंज *Pongamia pinnata*), वचा (*Acorus calamus*), सोंठ (*Zingiber officinale*), चित्रक (*Plumbago zeylanica*), धनिया (*Coriandrum sativum*), वालक (सुगन्धवाला ?), शठी (कचूर *Hedyhchium spicatum*) तथा बिल्व (*Aegle marmelos*)—इन सबको समान भाग में लेकर क्वाथ बना लें। इसका सेवन प्यास और शूल में करना चाहिए।

अमृता-कदम्बादि क्वाथ

पिबेद्विपक्वं ह्यमृताकषायं कदम्बनिम्बार्जुनवृक्षकाणाम्।
क्वाथं सुखोष्णं लवणप्रगाढं विसूचिकाऽजीर्णविषापमर्दिनम्[1] ॥ ३० ॥

---

१. इन्दुकृत टीका-ग्रन्थ में यह श्लोक नहीं है।

गिलोय (*Tinospora cordifolia*) का क्वाथ लवण मिलाकर अथवा कदम्ब (*Anthocephalus indicus*), निम्ब (*Azadirachta indica*), अर्जुन (*Terminalia arjuna*) तथा कुटज (*Holarrhena antidysenterica*) की छाल का गरम क्वाथ लवण मिलाकर पीना चाहिए। यह विसूचिका, अजीर्ण तथा विष को नष्ट करता है।

लेपन, उद्वर्तन एवं धूपन

रास्नाकट्फलषड्ग्रन्थाबृहतीद्वयजोङ्गकैः।
गुग्गुल्वतिविषाकुष्ठपत्रव्याघ्रनखाम्बुदैः॥ ३१॥
कुर्याच्छुष्कैः समूत्रैर्वा लेपोद्वर्तनधूपनम्।
सरुक् चानद्धमुदरमम्लपिष्टैः प्रलेपयेत्॥ ३२॥
दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः।
यवचूर्णश्च सक्षारतक्रः कोष्ठार्तिजित्परम्॥ ३३॥

रास्ना (*Pluchea lanceolata*), कायफल (*Momordica cochinchinensis*), षड्ग्रन्था (वच *Acorus calamus*), छोटी और बड़ी कटेरी (*Solanum xanthophylum* and *Salonum indicum*), जोगंक (अगुरु *Aquilaria agallocha*), गुग्गुल (*Commiphora mukul*), अतिविषा (*Aconitum heterophyllum*), कुष्ठ (कूठ *Saussurea lappa* C. B. Cl.), तेजपात (*Cinnamomum tamala*), व्याघ्र नख (*Capparis horrida*) तथा अम्बुद (मोथा *Cyperus rotandus*)—इन सबके सूक्ष्म चूर्ण से अथवा गोमूत्र के साथ इनको मिलाकर लेप, उद्वर्तन (उबटन) तथा धूपन करना चाहिए। यदि उदर में शूल हो तथा आध्मान हो, तब देवदारु (*Cedrus deodara*), वच (*Acorus calamus*), कूठ (*Saussurea lappa*), सौंफ (*Foeculum vulgare* Mill.), हींग (*Ferula foetide*) और सैन्धव लवण इनको काँजी आदि किसी अम्ल द्रव में पीसकर उदर पर लगाना चाहिए। यव (*Hordeum vulgare*) का चूर्ण या क्षार तक्र में पीसकर उदर पर लगाना चाहिए। यव (*Hordeum vulgare*) का चूर्ण या क्षार तक्र में पीसकर उदर पर लेप करने से उदर की पीड़ा नष्ट हो जाती है।

विसूचिका एवं अलसक की चिकित्सा

योजयेत् सैन्धवान्तैश्च वर्तिविण्मूत्रसङ्ग्रहे।
नाम्यमानानि चाङ्गानि भृशं स्विन्नानि वेष्टयेत्॥ ३४॥
विसूच्यामतिवृद्धायां पाष्ण्र्योर्दाहः प्रशस्यते।
द्विक्षारजीर्णपिण्याककुष्ठारुष्करचित्रकैः॥ ३५॥
सशुक्तसैन्धवैस्तैलं पक्वमभ्यञ्जने हितम्।
सुच्छर्दितविरिक्तस्य गात्रायामेऽतिदारुणे॥ ३६॥
भल्लातकमधूच्छिष्टजीर्णपिण्याकनागरैः।
घृततैलं पचेत्साम्लैस्तच्च खल्लीघ्नमुत्तमम्॥ ३७॥
त्वक्पत्ररास्नाऽगुरुशिग्रुकुष्ठैरम्लप्रपिष्टैः सवचाशताह्वैः।
उद्वर्तनं खल्लिविसूचिकाघ्नं तैलं विपक्वं च तदर्थकारि॥ ३८॥
तदहश्चोपवास्यैनं विरिक्तवदुपाचरेत्।
सामान्येनेति सिद्धोक्ता विसूच्यलसकक्रिया॥ ३९॥

पुरीष और मूत्र का अवरोध होने पर उपर्युक्त देवदारु (*Cedrus deodara*), वच (*Acorus Calamus*), कूठ (*Saussurea lappa*), सौंफ (*Foeculum vulgare Mill.*), हींग (*Ferula foetieda* Regel.), सैन्धव लवण की गुदवर्ति का प्रयोग करना चाहिए। आमदोष में दोष के कारण यदि अङ्ग संकुचित हो गये हों, तो अङ्गों का स्वेदन करके उन पर चर्मपट्टी आदि बाँध देना चाहिए। जब विसूचिका अत्यधिक बढ़ गयी हो तो एड़ी पर शस्त्र से दाह करना चाहिए। यवक्षार, सज्जीक्षार, जीर्ण पिण्याक (Sesamum oil cake), कुष्ठ (कूठ *Saussurea lappa*), अरुष्कर (भिलावा *Semecarpus anacardium*), चित्रक (*Plumbago zeylanica*), शुक्त (सिरका), सैन्धव और तैल इन सबको पकाकर इससे अभ्यंग करना चाहिए। यदि वमन और विरेचन हो जाने के पश्चात् शरीर में दारुण आयाम (तनाव) हो रहा हो, तो भिलावा (*Semecarpus anacardium*), मोम, पुरानी खली, सोंठ (*Zingiber officinale*), घृत, तैल तथा अम्ल पदार्थ (कांजी या सिरका) मिलाकर पकाया हुआ स्नेह का अभ्यंग खल्ली रोग (Cramps) के लिए उत्तम होता है। दालचीनी (*Cinnamomum cardamomum*), तेजपत्र (*Cinnamomum tamala*), रास्ना (*Pluchea lanceolata*), अगुरु (*Aquilaria agallocha*), शिग्रु (*Moringa oleifera* Lam.), कुष्ठ (*Saussurea lappa*), वच (*Acarus calamus*) तथा सौंफ (*Foeculum vulgare*) को काँजी आदि अम्ल द्रव्यों के साथ पीसकर उबटन करने से खल्ली युक्त विसूचिका नष्ट हो जाती है। इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध किया गया तैल भी खल्ली, विसूचिका को नष्ट करता है। सभी उपद्रव शान्त हो जाने पर उस दिन रोगी को उपवास कराकर विरेचन के समान पेया आदि पथ्याहार दें। इस प्रकार विसूचिका और अलसक की श्रेष्ठ चिकित्सा सामान्य रूप से कह दी गयी।

आमदोष में विशेष चिकित्सा

आमदोषेषु त्वन्नकाले जीर्णाहारं दोषोपलिप्तामाशयस्तिमितगुरुकोष्ठमनन्नाभिलाषमभिसमीक्ष्य[1] पाययेत्, दोषशेषपाचनार्थमौषधं वह्निसन्धुक्षणहेतोश्च[2] ॥ ४० ॥

अजीर्णाहारं पुनर्न पाययेत्। यत आमसन्न आमदोषमौषधमाहारजातं[3] चाशक्तः पक्तुमग्निः[4] ॥ ४१ ॥

इत्येषां[5] विभ्रमोऽतिबलत्वादुपरतानलमसद्बलमातुरं[6] सहसा[7] निपातयेत् ॥४२॥

आमदोष में आहार के समय (खाने के समय), आहार जीर्ण हो जाने (पच जाने) पर यदि आमाशय आमदोष से लिप्त हो, कोष्ठ स्थिर तथा भारी हो, अन्न में अनिच्छा हो, तो इस अवस्था को विचार कर शेष दोष को पचाने के लिए और अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए दीपन-पाचन औषधि देनी चाहिए। यदि आहार न पचा हो, तो दीपन-पाचन औषधि नहीं देनी चाहिए,

---

१. 'अभिलाषिणं' इति पाठान्तरम्।
२. 'वह्निसन्धुक्षणार्थः' इति पाठान्तरम्।
३. 'आमदोषदुर्बलोऽग्निर्युगपदामदोषं' इति पाठान्तरम्।
४. 'पक्तुम्' इति पाठान्तरम्।
५. 'अपि चैषां' इति पाठान्तरम्।
६. 'उपरतानलबलं' इति पाठान्तरम्।
७. 'सहसैव' इति पाठान्तरम्।

क्योंकि आमदोष के कारण निर्बल अग्नि आमदोष, औषध और आहार को एक साथ पचाने में अशक्त होती है। आमदोष, औषध तथा आहार का विभ्रम (दुष्टोत्कर्षणीय सामग्री) अतिबलवान् होने से अग्निबल नष्ट हुए रोगी को सहसा मार डालता है।

आमदोष में अपतर्पण

आमदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवोपशमो भवति। तत्तु त्रिविधम्—लङ्घनं लङ्घनपाचनमवसेचनं च ॥ ४३ ॥

तत्र लङ्घनमल्पदोषाणाम्। तेन ह्यनिलानलवृद्ध्या वातातपपरीत इवाल्पः सलिलाशयोऽल्पदोषः प्रशोषमापद्यते ॥ ४४ ॥

लङ्घनपाचनाभ्यां मध्यदोषो वातातपाभ्यां पांसुभस्मावकिरणैरिव चानतिमहान् सलिलाशयः ॥ ४५ ॥

बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्। न ह्यस्राविते पल्वलोदकौघे शाल्यादिपुष्टिर्भवति ॥ ४६ ॥

आमदोष से उत्पन्न विकारों की अपतर्पण (लंघन) से ही चिकित्सा होती है। अपतर्पण तीन प्रकार का होता है—(१) लंघन (उपवास), (२) लंघन-पाचन (लंघन के साथ किसी पाचन औषधि का सेवन) तथा (३) अवसेचन (दोषों का बाहर निकालना)।

अल्प दोषों की चिकित्सा लंघन है। इस लंघन से (वायु) और अग्नि की वृद्धि हो जाने से अल्प दोष सूख जाता है, जिस प्रकार थोड़े जल वाला जलाशय वायु और धूप से सूख जाता है।

मध्यम दोष (नातिवृद्ध दोष) लंघन (उपवास) और पाचन (पाचन औषध) से शान्त हो जाता है, जिस प्रकार नातिबहुल जलाशय वायु, आतप (धूप) और धूल-राख आदि के गिरने से सूख जाता है।

बहुत दोषों में दोषों को बाहर निकालने के लिए अवसेचन ही करना चाहिए, क्योंकि जलप्लावित खेत का जल निकाले बिना शालि आदि धान्य की पुष्टि नहीं होती है।

तस्मात्सन्तर्पणनिमित्तानां नान्तरेणापतर्पणमस्ति शान्तिः। अपतर्पणनिमित्तानां च नान्तरेण सन्तर्पणमिति ॥ ४७ ॥

एवमन्येषामपि व्याधीनां यथास्वं निदानविपरीतमौषधमेवावचारयेत् ॥ ४८ ॥

सति त्वनुबन्धे निदानविपरीतमपास्य व्याधिविपरीतमेव तदर्थकारि वा ॥ ४९ ॥

विमुक्तामदोषस्य पुनः परिपक्वामदोषशेषस्य दीप्ते चाग्नावभ्यङ्गास्थापनानुवासनं विधिवत्स्नेहपानं च युक्त्या प्रयोज्यं प्रसमीक्ष्य दोषौषधादीनामवस्थान्तराणीति ॥ ५० ॥

इसलिए सन्तर्पण से उत्पन्न रोगों की शान्ति अपतर्पण के बिना नहीं होती है और अपतर्पण से उत्पन्न रोगों की शान्ति सन्तर्पण के बिना नहीं होती है।

इसी प्रकार अन्य रोगों की भी उनके निदान (कारण) के विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए।

यदि निदान-विपरीत चिकित्सा करने पर रोग शान्त नहीं होता है, तब व्याधि-विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए अथवा तदर्थकारि (उभयविपरीतार्थकारी) चिकित्सा करनी चाहिए।

आमदोष से मुक्त हो जाने पर, अवशिष्ट आमदोष के पुनः पच जाने पर तथा अग्नि के दीप्त हो जाने पर अभ्यङ्ग, आस्थापन, अनुवासन और विधिपूर्वक स्नेहपान का युक्तिपूर्वक शरीर के दोष और औषध आदि की नानाविधि अवस्था का विचार कर प्रयोग करना चाहिए।

आमदोष के असाध्य लक्षण

भवति चात्र—

यः श्वावदन्तोष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽन्तर्गतताम्रनेत्रः।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरोऽसौ पुनरागमाय ॥ ५१ ॥

जिस रोगी के दाँत, ओठ और नख काले हो गये हों, संज्ञा (चेतना) अल्प हो गयी हो, वमन से पीड़ित हो, नेत्र धँस गये हों, स्वर क्षीण हो गया हो, शरीर की सभी सन्धियाँ शिथिल हो गयी हों, वह मनुष्य पुनः आने के लिए (जन्म लेने के लिए) चला जाता है।

विसूचिकानाशक अञ्जन

व्योषं करञ्जस्य फलं हरिद्रे मूलं समावाप्य च मातुलुङ्ग्याः।
छायाविशुष्का गुटिकाः कृतास्ता हन्युर्विसूचीं नयनाञ्जनेन ॥ ५२ ॥

व्योष (शुण्ठी-मरिच-पीपल), करञ्ज (*Pongamia pinnata*) का फल, हरिद्रा (*Curcuma longa* Linn.), दारुहल्दी (*Berberis aristata* DC.) तथा बिजौरा नीबू के मूल की जड़ को सम भाग में लेकर पानी के साथ गोली बनाकर छाया में सुखा लें। इस गोली को जल में घिसकर नेत्रों में अञ्जन करने से विसूचिका रोग नष्ट हो जाता है।

विसूचिका नाशक अन्य योग

शिरीषनक्ताह्वफणिज्जबीजत्रायन्त्यपामार्गफलानि वर्तिः।
बस्तस्य मूत्रेण विसूचिकाघ्नी प्रलेपधूपाञ्जननस्ययोगैः ॥ ५३ ॥

शिरीष (*Albizzia lebbeck*) के बीज, करञ्ज (*Pongamia pinnata*) के बीज, फणिज्ज (वन तुलसी) के बीज, त्रायमाण (*Gentina Kurroo* Royle.) तथा अपामार्ग (*Achyranthus aspera*) के बीज समभाग में लेकर बकरी के मूत्र में पीसकर वर्ति बना ले। इस वर्ति का लेप, धूम, अंजन तथा नस्य देने से विसूचिका रोग नष्ट हो जाता है।

अजीर्ण के भेद, लक्षण एवं चिकित्सा

अजीर्णं च कफादामं विष्टब्धमनिलाद्भवेत्।
विदग्धं पित्तदोषेण त्रिप्रकारमिति स्मृतम् ॥ ५४ ॥
तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोफो गण्डाक्षिकूटयोः।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते ॥ ५५ ॥
विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः।
मलवातप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम् ॥ ५६ ॥
विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः।
उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते ॥ ५७ ॥
लङ्घनं कार्यमामे तु विष्टब्धे स्वेदनं भृशम्।
विदग्धे वमनं यद्वा यथावस्थं हितं भवेत् ॥ ५८ ॥

अजीर्ण तीन प्रकार का होता है—(१) आमाजीर्ण कफ से होता है, (२) विष्टब्धाजीर्ण वायु से होता है और (३) विदग्धाजीर्ण पित्त से होता है। आमाजीर्ण में शरीर में भारीपन, उत्क्लेद (मिचली), गण्डप्रदेश तथा आँखों के नीचे शोफ, खाये हुए आहार के समान उद्गार तथा अपच होता है। विष्टब्धाजीर्ण में शूल, आध्मान, वातजन्य अनेक प्रकार की वेदना, मल एवं वायु की अप्रवृत्ति, अंगों में स्तब्धता तथा पीड़ा होती है। विदग्धाजीर्ण में भ्रम, प्यास, मूर्च्छा, पित्तजन्य अनेक वेदनाएँ (रोग), धूम्र तथा अम्ल के समान उद्गार, स्वेद तथा दाह होता है। आमाजीर्ण में लंघन, विष्टब्धाजीर्ण में स्वेदन तथा विदग्धाजीर्ण में वमन कराना चाहिए। अथवा जो उपचार जिस अवस्था में हितकारी हो, उसे करना चाहिए।

विलम्बिका

गरीयसो भवेल्लीनादामादेव विलम्बिका।
कफवातानुविद्धामलिङ्गा तत्समसाधना ॥ ५९ ॥

आमदोष का महास्त्रोतस् (पाचन-संस्थान) में अत्यन्त लीन हो जाने से विलम्बिका नामक रोग हो जाता है। इसमें कफ एवं वायु युक्त आमाजीर्ण के लक्षण होते हैं और चिकित्सा भी आमाजीर्ण के समान होती है।

रसशेषाजीर्ण

रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे।
तत्राभुक्त्वा दिवास्वप्यात् क्षुद्वान्नाग्निमतं लघु ॥ ६० ॥

रसशेषाजीर्ण में अन्न से विद्वेष, हृदय में अशुद्धि तथा भारीपन होता है। इसमें भोजन करके दिन में सोना चाहिए और भूख लगने पर लघु द्रव्यों को थोड़ी मात्रा में खाना चाहिए।

अजीर्ण रोगोत्पत्ति-क्रम

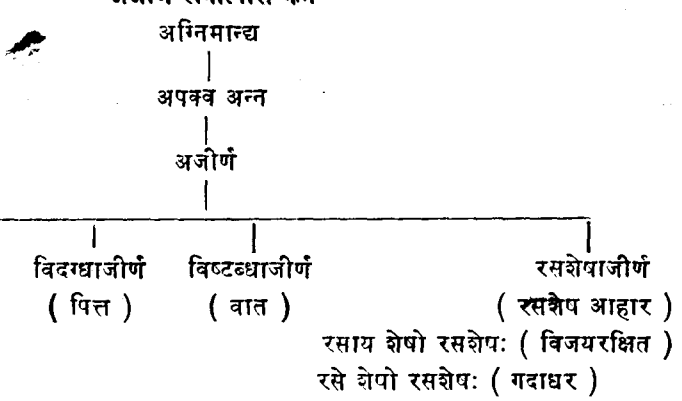

अन्न एवं औषध-पचन काल

यामैश्चतुर्भिर्द्वाभ्यां च भोज्यभैषज्ययोः समे।
पाकोऽग्नौ युक्तयोर्द्राक् च तीक्ष्णे मन्दे पुनश्चिरात् ॥ ६१ ॥

समाग्नि रहने पर आहार का पाक चार याम में और औषध का पाक दो याम (प्रहर) में होता है। तीक्ष्णाग्नि रहने पर शीघ्र पाक हो जाता है तथा मन्दाग्नि रहने पर पाक विलम्ब से होता है।

मन्दाग्नि की चिकित्सा

सभक्तमौषधं तस्मान्मन्दाग्नेरवचारयेत् ।
पूर्वाह्णे भोजनं सात्म्यं लघुदीपनबृंहणम् ॥ ६२ ॥

मंदाग्नि में भोजन देर से पचता है, इसलिए भोजन के साथ कोई दीपन-पाचन औषधि लेना चाहिए। पूर्वाह्ण (प्रातःकाल) में भोजन सात्म्य, लघु, अग्निदीपक और बृंहण (पुष्टिकारक) लेना चाहिए।

सायंकालीन भोजन का प्रभाव

प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ।
अजीर्णे सायमाशे तु प्रातराशो हि दुष्यति ॥ ६३ ॥

दिन का भोजन न पचने पर भी सायंकालीन खाया हुआ भोजन विशेष दोषकारक नहीं होता है, किन्तु सायंकाल का भोजन न पचने पर दिन में किया हुआ भोजन हानिकारक होता है।

दिन का शरीर पर प्रभाव

दिवा प्रबोध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् ।
तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ॥ ६४ ॥
व्यायामाच्च विचाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः ।
न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः ॥ ६५ ॥
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमत्यन्तेन न दुष्यति ।
अविदग्धेष्विव पयःस्वन्यत्सम्मिश्रितं पयः ॥ ६६ ॥

जिस प्रकार दिन में सूर्य के प्रकाश से कमल खिल जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का हृदय भी रात्रि की अपेक्षा दिन में अधिक विकसित (क्रियाशील) हो जाता है। इसके क्रियाशील होने से शरीर में समस्त स्रोतस् खुल जाते हैं। दिन में व्यायाम करने से, बुद्धि से सोच-विचार करने से तथा चित्त के विच्छेद (क्रिया) से धातुओं में दिन के समय क्लेद की उत्पत्ति नहीं होती है। इस अवस्था में इन अक्लिन्न बनी धातुओं से अन्न दूषित नहीं होता है। जैसे अविदग्ध (अविकृत एवं ताजा) दूध में दूसरा दूध मिलाने पर भी विकृत नहीं होता।

रात्रि का शरीर पर प्रभाव

रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च ।
यान्ति कोष्ठे परिक्लेदे संवृते सर्वधातवः ॥ ६७ ॥
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासक्तं प्रदुष्यति ।
विदग्धेषु पयःस्वन्यत्पयस्तप्तेष्विवार्पितम् ॥ ६८ ॥
नैशे तस्मादजीर्णेऽन्ने नान्यद्भुञ्जीत भोजनम् ।

रात्रि में हृदय के म्लान होने (कम क्रियाशील होने) से और मार्गों के बन्द हो जाने से स्रोतसों में रुकी हुई धातुओं में क्लेद की उत्पत्ति हो जाती है। इस अवस्था में आया हुआ अपक्व अन्न उसी प्रकार दूषित हो जाता है, जिस प्रकार विदग्ध (विकृत एवं बासी) दूध में मिलाया हुआ दूसरा ताजा दूध दूषित हो जाता है। इसलिए रात्रिकालीन खाये हुए अन्न के अजीर्ण में दिन में भोजन नहीं करना चाहिए।

जीर्णाहार का लक्षण

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः ॥ ६९ ॥
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ।

उद्गार (डकार) का शुद्ध होना, शरीर में उत्साह, मूत्र-पुरीष आदि का उचित रूप से उत्सर्ग होना, शरीर में हलकापन तथा भूख-प्यास का लगना—ये जीर्णाहार के लक्षण हैं ।

उपसंहार

प्रायः प्रज्ञापराधेन रोगग्रामः प्रजायते ।
नृणामशनलुब्धानां विशेषेण विसूचिका ॥ ७० ॥

प्रायः प्रज्ञापराध से सकल रोगग्राम (व्याधिसमूह) की उत्पत्ति होती है । विशेष रूप से भोजन के लोभी पुरुषों को विसूचिका रोग होता है ।

अजीर्णाहार का लक्षण

दोषोपनद्धं यदि लीनमन्नं पित्तोल्बणस्यावृणुयान्न वह्निम् ।
जायेत दुष्टा तु ततो बुभुक्षा या मन्दबुद्धीन्विषवन्निहन्ति ॥ ७१ ॥

इति मात्राशितीयो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्रवस्वरूप पित्तोल्बण (पित्त-प्रधान) पुरुष में वातकफ दोषों से अवरुद्ध अन्न कोष्ठ के एक भाग में लीन होकर द्रवपित्ताधिक्य के कारण अग्नि को अधिक प्रचण्ड कर देता है । इससे दूषित खाने की इच्छा (झूठी भूख) उत्पन्न होती है । इस भूख में खाया अन्न मन्दबुद्धि पुरुष को विष की तरह मार डालता है ।

इस प्रकार 'मात्राशितीय' नामक एकादश अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

आहार की मात्रा—जठराग्नि बल एवं आहार के गुरु-लघु आदि प्रकृति पर निर्भर है ।

आहार की अमात्रा—यह दो प्रकार की होती है—(१) आहार की हीनता एवं (२) आहार की अधिकता ।

आहार की हीन मात्रा—यह बल, वर्ण, पुष्टि, मनोबल, बुद्धि तथा इन्द्रियों को नष्ट करता है तथा विबन्धकारक, अवृष्य, अनायुष्य, अनोजस्य, त्वक् आदि सारों को नष्ट करने वाला, दरिद्रता उत्पन्न करने वाला तथा वात रोगों का कारण होता है ।

आहार की अति मात्रा—यह तीनों दोष को प्रकुपित करने वाला होता है, जिससे निम्न-लिखित रोग होते हैं—(१) अलसक, (२) विसूचिका, (३) दण्डालसक, (४) आमविष तथा (५) अजीर्ण ।

अजीर्ण—यह तीन प्रकार का होता है—(१) आमाजीर्ण, (२) विदग्धाजीर्ण, (३) विष्टब्धाजीर्ण एवं (४) रसशेषाजीर्ण ।

जीर्णाहार के लक्षण—उद्गार (डकार) का शुद्ध होना, शरीर में उत्साह, मूत्र-पुरीष आदि का उचित रूप से उत्सर्ग होना, शरीर में हलकापन तथा भूख-प्यास का लगना ।

द्वादशोऽध्यायः

अथातो विविधौषधविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'विविधौषधविज्ञानीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

आहार के कथन के पश्चात् आहार के संस्कार में उपयोगी होने के कारण और मिथ्याहार से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा के लिए उपयोगी होने के कारण प्रायः उपयोगी द्रव्यों के स्वरूप-ज्ञान के लिए इस अध्याय का वर्णन किया जा रहा है।

(१) द्विविध औषध

द्विविधमौषधम्—ऊर्जस्करं रोगघ्नं च। उभयमपि चोभयात्मकम्। बाहुल्येन तु निर्देशः। तत्रोर्जस्करं द्विविधं—रसायनं वाजीकरणं च। रोगघ्नमपि द्विविधं—रोगस्य प्रशमनमपुनर्भवकरं च ॥ ३ ॥

ओषधि दो प्रकार की होती है—(१) ऊर्जस्कर—स्वस्थ शरीर को बल, वर्ण और पुष्ट करने वाली (२) रोगनाशक—व्याधियों को नष्ट करने वाली। दोनों प्रकार की औषधियाँ दोनों कार्य करती हैं। अर्थात् ऊर्जस्कर औषधियाँ ऊर्जस्कर होने के साथ-साथ व्याधि को भी नष्ट करती हैं तथा रोगनाशक औषधियाँ रोग को शान्त करने के साथ-साथ ऊर्जस्कर भी होती हैं। तथापि ऊर्जस्कर औषधियाँ प्रधान रूप से ऊर्जस्कर तथा रोगघ्न औषधियाँ प्रधान रूप से रोगनाशक होती हैं। इनमें ऊर्जस्कर दो प्रकार की होती हैं—(क) रसायन तथा (ख) वाजीकरण। रोगघ्न औषधि भी दो प्रकार की होती है—(क) रोग को शान्त करने वाली और (ख) रोग को पुनः उत्पन्न न करने वाली।

ओषधि का अर्थ रोग को दूर करने वाला होता है—'ओषं रुजं धयति इति ओषधिः'। ओष नाम रस का भी है; वह रस जिसमें स्थित होता है, वह ओषधि है—'ओषो नाम रसः सोऽस्या धीयते इति ओषधिः। ओषधिभिर्निष्पन्नं व्याधिहितं, तदुपलक्षणत्वात् सर्वं चिकित्सितमौषधं रूढम्'। (गङ्गाधर)। औषधि का शाब्दिक अर्थ है—ओषधियों से निष्पन्न तथा व्याधि में हितकारी होना। अतः उपलक्षणमात्र से यह शब्द रूढ़ हो गया है। महर्षि अग्निवेश ने भेषज के पर्याय चिकित्सित व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायश्चित, प्रशमन, प्रकृति-स्थापन तथा हित बतलाए हैं—'चिकित्सतं, व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम्। प्रायश्चितं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनहितम् ॥ विद्याद्भेषजनामानि'। (च० चि० १।१।३)। इसका विस्तृत व्याख्या तेइसवें अध्याय के आरम्भ में किया गया है।

(२) द्रव्य-अद्रव्य भेद से औषधि

पुनश्च द्विविधं—[1]द्रव्यमद्रव्यं च। तत्र द्रव्यं त्रिविधं—भौममौद्भिदं जङ्गममिति। तेषु वक्ष्यमाणहेमादिलवणान्तं प्रायेण भौमम्। औद्भिदं तु पुनर्वनस्पतिवानस्पत्यवीरुदौषधि-

---

१. 'द्रव्यं मूर्तं सकलेन्द्रियविषयं च' इतीन्दुः।

भेदेन चतुर्विधं भवति। तत्र फलिनो वनस्पतिः, पुष्पफलवान्वानस्पत्यः, वल्लीगुल्मं वीरुत्, फलपाकान्ता त्वौषधिरिति। जङ्गमोद्भवं तु मधुघृतादि जङ्गमं द्रव्यमाहुः। अद्रव्यं पुनरुपवासानिलातपच्छायामन्त्रसान्त्वदानभयोत्त्रासक्षोभणहर्षणभर्त्सनस्वप्नजागरणसंवाहनादि ॥ ४ ॥

पुनः औषध दो प्रकार की होती हैं—(१) द्रव्य, (२) अद्रव्य। इनमें (१) द्रव्य औषध तीन प्रकार की होती है—

(क) भौम—जो भूमि से उत्पन्न होती है, (ख) औद्भिद्—जो भूमि या बीज का भेदन करके उत्पन्न होते हैं तथा (ग) जाङ्गम—जो प्राणियों से प्राप्त होता है।

(क) भौम—इनमें स्वर्ण से लेकर लवण पर्यन्त तक कही जाने वाली औषधियाँ भौम हैं।

(ख) औद्भिद्—ये चार प्रकार की होती हैं; यथा—१. वनस्पति, २. वानस्पत्य, ३. वीरुद् एवं ४. औषधि। इसमें वनस्पति वे कहे जाते हैं, जिसमें फूल नहीं लगते, किन्तु फल लगते हैं, जैसे—गूलर, पाकड़। वानस्पत्य वे कहे जाते हैं, जिनमें फूल और फल दोनों लगते हैं, जैसे—आम और जामुन। वीरुद् वे कहे जाते हैं, जिसमें लता और गुल्म (झाड़ी) होते हैं, जैसे—गिलोय। औषधि द्रव्य वे कहे जाते हैं, जो फल पकने पर नष्ट हो जाते हैं, जैसे—गेहूँ, जौ, चना।

(ग) जाङ्गम—प्राणियों से उत्पन्न मधु-घृत आदि जांगम द्रव्य हैं।

(२) अद्रव्य रूप औषध—उपवास, वायु आतप (धूप), छाया, मन्त्र, सांत्वना, दान, भय, त्रास, संक्षोभ (क्षुब्ध करना), हर्षण (प्रसन्न करना), भर्त्सना, स्वप्न (शयन), जागरण एवं संवाहन (दबाना) आदि अद्रव्य औषध हैं।

(३) दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय एवं सत्त्वावजय

पुनरपि च त्रिविधमौषधं—दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं सत्त्वावजयश्चेति। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि। युक्तिव्यपाश्रयमाहारौषधयोजनादि। सत्त्वावजयः पुनरहितान्मनोनिग्रहः ॥ ५ ॥

पुनः औषध तीन प्रकार की होती हैं—(१) दैवव्यपाश्रय, (२) युक्तिव्यपाश्रय तथा (३) सत्त्वावजय।

(१) दैवव्यपाश्रय—मन्त्र, औषध, मणि, मंगल, बलि, उपहार, होम (हवन), नियम, प्रायश्चित्त (व्रतादि), उपवास, स्वस्त्ययन (वेदोक्त कर्म), प्रणिपात (देवताओं को शरीर से नमस्कार) तथा गमन (देवस्थानों में जाना) आदि दैवव्यपाश्रय चिकित्सा है।

(२) युक्तिव्यपाश्रय—आहार तथा औषध द्रव्यों की योजना युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा है।

(३) सत्त्वावजय—अहित विषयों से मन का निग्रह करना (हटाना) सत्त्वावजय चिकित्सा है।

(४) अपकर्षण, प्रकृतिविघात तथा निदानत्याग

पुनरपि च त्रिविधम्—अपकर्षणं प्रकृतिविघातो निदानत्यागश्च। ते पुनरपकर्षणादयो द्विविधाः बाह्याभ्यन्तरभेदेन। तत्र बाह्यमपकर्षणं ग्रन्थ्यर्बुदोपपक्ष्मकृमि-

१. 'प्रणिधानं' इति पाठान्तरम्।

शल्यादिषु शस्त्रहस्तयन्त्रादिभिः। अभ्यन्तरं पुनर्वमनविरेचनादिभिः। प्रकृतिविघातं संशमनम्। तद्बाह्यमभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनादि। अभ्यन्तरं यदन्तरमनुप्रविश्याविक्षोभयद्दोषान् शमयति। निदानत्यागो यथादोषं [1]शीतोष्णासनव्यायामादीनां वर्जनं स्निग्धरूक्षाद्यनभ्यवहारश्च। तत्र शस्त्रादिसाध्ये भेषजमनुक्रमते न तु भेषजसाध्ये शस्त्रादि ॥ ६ ॥

पुनः औषधि तीन प्रकार की होती है—(१) अपकर्षण, (२) प्रकृतिविघात तथा (३) निदानत्याग। इनमें अपकर्षण आदि बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की होती है—

(१) अपकर्षण—(क) बाह्य अपकर्षण—ग्रन्थि, अर्बुद, उपपक्ष्म (नेत्ररोग), कृमि तथा कण्टक आदि शल्य को शस्त्र, हाथ या यन्त्र आदि से खींच कर बाहर निकालना।

(ख) आभ्यन्तर अपकर्षण—वमन, विरेचन आदि द्वारा भीतर से दोषों को निकालना।

(२) प्रकृतिविघात (संशमन)—(क) बाह्य प्रकृतिविघात—अभ्यंग, स्वेदन, प्रदेह (लेप), परिषेचन तथा उन्मर्दन आदि हैं।

(ख) आभ्यन्तर प्रकृतिविघात (अन्तःशमन)—जो औषध शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर दोषों को बाहर निकाले बिना शान्त करता है। यह दीपन-पाचन आदि सात प्रकार का होता है।

(३) निदानत्याग—दोषानुसार शीत-उष्ण गुण वाले आहार, आसन तथा व्यायाम आदि का परित्याग तथा स्निग्ध-रूक्ष आदि भोजन का परित्याग करना; अर्थात् रोग उत्पन्न करने वाले आहार-विहार का परित्याग करना निदान-परित्याग है।

इनमें ग्रन्थि आदि शस्त्रसाध्य रोगों में हरीतकी आदि औषधियों का आभ्यन्तर प्रयोग होता है, किन्तु औषध-साध्य ज्वर, ग्रहणी आदि रोगों में शस्त्र आदि बाह्य उपचार का प्रयोग नहीं होता है।

(५) हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत तथा उभयार्थकारि

पुनरपि त्रिविधं—हेतुविपरीतं व्याधिविपरीतमुभयार्थकारि च। तत्र हेतुविपरीतं गुरुस्निग्धशीतादिजे व्याधौ लघुरूक्षोष्णादि। तथेतरस्मिन्नितरम्। व्याधिविपरीतं द्वौ मूलोपक्रमौ (तौ च स्नेहस्वेदौ) लङ्घनबृंहणे पञ्चकर्माणि वमनादीनि सधूपधूमाञ्जनादीनि च। तथा विम्लापनोपनाहनपाटनादीनि ॥ ७ ॥

पुनः औषधि तीन प्रकार की होती है—(१) हेतु-विपरीत, (२) व्याधि-विपरीत तथा (३) उभयार्थकारी।

(१) हेतु-विपरीत (रोगोत्पादक कारण के विपरीत)—गुरु, स्निग्ध, शीत आदि से उत्पन्न रोगों में लघु, रूक्ष, उष्ण आदि औषध, आहार तथा लघ्वादिज रोगों में गुर्वादि औषध-विहार का प्रयोग हेतु-विपरीत औषध है।

(२) व्याधि-विपरीत (रोगनाशक) औषध—इसमें दो मूल उपक्रम (उपचार) हैं। स्नेहन, स्वेदन, लंघन, बृंहण, वमन-विरेचनादि पञ्चकर्म; धूम, धूप, अंजन आदि तथा शस्त्रसाध्य गुल्म आदि रोगों में व्याधि-विपरीत चिकित्सा विम्लापन (विलपन), उपनाहन (पिण्डबन्धन—पुल्टिश) एवं पाटन (चीरना) आदि होता है।

---

१. 'शीतोष्णाशन' इति पाठान्तरम्।

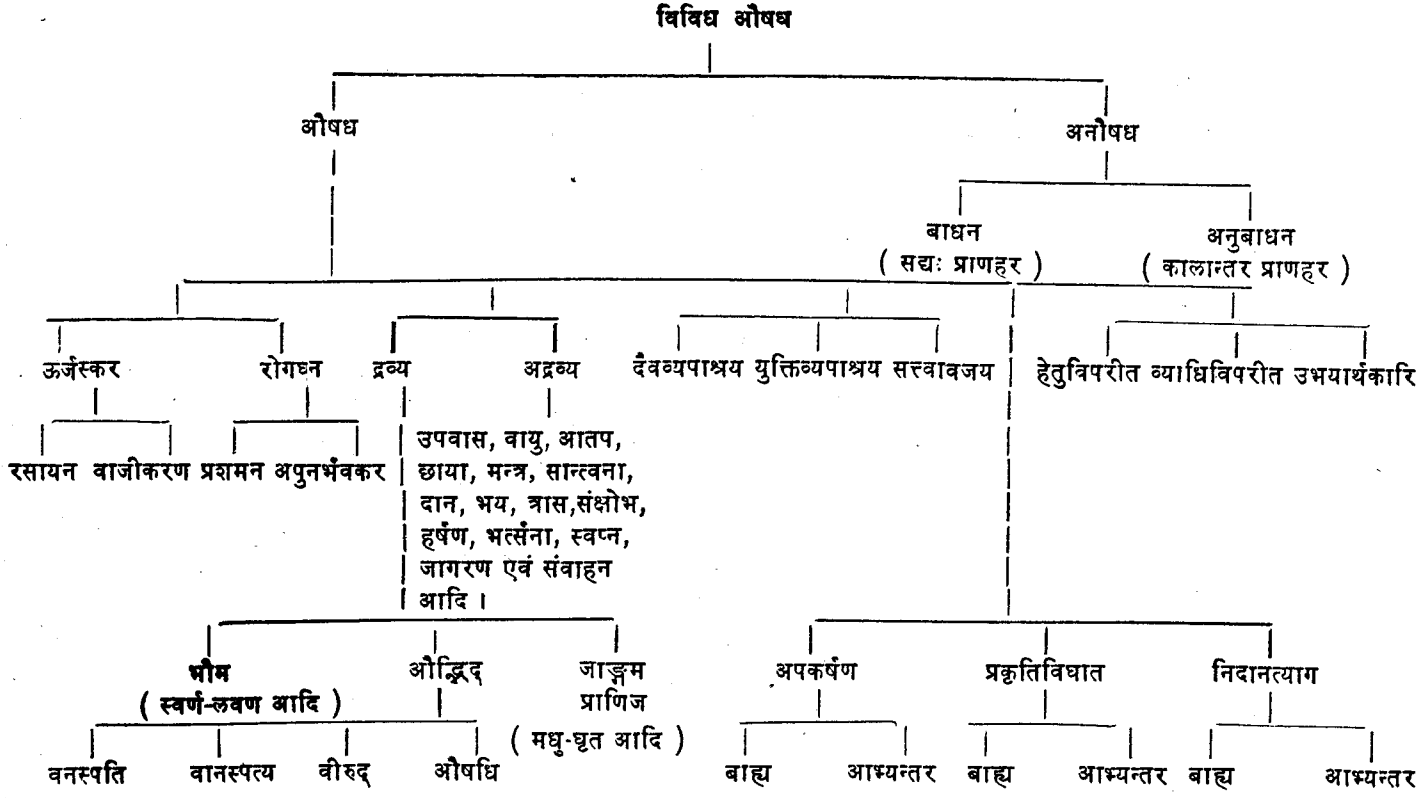
विविध औषध
औषध
अनौषध
बाधन
(सद्यः प्राणहर)
अनुबाधन
(कालान्तर प्राणहर)
ऊर्जस्कर
रोगघ्न
द्रव्य
अद्रव्य
दैवव्यपाश्रय
युक्तिव्यपाश्रय
सत्त्वावजय
हेतुविपरीत
व्याधिविपरीत
उभयार्थकारि
रसायन
वाजीकरण
प्रशमन
अपुनर्भवकर
उपवास, वायु, आतप, छाया, मन्त्र, सान्त्वना, दान, भय, त्रास, संक्षोभ, हर्षण, भर्त्सना, स्वप्न, जागरण एवं संवाहन आदि ।
भौम
(स्वर्ण-लवण आदि)
औद्भिद
जाङ्गम
प्राणिज
(मधु-घृत आदि)
अपकर्षण
प्रकृतिविघात
निदानत्याग
वनस्पति
वानस्पत्य
वीरुद्
औषधि
बाह्य
आभ्यन्तर
बाह्य
आभ्यन्तर
बाह्य
आभ्यन्तर

यच्च दोषशमनत्वे सत्यपि ज्वरे विशेषतोऽभिहितं मुस्तापर्पटकं यवाग्वश्च प्रमेहे रजनी यवान्नं चेत्यादि। रक्तपित्ते चोर्ध्वगे विरेचनमधोगे वमनम् ॥ ८ ॥

एक ही औषध व्याधि-आरम्भक दोषों को शान्त करने वाला होने पर भी सब रोगों में पथ्य नहीं होता है। जैसे मुस्ता (*Cyperus rotundus* Linn.) और पर्पट (*Fumaria parviflora* Lam) पित्तघ्न तथा श्लेष्मघ्न होने से जितना ज्वर में पथ्य है, उतना पित्तश्लेष्मज गुल्म में नहीं। इसी प्रकार यवागू भी विशेष हितकारी होता है। रजनी (हल्दी *Curcuma longa* Linn.) तथा यव (*Hordeum vulgare* Linn.) प्रमेह में विशेष हितकारी है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन तथा अधोग रक्तपित्त में वमन पथ्य हैं।

उभयार्थकारी औषध

उभयार्थकारि पुनर्दैवव्यपाश्रयमौषधम्। तथा छर्द्यां छर्दनमतिसारेऽनुलोमनं[1] मदात्यये मद्यपानं तुत्थदग्धेऽग्निप्रतपनं पित्तेऽन्तर्गूढे[2] विमार्गगे वा स्वेदः कट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णाभ्यवहारश्च बहिः प्रवर्तनाय स्वमार्गापादनाय च। श्लेष्मणि चान्तर्निगूढे स्तब्धे बहिः शीतोपचारस्तत्पीडितस्योष्मणोऽन्तःप्रवेशेन कफविलयतामेति[3]। एवंविधं ह्यविपरीतमेव सद्भेषजं हेतुव्याधिविपरीतमर्थं करोति ॥ ९ ॥

उभयार्थकारी औषध (कारण एवं रोग दोनों के विपरीत)—यह दैवव्यपाश्रय (मणिमन्त्रादिकृत) तथा छर्दि रोग में छर्दन (वमन), अतिसार में अनुलोमन (विरेचन), मदात्यय में मद्यपान, तुत्थ दग्ध में अग्नि पर तपाना, शरीर के भीतर पित्त गूढ़ (छिपा) होने पर या विमार्गगामी पित्त में स्वेदन, कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, उष्ण आहार का प्रयोग, जिससे पित्त शरीर से बाहर आये तथा अपने मार्ग में आ जाये। शरीर के भीतर कफ गूढ़ (छिपा) होने पर तथा स्तब्ध (रुका) श्लेष्मा में बाह्य शरीर पर शीतोपचार किया जाता है, जिससे शीतोपचार से पीड़ित होकर ऊष्मा शरीर के भीतर प्रविष्ट होकर कफ को पिघला देती है। इस प्रकार हेतु एवं रोग से अविपरीत औषधि, हेतु एवं व्याधि के विपरीतार्थ (रोग-शमन) को करता है।

अनौषध के भेद

अनौषधं पुनर्द्विविधमेव। बाधनमनुबाधनं च। तत्र सद्यःप्राणहरं बाधनम्। कालान्तरेणानुबाधनमिति ॥ १० ॥

अनौषध पुनः दो प्रकार की होती है—१. बाधन तथा २. अनुबाधन। इनमें तत्काल प्राणों को नष्ट करने वाला बाधन तथा कालान्तर में प्राणों को नष्ट करने वाला अनुबाधन है।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'अभेषजं च द्विविधं बाधनं सानुबाधनम्'। (च० चि० १।१।५)

औषधियों का स्थूल रूप में वर्णन

परं चातो रसवीर्यादिभेदेन यथास्थूलमौषधैकदेश उपदिश्यते ॥ ११ ॥

इसके आगे रस, वीर्य आदि भेद से स्थूल रूप में कुछ औषध द्रव्यों का उपदेश किया जाता है।

---

१. 'विरेचनम्' इति पाठान्तरम्। २. 'निगूढे' इति पाठान्तरम्।
३. 'कफो विलयतामुपयाति' इति पाठान्तरम्।

स्वर्ण

(Gold : Aurum)

सुवर्णं बृंहणं स्निग्धं मधुरं रसपाकयोः ।
विषदोषहरं शीतं सकषायं रसायनम् ॥ १२ ॥

सुवर्ण (सोना)—बृंहण, स्निग्ध, रस एवं विपाक में मधुर, त्रिदोषनाशक, शीतवीर्य, किञ्चित् कषायरस और रसायन होता है ।

रसतरङ्गिणी में उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त शुद्ध स्वर्ण को नेत्रहितकारी, गर्भधारण शक्ति वर्द्धक, हृदय-दौर्बल्य में सर्वोत्तम एवं विष-प्रभाव का नाशक माना गया है । स्वर्ण को अन्यान्य औषधियों आदि में मिलाकर स्वर्ण-लवण (गोल्डक्लोराइड), स्वर्ण भस्म इत्यादि रूपों में प्रयुक्त करने से भी अनेक लाभ प्राप्त होते हैं । स्वर्ण भस्म क्षय में अति उपयोगी है । स्वर्ण का परमाणु क्रमांक ७९, परमाणु भार (Atomic weight) १९७, घनत्व १९.३ ग्राम प्रति सी. सी., गलनांक १०६३° सें०, क्वथनांक २९७° सें० एवं आक्सीकरण अवस्थाएँ + १ तथा + ३ मानी गयी है । स्वर्ण मुक्त एवं संयुक्त दोनों अवस्थाओं में पाया जाता हैं । संयुक्त अवस्था में यह क्वार्ट्ज में मिश्रित लेड और कॉपर सल्फाइड अयस्कों में कम मात्रा में पाया जाता है । आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी स्वर्ण को एण्टीरियूमेटिक मेटल के रूप में मान्यता प्राप्त है । मुख्यतः इसका यौगिक Sodium aurothiomalate प्रयुक्त होता है । —आर० घोष

चाँदी

(Silver : Argentum)

रूप्यं स्निग्धं कषायाम्लं विपाके मधुरं सरम् ।
वयसःस्थापनं शीतं लेखनं वातपित्तजित् ॥ १३ ॥

चाँदी—स्निग्ध, रस में कषाय एवं अम्ल, विपाक में मधुर, सर, वयःस्थापन, शीतवीर्य, लेखन तथा वातपित्तनाशक होती है ।

रसतरङ्गिणी के अनुसार चाँदी शुक्रमेहघ्न, आयुष्य, वयःस्थापक, वृष्य एवं मेधावर्धक भी है । रजत भस्म को वातहर, कफप्रकोपनाशक, शिरोविकारजन्य भ्रम में विशेष लाभकारी एवं गर्भाशय-शोधन में अति उत्तम माना गया है । चाँदी का परमाणु क्रमांक ४७, परमाणु भार १०७.८८, घनत्व १०.५ ग्राम प्रति सी० सी०, गलनांक ६०८° सें०, क्वथनांक २२१०° सें० एवं आक्सीकरण अवस्था + १ है । मुक्त अवस्था में प्राप्त चाँदी के अतिरिक्त चाँदी का निष्कर्षण अर्जेण्टाइट (Argentite—Ag_2S), स्टीफनाइट (Stephanite—$5\ Ag_2S.\ Sb_2S_3$), पाइरागाइराइट (Pyragyrite—$Ag_2\ Sb_2S_3$), हार्न सिल्वर (Horn Silver—Ag Cl) आदि अयस्कों (Ores) से किया जाता है ।

श्री आर० घोष महोदय के अनुसार अकार्बनिक रजत लवण (Inorganic silver salts $AgNO_3$) सान्द्रावस्था में बैक्टीरियोसाइडल (Bacteriocidal) होते हैं, परन्तु कार्बनिक रजत लवण (Orgainc silver salt) अधिकतर बैक्टीरियोस्टैटिक (Bacteriostatic) होते हैं । अन्तःप्रयोग करने पर मुख एवं आमाशय में वे एस्ट्रीनजैण्ट (Astringents) का कार्य करते हैं ।

ताम्र

(Copper : Cuprum)

ताम्रं सतिक्तमधुरं कषायं लेखनं लघु ।
कटुपाकरसं शीतं रोपणं कफपित्तजित् ॥ १४ ॥

ताँबा—किञ्चित् तिक्त, मधुर, कषाय, लेखन, लघु, रस एवं विपाक में कटु, शीतवीर्य, रोपण तथा कफ-पित्तनाशक होता है।

ताम्र के उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त रसतरङ्गिणी में ताम्रभस्म वीर्य में उष्ण, अम्लरस, स्निग्ध, विषहर, पित्तनिःसारक, लेखन, दीपन, कृमिहर, कुष्ठनाशक, कास-श्वासशामक, क्षयरोग-नाशक, पाण्डुरोगहर, ज्वरनाशक, व्रणनाशक (व्रणरोपण), रुचिकारक, उदररोगहर, आयुष्य, वामक, विरेचक, शूलनाशक, अम्लपित्तशामक, यकृत्प्लीहारोगनाशक, अपस्माररोगहर, विसूचिका तथा वमनरोग-निवारक माना जाता है।

इसका परमाणु क्रमांक २९, परमाणु भार ६३.५४, घनत्व ८.९६, गलनांक १०८३° सें०, क्वथनांक २५९५° सें० एवं आक्सीकरण अवस्थाएँ +१ एवं +२ मानी गयी हैं।

मुक्त अवस्था में ताम्र प्राप्ति के अतिरिक्त ताँबा निम्नलिखित अयस्कों में संयुक्त अवस्था में पाया जाता है—कापर पाइराइट (Copper pyrite $Cu_2Fe_2S_3$), कापर ग्लान्स (Copper glance, Cu_2 S), क्यूप्राइट (Cuprite Cu_2 O), मैलेकाइट (Malachite Cu CO_3 Cu (OH)$_2$), ऐजुराइट (Azurite 2 Cu CO_3 Cu (OH)$_2$) इत्यादि।

श्री आर० घोष के अनुसार ताम्र अकार्बनिक आयरन (Inorganic Iron) को हिमोग्लोबीन में परिवर्तन में सहायता करता है, इस प्रकार रक्तकण का निर्माण (Rate of R. B. C. Formation) बढ़ाता है। इसका एक यौगिक कॉपर सल्फेट बाह्य प्रयोग में एण्टीसेप्टिक और लोकल ऐस्ट्रीनजेण्ट (Local astringent) का भी कार्य करता है।

कांस्य
(Gun Metal)

कांस्यं कषायानुरसं विशदं लेखनं लघु।
दृष्टिप्रसादनं रूक्षं तिक्तं पित्तकफापहम् ॥ १५ ॥

कांस्य (काँसा)—कषाय अनुरस, विशद, लेखन, लघु, दृष्टि-प्रसादक, रूक्ष, रस में तिक्त तथा पित्त-कफनाशक है।

रसतरङ्गिणी में उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त कांस्य को उष्ण, नेत्रप्रसादक, कृमिघ्न एवं कुष्ठशामक तथा कफ, पित्त और वातनाशक एवं उत्तम दीपक माना गया है।

रसायन-विज्ञान में कांस्य को ताम्र एवं टिन की एक मिश्रधातु (Alloy) कहा गया है। इसमें ताम्र ९०% और टिन १०% होती है।

त्रपु (राँगा) तथा सीसा
(Tin : Stanum & Lead : Plumbum)

सतिक्तलवणं भेदि पाण्डुत्वकृमिवातनुत्।
लेखनं पित्तलं किञ्चित् त्रपु सीसं च तद्गुणम् ॥ १६ ॥

राँगा किञ्चित् तिक्त, लवण, मल का भेदन करने वाला होता है। पाण्डुरोग, कृमिरोग तथा वायुनाशक होता है। लेखन तथा किंचित् पित्तकारक भी है। सीसा भी राँगा के समान गुण वाला होता है।

विधिपूर्वक तैयार की हुई वंग भस्म लघु, शीतल, रूक्ष, मेदोविकारनाशक, कफप्रकोपजन्य रोगशामक, प्रमेहविकारनाशक, क्षयरोगनाशक, नेत्रशक्तिवर्धक एवं शुक्रवर्धक है। इसके सेवन से कृशकाय व्यक्ति में भी कामशक्ति और शारीरिक बल की वृद्धि होती है।

आधुनिक रसायन विज्ञान में वंग 'टिन' नाम से जाना जाता है, जिसका परमाणु क्रमांक ५०, परमाणु भार ११८.७, गलनांक २३२° सें० एवं क्वथनांक १७५५° सें० एवं आक्सीकरण अवस्था + २ है। यह प्रकृति में मुक्त अवस्था में नहीं पाया जाता। यह मुख्यतः कैसीटेराइट (Cassiterite $Sn O_2$) नामक अयस्क (Ore) से निष्कर्षित किया जाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने भी टिन को एक्जिमा नामक रोग में उत्तम औषधि के रूप में स्वीकृत किया है।

रसतरङ्गिणी के अनुसार सीसे की विधिपूर्वक बनायी गयी भस्म मधुर, तिक्त, स्निग्ध, उष्ण, गुरु, अग्निवर्धक, प्रमेहनाशक, वातरोग-संहारक, कफप्रकोपजन्य व्याधिनाशक, गुल्मरोगनाशक, संग्रहणी तथा अर्शशामक है।

आधुनिक रसायन विज्ञान के अनुसार सीसा का परमाणु क्रमांक ८२, परमाणु भार २०७.१९, आपेक्षिक घनत्व ११.३४, गलनांक ३२७.४° सें० और क्वथनांक १७२५° सें० है। शुद्ध लेड नीले-भूरे रंग की मुलायम धातु है। परन्तु अन्य अशुद्धियों के मिले होने से यह कड़ी हो जाती है। लेड प्राप्ति के लिए मुख्य अयस्क गैलेना (Galena PbS) अर्थात् लेड सल्फाइड है। इस अयस्क में ६·८% लेड होता है।

श्री आर० घोष के अनुसार घुलनशील लेडसाल्ट एस्ट्रीनजेण्ट (Astringent) का कार्य करते हैं। लेडसाल्ट के घोल (Lotions) और मलहम (Ointments) शोथ एवं वेदनायुक्त एक्जिमा तथा फोड़ा-फुन्सी में प्रयुक्त होता है।

कृष्ण लोह तथा तीक्ष्ण लोह
(Iron : Ferrum)

चक्षुष्यं कृष्णलोहं च कषाय स्वादुतिक्तकम्।
लेखनं वातलं शीतं कृमिकुष्ठकफप्रणुत्॥ १७॥
गात्रशैथिल्यपालित्यपाण्डुघ्नं शोषशोफजित्।
तद्वत्तीक्ष्णं विशेषेण तद्विकाषि सुदुर्जरम्॥ १८॥

कृष्ण लोह चक्षु के लिए हितकारी, रस में कषाय, मधुर, तिक्त, लेखन, वातकारक तथा शीतवीर्य होता है। कृमिरोग, कुष्ठरोग, कफविकार, गात्रशैथिल्य, पालित्य (बालों का पकना), पाण्डुरोग, शोष एवं शोथ को नष्ट करता है। तीक्ष्ण लोह भी इन्हीं गुणों वाला होता है, विशेष रूप से विकासी तथा दुर्जर होता है।

रसतरङ्गिणी में भी कहा है कि लोह का सेवन जीर्ण अतिसार, नवीन गण्डमालारोग, वृक्कशोथ, स्त्रियों में रजोरोध, हृदयरोग, विषमज्वर, फिरंग जन्य पाण्डुरोग, कामला, हलीमक, योषापस्मार, श्वेतप्रदर, मधुमेह, मांसतान (डिपथेरिया), विविध प्रकार के क्षय, ताण्डव, सूतिका-ज्वर, गलक्षत, आमवात, यकृत् रोग, भगन्दर, पीनस (जुकाम) और अम्लपित्त आदि रोगों को नष्ट करता है। किसी रोग की शान्ति के पश्चात् शरीर में उत्पन्न दुर्बलता दूर करने में भी लोह विशेष उपयोगी है।

आयुर्वेद के ग्रंथों में लोह के तीन भेद उल्लिखित हैं—१. मुण्ड लोह या कृष्ण लोह, २. तीक्ष्ण लोह और ३. कान्त लोह; इन तीनों में अन्तःप्रयोग में कान्त लोह सर्वोत्तम और कृष्ण लोह निकृष्ट माना गया है। परन्तु शास्त्रोल्लिखित कान्त लोह अति दुर्लभता से ही प्राप्त होता है।

आधुनिक रसायन विज्ञान के अनुसार लौह (Iron) तत्त्व का परमाणु क्रमांक २६, परमाणु भार ५५.८५, घनत्व ७.८६ ग्राम प्रति सी० सी०, आक्सीकरण अवस्थाएँ + २, + ३, गलनांक १५३३° सें० एवं क्वथनांक २४५०° सें० है। लौह संयुक्तावस्था में अत्यधिक मात्रा में (4.7% of Earth's Crust) पाया जाता है। सर्वाधिक मात्रा में पायी जाने वाली धातुओं में इसका स्थान द्वितीय है। प्रथम स्थान एल्युमिनियम का है।

इसका निष्कर्षण मुख्यतः मैग्नेटाइट (Magnetite Fe_3O_4), हीमेटाइट (Haematite Fe_2O_3), लिमोनाइट (Limonite $3Fe_2O_3 3H_2O$), सिडेराइट (Siderite $Fe\ CO_3$) तथा आयरन पाइराइट (Iron pyrite $Fe\ S$) आदि अयस्कों (Ores) से किया जाता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी लौह को रक्ताल्पता (Anaemia) में अति उपयोगी माना गया है। इसका कारण यह है कि रक्त में पाये जाने वाले लाल रुधिर कण (R. B. C.) में हीमोग्लोबिन नामक रंजक पदार्थ पाया जाता है, जो शरीर में ऑक्सीजन परिवहन का कार्य करता है। यह हीमोग्लोविन हीम (Haem) और ग्लोबिन (Globin) के संयोग से बना होता है। हीम लौह भाग है। अतः लौह लेने से हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) की वृद्धि और परिणामतः रक्त की वृद्धि होती है।

मणियाँ

पद्मरागमहानीलपुष्परागविदूरकाः ।
मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैदूर्यस्फटिकादिकम् ॥ १९ ॥
मणिरत्नं सरं शीतं कषायं स्वादुलेखनम् ।
चक्षुष्यं धारणात्तत्तु पापालक्ष्मीविषापहम् ॥ २० ॥
धन्यमायुष्यमोजस्यं हर्षोत्साहकरं शिवम् ।

पद्मराग (माणिक्य), महानील (नीलम), पुष्पराग (पुखराज), विदूरक (वैदूर्य), मुक्ता (मोती), विद्रुम (मूँगा), वज्र (हीरा), इन्द्रवैदूर्य (उत्तम कोटि का वैदूर्य), स्फटिक (वैक्रान्त) आदि मणियाँ रत्न हैं। ये सब सर, शीतवीर्य, रस में कषाय एवं मधुर, लेखन तथा चक्षु के लिए हितकारी हैं। इनको धारण करने से पाप, अलक्ष्मी (निर्धनता) तथा विष का नाश होता है। ये धन, आयुष्य, ओज, हर्ष, उत्साह को बढ़ाने वाले तथा मंगलकारी होते हैं।

नवरत्नों के विभिन्न रत्न विभिन्न ग्रहों के प्रतीक माने जाते हैं। ज्योतिषशास्त्र में रोगोत्पति ग्रहदुष्टि के कारण मानी जाती है। अतः उन ग्रहों के शमनार्थ उनके अनुसार रत्न-प्रयोग का विधान वर्णित है। उपर्युक्त सभी रत्नों की भस्म वृष्य, आयुष्य, बलवर्धक, मेधावर्धक एवं रसायन होती हैं। परन्तु इनमें विशिष्ट रूप से माणिक्य (Oxide of Aluminium, Iron, Cromium) की भस्म उत्तम वात-पित्तदोषहर एवं कफशामक होते हुए क्षयरोग एवं नपुंसकता में लाभप्रद; नीलम (Compound of Aluminium & Cromium) की भस्म त्रिदोष-प्रकोपशामक, विष-नाशक होते हुए अर्श में अति उपयोगी; पुष्पराग (Compound of Aluminium & Silica) की भस्म कफ-वातशामक, दीपक, पाचक होते हुए कुष्ठ, वमन, शरीरगत विष-प्रभाव का नाश करने में विशिष्ट उपयोगी; वैदूर्य (Compound of Carbon & Mangnesium) की भस्म शीतवीर्य होने से पाचकाग्नि उत्तेजक, रक्तपित्तशामक, चक्षुष्य एवं पित्त-विकार में अति लाभप्रद; मुक्ता (Pearl) की भस्म अग्निदीपक, चक्षुष्य, हृद्य, अन्तर्दाह-शामक होते हुए प्रमेह, क्षयरोग, श्वास तथा कास-

रोग के शमनार्थ विशेष उपयोगी; विद्रुम (Red Coral Bead) की भस्म दीपन, पाचनगुणयुक्त, त्रिदोषप्रकोपशामक, क्षयकासहर, रक्तपित्तशामक, विषप्रभाव एवं जीवाणुओं के शमन में लाभप्रद; हीरे (Diamond-Carbon) की भस्म हृद्य, षड्रसयुक्त द्रव्य के समान गुणकारी, वर्ण्य, त्रिदोष-प्रकोपशामक, नेत्रज्योतिवर्धक होते हुए राजयक्ष्मा, प्रमेह, पाण्डुरोग, नपुंसकता में विशिष्ट उपयोगी एवं वैक्रान्त (Rock Crystal) की भस्म हीरे के समान ही गुणवाली एवं रोगों के शमनार्थ उपयोगी है।

ग्रहशान्ति हेतु विशिष्ट रत्न, दिन एवं विशिष्ट धातु

ग्रह	रत्न	दिन	धातु
सूर्य	माणिक्य	रविवार	स्वर्ण
चन्द्र	मोती	सोमवार	चाँदी
मंगल	मूँगा	मंगलवार	स्वर्ण
बुध	पन्ना	बुधवार	स्वर्ण, काँसा
गुरु	पुखराज	गुरुवार	चाँदी
शुक्र	हीरा	शुक्रवार	चाँदी
शनि	नीलम	शनिवार	लोहा, सीसा
राहु	गोमेद	अमावास्या	पंच धातु
केतु	वैडूर्य	पूर्णिमा	पंचधातु (सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा तथा लोहा सम भाग में)

काँच (Glass)

सक्षार उष्णवीर्यश्च काचो दृष्टिकृदञ्जनात् ॥ २१ ॥

काँच किञ्चित् क्षारयुक्त, उष्णवीर्य तथा अञ्जन करने से शक्ति को बढ़ाने वाला होता है।

काँच (Glass) का रासायनिक संघटन अनिश्चित-सा होता है। अतः रसायन-विज्ञान में काँच का कोई एक निश्चित अणुसूत्र नहीं है। परन्तु इसे सामान्यतया निम्न सूत्र से प्रकट करते हैं—

$$x\ R_2O.\ y\ MO.\ 6SiO_2$$

उपर्युक्त सूत्र में x, y अणुओं की संख्या, R क्षारीय धातु यथा Na, K एवं M द्विसंयोजक धातु को प्रकट करता है। जैसे साधारण काँच का सूत्र है—$Na_2O.\ CaO.\ 6SiO_2$

थोर्प (Thorpe) ने काँच की परिभाषा बतलाते हुए कहा है—'काँच धात्विक सिलिकेटों का (जिसमें क्षारीय धातु का सिलिकेट होना आवश्यक है) अक्रिस्टलीय, पारदर्शक या अल्पपारदर्शक मिश्रण है।'

काँच सिलिका, क्षारीय धातु आक्साइड, लेड आक्साइड, कैलिसयम आक्साइड, बिरञ्जक, कुलेट आदि को मिश्रित कर बनाया जाता है। वर्तमान समय में मृदु काँच (सोडा काँच), कठोर काँच (पोटाश काँच), फ्लिण्ट काँच, क्राउन काँच, पाइरेक्स काँच, क्रुक्स काँच एवं जेना काँच आदि विभिन्न काँच की किस्में बनायी जाती हैं।

शंख, समुद्रफेन, तूतिया तथा गेरू के गुण

शङ्खोदधिमलौ शीतौ कषायावतिलेखनौ।
तुत्थकं कटु सक्षारं कषायं विशदं लघु ॥ २२ ॥
लेखनं भेदि चक्षुष्यं कण्डूकृमिविषापहम्।
विशदौ गैरिकः स्निग्धः कषायमधुरो हिमः ॥ २३ ॥

शंख तथा समुद्रफेन—ये शीतवीर्य, कषाय तथा लेखन होते हैं।

तूतिया (Copper Sulphate $CuSO_4$)—कटु, कुछ खारा, कषाय, विशद, लघु, लेखन, भेदक, चक्षुष्य, कण्डूनाशक, कृमिनाशक तथा विषनाशक होता है।

गैरिक या गेरू (Haemotite or Red Iron oxide Fe_2O_3)–विशद, स्निग्ध, कषाय, मधुर तथा शीतवीर्य होता है।

शंख भस्म पाचन, अम्लपित्त-नाशक **(क्षारीय होने से)**, ग्रहणीरोग एवं पक्वातिसार में उपयोगी तथा समुद्रफेन चक्षुष्य, अग्निदीपक, **ज्वरनाशक, विषदोषशामक,** कफनाशक और कुष्ठरोगहर भी है।

तुत्थ भस्म कफ-पित्तप्रकोपशामक, **संकोचक और नाड़ी-मण्डल** के लिए बल्य भी होती है। श्री आर० घोष के अनुसार तूतिया (Copper Sulphate) बाह्य प्रयोग में लोकल एस्ट्रीनजेण्ट (Local astringent) और एण्टीसेप्टिक (Antiseptic) का कार्य करता है। अन्तःप्रयोग में यह अल्प मात्रा में (Astringent) और अधिक मात्रा में वामक द्रव्य का कार्य करता है।

गैरिक के दो भेद हैं—स्वर्णगैरिक एवं पाषाणगैरिक। स्वर्णगैरिक उत्तम, स्निग्ध एवं मृसण होता है, जब कि पाषाणगैरिक अवर तथा रूक्ष। स्वर्णगैरिक दाहनाशक, पित्तज्वरनाशक, व्रणरोपक, हिक्का-वमननाशक, रक्तपित्त तथा रक्तप्रदर में लाभप्रद भी होता है।

मैनसिल एवं हरताल

कफघ्नी तिक्तकटुका मनोह्वा लेखनी सरा ।
स्निग्धं, कषायकटुकं हरितालं विषप्रणुत् ॥ २४ ॥

मनोह्वा—(मैनसिल) कफनाशक, रस में तिक्त, कटु, लेखन तथा सर होता है ।

हरताल—स्निग्ध, रस में कषाय, कटु और विषनाशक है ।

मैनसिल (Realgar $As_2 S_2$) गुणों में स्निग्ध, उष्ण एवं गुरु, विबन्धनाशक, कण्डू-नाशक, जीवाणुनाशक एवं विषनाशक भी होती है ।

हरताल (Yellow Arsenic $As_2 S_3$) त्रिदोषप्रकोपनाशक, कुष्ठरोग तथा वातरक्त रोगनाशक और उत्तम रसायन भी है ।

हरताल एवं मैनसिल दोनों में संखिया तथा गंधक का मिश्रण होता है । श्री आर० घोष के अनुसार आर्सेनिक अल्पमात्रा में रक्तवाहिनियों (Cappilaries) को विस्तृत (Dilate) करता है, लाल रक्तकण (R. B. C.) की संख्या को घटाता है तथा श्वेत रक्तकण के निर्माण के क्रम (Rate) को कम करता है । आर्सेनिक के कार्बनिक साल्ट सिफिलिस (Syphilis) एवं अमीबियासिस (Amoebiasis) की चिकित्सा में उपयोगी होते हैं ।

अञ्जन तथा रसाञ्जन

कषायं मधुरं शीतं लेखनं स्निग्धमञ्जनम् ।
रक्तपित्तविषच्छर्दिहिध्माघ्नं दृक्प्रसादनम् ॥ २५ ॥
स्रोतोऽञ्जनं वरं तत्र ततः सौवीरकाञ्जनम् ।
कफघ्नं तिक्तकटुकं छेदि सोष्णं रसाञ्जनम् ॥ २६ ॥

अंजन (सुरमा)—कषाय, मधुर, शीतवीर्य, लेखन तथा स्निग्ध होता है । रक्तपित्त, विष, वमन और हिक्का को नष्ट करता है । दृष्टि को निर्मल करता है । इन अञ्जनों में स्रोतांजन (काला सुरमा) श्रेष्ठ होता है और सौवीरांजन (श्वेत सुरमा) इससे कम उत्तम होता है । रसाञ्जन (रसोत–दारुहरिद्रा विकार) कफघ्न, तिक्त, कटु, छेदनीय तथा किञ्चित् उष्णवीर्य होता है ।

'स्रोतांजन' रासायनिक संघटन के अनुसार 'एण्टीमनी सल्फाइड' (Antimony Sulphide) है, जो वर्मा और मैसूर में प्राप्त होता है । 'सोवीरांजन' रासायनिक रूप से 'एण्टीमनी' (Antimony) और 'गन्धक' (Sulphur) का यौगिक है, जो वेली आसाम में पाया जाता है ।

'रसांजन' को रासायनिक संघटन के अनुसार 'यलो आक्साइड आफ मर्करी' (Yellow Oxide of Mercury) कह सकते हैं ।

शिलाजतु

स्वादु हिध्माप्रशमनं कासमेहक्षयापहम् ।
कफघ्नमुष्णं कटुकं शिलाजतु रसायनम् ॥ २७ ॥
तिक्तं च च्छेदनं योगवाहित्वात्सर्वरोगजित् ।
विशेषात्कृच्छ्रमेहार्शः पाण्डुशोफकफापहम् ॥ २८ ॥

शिलाजतु—मधुर होता है, हिक्का, कास, प्रमेह, क्षय तथा कफ रोगों को नष्ट करता है। उष्ण, रस में कटु तथा रसायन होता है। तिक्त, छेदक तथा योगवाही होने से सभी रोगों को नष्ट करता है; विशेष रूप से मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, पाण्डु, शोथ और कफविकारों को नष्ट करता है।

शिलाजतु कोलतार के समान कृष्णवर्ती द्रव होता है, जो सूखने पर चमकीला और भंगुर हो जाता है। यह जल में घुलनशील और कार्बनिक विलायकों यथा अल्कोहल, क्लोरोफार्म, ईथर आदि में अघुलनशील है।

'शैलाधिपशिलासारो निर्गतो रवितापतः। शुष्कः सम्मूर्ततां यातः शिलाजतु निगद्यते' ॥ (रसतरङ्गिणी २२।६३) अर्थात् हिमालय की शिलाओं का सार सूर्य के ताप से स्रवित होकर बाहर आ जाता है और सूख करके काला कोलतार-सा हो जाता है, उसे शिलाजतु कहते हैं। शिलाजतु का रासायनिक विश्लेषण करने पर उसमें जल—९.५%, पार्थिव द्रव्य—३४.६५%, ऐन्द्रियिक द्रव्य—३६.२०%, नत्रजन द्रव्य (Nitrogenous matters)—१.३%, चूना (Lime)–७.८%, अभ्रक (Mica)–१.३५% प्राप्त होते है। कुछ लोग शिलाजतु को 'खनिज-तैल का यौगिक' (Compound of Mineral Oil) भी मानते हैं।

वंशलोचन एवं तवक्षीरी

कषाया मधुरा रूक्षा कासघ्नी वंशरोचना।
तवाक्षीरी क्षयश्वासकासघ्नी मधुरा हिमा ॥ २९ ॥

वंशलोचन–रस में कषाय, मधुर, रूक्ष तथा कासघ्न होता है। तवाक्षीरी–क्षय, श्वास एवं कास को नष्ट करता है तथा रस में मधुर एवं शीतवीर्य होता है।

चक्रपाणि ने कहा है—'तुगाक्षीरी वंशलोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्'।

(च० चि० ८।१०४ पर चक्रपाणि-व्याख्या)

लवण

विष्यन्दि लवणं सर्वं सूक्ष्मं सृष्टमलं मृदु।
वातघ्नं पाकि तीक्ष्णोष्णं रोचनं कफपित्तकृत् ॥ ३० ॥
सैन्धवं तत्र सस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत्।
लघ्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम् ॥ ३१ ॥
लघु सौवर्चलं हृद्यं सुगन्ध्युद्गारशोधनम्।
कटुपाकं विबन्धघ्नं दीपनीयं रुचिप्रदम् ॥ ३२ ॥
ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनं दीपनं बिडम्।
विबन्धानाहविष्टम्भशूलगौरवनाशनम् ॥ ३३ ॥
विपाके स्वादु सामुद्रं गुरु श्लेष्मविवर्धनम्।
सतिक्तकटुकं क्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम् ॥ ३४ ॥
कृष्णे सौवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जिताः।
रोमकं लघु पांसूत्थं सक्षारं श्लेष्मलं गुरु ॥ ३५ ॥
लवणानां प्रयोगे तु सैन्धवादि प्रयोजयेत्।

सभी प्रकार के लवण विष्यंदी (पसीजने वाले), सूक्ष्म, मल को प्रवृत्त करने वाले, मृदु, वातनाशक, पाचन करने वाला, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रुचिकारक तथा कफ-पित्तकारक होते हैं।

सैन्धव लवण—किञ्चित् मधुर, वृष्य, हृद्य, त्रिदोषनाशक, लघु, किञ्चित् उष्णवीर्य, नेत्रों के लिए पथ्य, अविदाहि और अग्निदीपक होता है।

सौवर्चल लवण—लघु, हृद्य, सुगन्धित, उद्गार (डकार) को शुद्ध करने वाला, विपाक, में कटु, विबंधनाशक, अग्निदीपक तथा रुचिप्रद होता है।

विड लवण (नौसादर)—कफ एवं वायु को मुख तथा गुद मार्ग से प्रवृत्त करने वाला तथा अग्निदीपक होता है। विबंध, आनाह, विष्टम्भ, शूल तथा उदर की गुरुता (भारीपन) को नष्ट करता है।

सामुद्र लवण—विपाक में मधुर, गुरु तथा कफवर्धक होता है।

औद्भिद लवण (मिट्टी में उत्पन्न होने वाला रेह)—किंचित् तिक्त, कटु, क्षारीय, तीक्ष्ण तथा उत्क्लेदकारक होता है।

कृष्ण लवण (काला नमक)—कृष्ण लवण सौवर्चल लवण के समान ही गुणों वाला होता है, किन्तु इसमें गन्ध नहीं होती है।

रोमक लवण (साँभर नमक)—पांसूत्थ (धूल से बनाया हुआ, राजस्थान के सांभर नामक झील के किनारे मिट्टी मिश्रित जल में सुखाकर बनाया गया), लघु, किञ्चित् क्षारयुक्त, कफकारक तथा गुरु होता है।

लवण के प्रयोग में सैंधव का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ लवण का प्रयोग कहा गया हो, वहाँ सैंधव; जहाँ दो लवणों का प्रयोग कहा हो, वहाँ सैंधव और सौवर्चल तथा जहाँ तीन लवणों का प्रयोग कहा हो, वहाँ सैंधव, सौवर्चल और विड लवण—इस क्रम से प्रयोग करना चाहिए।

उपर्युक्त सभी लवण मुख्यतः रासायनिक रूप से सोडियम क्लोराइड (Sodium Chloride NaCl) ही है, कुछ अल्पमात्रा में पायी जाने वाली अशुद्धियों को छोड़कर, यथा—सौवर्चल लवण में गन्धक (Sulphur) और लोह (Iron) भी अल्पमात्रा में पाया जाता है। परन्तु इनमें विड् लवण अपवाद भी है, जो रासायनिक संघटन की दृष्टि से अमोनियम क्लोराइड या नौसादर (Ammonium Chloride NH_4 Cl.) है।

यवक्षार

गुल्महृद्ग्रहणीपाण्डुप्लीहानाहगलामयान् ॥ ३६ ॥
श्वासार्शःकफकासांश्च शमयेद् यवशूकजः।

यवक्षार—यह गुल्मरोग, ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, प्लीहारोग, आनाह, गलरोग, श्वासरोग, अर्शरोग, कफरोग तथा कासरोग को शांत करता है।

यवक्षार के निर्माण की विधि—यव (*Hordeum vulgare*) के पञ्चांग अथवा डण्डी को जलाकर उसकी राख तैयार कर लें। अब इस (राख) को साफ बर्तन में डालकर, उसमें राख से आठ गुना जल मिश्रित कर, फिर इसे हाथ से अच्छी तरह मिला कर एक मोटे गाढ़े कपड़े से जल को छान ले। पुनः इसी प्रकार सात बार छने हुए इस स्वच्छ जल को साफ बर्तन में रखकर अग्नि पर पकावें। पानी जल जाने पर सतह पर जमे हुए पाण्डुप्रभ (कुछ पीले-सफेद) यवक्षार को खुरच कर निकाल लें।

स्वर्जिकाक्षार

स्वर्जिका तद्गुणान्न्यूना क्षारेण तु ततोऽधिका ॥ ३७ ॥
क्षारः सर्वेभ्य परमं तीक्ष्णोष्णः कृमिजिल्लघुः ।
पित्तासृग्दूषणः पाकी छेद्यो हृद्यो विदारणः ॥ ३८ ॥
अपथ्यः कटुलावण्याच्छुक्रौजःकेशचक्षुषाम् ।

स्वर्जिकाक्षार—यह यवक्षार से गुणों में न्यून होता है, किन्तु इसमें क्षारीय गुण यवक्षार से अधिक होता है। यह सभी क्षारों में अत्यधिक तीक्ष्ण, उष्ण, कृमिनाशक तथा लघु होता है। पित्त और रक्त को दूषित करने वाला, पाचक, छेदक, हृद्य तथा लेप करने से फोड़ों का दारण करने वाला होता है। यह कटु तथा लवण रस होने से शुक्र, ओज, तेज तथा नेत्रों के लिए अपथ्य है।

स्वर्जिकाक्षार की भी निर्माण-विधि यवक्षार के समान ही है, परन्तु अन्तर मात्र इतना है कि इसमें यव के स्थान पर उष्ट्रप्रिया (छोटी दुरालभा *Fagonia cretica* Linn.) को प्रयुक्त करते हैं। अभी तक उपर्युक्त वर्णित सभी द्रव्य भौम (पार्थिव) हैं; मात्र मुक्ता, रसाञ्जन, वंशलोचन, यवक्षार और स्वर्जिकाक्षार को छोड़कर। अब आगे जिन द्रव्यों का वर्णन होगा, वे औद्भिद् हैं।

हरीतकी

पथ्या कषायभूयिष्ठा स्वादुः पाके रसात्यये ॥ ३९ ॥
रसैः पञ्चभिरायुक्ता रूक्षा विलवणा लघुः[1] ।
दीपनी पाचनी मेध्या वयसः स्थापनी परम् ॥ ४० ॥
उष्णवीर्या सराऽऽयुष्या बुद्धीन्द्रियबलप्रदा ।
कुष्ठवैवर्ण्यवैस्वर्यपुराणविषमज्वरान् ॥ ४१ ॥
शिरोक्षिपाण्डुहृद्रोगकामलाग्रहणीगदान् ।
सशोषशोफातीसारमेहमोहवमिक्रिमीन् ॥ ४२ ॥
श्वासकासप्रसेकार्शःप्लीहानाहगरोदरम् ।
विबन्धं स्रोतसां गुल्ममूरुस्तम्भमरोचकम् ॥ ४३ ॥
हरीतकी जयेद्व्याधींस्तांस्तांश्च कफवातजान् ।

हरीतकी (*Terminalia chebula*)—यह रस में कषाय-प्रधान, विपाक में मधुर, पाँचों रसों से युक्त तथा विलवण (लवण रस से रहित) होता है। रूक्ष, लघु, दीपन, पाचन, मेध्य, अत्यन्त वयःस्थापन, उष्णवीर्य, सर, आयुर्वर्द्धक, बुद्धि-इन्द्रिय-बलवर्द्धक तथा कुष्ठरोग, वैवर्ण्य (कांतिहीनता), वैस्वर्य (स्वरभेद), जीर्ण विषमज्वर, शिरोरोग, नेत्ररोग, पांडुरोग, हृद्रोग, कामलारोग, ग्रहणी, शोष, शोफ, अतिसार, प्रमेह, मोह, छर्दि, कृमिरोग, श्वास-कास, कफप्रसेक, अर्शरोग, प्लीहारोग, आनाह, गरविष, उदररोग, स्रोतों का अवरोध, गुल्मरोग, ऊरुस्तम्भ, आरोचक तथा कफवातजनित रोगों को शान्त करती है।

---

१. 'कषाया मधुरा पाके रूक्षा विलवणा लघुः' इति इन्दुः सम्मतपाठः ।

आमला

तद्वदामलकं शीतं माधुर्यात् पित्तजित्परम् ॥ ४४ ॥
कफं कटुविपाकित्वादम्लत्वान्मारुतं जयेत् ।
परं च कण्ठ्यं चक्षुष्यं हृद्यं दाहज्वरापहम् ॥ ४५ ॥

आमला (*Emblica officinalis* Gaertn.)—यह भी हरड़ (*Terminalia chebula*) के समान गुणकारी है । यह शीतवीर्य तथा रस में मधुर होने से अत्यन्त पित्तनाशक है, विपाक में कटु होने से कफ का और रस में अम्ल होने से वायु का शामक है तथा कंठ के लिए अत्यन्त हितकारी है । चक्षुष्य, हृद्य, दाह एवं ज्वर को नष्ट करता है

बिभीतक

अक्षं तु तद्गुणन्यूनं[1] कषायमधुरं हिमम् ।
कासश्वासगलश्लेष्मपित्तशुक्रहरं लघु ॥ ४६ ॥
परं केश्यस्तु तन्मज्जा शुक्रघ्नं च ततोऽञ्जनम् ।

अक्ष (बहेड़ा *Terminalia belerica* Roxb.)—यह आँवला (*Emblica officinalis* Gaertn.) की अपेक्षा कुछ न्यून गुण वाला, रस में कषाय, मधुर एवं शीतवीर्य है । कासरोग, श्वासरोग, गलरोग, कफरोग, पित्तरोग तथा शुक्रदोष-नाशक एवं लघु होता है । बहेड़े की मज्जा केश के लिए अत्यन्त हितकारक तथा इसका अंजन शुक्ररोग (नेत्रगत शुक्र-शुक्ल) नाशक होता है ।

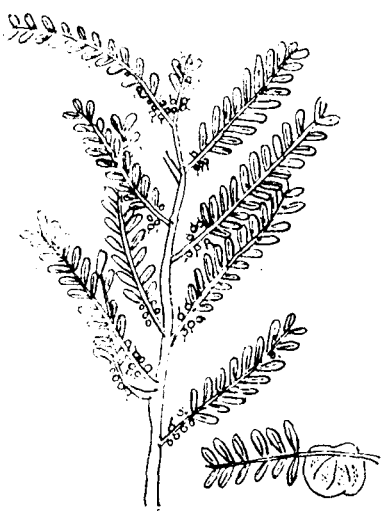

आँवला

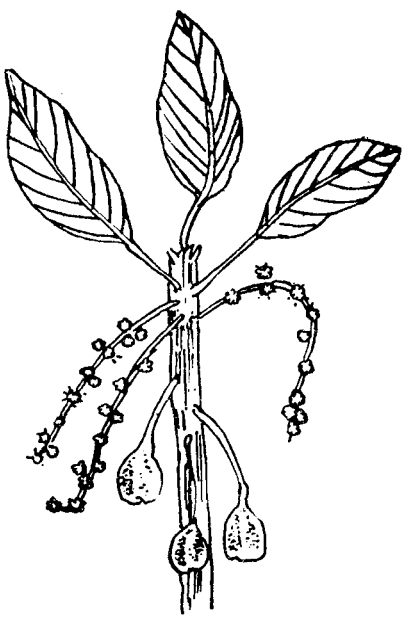

अक्ष (बिभीतक)

त्रिफला

इयं रसायनवरा त्रिफलाऽक्ष्यामयापहा ॥ ४७ ॥
रोपणी त्वग्गदक्लेदमेदोमेहकफास्रजित् ।

१. 'तद्गुणान्न्यूनं' इति पाठान्तरम् ।

हरीतकी (*Terminalia chebula*), आमलक (*Emblica officinalis* Gaertn.) और बिभीतक (*Terminalia belerica* Roxb.) का (सम परिमाण में) योग करने से त्रिफला कहा जाता है। यह श्रेष्ठ रसायन, अक्षिरोग-नाशक तथा व्रणरोपक होता है। त्वक्‌रोग, क्लेद, मेदो-रोग, प्रमेह, कफविकार तथा रक्तविकार को शान्त करता है।

हरीतकी, आमलक और बिभीतक का सम परिमाण में योग त्रिफला कहा गया है। यथा—

'पथ्याबिभीतधात्रीणां फलैः स्यात् त्रिफला समैः।
फलत्रिकं च त्रिफला सा वरा च प्रकीर्तिता॥' (भावप्रकाश)

परन्तु कहीं-कहीं पर संख्या के आधार पर एक हरीतकी, दो बिभीतक एवं चार आमलक फलों का योग त्रिफला कहा गया है। यथा—'एका हरीतकी योज्या द्वौ योज्यौ च बिभीतकौ'। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों कथन सत्य हैं, क्योंकि एक हरीतकी, दो बिभीतक एवं चार आमलक फल लेने पर तीनों परिमाण में सम ही होते हैं।

त्रिजात और चतुर्जात

पत्रकं कफवातघ्नं त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्[1] ॥ ४८ ॥
केसरं रक्तगुदजविषपित्तकफापहम्।
तद्युक्तं तच्चतुर्जातं नातिशीतोष्णमुच्यते[2] ॥ ४९ ॥

तेजपत्र कफवात-नाशक है। **त्रिजातक**—दालचीनी (*Cinnamomnm zeylanicum*), तेजपत्र (*Cinnamomum tamala* Nees. & Eberm) और इलायची (*Elettaria cardamomum*) ये तीनों सुगन्धित द्रव्य संयुक्त रूप से त्रिजातक कहे जाते हैं।

नागकेसर रक्तविकार, अर्श, विषविकार, पित्त तथा कफरोग को नष्ट करता है। **चतुर्जात**—नागकेसर (*Mesua ferrea* Linn.), दालचीनी (*Cinnamomum zeylanicum*), तेजपत्र (*Cinnamomum tamala* Nees & Eberm.) और इलायची (*Elettaria cardamomum*) को संयुक्त रूप से चतुर्जात कहते हैं। यह न अत्यन्त शीत और न अत्यन्न उष्ण होता है।

मरिच

पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रोचनदीपनम्।
रसे पाके च कटुकं कफघ्नं मरिचं लघु ॥ ५० ॥

यह पित्तप्रकोपी, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रूक्ष, रुचिकारक, अग्निदीपक, रस एवं विपाक में कटु, कफनाशक तथा लघु होता है।

पिप्पली

श्लेष्मला स्वादुशीताऽऽर्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली।
सा शुष्का विपरीताऽतः स्निग्धा वृष्या रसे कटुः ॥ ५१ ॥
स्वादुपाकाऽनिलश्लेष्मकासश्वासापहा सरा।
न तामत्युपयुञ्जीत रसायनविधिं विना ॥ ५२ ॥

आर्द्र (गीली) पिप्पली (*Piper longum* Linn.) कफकारक, रस में मधुर, शीत-वीर्य, गुरु तथा स्निग्ध होती है। शुष्क पिप्पली इसके विपरीत स्निग्ध, वृष्य, रस में कटु तथा

१. इत्यग्रे—'सकेशरं चतुर्जातं त्वक्‌पत्रैलं त्रिजातकम्' इत्यधिकः पाठः।
२. यह श्लोक इन्दुकृत व्याख्या में नहीं है।

विपाक में मधुर होती है तथा वातविकार, कफविकार, कास, श्वास को नष्ट करती है तथा सर होती है। रसायन-विधि के बिना पिप्पली का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिए।

सोंठ तथा त्रिकटु

नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहि हृद्यं विबन्धनुत्।
रुच्यं लघु स्वादुपाकं स्निग्धोष्णं कफवातजित् ॥ ५३ ॥
तद्वदार्द्रकमेतच्च त्रयं त्रिकटुकं जयेत्।
स्थौल्याग्निसदनश्वासकासश्लीपदपीनसान् ॥ ५४ ॥

नागर (सोंठ *Zingiber officinale* Rose.)—अग्निदीपक, वृष्य, ग्राही, हृद्य, विबंध-नाशक, रुचिकारक, लघु, विपाक में मधुर, स्निग्ध, उष्णवीर्य तथा कफवातनाशक है। अदरख (*Zingiber officinale* Rose. गीली या कच्ची सोंठ) भी सोंठ के समान होता है।

त्रिकटु—सोंठ (*Zingiber officinale* Rose.), मरिच (*Piper nigrum* Linn.) और पिप्पली (*Piper longum* Linn.) इन तीनों को त्रिकटु कहते हैं। यह स्थौल्य, मंदाग्नि, श्वास, कास, श्लीपद और पीनस को नष्ट करता है।

चव्य, पीप्पलीमूल, चित्रक तथा पंचकोल

चविकापिप्पलीमूलं मरिचाल्पान्तरं गुणैः।
चित्रकोऽग्निसमः पाके शोफार्शःकृमिकुष्ठहा ॥ ५५ ॥
पञ्चकोलकमेतच्च मरिचेन विना स्मृतम्।
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं दीपनं परम् ॥ ५६ ॥

चव्य (*Piper chaba* Hunter.) तथा पिप्पलीमूल (Root of *Piper longum* Linn.) मरिच (*Piper nigrum* Linn.) से अल्प गुण वाले होते हैं।

चित्रक (*Plumago zeylanicum* Linn.)—पाचनकर्म में अग्नि के समान होता है। यह शोफ, अर्श, कृमिरोग तथा कुष्ठ को नष्ट करता है।

पंचकोल—मरिच के बिना पिप्पली (*Piper longum* Linn.), पिप्पलीमूल (Root of *Piper longum* Linn.), चव्य (*Piper chaba* Hunter.), चित्रक (*Plumbago zeylanicum* Linn.) और शुण्ठी (सोंठ *Zingiber officinale* Rose.)—इन पाँचों को संयुक्त रूप से पंचकोल कहते हैं। यह गुल्मरोग, प्लीहारोग, उदररोग, आनाह एवं शूल को नष्ट करता है तथा अग्निदीपक है। मरिच (*Piper nigrum* Linn.) सहित पंचकोल का नाम 'षड्षण' है।

सात प्रकार के पञ्चमूल

बिल्वकाश्मर्यतर्कारीपाटलाटिण्टुकैर्महत् ।
जयेत्कषायं तिक्तोष्णं पञ्चमूलं कफानिलौ ॥ ५७ ॥
ह्रस्वं बृहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम्।
स्वादुपाकरसं नातिशीतोष्णं सर्वदोषजित् ॥ ५८ ॥
बलापुनर्नवैरण्डैः शूर्पपर्णीद्वयेन च।
मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं लघु ॥ ५९ ॥
अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम्।
जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ॥ ६० ॥

तृणाख्यं शरदर्भेक्षुशालिकाशैस्तु पित्तजित्।
अजशृङ्गी हरिद्रा च विदारी सारिवाऽमृता ॥ ६१ ॥
वल्ल्याख्यं कण्टकाख्यं तु श्वदंष्ट्राभीरुसैर्यकैः।
सहिस्राकरमर्दीकैः सर्वदोषहरे च ते ॥ ६२ ॥

१. **महत्पञ्चमूल**—बिल्व (*Aegle marmelos* Correa.), गंभारी (*Gmelina arborea* Linn.), तर्कारी (अग्निमंथ या अरणी *Clerodendrum phlomidis* Linn.), पाटला (*Stereo spermum suaveolens* DC.), टिंटुक (श्योनाक *Oroxylum indicum* Vent.) इन पाँचों के योग को महत्पञ्चमूल कहते हैं। यह रस में कषाय, तिक्त, उष्णवीर्य होता है तथा कफ और वायु को शांत करता है।

२. **लघुपञ्चमूल**—बृहतीद्वय (बड़ी कटेरी एवं छोटी कटेरी *Solanum indicum* Linn. & *Solanum xanthocarpum* Schrad.), अंशुमती-द्वय (शालपर्णी और पृश्निपर्णी *Desmodium gangeticum* DC. & *Uraria picta* Desv.) तथा गोक्षरु (*Tribulus terrestris* Linn.) इन पाँचों को संयुक्त रूप से लघुपंचमूल कहते हैं। यह विपाक एवं रस में मधुर, न अतिशीत, न अति उष्ण तथा सर्वदोषनाशक होता है।

३. **मध्यमपञ्चमूल**—बला (*Sida cordifolia* Linn.), पुनर्नवा (*Boerhavvia diffusa* Linn.), एरण्ड (*Ricinus communis*), मुद्गपर्णी (*Phascolus trilobus* Ait.) तथा माषपर्णी (*Teramnus labeialis*) इन पाँचों के योग का नाम मध्यमपञ्चमूल है। यह कफ-वातनाशक, अल्प पित्तकारक तथा लघु होता है।

४. **जीवनपञ्चमूल**—अभीरु (शतावरी *Asparagus racemosus* Willd.), वीरा (काकोली *Lilium polyphyllum* D. Don.), जीवंती (*Leptadenia reticulata* W. & A.), जीवक (*Microstylis mucifera* Red.) और ऋषभक (*Microstylis wallichii* Linn.) के योग को जीवनपंचमूल की संज्ञा दी गयी है। यह चक्षुष्य, वृष्य तथा वायु को नष्ट करता है।

५. **तृणपञ्चमूल**—सर (मुंज *Saccharum arundinaceum* Retz.), दर्भ (कुश *Imperata cylendrica* Beauv.), ईख (*Saccharum officinarum* Linn.), शालि (*Oryza sativa* var. ?), और काश (*Saccharum spontanum* Linn.) ये पाँचों तृणपंचमूल कहे जाते हैं। यह पित्तनाशक होता है।

६. **वल्लीपञ्चमूल**—अजशृंगी (मेढाशृंगी *Pergularia extensa* N. E. Br.), हरिद्रा (*Curcuma longa* Linn.), विदारीकंद (*Pueraria tuberosa* DC.), सारिवा (*Hemidesmus indicus* R. Br.) और गुडूची (गिलोय *Tinospora cordifolia* Willd.) ये पाँचों संयुक्त रूप से वल्लीपंचमूल कहे जाते हैं।

७. **कण्टकपंचमूल**—गोक्षरु (*Tribulus terrestris* Linn), शतावरी (*Asparagus racemosus* Willd.), सैरेयक (कटसरैया *Rhododendron lepidotum*), हिस्रा (मांसी *Nardostachys* jatamansi), करमर्द (करौंदा *Carrisa corandal*) इन पाँचों के योग को कण्टकपञ्चमूल कहते हैं। यह सर्वदोषनाशक होता है।

मध्यम पंचमूल और जीवन पंचमूल वृद्धवाग्भट की मौलिक देन है। इसके अतिरिक्त अन्य पाँच पंचमूलों का सुश्रुतसंहिता में भी वर्णन है। बृहत्पंचमूल और लघुपंचमूल का योग दशमूल कहा जाता है।

अन्नगन्धहर द्रव्य

कारवीकुञ्चिकाऽजाजीकबरीधान्यतुम्बरु ।
अन्नगन्धहरं रुच्यं दीपनं कफवातजित् ॥ ६३ ॥
बाष्पिका कटुतिक्तोष्णा कृमिश्लेष्महरा परम् ।
तद्वच्च राजिका विघ्नसादनी दीपनी परम् ॥ ६४ ॥
शूलाटोपहरा रुच्या दीप्यकः कोष्ठशूलजित् ।
अहृद्याः सर्षपाः स्निग्धा बाष्पिकावच्च कीर्तिताः ॥६५ ॥

कारवी (काला जीरा *Carum carvi* Linn.), कुंचिका (कलौंजी *Nigella sativa* Linn.), अजाजी (जीरा *Cuminum cyminum* Linn.), कबरी (मेथी *Trigonelia foenum graecum*), धान्य (धनिया *Coriandrum sativum* Linn.), तुम्बरु (*Zanthoxylum alatum* Roxb.) ये सब अन्न के गंध को नष्ट करते हैं, तथा रुचिकारक, अग्निदीपक और कफवातनाशक होते हैं।

वाष्पिका (वनजीरी *Centratherum anthelminticum*) रस में कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, कृमिनाशक एवं कफनाशक होती है।

राई (*Brassica nigra* B. juncea) भी इसी के समान होती है। भूत, प्रेत आदि के विघ्न को नष्ट करने वाली, अत्यन्त अग्निदीपक, शूल तथा आटोप (आध्मान) को नष्ट करने वाली और रुचिकारक होती है।

दीप्यक (अजवायन *Apium graveolens* Linn.) कोष्ठ (उदर) के शूल को नष्ट करती है।

सर्षप (*Brassica compestris*) हृदय के लिए अहितकर, स्निग्ध तथा वाष्पिका के समान गुण वाली होती है।

हिंगु

हिङ्गु वातकफानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम् ।
कटुपाकरसं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु ॥ ६६ ॥
पित्तास्रकोपि तच्चैव श्रेष्ठं बोष्काणदेशजम् ।
ततो न्यूनगुणं त्वन्यद् द्रव्यव्यञ्जनधूपनम् ॥ ६७ ॥

हींग (*Ferula foetida* Regel.) वात, कफ, आनाह, शूलनाशक तथा पित्तप्रकोपक होती है। रस तथा विपाक में कटु, रुचिकारक, अग्निदीपक, पाचन, लघु और रक्तपित्तवर्धक होती है। बोष्काण (बुखारा) देश की हींग श्रेष्ठ होती है। अन्य देश वाली हींग इससे हीन (न्यून) गुण वाली होती है। यह दूसरे द्रव्य को भी अपने समान गंध वाला बना देती है। इसका सब्जी आदि में धूपन (छौंकन) दिया जाता है।

सोया आदि के गुण

शताह्वाकुष्ठतगरसुरदारुहरेणवः ।
एलैलवालुसरलत्वग्व्याघ्रनखचोरकाः ॥ ६८ ॥
लघूष्णाः कटुकाः पाके कफवातनिबर्हणाः ।
सैर्यकस्तिक्तमधुरः स्निग्धोष्णः कफवातजित् ॥ ६९ ॥

वस्तिमूत्रविबन्धघ्नौ वृष्यो गोक्षुरको हिमः ।
पाचनं कफपित्तघ्नं तिक्तं शीतं विषाद्वयम् ॥ ७० ॥
कफघ्नं तिक्तकटुकं मुस्तं सङ्ग्राहि पाचकम् ।
तिक्ताऽमृता त्रिदोषघ्नी ग्राहिण्युष्णा रसायनी ॥ ७१ ॥
दीपनी ज्वरतृड्दाहकामलावातरक्तनुत् ।
तिक्तशीतौ ज्वरहरौ लघु भूनिम्बपर्पटौ ॥ ७२ ॥
निम्बस्तिक्तो हिमः कुष्ठकृमिपित्तकफापहः ।
महानिम्बः परं ग्राही कषायो रूक्षशीतलः ॥ ७३ ॥

शताह्वा (सोया *Anthem sowa* Kurz. या सौंफ *Foeniculum vulgare* Mill.), कुष्ठ (*Saussurea lappa* C. B. Cl.), तगर (*Valeriana wallichii*), देवदारु (*Cedrus deodara*), हरेणु (रेणुका ?), एला (*Elettaria cardamomum*), एलवालुक (*Prunus avium* Linn.), सरल (चीड़ *Pinus roxburghii* Sargent.), दालचीनी (*Cinnamomum zeylanicum*), व्याघ्रनखी (*Capparis horrida* Linn. f.) तथा चोरक (*Angelica glauca*) लघु, उष्णवीर्य, विपाक में कटु तथा कफ-वातनाशक है ।

सैरेयक (कटसरैया *Rhododendron lepidotum*) रस में तिक्त, मधुर, स्निग्ध, उष्णवीर्य तथा कफनाशक होता है ।

गोक्षरु (गोखरु *Tribulus terrestris* Linn.) बस्तिगत रोग तथा मूत्र के विबंध (रुकावट) को नष्ट करता है । यह गरिष्ठ तथा शीतल होता है ।

अतीस—दोनों प्रकार के अतीस अतिविषा (*Aconitum heterophyllum*) और प्रतिविषा (*Aconitum palmatum* D. Don.) पाचन, कफ-पित्तनाशक, रस में तिक्त तथा शीतवीर्य होती है । मुस्ता (मोथा *Cyperus rotundus* Linn.) कफनाशक, रस में तिक्त, कटु, ग्राही और पाचक है ।

अमृता (गिलोय *Tinospora cordifolia* Willd.) रस में तिक्त, त्रिदोषनाशक, ग्राही, उष्णवीर्य, रसायन, दीपन, ज्वर, कास, दाह, कामला तथा वातरक्त रोग को नष्ट करती है ।

चिरायता (भूनिम्ब *Swerta chirata* Buch. Ham) और पर्पट (*Fumaria parviflora* Lam.) रस में तिक्त, शीतवीर्य एवं लघु होता है ।

निम्ब (*Azadirachta indica* A. Juss.) रस में तिक्त, शीतवीर्य एवं कुष्ठ, कृमि, पित्तविकार तथा कफविकार को नष्ट करता है ।

महानिम्ब (बकायन *Melia azadarach* Linn.) अत्यन्त ग्राही, रस में कषाय, रूक्ष तथा शीतवीर्य होता है ।

गुग्गुलु

गुग्गुलुः पिच्छिलस्पर्शो विशदोऽभ्यवहारतः ।
सस्वादुः सकटुस्तिक्तः सकषायो रसायनम् ॥ ७४ ॥
व्रण्यः स्वर्यः कटुः पाकेः रूक्षः सूक्ष्मोऽग्निदीपनः ।
क्लेदमेदोऽनिलश्लेष्मगण्डमेहापचीकृमीन् ॥ ७५ ॥
पिटकाग्रन्थिशोफांश्च हन्त्युष्णः स्रंसनो लघुः ।

गुग्गुल (*Commiphora mukul* Engl.) स्पर्श में पिच्छिल (चिपकने वाला), एवं खाने में विशद (स्रोतःशोधक) होता है। किंचित् मधुर, किंचित् कटु, तिक्त, किंचित् कषाय, रसायन, व्रण एवं स्वर के लिए पथ्य, विपाक में कटु, रूक्ष, शुष्क तथा अग्निदीपक होता है। यह क्लेद, मेदोरोग, वायुविकार, कफविकार, गण्डरोग, प्रमेह, अपची, कृमिरोग, पिटिका, ग्रंथि तथा शोथ को नष्ट करता है और उष्णवीर्य एवं स्रंसन (लघु विरेचक) होता है।

शंखपुष्पी तथा अगुरु

शङ्खपुष्पी सरा तिक्ता मेध्या कृमिविषापहा ॥ ७६ ॥
कटुतिक्तोष्णमगुरु स्निग्धं वातकफापहम्।
पित्तास्रविषतृड्दाहक्लमघ्नं गुरु रूक्षणम् ॥ ७७ ॥

शंखपुष्पी (*Evolvulus alisinoides*) सर, रस में तिक्त, मेध्य, कृमिरोग तथा विष को नष्ट करती है।

गुग्गुलु

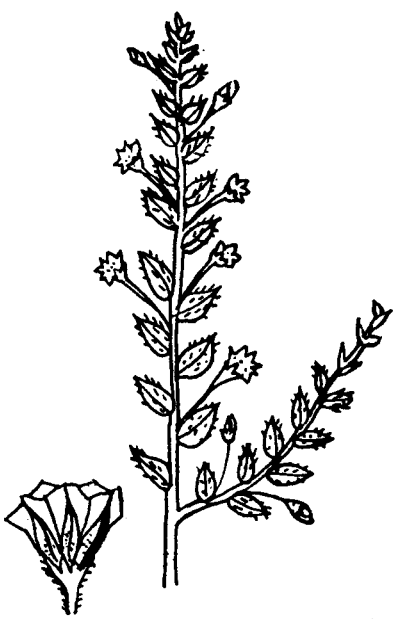

शंखपुष्पी

अगुरु (*Aquilaria agallocha* Roxb.) रस में कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, स्निग्ध, वात-कफनाशक होता है। पित्तविकार, रक्तविकार, विषविकार, तृषा, दाह, क्लम को नष्ट करता है तथा गुरु तथा रूक्ष होता है।

चन्दन, लालचन्दन, खस, बालक और मुलेठी

सर्वं सतिक्तमधुरं चन्दनं शिशिरं परम्।
लघु रक्तं तथोशीरं वालकं[1] पाचनं च तत् ॥ ७८ ॥

---

१. कुछ लोगों ने वालक को सुगन्धबाला (*Valeriana wallichii* DC.) भी माना है।

ज्वरातिसारवमथुरक्तपित्तक्षतापहम् ।
मधुकं रक्तपित्तघ्नं व्रणशोधनरोपणम् ॥ ७९ ॥
गुरु स्वादु हिमं वृष्यं चक्षुष्यं स्वरवर्णकृत् ।

सभी प्रकार के चंदन (*Santalum* sp.) तिक्त, मधुर तथा अत्यन्त शीतल होते हैं। लाल चंदन (*Santalum album*) लघु होता है। उशीर (*Veteriveria zizanioides* Linn.) तथा बालक (नेत्रबाला ?)—यह दोनों रक्तचंदन (*Santalum album*) के समान पाचन, ज्वर, अतिसार, वमन, रक्तपित्त तथा उरःक्षत आदि को नष्ट करता है।

मधुक (मुलेठी *Glycyrhiza glabra* Linn.) रक्तपित्तनाशक, व्रण का शोधन एवं रोपण करने वाला, गुरु, रस में मधुर, शीतवीर्य, वृष्य एवं चक्षुष्य तथा स्वर और वर्णकारक होता है।

हल्दी और दारुहल्दी

कटुतिक्ते निशे [1]मेहकुष्ठपित्तकफापहे ॥ ८० ॥
प्रलेपाज्जयतः कण्डूं शोफं दुष्टव्रणं विषम् ।

हल्दी (*Curcuma longa* Linn.) और दारुहल्दी (*Berberis aristata* DC.) दोनों रस में कटु एवं तिक्त हैं तथा प्रमेह, कुष्ठ, पित्तविकार और कफविकार को नष्ट करते हैं। प्रलेप करने से कण्डू, शोफ, दुष्टव्रण तथा विष का नाश होता है।

प्रपौण्डरीक

प्रपौण्डरीकं चक्षुष्यं शिशिरं व्रणरोपणम् ॥ ८१ ॥
कषायतिक्तमधुरं रक्तपित्तप्रसादनम् ।

प्रपौण्डरीक (*Nelumbo nucifera* Gaertn.) चक्षुष्य, शीतवीर्य, व्रणरोपक, रस में कषाय, तिक्त, मधुर और रक्तपित्त-प्रसादन है।

बलात्रय

बलात्रयं स्वादु वृष्यं स्निग्धं शीतं बलप्रदम् ॥ ८२ ॥
तत्र नागबला बल्या क्षतक्षीणहिता गुरुः ।

तीनों प्रकार की बला (बला *Sida cordifolia* Linn.), अतिबला (*Abutilon indicum* Linn. Swat) और नागबला (*Grewia populifolia*) रस में मधुर, वृष्य, स्निग्ध, शीतवीर्य तथा बलप्रद है। इसमें नागबला (*Grewia populifolia*) बलप्रद, क्षतक्षीण के लिए पथ्य तथा गुरु होता है।

ताम्बूल, सुपारी, जावित्री, कट्फल, कंकोल और लवंग

ताम्बूलं कटु सक्षारं रुच्यमुष्णं कफप्रणुत् ॥ ८३ ॥
भेदि सम्मोहकृत्पूगं कषायं स्वादु रोचकम्[2] ।
जातिपत्री कटुफलं कङ्कोलकलवङ्गकम् ॥ ८४ ॥
लघु तृष्णापहं हृद्यं वक्त्रदौर्गन्ध्यनाशनम् ।

---

१. 'कुष्ठमेह' इति पाठान्तरम् ।
२. 'रोचनम्' इति पाठान्तरम् ।

ताम्बूल (पान *Piper betle* Linn.)—यह रस में कटु, किंचित् क्षारयुक्त, रुचिकारक, उष्णवीर्य तथा कफनाशक होता है ।

पूग (सुपाड़ी *Areca catechu* Linn.)—यह मलभेदक, सम्मोह(मद)कारक, रस में कषाय, मधुर तथा रुचिकारक होता है ।

जातिपत्री (जावित्री *Myristica fragrans* Houtt.), कट्फल (*Momordica cochinchinensis*), कंकोल (*Piper cubeba* Linn.) और लवंग (*Syzygium aromaticun* (Linn.) Merr. & Per.)—ये चारों लघु, तृषानाशक, हृद्य तथा मुखदौर्गन्ध्यनाशक होते हैं ।

कर्पूर तथा लताकस्तूरी

सस्वादुतिक्तस्तृष्णाघ्नः कर्पूरश्छेदनो हिमः ॥ ८५ ॥
लताकस्तूरिका तद्वन्मुखशोषहरा परम् ।

कर्पूर (*Cinnamomum camphora*) रस में मधुर, तिक्त, तृष्णानाशक, छेदक तथा शीतवीर्य होता है ।

लताकस्तूरी (*Hibiscus abelmoschus* Linn.) कर्पूर के समान गुणकारी तथा अत्यन्त मुखशोष-नाशक है ।

कमल आदि पुष्पों के गुण

कषायमधुरं शीतं पद्मं पित्तकफास्रजित् ॥ ८६ ॥
तद्वद् बकुलपुन्नागकुमुदोत्पलपाटलम् ।
सचम्पकं ततो न्यूनं गुणैः कोरण्टकिंशुकम् ॥ ८७ ॥
मालतीमल्लिकापुष्पं तिक्तं जयति मारुतम् ।
विषपित्तकफान्नागं सिन्धुवारं च तद्गुणम् ॥ ८८ ॥
कफघ्नं कैतकं तिक्तं शैरीषं विषहारि च ।
वातलं पुष्पमागस्त्यं कषायं कफपित्तजित् ॥ ८९ ॥
चातुर्थिकज्वरहरं नावनेनोपयोजितम् ।
बन्धूकं श्लेष्मलं ग्राहि तद्वदेव च यूथिका ॥ ९० ॥

पद्म (कमल *Nelumbo nucifera* Gaertn.)—यह रस में कषाय, मधुर, शीतवीर्य होता है तथा पित्त, कफ एवं रक्त के विकारों को नष्ट करता है । बकुल (*Mimusops elengi* Linn.), पुन्नाग (नागकेसर *Callophyllum inophyllum* Linn.), कुमुद (*Nymphaea alba* Linn.), उत्पल (*Nymphaea* Stellata) तथा पाटल (गुलाब *Rosa indica*) कमल के समान गुण वाले होते हैं, चम्पा (*Michelia champaca* Linn.) कमल से गुणों में न्यून (हीन) होती है । कोरंट (पीतवासक ?), किंशुक (पलाश *Butea momosperma*), मालती (चमेली *Jasmine grandiflorum*) तथा मल्लिका (बेला *Jasminum sambac* Ait.) के फूल रस में तिक्त तथा वायुनाशक होते हैं ।

नागकेसर (*Mesua ferrea* Linn.)—विषविकार, पित्तविकार तथा कफविकार को नष्ट करता है ।

सिन्धुवार (सम्भालू *Vitex negundo* Linn.)—यह भी नागकेसर के समान गुण वाला होता है।

केतकी (केवड़ा *Pandanus tectoris*)—यह कफनाशक तथा रस में तिक्त होता है।

शिरीष (*Albizzia lebbeck* Benth.)—यह विषनाशक होता है।

अगस्त्य वृक्ष (*Sesbania grandiflora*) का पुष्प—यह वातकारक, रस में कषाय, कफ-विकार तथा वातविकार को नष्ट करता है। नस्य में इसका प्रयोग करने से चातुर्थिक ज्वर नष्ट होता है।

बंधूक (दुपहरिया *Pentapetes phoenicea* Linn.)—यह कफकारक एवं ग्राही होता है।

यूथिका (जूही *Jasmine auriculatun* Vahl.)—यह दुपहरिया के समान गुण वाली होती है।

केसर, बाकुची और चक्रमर्द

कफघ्नमुष्णवीर्यं च कुङ्कुमं व्रणशोधनम्।
अवल्गेडगजं बीजं कटिवातकफप्रणुत् ॥ ९१ ॥

कुंकुम (केशर *Crocus sativus* Linn.)—कफनाशक, उष्णवीर्य तथा व्रणशोधक होता है। अवगुल्जा (बाकुची *Psoralea corylifolia* Linn.) और ऐडगज (चक्रमर्द *Cassia tora* Linn.) के बीज कटिवात और कफ को नष्ट करते हैं।

कुंकुम (केशर)

अनौषध चिकित्सा

आस्या वर्णश्लेष्ममेदःसौकुमार्यकृदन्यथा ।
अतोऽध्वाऽग्निबलायूंषि कुर्याच्चङ्क्रमणं सुखम् ॥ ९२ ॥
मारुतस्यानुलोम्यं च खुडस्तम्भश्रमापहम् ।
अन्यर्थसंज्ञं पादत्रं बलदृक्शुक्ररक्षणम्[1] ॥ ९३ ॥
वर्ण्यं नेत्रहितं छत्रं वातवर्षातपापहम् ।

आस्या (आराम से बैठे रहना) वर्ण (कांति), कफ, मेद एवं सुकुमारता को बढ़ाता है। अध्वा (पैदल चलना) आस्या से अन्यथा (विपरीत) गुणों वाला होता है। सुखपूर्वक चंक्रमण (टहलना) जठराग्नि, बल एवं आयु की वृद्धि करता है, वायु का अनुलोमन, खुडस्तम्भ (ऊरुस्तम्भ) तथा थकावट को दूर करता है। पादत्र (जूतों का धारण) पावों की रक्षा करता है तथा बल, नेत्र एवं शुक्र की रक्षा करता है। छत्र (छाता) कांतिप्रद, नेत्रों के लिए हितकर, वायु, वर्षा तथा धूप से रक्षा करता है।

वायु

प्रवातो रौक्ष्यवैवर्ण्यस्तम्भकृद्दाहतृड्भ्रमान् ॥ ९४ ॥
श्रमाग्निमूर्च्छाश्च जयेदप्रवातस्ततोऽन्यथा ।
प्राग्वायुरुष्णोऽभिष्यन्दी त्वग्दोषार्शोविषक्रिमीन् ॥ ९५ ॥
सन्निपातज्वरश्वासमामवायुं च कोपयेत् ।
पश्चिमः शिशिरो हन्ति मूर्च्छां दाहं तृषं विषम् ॥ ९६ ॥
दक्षिणो मारुतः श्रेष्ठो नेत्र्योऽङ्गबलवर्धनः ।
रक्तपित्तप्रशमनो न च वातप्रकोपनः ॥ ९७ ॥
उत्तरो मारुतः स्निग्धो मृदुर्मधुर एव च ।
कषायानुरसः शीतो दोषाणामप्रकोपनः ॥ ९८ ॥

प्रवात (तेज वायु)—रूक्षता, विवर्णता, स्तम्भ (स्तब्धता) करता है। दाह, प्यास, भ्रम, श्रम, अग्नि और मूर्च्छा नष्ट करता है तथा अप्रवात इसके विपरीत होता है।

प्राक्वायु (पूर्व दिशा की हवा)—उष्ण, अभिष्यन्दी, त्वचा को दूषित करने वाली, अर्श, विषविकार, कृमिरोग, सन्निपात ज्वर (त्रिदोष ज्वर) एवं श्वासविकार को कुपित करने वाली होती है।

पश्चिम की हवा—शीतल होती है तथा मूर्च्छा, दाह, तृषा एवं विषविकार को नष्ट करती है।

दक्षिण की हवा—श्रेष्ठ, नेत्रों के लिए हितकारी, अंगो का बल बढ़ाने वाली, रक्तपित्त को शांत करने वाली तथा वायु को अप्रकुपित करने वाली होती है।

उत्तर की हवा—स्निग्ध, मृदु, मधुर, कषाय अनुरस, शीतल तथा दोषों को न प्रकुपित करने वाली होती है।

---

१. 'शुक्रवर्द्धनम्' इति पाठान्तरम्।

आतप

आतपो भ्रमतृट्स्वेददाहमूर्च्छाविवर्णताः ।
कुर्यात् पित्तास्रवह्नींश्च छाया त्वेतानपोहति ॥ ९९ ॥

आतप (धूप) भ्रम, प्यास, स्वेद, दाह, मूर्च्छा, विवर्णता को उत्पन्न करता है । पित्त, रक्त तथा अग्नि को बढ़ाता है और छाया, भ्रम आदि को नष्ट करता है ।

अन्धकार एवं चांदनी

तमः कषायकटुकं ज्योत्स्ना मधुरशीतला ॥ १०० ॥

तम (अन्धकार) कषाय एवं कटु होता है । ज्योत्स्ना (चाँदनी) मधुर और शीतल होती है ।

उपसंहार

भवति चात्र—

रसादिभेदैरिति भेषजानां दिङ्मात्रमुक्तं नयतोऽस्ति किञ्चित् ।
अनौषधं द्रव्यमिहावबोधो रूपस्य तेषां वनगोचरेभ्यः ॥ १०१ ॥

इति विविधौषधविज्ञानीयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

उपर्युक्त अनेक द्रव्यों का रस, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव भेद से दिङ्मात्र (एक मार्ग) निर्दिष्ट कर दिया गया है । सबको विस्तारपूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस विश्व में कोई भी द्रव्य अनौषध नहीं है, अर्थात् जो कुछ भी है, वह औषध है । इसलिए इन औषधियों के रूप का ज्ञान वनेचरों (ग्वाले तथा तपस्वी आदि) से वैद्य को करना चाहिए ।

इस प्रकार 'विविधौषधविज्ञानीय' नामक द्वादश अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

१. औषध (चिकित्सा) के विविध भेद (तालिका में देखें) ।

२. स्वर्ण, चाँदी, ताम्र, काँस्य, त्रपु (रागा), सीसा, लोह, मणियाँ, काँच आदि खनिज द्रव्यों के गुण ।

३. त्रिफला, त्रिजात, चतुर्जात, त्रिकटु एवं सात प्रकार के पञ्चमूल ।

४. अनौषध चिकित्सा—आस्या, अध्वा, चङ्क्रमण, विभिन्न वायु, आतप, अन्धकार एवं चाँदनी के गुण ।

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातोऽग्यसङ्ग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

बारहवें अध्याय के पश्चात् 'अग्रसंग्रह अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

[1]'अग्रशब्दः श्रेष्ठवचनः'। (च० सू० २५।४१ पर चक्रपाणि की व्याख्या) अग्रशब्द श्रेष्ठ अर्थ को प्रकट करता है। अलम शब्द समर्थ अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर ज्वर एवं प्रमेह आदि स्वरूपतः अति पीड़ाकर होते हैं। इस प्रसंग में यह ज्ञान होकर उनके लिए चिकित्सा का उपयोग होता है। इसलिए ज्वर आदि का ज्ञान भी विकारों के विनाश के लिए समर्थ होता है। यहाँ पर अग्रय (श्रेष्ठ) द्रव्य या भाव विकार शान्त करते हैं, ऐसा प्रधानतः यहाँ कहा जाता है। अथवा उनकी उत्तमता की प्रशंसा के लिए कहा जाता है। इसलिए जो यह बात कही जाती है कि यह ही श्रेष्ठाधिकार विहित यदि विकारों को शान्त कर दे, तो दूसरी चिकित्सा कहने की क्या आवश्यकता है—यह शंका निरस्त हो जाती है। विकार विघात उत्पन्न विकारों में औषध के उपयोग से तथा अनुत्पन्न रोगों में स्वास्थ्य-रक्षण के द्वारा जानना चाहिए।

इस अध्याय में उन औषधि, आहार-विहार एवं भावों का उल्लेख किया गया है, जो हितकर एवं अहितकर कर्मों में अग्रय (श्रेष्ठ) हैं।

श्रेष्ठ पथ्य एवं अपथ्य

श्रेष्ठमुदकमाश्वासनस्तम्भनक्लेदनानाम्। स्नानं सुरा च श्रमहराणाम्। क्षीरं जीवनीयानाम्। मांसं बृंहणीयानाम्। रसः प्रीणनानाम्। लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्। तिन्दुकमन्नद्रव्याऽरुचिकराणाम्। अम्लं हृद्यानाम्। कुक्कुटो बल्यानाम्। तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानाम्। सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानाम्। मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानाम्। स्वेदो मार्दवकराणाम्। व्यायामः स्थैर्यकराणाम्। क्षारः पुंस्त्वोपघातिनाम्। आमं कपित्थमकण्ठ्यानाम्। आविकं सर्पिरहृद्यानाम्। महिषीक्षीरं स्वप्नजननानाम्। मन्दकं दध्यभिष्यन्दकराणाम्। इक्षुर्मूत्रजननानाम्। यवाः पुरीषजननानाम्। जाम्बवं वातजननानाम्। कुलत्था अम्लपित्तजननानाम्। माषाः शष्कुल्योऽविक्षीरं च पित्तश्लेष्मजननानाम्। दुरालभा पित्तश्लेष्मोपशोषणानाम्। उपवासो ज्वरहराणाम्। वृषो रक्तपित्तप्रशमनानाम्। कण्टकारिका कासघ्नानाम्। लाक्षा सद्यःक्षतघ्नानाम्। नागबलाभ्यासः क्षयक्षतघ्नानाम्। पुष्करमूलं हिध्माश्वासकासपार्श्व[2]शूलहराणाम्। अजापयः शोषघ्नस्तन्यकररक्तसङ्ग्रहणप्रशमनानाम्। मृद्भृष्टलोष्टप्रसादश्छर्दितृष्णातियोगप्रशमनानाम्। अरुष्करश्चित्रकमूल च शुष्कार्शःप्रशमनानाम्। कुटजो रक्तार्शःप्रशमनानाम्। लाजाश्छर्दिघ्नानाम्। यावशूकः

---

१. 'अग्र्याणां बलवत्कर्मकारिणां' इति शिवदाससेनः। 'एककार्यकराणामौषधानां योऽत्यर्थं कार्यकरः सोऽग्र्यः' इतीन्दुः। २. 'शूलारुचि' इति पाठान्तरम्।

स्रंसनीयपाचनीयार्शोघ्नानाम् । तक्राभ्यासोऽर्शःश्वयथुग्रहणीदोषघृतव्यापत्प्रशमनानाम् । क्रव्यान्मांसाभ्यासोऽर्शःशोषग्रहणीदोषघ्नानाम् । मुस्तं सङ्ग्रहणीयदीपनीयपाचनीयानाम् । अतिविषा सङ्ग्रहणीयपाचनीयसर्वदोषहराणाम् । बिल्वं सङ्ग्रहणीयदीपनीयवातकफप्रशमनानाम् । उदीच्यं निर्वापणदीपनीयछर्द्यतीसारहराणाम् । कट्वङ्गं सङ्ग्रहणीयदीपनीयानाम् । कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसङ्ग्रहणीयोपशोषणानाम् । उत्पलकुमुदकिञ्जल्कोऽनन्ता च सङ्ग्रहणीयरक्तपित्तप्रशमनानाम् । काश्मर्यफलं रक्तसङ्ग्रहणीयरक्तपित्तप्रशमनानाम् । गन्धप्रियङ्गुः शोणितपित्तातिवेग[1]प्रशमनानाम् । पृश्निपर्णी रक्तसङ्ग्रहणीयदीपनीयपाचनीयवातहरवृष्याणाम् । शालिपर्णी वृष्यसर्वदोषहराणाम् । बला सङ्ग्रहणीयबल्यवातहराणाम् । पिप्पलीमूलं पाचनीयदीपनीयानाहहराणाम् । चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोफशूलहराणाम् । गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणाम् । हरिद्रा प्रमेहहराणाम् । रक्तावसेको विद्रधिविसर्पपिटिकागण्डमालापहराणाम् । एरण्डतैलाभ्यासो वर्ध्मगुल्मानिलशूलहराणाम् । लशुनो गुल्मानिलहराणाम् । हिङ्गुनिर्य्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम् । अम्लवेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणाम् । उष्ट्रीक्षीरमुदरश्वयथुघ्नानाम् । अयोरजः पाण्डुरोगघ्नानाम् । खदिरः कुष्ठघ्नानाम् । विडङ्गं कृमिघ्नानाम् । रास्ना वातहराणाम् । एरण्डमूलं वृष्यवातहराणाम् । गुग्गुलुर्मेदोऽनिलहराणाम् । अमृता संग्रहणीयदीपनीयवातश्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानाम् । मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम् । त्रिवृत्सुखविरेचनानाम् । चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानाम् । स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम् । प्रत्यक्पुष्पी शिरोविरेचनानाम् । त्रिफला तिमिरघ्नानाम् । गुग्गुलुर्व्रण्यानाम् । शिरीषो विषघ्नानाम् । आमलकं वयःस्थापनानाम् । हरीतकी पथ्यानाम् । क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम् । समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्तहराणाम् । सङ्कल्पो नक्तरेतश्च वृष्याणाम् । दौर्मनस्यमवृष्याणाम् । तैलगण्डूषाभ्यासो दन्तबलरुचिकराणाम् । चन्दनोदुम्बरं दाहनिर्वापणालेपनानाम् । रास्नाऽगुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानाम् । लामज्जकोशीरे दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानाम् । कुष्ठं वातहराभ्यङ्गोपनाहोपयोगिनाम् । मधुकं चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्यविरेचनीयरोपणीयानाम् । अजीर्णाशनं ग्रहणीदूषणानाम् । विरुद्धवीर्याशनं निन्दितव्याधिकराणाम् । गुरुभोजनं दुर्विपाकानाम् । अतिमात्राशनमामदोषहेतूनाम् । यथाग्न्यभ्यवहारोऽग्निसन्धुक्षणानाम् । यथासात्म्यमाहारविहारौ सेव्यानाम् । एकासनशयनभोजनं सुखपरिणामकराणाम्[2] । विषमाशनमग्निवैषम्यकराणाम् । काले भोजनमारोग्यकराणाम् । सुदर्शनमन्नं श्रद्धाजननानाम् । वेगधारणमनारोग्यकराणाम् । तृप्तिराहारगुणानाम् । अनशनमायुषो ह्रासकराणाम् । प्रमिताशनं गवेधुकान्नं च कर्शनीयानाम् । उद्दालकान्नं रूक्षणीयानाम् । मद्यं सौमनस्यजननानाम् । मद्याक्षेपो धीधृतिस्मृतिहराणाम् । स्त्रीष्वतिप्रसङ्गः शोषकराणाम् । शुक्रवेगनि[3]ग्रहः षाण्ढ्यकराणाम् । पादाभ्यामुद्वर्तनमन्नश्रद्धाजननानाम् । सूनादर्शनमन्नाश्रद्धाजननानाम् । मिथ्यायोगो व्याधिमुखानाम् । रजस्वलागमनमलक्ष्मीमुखानाम् । ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम् । परदार-

---

१. 'योग' इति पाठान्तरम् । २. 'सुखनाशकराणाम्' इति पाठान्तरम् ।
३. 'विनिग्रह' इति पाठान्तरम् ।

गमनमनायुष्याणाम् । अयथाप्राणमारम्भः प्राणोपरोधिनाम् । विषादो रोगवर्धनानाम् । हर्षः प्रीणनानाम् । शोकः शोषणानाम् । निर्वृतिः पुष्टिकराणाम् । आश्वासो बलकराणाम् । पुष्टिः स्वप्नकराणाम् । स्वप्नस्तन्द्राकराणाम् । सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम् । एकरसाभ्यासो दौर्बल्यारोचकान्यतमदोषप्रकोपकराणाम् । अग्निरामस्तम्भशीतशूलोद्वेष्टकप्रशमनानाम् । गर्भशल्यमाहार्याणाम् । अजीर्णमुद्धार्याणाम् । बालो मृदुभेषजार्हाणाम् । वृद्धो याप्यानाम् । गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानाम् । सौमनस्यं गर्भधारणानाम् । असौमनस्यं दुःखजनानाम् । सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम् । आमविषमचिकित्स्यानाम् । ज्वरः शीघ्ररोगाणाम् । कुष्ठं दीर्घरोगाणाम् । राजयक्ष्मा रोगसमूहानाम् । प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम् । जलौकसोऽनुशस्त्राणाम् । बस्तिर्यन्त्राणाम् । हिमवानौषधिभूमीनाम् । सोम ओषधीनाम् । मरुभूमिरारोग्यदेशानाम् । आनूपभूमिरहितदेशानाम् । निर्देशकारित्वमातुरगुणानाम् । अनिर्देशकारित्वं रिष्टानाम् । भिषक् चिकित्साङ्गानाम् । सिद्धिर्वैद्यगुणानाम्[1] । नास्तिको वर्ज्यानाम् । लौल्यं क्लेशकराणाम् । आत्मवत्तोपकारिणाम् । शास्त्रसहितस्तर्कः साधकानाम् । दृष्टकर्मता निःसंशयकराणाम् । असमर्थता भयकराणाम् । तद्विद्यसम्भाषा बुद्धिवर्धनानाम् । आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनाम् । सद्वैद्यद्वेषः प्राणत्यागहेतूनाम् । आयुर्वेदोऽमृतानाम् । सद्वचनमनुष्ठेयानाम् । वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानहेतूनाम् । सर्वसन्यासः सुखानामिति ॥३॥

श्रेष्ठ पथ्य	श्रेष्ठ अपथ्य	गुण कर्म
१. जल		आश्वासकर (सांत्वनकर), स्तम्भनकर (शुक्र, स्वेद, अतिसार आदि के वेग को रोकने वाला) तथा क्लेदनकर (आर्द्रता करने वाला) ।
२. स्नान एवं सुरा		श्रमहर ।
३. क्षीर		जीवनीय (जीवनदायक) ।
४. मांस		बृंहणीय (पुष्टिकारक) ।
५. रस (मांसरस)		प्रीणन (तृप्तिकारक) ।
६. लवण		आहार द्रव्यों में रुचि उत्पन्न करने वाला ।
	७. तिन्दुक (तेंदु का फल) (*Diospyros peregrina* Gurke.)	आहार द्रव्यों में अरुचि उत्पन्न करने वाला ।
८. अम्लरस		हृदय के लिए प्रिय ।
९. कुक्कुट (मुर्गे का मांस)		बल्य (बलदायक) ।
१०. तैल		वात-श्लेष्मप्रशमक ।
११. घृत		वात-पित्तप्रशमक ।
१२. मधु		श्लेष्म-पित्तप्रशमक ।

१. 'वैद्याङ्गानाम्' इति पाठान्तरम्

श्रेष्ठ पथ्य	श्रेष्ठ अपथ्य	गुण/कर्म
१३. स्वेद (स्वेदन)		त्वक् आदि में मृदुता उत्पन्न करने वाला ।
१४. व्यायाम		शरीर में स्थिरता उत्पन्न करने वाला ।
	१५. क्षार	शुक्रनाशक (पौरुष-नाशक) ।
	१६. कच्चा कैथ (*Feronia limonia* Swingle.)	अकण्ठ्य (गले के लिए हानिकर) ।
	१७. भेड़ का घृत	अहृद्यकर (हृदय के लिए अहितकर) ।
१८. भैंस का दुग्ध		निद्राकर ।
	१९. मंदक (पूर्ण रूप से न जमी दधि) ।	अभिष्यन्दकारक ।
२०. ईख का रस (*Saccharum officinarum* Linn.)		मूत्र उत्पन्न करने वाला ।
२१. यव (*Hordeum vulgare* Linn.)		मल उत्पन्न करने वाला ।
	२२. जामुन (*Syzygium Cumini* Linn.)	वातकारक ।
	२३. कुल्थी (*Dolichos biflorus* Linn)	अम्लपित्तकारक ।
	२४. उड़द की कचौड़ी तथा भेड़ का दुग्ध	पित्तश्लेष्माकारक ।
२५. दुरालभा (जवासा *Fagonia arabica* Linn.)		पित्तश्लेष्माशोपक ।
२६. उपवास		ज्वरहर ।
२७. वृष (अडूसा *Adhatoda vasica* Nees.)		रक्तपित्तप्रशमक ।
२८. कण्टकारी (*Solanum Surattense* Burm. f.)		कासघ्न ।
२९. लाक्षा (*Rosa centifolia* Linn.)		शीघ्र क्षतों (चोट) का रोपण करने वाला ।
३०. नागबला (*Grewia populifolia* Vahal.)		क्षय एवं उरःक्षत नाशक ।
३१. पुष्करमूल (*Inula racemosa* Hook. f.)		हिक्का, श्वास, कास एवं पार्श्वशूल नाशक ।
३२. बकरी का दूध		शोषनाशक एवं स्तन्य (दुग्धवर्धक), रस-संग्राहक एवं रक्तपित्त-शामक ।
३३. मिट्टी के ढेले को अग्नि में तपा कर पानी में बुझाया गया जल		छर्दि (वमन) तथा तृषा (प्यास) की अधिकता को शान्त करने वाला ।

श्रेष्ठ पथ्य	श्रेष्ठ अपथ्य	गुण/कर्म
३४. भिलावा (*Semecarpus anacardium* Linn.) तथा चित्रकमूल (*Plumbago zeylanica* Linn.)		शुष्कार्शशामक ।
३५. कुटज (*Holarrhena antidysenterica* Wall.)		रक्तार्शशामक ।
३६. लाजा (धान की खीलें)		वमननाशक ।
३७. यावशूक (यवक्षार)		स्रंसनीय (पक्व तथा अपक्व मल को निकालने वाला), पाचनीय तथा अर्शोघ्न ।
३८. तक्राभ्यास (तक्र का निरन्तर सेवन)		अर्श, शोथ, ग्रहणीदोष तथा घृत-सेवन से होने वाली व्याधियों को नष्ट करने वाला ।
३९. क्रव्याद् मांसाभ्यास (कच्चा मांस खाने वाले प्रणियों के मांस का निरन्तर सेवन)		अर्श, शोष तथा ग्रहणीदोष नाशक ।
४०. मुस्त (मोथा *Cyperus rotundus* Linn.)		मलसंग्राहक, दीपन तथा पाचन ।
४१. अतिविषा (*Aconitum heterophylum* Wall.)		मलसंग्राहक, पाचक तथा सर्वदोष-नाशक ।
४२. बिल्व (*Aegle marmelos* Corr.)		मलसंग्राहक, अग्निदीपक तथा वात-कफशामक ।
४३. उदीच्य (सुगन्धबाला (*Valeriana wallichii* DC.)		निर्वापण (दाहशामक), अग्निदीपक, वमन एवं अतिसारनाशक ।
४४. कट्वंग (श्योनाक *Oroxylum indicum* Vent.)		संग्राहक एवं अग्निदीपक ।
४५. कुटजत्वक् (*Holarrhena antidysenterica* Wall.)		कफपित्तसंग्राहक एवं उपशोषक (शरीर के आर्द्रभाव को सुखानेवाला)।
४६. उत्पल (*Nymphaea stellata* Willd), कुमुद (*Nymphaea nouchali* Burm. f.), किंजल्क (कमल का केशर) एवं अनन्तमूल (*Hemidesmus indicus* R. Br.)		संग्राहक एवं रक्तपित्तशामक ।
४७. काश्मरी (गम्भारी का फल (*Gmelina arborea* Linn.)		रक्तसंग्रहणीय एवं रक्तपित्तशामक ।
४८. गन्धप्रियंगु (*Callicarpa macrophylla* Vahl.)		रक्त एवं पित्त के अतिवेग (अत्यधिक प्रवृत्ति) का नाशक ।

श्रेष्ठ पथ्य	श्रेष्ठ अपथ्य	गुण/कर्म
४९. पृश्निपर्णी (*Uraria picta* Dasv.)		रक्तसंग्राहक, अग्निदीपक, पाचक, वातनाशक एवं वृष्यकारक ।
५०. शालिपर्णी (*Desmodium gangenticum* DC.)		वृष्यकर एवं सर्वदोषनाशक ।
५१. बला (*Sida cordifolia* Linn)		संग्राहक, बलकारक एवं वातहर ।
५२. पिप्पलीमूल (*Piper longum* Linn.)		पाचक, अग्निदीपक एवं आनाहहर ।
५३. चित्रकमूल (*Plumbago zeylanica* Linn.)		अग्निदीपक, पाचक, गुदशोथनाशक तथा गुदशूलनाशक ।
५४. गोक्षुर (*Tribulus terrestris* Linn.)		मूत्रकृच्छ्रनाशक एवं वातनाशक ।
५५. हरिद्रा (*Curcuma longa* Linn.)		प्रमेहनाशक ।
५६. रक्तावसेक (जलौका आदि द्वारा रक्तनिर्हरण)		विद्रधि, विसर्प, पिटिका एवं गण्डमाला नाशक ।
५७. एरण्ड (*Ricinus communis* Linn.) तैलाभ्यास		वर्ध्म (अण्डवृद्धि), गुल्म, वायु एवं शूलनाशक ।
५८. लशुन (रसोन (*Allium sativum* Linn.)		गुल्म एवं वातनाशक ।
५९. हिंगुनिर्यास (*Ferula foetida* Regel.)		छेदनकारक, अग्निदीपक, वातानुलोमक एवं वातकफशामक ।
६०. अम्लवेत (*Rheum emodi* Wall.)		मलभेदक, अग्निदीपक, वातानुलोमक एवं वातश्लेष्महर ।
६१. उष्ट्रीक्षीर (ऊंटनी का दूध)		उदरशोथनाशक ।
६२. अयोरज (लौहभस्म)		पाण्डुरोगनाशक ।
६३. खदिर (*Acacia catachu* Willd.)		कुष्ठनाशक ।
६४. विडंग (*Embelia ribes* Burm. f.)		कृमिनाशक ।
६५. रास्ना (*Pluchea lanceolata* Oliver)		वातहर ।
६६. एरण्डमूल (*Ricinus communis* Linn.)		वृष्य एवं वातहर ।
६७. गुग्गुल (*Commiphora mukul* Engle.)		मेदहर एवं वातहर ।

श्रेष्ठ पथ्य	श्रेष्ठ अपथ्य	गुण/कर्म
६८. अमृता (गुडूची *Tinospora cordifolia* Miers.)		संग्राहक, अग्निदीपक, वातावरोधशामक, श्लेष्मावरोधशामक तथा रक्तावरोधशामक ।
६९. मदनफल (*Randia dumetorum*)		वमन, आस्थापन वस्ति एवं अनुवासन वस्ति में उपयोग होने वाला ।
७०. त्रिवृत् (*Operculina turpethum* R. Br.)		सुखपूर्वक रेचनकारक ।
७१. चतुरंगुल (अमलतास *Cassia fistula* Linn.)		मृदुविरेचनकारक ।
७२. स्नुहीक्षीर (*Euphorbia nerifolia* Linn.)		तीक्ष्णविरेचनकारक ।
७३. प्रत्यक्पुष्पी (अपामार्ग *Achyranthes aspera* Linn.)		शिरोविरेचनकारक ।
७४. त्रिफला		तिमिरनाशक एवं नेत्ररोगनाशक ।
७५. गुग्गुल (*Commiphora mukul* Engl.) एवं त्रिफला		व्रण्य (व्रणरोपक) ।
७६. शिरीष (*Albizzia lebbeck* Benth.)		विषनाशक ।
७७. आमलकी (*Emblica officinalis* Gaertn.)		वयःस्थापक ।
७८. हरीतकी (*Terminalia chebula* Linn.)		पथ्य (हितकर) ।
७९. क्षीरघृताभ्यास		रसायन ।
८०. सम मात्रा में घृत-मिश्रित सत्तू का निरन्तर सेवन		वृष्यकर एवं उदावर्तनाशक ।
८१. सङ्कल्प (स्त्री-संकल्प) तथा नक्र (जलज प्राणी) का शुक्र		वृष्यकर ।
	८२. दौर्मनस्य (मानसिक दुःख)	अवृष्यकर ।
८३. तैलगण्डूष-सेवन		दाँतो को बलवान् करने वाला तथा भोजन में रुचि उत्पन्न करने वाला ।
८४. चन्दन (*Santalum album* Linn.) तथा उदुम्बर (*Ficus racemosa* Linn.)		दाहशामक लेप ।
८५. रास्ना (*Pluchea lanceolata* Oliver) तथा अगुरु (*Aquilaria agalocha* Roxb.)		शीतशामक प्रलेप ।

श्रेष्ठ पथ्य	श्रेष्ठ अपथ्य	गुण/कर्म
८६. लामज्जक[1] (*Cymbopogon jarancusa* Schult) तथा खस (*Vetiveria zizanioidis* Nash.)		दाहहर, त्वक्विकारहर तथा स्वेदहर प्रलेप ।
८७. कुष्ठ (कूठ *Saussurea lappa* C. B. Clarke.)		वातहर अभ्यंग एवं उपनाह ।
८८. मुलहठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.)		चक्षुष्य, वृष्य, केश्य, कण्ठ्य, वर्ण्य (कान्तिकारक), विरंजनीय तथा रोपक ।
	८९. अजीर्णावस्था में भोजन	ग्रहणी को प्रदूषित करने वाला ।
	९०. विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों का सेवन	निन्दित व्याधि (आठ महारोग जैसे—वातव्याधि, कुष्ठ, अश्मरी आदि) कारक ।
	९१. गुरुभोजन	दुःखपूर्वक पचने वाला ।
	९२. अतिमात्रा में भोजन	आमदोषोत्पादक ।
९३. अग्नि के अनुसार भोजन करना		जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला ।
९४. सात्म्य आहार-विहार का सेवन		निरन्तर सेव्य (सेवनीय पदार्थ) ।
९५. एक आसन शयन (दिन-रात में एक बार शयन) एवं एक काल भोजन		भोजन को सुखपूर्वक पचानेवाला ।
	९६. विषम भोजन	जाठराग्नि-वैषम्यकर ।
९७. समय पर भोजन करना		आरोग्यकर ।
९८. देखने में सुन्दर भोजन		अन्न में श्रद्धा उत्पन्न करने वाला (खाने की इच्छा उत्पन्न करने वाला) ।
	९९. अधारणीय वेगों का धारण	अनारोग्यकर ।
१००. तृप्ति (इच्छापूर्ति)		उत्तम आहार से प्राप्त होने वाले गुण ।
	१०१. अनशन (उपवास)	आयुह्रासकारक ।
	१०२. प्रमित अशन (अल्प भोजन) तथा गवेधुक	कृशता उत्पन्न करने वाला ।

१. 'उशीरमूलः' इति डल्हणः ।

श्रेष्ठ पथ्य	श्रेष्ठ अपथ्य	गुण/कर्म
	१०३. उद्दालक (कोदों)	रूक्षता उत्पन्न करने वाला ।
१०४. मद्य		प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला ।
	१०५. मद्याक्षेप (मद्य का अनुचित सेवन)	बुद्धि, धृति एवं स्मृति-नाशक ।
	१०६. अत्यधिक मैथुन	शोष का उत्पादक हेतु ।
	१०७. शुक्रवेग-निग्रह (शुक्रवेग-निरोध)	नपुंसकता उत्पन्न करनेवाला ।
१०८. पैरों में उद्वर्तन		अन्न में श्रद्धा उत्पन्न करने वाला ।
	१०९. सूनादर्शन (मृत पुरुष दर्शन)	अन्न में अश्रद्धा उत्पन्न करनेवाला ।
	११०. मिथ्यायोग (काल-अर्थ-कर्म का)	व्याधि उत्पन्न करने का कारण ।
	१११. रजस्वला स्त्री के साथ सहवास	अलक्ष्मीकर (निर्धनताकारक) ।
११२. ब्रह्मचर्य		आयुष्यकारक (आयु बढ़ाने वाला) ।
	११३. परस्त्री के साथ सहवास	अनायुष्यकारक (आयु को कम करने वाला) ।
	११४. शक्ति से अधिक कार्य करना	प्राणनाशक ।
	११५. विषाद (दुःख)	रोगवर्द्धक ।
११६. हर्ष		प्रसन्नता (तृप्ति) कारक ।
	११७. शोक	शरीर को सुखाने वाला ।
११८. आश्वासन (सांत्वना)		बलकारक ।
११९. निवृत्ति (निश्चिन्तता)		शरीर के लिए पुष्टिकारक ।
१२०. पुष्टि (शारीरिक पुष्टि)		निद्राकारक ।
	१२१. निद्रा	तन्द्राकारक ।
१२२. सर्वरसाभ्यास		बलकारक ।
	१२३. मधुर आदि किसी एक रस का सेवन	दुर्बलता, अरुचि तथा किसी एक दोष को प्रकुपित करने वाला ।
१२४. अग्नि		आमदोष, स्तब्धता, शीत, शूल एवं ऐंठन शामक ।
१२५. गर्भशल्य		आहार्य (सावधानी पूर्वक खींच-कर बाहर निकालने वाला) ।
	१२६. अजीर्ण	उद्धार्य (वमन के योग्य) ।
१२७. बालक		कोमल औषधियों (मृदुचिकित्सा के योग्य) ।

श्रेष्ठ पथ्य	श्रेष्ठ अपथ्य	गुण/कर्म
१२८. वृद्ध		चिकित्सा आदि उपायों द्वारा याप्य ।
१२९. गर्भिणी		तीक्ष्ण औषध, मैथुन तथा व्यायाम के अयोग्य ।
१३०. सौमनस्य (मन की प्रसन्नता)		गर्भ धारण करने वाला ।
	१३१. असौमनस्य (मन की अप्रसन्नता)	दुःखकर ।
	१३२. सन्निपात (त्रिदोषज व्याधि)	कठिनाई से चिकित्सा करने योग्य ।
	१३३. आमविष	अचिकित्स्य ।
	१३४. ज्वर	शीघ्र उत्पन्न होने वाला रोग ।
	१३५. कुष्ठ	चिरकालिक रोग ।
	१३६. राजयक्ष्मा	रोगसमूह का उत्पादक ।
	१३७. प्रमेह	अनुषङ्गी (पुनर्भावी—पुनः होनेवाला) ।
१३८. जलौका		अनुशस्त्र (छोटे-छोटे शस्त्र) ।
१३९. वस्तियन्त्र		यन्त्र ।
१४०. हिमालय पर्वत		औषध भूमि (औषध उत्पादक स्थान) ।
१४१. सोम (?)		औषध में श्रेष्ठ ।
१४२. मरुभूमि (जांगलदेश)		आरोग्यकर ।
	१४३. आनूपदेश	अनारोग्यकर ।
१४४. निर्देशकारित्व (चिकित्सक के निर्देश)		आतुरगुण ।
	१४५. अनिर्देशकारित्व (चिकित्सक के निर्देशों का पालन न करना)	अरिष्टकर ।
१४६. भिषक्		चिकित्सा के चतुष्पाद में श्रेष्ठ ।
१४७. सिद्धि (रोग-निवारण में सफलता)		वैद्य का गुण ।
	१४८. नास्तिक	वर्जनीय ।
	१४९. लौल्य (लालच)	क्लेशकर ।
१५०. आत्मवत् (अपने समान समझना		उपकारकर भाव ।

श्रेष्ठ पथ्य	श्रेष्ठ अपथ्य	गुण/कर्म
१५१. शास्त्रसहित तर्क		साधक (ज्ञान-साधनाकारक) ।
१५२. दृष्टकर्मता (प्रत्यक्षकर्माभ्यास)		निःसंशयकारक ।
	१५३. असमर्थता	भयकारक ।
१५४. तद्विद्यसम्भाषा		बुद्धिवर्धक भाव ।
१५५. आचार्य		शास्त्र को भलीभाँति समझने का कारण ।
	१५६. सद्वैद्यद्वेष (योग्य चिकित्सक से शत्रुता)	मृत्यु का कारण ।
१५७. आयुर्वेद		अमृत के समान जीवनदायक ।
१५८. सद्वचन		अनुष्ठेय (मानने योग्य) ।
१५९. वायु		प्राणदायक ।
१६०. सर्वसंन्यास (सकल परित्याग)		सुखोत्पादक ।

श्रेष्ठता का निर्धारण

तत्रोदकाग्निमृद्भृष्टलोष्टप्रसादतक्राभ्यासरक्तावसेकैरण्डतैलाभ्यासोष्ट्रीक्षीरमदन-फलमद्याक्षेपैकरसाभ्यासगर्भिणीनामेकैकस्मात् समुदायाच्च निर्धारणम्[1] । पुष्करमूलादीनां तु समुदायादेवेति ॥ ४ ॥

इनमें श्रेष्ठ भावों में उदक (जल), अग्नि, अग्नितप्त मृद्लोष्ट निर्वापित जल, तक्राभ्यास, रक्तावसेचन, एरण्डतैलाभ्यास, उष्ट्रीक्षीर, मदनफल (*Randia dumetoruam*), मद्याक्षेप, एकरसाभ्यास तथा गर्भिणी का एक-एक से अथवा समुदाय रूप से निर्धारण (निर्णय) करना चाहिए । परन्तु पुष्करमूल (*Inula racemosa* Hook f.) आदि द्रव्यों का निर्धारण (विचार) समुदाय से ही करना चाहिए ।

उपसंहार

भवति चात्र—

अग्र्याणां शतमुद्दिष्टं पञ्चपञ्चाशदुत्तरम् ।
अल्पेमेतद्विजानीयाद्धिताहितविनिश्चये ॥ ५ ॥

इत्यग्र्यसङ्ग्रहो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

उपर्युक्त जो एक सौ पचपन अग्र्यों (श्रेष्ठों) का उल्लेख किया गया है, यह शरीर के हित और अहित के लिए पर्याप्त समझना चाहिए ।

---

१. 'रसगर्भिणीनाम्' इति पाठान्तरम् ।

कुल गणना करने पर एक सौ साठ अग्र्य होते हैं, किन्तु उल्लेख एक सौ पचपन का ही है। कुछ पाठ प्रक्षिप्त लगते हैं।

इस प्रकार 'अग्र्यसंग्रह' नामक त्रयोदश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में कतिपय रोगों में प्रमुख एक-एक द्रव्य एवं कर्म का निर्देश किया गया है। इसके साथ ही प्रमुख अपथ्य एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी श्रेष्ठ उपदेश का भी संग्रह किया गया है। जैसे—'ब्रह्मचर्यम् आयुष्याणाम्' इत्यादि।

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातः शोधनादिगणसङ्ग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'शोधनादिगणसंग्रह अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

शोधन रूप द्रव्यगण आदि जिनके हैं, वे हैं शोधनादि। आदि शब्द से वातहर एवं पित्तहर आदि ले लिये जाते हैं। उनके गण (समूह) का संग्रह जिस अध्याय में कहा गया है, उस अध्याय का नाम शोधनादिगणसंग्रह है। गण का अर्थ समूह और संग्रह का अर्थ विक्षिप्त पदार्थों का एक जगह एकत्रित (राशिकरण) करना है। यहाँ पर अनेक प्रकार के गणों में शोधनगण सभी दोषों को जीतता है, इसलिए वह प्रधान है और उसी का वर्णन पहले किया जायेगा।

शोधन का अर्थ है—वमन एवं विरेचन। वे द्रव्य वमन एवं विरेचन के कारण होते हैं। इसलिए शोधन द्रव्य कहलाते हैं; या इनके द्वारा शोधन होता है, इसलिए शोधन द्रव्य कहे जाते हैं। आदि शब्द से आस्थापन एवं अनुवासन आदि ग्रहण करते हैं। उन शोधनादि गणों का एक जगह संग्रह सुखपूर्वक प्राप्त होने के लिए किया जा रहा है।

वमनोपयोगी द्रव्य

मदनजीमूतकेक्ष्वाकुकोशातकीद्वयफलपुष्पपत्राणि, कुटजकरञ्जत्रपुससर्षपपिप्पलीविडङ्गैलाप्रत्यक्पुष्पाहरेणुपृथ्वीकाकुस्तुम्बरुप्रपुन्नाटानां फलानि शारदानि च; हस्तिपर्ण्याः कोविदारकर्बुदाराग्निष्टाश्वगन्धानीपविदुलबिल्वबिम्बीबन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पीसदापुष्पीवचाचित्राचित्रकमृगेन्द्रवारुणीसुषवीचतुरङ्गुलस्वादुकण्टकपाठापाटलीशाङ्गेष्ठामधुकमूर्वासप्तपर्णसोमवल्कद्वीपिशिग्रुसुमनःसौमनस्यायवानीवृश्चीवपुनर्नवामहासहाक्षुद्रसहेक्षुकाण्डकालवृन्तपिप्पलीमूलचविकानलदोशीरह्रीबेरमूलानि, शाल्मलीशेलुकाभद्रपर्ण्यैरावण्यावर्तक्युपोदकोद्दालकधन्वरसाञ्जनराजादनोपचित्रागोपश्रृङ्गाटिकापिच्छाः, प्रियङ्गुपुष्पम्, तालीसपत्रं, हरिद्राश्रृङ्गबेरकन्दौ, मधूकदारुहरिद्रासारौ, तगरगुडूचीमधुफाणितक्षीरक्षारलवणानि चेति वमनोपयोगीनि ॥ ३ ॥

मदनफल (*Randia demetorum*), जीमूतक (गरागरी *Luffa echinata* Roxb.), इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी *Lagenaria siceraria* Mol. Standl.) एवं कोशातकी-द्वय (कोशातकी तथा राजकोशातकी *Luffa acutangula* Linn.) इन पाँचों के फल, पुष्प और पत्र प्रयुक्त होते हैं। कुटज (*Holarrena antidysenterica*), करंज (*Pongamia pinnata* Linn.), त्रपुस (खीरा *Cucumis sativus* Linn.), सरसों (*Brassica campestris*), पिप्पली (*Piper longum* Linn.), विडङ्ग (*Embelia ribes Burm.* f.), इलायची (*Elettaria cardamomum*), प्रत्यक्पुष्पी (अपामार्ग *Achyranthes aspera* Linn.), हरेणु (*Vitex negundo* Linn.), पृथ्वीका (बड़ी इलायची *Amomum subulatum Roxb.*.), कुस्तुम्बरु (धनिया *Coriandrum sativum* Kurz) एवं प्रपुन्नाट (चक्रमर्द *Cassia tora* Linn.)—इन सभी द्रव्यों के फल (या बीज) प्रयुक्त होते हैं।

हस्तिपर्णी (*Cucumis babescens*) का शरद् ऋतु में उत्पन्न फल, कोविदार (कांचनार *Bauhinia variegata* Linn.), कर्बुदार (श्वेत कांचनार *Bauhinia purpurea* Linn.), अरिष्ट (निम्ब *Azadirachta indica*), अश्वगंधा (*Withania somnifera* Dunal.), नीप (कदम्ब *Anthocephalus indicus* Rich.), विदुल (वेंत *Salix caprea* Linn.), बिल्व (*Aegle marmelos* Correa.), बिम्बी (कुन्दरु *Coccinia indica* W. &. A), बंधुजीवक (दुपहरिया का पुष्प *Pentapetes phoenicea* Linn.), श्वेता (अपराजिता *Clitoria ternatea* Linn.), शणपुष्पी (*Indigofera* sp.), सदापुष्पी (अर्क श्वेत *Calotropis gigantea*), वचा (*Acorus calamus* Linn.), चित्रा (एरण्ड *Ricinus communis* Linn.), चित्रक (*Plumbago zeylanica* Linn.), मृगेन्द्रवारुणी (*Cucumis trigonis*), [1]सुषवी (करेला *Momordica charantia*), चतुरंगुल (अमलतास *Cassia fistula* Linn.), स्वादुकण्टक (गोक्षुरु *Tribulus terrestris* Linn.), पाठा (*Cyclea peltata* Diels.), पाटली (*Stereospermum suaveolens* DC.), शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा *Peristrophe bicalyculata* Nees.), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn.), मूर्वा (*Marsdenia roylei* Weight), सप्तपर्ण (*Alstonia scholaris* R. Br.), सोमवल्क (खदिर *Accaia catechu* Willd.), द्वीप (चित्रक *Plumbago zeylanica* Linn.), शिग्रु (सहिजन *Moringa oleifera* Linn.), सुमन (चमेली *Jasmine grandiflorum*), सौमनस्या (जूही *Jasminum auriculatum* Vahl.), यवानी (अजवाइन *Trachyspermum ammi* Linn.), वृश्चीव (श्वेतपुनर्नवा *Boerhaavia verticillata* Poir), पुनर्नवा (लाल पुनर्नवा *Boerhaavia diffusa* Linn.), महासप्त (शालपर्णी *Teramnus labeialis*), छुद्रसहा (पृश्निपर्णी *Uraria picta* Desv.), इक्षुकाण्ड (*Saccharum officinaraum*), कालवृन्त (मंजिष्ठा *Rubia cordifolia* Linn.), पिप्पलीमूल (*Piper longum* Linn.), चविका (चव्य *Piper chaba* Hunter.), नलद (जटामांसी *Nardostachys jatamansi* DC.), उशीर (खस *Vetiveria zizanioidis* Linn.) तथा ह्रीबेर (नेत्रबाला)—इन सभी के मूल प्रयुक्त किये जाते हैं।

शाल्मली (*Salmalia malabarica*), शाल्मलुक (*Tecomella undulata* (G.Don); Seem.), भद्रपर्णी (काश्मरी *Gmelina arborea* Linn.), ऐरावणी (प्रसारिणी *Paederia foetida* Linn.), उपोदिका (पोय *Nigella rubra* Linn.), उद्दालक (कोदो *Paspalum scrobiculatum*), धन्वन (*Grewia tiliaefolia* Vahl.), रसांजन (दारुहरिद्रा *Berberis aristata* DC.), राजादन (खिरनी *Mimusops hexandra* Roxb.), उपचित्रा (लघुदन्ती *Baliospermum montanum* Muell.), अनन्तमूल (सारिवा *Hemidesmus indicus* R. Br.) तथा शृंगाटिका (सिंघाड़ा *Trapa bispinosa* Roxb.)—इन सभी के पिच्छा (लुआब) लिये जाते हैं।

प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla*) के पुष्प, तालीस (*Abies webbiana* Lindl.) के पत्र, हरिद्रा (*Curcuma longa* Linn.) एवं शृंगबेर (अदरक *Zinzibar officinale*) के कंद, मधूक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn.) एवं दारुहरिद्रा (*Bebreris aristata* DC.) के सार (काष्ठ) प्रयुक्त होते हैं। तगर (*Valeriana wallichii* DC.), गुडूची (गिलोय *Tinospora cordifolia* Linn), मधु, फाणित, क्षीर, क्षार एवं लवण ये—सभी द्रव्य वमन के लिए उपयोगी होते हैं।

---

१. 'कालाजाजी तु सुषवी कालिका चोपकालिका'। (भावप्रकाश-हरीतक्यादिवर्ग ८०)

उपर्युक्त वमनोपयोगी द्रव्यों में सर्वाधिक उपयोगी द्रव्य मदनफल (मैनफल *Randia dumetorum*) माना जाता है ।

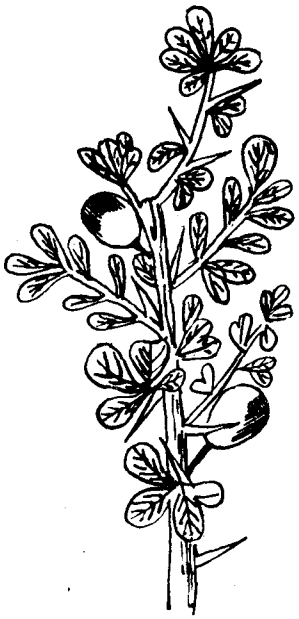

मदनफल

विरेचनोपयोगी द्रव्य

त्रिवृत्श्यामादन्तीद्रवन्तीशङ्खिनीसप्तलाऽजगन्धाऽजशृङ्गीवचागवाक्षीछगलान्त्री-सुवर्णक्षीरीचित्रककिणिहीह्रस्वपञ्चमूलवृश्चीवपुनर्नवापलङ्कषावास्तुकशाकसालमूलानि, तिल्वकशम्याकाम्पिल्लकपाटलीत्वचः, त्रिफलापीलुप्रियालकुवलबदरकर्कन्धुकाश्मर्यपरूषक-द्राक्षानीलिनीक्लीतनिकोदकीर्याविडङ्गपूगपञ्चाङ्गुलफलानि, चतुरङ्गुलफलपत्राणि, पूतिकत्वक्फलपत्राणि, महावृक्षसप्तपर्णज्योतिष्मतीक्षीराणि, क्षीरमस्तुमद्यतक्रधान्याम्ल-मूत्राणि चेति विरेचनोपयोगीनि ॥ ४ ॥

त्रिवृत् (*Ipomoea turpethum* R. Br.), श्यामा (काली निशोथ *Operculum turpethum*), दन्ती (*Baliospermum montanum*), द्रवन्ती (*Jatropha curcas* Linn), शंखिनी (*Canscora decussata*), सप्तला (सतवन *Euphorbia dracunculoides* Linn.), अजगन्धा, (*Gynandropsis gynandra* Linn.), अजशृंगी (*Pergularia extensa* N. E. Br.), वचा (*Acorus calamus* Linn.), गवाक्षी (इन्द्रवारुणी *Citrullus colocynthis* Schrad.). छगलान्त्री[1] (*Ipomoea petaloidea* Choisy), सुवर्णक्षीरी (*Euphorbia thomsoniana* Boiss), चित्रक (*Plumbago zeylanica* Linn.), किणिही (अपामार्ग *Achyranthus aspera* Linn.) ह्रस्वपञ्चमूल (शालपर्णी *Desmodium gangeticum* DC.,

१. 'वृद्धदारकावेगी छागान्त्री वृष्यगन्धिका वृद्धदार···' । (भा० प्र० गुडूच्यादिवर्ग २०६)

पृश्निपर्णी *Uraria picta* Desv., गोखरू *Tribulus terrestris* Linn., कटेरी (*Solanum xanthocarpum* Schrad. तथा बड़ी कटेरी *Solanum indicum* Linn.), वृश्चीव (श्वेत पुनर्नवा *Boerhaavia verticillata* Poir), पुनर्नवा (लाल *Boerhaavia diffusa* Linn), वास्तूक (बथुआ *Chenopodium album* Linn.) तथा शाल (*Shorea robusta* Gaertn.)—इन सभी का मूल लेना चाहिए ।

त्रिवृत्त

तिल्वक (*Viburnum nervosum* Don.), शम्याक (आरग्वध *Cassia fistula* Linn.), काम्पिल्लक (कबीला *Mallotus philippnensis*) तथा पाटली वृक्ष (*Stereospermum suaveolens* DC.)—इन सभी की छाल प्रयुक्त होती है ।

त्रिफला (हरीतकी ***Terminalia chebula***, बिभीतक *Terminalia belerica* Roxb. तथा आमला *Emblica* ***officinalis*** Gaertn.), पीलु (*Salvadora indica*), प्रियाल (चिरौंजी *Buchanania* ***lanzan*** Spreng.), कुबल (बड़ा बेर *Zizyphus sativa* Gaertn.), बदर (झाड़ी की बेर ***Zizyphus jujuba*** Lam.), कर्कन्धु (छोटा बेर *Zizyphus nummularia* W. ta.), काश्मर्य (गम्भारी *Gmelina arborea* Linn.), परूषक (फालसा *Grewia asiatica* Linn.), द्राक्षा (*.Vitis vinifera* Linn.), नीलिनी (*Indigofera tinctoria* Linn.), क्लीतनिक (मुलहठी *Glycyrrhiza glabra* Linn), उदकीर्या (करंज *Pongamia pinnata* Linn.), विडंग (*Embelia ribes* Burm.f.), पूग (सुपारी *Areca catechu* Linn.) तथा पंचांगुल (अमलतास *Cassia fistula* Linn.)—इन सभी के फल प्रयुक्त होते हैं ।

चतुरंगुल (अमलतास *Cassia fistula* Linn.) के फल एवं पत्र, करंज (*Pongamia pinnata* Linn.) की छाल, फल तथा पत्र, महावृक्ष (स्नुही *Euphorbia nerifolia* Linn.), सप्तपर्ण (*Alstonia scholaris* R. Br.) तथा ज्योतिष्मती (*Celastrus paniculatus* Willd.) का दुग्ध प्रयुक्त होता है और क्षीर, मद्य, मस्तु (दही का पानी), धान्याम्ल (काञ्जी) तथा मूत्र ये सभी विरेचन के लिए उपयोगी हैं ।

निरूहोपयोगी द्रव्य

कोशातकीदेवदालीसप्तलाकारवेल्लिकास्वरसा अर्कक्षीरमुष्णोदकं चेत्युभयात्मकानि बस्तिषु तु तेषु तेष्ववस्थान्तरेषु यान्युपयुज्यन्ते द्रव्याणि तान्येवासङ्ख्येयत्वान्नोपदिश्यन्ते, रसस्कन्धेभ्य एव यथादोषं यथावस्थं च विभजेत्, सर्वेषु तु प्रायो मदनकुटजजीमूतकेक्ष्वाकु-कोशातकीद्वयत्रपुससिद्धार्थकशताह्वाफलानि, बलादशमूलैरण्डत्रिवृद्वचायष्ट्याह्वकुष्ठरास्ना-पुनर्नवकत्तृणमूलानि, सरलदेवदारुहपुषाहिङ्गुरसाञ्जनव्योषपत्रैलाऽमृतायवकोलकुलत्थ-गुडलवणमस्तुधान्याम्लमूत्रस्नेहक्षौद्रक्षीराणि चेति निरूहोपयोगीनि ॥ ५ ॥

कोशातकी (*Luffa acutangula* Linn.), देवदाली (*Luffa echinata* Roxb.), सप्तला (*Euphorbia dracunculoides* Linn.), कारवेल्लिका (करेला *Momordica charantia*) स्वरस, अर्क (मदार *Calotropis procera* R. Br.) का दुग्ध तथा उष्णोदक का प्रयोग वमन एवं विरेचन दोनों में होता है ।

निरूहण तथा आस्थापन वस्ति के लिए रोग की अवस्था-भेद के कारण जो द्रव्य प्रयोग किये जाते हैं, वे असंख्येय होने के कारण नहीं कहे गये हैं । तथापि दोष एवं रोग की अवस्था के अनुसार रसस्कंधों में कहे गये द्रव्यों में से कुछ द्रव्यों का विभाग कर लेना चाहिए । सभी दोषों तथा अवस्थाओं में प्रायः मदनफल (Randia dumetorum), कुटज (*Holarrhena antidysenterica*), जीमूतक (*Luffa echinata* Roxb.), इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी *Lagenaria siceraria* Mol. Standl.), कोशातकी-द्वय (कोशातकी तथा राजकोशातकी *Luffa acutangula* Linn & *Luffa* sp.), त्रपुस (खीरा *Cucumis sativus* Linn.), सिद्धार्थक (सरसों *Brassica compestris*) तथा शताह्वा (सोया *Anthem sowa* Kurz.) – इन सबके फल; बला (*Sida cordifolia* Linn.), दशमूल, एरण्ड (*Ricinus communis* Linn.), त्रिवृत् (*Ipomoea turpethum* R. Br.), वचा (*Acorus calamus* Linn.), मधुयष्टी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.), कुष्ठ (*Saussurea lappa* C. B. Cl.), रास्ना (*Pluchea lanceolata*), पुनर्नवा (*Boerhaavia diffusa* Linn.) तथा कत्तृण (घास)—इन सबके मूल; सरल (चीड़ *Pinus roxburghii Sargent.*), देवदारु (*Cedrus deodara* Roxb.), हपुषा (हाऊबेर *Juniperus communis* Linn.), हिंगु (*Ferula foetida* Regel.), रसांजन (दारुहरिद्रा *Berberis aristata* से बनता है), व्योष (शुण्ठी, मरिच, पिप्पली), पत्र (तेजपत्र *Cinnamomum tamala* Nees. & Eberm.), इलायची (*Elettaria cardamomum*), अमृता (गुडूची *Tirospora cordifolia* Willd.), यव (*Hordeum vulgare*), कोल (बेर *Zizyphus jujuba* Lam.), कुलथी (*Dolichos biflorus* Linn.), गुड़, लवण, मस्तु (दही का पानी), धान्याम्ल (काञ्जी), मूत्र, स्नेह (तैल), मधु और क्षीर—ये द्रव्य निरूहवस्ति में उपयोगी होते हैं ।

शिरोविरेचनोपयोगी द्रव्य

अपामार्गविडङ्गमरिचपिप्पलीशिरीषबिल्वाजाज्यजमोदवार्ताकपृथ्वीकैलाहरेणु-फलानि, तालीसतमालतकारीहरीतकवर्गपत्राणि, सर्षपफलपत्राणि, शिग्रुफलपत्रत्वचः, हरिद्रामूलकलशुननागरकन्दपत्राणि, अतिविषाकन्दाः, कुष्ठवचाभार्ङ्गीश्वेताकिणिहीनाग-वल्लीज्योतिष्मतीगवाक्षीवयस्थावृश्चिकालीबिम्बीकरञ्जमूलानि, अर्कलिर्कपुष्पमूलानि,

रोध्रमदनसप्तपर्णनिम्बपीलुबीजानि, मुरङ्गीमातुलुङ्गीलवङ्गपुष्पाणि, अगुरुसुरदारुसरल-सल्लकीजिङ्गिण्यसनरसाञ्जनहिङ्गुलाक्षानिर्यासः, तमालशालतालमधूकदार्वीसाराः, तेजस्विनीमेषशृङ्गीवराङ्गेङ्गुदीबृहतीद्वयत्वचः, राजादनमज्जक्षौद्रलवणानि मद्यानि गवादिशकृद्रसमूत्रपित्तान्येवंविधानि चेन्द्रियोपशमनान्यन्यान्यपि तथा स्नेहाः क्षीरं रक्तं मांसरसो धान्यरसस्तोयमिति शिरोविरेचनोपयोगीनि ॥ ६ ॥

अपामार्ग (*Achyranthus aspera* Linn.), विडंग (*Embelia ribes* Burm f.), मरिच (*Piper nigrum* Linn.), पिप्पली (*Piper longum* Linn.), शिरीष (*Albizzia lebbeck* Benth.), (बिल्व *Aegle marmelos* Correa), अजाजी (जीरा *Carum carvi* Linn.), अजमोद (अजवायन *Apium graveolens* Linn.), वार्ताकि (बैंगन *Solanum melongena* Linn.), पृथ्वीका (बड़ी इलायची *Amomum subulatum*), एला (छोटी इलायची *Elettaria cardamomum*) एवं हरेणु (*Vitex negundo* Linn.)—इन सबके फल (बीज); तालीस (*Abies webbiona* Lindl.), तमाल (*Cinnamomum zeylanicum*), तर्कारी (अग्निमंथ *Premna integrifolia* Linn.), हरीतक वर्ग—इन सब के पत्र; सर्षप (*Brassica campestris*) के बीज तथा पत्र, शिग्रु (*Moringa oleifera* Linn.) के फल, पत्र और छाल, हरिद्रा (हल्दी *Curcuma longa* Linn.), मूलक (मूली *Raphanus sativus*), लशुन (*Allium sativum*), नागर (सोंठ *Zingibar officinale* Rose.) के कंद एवं पत्र, अतीस (*Aconitum heterophyllum* Wall.) के कंद, कुष्ठ (*Saussurea lappa* C. B. Cl.), वचा (*Acorus calamus* Linn.), भार्ङ्गी (*Clerodendrum serratum* Linn.), श्वेता (अपराजिता *Clitoria ternatea* Linn.), किणिही (अपामार्ग *Achyranthus aspera* Linn.), नागदंती (*Euphorbia* sp.), ज्योतिष्मती (*Celastrus paniculatus* Willd.), गवाक्षी (इन्द्रायण *Citrullus colocynthis* Schrad.), वयस्था (आमलकी *Emblica officinalis* Gaertn.), वृश्चिकाली (*Tragia involucrata* Linn.), बिम्बी (कुंदरु *Coccinia indica* W. & A.), करंज (*Pongamia pinnata* Linn.)—इन सब के मूल; लोध्र (*Symphlocos racemosa* Roxb.), मदनफल (*Randia dumetorum*), सप्तपर्ण (*Alstonia scholaris* R. Br.), निम्ब (*Azadirachta indica* A. Juss.), पीलु (*Salvadora indica*) इन सबके बीज; मुरंगी (*Moringa oleifera* Linn.), मातुलुंग (बिजौरा नींबू *Citrus aurantifolia* Swingle.), लवंग (*Syzygium aromaticum* (Linn.) Men.)—इन सबके पुष्प; अगुरु (*Aquilaria agallocha* Roxb.), सुरदारु (देवदारु *Cedrus deodara* Roxb.), सरल (चीड़ *Pinus roxburghii* Sargent.), सल्लकी (*Boswellia serrata* Roxb), जिंगिणी (*Odina Wodier*), असन (विजयसार *Pterocarpus marsupium* Roxb.), रसांजन (दारुहरिद्रा *Berberis aristata* DC.), हिंगु (*Ferula foetida* Regel.), लाक्षा (*Rosa centifolia* Linn.)—इन सब का निर्यास (गोंद); तमाल (*Cinnamomum zeylanicum*), शाल (*Shorea robusta* Gaertn.), ताल (ताड़ *Borasus flabbelifer* Linn.), मधूक (महुआ *Madhuca latifolia*), दार्वी (दारुहरिद्रा *Berberis aristata* DC.)—इनका सार (काष्ठ); तेजस्विनी (तुम्बुरु *Zanthoxylum alatum* Roxb.), मेषशृङ्गी (*Gmnema sylvestre* R. Br.), वराग (दालचीनी *Cinnamomum zeylancium* Blume.), इंगुदी (हिंगोट *Balanites aegyptiaca* Linn.), बृहती-द्वय (*Solanum indicum* Linn. & *Solanum xanthocarpum*)—इन सबकी छाल; राजादन (खिरनी *Mimusops hexandra*

Roxb.) की मज्जा, मधु, लवण, मद्य, गवादि शकृत् रस (गाय आदि के गोबर का रस), मूत्र तथा इसी प्रकार रस, वीर्य, विपाक के सदृश चक्षु आदि इन्द्रियों के लिए हितकर (पथ्य) द्रव्य तथा और भी स्नेह, दूध, रक्त, मांसरस, धान्यरस तथा जल—ये सभी शिरोविरेचन के लिए नस्यकर्म में उपयोगी हैं ।

प्रायोगिक धूमोपयोगी द्रव्य

मधुकपद्मकमञ्जिष्ठासारिवामुस्तापुन्नागकेसरैलवालुकसुवर्णत्वक्तमालपृथ्वीका-हरेणुलाक्षाशतपुष्पासल्लकीशर्करामदनकमरुबकन्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षलोध्रत्वक् पद्मो-त्पलानि सर्वगन्धद्रव्याणि च कुष्ठतगरवर्ज्यानि प्रायोगिकधूमोपयोगीनि ॥ ७ ॥

मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn.), पद्मक (*Prunus cerosoides* D. Don.), मंजिष्ठा (*Rubia cordifolia* Linn.), सारिवा (*Hemidesmus indicus* R. Br.), मुस्ता (*Cyperus rotundus* Linn.), पुन्नागकेसर (*Callophyllum inophyllum* Linn.), एलवालुक (*Prunus avium* Linn.), सुवर्ण त्वक् (आरग्वध *Cassia fistula* Linn.), तमाल (*Cinnamomum zeylanicum*), पृथ्वीका (बड़ी इलायची *Amomum subulatum*), हरेणु (*Vitex negulo* Linn.), लाक्षा (*Rosa centifolia* Linn.), शतपुष्पा (सौंफ *Foeculum vulgare*), सल्लकी (*Boswellia serrata* Roxb.), शर्करा (Sugar), मदनक (*Ocimum* sp.), मरुबक (मरुवा तुलसी *Majorana hortensis* Linn.), न्यग्रोध (वट *Ficus bengalensis* Linn.), उदुम्बर (गूलर *Ficus racemosa* Linn.), अश्वत्थ (पीपल *Ficus raligiosa* Linn.), प्लक्ष (पाकड़ *Ficus lacor* Buch-Ham), लोध्र (*Symphlocos racemosa* Roxb.)—इन सभी का त्वक् (छाल); पद्म (*Nelumbo nucifera*), उत्पल (*Nymphea stellata* Willd.) तथा कुष्ठ (*Saussurea lappa*) और तगर (*Valeriana wallichii* DC.) को छोड़कर सर्वगंध वाले द्रव्य प्रायोगिक धूम्रपान के लिए उपयोगी होते हैं ।

स्नैहिक धूमोपयोगी द्रव्य

अगुरुगुग्गुलुसल्लकीशैलेयकनलदह्रीबेरहरेणूशीरमुस्ताध्यामकवराङ्गश्रीवेष्टकस्थौ-णेयकपरिपेलवैलवालुककुन्दुरुकसर्जरसयष्ट्याह्वफलसारस्नेहमधूच्छिष्टबिल्वफलमज्जयव-तिलमाषकुङ्कुमानि मेदोमज्जवसासर्षपाणि च स्नैहिकधूमोपयोगीनि ॥ ८ ॥

अगुरु (*Aqualaria agallocha* Roxb.), गुग्गुल (*Commiphora mukul* Engle.), सल्लकी (*Boswelliaserrata* Roxb.), शैलेयक (*Parmelia perlata* A. C. H.), नलद (जटामांसी *Nardostachys jatamansi* DC.), ह्रीबेर, हरेणु (*Vitex negundo* Linn.), उशीर (खस *Veteriveria zizanioidis* Linn.), मुस्तक (*Cyperus rotandus* Linn.), ध्यामाक (सुगंधित तृण-विशेष *Cymbopogon citratus* DC.), वरांग (दालचीनी *Cinnamo-mum zeylanicum.*), श्रीवेष्टक (*Pinus roxburghii* Sargent.), स्थौणेयक (*Taxus baccata* Linn.), परिपेलव (मुस्ता *Cyperus rotundus* Linn.), एलवालुक (*Prunus avium* Linn.), कुन्दरुक (*Boswellia serrata* Roxb.), सर्जरस (राल *Veteria indica* Linn.), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.), फलसार, स्नेह, मधूच्छिष्ट (मोम), बिल्व-फलमज्जा (*Aegle marmelos* Correa.), यव (*Hordeum vulgare*), तिल (*Sesamum indicum* Linn.), माष (उड़द *Phaseolus radiatus*), कुंकुम (*Crocus*

sativus Linn.), मेदस्, मज्जा, वसा तथा घृत—ये सभी द्रव्य स्नैहिक धूम के लिए उपयोगी होते हैं ।

तीक्ष्ण धूमोपयोगी द्रव्य

शिरोविरेकद्रव्याणि गन्धद्रव्याणि च तीक्ष्णानि मनोह्वाहरितालं चेति तीक्ष्णधूमोपयोगोनि ॥ ९ ॥

शिरोविरेचन के द्रव्य, तीक्ष्ण गंधकारक द्रव्य, मैनसिल तथा हरिताल—ये तीक्ष्ण धूम के लिए उपयोगी होते हैं ।

वातशामक द्रव्य

भद्रदारुकुष्ठतगरवरुणबलातिबलार्तगलकच्छुरावृ[1]कीकुबेराक्षीवत्सादन्यर्कालर्ककतकभार्ङ्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्तूरप्रभृतीनि विदार्यादिगणो वीरतरादिस्तृणाख्यवर्ज्यानि षट्पञ्चमूलानि चेति वातशमनानि ॥ १० ॥

भद्रदारु (देवदारु *Cedrus deodara* Roxb.), कुष्ठ (*Saussurea lappa* C. B. Cl.), तगर (*Valeriana wallichii* DC.), वरुण (*Crataesa nurala* Buch-Ham.), बला (*Sida cordifolia* Linn.), अतिबला (*Abuliton indicum* Linn.), आर्तगल (नीली फूल वाली कटसरैया *Barleria prionitis*), कच्छुरा (केंवाच *Mucuna prurita* Hook), वृकी (पाठ *Cissampelos pareira* Linn.), कुबेराक्ष (पाटला *Stereospermum suaveolens* DC.), वत्सादनी (गुडूची *Tinospora cordifolia* Willd.), अर्क (मदार *Calotropis procera* R. Br.), अलर्क (श्वेत अर्क *Calotropis gigantea* Linn.), कतक (*Strychnus potatorum* Linn.), भार्ङ्गी (*Clerodendrum serratum* Linn.), कार्पासी (कपास *Gossypium arboreum.*), वृश्चिकाली (*Tragia involucrata* Linn.), पत्तूर (जलपिप्पली *Lippia nodiflora*) आदि द्रव्य, विदार्यादि गण, वीरतरादि गण तथा तृणपंचमूल के अतिरिक्त शेष छः पंचमूल वातशामक हैं ।

पित्तशामक द्रव्य

दूर्वाऽनन्तामोचरसमञ्जिष्ठापरिपेलवकालाकालीयकदलीकन्दलीपयस्याऽऽत्मगुप्तानालिकेरखर्जूरद्राक्षाविदारीबदरीबलानागबलानागपुष्पाशतावरीशीतपाक्यौदनपाकीतृणशूल्यांशुमतीद्वयारिष्टकारिष्टाटरूषकेत्कटप्रियङ्गुधातकीधवधन्वनस्यन्दनखदिरकदरप्रियालतालशालसर्जतिनिशाश्वकर्णगुन्द्रावानीरपद्मापद्मकपद्मबीजमृणालकुमुदनलिनसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रशैवालकल्हारोत्पलकाकोल्युत्पलिकाशालूकशृङ्गाटककसेरुकक्रौञ्चादनप्रभृतीनि शीतवीर्याणि सारिवादिः पद्मकादिः पटोलादिर्न्यग्रोधादिर्दाहहरो महाकषायस्तृणपञ्चमूलञ्चेति पित्तशमनानि ॥ ११ ॥

दूर्वा (*Cynodon dactylon* Linn.), अनन्तमूल (*Hemidesmus indicus* R. Br.), मोचरस (शाल्मली *Salmalia malabarica* Schott. & Endl.), मंजिष्ठा (*Rubia cordifolia* Linn.), परिपेलव (मुस्ता *Cyperus rotandus* Linn.), काला (कटुतुम्बी *Picrorhiza kurora*), कालीयक (पीला चंदन *Santalum album*), केला (*Musa paradisiaca*

---

१. 'ह्लादनी' इति पाठान्तरम् ।

Linn.), कन्दली (विसकुनरी *Crinum defixum*), पयस्या (*Pueraria tuberosa* DC.), आत्मगुप्ता (केंवाच *Mucuna prurita* Hook.), नारिकेल (*Cocos nucifera* Linn.), खर्जूर (*Phoenix dactylifera* Linn.), द्राक्षा (*Vitis vinifera* Linn.), विदारीकन्द (*Pueraria tuberosa* DC.), वदरी (बेर *Zizyphus jujuba* Linn.), बला (*Sida cordifolia* Linn.), नागबला (*Grewia populifolia*), नागपुष्पा (नागकेशर *Messua ferrea* Linn.), शतावरी (*Asparagus racemosus* Willd.), शीतपाक्य (*Sida cordifolia* Linn.), ओदनपाकी (?), तृणशून्य (केवड़ा *Pandanus odorotissmus*), अंशुमती-द्वय (शालपर्णी एवं पृश्नीपर्णी *Desmodium gangeticum* DC. & *Uraria picta* Desv.), अरिष्टक (रीठा *Sapindus trifoliatus* Linn.), अरिष्ट (निम्ब *Azadirachta indica* A. Juss.), आटरूषक (अड़ूसा *Adhatoda vasica* Nees.), इक्षट (सरकंडा *Saccharum* sp.), प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla*), धातकी (*Woodfordia fruticosa* Kurz.), धव (*Anogeissus latifolia* Wall.), धन्वन (*Grewia tiliaefolia* Vahl.), स्यंदन (*Ougenia oojeinensis*), खदिर (*Acacia catechu* Willd.), कदर (विट् खदिर *Acacia farnisiana* Willd.), प्रियाल (चिरौंजी *Buchanania lanzan* Spreng.), ताल (*Borasus glabellifer* Linn.), शाल (*Shorea robust* Gaertn.), सर्ज (*Vateria indica* Linn), तिनिश (*Dugeinia dalbergiodes*), अश्वकर्ण (शाल *Shorea robusta* Gaertn), गुन्द्रा (गुड़ूची *Tinospora cordifoila* Willd), वानीर (जलवेतस *Salix tetrasperma* Roxb.), पद्म (*Nelumbo nucifera*), पद्मक (*Prunus cerasoides* D. Don), पद्मबीज (*Nelumbo nucifera*), मृणाल (*Nelumbo nucifera* var.), कुमुद (*Nymphea stellata*), नलिन (*Nelumbo nucifera* var.), सौगंधिक (*Nymph alba*), पुडंरीक (*Nelumbo* sp.), शतपत्र (*Nymphea* sp.), सेवाल (*Ceratophyllum demersum*), कल्हार (*Nymphea* sp.), उत्पल (*Nymphea stellata*), काकोली (*Lilium polyphyllum* D. Don), उत्पलिका (*Nymphea stellata*), शालूक (*Nelumbo nucifera*), शृंगाटक (सिंघाड़ा *Trapa bispinosa*), कशेरुक (*Scirpuskysoor* sp. Roxb.), क्रौंचादन (जलकन्द विशेष ?) आदि शीतवीर्य द्रव्य, सारिवादि गण, पद्मकादि, पटोलादि, न्यग्रोधादि गण की औषधियाँ, दाहहर महाकषाय तथा तृणपंचमूल के द्रव्य पित्तशामक होते हैं ।

कफनाशक द्रव्य

शीतशिवशतपुष्पासरलसुरदारुरास्नेङ्गुदीसातलासुमनःकाकादनीलाङ्गलीहस्तिकर्णमुञ्जातलामज्जकप्रभृतीन्यन्यानि च रूक्षोष्णवीर्याण्यारग्वधादिरसनादिरकादिः सुरसादिर्मुष्ककादिर्वत्सकादिर्मुस्तादिः शीतघ्नश्च महाकषायो वल्लीकण्टकपञ्चमूले च श्लेष्मशमनानीति ॥ १२ ॥

शीतशिव (कर्पूर *Cinnamomum camphora*), शतपुष्पा (सौंफ *Foeniculum vulgare*), सरल (चीड़ *Pinus roxburghii* Sargent), देवदारु (*Cedrus deodara*), रास्ना (*Pluchea lanceolata*), इंगुदी (हिंगोट *Balanites aegyptiaca* Linn.), सातला (शिकाकाई *Euphorbia dracunculoides*), सुमन (चमेली *Jasmine grandifloum*), काकादनी (*Cardiospermum halicacabum*), लांगली (*Glorios superba* Linn.), हस्तिकर्ण (*Leea macrophylla* Roxb.), मुंजात (*Orchis latifolia* Linn.), लामज्जक

(उशीर *Veteriveria zizanioides* Linn.) आदि द्रव्य और अन्य रूक्ष, उष्णवीर्य तथा आरग्वधादिगण, असनादिगण, अर्कादिगण, सुरसादिगण, वत्सादिगण, मुस्तादिगण, शीतघ्न महाकषाय तथा वल्लीपंचमूल एवं कंटकपंचमूल के द्रव्य कफशामक हैं।

उपसंहार

भवति चात्र—

समीक्ष्य दोषदूष्यादीनमी वर्गाः सुयोजिताः।
सर्वामयजयायालं जायन्ते नियतात्मनाम् ॥ १३ ॥

इति शोधनादिगणसङ्ग्रहो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

कहा भी है—वातादि दोषों, रस-रक्तादि दूष्य, बल, देश, काल आदि का भली प्रकार विचार कर इन वमन-विरेचनोपयोगी वर्गों का नानाविध क्वाथ, स्नेह आदि कल्पनाओं द्वारा प्रयोग किया जाय, तो अलोलुप पुरुषों के सभी रोगों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

इस प्रकार 'शोधनादिगण-संग्रह' नामक चतुर्दश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में वमन, विरेचन, निरूह वस्ति, शिरोविरेचन, प्रायोगिक धूम, स्नैहिक धूम, तीक्ष्ण धूम, वातशामक, पित्तशामक एवं कफशामक द्रव्यों का संग्रह किया गया है।

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो महाकषायसङ्ग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'महाकषाय-संग्रह अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

'महान्तश्च ते कषाया महाकषायाः' (इन्दु)। जो महान् कषाय हों, वे महाकषाय कहे जाते हैं। इसी बात को कहा जा रहा है। औषधि एवं रोग अनन्त हैं। प्रति व्याधि के लिए विशेष औषध होती है, इसी प्रकार कषाय भी अनन्त हैं। जो कषाय अत्यधिक उपयुक्त होते हैं या अन्य भी उत्कृष्ट होते हैं, उनकी शास्त्रकारों ने जीवनीय-बृंहणीय आदि संज्ञाएँ की हैं और वे जीवनीय आदि संख्या में पाँच होते हैं।

महाकषायों का प्रयोजन

अनन्त्यादौषधानामामयानां चानन्ता एव कषायाः। ये तु सुतरामुपयोगवन्तः प्रकर्षवर्तिनो वा ते जीवनीयादिसंज्ञाः। प्रत्येकं दशकषायसंयोगात्पञ्चचत्वारिंशन्महाकषाया वक्ष्यन्ते। यत्प्रतिबोधार्थमेव[1] मन्दबुद्धीनां। बुद्धिमतामुदाहरणमात्रदर्शनार्थम्[2]। शक्यं हि बुद्धिमद्भिः स्वादुशीतस्निग्धादीन् जीवन्त्यादिषु साधारणान् गुणानालोच्य क्षीरेक्षुद्राक्षाऽक्षोडविदारीकन्दादिष्वपि तद्गुणेषु जीवनीयादित्वमवधारयितुं। यथोक्तानुसरणमेव तु श्रेयो मन्दबुद्धेरिति। व्यस्ताश्च ते चत्वारिंशतानि पञ्चाशदधिकानि तदभिधानान्येव ॥३॥

औषधियों तथा रोगों के अनन्त (असंख्य) होने से कषाय भी असंख्य हैं। इन अनन्त कषायों में जो अत्यधिक प्रयुक्त होते हैं अथवा अधिक उत्कर्षशाली होते हैं, उनको शास्त्रकारों ने जीवनीय, बृंहणीय आदि संज्ञा दी है। प्रत्येक दश कषायों के संयोग से पैंतालिस महाकषाय कहे जायेंगे।

ये पैंतालिस महाकषाय मन्दबुद्धि वालों के ज्ञान के लिए हैं, किन्तु बुद्धिमानों के लिए केवल उदाहरण मात्र हैं; क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति जीवन्ती (*Leptadenia reticulata* W. & A.) आदि द्रव्यों में मधुर, शीत एवं स्निग्ध गुणों को देखकर क्षीर, इक्षु (*Saccharum officinarum* Linn.), द्राक्षा (*Vitis vinifera* Linn.), अखरोट (*Junglans regia* Linn.) एवं विदारीकन्द (*Pueraria tuberosa* DC.) आदि द्रव्यों में जीवन्ती के समान ही मधुर, शीत, स्निग्ध गुणों का विचार कर इनमें भी जीवनीय तत्त्व आदि का निश्चय कर सकते हैं, किन्तु मन्दबुद्धि वालों को तो शास्त्र के अनुसार ही चलना चाहिए। इन पैंतालिस महाकषायोक्त द्रव्यों से पृथक्-पृथक् चार सौ पचास कषाय बन सकते हैं।

भगवान् पुनर्वसु ने पचास महाकषाय एवं पाँच सौ कषायों का वर्णन किया है।
(च० सू० ४।३)

---

१. 'तत्प्रतिबोधनार्थमेव' इति पाठान्तरम्। २. 'प्रदर्शनार्थम्' इति पाठान्तरम्।

यद्यपि तानि तान्येव द्रव्याणीति द्रव्यसङ्करः कषायेषु तथापि न संज्ञाविरोधः। एकस्यापि बहुकार्यनिर्वर्तनात्[1] ॥ ४ ॥

यद्यपि एक-एक द्रव्यों का अनेक महाकषायों में बार-बार मिश्रण होता है, तथापि संज्ञाविरोध नहीं होता है, क्योंकि कार्य-भेद से संज्ञा-भेद होता है। एक ही द्रव्य बहुत से कार्यों को कर सकता है, जैसे देवदत्त भोजन पकाने पर पाचक तथा लवाई (कटाई) करने पर लावक कहलाता है।

तत्र लवणवर्जा रसाः कल्पनायां कषाया इत्युच्यन्ते। तद्योनित्वात्। लवणे तु[2] निर्यासादिकल्पनानामसम्भवः। पृथगुपयोगोपकाररहितत्वाच्च नैरर्थक्यमिति ॥ ५ ॥

इसमें लवण रस को छोड़कर शेष पाँच रसों से कषायकल्पना होती है, क्योंकि एक लवण रस वर्जित शेष पाँच रस ही कषाय योनि हैं। लवण से निर्यास (स्वरस, क्वाथ) आदि कल्पनाएँ असम्भव है, अतः उसका पृथक् उपयोग नहीं होता है और उपयोग करने पर भी शरीर में कोई उपकार नहीं होता है, इसलिए इसका अकेला उपयोग निरर्थक है।

आचार्य चरक ने पञ्चविधि कषायकल्पना—(१) स्वरस, (२) कल्क, (३) शृत (क्वाथ), (४) शीत तथा (५) फाण्ट का उल्लेख इस प्रकार किया है—

पञ्चविधं कषायकल्पनमिति तद्यथा—स्वरसः, कल्कः, शृतः, शीतः, फाण्टः, कषाय इति।

(च० सू० ४।७)

महर्षि सुश्रुत के अनुसार कषाय-कल्पना छः प्रकार की होती है—

क्षीरं रसः कल्कमथो कषायः शृतश्च शीतश्च तथैव चूर्णम्।
कल्पाः षडेते खलु भेषजानां यथोत्तरं ते लघवः प्रदिष्टाः ॥

(सु० सू० ४४।९१)

(क) जीवनीय, बृंहणीय, लेखनीय, भेदनीय तथा सन्धानीय वर्ग

भवन्ति चात्र—

जीवन्तीकाकोल्यौ द्वे मेदे मुद्गमाषपर्ण्यौ च।
ऋषभकजीवकमधुकं चेति गणो जीवनीयाख्यः ॥ ६ ॥
वाट्या बला पयस्या काकोल्याविक्षुवाजिगन्धे च।
क्षीरिणिराजक्षवके भारद्वाजी च बृंहणीयोऽयम् ॥ ७ ॥
हैमवती चिरबिल्वं मुस्ता कुष्ठं वचा हरिद्रे च।
चित्रककटुकाऽतिविषा वर्गोऽयं लेखनीयाख्यः ॥ ८ ॥
अर्केरण्डौ चित्राचित्रकचिरबिल्वशङ्खिनीसरलाः।
हेमक्षीरी कटुका वह्निमुखी भेदनीयानि[3] ॥ ९ ॥
मधुमधुकपृश्निपर्णीकट्फललोध्रप्रियङ्गुधातक्यः।
अम्बष्ठकीसमङ्गा मोचरसश्चेति सन्धानः ॥ १० ॥

(१) **जीवनीय महाकषाय**—जीवन्ती (*Lepta denia reticulata* W. & A.), काकोली (*Lilium polyphyllum* D. Don.), क्षीरकाकोली (?), मेदा (*Polygonatum*

१. 'निवर्त्तनत्वात्' इति पाठान्तरम्। २. 'लवणस्य यतो' इति पाठान्तरम्।
३. 'भेदनीयोऽयम्' इति पाठान्तरम्।

verticillatum), महामेदा (?), मुद्गपर्णी (*Phaseolus trilobus* Ait.), माषपर्णी (*Teramnus labeialis*), ऋषभक (*Microstylis wallichii* Lindl.), जीवक (*Microstylis mucifera* Red.) तथा मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.) । यह गण जीवनीय (जीवन के लिए उपयोगी) है ।

(२) **बृंहणीय कषाय**—अतिबला (*Abuliton indicum* Linn. Swat.), बला (*Sida cordifolia* Linn.), पयस्या (क्षीरविदारी *Pueraria tuberosa* DC.), काकोली (*Lilium polyphyllum* D. Don.), क्षीरकाकोली (?), इक्षु (*Saccharum officinarun* Linn.), अश्वगन्ध (*Withania somnifera*), क्षीरिणी[1] (खिरनी *Mimusops hexandra* Roxb.), राजक्षवक (नकछिकनी *Centipeda orbicularis*), भारद्वाजी (कपास *Gossypium arboreum*) । यह गण बृंहणीय (शरीर को पुष्ट करने वाला) है ।

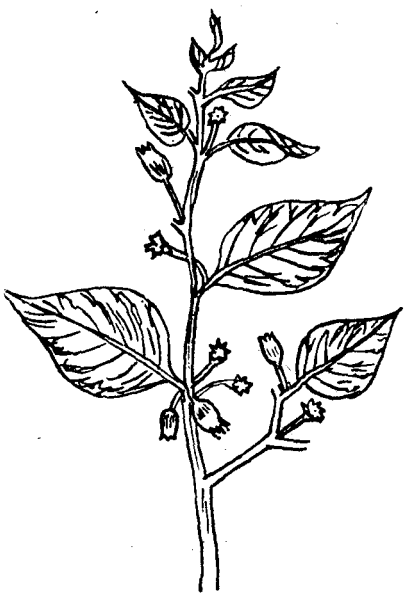

अश्वगन्धा

(३) **लेखनीय महाकषाय**—हैमवती वच (*Paris polyphylla* Sm.), चिरबिल्व *Holoptelea integrifolia*), करञ्ज (*Pongamia pinnata* Linn.), मुस्ता (*Cyperus rotundus* Linn.), कुष्ठ (*Saussurea lappa* C. B. Cl.), वचा (*Acorus calamus* Linn.), हरिद्रा (दारुहरिद्रा एवं हरिद्रा *Berberis aristata* DC. & *Curcuma longa* Linn.), चित्रक (*Phumbago zeylanica* Linn.), कटुकी (*Picrorhiza kurrora*), अतिविषा (*Aconitum heterophyllum* Wall.) । यह लेखन (कृशता) कर्म में उपयोगी है ।

(४) **भेदनीय महाकषाय**—अर्क (*Calotropis procera* R. Br.), एरण्ड (*Ricinus communis* Linn.), चित्रा (दन्ती *Baliospermum montanum* Muell.), चित्रक

---

१. 'क्षीरलता' इति चक्रपाणिः ।

एरण्ड

कट्फल

(*Plumbago zeylanica* Linn.), चिरबिल्व (करंज *Pongamia pinnata*), शंखिनी (*Canscora decussata rocin* et Sch.), सरल (*Pinus roxburghii* Sargent.), हैमक्षीरी (स्वर्णक्षीरी *Euphorbia thomsoniana* Boiss), कटुकी (*Picrorhiza kurrora*), वह्निमुखी (कलिहारी *Semecarpus anacardium*) । यह सब भेदनीय (मल-भेदक) द्रव्यों का गण है ।

(५) **सन्धानीय महाकषाय**—मधु (मधुपर्णी *Gmelina arbora* Linn.), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn.), पृश्निपर्णी (*Urari picta* Desv.), कट्फल (*Momordica cochinchinensis*), लोध्र (*Symphylocos racemosa* Roxb.), प्रियंगु (*Callicarpama crophylla*), धातकी (*Woodfordia fruticosa* Kurz.), अम्बष्ठकी (*Cyclea peltata*), समंगा (मञ्जिष्ठा *Rubia cordifolia* Linn.) और मोचरस (*Salmalia malabarica* Schott. Endl.) । ये सभी सन्धान करने (जोड़ने) वाले द्रव्य हैं ।

(ख) दीपनीय, बल्य, वर्ण्य, कण्ठ्य तथा हृद्य वर्ग

हिङ्गुमरिचाम्लवेतसदीप्यकभल्लातकास्थिसंयोगात् ।
वर्गः सपञ्चकोलो निर्दिष्टो दीपनीयोऽयम् ॥ ११ ॥
ऐन्द्र्यतिरसा पयस्या ऋष्यप्रोक्तास्थिराबलाऽतिबला ।
इति बल्यो दशकोऽयं हयगन्धा रोहिणी ऋषभः ॥ १२ ॥
चन्दनतुङ्गपयस्यासितालतामधुकपद्मकोशीरम् ।
वर्ण्यो गणोऽयमुदितो मञ्जिष्ठासारिवासहितः ॥ १३ ॥
हंसपदीबृहतीद्वयमृद्वीकासारिवेक्षुमूलानि ।
कैण्डर्यमधुककृष्णाः सविदार्यः कण्ठजननानि ॥ १४ ॥
वृक्षाम्लबदरदाडिमकुवलाम्राम्रातलिकुचकरमर्दम् ।
हृद्यं समातुलुङ्गाम्लवेतसं विद्धि वर्गमिमम् ॥ १५ ॥

(६) **दीपनीय महाकषाय**—हिंगु (*Ferula foetida* Regel.), मरिच (*Piper nigrum* Linn.), अम्लवेतस (*Gardenia pedunculata* Roxb.), दीप्यक (अजवायन *Opium graveolens* Linn.), भल्लातक (*Semecarpus anacardium*) एवं पंचकोल (चव्य *Piper chaba* Hunter., चित्रक *Plumbago zeylanica* Linn., शुण्ठी *Zinziber officinale* Rose., पिप्पली *Piper longum* Linn. तथा पिप्पलीमूल Root of *Piper longum*) । यह गण जठराग्नि को प्रदीप्त करता है ।

(७) **बल्य महाकषाय**—ऐन्द्री (इन्द्रवारुणी *Citrullus colocynthis*), अतिरसा (शतावरी *Asparagus racemosus* Willd.), पयस्या (विदारी *Puerararia tuberosa* DC.), ऋष्यप्रोक्ता (माषपर्णी *Teramnus labeialis*), स्थिरा (शालपर्णी *Desmodium gangeticum* DC.), बला (*Sida cordifolia* Linn.), अतिबला (*Abuliton indicum* Linn.), अश्वगन्धा (*Withania somnifera* Dunal.), रोहिणी (*Soymida febrifuga*), ऋषभ (*Microstylis wallichii* Lindl.) । **यह गण बल्य** (बलवर्धक) है ।

(८) **वर्ण्य महाकषाय**—चन्दन (***Santalum album***), तुंग (नारिकेल *Cocos nucifera*), पयस्या (*Pueraria tuberosa* **DC.**), सिता (मिश्री), लता (काली दूब *Cynodondactylon* Linn.), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn.), पद्मकाष्ठ

चव्य

चित्रक

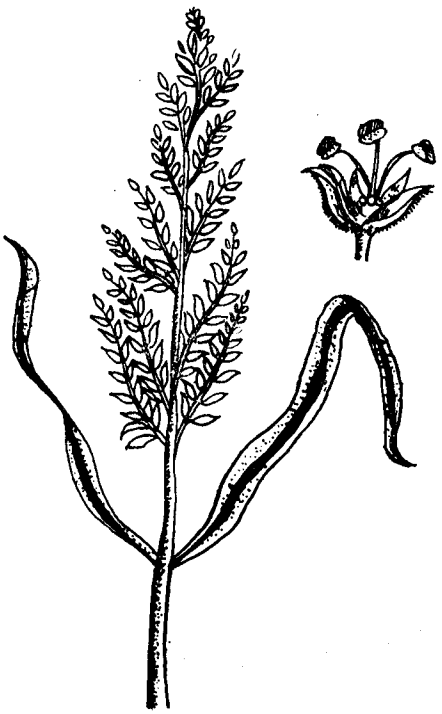

उशीर (खस)

Prunus cerasoides D. Don.), उशीर (खस *Veteriveria zizanioides*), मञ्जिष्ठा (*Rubia cordifolia* Linn.) तथा सारिवा (*Hemidesmus indicus* R. Br.) । यह गण कांतिवर्धक है ।

(९) **कण्ठ्य महाकषाय**—हंसपदी (हंसराज *Adiantum lunulatum* Burm f.), बृहती-द्वय (छोटी एवं बड़ी कंटकारी *Solanum Xanthocarpum* Schrad. & *Solanum indicum* Linn.), मृद्वीका (मुनक्का *Vitis vinifera* Linn.), सारिवा (*Hemidesmus indicus* R. Br.), इक्षुमूल (*Saccharum officinarum* Linn.), कैण्डर्य (*Murraya koenigii* Spreng.), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn.), कृष्णा (पिप्पली *Piper longum* Linn.), विदारीकंद (*Pueraria tuberosa* DC.) । यह गण कण्ठ के लिए हितकारी है ।

(१०) **हृद्य महाकषाय**—वृक्षाम्ल (*Garcinia indica* Chosis.), बदर (बेर *Zizyphus jujuba* Lam.), दाडिम (*Punica granatum* Linn.), कुवल (बड़ा बेर *Zizyphus sativa*), आम (*Mangifera indica* Linn.), आम्रातक (अँमड़ा *Spondias pinnata* Kurz.), लिकुच (*Atrocarpus lakoocha* Roxb.), करमर्द (करौंदा *Carrisa corandal*), मातुलुंग (बिजौरा नींबू *Citrus aurantifolia* Swingle) और अम्लवेतस (*Gardenia pedunculata* Roxb.) । ये दस हृदय के लिए पथ्य हैं ।

(ग) तृप्तिघ्न, अर्शोघ्न, कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न तथा कृमिघ्न वर्ग

नागरचविकाचित्रकविडङ्गमूर्वाऽमृतावचामुस्ताः ।
सहपिप्पलीपटोलास्तृप्तिघ्नोऽयं गणः प्रथितः ॥ १६ ॥
कुटजफलबिल्वचित्रकमहौषधप्रतिविषावचाचविकाः ।
घन्वयवासं पथ्या दारुहरिद्रा गणोऽयमर्शोघ्नः ॥ १७ ॥
खदिरामलकारुष्करनिशाऽभयासप्तपर्णकरवीराः ।
कुष्ठघ्नाश्चतुरङ्गुलविडङ्गजातिप्रवालाश्च ॥ १८ ॥
नलदकृतमालचन्दनसर्षपघननिम्बकुटजमधुकानि ।
कण्डूं दारुहरिद्रा सनक्तमालानि निघ्नन्ति ॥ १९ ॥
अक्षीवमरिचकेम्बुकविडङ्गण्डीरकिणिहिनिर्गुण्ड्यः ।
घ्नन्ति कृमीन् श्वदंष्ट्राविषाखुपर्ण्यस्तथा न चिरात् ॥ २० ॥

(११) **तृप्तिघ्न महाकषाय**—नागर (सोंठ *Zinziber officinale* Rose), चविका (चव्य *Piper chaba* Hunter.), चित्रक (*Plumbago zeylanica*.Linn.), विडंग (*Embelia ribes* Burm. f.), मूर्वा (*Marsdenia roylei* Weight.), अमृता (गुडूची *Tinospora cordifolia Willd.*), वचा (*Acorus calamns* Linn.), मुस्ता (*Cyperus rotundus* Linn.), पिप्पली (*Piper longum* Linn.), पटोल (परवल *Trichosanthes cucumerina* Linn.) । यह गण तृप्तिघ्न अर्थात् अरुचिनाशक है ।

(१२) **अर्शोघ्न महाकषाय**—कुटज (*Holarrhena antidysenterica.*), बिल्व (*Aegle marmelos* Correa,), चित्रक (*Plumbago zeylanica* Linn.), महौषध (सोंठ *Zingiber officinale* Rose.), प्रतिविषा (अतीस *Aconitum palmatum* D. Don.), वचा

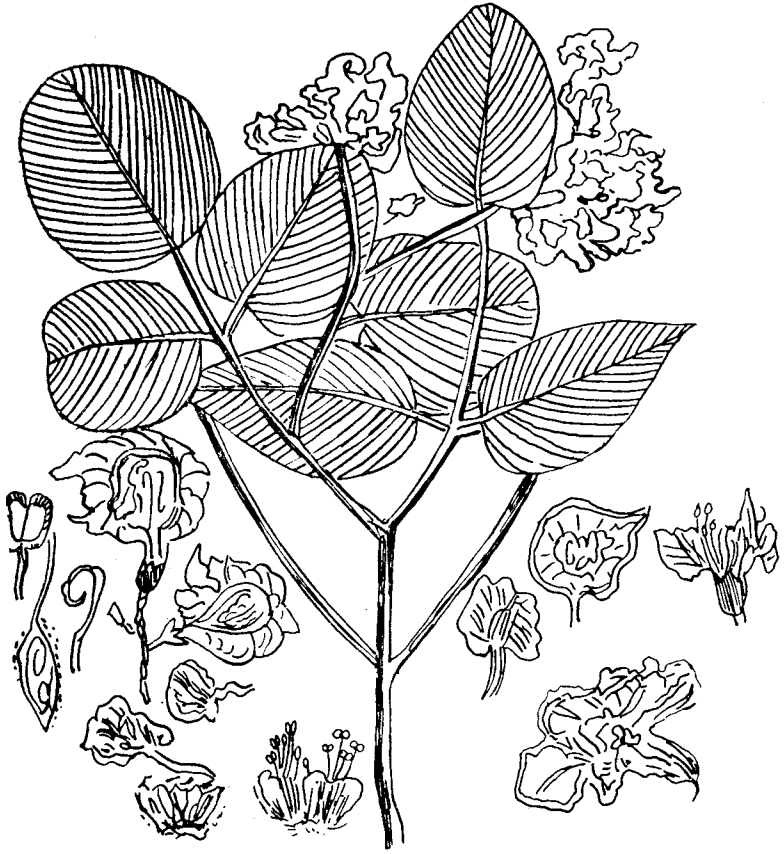

रक्त चन्दन

श्वेत चन्दन

(*Acorus calamus* Linn.), चविका (चव्य *Piper chaba* Hunter.), धन्वयवास (दुरालभा *Fangonia arabica* Linn.), पथ्या (हरड़ *Terminalia chebula* Retz.), दारुहरिद्रा (*Berberis aristata* DC.) । यह गण अर्शनाशक हैं ।

कुटज

(१३) **कुष्ठघ्न महाकषाय**—खदिर (खैर *Acacia catechu* Willd.), आमलक (आँवला *Emblica officinalis* Gaertn.), अरुष्कर (भिलावा *Semecarpus anacardium* Linn.), निशा (हल्दी *Curcuma longa* Linn.), अभया (हरड़ *Terminalia chebula* Retz.), सप्तपर्ण (*Alstoniar cholaris* R. Br.), करवीर (कनेर *Nerium indicum* Mill.), चतुरंगुल (अमलतास *Cassia fistula* Linn.), विडंग (*Embelia ribes* Burm. f.) जाती (चमेली *Jasminum officinale* Linn. Var.) । यह गण कुष्ठनाशक है ।

(१४) **कण्डूघ्न महाकषाय**—नलद (जटामांसी *Nardostachys jatamansi* DC.), कृतमाल (अमलतास *Cassia fistula* Linn.), चंदन (*Satalum album*), सर्षप (*Brassica campestrias*), घन (नागरमोथा *Cyperus rotundus* Linn.) निंब (*Azadirachta indica* A. Juss), कुटज (*Holarrhena antidysenterica* Linn.), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.), दारुहरिद्रा (*Berberis aristata* DC.) तथा नक्तमाल (करंज *Pongamia pinnata* Linn.) । यह गण कण्डूघ्न (कंडूनाशक) है ।

(१५) **कृमिघ्न महाकषाय**—अक्षीव (सहिजन *Moringa oleifera* Linn.), मरिच (*Piper nigrum* Linn.), केंबुक (*Costus speciosus* Smith.), विडंग (*Embelica ribes* Burm.f.), गण्डीर (कण्डीर *Ranunculus scleretus* Linn.), किणिहि (अपामार्ग *Achyranthes aspera* Linn.), निर्गुण्डी (*Vitex negundo* Linn.), श्वदंष्ट्रा (गोक्षरु *Tribulus terrestris* Linn.), अतिविषा (अतीस *Aconitum heterophyllum* Wall.), आखुपर्णी (*Merremia emarginata* Burm. f.) । ये दस द्रव्य कृमियों का नाश करते हैं ।

(घ) विषघ्न, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, शुक्रजनन तथा शुक्रशोधन वर्ग

मञ्जिष्ठाश्लेष्मातकरजनीसुवहाशिरीषपालिन्द्यः ।
सैलाचन्दनकतकाः ससिन्दुवारा विषं घ्नन्ति ॥ २१ ॥
शालिकुशकाशषष्टिकवीरणदर्भेक्षुबालिकेक्षूणाम् ।
तद्वद् गुन्द्रेत्कटयोर्मूलमलं स्तन्यजनन्नाय ॥ २२ ॥
पाठा नागरसुरतरुघनाऽमृतासारिवेन्द्रयवमूर्वाः ।
कटुकाकिराततिक्तं वर्गोऽयं स्तन्यशुद्धिकरः ॥ २३ ॥
मेदाकाकोलीद्वयवृक्षरुहाजीवकर्षभकुलिङ्गाः ।
शुक्रजननो गणोऽयं सहजटिलाशूर्पपर्णीभिः ॥ २४ ॥
कुष्ठैलवालुकट्फलकाण्डेक्षिक्ष्वब्धिफेनकोशीरैः ।
वसुकेक्षुरकैः शुक्रं शुद्धचेत्सकदम्बनिर्यासैः ॥ २५ ॥

(१६) **विषघ्न महाकषाय**—मञ्जिष्ठा (*Rubia cordifolia* Linn.), श्लेष्मातक (लिसोड़ा *Cordia dichotoma* Forst.), रजनी (हल्दी *Curcuma longa* Linn.), सुवहा (निशोथ *Operculina turpethum* Linn.), शिरीष (*Albizzia lebbeck* Benth.), पालिन्दी (काली निशोथ *Marsdenia tenacissima*), एला (इलायची *Elettaria cardamomum*), चन्दन (*Santalum album*), कतक (*Strychnus potatorum* Linn.) और निर्गुण्डी (*Vitex negundo* Linn.) । यह गण विष को नष्ट करता है ।

(१७) **स्तन्यजनन महाकषाय**—शालिधान्य (*Oryza sativa* var. ?), कुश (*Desmostachya bipinnata*), कास (*Saccharum spontanum* Linn.), साठी धान्य (*Oryza sativa* var. ?), वीरण (खस *Veteriveria zizanioides* Linn.), दर्भ (*Imperata cylendrica* Beauv.), इक्षुबालिका[1] (*Asteracantha longifolia* Nees), इक्षु (*Saccharum officinarum* Linn.), गुंद्रा (गुडूची *Tinospora cordifola* Willd.) और इत्कट (शरभेद *Saccharum* sp.) । इन सबके मूल स्तन्य (दूध) उत्पन्न करने वाले हैं ।

(१८) **स्तन्य-शुद्धिकर महाकषाय**—पाठा (*Cyclea peltata* Diels.), सोंठ (*Zingiber officinale* Rose.), देवदारु (*Cedrus deodara*), घना (मोथा *Cyperus rotundus* Linn.), अमृता (गुडूची *Tinospora cordifolia* Willd.), सारिवा (*Hemidesmus indicus* R. Br.), इन्द्रयव (*Holarrhena antidysenterica* Wall.), मूर्वा (*Marsdenia roylei* (Weight.), कटुकी (*Picrorrhiza kurrora*) तथा किरातितिक्तक (चिरायता *Swertia chirata* Buch-Ham.) । यह गण स्तन्य (दूध) को शुद्ध करता है ।

(१९) **शुक्रजनन महाकषाय**—मेदा (*Polygonatum verticillatum*), काकोली *Lilium polyphyllum* D. Don.), क्षीरकाकोली (?), वृक्षरुहा (वृन्दा *Dendrophthoe*

---

१. कासः कासेक्षुरुद्दिष्टः सस्यादिक्षुरकस्तथा । इक्ष्वालिकेक्षुगन्धा च तथा पोटगलः स्मृतः ॥ कासः.....। (भा० प्र० गुडुच्यादिवर्ग १६१-१६२)

कोकिलाक्षस्तु काकेक्षुरिक्षुरः क्षुरकः क्षुरः । भिक्षुः काण्डेक्षुरप्युक्त इक्षुगन्धेक्षुबालिका ॥
(भा० प्र० गुडूच्यादिवर्ग २२४)

falcata Linn. f). जीवक (*Microstylis mucifera* Red.) ऋषभक (*Microstylis wallichii* Lindl.), कुलिग (मुद्गपर्णी *Phaseolus trilobus* Ait.), जटिला (जटामांसी *Nardostachys jatamansi* DC.) एवं शूर्पपर्णी (मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी *Phaseolus trilobus Ait & Teramnus labeialis*) । ये दस शुक्रवर्धक हैं ।

(२०) **शुक्रशोधक महाकषाय**—कुष्ठ (*Saussurea lappa* C. B. Cl.), एलवालुक (*Prunus avium* Linn.), कट्फल (कायफल *Momordica cochinchinensis*), काण्डेक्षु (इक्षुभेद *Saccharum* sp.), इक्षु (*Saccharum officinarum*), समुद्रफेन, उशीर (खस *Veteriveria zizanioides* Linn.), वसुक (वसुहट्टक *Osmanthus fragrans* Lour.), इक्षुरक (*Asteracantha longifolia* Nees.) और कदम्ब (*Anthocephalus indicus* A. Rich.) का निर्यास (गोंद) । ये दस द्रव्य शुक्रशोधक होते हैं ।

(ङ) स्नेहोपग, स्वेदोपग, वमिनिग्रह, तृष्णानिग्रह तथा हिक्कानिग्रह वर्ग

द्राक्षाकाकोलीद्वयमधुपर्णीमधुकजीवकविदार्यः ।
स्नेहोपगाः समेदाजीवन्तीशालिपर्णिकाः ॥ २६ ॥
सौभाञ्जनकपुनर्नववृश्चीवकुलत्थमाषबदराणि ।
स्वेदोपगानि विद्यात्सयवतिलार्कोरुबूकानि ॥ २७ ॥
लाजाम्रबदरदाडिमयवषष्टिकमातुलुङ्गसेव्यानि ।
जम्ब्वाम्रपल्लवानि वमिनिग्रहणानि मृत्स्ना च ॥ २८ ॥
नागरधन्वयवासकवालकपर्पटकचन्दनगुडूच्यः ।
भूनिम्बघनपटोलीकुस्तुम्बर्यस्तृषं घ्नन्ति ॥ २९ ॥
बृहतीद्वयवृक्षरुहापुष्करमूलाभयाकणाशृङ्ग्यः ।
हिध्मां निघ्नन्ति शटी दुरालभा बदरबीजं च ॥ ३० ॥

(२१) **स्नेहोपग महाकषाय**—द्राक्षा (*Vitis vinifera* Linn.), काकोली (*Lilium polyphyllum* D. Don.), क्षीरकाकोली (?), मधुपर्णी (गुडूची *Tinospora cordifolia* Willd.), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.), जीवक (*Microstylis mucifera* Red.), विदारीकन्द (*Pueraria tuberosa* DC.), मेदा (*Polygonatum vertlicillatum*), जीवन्ती (*Leptadenia reticulata* W. &. A.) और शालपर्णी (*Desmodium gangeticum* DC.) । ये सब द्रव्य स्नेहन के लिए उपयोगी हैं ।

(२२) **स्वेदोपग महाकषाय**—शोभांजन (शिग्रु *Moringa oleifera* Linn.), पुनर्नवा (*Boerhaavia diffusa* Linn.), वृश्चीव (श्वेत पुनर्नवा *Boerhaavia verticillata* Poir.), कुल्थी (*Dolichos biflorus* Linn.), माष (उड़द *Phaseolus radiatus*), बदर (बेर *Zizyphus jujuba*), यव (*Hordeum vulgare*), तिल (*Sesamum indicum* Linn.), अर्क (*Calotropis procera* R. Br.) और उरुबक (एरण्ड *Ricinus communis* Linn.) । ये सभी स्वेदन में सहायक हैं ।

(२३) **वमिनिग्रह महाकषाय**—लाजा, आम (*Mangifera indica* Linn.), बदर (*Zizyphus jujuba*), दाडिम (*Punica granatum* Linn.), यव (जौ *Hordeum vulgare*), साठी धान्य (*Oryza sativa* var. ?), मातुलुंग (बिजौरा नीबू *Citrus aurantifolia* Swingle.);

कण्टकारी

बृहती

सेव्य (उशीर *Veteriveria zizanioides*), जामुन (*Syzygium cumuni* Linn.), आम्र-पल्लव (*Mangifera indica* Linn.) और मिट्टी । ये सब वमन को रोकने वाले द्रव्य हैं ।

(२४) **तृष्णानिग्रह महाकषाय**—नागर (सोंठ *Zingiber officinale* Rose.), धन्वयास (दुरालभा *Fangonia arabica* Linn.) बालक (ह्रीबेर ?), पर्पट (पित्तपापड़ा *Fumaria parviflora* Lam.), चंदन (*Pantalum album*), गुडूची (*Tinospora cordifolia* Willd.), भूनिम्ब (चिरायता *Swertia chirata* Buch-Ham.), घन (मुस्तक *Cyperus rotundus* Linn.), पटोल (परवल *Trichosanthes cucumerina* Linn.) और कुस्तुम्बरुक (धनिया *Coriandrum sativum*) । ये सभी तृषा को शान्त करते हैं ।

(२५) **हिक्कानिग्रहण महाकषाय**—बृहती-द्वय (छोटी एवं बड़ी कंटकारी *Solanum xathocarpum* & *Solanum indicum*). वृक्षरुहा (*Dendrophthoe falcata* Linn f.), पुष्करमूल (*Inula racemosa* Hook. f.), अभया (हरीतकी *Terminalia chebula* Retz.), कणा (पिप्पली *Piper longa*), शृंगी (काकड़ासिंगी *Pistacia integerrima*), शटी (कचूंरी *Hedychium spicatum* Ham.), दुरालभा (*Fangoni arabica* Linn.) और बदर बीज (*Zizyphus jujuba*) । ये सभी हिक्काशामक हैं ।

(च) विड्ग्रहण, विड्विरजन, मूत्रनिग्रहण, मूत्रविरजन तथा मूत्रविरेचन वर्ग

श्यामाऽनन्ता पद्मा कट्वङ्गः पद्मकेसरं लोध्रम् ।
धातकिकुसुमसमङ्गामोचरसाम्रास्थि विट्ग्रहणम् ॥ ३१ ॥
जम्बूसल्लकिमधुकं नीलोत्पलकच्छुरातिलश्यान्हम् ।
भृष्टा च मृत्पयस्या सशाल्मली विड्विरजनानि ॥ ३२ ॥
जम्ब्वाम्रोदुम्बरवटकपीतनप्लक्षपिप्पलाश्मन्तम् ।
भल्लातसोमवल्कं मूत्रग्रहणाय निर्दिष्टम् ॥ ३३ ॥
कमलनलिनकुमुदमधुकसौगन्धिकधातकीलताकुसुमम् ।
मूत्रं नयति विरागं सोत्पलशतपत्रपुण्डरीकं च ॥ ३४ ॥
वृक्षादनीश्वदंष्ट्रादर्भेत्कटवसुकवशिरकुशकाशाः ।
मूत्रं विरेचयेयुर्गुन्द्रा पाषाणभेदश्च ॥ ३५ ॥

(२६) **विड्ग्रहण महाकषाय**—श्यामा (काली सरिवा *Operculum turpethum* Linn.), अनंता (सरिवा *Hemidesmus indicus* R. Br.), पद्मक (*Prunus cerasoides* D. Don.), कट्वंग (श्योनाक *Oroxylum indicum* Vent.), पद्मकेसर (*Nelumbo nucifera*), लोध्र (*Symphlocos racemosa* Roxb.), धातकी पुष्प (*Woodfordia fruticosa* Kurz), समंगा (मंजिष्ठा *Rubia cordifolia* Linn.), मोचरस (शाल्मली *Salmalia malabarica*) तथा आम्रास्थि (आम की गुठली *Magnifera indica* Linn.) । ये दस द्रव्य पुरीष का निग्रह करते हैं (मल को रोकते हैं) ।

(२७) **विड्विरञ्जनीय महाकषाय**—जामुन (*Syzygium cumuni* Linn.), सल्लकी (*Boswellia serrata* Roxb.), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.), नीलोत्पल (*Nymphaea stellata* Willd.), कच्छुरा (केवाच *Mucuna prurita*), तिल (*Sesamum indi-*

cum Linn.), राल, भूनी मिट्टी, क्षीरविदारी, (*Pueraria tuberosa* DC.) और शाल्मली (*Salmalia malabarica*) । ये सभी द्रव्य पुरीष को रंगने वाले होते हैं ।

(२८) **मूत्रनिग्रहण महाकषाय**—जामुन (*Syzygium cumuni* Linn.), आम्र (*Mangifera indica* Linn.), उदुम्बर (*Ficus racemosa* Linn.), वट (*Ficus bengalensis*), कपीतन (शिरीष *Albizzia lebbeck* Benth.), प्लक्ष (पाकड़ *Ficus stiela* Roxb.), पीपल (*Ficus religiosa* DC.), अश्मन्तक (अम्लोट *Ficus rumphii* Blume.), भल्लातक (*Semecarpus anacardium*) तथा सोमवल्क (खदिर *Acacia catechu* Willd.) । ये द्रव्य मूत्र को रोकते हैं ।

(२९) **मूत्रविरंजनीय महाकषाय**—कमल (*Nelumbo nucifera* Gaertn.), नलिन (*Nelumbo nucifera* var.), कुमुद (*Nymphaea alba* Linn.), मधुक (महुआ *Madhuca latifolia*), सौगन्धिक (*Nymphaea* sp.), धातकी (*Woodfordia fruticosa* Kurz.),

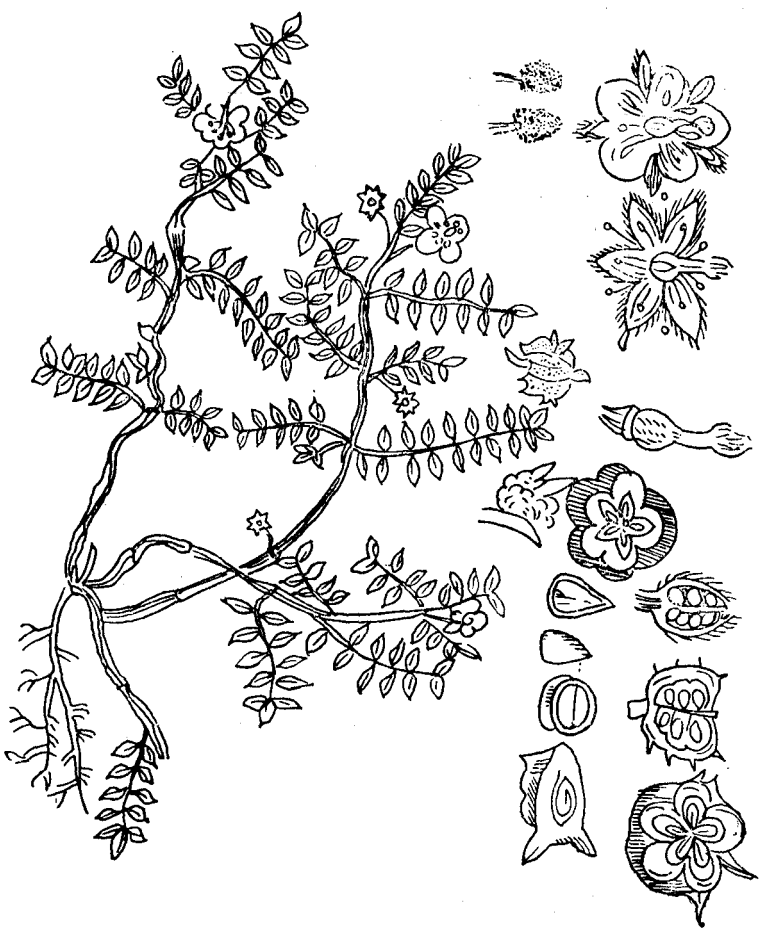

गोक्षुर

लता कुसुम (प्रियंगु पुष्प *Callicarpa macrophylla*), उत्पल (*Nymphaea stellata*), शतपत्र (*Nelumbo* sp.) एवं पुण्डरीक (*Nelumbo* sp.)—ये सभी द्रव्य मूत्र के वर्ण का विरंजन करते हैं।

(३०) **मूत्रविरेचनीय महाकषाय**—वृक्षादनी (*Dendrophthoe falcata* Linn.), श्वदंष्ट्रा (गोखरु *Tribulus terrestris* Linn.), दर्भ (*Imperata cylenderica* Beauv.), इत्कट (शरभेद *Saccharum* sp.), वसुक (*Osmanthus fragrans* Lour.), वशिर (अपामार्ग *Achyranthus aspera* Linn.), कुश (*Desmostachya bipinnata*), काश (*Saccharum spontanum* Linn.), गुन्द्रा (*Saccharum sara*) एवं पाषाणभेद (अश्म-भेद *Aerva lanata* Juss.)—ये दस द्रव्य मूत्रविरेचक हैं।

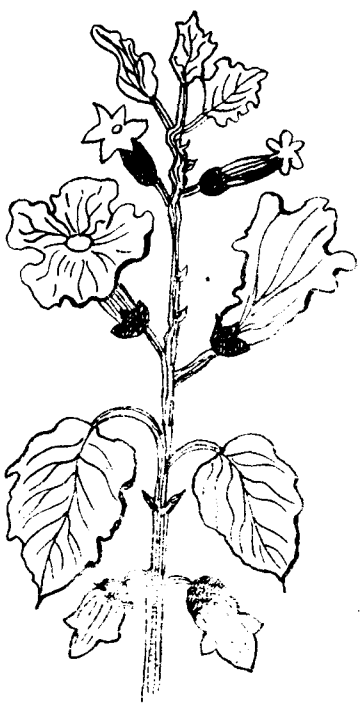

गोखुर बड़ा

(छ) **कासहर, श्वास-शमन, ज्वर-शमन, श्रम-शमन तथा दाहहर वर्ग**

द्राक्षाऽऽमलकपुनर्नववृश्चीवदुरालभाऽभयाकृष्णाः ।
कासं घ्नन्ति सशृङ्गी तामलकी कण्टकारी च ॥ ३६ ॥
चण्डाऽम्लवेतसशटीतामलकीसुरसहिङ्गुजीवन्त्य ।
पुष्करमूलैलाऽगुरु वर्गोऽयं श्वासशमनाय ॥ ३७ ॥
द्राक्षापीलुपरूषकमञ्जिष्ठासारिवाऽमृतापाठाः ।
त्रिफला चेति गणोऽयं ज्वरस्य शमनाय निर्दिष्टः ॥ ३८ ॥
दाडिमफल्गुपरूषकपियालयवषष्टिकेक्षुबदराणि ।
श्रमनाशनानि विद्याद् द्राक्षाखर्जूरसहितानि ॥ ३९ ॥

पद्मकलाजोशीरं मधुकोत्पलसारिवासितोदीच्यम् ।
काश्मर्यफलं चन्दनमेष गणो दाहहा प्रोक्तः ॥ ४० ॥

(३१) **कासहर महाकषाय**—द्राक्षा (*Vitis vinifera* Linn.), आमला (*Emblica officinalis* Gaertn.). पुनर्नवा (*Boerhaavia diffusa* Linn.), वृश्चीव (श्वेत पुनर्नवा *Boerhaavia verticillata*), दुरालभा (*Fangonia arabica* Linn.), हरीतकी (*Terminalia chebula*), पिप्पली (कृष्णा *Piper longam* Linn.), शृंगी (काकड़ासिंगी *Pistacia integerrima*), तामलकी (भूम्यामलक *Phyllanthus niruri* Linn.), कंटकारी (*Solanum xanthophyllum*)—ये सभी द्रव्य कासनाशक हैं ।

(३२) **श्वासशमन महाकषाय**—चंडा (चोरपुष्पी *Angelica arachangelica* Linn.), अम्लवेतस (*Gardenia pedunculata* Roxb.), शटी (कर्चूर *Hedychium spicatum* Ham.), तामलकी (भूम्यामलक *Phyllanthus niruri* Linn.), सुरसा (तुलसी *Ocimum sanctum*), हिंगु (*Ferula foetida* Regel.), जीवन्ती (*Leptadenia reticulala* W. & A.), पुष्कर-मूल (*Inula racemosa* Hook. f.), एला (इलाइची *Elettaria cardamomum*) और अगुरु (*Aquilaria agallocha* Roxb.)—ये सभी द्रव्य श्वासशामक हैं ।

(३३) **ज्वरहर महाकषाय**—द्राक्षा (*Vitis vinifera.*), पीलु (*Salvadora indica.*), परूषक (फालसा *Grewia asiatica* Linn.), मंजिष्ठा (*Rubia cordifolia* Linn.), सारिवा (*Hemidesmus indicus* R. Br.), गुडूची (*Tisnospora cordifolia* Willd.), पाठा (*Cyclea peltata* Diels.), त्रिफला (हरड़ *Terminalia chebula,* बहेड़ा *Terminalia belerica* Roxb. तथा आँवला *Emblica offcinalis* Gaertn.)—ये सभी ज्वरशामक हैं ।

(३४) **श्रमशमन महाकषाय**—दाडिम (अनार *Punica granatum* Linn.), फल्गु (गूलर या अंजीर *Ficus hispida* Linn. f.), परूषक (फालसा *Grewia asiatica* Linn.), प्रियाल (चिरौंजी *Buchnania lanzan* Spreng.), यव (*Hordeum vulgare*), षष्टिक (साठी चावल *Oryza sativa* var. ?), इक्षु (*Saccharum officinarum* Linn.), बदर

द्राक्षा

(बेर *Zizyphus jujuba*), द्राक्षा (*Vitis vinifera*) और खर्जूर (*Phoenix dactylifera* Linn.)—ये सभी द्रव्य श्रमनाशक हैं।

(३५) **दाहहर महाकषाय**—पद्मक (पद्मकाष्ठ *Prunus cerasoides* D. Don.), लाजा (भुने धान्य), उशीर (खस *Veteriveria zizanioides* Linn.), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn.), उत्पल (*Nymphaea stellata* Willd.), सारिवा (*Hemidesmus indicus* R. Br.), सिता (मिश्री), उदीच्य (सुगन्धबाला *Valeriana wallichii* DC.), काश्मर्य (गंभारी *Gmelina arborea* Linn.) और चंदन (*Santalum album*)—ये सभी द्रव्य दाहशामक हैं।

(ज) शीतशमन, उदर्दशमन, अंगमर्दशमन, शूलशमन तथा शोथशमन वर्ग

नतनागरागुरुवचाधान्यकभूतीकपिप्पलीव्याघ्र्यः ।
शीतं शमयन्त्यचिरात् स्योनाकः साग्निमन्थश्च ॥ ४१ ॥
तिन्दुकपियालबीजकसप्तच्छदखदिरकदरबदराणि ।
अरिमेदवाजिकर्णौ ककुभश्चोदर्दशमनानि ॥ ४२ ॥
काकोल्येलासेव्यं निदिग्धिके शालिपृश्निपर्ण्यौ च ।
ध्नन्त्यङ्गमर्दमचिराच्चन्दनमधुकोरुबूकं च ॥ ४३ ॥
दीप्यकमरिचाजाजीगण्डीरं साजगन्धमथ शूलम् ।
शमयति सपञ्चकोलं शोफं दशमूलमाढ्यं च ॥ ४४ ॥

(३६) **शीतशमन महाकषाय**—नत (तगर *Valeriana wallichii* DC.), नागर (सोंठ *Zingiber officinale* Rosc.), अगुरु (*Aquilaria agallocha* Roxb.), वचा (*Acorus calamus* Linn.), धान्यक (धनिया *Coriandrum sativum*), भूतीक (अजवायन *Apium graveolens* Linn.), पिप्पली (*Piper longum* Linn.), व्याघ्र (कंटकारी *Solanum xanthocarpum*), श्योनाक (*Oroxylum indicum*) और अग्निमंथ (अरणी *Clerodendrum phlomidis* Linn.)—ये सभी द्रव्य शीत को शान्त करते हैं।

(३७) **उदर्दशमन महाकषाय**—तिन्दुक (*Diospyros peregrina*), प्रियाल (चिरौंजी *Buchanina langan* Spreng.), बीजक (विजयसार *Pterocarpus marsupium* Roxb.), सप्तपर्ण (*Alstonia scholaris* R. Br.), खदिर (*Acacia catechu* Willd.), कदर (विट्-खदिर *Acacia farnisiana* Willd.), बदर (बेर *Zizyphus jujuba*), अरिमेद (*Acacia farmesiana* Willd.), वाजिकर्ण (शाल *Shorea robusta* Gaertn.) तथा अर्जुन वृक्ष (*Terminalia arjuna* W. & A.)—ये सभी द्रव्य उदर्दशामक हैं।

(३८) **अंगमर्दशमन महाकषाय**—काकोली (*Lilium polyphyllum* D. Don.), एला (इलायची *Elettaria cardamomum*); सेव्य (खस *Veteriveria zizanioides*), कंटकारी द्वय (छोटी एवं बड़ी कंटकारी *Solanum xanthocarpum & Solanum indicum*), शालपर्णी (*Desmodium gargeticum*), पृश्निपर्णी (*Uraria picta* Desv.), चन्दन (*Santalum album* Linn.), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.) तथा उरुबक (एरण्ड *Ricinus communis* Linn.)। ये द्रव्य अंगों की वेदना को शान्त करते हैं।

(३९) **शूलशमन महाकषाय**—दीप्यक (अजवायन *Apium graveolens* Linn.), मरिच (*Piper nigrum*), अजाजी (जीरा *Carum carvi* Linn.), गण्डीर (स्नुही *Euphorbia*

nerifolia Linn.), अजगन्धा (*Gynandropsis gynandra* Linn.) तथा पंचकोल (पिप्पली *Piper longum* Linn., पिप्पलीमूल Root of *Piper longum*, चव्य *Piper chaba* Hunter, चित्रक *Plumbago zeylanica* Linn. तथा सोंठ *Zingiber officinale* Rosc.)—ये सभी शूल का शमन करते हैं।

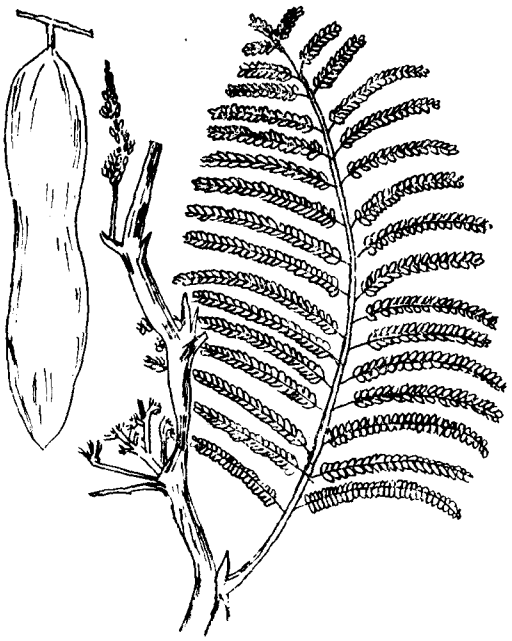

खदिर

(४०) **शोथशामक महाकषाय**—दशमूल—बिल्व (*Aegle marmelos* Correa), अग्निमंथ (अरणी *Clerodendrum phlomidis* Linn.), श्योनाक (*Oroxylum indicum*), पाटला (*Stereospermum suaveolens* DC.), काश्मर्य (गंभारी *Gmelina arborea* Linn.), शालपर्णी (*Desmodium gangeticum*), पृश्निपर्णी (*Uraria picta* Desv.), बृहती (*Solanum indicum*), कंटकारी (*Solanum xanthocarpum*) एवं गोखरु (*Tribulus terrestris* Linn.)—ये सभी द्रव्य शोथहर हैं।

(झ) रक्तस्थापन, वेदनास्थापन, संज्ञास्थापन, गर्भस्थापन तथा वयःस्थापन वर्ग

मधुमधुकलाजगैरिकफलिनीमोचरसमृत्कपालानि ।
संस्थापयन्ति रुधिरं रुधिरं च सशर्करं रोध्रम् ॥ ४५ ॥
शैलैलवालुकट्फलमोचरसाशोकपद्मकशिरीषम् ।
स्थापयति वेदनामथ सहतुङ्गकदम्बविदुलं च ॥ ४६ ॥
कैडर्यहिङ्गुचोरकपलङ्कषाऽशोकरोहिणिवयस्थाः ।
पूत्यरिमेदो जटिलागोलोमिवचाश्च संज्ञादाः ॥ ४७ ॥

ऐन्द्री दूर्वाऽमोघा विष्वक्सेनाऽव्यथा शिवाऽरिष्टा ।
ब्राह्मी सवाट्यपुष्पी शतवीर्या स्थापयेद् गर्भम् ॥ ४८ ॥
अमृता पथ्या धात्री जीवन्ती श्रेयसी स्थिरा युक्ता ।
मण्डूकपर्ण्यतिरसा स्थापयति पुनर्नवा च वयः ॥ ४९ ॥

(४१) **रक्तस्थापन महाकषाय**—मधु (शहद), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn.), लाजा (भुने धान्य), गैरिक, प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla* Vahl.), मोचरस (शाल्मली *Salmalia malabarica*), मिट्टी के कपाल का चूर्ण, केशर (रुधिर *Crocus sativus* Linn.), शक्कर (इक्षुशर्करा *Saccharum officinale*) और लोध्र (*Symphlocos racemosa* Roxb.)—ये द्रव्य रक्तस्राव को रोकते हैं ।

(४२) **वेदनास्थापन महाकषाय**—शैल (शाल-चरक *Shorea robusta* Gaertn.), एलवालुक (*Prunus avium* Linn.), कट्फल (कायफल *Momordica cochinchinensis*), मोचरस (शाल्मली *Salmalia malabarica*), अशोक (*Saraca indica* Linn.), पद्मक (पद्मकाष्ठ *Prunus cerasoides* D. Don.), शिरीष (*Albizzia lebeck* Benth.), तुंग (नारिकेल *Cocos nucifera* Linn.), कदम्ब (*Anthocephalus indicus* A. Rich.) और विदुल (जलवेतस *Salix tetraspermum* Roxb.)—ये सभी वेदनाशामक द्रव्य हैं ।

अशोक

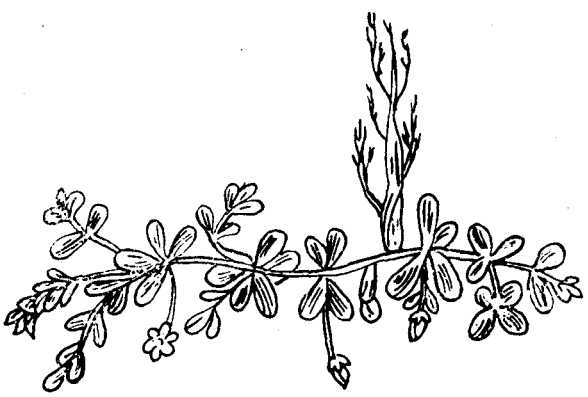

ब्राह्मी

(४३) **संज्ञास्थापन महाकषाय**—कैडर्य (बकायन *Murraya koenigii* Spreng.), हिंगु (*Ferula foetida* Regel.), चोरपुष्पी (*Angelica archangelica* Linn.), पलंकषा (गुग्गुल *Commiphora mukul* Engl.), अशोक (*Saraca indica* Linn.), रोहिणी (*Soyamide febrifuga* A. Jurs.), वयस्था (हरीतकी *Terminalia chebula* Retz.), अरिमेद (*Acacia farmesiana* Willd.), जटिला (जटामांसी *Nardostachys jatamansi* DC.), गोलामी (दूर्वा *Cynodon dactylon* Linn.), वचा (*Acorus calamus* Linn.) । ये सभी संज्ञास्थापक द्रव्य हैं ।

(४४) **गर्भस्थापन महाकषाय**—ऐन्द्री (बड़ी इलायची *Amomum subulatum* Roxb.), दूर्वा (*Cynodon dactylon* Linn.), अमोघा (पाटला *Stereospermum suaveolens* DC.), विष्वक्सेना (प्रियंगु *Callicarpa macrophylla*), अव्यथा (केला *Musa paradisiaca* Linn.), शिवा (आँवला *Emblica officinalis* Gaertn.), अरिष्टा (कटुरोहिणी *Picrorrhiza kurrora*), ब्राह्मी (*Centella asiatica* Linn.), वाट्यपुष्पी (अतिबला *Abuliton indicum* Linn. Swat.), शतवीर्या (शतावरी *Asparagus racemosus* Willd.) । ये सभी द्रव्य गर्भ स्थापित करते हैं ।

(४५) **वयःस्थापन महाकषाय**—अमृता (गिलोय *Tinospora cordifolia* Linn.), पथ्या (हरड़ *Terminalia chebula*), आँवला (*Emblica officinalis* Gaertn.), जीवन्ती (*Leptadenia reticulata* W. & A.), श्रेयसी (पाठा *Cyclea peltata* Diels.), स्थिरा (शालपर्णी *Desmodium gangeticum* DC.), युक्ता (रास्ना *Pluchea lanceolata*), मंडूकपर्णी (*Centella asiatica* Linn.), अतिरसा (शतावरी *Asparagus racemosus* Willd.) तथा पुनर्नवा (*Boerhaavia diffusa* Linn.) । ये दस वयःस्थापक (रसायन और वाजीकरण) होते हैं ।

पुनर्नवा

मण्डूकपर्णी

उपसंहार

इति नानाविधव्याधिविघातार्थमुदाहृताः ।
योगा रोगातुरवशात् कल्पयेत्तान् यथायथम् ॥ ५० ॥

इति महाकषायसङ्ग्रहो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार से नाना प्रकार के रोगों को शांत करने के लिए ये पैंतालिस योग उदाहरण रूप में कहे गये हैं। रोग और रोगी के अवस्थानुसार यथायोग्य कल्पना कर इनका प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार महाकषायसंग्रह नामक पञ्चदश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में महाकषायों के नवं वर्गों का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक वर्ग में पाँच-पाँच महाकषाय हैं तथा एक महाकषाय में दस-दस औषधियों का संगह है। चरकसंहिता-सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में पचास महाकषायों का वर्णन मिलता है। वहीं से ग्रन्थकार ने इसका संग्रह किया है। इसमें केवल भिन्नता यह है कि १. वमनोपग, २. विरेचनोपग, ३. आस्थापनोपग, ४. अनुवासनोपग तथा ५. शिरोविरोचनोपग—इन पाँच महाकषायों का उल्लेख वाग्भट ने नहीं किया है।

षोडशोऽध्यायः

अथातो विविधगणसङ्ग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'विविधगणसंग्रह अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

यहाँ पर सामान्य गणों का निर्देश किया जा रहा है। यह विषय सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान के अड़तीसवें अध्याय से लिया गया है।

(१) विदार्यादिगण

विदारिपञ्चाङ्गुलवृश्चिकाली वृश्चीवदेवाद्वयशूर्पपर्ण्यः[1]।
द्वे पञ्चमूले लघुजीवनाख्ये कण्डूकरी गोपसुता त्रिपादी ॥ ३ ॥
विदार्यादिरयं हृद्यो बृंहणो वातपित्तहा।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्ववंश्वाक्षकासहरो गणः ॥ ४ ॥

विदारीकंद (*Pueraria tuberosa* DC.), पंचांगुल (एरण्ड *Ricinus communis* Linn.) वृश्चिकाली (*Tragia involucrata* Linn.), वृश्चीव (पुनर्नवा *Boerhaavia verticillata* Poir.), देवाद्वय (सहदेवा *Veronia cinerea* Less. तथा विश्वदेवा *Sida spinosa* Linn.), शूर्पपणी (मुद्गपर्णी *Phaseolus trilabus* Ait.), माषपर्णी (*Teramnus labeialis*), द्विपंचमूल—१. लघु पञ्चमूल (शालपर्णी *Desmodium gangeticum* DC., पृश्निपर्णी *Uraria picta* Desv., बृहती *Solanum indicum*, कण्टकारी *Solanum xanthocarpum*, गोक्षुर *Tribulus terrestris* Linn.), २. जीवन पञ्चमूल (अभीरु *Asparagus racemosus* Willd., वीरा *Lilium polyphylum* D. Don., जीवन्ती *Leptadenia reticulata* W. & A., जीवक *Microstylis mucifera* Red., ऋषभक *Microstylis wallichii* Lindl.) कण्डूकरी (केंवाच *Mucuna prurita*), गोपसुता (सारिवा *Hemidesmus indicus* R. Br.), त्रिपादी (हंसपदी *Adiantum lunulatum* Burm. f.)। यह विदार्यादिगण हृद्य, बृंहण, वातपित्तनाशक है। शोष, गुल्म, अंगमर्द, ऊर्ध्वश्वास तथा कास को नष्ट करता है।

(२) सारिवादि गण

सारिवोशीरकाश्मर्यमधूकशिशिरद्वयम् ।
यष्टीपरूषकं हन्ति दाहपित्तास्रतृड्गदान्[2] ॥ ५ ॥

सारिवा (*Hemidesmus indicus* R. Br.), उशीर (खस *Veteriveria zizanioides* Linn.), काश्मर्य (गंभारी *Gmelina arborea* Linn.), मधूक (महुआ *Madhuca latifolia*), शिशिरद्वय (श्वेत एवं लाल चंदन *Santalum yasi & Santalum album*), यष्टी (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn.), परूषक (फालसा *Grewia asiatica* Linn.)। यह सारिवादिगण दाह, पित्तविकार, रक्तविकार तथा तृषा को नष्ट करता है।

---

१. 'देवाह्वय' इति पाठान्तरम्। २. 'ज्वरान्' इति पाठान्तरम्।

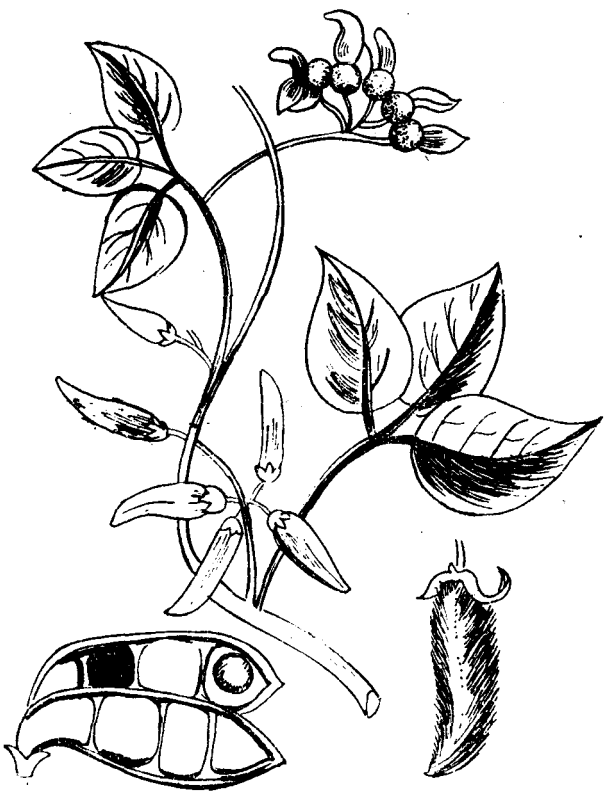

कपिकच्छु

(३) पद्मकादि गण

पद्मकपुण्ड्रौ वृद्धितुगर्द्धयः शृङ्ग्यमृता दश जीवनसंज्ञाः ।
स्तन्यकरा घ्नन्तीरणपित्तं प्रीणनबृंहणजीवनवृष्याः ॥ ६ ॥

पद्मक (पद्मकाष्ठ *Prunus cerasoides* D. Don.), पुण्ड्र[1] (पुण्डरीक *Nelumbo nucifera*), वृद्धि (*Habinaria intermedia* D. Don.), तुगाक्षीरी (*Curcuma angustifolia* Roxb.), ऋद्धि (*Habenaria* sp.), शृंगी (काकड़ासिंगी *Pistacia integerrima*), अमृता (गुडूची *Tinospora cordifolia* Willd.) तथा जीवनीय गण के दस द्रव्य । यह पद्मकादि गण स्तन्यवर्धक, ईरण (वात) पित्तशामक, तृप्तिकारक, जीवनदायक तथा वृष्य है ।

(४) परूषकादि गण

परूषकं वरा द्राक्षा कट्फलं कतकात्फलम् ।
राजाह्वं दाडिमं शाकं तृण्मूत्रामयवातजित् ॥ ७ ॥

परूषक (फालसा *Grewia asiatica* Linn.), वरा (त्रिफला—हरड़ *Terminalia*

१. तिलक (*Wendalandia exserta* DC.) कुछ लोगों ने माना है ।

chebula, बहेड़ा *Terminalia belerica* Roxb., आँवला (*Emblica officinalis* Gaertn.), द्राक्षा (*Vitis vinifera* Linn.), कट्फल (कायफल *Momordica cochinchinensis*), कतकफल (*Strychnus potatorum* Linn.), राजाह्व (खिरनी *Mimusops hexandra* Roxb.), दाडिम (अनार *Punica granatum* Linn.) तथा शाक (शाकफल *Tectona grandis* Linn. f.) । यह परूषकादि गण प्यास, मूत्ररोग और वातरोग को नष्ट करता है ।

(५) अंजनादि गण

अञ्जनं फलिनीमांसीपद्मोत्पलरसाञ्जनम् ।
सैलामधुकनागाह्वं विषान्तर्दाहपित्तनुत् ॥ ८ ॥

अंजन (स्रोतांजन), फलिनी (प्रियंगु *Callicarpa macrophylla* Vahl.), मांसी (जटामांसी *Nardostachys jatamansi*), पद्म (*Nelumbo nucifera*), उत्पल (*Nymphaea stellata* Willd.), रसांजन, एला (छोटी इलायची *Elettaria cardamomum*), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.), नागकेसर (*Mesua ferrea* Linn.) । यह अंजनादि गण विषविकार, अन्तर्दाह तथा पित्तविकार को शान्त करता है ।

(६) पटोलादि गण

पटोलकटुरोहिणीचन्दनं मधुस्रवगुडूचिपाठान्वितम् ।
निहन्ति कफपित्तकुष्ठज्वरान् विषं वमिमरोचकं कामलाम् ॥ ९ ॥

कुटकी

पटोल (*Trichosanthes cucumerina* Linn.), कुटकी (*Picrorrhiza kurroa*), चंदन (*Santalum album*), मधुस्रवा (मूर्वा *Marsdenia tenacissima*), गुडूची (*Tinospora cordifolia* Willd.), पाठा (*Cyclea peltata* Diels.) । यह गण कफविकार, पित्तविकार, कुष्ठ, ज्वर, विष-विकार, वमन, अरोचक तथा कामला को नष्ट करता है ।

(७) गुडूच्यादि गण

गुडूचीपद्मकारिष्टधान्यकारक्तचन्दनम् ।
पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहतृष्णाघ्नमग्निकृत् ॥ १० ॥

गुडूची (*Tinospora cordifolia* Willd.), पद्मकाष्ठ (*Prunus cerasoides* D. Don.), निम्ब (*Azadirachta indica* A. Juss.), धनिया (*Coriandrum sativum*), रक्तचंदन (*Santalum album*) । यह गण पित्तविकार, कफविकार, ज्वर, छर्दि, दाह एवं तृष्णा को नष्ट करता है तथा अग्नि को प्रदीप्त करता है ।

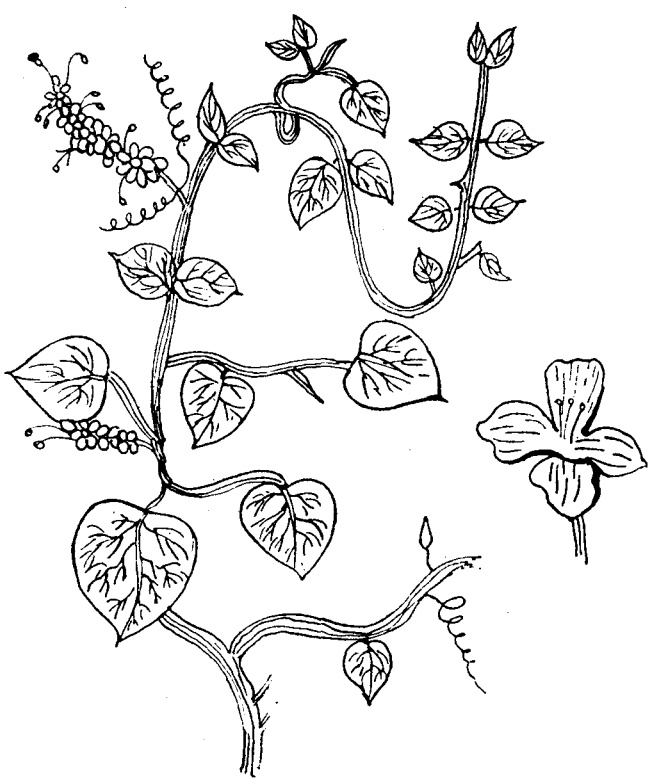

गुडूची

(८) आरग्वधादि गण

आरग्वधेन्द्रयवपाटलिकाकतिक्ता निम्बामृतामधुरसास्रुववृक्षपाठाः ।
भूनिम्बसैर्यकपटोलकरञ्जयुग्मसप्तच्छदाग्निसुषवीफलबाणघोण्टाः ॥ ११ ॥

आरग्वधादिर्जयति छर्दिकुष्ठविषज्वरान् ।
कफं कण्डूं प्रमेहं च दुष्टव्रणविशोधनः ॥ १२ ॥

आरग्वध (अमलतास *Cassia fistula* Linn.), इन्द्रयव (कुटज के बीज *Holarrhena antidysenterica* Wall.), पाटला (*Stereospermum suaveolens*), काकतिक्ता (मकोय *Solanum nigrum* Linn.), निम्ब (*Azadirachta indica*), गुडूची (*Tinospora cardifolia* Willd.), मधुरसा (मूर्वा *Marsdenia tentacissima*), स्रुववृक्ष (विकंकत *Flacourtia indica* Mers.), पाठा (*Cyclea peltata* Diels.), भूनिम्ब (*Swertia chirata* Buch. Ham.), सैर्यक (सहचर *Rhododendron lepidotum*), पटोल (परवल *Trichosanthes cucumerina* Linn.), करंज युग्म (करंज और लताकरंज *Pongamia pinnata* (Linn.) Merr. & *Caesalpinia crista* Linn.), सप्तच्छद (सप्तपर्ण *Alstonia scholaris* R. Br.), अग्नि (चित्रक *Plumbago zeylanica* Linn.), सुषवी (करेला *Momordica charantia*), फल (मदनफल *Randia dumetorum*), बाण (कटसरैया *Barleria prionitis* Linn.), घोण्टा (सुपारी *Zizyphus xylopyra* Linn.) । यह आरग्वधादि गण छर्दि, कुष्ठ, विषविकार, ज्वर, कफविकार एवं कण्डू को नष्ट करता है तथा दुष्टव्रण का शोधन करता है ।

(९) असनादि गण

असनतिनिशभूर्जश्वेतवाहप्रकीर्याः खदिरकदरभण्डीशिंशिपामेषशृङ्ग्यः ।
त्रिहिमतलपलाशा जोङ्गकः शाकशालौ धवक्रमुककलिङ्गच्छागकर्णाश्वकर्णाः ॥ १३ ॥
असनादिर्विजयते श्वित्रकुष्ठकफकृमीन् ।
पाण्डुरोगं प्रमेहं च मेदोदोषनिबर्हणः ॥ १४ ॥

असन (*Pterocarpus marsupiun* Roxb.), तिनिश (*Dugeinia dalbergioides*), भूर्ज (भोजपत्र *Butuala utilis* D. Don.), श्वेतवाह (अर्जुन *Terminalia arjuna* W. & A.), प्रकीर्य (पूतिकरंज *Caeselpinia bonducella* Flem.), खदिर (*Acacia catechu* Willd.), कदर (श्वेत खैर *Acacia farnisiana* Willd.), भंडी (शिरीष *Albizzia lebbeck* Benth.), शिंशपा (शीशम *Dalbergia sisso* Roxb.), मेषशृङ्गी (*Gmnema sylvestre* R. Br.), त्रिहिम (चंदनत्रय–श्वेत, रक्त एवं पीत *Santalum yasi, Santalum album & Pterocarpus santalinus*), तल (ताड़ *Borasus flabellifer* Linn.), पलाश (*Butea monosperma* Linn.), जोंगक (अगुरु *Aquilaria agallocha* Roxb.), शाक (*Tectona grandis* Linn.), शाल (शाल *Shorea robusta* Gaertn.), धव (*Anogeissus latifolia* Wall.), क्रमुक (सुपारी *Areca catechu* Linn.), कलिंग (इन्द्रयव *Holarrhena antidysenterica*), छागकर्ण (?), अश्वकर्ण (शाल *Shorea robusta* Gaertn.) । यह असनादि गण श्वित्र, कुष्ठ, कफविकार, कृमिरोग, पाण्डुरोग, प्रमेह एवं मेदोदोष को शांत करता है ।

(१०) वरुणादि गण

वरणसैर्यकयुग्मशतावरी दहनमोरटबिल्वविषाणिकाः ।
द्विबृहती द्विकरञ्जजयाद्वयं बहलपल्लवदर्भरुजाकराः ॥ १५ ॥
वरणादिः कफं मेदो मन्दाग्नित्वं नियच्छति ।
आढ्यवातं शिरःशूलं गुल्मं चान्तः सविद्रधिम् ॥ १६ ॥

वरण (वरुण *Crataeva nurala* Buch-Ham.), सैर्यक युग्म (लाल फूल की कुरणक एवं पीले फूल की कुरणक *Rhododendrum lepidolum*), शतावरी (*Asparagus racemosus* Willd.), दहन (चित्रक *Plumbago zeylanica* Linn.), मोरट (मूर्वा *Marsdenia roylei* Weight.), बिल्व (*Aegle marmelos* Correa), विषाणिका (मेषशृंगी *Gmnema sylvestre* R. Br.), बृहतीद्वय (छोटी एवं बड़ी कंटकारी *Solannm xanthocarpum & Solanum indicum*), करंजद्वय (पूतिकरंज एवं लताकरंज *Caeselpinia bonducella* Flem. & *Pongamia pinnata* Linn.), जयाद्वय (तर्कारी एवं हरीतकी *Premna integrifolia* Linn. & *Terminalia chebula*), वह्लपल्लव (शिग्रु *Moringa oleifera* Linn.), दर्भ (*Imperata cylendrica*), रुजाकर (हिन्ताल *Pnoenix paludosa* Roxb.) । यह वरुणादि गण कफ, मेददोष, मन्दाग्नि, आढ्यवात, शिरःशूल, गुल्मरोग तथा अन्तःविद्रधि को नष्ट करता है ।

(११) ऊषकादि गण

ऊषकस्तुत्थकं हिङ्गु कासीसद्वयसैन्धवम् ।
सशिलाजतु कृच्छ्राश्मगुल्ममेदःकफापहम् ॥ १७ ॥

ऊषक (क्षारमृत्तिका), तुत्थ, हिंगु (*Ferula foetida* Regel.), कासीसद्वय (पांशु कासीस एवं पुष्पकासीस), सैंधव, शिलाजतु । यह ऊषकादि गण मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, गुल्मरोग, मेदोरोग और कफरोग को नष्ट करता है ।

(१२) वीरतरादि गण

वीरतरोऽरणिको नलगुण्ठौ मोरटटुण्टुकसैर्यकयुग्मम् ।
मुस्तकमञ्जरिकर्कशपार्था मूत्रविरेककरो दशकश्च ॥ १८ ॥
वर्गो वीरतराद्योऽयं हन्ति वातकृतान् गदान् ।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजाहरः ॥ १९ ॥

वीरतर (खस *Vetiveria zizaniodes* Linn.), अरणी (*Clerodendrum phlomidis* Linn.), नल (नरसर *Phargmites Karka*), गुण्ठ (वृन्ततृण *Typha elephantina* Roxb.), मोरट (क्षीरमोरट), टुण्टुक (श्योनाक *Oroxylum indicum* Vent.), सैरेयक युग्म (पीला एवं लाल सैरेयक *Andrographis perionitis* Linn. & *Andrographis cristata* Linn.), मुस्तक (मोथा *Cyperus rotandus* Linn.), मंजरी (तुलसी *Ocimum sanctum*), कर्कश (पटोल *Trichosanthes dioica* Roxb.), पार्था (अर्जुन *Terminalia arjnna* W. & A.) एवं मूत्रविरेचनीय वर्ग के दस द्रव्य । यह वीरतरादि गण वातजनित रोग, अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्राघात रोगों को नष्ट करता है ।

(१३) रोध्रादि गण

रोध्रशाबरकरोध्रपलाशा जिङ्गिणीसरलकट्फलयुक्ताः ।
कुत्सिताम्बकदलीगतशोकाः सैलवालुपरिपेलवमोचाः ॥ २० ॥
एष रोध्रादिको नाम मेदःकफहरो गणः ।
योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः ॥ २१ ॥

रोध्र (लोध्र *Symphlocos racemosa* Roxb.), शाबरक रोध्र (?), पलाश (*Butea monosperma* Lam.), जिगिणी (*Odina wodier*), साल (चीड़ *Shorea*

robusta Gaertn.), कट्फल (*Momordica cochinchinensis*), युक्ता (रास्ना *Pluchea lanceolata*), कुत्सितांब (कदम्ब *Anthocephallus indicus*), कदली (केला *Musa paradisiaca* Linn.), गतशोक (अशोक *Saraco indica* Linn.), एलबालुक (*Prunus avium*), परिपेलव (मुस्तक *Cyperus ratandus* Linn.) और मोच (शिग्रु *Moringa oleifera*) । यह रोध्रादि गण मेदहर, कफहर, योनिदोषहर, स्तम्भक, वर्ण्य (कान्तिकारक) तथा विषनाशक है ।

(१४) अर्कादिगण

अर्कालर्कौ नागदन्ती विशल्या भार्ङ्गी रास्ना वृश्चिकाली प्रकीर्या ।
प्रत्यक्पुष्पी पीततैलोदकीर्या श्वेतायुग्मं तापसानां च वृक्षः ।। २२ ।।
अयमर्कादिको वर्गः कफमेदोविषापहः ।
कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधनः ।। २३ ।।

अर्क (मदार *Calotropis procera*), अलर्क (श्वेत अर्क *Calotropis gigantea* Linn.), नागदंती (*Euphorbia* sp.), विशल्या (लांगली *Gloriosa superba* Linn.), भार्ङ्गी (*Clerodendrum serratum* Linn.), रास्ना (*Pluchea lanceolata*), वृश्चिकाली (*Tragia involucrata* Linn.), करंज (*Pongamia pinnata*), प्रत्यक्पुष्पी (अपामार्ग *Achyranthus aspera* Linn.), पीततैला (काकादनी *Cardiosperm halicabum*), उदकीर्या (पूतिकरंज *Caeselpinia bonducella*), श्वेतायुग्म (किणिही एवं कटभी *Achyranthus aspera* & ?) और तापसवृक्ष (इंगुदी *Borasus flabellifer* Linn.) । यह अर्कादि गण कफ-विकार, मेदोदोष, विषविकार, कृमिरोग एवं कुष्ठरोग को नष्ट करता है तथा विशेषकर व्रणशोधक भी है ।

(१५) सुरसादि गण

सुरसयुगफणिज्जं कालमाला विडङ्गं खरबुकवृषकर्णीकट्फलं कासमर्दः ।
क्षवकसरसिभार्ङ्गीकार्मुकाः काकमाची कुलहलविषमुष्टी भूस्तृणो भूतकेशी ।। २४ ।।
सुरसादिर्गणः श्लेष्ममेदःकृमिनिषूदनः ।
प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः ।। २५ ।।

सुरस युग्म (श्वेत एवं काली तुलसी *Ocimum sanctum* & *Ocimum basilicum*), फणिज्ज (मरुआ *Majroana hortensis moench.*), कालमाला (पुदीना *Mentha piperita*), विडंग (*Embelia ribes* Burm. f.), खरबुक (तुलसी भेद *Ocimum gratissimum* Linn.), वृषकर्णी (आखुपर्णी *Merremia emarginata* Burm. f.), कट्फल (*Momordica cochin-chinensis*), कासमर्द (*Cassia occidentalis* Linn.) क्षवक (*Centipeda minima*), सरसि (कपित्थपत्र *Feronia limonia* Linn.), भार्ङ्गी (*Clerodendrum serratum* Linn.), कार्मुका (अतिमुक्ता *Hiptage madoblata*), काकमाची (मकोय *Solanum nigrum*), कुलहल (गोरखमुण्डी *Sphaeranthus indicum* Linn.), विषमुष्टि (कुचिला *Strychnos nuxvomica* Linn.), भूस्तृण (ध्यामाक *Cymbopogon* sp.) एवं भूतकेशी (*Selinium vaginatum* Clarke) । यह सुरसादि गण श्लेष्मविकार, मदोदोष, कृमिरोग, प्रतिश्याय, अरुचि, श्वास-कासनाशक तथा व्रणशोधक है ।

(१६) मुष्ककादि गण

मुष्ककस्नुग्वराद्वीपिपलाशधवर्शिशिपाः ।
गुल्ममेहाश्मरीपाण्डुमेदोऽर्शःकफशुक्रजित् ॥ २६ ॥

मुष्कक (मोक्षक *Schrebra swietenloles* Roxb.), स्नुक् (स्नुही *Euphorbia nerifolia* Linn.), वरा (त्रिफला), द्वीपिका (चित्रक *Plumbago zeylanica* Linn.), पलाश (*Butea monosperma* Lam.), धव (*Anogeissus latifolia* Wall.) और शिंशपा (शीशम *Dalbergia sisso* Roxb.) । यह मुष्ककादि गण गुल्मरोग, प्रमेह, अश्मरी, पाण्डुरोग, मेदोदोष, अर्श, कफविकार एवं शुक्लरोग (नेत्ररोग विशेष) नाशक है ।

(१७) वत्सकादि गण

वत्सको मधुरसा त्रुटिर्वचा दीर्घवृन्तफलवेल्लसर्षपाः ।
रोहिणी स्थपनिहिङ्गुभार्ङ्ग्यः शूलघाति दशकं घुणप्रिया ॥ २७ ॥
वत्सकाद्योऽनिलश्लेष्ममेदोऽरोचकपीनसान् ।
शूलार्शोज्वरगुल्मांश्च हन्ति दीपनपाचनः ॥ २८ ॥

वत्सक (कुटज *Holarrhena antidysenterica* Wall.), मधुरसा (मूर्वा *Marsdenia roylei* Weight.), त्रुटि (छोटी इलायची *Elettaria cordamomum*), वच (*Acorus calamus* Linn.), दीर्घवृन्त फल (श्योनाक *Oroxylem indicum* Vent.), वेल्ल (मरिच *Piper nigrum*), सर्षप (सरसों *Brassica compestris*), रोहिणी (कटुकी *Picrorrhiza Kurrora*), स्थपनी (पाठा *Cissampelos pareira* Linn.), हिंगु (*Ferula foetida* Regal.), भार्ङ्गी (*Clerodendrum serratum* Linn.) और घुणप्रिया (अतिविषा *Aconitum heterophyllum* Wall) । यह वत्सकादि गण वायुविकार, कफविकार, मेदोदोष, अरोचक, पीनस, शूल, अर्शरोग, ज्वर एवं गुल्मरोग को नष्ट करता है और दीपन तथा पाचन है ।

(१८-१९) वचादि एवं हरिद्रादि गण

वचाजलददेवाह्वनागरातिविषाऽमयाः ।
हरिद्राद्वयषष्ट्याह्वकलशीकुटजोद्भवाः ॥ २९ ॥
वचाहरिद्रादिगणावामातीसारपाचनौ ।
मेदःकफाढ्यपवनस्तन्यदोषनिबर्हणौ ॥ ३० ॥

वचादि गण—(*Acorus calamus* Linn.), जलद (मोथा *Cyperus rotundus* Linn.), देवाह्व (देवदारु *Cedrus deodara*), नागर (सोंठ *Zingiber officinale*), अतिविषा (*Aconitum heterophyllum*) और हरड़ (*Terminalia chebula*) ।

हरिद्रादि गण—हरिद्राद्वय (हरिद्रा एवं दारुहरिद्रा *Curcuma longa* Linn. & *Berberis aristaia* DC.), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.), कलशी (पृश्निपर्णी *Uraria picta* Desv.) और कुटज का बीज (इन्द्रयव *Holarrhena antidysenterica*) ।

ये दोनों गण आमातिसार, मेदोदोष, कफविकार, ऊरुस्तम्भ तथा दुग्धदोष को नष्ट करता है ।

दारुहरिद्रा

(२०-२१) **प्रियंग्वादि तथा अम्बष्ठादि गण**

प्रियङ्गुपुष्पाञ्जनयुग्मपद्माः पद्माद्रजो योजनवल्यनन्ता ।
मानद्रुमो मोचरसः समङ्गा पुन्नागशीतं मदनीयहेतुः ॥ ३१ ॥
अम्बष्ठा मधुकं नमस्करी नन्दीवृक्षपलाशकच्छुराः ।
रोध्रं धातुकिबिल्वपेशिके कट्वङ्गः कमलोद्भवं रजः ॥ ३२ ॥
गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ ।
सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानामपि रोपणौ ॥ ३३ ॥

प्रियंग्वादि गण—प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla*), पुष्पाञ्जनयुग्म (स्रोतांजन एवं रसांजन), पद्मा (भार्ङ्गी *Clerodendrum serratum* Linn.), पद्मकेशर (*Nelumbo nucifera*), योजनवल्ली (मंजिष्ठा *Rubia cordifolia* Linn.), अनन्ता (*Hamidesmus indicus* R. Br.), मानद्रुम (शाल्मली *Salmalia malabarica*), मोचरस (*Salmalia* sp.), समंगा (मंजिष्ठा *Rubia cordifolia* या लज्जावती *Mimosa pudica* Linn.), पुन्नाग (*Calophyllum inophyllum* Linn.), शीत (चंदन *Santalum album*) और मदनीय (धातकी *Woodfordia fruticosa* Kurz.) ।

अम्बष्ठादि गण—अम्बष्ठा (पाठा *Cyclea peltata*), मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.), नमस्करी (लज्जावन्ती *Mimosa padica* Linn.), नंदीवृक्ष (गंभारी *Gmelina arborea* Linn.), पलाश (*Butea monosperma* Lam.), कच्छुरा (कपिकच्छु *Mucuna prurita*), रोध्र (*Symphlocos racemosa* Roxb.), धातकी (*Woodfordia fruticosa* Kurz.), बिल्वमज्जा (*Aegle marmelos* Correa.), कट्वंग (श्योनाक *Oroxylum indicum* vent.) एवं कमलकेसर (*Nelumbo nucifera*) ।

ये प्रियंग्वादि एवं अम्बष्ठादि गण पक्वातिसारनाशक, सन्धानीय (अस्थि को जोड़ने वाले या किण्वीकरण करने वाले), पित्तविकार में हितकर तथा व्रणरोपक हैं ।

(२२) मुस्तादि गण

मुस्तावचाग्निद्विनिशाद्वितिक्ता भल्लातपाठात्रिफलाविषाख्याः ।
कुष्ठं त्रुटी हैमवती च योनिस्तन्यामयघ्ना मलपाचनाश्च ॥ ३४ ॥

मोथा (*Cyperus rotundus* Linn.), वच (*Acorus calarous* Linn.), अग्नि (चित्रक *Plumbago zeylanica* Linn.), द्विनिशा (हरिद्रा एवं दारुहरिद्रा *Curcuma longa* Linn. & *Berberis aristata* DC.), द्वितिक्ता (कटुकी एवं काकतिक्ता *Picrorrhiza Kurrora* & *Solanum nigrum*), भल्लातक (*Semecarpus anacardium*), पाठा (*Cyclea peltata*), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा एवं आँवला), विषाख्या (अतिविषा *Aconitum heterophyllum*), कुष्ठ (*Saussuria lappa*), त्रुटि (इलायची *Elettaria cardamomum*), हैमवती (श्वेत वच *Paris polyphylla* Sm.) । ये सभी औषधियाँ योनिरोग एवं स्तन्यविकार को दूर करने वाली तथा मल का पाचन करने वाली होती हैं ।

(२३) न्यग्रोधादि गण

न्यग्रोधपिप्पलसदाफलरोध्रयुग्मजम्बूद्वयार्जुनकपीतनसोमवल्काः ।
प्लक्षाम्रवञ्जुलपियालपलाशनन्दी कोलीकदम्बविरलामधुकं मधूकम् ॥ ३५ ॥

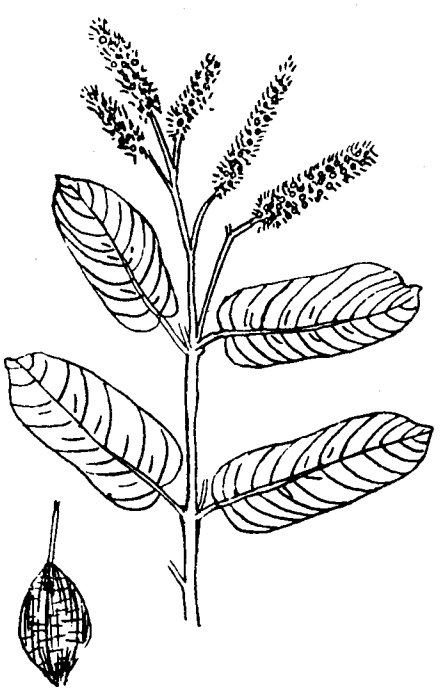

अर्जुन

न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः सङ्ग्राही भग्नसाधनः ।
मेदःपित्तास्रतृड्दाहयोनिरोगनिबर्हणः ॥ ३६ ॥

न्यग्रोध (वट *Ficus bengalensis*), पीपल (*Ficus religiosa* DC.), सदाफल (गूलर *Ficus recemosa* Linn.), लोध्र (*Symphlocos racemosa* Roxb.), पठानी लोध (?), जम्बूद्वय (जामुन एवं कठ जामुन *Syzygium cumuni* Linn. & ?), अर्जुन (*Terminalia arjuna*), कपीतन (*Alizzia lebbeck* Benth.), सोमवल्क (खदिर *Acacia catechu* Willd.), प्लक्ष (पाकड़ *Ficus tsiela* Roxb.), आम (*Mangifera indica*), वंजुल (वेंत *Salix caprea* Linn.), प्रियाल (चिरौंजी *Buchanania lanzan* Spreng.), पलाश (*Butea monosperma*), नन्दीवृक्ष (गंभारी *Gmelina arborea*), कोली (बदर *Zizyphus jujuba*), कदम्ब (*Anthocephalus indicus*), विरला (तिन्दुकी *Diospyros peregrina* Gurke.), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra*) और मधूक (महुआ *Madhuca latifolia*) । यह न्यग्रोधादि गण व्रण्य (व्रण के लिए हितकारी), संग्राही, भग्न (टूटी अस्थि) को जोड़ने वाला, मेदोरोग, पित्तविकार, रक्तविकार, प्यास, दाह तथा योनिरोग को नष्ट करता है ।

(२४) एलादि गण

एलायुग्मतुरुष्ककुष्ठफलिनीमांसीजलध्यामक-
[1]स्पृक्काचोरकचोचपत्रतगरस्थौणेयजातीरसाः ।
शुक्तिर्व्याघ्रनखोऽमरा[2]ह्वमगुरुः श्रीवासकः कुकुङ्कुमं
चण्डागुग्गुलुदेवधूपखपुराः पुन्नागनागाह्वयौ ॥ ३७ ॥
एलादिको वातकफौ विषं च विनियच्छति ।
वर्णप्रसादनः कण्डूपिटिकाकोठनाशनः ॥ ३८ ॥

एलायुग्म (छोटी इलायची एवं बड़ी इलायची *Elettaria cardamomum* & *Amomum subulatum* Roxb.), तुरुष्क (लोबान *Styrax benzsoin* Dryand.), कुष्ठ (*Saussurea lappa* C. B. Cl.), फलिनी (प्रियंगु *Callicarpa macrophylla* Vahl.), मांसी (जटामांसी *Nardostachys jatamansi*), जल (ह्रीबेर ?), ध्यामक (*Cymbopogon citratus* DC.), स्पृक्का (?), चोरक (ग्रंथिपर्णी *Angelica glauca* Edgw.), चोंच (त्वक्–दालचीनी *Cinnamomum zeylanicum* Blume.), पत्र (तेजपत्र *Cinnamomum tamala*), तगर *Valeriana wallichii* DC.), स्थौणेय (*Taxus buccata* Linn.), जातीरस (बोल *Commiphora myrrha* (Nees., Engl.), शुक्ति (सीप), व्याघ्रनख (*Capparis horrida* Linn. f.), अमराह्व (देवदारु *Cedrus deodara*), अगुरु (*Aquillaria agallocha*), श्रीवासक (चीड़ *Pinus roxburghii*), कुंकुम (केसर *Crocus sativus* Linn.), चंडा (*Angelica archangelica* Linn.), गुग्गुलु (*Commiphora mukul* Engl.), देवधूप (सर्जरस *Vateria indica* Linn.), खपुर (कुंदरु *Boswellia serrata* Roxb.), पुन्नाग (रक्तकेसर *Calophyllum inophyllum* Linn.) और नागाह्व (नागकेसर *Mesua ferrea* Linn.) । यह

---

१. स्पृक्काऽसृक् ब्राह्मणी देवी मरुन्माला लता लघुः ।
समुद्रान्ता वधूः कोटिवर्षा लङ्कोपिकेत्यपि ॥ (भा० प्र० कर्पूरादिवर्ग १२५)

२. 'सुराह्व' इति पाठान्तरम् ।

एलादि गण वात, कफ एवं विषविकारों को नष्ट करता है। वर्णप्रसाद, कंडू, पिण्डिका एवं कोठ (शीतपित्त) को नष्ट करता है।

छोटी एला

बृहदेला

(२५) श्यामादि वर्ग

श्यामादन्तीद्रवन्तीक्रमुककुठरणा शङ्खिनीचर्मसाह्वा
स्वर्णक्षीरीगवाक्षीशिखरिरजनकच्छिन्नरोहाकरञ्जाः।
वस्तान्त्री व्याधिघातो बहलबहुरसस्तीक्ष्णवृक्षात्फलानि
श्यामाद्यो हन्ति कुष्ठं विषमरुचिकफौ हृद्रुजं मूत्रकृच्छ्रम् ॥ ३९ ॥

श्यामा (त्रिवृत् *Operculum turpethum* Linn.), दन्ती (*Baliospermum montanum*), द्रवन्ती (*Jatropha curcas* Linn.), क्रमुक (सुपारी *Areca catechu* Linn.), कुठरण (श्वेत निसोत ?), शंखिनी (*Cansora decussata*), चर्मसाह्वा (सतला *Euphorbia dracunculoides*), स्वर्णक्षीरी (*Euphorbia thomnosiana*), गवाक्षी (इन्द्रायण *Citrullus calocynthis* Schrad.), शिखरी (अपामार्ग *Achyranthas aspera*), रजनक (कबीला *Mallotus phillipinensis* Muell. Arg.), छिन्नरुहा (गुडूची *Tinospora cordifolia* Willd.), करंज (*Pongmia pinnata*), वस्तान्त्री (वृद्धादारुक *Ipomoea petaloidea* choisy.), व्याधिघाता (अमलतास *Cassia fistula* Linn.), बहल (शिग्रु *Moringa oleifera* Linn.), बहुरस (इक्षु *Saccharum officinale*) और तीक्ष्ण वृक्ष (पीलु *Salvadora indica*)। यह श्यामादि गण कुष्ठरोग, विषरोग, अरुचि, कफरोग, हृदयशूल तथा मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है।

(२६) पिप्पल्यादि गण

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गबेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाऽजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफल्गुहिङ्गुभार्ङ्गीवचामुस्तामधुरसाऽतिविषाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति ॥ ४० ॥

पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः।
निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः ॥ ४१ ॥

पिप्पली (*Piper longum* Linn), पिप्पलीमूल (Root of *Piper longum*), चव्य (*Piper chaba* Hunter.), चित्रक (*Plumbago zeylanica* Linn.), शृंगबेर (आर्द्रक (*Zingiber officinale*), मरिच (*Piper nigrum*), हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली *Scindapsus officinalis* Schott.), हरेणु (*Vitex negundo*), एला (*Elettaria cardamomum*), अजमोद (*Apium graveolensh*), इन्द्रयव (कुटज के बीज *Holarrhena antidysterica*), पाठा (*Cyclea peltata* Diels), जीरक (*Cuminum cyminum* Linn.), सर्षप (*Brassica campestris*), महानिम्ब (*Melia azadarch* Linn.), फल्गु (अंजीर *Ficus hispida* Linn. f.), भार्ङ्गी (*Clerodendrum serratum*), वचा (*Acorus calamus*), मुस्तक (*Cyperus rotundns* Linn.), मधुरसा (मूर्वा *Marsdenia tentacissima*), अतीस (*Aconitum calamus*), विडंग (*Embelia ribes*) और कटुरोहिणी (कटुकी *Picrorrhiza Kurrora*)। यह पिप्पल्यादि गण कफ, प्रतिश्याय, वातविकार एवं अरुचि को नष्ट करता है। यह अग्निदीपक, गुल्मनाशक, उदरशूलनाशक तथा आमपाचक है।

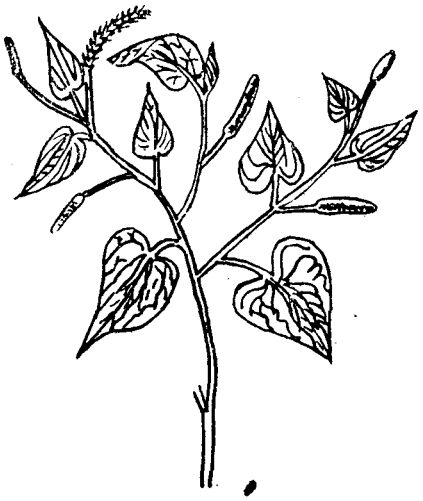

पिप्पली

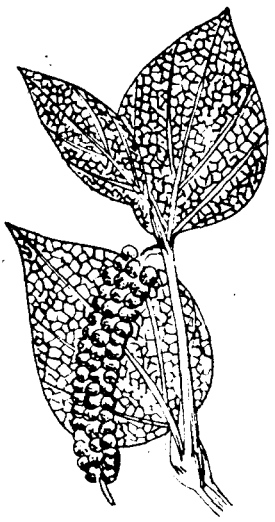

मरिच

अतिविषा

उपसंहार

पञ्चविंशतिरित्युक्ता वर्गास्तेषु त्वलाभतः ।
युञ्ज्यात् तद्विधमन्यच्च द्रव्यं जह्यादयौगिकम् ॥ ४२ ॥

ये पच्चीस वर्ग कहे गये हैं। इन वर्गों में जो द्रव्य न मिले, तो उसके समान दूसरे द्रव्य को प्रयुक्त करना चाहिए और जो द्रव्य रोग अथवा रोगी के प्रतिकूल हो, उसे निकाल देना चाहिए।

एते वर्गा दोषदूष्याद्यपेक्ष्य कल्कक्वाथस्नेहलेहादियुक्ताः ।
पाने नस्येऽन्वासनेऽन्तर्बहिर्वा लेपाभ्यङ्गैर्घ्नन्ति रोगान् सुकृच्छ्रान् ॥ ४३ ॥

इति विविधगणसङ्ग्रहो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

ये पचीस वर्ग दोष, दूष्य, देश, काल तथा रोग आदि का विचार करके कल्क, क्वाथ, स्नेह, अवलेह आदि के रूप में पान, नस्य, अनुवासनवस्ति आदि अन्तःप्रयोग अथवा लेप, अभ्यंग आदि बाह्य प्रयोग के द्वारा अत्यन्त कष्टसाध्य रोगों को नष्ट करते हैं ।

इस प्रकार विविधगणसंग्रह नामक षोडश अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में पचीस गण बतलाये गये हैं, किन्तु गणना करते पर छब्बीस गणों का उल्लेख है, जिसमें कोई एक गण प्रक्षिप्त हो सकता है । सुश्रुत-सूत्रस्थान के अड़तीसवें अध्याय में सैंतीस गणों का उल्लेख किया गया है, उन्हीं गणों में से उपर्युक्त छब्बीस गण लिये गये हैं, किन्तु इन गणों की औषधियों की संख्या एवं नाम में भिन्नता है । जो वाग्भट की विशिष्ट कल्पना का द्योतक है ।

सप्तदशोऽध्यायः

अथातो द्रव्यादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'द्रव्यादिविज्ञानीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

'द्रव्यादिर्येषां ते द्रव्यादयः। आदिग्रहणेन रसवीर्यविपाकानां ग्रहणम्। तेषां विज्ञानमवबोधः। तस्मै हितः अध्यायः तं वर्णयति इति व्याख्यास्यामः'। (पदार्थचन्द्रिका)

द्रव्य आदि में हैं जिनके, उन्हें द्रव्यादि कहेंगे। आदि शब्द से रस, वीर्य एवं विपाक भी लिये जाते हैं। उन द्रव्यादि का विज्ञान अर्थात् अवबोध द्रव्यादि विज्ञान हुआ। द्रव्यादि विज्ञान के लिए हितकर जो हो, उसे द्रव्यादि विज्ञानीय कहेंगे। उस अध्याय की व्याख्या कहेंगे, क्योंकि यह अन्नपान द्रव्य, रस, वीर्य तथा विपाकादि की परीक्षा के द्वारा उपयोगी होता है, अन्यथा नहीं। उसमें रसादि से पहले द्रव्य आता है। इसलिए पहले द्रव्य का निर्देश किया गया है।

द्रव्यों का पाञ्चभौतिकत्व

इह हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम्। तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरुदकं, खानिलानलसमवायान्निर्वृत्तिविशेषौ। उत्कर्षेण तु व्यपदेशः। तस्माद्भूतसमवायसम्भवान्नैकरसं द्रव्यम्। ततश्च नैकदोषा व्याधयः ॥ ३ ॥

आयुर्वेदशास्त्र में द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक माना गया है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक महाभूतों के समवायसम्बन्ध से बना है। उस द्रव्य का अधिष्ठान (आश्रय) पृथिवी तथा उसकी योनि (उत्पत्ति-कारण) जल होता है। ख (आकाश), अनिल (वायु) एवं अनल (अग्नि) के समवाय सम्बन्ध से द्रव्य की निवृत्ति (निष्पत्ति-उत्पत्ति) और विशेषता होती है। उन पञ्चमहाभूतों के मध्य में जो भूत अधिक (उत्कर्ष) होता है, उसके व्यपदेश (विशिष्ट भेद) से उस द्रव्य को पार्थिव, जलीय, वायव्य, आग्नेय अथवा आकाशात्मक कहते हैं। इसलिए महाभूतों के समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण कोई भी द्रव्य एक रस वाला नहीं होता और इसलिए कोई रोग भी एक दोष वाला नहीं होता है।

महर्षि अग्निवेश ने भी कहा है—

'सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे, तच्चेतनावदचेतनं च'। (च० सू० २६।१०)

द्रव्याश्रित रस

तत्र व्यक्तो रसः। अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते। रसस्य तु छेदनोपशमने द्वे कर्मणी हिताहितौ प्रभावौ। तदाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु पृथिव्यादिषु गुणाः प्रकृतिविकृतिविचारदेशकालवशाद्गुर्वादयो रसेषु साहचर्यादुपचर्यन्ते ॥ ४ ॥

जिह्वा के साथ द्रव्य का संयोग होने पर द्रव्य में जो स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, उसे 'रस' कहते है। अनुरस के द्वारा अभिभूत (दबाया हुआ) होने के कारण आदि में अव्यक्त होता है और अन्त में कुछ व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार रस वाला अनुरस होता है। अर्थात् अनुरस में पहले रस प्रतीत नहीं होता, थोड़ी देर बाद प्रधान रस के आस्वाद्य के पश्चात् रस की किञ्चित्

प्रतीति होती है। रस के छेदन एवं उपशमन दो कर्म होते हैं। उनमें से छेदन दोषादि के विभाग करने को कहते हैं और उपशमन दोषादि को शान्त करने को कहते हैं। कुछ आचार्यों ने उनको रस रूप कहा था, जिसका आत्रेय पुनर्वसु ने चरकसंहिता में समाधान किया था और इन दोनों को रस रूप न मानकर रस का कर्म स्वीकार किया था, जिसका वाग्भट ने अपने इस ग्रन्थ में आदर के साथ उल्लेख किया है। इसी प्रकार किसी आचार्य ने हित-अहित को रस कहा था, परन्तु आत्रेय पुनर्वसु ने हित-अहित को रस का प्रभाव बतलाया। रस के आश्रयभूत पदार्थ जिनको द्रव्य ऐसा कहा गया है, वे पृथ्वी, जल आदि द्रव्य कहे गये हैं। उन पृथ्वीव्यादि में रहने वाले गुरु-लघु आदि गुण की कल्पना जो भी की गयी है, वह प्रकृति, विकृति, विचार (संयोग), देश, काल आदि के कारण रसों में भी वह गुण परम्परा से मान लिये जाते है। अर्थात् द्रव्य में गुर्वादि गुण तथा मधुरादि रस एक साथ रहते हैं, तो एक साथ संयोग होने के कारण एक धर्म दूसरे पर आरोपित हो जाता है। इसलिए रस का भी गुण गुर्वादि मान लिया जाता है।

पार्थिवादि द्रव्य

तत्र द्रव्यं गुरुकठिनविशदमन्दसान्द्रस्थूलस्थिरगन्धगुणबहुलं पार्थिवमुपचयगौरव-सङ्घातस्थैर्यकरम्। द्रवस्निग्धशीतगुरुमन्दसान्द्रसरमृदुपिच्छिलरसगुणबहुलमौदकमुपक्लेद-स्नेहबन्धविष्यन्दमार्दवप्रह्लादकरम्। तीक्ष्णोष्णरूक्षसूक्ष्मलघुविशदरूपगुणबहुलमाग्नेयं दाह-पाकप्रकाशप्रभावर्णकरम्। रूक्षसूक्ष्मलघुविशदविकाषिव्यवायिशीतखरस्पर्शगुणबहुलं वायव्यं रौक्ष्यलाघववैशद्यग्लानिविचारकरम्। मृदुसूक्ष्मलघुविशदश्लक्ष्णव्यवायिविविक्त-शब्दगुणबहुलमाकाशात्मकं मार्दवसौषिर्यलाघवकरम् ॥ ५ ॥

पार्थिव द्रव्य—गुरु, कठिन, विशद, मन्द, सान्द्र, स्थूल, स्थिर तथा गन्ध गुणों वाला होता है। यह द्रव्य शरीर में उपचय (धातुओं की वृद्धि), गौरव, संघात (काठिन्य) तथा स्थैर्य (शरीर में दृढ़ता) उत्पन्न करने वाले होते हैं।

आप्य द्रव्य—द्रव, स्निग्ध, शीत, गुरु, मन्द, सान्द्र, सर, मृदु, पिच्छिल और रस गुण वाला होता है। ये द्रव्य शरीर में उपक्लेद (आर्द्रता), स्नेह, बन्ध, विष्यन्द (स्रोतों का स्राव), मार्दव एवं प्रह्लाद (तृप्ति) करने वाले होते हैं।

आग्नेय द्रव्य—तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, लघु, विशद तथा रूप गुण वाला होता है। ये द्रव्य शरीर में दाह, पाक, प्रकाश, प्रभा तथा वर्ण (कांति) को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

वायव्य द्रव्य—रूक्ष, सूक्ष्म, लघु, विशद, विकासी, व्यवायी, शीत, खर एवं स्पर्श गुण वाले होते हैं। ये शरीर में रूक्षता, लघुता, विशदता, ग्लानि एवं विचार (विविध चेष्टा) उत्पन्न करने वाले होते हैं।

नाभस (आकाशीय) द्रव्य—मृदु, सूक्ष्म, लघु, विशद, श्लक्ष्ण, व्यवायी, शीत, खर तथा शब्द गुण वाले होते हैं। ये द्रव्य शरीर में मृदुता, सौषिर्य (सुषिरता) तथा लघुता उत्पन्न करने वाले होते हैं।

द्रव्यों का औषधत्व

इत्थं च नानौषधभूतं जगति किञ्चिद् द्रव्यमस्ति विविधार्थप्रयोगवशात् ॥ ६ ॥

इस प्रकार विश्व में कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है, जो अनौषध हो, अर्थात् औषध न हो, क्योंकि अनेक प्रकार का अर्थ (प्रयोजन) और प्रयोग (उपयोग) होने से।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'अनेनोपदेशेन नानौषधिभूतं जागति किञ्चिद् द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य'। (च० सू० २६।१२)

शोधन द्रव्यों का पाञ्चभौतिक संगठन

तत्राग्निमारुतात्मकं प्रायेणोर्ध्वभागिकम्। तयोर्हि लाघवादूर्ध्वगतित्वाच्चाग्नेः प्लवनत्वाच्च मारुतस्य। भूम्यौदकात्मकं तु प्रायेणाधोभागिकम्। तयोर्हि गौरवान्निम्नगत्वाच्च तोयस्य। व्यामिश्रात्मकमुभयतो भागम्॥ ७॥

पार्थिवादि द्रव्यों के गुण एवं कर्म

द्रव्य	गुण	शरीर में कर्म
१. पार्थिव द्रव्य	गुरु, कठिन, विशद, मन्द, सान्द्र, स्थूल, स्थिर तथा गन्धगुण बहुल।	उपचय (धातुओं की वृद्धि), गौरव, संघात, (काठिन्य) तथा स्थैर्य।
२. आप्य द्रव्य	द्रव, स्निग्ध, शीत, गुरु, मन्द, सान्द्र, सर, मृदु, पिच्छिल तथा रसगुण बहुल।	उपक्लेद (आर्द्रता), स्नेह, बन्ध, विष्यन्द (स्रोतों का स्राव), मार्दव एवं प्रह्लाद (तृप्ति)।
३. आग्नेय द्रव्य	तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, लघु, विशद तथा रूपगुण बहुल।	दाह, पाक, प्रकाश, प्रभा तथा वर्ण्य।
४. वायव्य द्रव्य	रूक्ष, सूक्ष्म, लघु, विशद, विकासी, व्यवायी, शीत, खर तथा स्पर्शगुण बहुल।	रूक्षता, लघुता, विशदता, ग्लानि एवं विचारक (विविध चेष्टा)।
५. नाभस (आकाशीय) द्रव्य	मृदु, सूक्ष्म, लघु, विशद, श्लक्ष्ण, व्यवायी, शीत, खर तथा शब्दगुण-बहुल।	मृदुता, सौषिर्य (सुषिरता) तथा लघुता।

इनमें अग्नि और वायु महाभूत की अधिकता वाले द्रव्य प्रायः ऊपर की ओर गति करने वाले (वामक) होते हैं, क्योंकि अग्नि और वायु दोनों की लघुता के कारण अग्नि की ऊर्ध्व गतिशीलता तथा वायु की प्लवनलीलता से ऐसा होता है। पृथ्वी और जल महाभूत की अधिकता वाले द्रव्य प्रायः अधोगति करने वाले (विरेचन) होते हैं, क्योंकि पृथ्वी और जल की गुरुता के कारण तथा जल की नीचे की ओर गति होने के कारण ऐसा होता है। व्यामिश्रात्मक पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु चारों महाभूतों की अधिकता से कोई भी द्रव्य उभयगामी अर्थात् ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी होते हैं अर्थात् वमन और विरेचन दोनों कराते हैं।

शामक द्रव्यों का पाञ्चभौतिक संगठन

शमनं तु दोषविपरीतगुणमुक्तं प्राक्। तत्सङ्करे च यतो बाहुल्येन 'कार्यकर्तृत्वं भवति यदेवाधिकं तदेव तत्कार्यकरमिति' व्यपदेशः। तथाऽनिलात्मकं ग्राहि। अनलात्मकं दीपनपाचनम्। उभयात्मकं लेखनम्। भूम्युदकात्मकं बृंहणम्॥ ८॥

दोष विपरीत गुण शमन पहले कहा जा चुका है। जहाँ पर ऐसा सम्भव हो कि संकर हो, वहाँ जिसके द्वारा अधिकता से कार्य होता हो, वही अधिक माना जायेगा। वही कार्यकर रूप में स्वीकार किया जायेगा। जैसे द्रव्य में अनेक पञ्चमहाभूतों की सत्ता होते हुए भी अनिल की बहुलता होने पर ग्राही द्रव्य कहा जाता है, अनल की अधिकता होने पर दीपन-पाचन और उभयात्मक होने पर लेखन कहा जाता है। भूमि जल रूप होने पर बृंहण कहा जाता है।

शोधन एवं शामकद्रव्यों का पाञ्चभौतिक संगठन

जिस द्रव्य में कोई भी महाभूत अधिक मात्रा में न हो, न अधोगमन हो, न ऊर्ध्वगमन हो, केवल दोष विपरीत गुण प्रकट करता हो, ऐसी अवस्था का उल्लेख प्रकृति विघात के रूप में पहले किया जा चुका है। यहाँ भी उसी के अनुसार व्याख्या हो जाती है। स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि शमन द्रव्यों में दोष गुणों की विपरीतता आवश्यक होती है। इसलिए यह विपरीतता प्रत्येक द्रव्य में हो सकती है। शोधन द्रव्य में ऐसा नहीं होता। इसमें एक विशिष्ट महाभूत अधिक मात्रा में होता है और जहाँ कहीं एक ही द्रव्य में ऊर्ध्वगत्व, अधोगत्व और शमनत्व तीनों मिलते हों, वहाँ जिससे अधिकता से कार्य होता हो और जो अधिक प्रतीत होता हो, उसी को कार्यकारी माना जायेगा, क्योंकि व्यवहार अधिकता के आधार पर होता है।

रसों के वीर्य

तत्र कट्वम्ललवणा वीर्येण यथोत्तरमुष्णाः। तिक्तकषायमधुराः शीताः॥ ९॥

इसमें कटु, अम्ल तथा लवण रस वाले द्रव्य उत्तरोत्तर उष्णवीर्य होते हैं। तिक्त, कषाय एवं मधुर रस वाले द्रव्य उत्तरोत्तर शीतवीर्य होते हैं।

रसों के गुण एवं कर्म

तिक्तकटुकषाया रूक्षा बद्धविण्मूत्रमारुताः। लवणाम्लमधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्रमारुताः। लवणकषायमधुरा गुरवः। तद्वदम्लकटुतिक्ता लघवः। अन्ये पुनर्गुरुलघुस्निग्धरूक्षसाधारणं लवणमिच्छन्ति॥ १०॥

तिक्त, कटु एवं कषाय रस रूक्ष, मल और वायु को बाँधने वाले (रोकने वाले) होते हैं। लवण, अम्ल और मधुर रस स्निग्ध और मल, मूत्र तथा वायु के प्रवर्तक होते हैं। लवण, कषाय तथा मधुर रस गुरु होते हैं। अम्ल, कटु तथा तिक्त रस लघु होते हैं। अन्य आचार्यों का मत है कि लवण रस में गुरु, लघु, स्निग्ध एवं रूक्ष गुण सामान्य रूप से होते हैं।

वीर्य

वीर्यं तु केचिद् गुरुलघुस्निग्धरूक्षतीक्ष्णमन्दशीतोष्णभेदेनाष्टविधमाहुः॥ ११॥

अपरे पुनः पठन्ति—

वीर्यं द्रव्यस्य तज्ज्ञेयं यद्योगात्क्रियते क्रिया।
नावीर्यं कुरुते किञ्चित्सर्वा वीर्यकृता हि सा॥ १२॥

कुछ आचार्य वीर्य को गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, तीक्ष्ण, मन्द, शीत एवं उष्ण भेद से आठ प्रकार का मानते हैं। अन्य आचार्यों का पुनः कथन है कि द्रव्य का वीर्य वह (शक्ति) है, जिसके संयोग से द्रव्य कार्य करने में समर्थ होते हैं। वीर्य के बिना द्रव्य कुछ भी कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि सभी क्रियायें वीर्य ही करता है। इसीलिए बहुवीर्यवादी वीर्य को शक्ति का कारण मानते हैं।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया'। अर्थात् जिसके द्वारा द्रव्य की क्रिया (कर्म) सम्पादित होती है, उसे वीर्य (Potency) कहते हैं। कोई द्रव्य वीर्य के बिना कुछ भी कार्य नहीं करता। सम्पूर्ण क्रियाएँ वीर्य के द्वारा सम्पादित होती हैं। द्रव्य जिस शक्ति विशेष से किन्हीं कर्मों को करने में समर्थ होता है, द्रव्य की उस विशिष्ट शक्ति को वीर्य कहते हैं।

गुर्वादि की वीर्यसंज्ञा

यैरष्टविधं तैरपि चैवमतिप्रकृष्टशक्तियुक्तानामशेषौषधगुणसारभूतानामष्टानामेव गुर्वादीनां वीर्यसंज्ञा विशिष्टाऽऽम्नायविहितापि लौकिकीति समुद्भाव्यते। तथा हि रस-विपाकगुणान्तरविजयिनो भूयांसश्च वरिष्ठाश्च गुणाः संगृहीताः। विशेषवृत्त्या च तत्र तत्र द्रव्यस्वरूपकथने व्यवहारः प्रवर्तितो[1] भवति। अत एव[2] सर्वातिशायी द्रव्यस्वभावः प्रभाव इत्याम्नातः। सत्यपि च क्रियानिर्वर्तनसाम्ये[3] विपरीता[4] रसादयो वीर्याख्यया प्रभाव-संज्ञया वा न परिमृश्यन्ते[5] ॥ १३ ॥

जो लोग आठ प्रकार का वीर्य मानते हैं, वे भी अत्यन्त प्रकृष्ट शक्ति से सम्पूर्ण औषधियों के गुणों के सारभूत गुर्वादि आठ की ही वीर्य संज्ञा लोकसम्मत स्वीकार करते हैं और इसे ही विशेष रूप से शास्त्रों में कहा गया है। रसकार्य, विपाककार्य और गुणान्तर जो कि द्रव्य में स्थित है, उनको गुण पराभूत करते है, इसलिए उनका संग्रह किया गया है। वे अधिक होते है और वरिष्ठ होते हैं, इसलिए उनका संग्रह किया गया है और जहाँ कहीं द्रव्य स्वरूप कथन की बात आती है, वहाँ विशेष होने के कारण उसी आधार पर प्रवृत्ति होती है, इसीलिए उन्हीं के नाम पर व्यवहार होता है। इसीलिए द्रव्य का वह धर्म सब धर्मों में अतिशय होता है, उसकी प्रभाव संज्ञा कही गई है। यद्यपि रसादि में, वीर्य में एवं प्रभाव में एक ही क्रिया सामान्यतः होती हुई दिखलाई पड़ती है, फिर भी गुणों से विपरीत रसादि वीर्य संज्ञा या प्रभाव संज्ञा से ग्रहण नहीं किये जाते हैं।

शक्ति ही वीर्य है। वह नानाप्रकार की होती है, इसलिए गुर्वादि को कौन नियमित कर सकता है। केवल अतिशय शक्ति होने के कारण औषधि गुणों में सारभूत होने के कारण लोक में ऐसा कहा जाता है कि आठ ही वीर्य होते हैं। इसलिए शास्त्रविहित गुर्वादि नियम लौकिक कहा जाता है।

द्विविध वीर्य

अन्ये तु गुर्वादीनामग्नीषोमात्मकत्वादादानविसर्गविभागेन कालस्य चोष्णशीतात्म-कत्वाद् द्विविधमेवामनन्ति ॥ १४ ॥

एवं चाहुः—

नानात्मकमपि द्रव्यमग्निषोमौ महाबलौ।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ॥ १५ ॥

अन्य आचार्यों का कथन है कि गुरु एवं लघु आदि आठ गुणों में भी अग्नि सोमात्मक गुणों की प्रधानता होने के कारण और काल के आदान एवं विसर्ग विभाग के कारण उष्ण एवं शीत दो प्रकार के वीर्य होते हैं। उनका कथन है कि नानात्मक होते हुए भी द्रव्य में अग्नि और सोम जिस प्रकार से व्यक्त एवं अव्यक्त रूप से जगत् में रहते हैं, वैसे ही द्रव्य इन दो गुणों का कभी अतिक्रमण नहीं करता। अर्थात् द्रव्य यद्यपि नानात्मक हैं, फिर भी उसमें अग्नि एवं सोम के गुण पाये जाते हैं। कभी व्यक्त रूप में और कभी अव्यक्त रूप में।

उष्ण एवं शीत वीर्य के कर्म

तत्रोष्णं दहनपचनस्वेदनविलयनानिलकफशमनानि करोति। शीतं ह्लादनस्तम्भन-जीवनरक्तपित्तप्रसादनादीनि। इति वीर्यमुक्तम् ॥ १६ ॥

---

१. 'प्रवृत्तितो' इति पाठान्तरम्। २. 'एव च' इति पाठान्तरम्। ३. 'सामान्ये' इति पाठान्तरम्। ४. 'तद्विपरीता' इति पाठान्तरम्। ५. 'परामृश्यन्ते' इति पाठान्तरम्।

इनमें उष्णवीर्य दहन (दाह), पचन (पचाना), स्वेदन (पसीना लाना), विलयन (पिघलाना), वायु एवं कफ का शमन करता है। शीतवीर्य ह्लादन (प्रसन्नता), स्तम्भन (अतिसार स्वेद आदि को रोकना), जीवन (प्राणधारण), रक्तप्रसादन एवं पित्तप्रसादन (रक्त एवं पित्त को निर्मल) करता है।

विपाक

विपाकस्तूच्यते—विपाकस्तु प्रायः स्वादुः स्वादुलवणयोरम्लोऽम्लस्य कटुरितरेषाम्। रसैरसौ तुल्यफलः ॥ १७ ॥

विपाक के विषय में कहा जा रहा है—

विपाक तीन प्रकार का होता है। प्रायः—(१) मधुर एवं लवण रसों का मधुर विपाक, (२) अम्ल रस का अम्ल विपाक तथा (३) कटु, तिक्त एवं कषाय रसों का कटु विपाक होता है। विपाक मधुर, अम्ल एवं कटु रस के सदृश फल वाला होता है। अर्थात् मधुर विपाक का गुण मधुर रस के समान, अम्ल विपाक का गुण अम्ल रस के समान तथा कटु विपाक का गुण कटु रस के समान होता है।

आयुर्वेदीय विपाक एवं आधुनिक पाचन

विपाक	आधुनिक पाचन
(१) मधुर एवं लवण रसों का मधुर विपाक।	(१) कार्बोहाइड्रेट का पाक ग्लूकोज (मधुर रस)।
(२) अम्ल रस का अम्ल विपाक।	(२) प्रोटीन का पाक एमिनो एसिड (अम्ल रस)।
(३) कटु, तिक्त एवं कषाय रसों का कटु विपाक।	(३) स्नेहों का पाक फैटी एसिड तथा ग्लिसरोल (कटु रस प्रधान)।

आहार का महास्रोत में जठराग्नि से सम्पर्क होने पर पाचन क्रिया के अन्त में उत्पन्न विशिष्ट रस को 'विपाक' कहते हैं—'रसानां जरणनिष्ठा(परिणाम)काले यद् रसान्तरं प्रादुर्भवति स विपाकः'।

'जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः' ॥ (अ० हृ० सू० ९।२०)

किये गये आहार पर जठराग्नि क्रिया का कार्य समाप्त होने पर अन्त में जो रस विशेष उत्पन्न होता है, उसे 'विपाक' कहते हैं। आयुर्वेद में आहार का पाक दो तरह का माना गया है—१. अवस्थापाक तथा २. निष्ठापाक।

(१) महास्रोत के विभिन्न भागों में पाचन क्रिया विभिन्न अवस्थाओं में होती रहती है और इस पाचन-व्यापार को 'अवस्थापाक' कहते हैं। इसे 'प्रपाक' भी कहते हैं। आमाशय, पच्यमानाशय और पक्वाशय में मधुर, अम्ल तथा कटु रसों का परिवर्तन आवस्थिक होने से इसे अवस्थापाक कहा जाता है।

(२) निष्ठापाक वह रस विशेष है, जो उक्त तीनों अवस्थापाकों के बाद रस मल पृथक्करण के समय रस धातु में उत्पन्न होता है।

अवस्थापाक एवं निष्ठापाक में भेद

अवस्थापाक	निष्ठापाक
(क) आवस्थिक परिणाम	(क) अन्तिम परिणाम
(ख) मलभूत दोषों की उत्पत्ति	(ख) धातु रूप दोषों की उत्पत्ति
(ग) प्रत्यक्ष ज्ञेय	(ग) अनुमान ज्ञेय

द्रव्य के गुण की विशेषता से विपाक

द्रव्यगुणविशेषेण चास्याल्पमध्यभूयस्त्वमुपलक्षयेत् ॥ १८ ॥

द्रव्य के गुण की विशेषता से विपाक हीन (अल्प), मध्य एवं भूयान् (उत्कृष्ट) होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ मधुर आदि रस अल्प होते हैं, वहाँ विपाक भी अल्प कोटि का; रस मध्यम कोटि का हो, तो विपाक मध्यम कोटि तथा रस के उत्तम कोटि के होने पर विपाक भी उत्तम कोटि का होता है।

महर्षि पराशर के अनुसार विपाक

पराशरस्तु पठति—

पाकास्त्रयो रसानामम्लोऽम्लं पच्यते कटुः कटुकम् ।
चत्वारोऽन्ये मधुरं संसृष्टरसास्तु संसृष्टम् ॥ १९ ॥

कटुतिक्तकषायाणां कटुको येषां विपाक इति पक्षः । तेषां पित्तविघाते तिक्तकषायौ कथं भवतः ॥ २० ॥

महर्षि पराशर का मत है कि रसों के विपाक तीन प्रकार के होते हैं; यथा—(१) अम्ल रस का अम्ल विपाक, (२) कटु रस का कटु विपाक तथा (३) शेष चार रसों (मधुर, लवण, तिक्त एवं कषाय) का मधुर विपाक होता है। संसृष्ट (मिश्रित) रसों का संसृष्ट (मिश्रित) विपाक होता है। इनका प्रश्न है कि जिन विद्वानों का यह पक्ष है कि कटु, तिक्त, कषाय रस का विपाक कटु होता है, उनके विचार से तिक्त एवं कषाय रस पित्त को शान्त करने में कैसे सक्षम हो सकते हैं ?

रसों के गुणों की अधिकता से दोषों पर प्रभाव

तत्र यन्मधुरं रसविपाकयोः शीतवीर्यं च द्रव्यं यच्चाम्लं तयोरुष्णवीर्यं च यद्वा कटकं तेषां यथास्वं रसेभ्यः प्रायो गुणान् दोषकोपशमनत्वं च विद्यात् । तद्यथा—क्षीरमदिरामरिचादीनां । रसादिसङ्करेण त्वन्यथात्वम् ॥ २१ ॥

जो द्रव्य रस एवं विपाक में मधुर तथा वीर्य में शीत और जो द्रव्य रस एवं विपाक में अम्ल तथा वीर्य में उष्ण अथवा जो द्रव्य रस एवं विपाक में कटु तथा वीर्य में उष्ण होते हैं, वे द्रव्य प्रायः अपने रस के गुणों की अधिकता से दोषों का कोपन एवं शमन करते हैं। जैसे दूध रस और विपाक में मधुर तथा शीतवीर्य होने से मधुर रस के समान श्लेष्मप्रकोपक तथा वात-पित्तशामक होता है। मदिरा रस एवं विपाक में अम्ल तथा उष्णवीर्य होने पर अम्ल रस के समान वातशामक तथा पित्त-श्लेष्मप्रकोपक होता है। मरिच (*Piper nigrum* Linn.) रस तथा विपाक में कटु तथा उष्णवीर्य होने से कटु रस के समान श्लेष्माशामक तथा वात-पित्तप्रकोपक होती है।

विपाक के अन्य उदाहरण

यथा मधु मधुरं श्लेष्माणं शमयति कटुविपाकतया। सकषायत्वाद्रौक्ष्याच्च वातं जनयति शीतवीर्यत्वाच्च। तथा यवोऽपि। आनूपौदकपिशितं शीतमपि पित्तं करोत्युष्णवीर्यत्वात्। तथा तैलं कटुविपाकतया च विपाकत एव बद्धविण्मूत्रम्। अम्लं काञ्जिकं कफं जयति रूक्षोष्णत्वात्। कपित्थं तु रौक्ष्यात् पित्तं च शीतवीर्यत्वात्। आमलकं पित्तं शीतवीर्यत्वात् स्वादुपाकतया च कफं रौक्ष्याल्लाघवाच्च शैत्यरौक्ष्यलाघवैस्तु न वातम्। लवणं सैन्धवं स्वादुपाकतया पित्तं जयति लाघवात्कफं जयति। कटुकाऽपि शुण्ठी स्नेहौष्ण्यस्वादुपाकैर्वातं क्षपयति पिप्पली च। लशुनोऽपि स्नेहौष्ण्यगौरवैः। पलाण्डुश्च। स तु स्नेहगौरवाभ्यां जनयति श्लेष्माणम्। वृद्धं च मूलकं स्वादुपाकतया। स्निग्धानि तिक्तानि व्याघ्रीविशल्याऽर्कागुरूण्युष्णवीर्यत्वात् पित्तं जनयन्ति। कषायतिक्तं महत्पञ्चमूलं वातं जयति न तु पित्तमुष्णवीर्यत्वात्। कषायश्च कुलत्थोऽम्लपाकतया च। इत्येतन्निदर्शनमात्रमुक्तम्॥ २२॥

जहाँ कहीं विजातीय द्रव्य के कारण मिश्रण द्वारा रस आदि का संकर (मिश्रण) होता है, वहाँ कभी रस प्रमुख होने से कार्यकारी रस होता है। कभी वीर्य प्रमुख होने से वीर्य कार्यकारी होता है। तो कभी विपाक अधिक होने से कार्यकारी होता है। जैसे मधु मधुर रस होने पर भी कफ को शान्त करता है। इसका कटु विपाक है, किञ्चित् कषाय, रूक्ष तथा शीतवीर्य होने से वायु को कुपित करता है। इसी प्रकार यव (*Hordeum vulgare* Linn.) कफशामक तथा वातप्रकोपक होता है। आनूप एवं औदक (जलीय) प्राणियों का मांस शीत गुण वाला होने पर भी उष्ण वीर्य होने से पित्तवर्द्धक होता है, तैल विपाक में कटु होने से पुरीष और मूत्र को बाँधने वाला होता है। अम्ल काँजी रूक्ष और उष्णवीर्य होने के कारण अम्ल होने पर भी कफ को शान्त करती है। कैथ (*Feronia limonia* Swingle.) रूक्ष होने पर भी शीतवीर्य होने के कारण पित्त का शमन करता है। आमलकी (*Emblica officinlis* Gaertn.) शीतवीर्य और विपाक में मधुर होने से पित्त को तथा रूक्ष एवं लघु होने से कफ को शान्त करती है, किन्तु शीतवीर्य, रूक्ष एवं लघु होने से वायु को प्रकुपित नहीं करती। सैन्धव लवण विपाक में मधुर होने से पित्त को तथा लघु होने से कफ को शान्त करता है। शुण्ठी (*Zingiber officinale* Rosc.) रस में कटु होने पर स्निग्ध गुण, उष्णवीर्य तथा विपाक में मधुर होने के कारण वायु को नष्ट करती है और इसी प्रकार पिप्पली (*Piper longum* Linn.) भी वायु को शान्त करती है, किन्तु लशुन (*Allium sativum* Linn.) एवं पलाण्डु (*Allium cepa* Linn.) स्निग्ध गुण, उष्णवीर्य तथा गुरु होने के कारण वायु को शान्त करता है, स्निग्ध एवं गुरु गुण के कारण कफ को बढ़ाता है। वृद्ध (पकी हुई) मूली (*Raphanus sativus* Linn.) विपाक में मधुर होने के कारण कफ को बढ़ाती है। व्याघ्री (*Solanum xanthocarpum* Schrad.), विशल्या (कलिहारी *Gloriosa superba* Linn.), अर्क (मदार *Calotropis procera* (Ait) R. Br.) तथा अगुरु (*Aquilaria agallocha* Roxb.) रस में तिक्त होने पर भी उष्णवीर्य होने से पित्त को बढ़ाता है। महत्पञ्चमूल (बिल्वादि पञ्चमूल) रस में कषाय एवं तिक्त होने पर भी वायु को शान्त करता है, किन्तु पित्त को शान्त नहीं करता, क्योंकि उष्णवीर्य होता है। कुलथी (*Dolichos biflorus* Linn.) विपाक में अम्ल होने से रस में कषाय होने पर भी वातशामक एवं पित्तवर्धक होता है। ये सब उदाहरण मात्र कहे गये हैं।

द्रव्य का स्वभाव

तस्मात्—

किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेणैव किञ्चन ॥ २३ ॥

इसलिए कुछ द्रव्य अपने रस से कर्म करता है। जैसे मधु रक्तपित्तप्रशमन रूप कार्य रस के द्वारा करता है। कुछ द्रव्य विपाक के द्वारा श्लेष्मा का शमन करते हैं, कुछ द्रव्य लघु आदि गुण के द्वारा वातवृद्धि करते हैं, कुछ द्रव्य शीतादि वीर्य के द्वारा तृषा की शान्ति करते हैं और कुछ द्रव्य प्रभाव के द्वारा विष आदि को दूर करते हैं।

रसादि के बलत्वानुरूप द्रव्यों का कार्य

यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते।
अभिभूयेतरांस्तत्तत्कारणत्वं प्रपद्यते ॥ २४ ॥
विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते।

रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव में जो रस या गुण या वीर्य या विपाक अथवा प्रभाव बलवान् (आधिक्य) होकर द्रव्य में रहता है; वह दूसरे को अभिभूत (दबाकर) करके कर्म (कार्य) का कारण बन जाता है, क्योंकि विरुद्ध गुणों के संयोग से जो प्रभूत होता है, वह अल्प गुण वालों को जीत लेता है (निष्फल कर देता है)। गुण शब्द का यहाँ रस, गुण, वीर्य एवं विपाक से अभिप्राय है।

विरोध दो प्रकार का होता है—(१) स्वरूप से तथा (२) कार्य से। (१) स्वरूप विरोध यथा—गुरु-लघु तथा शीत-उष्ण का विरोध, (२) कार्य विरोध यथा—गुरु-रूक्ष तथा उष्ण-स्निग्ध का विरोध, क्योंकि गुरु श्लेष्मवृद्धकर तथा रूक्ष गुरु के विरुद्ध कार्य करने से श्लेष्मा-नाशक होता है। इसी प्रकार उष्ण श्लेष्मानाशक तथा स्निग्ध श्लेष्मकारक होता है। किन्तु द्रव्यों के पाञ्चभौतिक होने से एक द्रव्य में स्वरूप-विरुद्ध तथा कार्य-विरूद्ध गुण होते हैं।

रसादि का नैसर्गिक बल

रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति ॥ २५ ॥
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्।

रस आदि के बलों की समानता होने पर रस को विपाक जीत लेता है (कुण्ठित कर देता है)। रस और विपाक दोनों को वीर्य पराजित कर देता है और रस, विपाक तथा वीर्य को प्रभाव जीत लेता है। रसादि की बल-समानता होने पर यह उसका नैसर्गिक (स्वाभाविक) बल है।

विरुद्धा अपि चान्योन्यं रसाद्याः कार्यसाधने ॥ २६ ॥
नावश्यं स्युर्विघाताय गुणदोषा मिथो यथा।

रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव परस्पर विरुद्ध होने पर भी कार्य साधन काल में आपस में बाधक नहीं होते। जिस प्रकार सत्त्व, रज और तम तीनों गुण परस्पर विरुद्ध होने पर भी पुरुष रूपी कार्य के साधन (निर्माण) में बाधक नहीं होते। वात, पित्त एवं कफ तीनों दोष परस्पर विरुद्ध होने पर भी रोगोत्पत्ति में परस्पर बाधक नहीं होते।

द्रव्य एवं देह में गुणसादृश्य से चिकित्सोपयोगिता

रसवीर्यप्रभृतयो भूतोत्कर्षापकर्षतः ॥ २७ ॥
एकरूपा विरूपा वा द्रव्यं समधिशेरते ।
माधुर्यशैत्यपैच्छिल्यस्नेहगौरवमन्दताः ॥ २८ ॥
सहवृत्त्या स्थिताः क्षीरे न त्वानूपौदकामिषे ।
गुणा द्रव्येषु ये चोक्तास्त एव तनुदोषयोः ॥ २९ ॥
स्थितिवृद्धिक्षयास्तस्मात्तेषां हि द्रव्यहेतुकाः ।

द्रव्य में रस, वीर्य, विपाक आदि के कार्य में परस्पर सादृश्य (स्वरूपता) एवं विसादृश्य (विरूपता) का कारण पृथिवी आदि महाभूतों का उत्कर्ष (अधिकता) तथा अपकर्ष (न्यूनता) होता है। जैसे दूध में मधुरता, शीतलता, पिच्छिलता, स्निग्धता, गुरुता और मन्दता सहवृत्ति (एक रूप) से स्थित हैं, वैसे आनूप देश तथा जलज प्राणियों के मांस में नहीं रहते हैं। इसीलिए आनूप या औदक मांस दूध के समान गुणकारी नहीं हैं। द्रव्य में जो गुरुत्व एवं लघुत्व आदि गुण कहे गये हैं, वे ही गुण शरीर और दोषों के भी हैं। इसलिए दोषों की स्थिति, वृद्धि और क्षय का कारण (हेतु) द्रव्य ही हैं।

रस, वीर्य एवं विपाक परीक्षा

रसं विद्यान्निपातेन तेनाधिवसनेन च ॥ ३० ॥
वीर्यं विपाकं द्रव्याणां कर्मणः परिनिष्ठया ।

द्रव्य के रस का ज्ञान जिह्वा के द्वारा स्पर्श मात्र से होता है। द्रव्य के वीर्य का ज्ञान दो प्रकार से होता है—(१) जिह्वा के द्वारा स्पर्श (निपात) मात्र से शीत-उष्ण का ज्ञान हो जाता है तथा (२) शरीर के अन्दर कुछ काल तक द्रव्य के रहने (अधिवास) पर मृदुता आदि उत्पन्न होने से वीर्य का ज्ञान होता है। द्रव्य के विपाक का ज्ञान द्रव्य के कर्म की निष्पत्ति (परिनिष्ठा) से होता है। अर्थात् शरीर में दोष की वृद्धि या क्षय के कारण विपाक का ज्ञान होता है।

रसों की संख्या के सम्बन्ध में विचार

मधुरस्कन्धनिर्दिष्टघृततैलगुडादिषु ॥ ३१ ॥
गुणाः स्वाद्वादिभेदेन रसषट्कं न युज्यते ।
अस्तु भेदादसङ्ख्यत्वमैक्यं वा स्वादुलक्षणात् ॥ ३२ ॥
भूतोत्कर्षापकर्षेण भेदो योऽल्पेन कल्प्यते ।
सङ्कीर्णत्वात्फले चासौ तुल्यत्वान्न विवक्ष्यते ॥ ३३ ॥
गुर्वादीनां विशेषेऽपि स्वजातेरनतिक्रमात् ।
सङ्ख्याभेदो यथा नास्ति रसानामपि स क्रमः ॥ ३४ ॥
दृष्टं मुखोपलेपादि यत्सर्वेषु घृतादिषु ।
न च तद्दाडिमाद्येषु षडेवातो रसाः स्मृताः ॥ ३५ ॥
आनन्त्यैकत्वयोश्च स्यान्न विचित्रार्थतन्त्रणम् ।

मधुरस्कन्ध में निर्दिष्ट घृत, तैल एवं गुड़ आदि द्रव्यों में गुण तथा स्वाद आदि में भिन्नता होने से केवल एक मधुर कहलाने वाले द्रव्यों में एक-सा मधुर रस अनुभूत नहीं होता। इसलिए रस छः ही हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं प्रतीत होता। अस्तु भेद के कारण रसों की संख्या असंख्य

माननी चाहिए। अथवा एक ही स्वादु (स्वाद) लक्षण वाला रस मानना चाहिए। इसका उत्तर है कि पृथ्वी आदि महाभूतों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के कारण जो थोड़ा अन्तर प्रतीत होता है, वह संकीर्ण (मिश्रित) होने से नहीं कहा जाता। फल में समान होने से नहीं कहते हैं और प्रति द्रव्य में गुरु आदि गुणों में भी जो इस प्रकार की भिन्नता (वैलक्षण्यता) दिखलाई पड़ती है, वह भिन्नता अपनी गुरुत्व जाति का अतिक्रमण न करने के कारण जैसे गुर्वादि बीस गुणों की संख्या में कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार रसों के विषय में भी यही क्रम हैं। मधुरस्कन्ध के घृत आदि सभी द्रव्यों में जो मुखोपलेप आदि दिखलाई पड़ता है, वह अम्लस्कन्ध में वर्णित दाडिम (*Punica granatum* Linn.) आदि द्रव्यों में नहीं दिखलाई पड़ता। अतः रस छः ही माने गये हैं और रसों को असंख्य अथवा एक मानने पर रसों के विचित्र अनेक अर्थों का तन्त्रण अर्थात् शास्त्र में प्रयोग (लिपिबद्धता) नहीं हो सकता है।

रसादि में द्रव्य का श्रेष्ठत्व

गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः ॥ ३६ ॥
परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः।
यथारसं जगुः पाकान् षट् केचित्तदसाम्प्रतम् ॥ ३७ ॥
यत्स्वादुव्रीहिरम्लत्वं न चाम्लमपि दाडिमम्।
याति तैलं च कटुतां कटुकाऽपि न पिप्पली ॥ ३८ ॥
यथारसत्वे पाकानां न स्यादेवं विपर्ययः।
यस्माद् दृष्टो यवः स्वादुर्गुरुरप्यनिलप्रदः ॥ ३९ ॥
दीपनं शीतमप्याज्यं वसोष्णाप्यग्निसादिनी।
कटुपाकोऽपि पित्तघ्नो मुद्गो माषस्तु पित्तलः ॥ ४० ॥
स्वादुपाकोऽपि चलकृत्स्निग्धोष्णं गुरु फाणितम्।
रसः स्वादुर्यथा चैतत्तथाऽन्येष्वपि दृश्यते ॥ ४१ ॥
वातलं कफपित्तघ्नमम्लमप्याक्षकीफलम्।
कुरुते दधि गुर्वेव वह्निं पारावतं न तु ॥ ४२ ॥
कपित्थं दाडिमं चाम्लं ग्राहि नामलकीफलम्।
कषाया ग्राहिणी शीता धातुकी न हरीतकी ॥ ४३ ॥
अप्रधानाः पृथक् तस्माद्रसाद्याः संश्रितास्तु ते।
प्रभावस्तु यतो द्रव्ये दव्यं श्रेष्ठमतो मतम् ॥ ४४ ॥

गुरु आदि आठ गुण (गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, तीक्ष्ण, मन्द, शीत एवं उष्ण) जब उत्कृष्ट शक्ति के रूप में रहते हैं, तब इन्हें वीर्य कहते हैं और जब उत्कृष्ट शक्तियुक्त नहीं होते, तब इन्हें सामान्य रूप से गुण कहा जाता है। इनके अतिरिक्त जो बारह सामान्य गुण हैं, वे परसामर्थ्यहीन (उत्कृष्ट शक्तिरहित) होने से सामान्य गुण कहे जाते हैं। कुछ आचार्यों का कथन है कि रस के अनुसार विपाक भी छः होते हैं, किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि यदि मधुर रस का मधुर विपाक हो, तो मधुर रस वाले व्रीहि धान्य का अम्ल विपाक तथा अम्ल रस वाले अनार (*Punica granatum* Linn.) का मधुर विपाक कैसे होता ? मधुर रस वाले तैल का कटु विपाक किस प्रकार होता तथा कटु रस वाली पिप्पली (*Piper longum* Linn.) का विपाक कटु क्यों नहीं होता ? रस

के अनुसार विपाक होने पर इस प्रकार विपर्यय (विपरीतता) नहीं होना चाहिए, किन्तु विपर्यय देखा जाता है। इसलिए प्रत्येक रस के अनुसार विपाक नहीं होता है। यव (*Hordeum vulgare* Linn.) गुरु एवं मधुर होने पर भी वातवर्द्धक है और घृत शीतवीर्य होने पर भी अग्नि को प्रदीप्त करता है तथा वसा उष्ण होने पर भी अग्नि को मन्द करती है। मूँग (*Phaseolus mungo* Linn.) विपाक में कटु होने पर भी पित्तघ्न है, परन्तु उड़द (*Phaseolus radiatus* Linn.) मधुर विपाक होने पर भी पित्तकारक है। फणित (राब) स्निग्ध, उष्ण एवं गुरु होने पर वायु-कारक होता है। जिस प्रकार मधुर रस में यह विपरीतता दिखलाई पड़ती है, वैसे ही अन्य रसों में भी विपरीतता होती है। अक्षिणी (बहेड़ा *Terminalia belerica* Roxb.) का फल अम्ल रस होने पर भी वातवर्द्धक तथा कफ-पित्तशामक होता है। दही गुरु होने पर भी जठराग्नि को बढ़ाता है, किन्तु पारावत (देखिए ७।२०१) गुरु होने पर भी अग्निवर्धक नहीं है। अम्ल रस कैथा (*Feronia limonia* Swingle) और दाडिम (*Punica granatum* Linn.) ग्राही होता है, किन्तु आमलकी (*Emblica officinalis* Gaertn.) फल किञ्चित् अम्ल होने पर भी संग्राही नहीं होता है। कषाय रस तथा शीतवीर्य धाय (*Woodfordia fruticosa* Kurz.) का फूल ग्राही होता है, किन्तु हरीतकी (*Terminalia chebula* Retz.) कषाय रस और उष्ण-वीर्य होने पर भी संग्राही नहीं होता है, बल्कि विरेचक होता है। रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव द्रव्यों में आश्रित होने से परतन्त्र (अप्रधान) होते हैं। ये रस आदि द्रव्य में पृथक् नहीं होते हैं। इसलिए द्रव्य ही श्रेष्ठ या प्रधान होता है, क्योंकि प्रभाव भी द्रव्य के आश्रित होता है, इसलिए द्रव्य ही श्रेष्ठ माना गया है।

प्रभाव (अचिन्त्य)

रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम्।
दन्ती रसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी ॥ ४५ ॥
मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम्।
कटुपाकरसस्निग्धगुरुत्वैः कफवातजित् ॥ ४६ ॥
लशुनो वातकफकृन्न तु तैरेव यद्गुणैः।
मिथोविरुद्धान्वातादीन्लोहिताद्या जयन्ति यत् ॥ ४७ ॥
कुर्वन्ति यवकाद्याश्च तत्प्रभावविजृम्भितम्।
शिरीषादिर्विषं हन्ति स्वप्नाद्यं[1] तद्विवृद्धये ॥ ४८ ॥
मणिमन्त्रौषधीनां च यत्कर्म विविधात्मकम्।
[2]शल्याकर्षणपुंजन्मरक्षायुर्धीवशादिकम् ॥ ४९ ॥
दर्शनाद्यैरपि विषं यन्नियच्छति चागदः।
विरेचयति यद् वृष्यमाशु शुक्रं करोति वा ॥ ५० ॥
ऊर्ध्वाधोभागिकं यच्च द्रव्यं यद्वमनादिकम्[3]।
मात्रादि प्राप्य तत्तच्च यत्प्रपञ्चेन वर्णितम्।
तच्च प्रभावजं सर्वमतोऽचिन्त्यः स उच्यते ॥ ५१ ॥

---

१. 'स्वप्नमेघादि च तदेव विषं वर्द्धयति' इतीन्दुः।
२. 'शल्याहरण' इति पाठान्तरम्।
३. 'यच्छमनादि च' इति पाठान्तरम्।

द्रव्यों में रस, गुण, वीर्य एवं विपाक के समान होने पर भी जो विशिष्ट कर्म देखा जाता है, वह प्रभावजन्य होता है। जैसे दन्ती (*Baliospermum montanum* Muell.) रस, गुण, वीर्य, विपाक में चित्रक (*Plumbago zeylanica* Linn.) के समान होने पर भी विरेचक होती है, परन्तु चित्रक ऐसा नहीं होता है। मुलहठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.) और द्राक्षा (*Vitis vinifera* Linn.) रसादि में समान होने पर द्राक्षा विरेचक होता है, किन्तु मुलहठी ऐसी नहीं होती है। घृत एवं दूध रसादि में समान होने पर भी घी अग्निदीपक है, परन्तु दुग्ध अग्निदीपक नहीं। लहसुन (*Allium sativum* Linn.) कटु रस, कटु विपाक, स्निग्ध तथा गुरु गुण से कफ एवं वातशामक होता है, किन्तु उन्हीं गुणों द्वारा वायु एवं कफ को बढ़ाता नहीं है। रक्तशालि आदि धान्य परस्पर विरुद्ध गुण वाले वात, पित्त एवं कफ दोषों को शान्त करते हैं। यवक आदि धान्य वायु आदि को विकृत करते हैं। शिरीष (*Albizzia lebbeck* Benth.) आदि द्रव्य विष को नष्ट करते हैं और स्वप्न (शयन) आदि विष की वृद्धि करते हैं। मणि, मन्त्र, औषधि-धारण, शल्याहरण (शल्य को बाहर निकालना), पुंजन्म (पुंसवन-संस्कार), भूत-प्रेत आदि से रक्षा, आयु, धी (बुद्धि) तथा वशीकरण (मारण-मोहन) आदि विविध कर्म देखे जाते हैं, वे सब प्रभावजन्य हैं। अगद के दर्शन-मात्र से विष का नष्ट होना, वृष्य औषधियों के योग से शीघ्र शुक्र की वृद्धि तथा विरेचन और द्रव्यों द्वारा वमन, विरेचन, शमन आदि कार्य प्रभावजन्य हैं, जो मात्रा आदि के प्रकरण में विस्तार से वर्णित हैं, वह सभी प्रभावजन्य ही हैं। इसीलिए प्रभाव को अचिन्त्य कहा गया है।

प्रभाव की प्रधानता

रसेन वीर्येण गुणैश्च कर्म द्रव्यं विपाकेन च यद्विदध्यात्।
सद्योऽन्यथा तत्कुरुते प्रभावाद्धेतोरतस्तत्र न गोचरोऽस्ति ॥ ५२ ॥

इति द्रव्यादिविज्ञानीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

द्रव्य रस, वीर्य, गुण एवं विपाक से जो कार्य करता है, वह तत्काल प्रभाव के अन्यथा (विपरीत) हो जाता है, प्रभाव के विषय में कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए वह अचिन्त्य है।

प्रभाव और एक्टिव प्रिंसिपल—प्रभाव की तुलना आधुनिक मत के 'एक्टिव प्रिंसिपल' से की जा सकती है।

'रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य संस्मृतः' ॥

आयुर्वेद में द्रव्यों की कर्मशक्ति चिन्त्य तथा अचिन्त्य दो प्रकार की मानी गई है। उसमें रस, वीर्य, विपाक द्वारा द्रव्य की जो कर्मशक्ति होती है, उसे चिन्त्य तथा प्रभाव के द्वारा द्रव्य की कर्मशक्ति को अचिन्त्य माना गया है।

जिसका कार्य, कारण एवं भाव हमारी बुद्धि का विषय न हो, उसे प्रभाव कहते हैं। द्रव्यों की यह शक्ति बुद्धिगम्य न होते हुए भी वैद्य समाज इनका उपयोग करता है।

पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में भी द्रव्यों की शक्ति के दो भेद हैं। जिस चिकित्सा के प्रयोग का कार्य, कारण व भाव विदित हो, उसे कारणमूलक या बुद्धिगम्य (Aetiological Treatment) कहते हैं।

कई रोगों में ऐसे विशिष्ट द्रव्यों का उपयोग किया जाता है, जो अनुभव के आधार पर उपयुक्त सिद्ध हुए हैं, परन्तु जिनके विषय में यह विदित नहीं कि उनकी यह क्रिया क्यों होती है ? इसको अनुभव-सिद्ध चिकित्सा (Empirical Treatment) कहते हैं।

प्रभाव को एक अन्य उदाहरण से समझा जा सकता है; जैसे—

यूरिया ($CO<^{NH_2}_{NH_2}$) तथा अमोनियम सायनेट (NH_4CNO) दोनों का आणविक सूत्र (Molecular formula) एक ही है, परन्तु दोनों के गुण भिन्न हैं। आधुनिक विज्ञान ने इसे समावयवता (Isomerism) माना है तथा आयुर्वेद ने इस गुण को प्रभाव माना है।

'रसादिसाम्ये कर्मविशिष्टं तद्यत् प्रभावजम् ॥'

प्रभाव विशिष्ट शक्ति है, जो स्वभावतः द्रव्य की उत्पत्ति के साथ द्रव्य में निहित रहती है। वीर्य के प्रकरण में आचार्यों ने दो प्रकार की शक्तियों का उल्लेख किया है—(१) चिन्त्य शक्ति, (२) अचिन्त्य शक्ति।

चिन्त्यशक्ति रस, गुण एवं विपाक के आधार पर बुद्धिगम्य है, इसलिए इसे वीर्य कहा जाता है। दूसरी शक्ति वह है, जो बुद्धिगम्य एवं युक्ति प्रतिपाद्य नहीं है, इसे प्रभाव कहते हैं। आत्रेय-सम्प्रदाय के आचार्यों ने प्रभाव को द्रव्य स्वभाव के रूप में माना है, किन्तु धन्वन्तरि-सम्प्रदाय के आचार्य उसका पृथक् उल्लेख न कर वीर्य-प्रकरण में ही अचिन्त्य एवं अनवधारणीय रूप में माना है।

प्रभावजन्य कर्म को निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है—

१. औषधीय कर्म (Pharmacological Action)—जैसे दन्ती का रेचन कर्म।

२. अगदीय कर्म (Toxicological Action)—जैसे शिरीष का विषघ्न प्रभाव।

३. रक्षोघ्न कर्म (Bacteriological Action)—जैसे गुग्गुल एवं जटामांसी द्वारा भूत-निवारण।

४. मानस कर्म (Psychological Action)—जैसे नवरत्न धारण, वशीकरण आदि।

इस प्रकार द्रव्यादिविज्ञानीय नामक सप्तदश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

अनुरस—रस के द्वारा अभिभूत (दबाया हुआ) होने के कारण जो आदि में अव्यक्त होता है और अन्त में कुछ व्यक्त हो जाता है; इस प्रकार का रस अनुरस कहा जाता है।

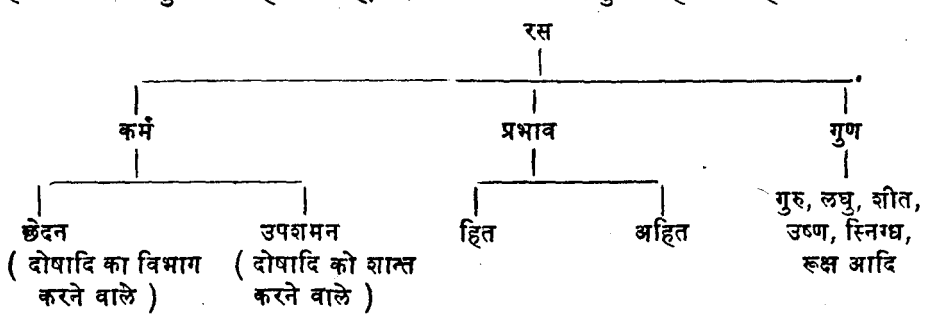

वीर्य—वीर्य शब्द 'वीर विक्रान्तौ' धातु से निष्पन्न है, अतः 'वीरयते विक्रान्तः कर्म समर्थो भवति अनेन इति वीर्यम्' अर्थात् जिनके द्वारा द्रव्य कर्म-सम्पादन में समर्थ होता है, उसे वीर्य कहते हैं।

वीर्य का स्वरूप शक्ति है, वह रसादिकों से पृथक् है, रस में आश्रित है और अनेक कर्मों का कारण है। चरक में वीर्य के शक्तिरूप पर बल दिया गया है और शक्ति तो गुण रूप ही है। सुश्रुत में गुणोत्कर्ष पर बल दिया गया वीर्य अनेक कर्मों का कारण है। नागार्जुन ने कर्म की दृष्टि से वीर्य को कर्मलक्षण माना है और यह द्रव्य में आश्रित है। शिवदास सेन द्रव्य के उत्कृष्टांश को प्रधान मानकर उसी को वीर्य कहने लगे।

वीर्य शक्ति रूप है, शक्ति एक उत्कृष्ट गुण है, यह द्रव्य में स्थित होता है तथा इसी के द्वारा द्रव्यों के कर्म निष्पन्न होते हैं। आधुनिक प्रयोगों द्वारा यह स्पष्ट है कि द्रव्यगत इस सार भाग को पृथक् कर देने पर द्रव्य शक्तिहीन हो जाता है।

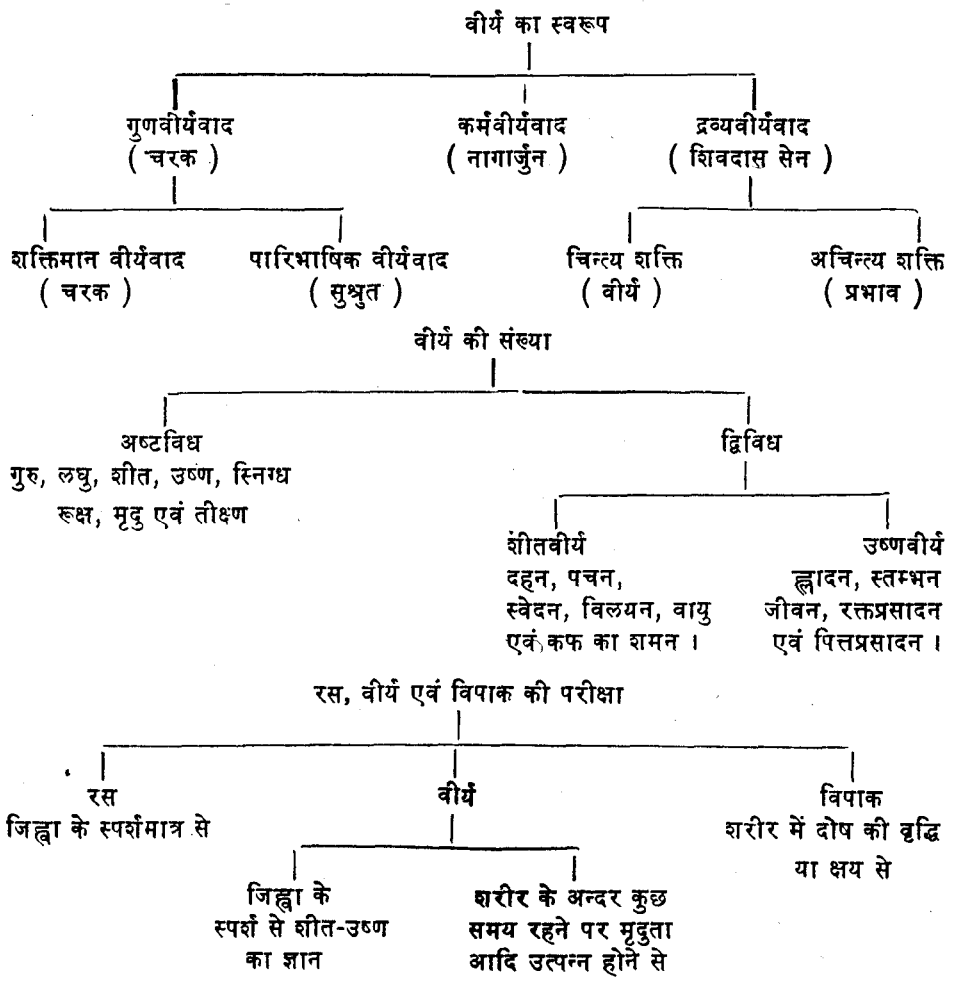

अष्टादशोऽध्यायः

अथातो रसभेदीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'रसभेदीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

'रसानां भेदो रसभेदः तस्मै हितो रसभेदीयः तमध्यायं व्याख्यास्यामः'। रस रसनार्थ होता है और जल ही उसकी योनि है। जल में रस अव्यक्त होता है, इसलिए यदि द्रव्य में रस का सम्बन्ध जल से ही किया जाय, तो प्रतिद्रव्य में आस्वाद्य एक जैसा होना चाहिए। परन्तु प्रतिद्रव्य में रस अन्य प्रकार का पाया जाता है, इसलिए उसका कारण केवल जल न मानकर सभी महाभूतों की विलक्षणता स्वीकार करेंगे। इसीलिए क्षीर, द्राक्षा, इक्षु तथा शर्करा आदि प्रतिद्रव्य में मधुर रस का आस्वादन अनेक रूपों में होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए इस अध्याय का व्याख्यान किया जा रहा है।

रस

रसः[1] खल्वाप्यः प्रागव्यक्तश्च। स षड्ऋतुकत्वात्कालस्य महाभूतगुणानामूनातिरेकविशेषेण[2] संसृष्टो विषमं विदग्धः षोढा पृथग्विपरिणमते मधुरादिभेदेन ॥ ३ ॥

रस आप्य है, जो रसनेन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, वह जल नाम के महाभूत से सम्पन्न होता है। वह रस पहले अन्य महाभूतों के गुण को न प्राप्त होने के समय स्वरूपतः अव्यक्त रहता है। पश्चात् पृथ्वी आदि महाभूतों के पार्थिवादि पाँच गुणों, जिनमें कुछ कम हैं और कुछ अधिक हैं, उनसे संयुक्त होने से कम या अधिक होने के नियम से महाभूतों के गुणों से अनुरक्त (रंग जाना) हो जाने से एक ही रस पृथक्-पृथक् मधुरादि भेद से छः रूपों को धारण कर लेता है। यह सब षड्ऋतुमय काल के प्रभाव से होता है। इस पर काल का नियन्त्रण है।

रस का पाञ्चभौतिक संगठन

तत्र भूजलयोर्बाहुल्यान्मधुरो रसः। भूतेजसोरम्लः। जलतेजसोर्लवणः। वाय्वाकाशयोस्तिक्तः। वायुतेजसोः कटुकः। वायूर्व्योः कषायः ॥ ४ ॥

पृथ्वी और जल की बहुलता से मधुर रस, पृथ्वी और अग्नि की बहुलता से अम्लरस, जल और अग्नि की बहुलता से लवणरस, वायु एवं आकाश की बहुलता से तिक्तरस, वायु और अग्नि की बहुलता से कटुरस तथा वायु एवं पृथ्वी महाभूतों की बहुलता से कषाय रस होता है।

---

१. 'रसनार्थो रसः'। (च० सू० १)।
२. 'महाभूतगुणैरूनातिरिक्तैः' इति पाठान्तरम्।

रसों का पाञ्चभौतिक संगठन

रस	महाभूत
(१) मधुररस	पृथ्वी, जल
(२) अम्लरस	पृथ्वी, अग्नि
(३) लवणरस	जल, अग्नि
(४) तिक्तरस	वायु, आकाश
(५) कटुरस	वायु, अग्नि
(६) कषायरस	वायु, पृथ्वी

रसों का स्वरूप

तेषां स्वादुरास्वाद्यमानो मुखमुपलिम्पतीन्द्रियाणि प्रसादयति। देहं प्रह्लादयति। षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः[1]। अम्लस्तु जिह्वामुद्वेजयत्युरःकण्ठं विदहति। मुखं स्रावयत्यक्षिभ्रुवं सङ्कोचयति दशनाद्धर्षयति रोमाणि च। लवणो मुखं विष्यन्दयति कण्ठकपोलं विदहत्यन्नं प्ररोचयति। तिक्तो विशदयति वदनं विशोधयति कण्ठं प्रतिहन्ति रसनाम्। कटुको भृशमुद्वेजयति जिह्वाग्रं चिमिचिमायति कण्ठकपोलं स्रावयति मुखाक्षिनासिकं विदहति देहम्। कषायस्तु जडयति जिह्वां बध्नाति कण्ठं पीडयति हृदयम्॥ ५॥

(१) मधुर रस खाने पर मुख में लिपट जाता है, सभी इन्द्रियों को प्रसन्न करता है, शरीर को आश्वासकर तथा भ्रमर एवं चीटियों को प्रिय होता है।

(२) अम्ल रस जिह्वा को उद्वेजित (उत्तेजित) करता है, छाती और गले के भीतर दाह उत्पन्न करता है, मुख से लालास्राव लाता है, आँख और भ्रू को संकुचित करता है और दाँतों एवं रोमों में हर्ष उत्पन्न करता है।

(३) लवणरस मुख से विष्यन्दन (स्राव उत्पन्न) करता है, कण्ठ और कपोल में विदाह करता है और अन्न के प्रति रुचि उत्पन्न करता है।

(४) तिक्त रस वदन (मुख) को विशद (निर्मल-पैच्छिल्यनाश) करता है, कण्ठ को विशुद्ध करता है और जिह्वा की अन्य रसग्रहण-शक्ति को नष्ट करता है।

(५) कटुरस जिह्वाग्र को अत्यधिक उद्विग्न (दुःखित) करता है, कण्ठ और कपोल में चिमचिमाहट (अग्निज्वाला संस्पर्शादि) उत्पन्न करता है, मुख, नासिका और आँख से स्राव उत्पन्न करता है तथा सम्पूर्ण शरीर में दाह उत्पन्न करता है।

(६) कषाय रस जिह्वा को जड़ करता है, अर्थात् रस ज्ञान को मन्द करता है, कण्ठ में अवरोध उत्पन्न करता है और हृदय को पीड़ित करता है।

मधुर रस के गुण-कर्म

तत्र मधुरो रसो जन्मप्रभृति सात्म्यात्सर्वधातुविवर्धन आयुष्यो बालवृद्धक्षतक्षीणबलवर्णेन्द्रियत्वक्केशकण्ठहितः प्रीणनो बृंहणो जीवनस्तर्पणः **स्थैर्यसन्धानस्तन्यकरो** वातपित्तविषदाहमूर्च्छातृष्णाप्रशमनः स्निग्धः शीतो मृदुर्गुरुश्च॥ ६॥

१. 'पिपीलिकादीनामपीष्टतमः' इति पाठान्तरम्।

एवंगुणोऽपि स सदाऽत्युपयुज्यमानः स्थौल्याग्निसादगुरुताऽलसकातिनिद्राः ।
श्वासप्रमेहगलरोगविसंज्ञताऽऽस्यमाधुर्यलोचनगदार्बुदगण्डमालाः ॥ ७ ॥
छर्द्युदर्दमूर्धरुक्कासपीनसकृमीन् ।
श्लीपदज्वरोदरष्ठीवनानि चावहेत् ॥ ८ ॥

इनमें मधुर रस जन्म से ही सात्म्य (अनुकूल) होने के कारण रस, रक्त आदि सभी धातुओं का वर्द्धक, आयु के लिए हितकारी, बाल, वृद्ध, क्षत, क्षीण, बल, वर्ण, श्रोत्र आदि इन्द्रियों, त्वक्, केश एवं कण्ठ के लिए पथ्य, प्रीणन (तुष्टिकारक), बृंहण, जीवन (ओजस्), तर्पण (तृप्तिकारक), स्थैर्य (स्थिरता), सन्धानकर (अस्थिभग्न को जोड़ने वाला), स्तन्यकर (दुग्ध को बढ़ानेवाला), वात, पित्त, विष, दाह, मूर्च्छा एवं तृषा को शान्त करने वाला और स्निग्ध, शीतवीर्य, मृदु तथा गुरु होता है । इस प्रकार गुणों वाला होने पर भी जब मधुर रस अधिक मात्रा में सर्वदा सेवन किया जाता है, तब स्थौल्य, अग्निमान्द्य, गौरव, अलसक, अतिनिद्रा, श्वासरोग, प्रमेहरोग, गलरोग, संज्ञाहीनता, मुख की मधुरता का नाश, नेत्ररोग, अर्बुद, गण्डमाला, छर्दि, उदर्द, शिरोवेदना, कास, पीनस, कृमिरोग, श्लीपद, ज्वर, उदररोग और ष्ठीवन (लालास्राव या बार-बार थूकना) रोग को उत्पन्न करता है ।

अम्लरस के गुण-कर्म

अम्लोऽनिलनिबर्हणोऽनुलोमनः कोष्ठविदाही रक्तपित्तकृदुष्णवीर्यः शीतस्पर्शो बोधयतीन्द्रियाणि रोचनः पाचनो दीपनो बृंहणतर्पणः प्रीणनः क्लेदनो व्यवायी लघुः स्निग्धो हृद्यश्चः ॥ ९ ॥

जनयति शिथिलत्वं सेवितः सोऽति देहे
कफविलयनकण्डूपाण्डुतादृग्विघातान् ।
क्षतविहितविसर्पं रक्तपित्तं पिपासां
श्वयथुमपि कृशानां तैजसत्वाद् भ्रमं च ॥ १० ॥

अम्लरस वातशामक, वायु का अनुलोमक, कोष्ठ में जलन करने वाला, रक्तपित्त करने वाला, वीर्य में उष्ण तथा स्पर्श में शीत होता है । इन्द्रियों को प्रबुद्ध करता है, रुचिकारक, भोजन पचाने वाला, अग्निदीपक, बृंहण, तर्पण, प्रीणन, क्लेदन, व्यवायी, लघु, स्निग्ध एवं हृदय के लिए हितकर होता है । अधिक मात्रा में सेवन करने पर शरीर में शिथिलता, कफ का विलयन, कण्डू, पाण्डुरोग, दृष्टिनाश, क्षतजनित विसर्प, रक्तपित्त, पिपासा आदि से कृश लोगों के शरीर पर शोथ एवं तैजस् होने से भ्रम रोग उत्पन्न करता है ।

लवण रस के गुण-कर्म

लवणः स्तम्भबन्धसङ्घातविध्मापनः सर्वरसप्रत्यनीको दीपनो रोचनः पाचनः क्लेदनः शोषणः स्नेहनः स्वेदनो भेदनश्छेदनः सरो व्यवायी विकाषी हरति पवनं विष्यन्दयति कफं विशोधयति स्रोतांसि नातिगुरुः स्निग्धतीक्ष्णोष्णश्च ॥ ११ ॥

खलतिपलिततृष्णातापमूर्च्छाविसर्प-
श्वयथुकिटिभकोठाऽऽक्षेपरोधास्रपित्तम् ।
क्षतविषमदवृद्धि वातरक्तं करोति ।
क्षपयति बलमोजः सोऽति वा सेवनेन ॥ १२ ॥

---

१. 'गला' इति पाठान्तरम् ।

लवण रस स्तम्भ (स्तब्धता-निष्क्रियता), बन्ध, स्रोतोरोध तथा संघात (काठिन्य) को नष्ट करता है। अन्य सभी रसों का प्रत्यनीक (प्रतिपक्षी—सब रसों को मन्द करने वाला), अग्निदीपक, रुचिकारक, पाचन, क्लेदन, शोषण, स्वेदन, भेदन (पक्व शोफ आदि का), सर, व्यवायी एवं विकाशी होता है। वातनाशक, कफ को गलाने वाला, स्रोतोशोधक, नातिगुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य होता है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर खालित्य, पालित्य, तृषा, संताप, मूर्च्छा, विसर्प, शोथ, किटिभ नामक कुष्ठरोग, कोठ (शीतपित्त), आक्षेपक, श्रोत्र आदि इन्द्रियों में अवरोध, रक्तपित्त, क्षत, विष एवं मद में वृद्धि तथा वातरक्त को उत्पन्न करता है। बल तथा ओज को क्षीण करता है।

तिक्त रस के गुण-कर्म

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिविषकृमिमूर्च्छोत्क्लेदज्वरदाहतृट्कुष्ठकण्डूहरः क्लेद-मेदोवसामज्जविण्मूत्रपित्तश्लेष्मोपशोषणो दीपनः पाचनो लेखनः स्तन्यकण्ठशोधनो मेध्यो नातिरूक्षः शीतो लघुश्च ॥ १३ ॥

धातुबलक्षयमूर्च्छाग्लानिभ्रमवातरोगपरुषत्वम् ।
खरविशदरौक्ष्यभावैः सोऽतिसमासेवितः कुर्यात् ॥ १४ ॥

तिक्त रस स्वयं अरोचिष्णु (अरुचिकर) किन्तु अरुचि को नष्ट करता है। विष, कृमि, मूर्च्छा, उत्क्लेश, ज्वर, दाह, तृषा तथा कण्डू को नष्ट करता है। क्लेद, मेद, वसा, मज्जा, पुरीष, मूत्र, पित्त एवं श्लेष्मा को सुखाता है। दीपन, पाचन, लेखन, स्तन्यशोधन (स्तन्यदुष्टिहर), कण्ठ-शोधक (कण्ठरोगहर), मेध्य (प्रज्ञाजनक), नातिरूक्ष, शीतवीर्य तथा लघु होता है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर खर, विशद तथा रूक्ष गुणों से धातु एवं बल का क्षय, मूर्च्छा, ग्लानि, भ्रम, वातरोग तथा परुषता (शरीर में कर्कशता) को उत्पन्न करता है।

कटु रस के गुण-कर्म

कटुकोऽलसकश्वयथूदर्दस्थौल्याभिष्यन्दकृमिवक्त्ररोगविषकुष्ठकण्डूप्रशमनो व्रणाव-सादनः स्नेहक्लेदशोषणो रोचनः पाचनो दीपनो लेखनः शोधनः शोषयत्यन्नं स्फुटयतीन्द्रि-याणि भिनत्ति शोणितसङ्घातं छिनत्ति बन्धान् विवृणोति स्रोतांसि क्षपयति श्लेष्माणं लघुरूक्षतीक्ष्णोष्णश्च ॥ १५ ॥

कुरुतेऽतिनिषेवितः स तृष्णामदमूर्च्छादवमोहदेहसादान् ।
बलशुक्रगलोपशोषकम्पभ्रमतापग्लपनातिकर्शनानि ॥ १६ ॥
करचरणपार्श्वपृष्ठप्रभृतिष्वनिलस्य कोपमति तीव्रम् ।
सङ्कोचतोदभेदैर्वाय्वग्निगुणाधिकत्वेन ॥ १७ ॥

कटु रस अलसक (आमविकार), शोथ, उदर्द, स्थौल्य, अभिष्यन्द (नेत्ररोग), कृमिरोग, मुखरोग, विषरोग, कुष्ठ तथा कण्डू को शान्त करता है। व्रणावसादक (व्रणोत्सेधहर—मांसवृद्धि-नाशक), स्निग्धता एवं क्लेद का शोषक, रुचिकारक, पाचन, दीपन, लेखन तथा शोधन होता है। अन्न का शोषण करता है, इन्द्रियों को विकसित करता है, रक्त को तोड़ता है, बन्धनों को काटता है, स्रोतसों को खोलता है, श्लेष्मा को क्षीण करता है तथा लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण गुण वाला होता है।

अधिक सेवन करने से यह तृष्णा, मद, मूर्च्छा, दाह, मोह तथा देह की शिथिलता को उत्पन्न करता है। बल (ओज), शुक्र तथा गले को सुखाता है, कम्पन, भ्रम, संताप, ग्लानि एवं कृशता को

उत्पन्न करता है। हाथ, पाँव, पार्श्व, पृष्ठ आदि में वायु का तीव्र प्रकोप करता है, वायु एवं अग्नि गुणों की अधिकता से शरीर में संकोच, तोद (सूई चुभने जैसी पीड़ा) तथा भेद (भेदनवत् पीड़ा) को उत्पन्न करता है।

कषाय रस के गुण-कर्म

कषायो बलासं सपित्तं सरक्तं निहन्त्याशु बध्नाति वर्चोऽतिरूक्षः।
गुरुस्त्वक्सवर्णत्वकृत् क्लेदशोषी हिमः प्रीणनो रोपणो लेखनश्च ॥ १८ ॥
अत्यभ्यासात्सोऽपि शुक्रोपरोधं तृष्णाऽऽध्मानस्तम्भविष्टम्भकार्यश्म।
स्रोतोबन्धं वातविण्मूत्रसङ्गं पक्षाघाताक्षेपकादींश्च कुर्यात् ॥ १९ ॥

कषाय रस बलास (कफ), पित्त एवं रक्त को शीघ्र नष्ट करता है तथा पुरीष को बाँधता है, अतिरूक्ष एवं गुरु होता है, त्वचा में सवर्णता (कांति) लाता है, क्लेद को सुखाता है, शीत-वीर्य, प्रीणन, रोपण तथा लेखन होता है। अधिक सेवन करने से यह शुक्रोपरोध (शुक्रहानि), तृषा, आध्मान, स्तम्भन, विष्टम्भ एवं कृशता को उत्पन्न करता है। स्रोतावरोध, वायु, पुरीष एवं मूत्र की प्रवृत्ति को रोकता है और पक्षाघात एवं आक्षेपक आदि को उत्पन्न करता है।

मधुरस्कन्ध

अथ मधुरद्रव्यस्कन्धो घृतमधुतैलक्षीरमेदोमज्जेक्षुविकृतिद्राक्षाऽक्षोडखर्जूरमोच-चोचपनसिसिचितिकाप्रियालराजादनखर्जूरीतालमस्तककाश्मर्यमधूकपरूषकतामलकीवीरा-विदारीशतावरीतुगाक्षीरीजीवकर्षभकक्षीरशुक्लामधूलिकाऽऽत्मगुप्ताबलाऽतिबलाविश्वदेवा-सहदेवीशालिपर्णीपृश्निपर्णीमहासहाक्षुद्रसहाऋद्धिवृद्धिश्रावणीमहाश्रावणीच्छत्राऽतिच्छत्रर्ष्य-प्रोक्तर्ष्यगन्धाऽश्वगन्धाश्वदंष्ट्रामृणालिकापुष्करबीजशृङ्गाटककसेरुकतककनकबिम्बीप्रपौण्ड-रीकप्रभृतीनि जीवनीयो गणस्तृणपञ्चमूलं च ॥ २० ॥

घृत, मधु, तैल, दुग्ध, मेद, मज्जा, ईख (*Saccharum officinarum* Linn.), ईख से बने पदार्थ, द्राक्षा (*Vitis vinifera* Linn.), अक्षोड (अखरोट *Junglans regia* Linn.), खर्जूर (*Phoenix dactylifera* Linn.), मोच (केला *Musapara disiaca* Linn.), चोच (नारिकेल *Cocos nucifera*), पनस (कटहल *Artocarpus heterophyllus* Linn.) सिचितका (सेव *Malus sylvestris* Mill.), प्रियाल (चिरौंजी *Buchnania lanzan* Spreng.), राजा-दन (खिरनी *Mimusops hexandra*), खर्जूरी (छोटी खजूरी ***Phoenix humilis*** Royle.), तालमस्तक (ताड़ का फल *Borasus flabelifer* Linn.), काश्मर्य (**गंभारी** ***Gmelina arborea*** Linn.), मधूक (महुआ *Madhuca latifolia*), परूषक (फालसा ***Grewia asiatica*** Linn.), तामलकी (भुई आँवला *Phyllanthus niruri* Linn.), वीरा (**काकोली** ***Lilium polyphyllum*** **D. Don.**), विदारीकंद (*Pueraria tuberosa* DC.), शतावरी (***Asparagus racemosus*** **Willd.**), तवक्षीरी (*Curcuma angustifolia* Roxb.), जीवक (*Microstylis mucifera* **Red.**), **ऋषभक** (?), क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारी *Ipomoea digitota* Linn.), मधूलिका (***Paspulum scrobiculatum***), आत्मगुप्ता (केवाँच *Mucuna prurita*), बला (*Sida cor-*

---

१. 'तक्षीरि' इति पाठान्तरम्। २. 'विश्वदेवासहदेवा' इति पाठान्तरम्।
३. 'शालपर्णीमुद्गपर्णीपृश्निपर्णीमाषपर्णी' इति पाठान्तरम्।

difolia Linn.), अतिबला (*Abuliton indicum* Linn. Swat.), विश्वदेवा (*Sida spinosa* Linn.), सहदेवा (*Vernonia cinerea* Less.) शालपर्णी (*Desmodium gangeticum* DC.), पृश्निपर्णी (*Uraria picta* Desv.), महासहा (माषपर्णी *Teramnus labeialis* Spreng.), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी *Phaseolus trilabus* Ait.), ऋद्धि (*Habenaria intermedia* D. Don.), वृद्धि (*Habenaria* sp.), श्रावणी (मुण्डी *Sphaeranthus*), महाश्रावणी (गोरखमुण्डी *Sphaeranthus indicus* Linn.), छत्रा (सौंफ *Foeniculum vulgare*), अतिच्छत्रा (विषण्णिका *Heracleum wallichii* DC.), ऋष्यप्रोक्ता (शतावरी *Asparagus racemosus* Willd.), ऋष्यगंधा (?), अश्वगंधा (*Withania somnifera* Dunal,), श्वदंष्ट्रा (गोखरु *Tribulus terrestris* Linn.), मृणालिका (*Nelumbo nucifera*), पुष्करबीज (*Nelumbo nucifera*), शृंगाटक (सिंघाड़ा *Trapa bispinosa*), कशेरुक (*Scirpuskysoor* sp.), कतक (*Strychnus potatorum* Linn.), कनक (स्वर्ण), बिम्बी (कुन्दरु *Coccinia indica* W. & A.), प्रपौण्डरीक (*Nelumbo nucifera* Gaertn.) आदि तथा जीवनीय गण के द्रव्य और तृणपंचमूल के द्रव्य मधुरस्कंध हैं ।

अम्लस्कन्ध

अम्लद्रव्यस्कन्धो दाडिमामलकाम्राम्रातककोशाम्रमातुलुङ्गवृक्षाम्लाम्लीकाम्लवेतसकुवललकुचपारावतभव्यकरमर्दधवधन्वनकोलबदरैरावतकपित्थदन्तशठप्राचीनामलकनारङ्गतिलकण्टकरूप्यदधिमस्तुतक्रधान्याम्लमद्यशुक्तप्रभृतीनि ॥ २१ ॥

दाडिम (अनार *Punica granatum* Linn.), आमलक (आँवला *Emblica officinalis Gaertn.*), आम्र (आम *Mangifera indica* Linn.), आम्रातक (आमड़ा *Spondias pinnata* Kurz.), कोशाम्र (आम का एक प्रकार विशेष *Schleichera oleosa*), मातुलुंग (बिजौरा नींबू (*Citrus aurantifolia* Swingle.), वृक्षाम्ल (*Garcinio indica* Chois.), अम्लिका (इमली *Tarmarindus indica* Linn.), अम्लवेतस (*Gardenia pedunculata* Roxb.), कुवल (बदर विशेष *Zizyphus sativa*), लकुच (बड़हल *Artocarpus lakoocha* Roxb.), पारावत (पालेवत *Celastrus panniculatus* Willd.), भव्य (कमरख *Dillenia indica* Linn.), करमर्द (करौंदा *Carrisa corandal*), धव (*Anogeissus latifolia* Wall.), धन्वन (*Grewia tiliaefolia* Vahl.), कोल (*Zizyphus* sp.), बदर (*Zizyphus jujuba* Lam.), ऐरावत (नारंगी *Citrus aurantium* Linn.), कपित्थ (कैथा *Feronia limonia* Linn.), दन्तशठ (जम्बीरी नीबू *Citrus* sp.), प्राचीनामलक (पुराना आँवला *Emblica officinalis* Gaertn.), नारङ्गी (*Citrus* sp.) तिलकण्टक (?), रूप्य (चाँदी), दही, मस्तु (दही का तोड़), तक्र, धान्याम्ल (कांजी), मद्य, तथा शुक्त—ये द्रव्य अम्लस्कन्ध के अन्तर्गत आते हैं ।

लवणस्कन्ध

लवणद्रव्यस्कन्धः सैन्धवादीनि क्षारान्तानि त्रपुसीसप्रभृतीनि च ॥ २२ ॥

सैंधवादि लवण (सैंधव लवण, सौवर्चल लवण, सामुद्र लवण, विड् लवण, औद्भिद् लवण, कृष्ण लवण तथा रोमक लवण), यवक्षार, सर्जिकाक्षार, त्रपु (रांगा) एवं सीसा । ये लवणस्कन्ध के द्रव्य हैं ।

तिक्तस्कन्ध

तिक्तद्रव्यस्कन्धोऽगुरुतगरोशीरबालकचन्दननलदकृतमालनक्तमालापामार्गहरिद्राद्वयमुस्तमूर्वामदनफलाजशृङ्गीत्रायमाणाकटुकाकिराततिक्तककरवीरविशालासुषव्यतिविषायवासकज्योतिष्मतीपाठाविकङ्कतार्ककाकमाचीवचावरणवत्सकवैजयन्तीवेतससप्तपर्णसोमवल्कसुमनःकांस्यलोहप्रभृतीनि पटोलादिश्च शाकवर्गः ॥ २२ ॥

अगरु (*Aquilaria agallocha* Roxb.), तगर (*Valeriana wallichii* DC.), उशीर (खस *Veteriveria zizanioides* Linn.), बालक (नेत्रबाला ?), चंदन (*Santalum album* Linn.), नलद (जटामांसी *Nardostachys jatamansi* DC.), कृतमाल (अमलतास *Cassia fistula* Linn.), नक्तमाल (करंज *Pongamia pinnata* Linn.), अपामार्ग (*Achyranthus aspera* Linn.), हरिद्रा-द्वय (हरिद्रा एवं दारुहरिद्रा *Curcuma longa* Linn. & *Barberis aristata* DC.), मुस्तक (*Cyperus rotundus* Linn.), मूर्वा (*Marsdenia roylei* Weight), मदनफल (*Randia dumerotum*), अजशृंगी (*Pergularia extensa* N. E. Br.), त्रायमाण (*Gentiana kurroo* Royle.), कुटकी (*Picrorrhiza kurrora*), किरातितिक्तक (चिरायता *Swertia chirata* Buch-Ham.), करवीर (कनैल *Nerium indicum* Mill), विशाला (इन्द्रायण *Trichosanthes brachteata* Linn.), सुषवी (करेला *Momordica charantia*), अतिविषा (अतीस *Aconitum heterophyllum* Wall.), यवास (धमासा *Fangonia arabica* Linn.), ज्योतिष्मती (*Celastrus paniculatus* Willd.), पाठा (*Cyclea peltata Diels.*), विकङ्कत (*Flacourta indica* Merrs.), अर्क (मदार *Calotropis procera*), काकमाची (मकोय *Solanum nigrum*), वचा (*Acorus calamus* Linn.), वरण (*Crataeva nurala* Buch-Ham.), वत्सक (कुटज *Holarrhena antidysenterica* Wall.), वैजयन्ती (अग्निमंथ *Premna integrifolia* Linn.), वेतस (वेत *Salix caprea* Linn.), सप्तपर्ण (*Alstonia scholaris* R. Br.), सोमवल्क (खदिर *Acacia catechu* Willd.), सुमन (चमेली *Jasmine grandiflorum*), कांस्य-लोह आदि धातु तथा पटोल वर्ग के शाक द्रव्य । ये सभी द्रव्य तिक्तस्कन्ध के अन्तर्गत आते हैं ।

कटुस्कन्ध

कटुकद्रव्यस्कन्धो मरिचहिङ्गुतेजोवतीहस्तिपिप्पलीविडङ्गभल्लातकास्थिमूलकसर्षपलशुनपलाण्डुकरञ्जमनश्शिलाऽऽलदेवदारुकुष्ठैलासुरसचोरकहरेणुकामूत्रपित्तप्रभृतीनि कुठेरादिश्च हरितवर्गः पञ्चकोलं च ॥ २४ ॥

मरिच (*Piper nigrum* Linn.), हिंगु (हींग *Ferula foetida* Regel.), तेजोवती (तेजबल *Zanthoxylum alatum* Roxb.), हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली *Scindapsus officinalis* Schott.), विडङ्ग (*Embelia ribes* Burm. f.), भल्लातक (*Semecarpus anacardium*) की गुठली, मूली (*Raphanus sativa*), सरसों (*Brassica compestris*), लशुन (*Allium sativum*), पलाण्डु (प्याज *Allium cepa* Linn.), करंज (*Pongamia pinnata*) मनःशिला (मैनसिल), आल (हरिताल), देवदारु (*Cedrus deodara*), कुष्ठ (*Saussurea lappa* C. B. Cl.), इलायची (*Elettaria cardamomum*), सुरसा (तुलसी *Ocimum sanctum*), चोरक (*Angelica glauca* Edgw.), हरेणु (सम्भालू *Vitex negundo* Linn.),

मूत्र (गाय आदि के अष्ट मूत्र), पित्त आदि तथा कुठेरादि हरित वर्ग के द्रव्य एवं पंचकोल (चव्य, चित्रक, शुण्ठी, पिप्पली, पिप्पलीमूल) । ये द्रव्य कटुस्कन्ध के अन्तर्गत आते हैं ।

कषायस्कन्ध

कषायद्रव्यस्कन्धो हरीतकीप्रियङ्ग्वनन्ताक्षौद्रलोध्रकट्फलधवधन्वनधात्रीफल-धातकीपुष्पपद्मापद्मकपद्मपुष्पनागकेसरकुमुदोत्पलतुङ्गतिन्दुककदम्बोदुम्बरजम्ब्वाम्रप्लक्ष-वटबिभीतकविकङ्कतजम्ब्वाम्रास्थ्यामकपित्थाश्वत्थमोचरससमङ्गासोमवल्कसप्तपर्ण-स्यन्दनासनसल्लकीशालतालप्रियालैलावास्तुकपरिपेलवजिङ्गणीबदरीखदिरकदरारिमेद-काशकसेरुकवंशाश्मन्तकाशोकशिरीषशिशपापलाशशमीशणशङ्खनाभिमेषशृङ्गीतरुणखर्जूर-स्फूर्जकसर्जभूर्जार्जुनाजकर्णवरुणप्रवालमुक्ताञ्जनगैरिकबिसमृणालप्रभृतीनि ।। २५ ।।

हरीतकी (हरड़ *Terminalia chebula*), प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla*), अनन्ता (सारिवा *Hemidesmus indicus* R. Br.), क्षौद्र (मधु), लोध्र (*Symphlocos racemosa* Roxb.), कट्वंग (श्योनाक *Croxylum indicum* Vent.), कट्फल (कायफल *Momordica cochinchinensis*), धव (*Anogeissus latifolia* Wall.), धन्वन (*Grewia tiliaefotia* Vahl.), धात्री (आमलकी *Embelica officinalis* Gaertn.), धातकीपुष्प (धाय के फूल *Woodfordia fruticosa* Kurz.), पद्मा (*Nelumbo nucifera*), पद्मक पुष्प (*Prunus cerasoides* D. Don.), नागकेसर (*Mesua ferrea* Linn.), कुमुद (*Nymphaea alba* Linn.), उत्पल (*Nymphaea stellata*), तुंग (नारिकेल *Cocos nucifera*), तिन्दुक (*Diospyros peregrina*), कदम्ब (*Anthocephalus indicus* A. Rich.), उदुम्बर (*Ficus racemosa* Linn.), जम्बु (जामुन *Syzygium cumuni* Linn.), आम्र (बहेड़ा *Mangifera indica* Linn.), प्लक्ष (पाकड़ *Ficus tsiela* Roxb.), वट (*Ficus bengalensis*), बिभीतक (बहेड़ा *Terminalia belerica* Roxb.), विकंकत (*Flacourta indica* Merr.), जामुन (*Syzygium cumuni* Linn.), आम (*Mangifera indica* Linn.) की गुठली, कपित्थ (*Feronia limonia* Linn.) का कच्चा फल, अश्वत्थ (पीपल वृक्ष *Ficus religiosa* DC.), मोचरस (शाल्मली *Salmalia malabarica* Schott. & Endle.), समंगा (मंजिष्ठा *Rubia cordifolia* Linn.), सोमवल्क (*Acacia catechu* Willd.), सप्तपर्ण (*Alstonia scholaris* R. Br.), स्यन्दन (तिनिश *Dygeinia dalbergioides*), असन (विजयसार *Pterocarpus marsupium* Roxb.), सल्लकी (*Boswellia serrata* Roxb.), शाल (*Shorea robusta* Gaertn.), ताल (ताड़ *Borasus flabellifer* Linn.), प्रियाल (चिरौंजी *Buchanania lanzan* Spreng.), एलवालुक (*Prunus avium* Linn.), परिपेलव (मुस्तक *Cyperus rotundus* Linn.), जिंगिणी (*Odina wodier*), बदरी (छोटी बेर *Zizyphus jujuba*), खदिर (*Acacia catechu* Willd.), कदर (विट् खदिर *Acacia farnisiana* Willd.), अरिमेद (*Acacia farmesiana* Willd.), काश (*Saccharum spontanum* Linn.), कशेरुक (*Scirpuskysoor* sp. Roxb.), वंश (बाँस *Bambusa bambos* Druce.), अश्मन्तक (अम्लोट *Ficus rumphii* Blume.), अशोक (*Saraca indica* Linn.), शिरीष (*Albizzia lebeck* Benth.), शिंशपा (सीसम *Dalbergia sissoo* Roxb.), पलाश (*Butea monosperma* Lam.), शमी (*Prosopis spicigra* Linn.), शण (सनई *Crotalaria juncea* Linn.), शंखनाभि (?), मेषशृंगी (*Gmnema sylvestre* R. Br.), वरुण

(*Crataeva nurala* Buch-Ham.), खजूर (*Phoenix dactylifera*), स्फूर्जक (तिन्दुक *Diospyros peregrina* Gaertn.), सर्ज (*Vateria indica* Linn.), भूर्ज (भोजपत्र *Betula utilis* D. Don.), अर्जुन (*Terminalia arjuna*), अजकर्ण (*Vateria indica* Linn.), वरुण (*Crataeva nurala* Buch-Ham.), प्रवाल (मूँगा), शुक्ता, अंजन (स्रोताञ्जन), गैरिक, बिस (कमल की नाल *Nelumbo nucifera*), मृणाल (*Nelumbo nucifera*) आदि द्रव्य कषायस्कन्ध के अन्तर्गत आते हैं ।

तत्र प्रायो मधुरं श्लेष्मलमन्यत्र पुराणशालियवगोधूममुद्गमधुशर्कराजाङ्गलमांसात् । प्रायोऽम्लं पित्तलमन्यत्र दाडिमामलकात् । प्रायो लवणमचक्षुष्यमन्यत्र सैन्धवात् । प्रायस्तिक्तकटुकं वातलमवृष्यं चान्यत्रामृतापटोलनागरपिप्पलीलशुनात् । प्रायः कषायं शीतं स्तम्भनं चान्यत्र हरीतक्याः ॥ २६ ॥

इससे पुराना शालि (*Oryza sativa* var. ?), यव (*Hordeum vulgare*), गेहूँ (*Triticum vulgare*), मूँग ((*Phaseolus mungo*), मधु, शर्करा एवं जांगल पशु-पक्षियों के मांस के अतिरिक्त प्रायः सभी मधुर द्रव्य कफोत्पादक होते है । इसी तरह आमलकी (*Emblica officinalis* Gaertn.) एवं दाडिम (अनार *Punica granatum* Linn.) को छोड़कर प्रायः समस्त अम्ल रस वाले द्रव्य पित्तवर्धक होते हैं । सैंधव लवण के अतिरिक्त प्रायः सभी लवण रस वाले द्रव्य चक्षु के लिए अहितकारी होते हैं । गुडूची (*Tinospora cordifolia* Willd.), पटोल (परवल *Trichosanthes cucumerina* Linn.), शुंठी (*Zingiber officinale*), पिप्पली (*Piper longum* Linn.) तथा लहसुन (*Allium sativa*) को छोड़कर प्रायः सभी तिक्त एवं कटु रस वाले द्रव्य वातकारक एवं अवृष्य (वीर्यनाशक) होते हैं। इसी प्रकार हरीतकी (*Terminalia chebula*) के अतिरिक्त सभी कषाय रस वाले द्रव्य शीतवीर्य तथा स्तम्भक होते हैं ।

उपसंहार

इति यथास्थूलं नित्योपयोगिनां प्रधानतमानां चोपसङ्ग्रहः ॥ २७ ॥
घृतामलकसिन्धूत्थपटोलीनागराऽभयाः ।
श्रेष्ठा यथास्वं स्कन्धेषु—

इस प्रकार नित्य उपयोग में आने वाले मुख्य-मुख्य द्रव्यों का मूलरूप से वर्णन किया गया । मधुर आदि विभिन्न स्कन्धों में वर्णित द्रव्यों में क्रमशः घृत मधुरस्कन्ध में, आँवला (*Emblica officinalis*) अम्लस्कन्ध में, सैंधव लवणस्कन्ध में, पटोल (परवल *Trichosanthes cucumerina* Linn.) तिक्तस्कन्ध में, नागर (शुण्ठी *Zingiber officinale*) कटुस्कन्ध में तथा हरीतकी (हरड़ *Terminalia chebula*) कषायस्कन्ध में श्रेष्ठ होता है ।

रस देशों का वर्णन

—रसदेशस्तु कथ्यते ॥ २८ ॥

अथ यः शिशिरपवनधरणीधरविविधवनगहननदीतडागपल्वलोदपानकमलकुमुदकुवलयावकीर्णो [२]रम्योऽतिस्थिरस्निग्धभूमिर्भूरिहरिततृणोऽतिदूरविस्तृतप्रतानप्रवालोप-

१. 'तटाक' इति पाठान्तरम् । २. 'रम्यः स्थिर···' इति पाठान्तरम् ।

संच्छन्नपादपः सस्यसरीसृपखगबहुलः श्लेष्मपित्तप्रायो गुर्वौषधिसलिलः श्लीपदगलरोगापचीज्वराद्यामयोपद्रुतजनपदः सोऽनूपो मधुररसयोनिः ॥ २९ ॥

यस्तु विषमविपुलसिकतास्थलबहुलोऽतिदूरावगाढविरससलिलः कठिनः क्लेशसहारोगशरीरदीर्घायुःप्रायजनपदोऽनूपविपरीतश्च स जाङ्गलः कटुकरसयोनिः ॥ ३० ॥

अत एव चानूपसाधारणो जाङ्गलसाधारणश्चेति विकल्पः । तयोराद्यो लवणाम्लयोर्योनिरितरश्चेतरयोः ॥ ३१ ॥

अब इसके उपरान्त रसोत्पत्ति के देश (स्थानों) का वर्णन किया जाता है । जो देश हवा से युक्त हो, अधिक पर्वतों वाला हो, विविध प्रकार के घने जंगलों वाला हो, अधिक नदियों, तालाब (या झील), पल्वल (जलपूर्ण गड्ढे) तथा कूपों वाला हो, कमल (*Nelumbo nucifera*), कमलिनी (*Nelumbo nucifrea*), कुवलय (*Nymphaea stellata*) नामक पुष्पों से परिपूर्ण हो, अतीव मनोहर एवं स्निग्ध (मृदु) भूमि वाला हो, हरित तृणों से व्याप्त हो, लताओं एवं नवीन कोमल पत्तों से युक्त वृक्षों वाला हो, शस्य (धान्य), सरीसृप (सर्प आदि रेंगने वाले प्राणियों) तथा पक्षियों की अधिकता वाला हो, जहाँ के प्राणी कफज एवं पित्तज व्याधियों से प्रायः पीड़ित रहते हों, जहाँ की औषधि एवं जल में गुरुता हो और जहाँ के निवासियों में श्लीपद, गल (कंठ) रोग, अपची, ज्वर आदि व्याधियाँ अधिक होती हों, उस आनूप नामक देश में मधुर रस की उत्पत्ति होती है । अर्थात् वहाँ मधुर रस वाले द्रव्य अधिक होते हैं ।

जो देश ऊँची-नीची भूमि से युक्त, अधिक बालुका युक्त तथा जहाँ पृथ्वी में जल काफी नीचे गहराई में हो, गहरे कुँओं वाला, विरस (रसहीन या दूषित रस वाला) जल से युक्त, कठोर भूमि युक्त, अधिक सहनशक्ति वाले नीरोग, दीर्घायु, प्रजाजनों वाला और आनूपदेश से विपरीत लक्षणों वाला हो, वह देश जांगल कहा जाता है । यहाँ उत्पन्न होने वाली औषधियाँ प्रायः कटु रस वाली होती हैं ।

आनूप एवं जांगल देशों के मिश्रित लक्षणों वाला देश साधारण देश कहा जाता है । यह साधारण देश पुनः दो प्रकार का होता है—

(१) जहाँ आनूप देश के लक्षण प्रधान हों उसे आनूप साधारण देश कहते हैं । यहाँ अम्ल एवं लवण रस वाली औषधियाँ अधिक होती हैं ।

(२) जहाँ जांगल देश के लक्षणों की अधिकता हो, वह साधारण जांगल देश कहा जाता है । इस देश में तिक्त और कषाय रस वाली औषधियाँ अधिक होती हैं ।

रसों के सत्तावन संयोग एवं तिरसठ भेद

संयोगास्तेषां सप्तपञ्चाशद् भवन्तीति ॥ ३२ ॥

भवन्ति चात्र—

स्वादुद्विकेषु पञ्चाम्लश्चतुरो लवणस्त्रयम् ।
द्वौ तिक्तः कटुकश्चैकं याति पञ्चदशेति ते ॥ ३३ ॥
त्रिकेषु मधुरः साम्लश्चतुरो लवणान्वितः ।
त्रीन्युक्तस्तिक्तकेन द्वौ कटुनैकं निषेवते ॥ ३४ ॥
स्वादुर्दशैवमम्लः षट् त्र्यादिसङ्ख्या न पूर्ववत् ।
लवणस्त्रीन्भजत्येकं तिक्त एषोऽत्र विंशतिः ॥ ३५ ॥

स्वादुः साम्लश्चतुष्केषु षट् त्रयं लवणानुगः ।
एकं तिक्तयुतो याति दशैव मधुरो रसः ॥ ३६ ॥
चतुरोऽम्लः पटुश्चैकं भेदाः पञ्चदशेति च ।
एकैकस्य परित्यागे विद्यात्पञ्चरसाश्च षट् ।
एकं च षड्रसं षट् च पृथगेवं त्रिषष्टिधा ॥ ३७ ॥

उन मधुर आदि षट् रसों के परस्पर **सत्तावन** संयोग होते हैं—

(क) दो-दो रसों के पन्द्रह संयोग—

मधुराम्ल, मधुरलवण, मधुरतिक्त, मधुरकटु, मधुरकषाय	५
अम्ललवण, अम्लतिक्त, अम्लकटु, अम्लकषाय	४
लवणतिक्त, लवणकटु, लवणकषाय	३
तिक्तकटु, तिक्तकषाय	२
कटुकषाय	१
	१५

(ख) तीन-तीन रसों के बीस संयोग—

मधुर रस के साथ अन्य दो-दो रसों का संयोग— १०

मधुराम्ललवण, मधुराम्लतिक्त, मधुराम्लकटु, मधुराम्लकषाय, मधुरलवण-तिक्त, मधुरलवणकटु, मधुरलवणकषाय, मधुरतिक्तकटु, मधुरतिक्तकषाय, मधुरकटुकषाय

अम्ल रस के साथ अन्य दो-दो रसों का संयोग— ६

अम्ललवणतिक्त, अम्ललवणकटु, अम्ललवणकषाय, अम्लतिक्तकटु, अम्लतिक्त-कषाय, अम्लकटुकषाय

लवण रस के साथ अन्य दो-दो रसों का संयोग— ३

लवणतिक्तकटु, लवणतिक्तकषाय, लवणकटुकषाय

तिक्त रस के साथ दो रसों का संयोग— १

तिक्तकटुकषाय २०

(ग) चार-चार रसों के पन्द्रह संयोग—

मधुर रस के साथ अन्य तीन-तीन रसों का संयोग— १०

मधुराम्ललवणतिक्त, मधुराम्ललवणकटु, मधुराम्ललवणकषाय, मधुराम्लतिक्तकटु, मधुराम्लतिक्तकषाय, मधुराम्लकटुकषाय, मधुरलवणतिक्तकटु, मधुरलवणतिक्त-कषाय, मधुरलवणकटुकषाय, मधुरतिक्तकटुकषाय ।

अम्ल रस के साथ अन्य तीन-तीन रसों का संयोग— ४

अम्ललवणतिक्तकटु, अम्ललवणतिक्तकषाय, अम्ललवणकटुकषाय, अम्ललवणतिक्त-कटुकषाय ।

लवण रस के साथ अन्य तीन रसों का संयोग— १

लवणतिक्त कटुकषाय १५

(घ) पाँच-पाँच रसों के छः संयोग—

मधुर रस के साथ अन्य चार-चार रसों के संयोग— ५

मधुराम्ललवणतिक्तकषाय, मधुराम्ललवणकटुकषाय, मधुराम्लतिक्तकटुकषाय, मधुरलवणतिक्तकटुकषाय, मधुराम्ललवणतिक्तकटु ।

अम्ल रस के साथ अन्य चार रसों का संयोग—	१
अम्ललवणतिक्तकटुकषाय	६
(ङ) छः रसों का संयोग—	१
मधुरअम्ललवणकटुतिक्तकषाय ।	योग ५७
(च) मधुर आदि पृथक्-पृथक् रस—	६

मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ।

इस प्रकार दो-दो के १५, तीन-तीन के २०, चार-चार के १५, पाँच-पाँच के ६, एवं छः रसों का १—इस प्रकार कुल योग ५७ होता है। यह 'रससंयोग' कहलाता है। इसके अतिरिक्त मधुरादि एक-एक रस की भेद-कल्पना छः होती है। अतः इन छः भेदों को सत्तावन संयोगों में मिलाने से रसभेद की संख्या का कुल योग तिरसठ होता है।

दोष एवं भेषज के अनुसार असंख्य रस-भेद

ते रसानुरसतो रसभेदास्तारतम्यपरिकल्पनया च ।
सम्भवन्ति गणनां समतीता दोषभेषजवशादुपयोज्याः ॥ ३८ ॥

इति रसभेदीयो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

ये तिरसठ रस भेद से तथा तारतम्य की विवेचना से असंख्य हो जाते हैं। इन रसों का प्रयोग दोष और भेषज की दृष्टि में विचार कर करना चाहिए।

रसों के तिरसठ भेद

संख्या	भेद संख्या	रस	उदाहरण
१	१	(क) मधुर	गोदुग्ध
२	२	अम्ल	कच्चा आम
३	३	लवण	सैन्धव
४	४	तिक्त	निम्ब
५	५	कटु	चव्य
६	६	कषाय	पद्मकन्द
७	१	(ख) मधुराम्ल	कपित्थफल
८	२	मधुरलवण	उष्ट्रीक्षीर
९	३	मधुरतिक्त	सर्जरस
१०	४	मधुरकटु	कुक्कुरमांस
११	५	मधुरकषाय	तिलतैल, धन्वनफल
१२	६	अम्ललवण	उषक (क्षारमृतिका)
१३	७	अम्लतिक्त	सुरा
१४	८	अम्लकटु	चुक्र (शुक्त)
१५	९	अम्लकषाय	हस्तिनी की दधि
१६	१०	लवणतिक्त	त्रपु, सीसा
१७	११	लवणकटु	गोमूत्र
१८	१२	लवणकषाय	समुद्रफेन

१९	१३	तिक्तकटु	कर्पूर, जातीफल
२०	१४	तिक्तकषाय	हस्तिनी घृत
२१	१५	कटुकषाय	भल्लातकमज्जा
२२	१	(ग) मधुराम्ललवण	हस्तिनीमांस
२३	२	मधुराम्लतिक्त	गेहूँ से बनी सुरा
२४	३	मधुराम्लकटु	शल्यमांसादि
२५	४	मधुराम्लकषाय	मस्तु-तक्रादि
२६	५	मधुरलवणतिक्त	शम्बूकादि मांस
२७	६	मधुरलवणकटु	जंगली कबूतर का मांस
२८	७	मधुरलवणकषाय	ताप्य, कासीस आदि
२९	८	मधुरतिक्तकटु	केतकी फल
३०	९	मधुरतिक्तकषाय	गुडूच्यादि
३१	१०	मधुरकटुकषाय	एरण्डतैल
३२	११	अम्ललवणतिक्त	हस्ति-मूत्र
३३	१२	अम्ललवणकटु	रौप्य-शिलाजतु
३४	१३	अम्ललवणकषाय	हस्तिनीदधि
३५	१४	अम्लतिक्तकटु	मरिचसंस्कृत सुरा
३६	१५	अम्लतिक्तकषाय	करिमांसयुत सुरादि
३७	१६	अम्लकटुकषाय	अम्लवेतस
३८	१७	लवणतिक्तकटु	भेड़ का मूत्र
३९	१८	लवणतिक्तकषाय	समुद्रफेन
४०	१९	लवणकटुकषाय	भिलावे का आसव
४१	२०	तिक्तकटुकषाय	कृष्ण अगुरु
४२	१	(घ) मधुराम्ललवणतिक्त	गोमूत्र
४३	२	मधुराम्ललवणकटु	गोमूत्र से मिला शिलाजीत
४४	३	मधुराम्ललवणकषाय	सैन्धव से मिला तक्र
४५	४	मधुराम्लतिक्तकटु	लहसुन से मिली सुरा
४६	५	मधुराम्लतिक्तकषाय	शंख
४७	६	मधुराम्लकटुकषाय	कांजी से मिला एरण्ड तैल
४८	७	मधुरलवणतिक्तकटु	उदुम्बर से मिला यव
४९	८	मधुरलवणतिक्तकषाय	समुद्रफेन से मिला शर्करायुक्त चंदन
५०	९	मधुरलवणकटुकषाय	गोमूत्र से मिला तैलादि
५१	१०	मधुरतिक्तकटुकषाय	तिल, गुग्गुल
५२	११	अम्ललवणतिक्तकटु	सैन्धव-सौवर्चल से मिली शुक-मांसादि सुरा
५३	१२	अम्ललवणतिक्तकषाय	उद्भिद् लवण से युक्त शुकमांसादि
५४	१३	अम्ललवणकटुकषाय	सौवर्चल से युक्त हस्तिनी का दधि
५५	१४	अम्लतिक्तकटुकषाय	बालमूली से युक्त हस्तिनी का दधि
५६	१५	लवणतिक्तकटुकषाय	रोमकयुक्त कच्चा बिल्व

५७	१	(ङ) मधुराम्ललवणतिक्तकषाय	उद्भिद् लवणयुक्त तक्र
५८	२	मधुराम्ललवणकटुकषाय	त्रिकटु-यवयुक्त तक्र
५९	३	मधुरालतिक्तकटुकषाय	हरीतकी
६०	४	मधुरलवणतिक्तकटुकषाय	रसोन
६१	५	मधुराम्ललवणतिक्तकटु	आम-करौंदा युक्त भूना बैंगन
६२	६	अम्ललवणतिक्तकटुकषाय	भल्लातक-रौप्य-शिलाजीत से युक्त नीम
६३	१	(च) मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय	पारद

इस प्रकार रसभेदीय नामक अष्टादश अध्याय समाप्त ॥

अध्याय सारांश

इस अध्याय में रस की परिभाषा एवं योनि बतला कर रस के पाञ्चभौतिक संगठन का उल्लेख किया गया है। पुनः छः रसों का स्वरूप (लक्षण) एवं गुण-कर्म पृथक्-पृथक् बतलाया गया है। छः रसों के द्रव्यों की विस्तृत सूची भी मधुरस्कन्ध आदि नामों से दी गई है।

मधुरादि रस प्रधान द्रव्यों के विचित्र कर्म

द्रव्य	कर्म
१. पुराना शालि, यव, गेहूँ, मूँग, मधु, शर्करा एवं जांगलपशु-पक्षी का मांस।	मधुर रस होते हुए भी कफोत्पादक नहीं।
२. आमलकी एवं दाडिम।	अम्ल रस होते हुए पित्तकारक नहीं।
३. सैन्धव।	लवण रस होते हुए भी चक्षुष्य।
४. गुडूची, पटोल (परवल), शुण्ठी, पिप्पली तथा लहसुन।	तिक्त एवं कटु रस होते हुए भी वातकारक एवं अवृष्य नहीं।
५. हरीतकी।	कषाय रस होते हुए भी शीतवीर्य एवं स्तम्भक नहीं।

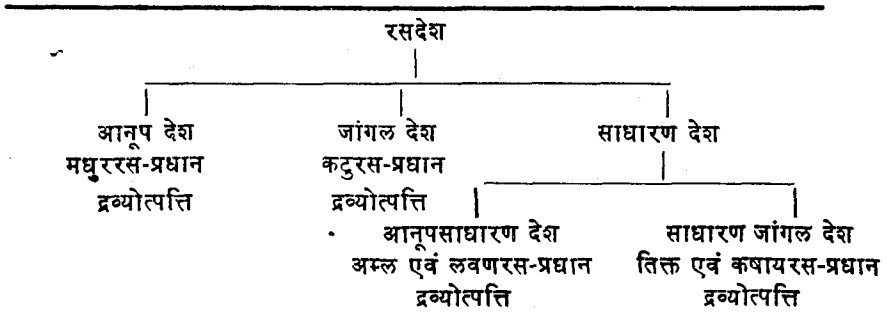

एकोनविंशोऽध्यायः

अथातो दोषादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'दोषादि-विज्ञानीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

आदि शब्द से धातु एवं मल लिये जायेंगे। दोष निराधार होते हैं, उनका ज्ञान सम्भव नहीं हैं, इसलिए धातु एवं मलों का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, केवल दोषों का नहीं। इसी से दोषादि विज्ञान की व्याख्या की जाती है। दूष् धातु में अच् प्रत्यय लगकर दोष शब्द बनता है। दूष वैकृते अर्थ में प्रयुक्त होता हैं, जिसका अर्थ विकृत करने वाला होता है। जो विकृत होते हैं, वे दूष्य होते हैं। दूष् में यत् प्रत्यय लगकर दूष्य बनता है, जिसका अर्थ दूषण के योग्य होता है।

'दोष' का विवेचन प्रथम अध्याय में विस्तारपूर्वक किया गया है। आचार्य प्रियव्रत शर्मा के विचार से प्रकृतिहेतुत्व, विकृतिहेतुत्व एवं प्राणात्मक—ये तीन बातें दोष-लक्षण में होनी चाहिए। इनसे दोषों के प्राकृत एवं वैकृत दोनों स्वरूपों का बोध होता है। यहाँ प्रकृतिहेतुत्व दो अर्थों में ग्रहण करना चाहिए—१. प्राकृत कर्मों के संचालन में तथा २. प्रकृत्यारम्भक के रूप में। अतः दोषों का लक्षण निम्नांकित रूप में निष्पन्न होता है—

'प्राणात्मकत्वे सति प्रकृतिविकृतिहेतुत्वं दोषत्वम्।'

अर्थात् प्राण का घटक होने के साथ जो प्रकृति (देह प्रकृति एवं प्राकृतिक क्रियाओं) तथा विकृति का कारण है, वह दोष कहलाता है।

Dosa may be defined as a factor of *Prana* which constitutes the individual *Prakriti*, controles the Physiological functions and initiates the Pathological changes.

दोषों के प्राकृत कर्म

दोषधातुमलमूलो हि देहः। तमुच्छ्वासनिश्वासोत्साहप्रस्पन्देन्द्रियपाटववेगप्रवर्तनादिभिर्वायुरनुगृह्णाति। पक्त्यूष्माभिलाषक्षुत्पिपासाप्रभाप्रसाददर्शनमेधाशौर्यमार्दवादिभिः पित्तम्। स्थैर्यस्नेहसन्धिबन्धवृषताक्षमाधीधृतिबलालौल्यादिभिः श्लेष्मा ॥ ३ ॥

वायु आदि दोष, रसादि धातु एवं पुरीषादि मल शरीर के मूल (कारण) हैं। इसलिए उनके लक्षणों की व्याख्या करेंगे—

वायु—उच्छ्वास (श्वास-निर्गम), निःश्वास (श्वास-प्रवेश), उत्साह (अध्यवसाय), प्रस्पन्दन (अनुचेष्टा), इन्द्रियपाटव (विषयग्रहण-सामर्थ्य), वेगप्रवर्तन (मल-मूत्रादि प्रवृत्ति) आदि कार्यों से शरीर का उपकार करते हैं।

पित्त—पक्ति (पाचनक्रिया), ऊष्मा (तेज), अभिलाषा (प्रिय वस्तुओं के उपभोग की इच्छा), क्षुधा, पिपासा, प्रभा, कान्ति, प्रसाद (प्रसन्नता), दर्शन (दृष्टि), मेधा (ज्ञानधारण), शौर्य (बल), मार्दव (सौकुमार्य) आदि कार्यों से शरीर का उपकार करते हैं।

कफ—स्थैर्य (शरीर में दृढ़ता), स्नेह (स्निग्धता), सन्धि-बन्धन, वृषता (स्त्री-गमन शक्ति), क्षमा (सहिष्णुत्व), धी (बुद्धि), धृति, बल, अलौल्य (लालच का अभाव) आदि से शरीर को अनुगृहीत करता है।

दोष, धातु और मल शरीर के मूल (जड़) हैं। जिस प्रकार वृक्षों की वृद्धि-क्षय तथा आरोग्य-अनारोग्य मूल पर स्थित हैं, उसी प्रकार शरीर की वृद्धि-क्षय तथा आरोग्य-अनारोग्य का मूल कारण दोष, धातु एवं मल ही हैं। 'मूलमिव मूलम्·····वृक्षादीनां मूलं यथा विकृताविकृतं तेषां क्षयोपचयहेतुस्तद्वदेव दोषादयोऽपि शरीरस्य'। (हाराणचन्द्र)।

महर्षि अग्निवेश ने वायु का प्राकृत कर्म इस प्रकार बतलाया है—

'उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माऽविकारजम्॥' (च० सू० १८।४९)

पुनः कहा है—

'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मना, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः शब्दस्पर्शयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणां, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः'। (च० सू० १२)

अर्थात् वायु तन्त्र रूपी यन्त्र को धारण करता है। प्राण, उदान, समान, व्यान तथा अपान स्वरूप विविध चेष्टाओं का प्रवर्त्तक, मन का नियन्त्रक एवं प्रवर्तक, सभी इन्द्रियों को उनके अपने-अपने विषयों तक और विषय-प्रतीति को मष्तिष्क तक पहुँचाता है। शरीर की सभी धातुओं का व्यूहन करता है अर्थात् एक-दूसरे को साथ में गूंथे रखता है। शरीर का सन्धान अर्थात् सभी अवयवों को परस्पर संयुक्त करता है। वाणी का प्रवर्तक है, शब्द एवं स्पर्श की प्रकृति अर्थात् कारण है। श्रवणेन्द्रिय एवं स्पर्शनेन्द्रिय का उपादान है। शरीर में हर्ष एवं उत्साह को जन्म देता है। जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, वृद्ध पित्त एवं कफ का शोषण करता है, मूत्र-पुरीष आदि मलों को बाहर निकालता है। स्थूल एवं अणु (छोटे-छोटे) स्रोतसों का भेदन करके उनमें प्रवेश करता है। गर्भ में शरीराकृतियों को यही निर्मित करता है। इस प्रकार अकुपित वायु आयु के परिपालन में कारण होता है। महर्षि सुश्रत ने प्राकृत वात का कर्म इस प्रकार बतलाया है—

'इन्द्रियार्थोपसम्प्राप्ति दोषधात्वग्न्य वैकृतम्।
क्रियाणामानुलोम्यं च कुर्याद् वायुरदूषितः॥
दोषधात्वग्निसमतां सम्प्राप्ति विषयेषु च।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः'॥ (सु० नि० १)

प्राकृत वायु मन सहित इन्द्रियों को उनके विषयों के साथ संयुक्त करता है। दोष, धातु एवं अग्नियों को विकार रहित अवस्था में रखता है तथा अनुलोम (देहानुकूल) क्रियाएँ करता है। आधुनिक दृष्टि से वात का प्राकृत कर्म नाड़ी-संस्थान तथा इन्द्रिय-व्यापार (Physiology of Nervous System & Special Senses) के समान कहा जा सकता है।

प्राकृत पित्त का कर्म महर्षि चरक ने इस प्रकार बतलाया है—

'दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत् तृष्णा देहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्'॥ (च० सू० १८।५०)

अर्थात् दर्शन, पक्ति (पचन), शरीर में ऊष्मा का नियमित रखना, भूख, प्यास, शरीर में कोमलता, कान्ति, मन की प्रसन्नता तथा मेधा को बनाये रखना पित का कार्य है ।

'भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम् ।
संसर्पत्स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान्गुणानपि' ॥ (सु० शा० ७)

पित्त अपनी सिराओं में गति करता हुआ भ्राजिष्णुता (कान्ति), अन्न में रुचि, अग्नि को प्रदीप्त तथा आरोग्य को उत्पन्न करता है । आधुनिक दृष्टि से पित्त का प्राकृत कर्म शरीर में होने वाली सभी रासायनिक क्रियाओं (Enzymes & Harmones) तथा पाचक रस के समान कहा जा सकता है ।

प्राकृत कफ का कर्म महर्षि चरक ने इस प्रकार बतलाया है—

'स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम् ।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्' ॥ (च० सू० १८।५१)

अर्थात् शरीर में स्निग्धता बनाये रखना, सन्धियों को सुसम्बद्ध रखना, शरीर स्थिर (दृढ़) बनाना, शरीर में गुरुता, मैथुन-शक्ति तथा बल को स्थिर रखना, क्षमा (सहन-शक्ति), धैर्य और अलोभ कफ का प्राकृत कर्म है ।

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः शिराश्चरन् ॥ (सु० शा० ७)

अपनी शिराओं में गति करता हुआ कफ अङ्गों में स्निग्धता, सन्धियों में स्थिरता, बल-सामर्थ्य और अन्य गुणों को उत्पन्न करता है ।

आधुनिक दृष्टि से कफ का सामान्य कर्म शरीर-संश्लेषण तथा उदक कर्म अर्थात् जल से सींचने के समान शरीर को आप्लावित करता है ।

रसादि धातुओं के प्राकृत कर्म

तुष्टिप्रीणनरक्तपुष्टिभिस्तु रसः । जीवनवर्णप्रसादनमांसपोषणैरसृक् । देहलेपमल-मेदःपुष्टिभिर्मांसम् । नेत्रगात्रस्निग्धतास्नेहदाढ्यर्यास्थिपुष्टिभिर्मेदः । देहोर्ध्वताधारणमज्ज-पोषणाभ्यामस्थि । स्नेहबलास्थिपूरणशुक्रपुष्टिभिर्मज्जा । हर्षबलगर्भोत्पादनैः शुक्रम् ॥४॥

१. **रसधातु**—तुष्टि (संतोष), प्रीणन (तर्पण, हृदयाश्वासन) तथा रक्त धातु की पुष्टि (धात्वाहार के रूप में) आदि से शरीर का उपकार करता है ।

२. **रक्तधातु**—जीवन (प्राणधारण), वर्ण-प्रसादन (वर्ण की स्वच्छता), मांस धातु के पोषण आदि से शरीर को उपकृत करता है ।

३. **मांसधातु**—देहलेप (अस्थियों पर लेपन), मल और मेदोधातु के पोषण आदि द्वारा शरीर को उपकृत करता है ।

४. **मेदोधातु**—नेत्रों एवं शरीर में स्निग्धता, स्नेह, दृढ़ता तथा अस्थि-पोषण आदि द्वारा शरीर को उपकृत करता है ।

५. **अस्थिधातु**—शरीर को सीधा खड़ा रखना तथा मज्जा-पोषण से शरीर का उपकार करता है ।

६. **मज्जाधातु**—स्नेह, बल, अस्थियों का पूरण तथा शुक्र के पोषण से शरीर का उपकार करता है ।

७. **शुक्रधातु**—हर्ष (आनन्द), बल तथा गर्भ के पालन द्वारा शरीर का उपकार करता है।

आधुनिक क्रिया-शारीर की दृष्टि से उपर्युक्त सप्त धातुओं को शरीर का धातु-संस्थान (Tissue System) कहा जा सकता है। डॉ० सी० द्वारिकानाथ ने रस धातु को (रक्तरस, अन्तरालस्थ द्रव तथा लसीका), रक्त धातु को (रक्त द्रव्य रुधिर कायाणु), मांस को (मांस धातु), मेदोधातु को वसा धातु (Adipose Tissue), अस्थि धातु को (Bone Tissue), मज्जा धातु को (Marrow Tissue) तथा शुक्र धातु को पुरुषगत प्रजोत्पादक द्रव्य माना है।

पुरीषादि मलों के प्राकृत कर्म

अवष्टम्भानिलानलधारणैः शकृत्। अन्नक्लेदनिर्वाहणेन मूत्रम्। क्लेदत्वक्स्नेह-रोमधारणैः स्वेद इति ॥ ५ ॥

१. **पुरीष**—[1]अवष्टम्भ (देहधारण-शक्ति) तथा वायु एवं अग्नि को धारण करके शरीर का उपकार करता है।

२. **मूत्र**—अन्न के द्वारा प्राप्त क्लेद (जलीयांश) को शरीर से बाहर निकालकर शरीर का उपकार करता है।

३. **स्वेद**—शरीर को क्लेद (आर्द्र), त्वचा को स्निग्ध तथा रोम को धारण करके शरीर का उपकार करता है।

यक्ष्मा के प्रकरण में पुरीष के अधीन जीवन बतलाते हुए कहा गया है—

'शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं हि जीवनम्।
तस्माद्यत्नेन संरक्षेद् यक्ष्मिणो मलरेतसी' ॥ (भैषज्यरत्नावली १४।७)

अर्थात् शरीर का बल शुक्र के अधीन है तथा जीवन मल के अधीन है, इसलिए यक्ष्मा के रोगी के शुक्र तथा पुरीष की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।

वृद्ध दोषजनित विकार

कार्श्यकार्ष्ण्यगात्रकम्पस्फुरणोष्णकामितासंज्ञानिद्रानाशबलेन्द्रियोपघातास्थिशूल-मज्जाशोषमलसङ्गाध्मानाटोपमोहदैन्यभयशोकप्रलापादिभिर्वृद्धो वायुः पीडयति। पीत-त्वग्लानीन्द्रियदौर्बल्यौजोविस्रंसशीताभिलाषदाहतिक्तास्यतातृष्मूर्च्छाऽल्पनिद्रताक्रोधादिभिः पित्तम्। श्वैत्यशैत्यस्थौल्यालस्यगौरवाङ्गसादस्रोतःपिधानमूर्च्छानिद्रातन्द्राश्वासकासप्रसेक-हृल्लासाग्निसादसन्धिविश्लेषादिभिः श्लेष्मा ॥ ६ ॥

१. **वृद्ध वायु**—कार्श्य (कृशत्व), कार्ष्ण्य (कृष्णत्व), गात्रकम्प[2] (शरीर में कम्पन), स्फुरण[3] (फड़कना), उष्णकामिता (उष्णाभिलाष), संज्ञानाश, निद्रानाश, बल उपघात, इन्द्रिय उपघात (इन्द्रियों की विकृति), अस्थिशूल, मज्जाशोष (मज्जा की शुष्कता), मलसंग (पुरीषादि मलों की रुकावट), आध्मान (अफारा), आटोप (उदर में गुड़गुड़ाहट), मोह, दैन्य (ग्लानि), भय, शोक, प्रलाप (असम्बद्ध भाषण) आदि वायुवृद्धि के लक्षण हैं।

---

१. 'अवष्टम्भः शरीरधारणशक्तिः' इतीन्दुः।

२. 'गात्राणां कम्पः सर्वाङ्गचलनम्' इतीन्दुः।

३. 'स्फुरणं गात्रैकदेशे स्वल्पं चलनम्' इतीन्दुः।

२. **वृद्ध पित्त**—त्वचा, नेत्र, मूत्र एवं पुरीष में पीतता, ग्लानि, इन्द्रिय-दौर्बल्य, ओजविस्रंसन, शीतल आहार-विहार की इच्छा, दाह, मुख में तिक्तता का अनुभव, प्यास, मूर्च्छा, अल्प निद्रा तथा क्रोध आदि पित्तवृद्धि के लक्षण हैं।

३. **वृद्ध कफ**—श्वैत्य (अङ्गों में शुक्लता), शैत्य (स्पर्श में शीतलता), स्थौल्य, आलस्य (अनुत्साह), गौरव (अङ्गों में भारीपन), अङ्गसाद (अङ्गों में शिथिलता), स्रोतोपिधान (स्रोतों का बन्द होना), मूर्च्छा, निद्रा, तन्द्रा, श्वास, कास, प्रसेक (लालास्राव), हृल्लास (मिचली), अग्निसाद (मदाग्नि) तथा सन्धिविश्लेष (संधियों में जकड़ाहट) आदि कफवृद्धि के लक्षण हैं।

रसादि धातुओं की वृद्धि के लक्षण

प्रसेकारोचकास्यवैरस्यहृल्लासस्रोतोरोधस्वादुद्वेषाङ्गमर्दादिभिरन्यैश्च श्लेष्मविकारप्रायै रसः। कुष्ठविसर्पपिटिकासृग्दराक्षिमुखमेण्ढ्रगुददाहप्लीहगुल्मविद्रध्यङ्गकामलाऽग्निनाशतमःप्रवेशरक्ताङ्गनेत्रतावातरक्तपित्तादिभिरन्यैश्च पित्तविकारप्रायैरसृक्। गलगण्डगण्डमालाऽर्बुदग्रन्थितालुजिह्वाकण्ठरोगस्फिग्गण्डौष्ठबाहूदरोरुजङ्घागौरववृद्धिभिः श्लेष्मरक्तविकारप्रायैश्च मांसम्। प्रमेहपूर्वरूपैः स्थौल्योपद्रवैश्चान्यैरपि श्लेष्मरक्तमांसविकारप्रायैर्मेदः। अध्यस्थिभिरधिदन्तैश्चास्थि। नेत्राङ्गरक्तगौरवैः पर्वसु च स्थूलमूलारुर्भिर्मज्जा। अतिस्त्रीकामताशुक्राश्मरीसम्भवाभ्यां शुक्राधिक्यम् ॥ ७ ॥

१. **वृद्ध रस धातु**—लालास्राव, अरुचि, मुख में विरसता, मिचली, स्रोतोरोध, स्वादुद्वेष (मधुररस से द्वेष), अङ्गमर्द आदि तथा प्रायः कफवृद्धि से उत्पन्न होने वाले विकार रसवृद्धि के लक्षण हैं।

२. **वृद्ध रक्त धातु**—कुष्ठ, विसर्प, पिटिका (पिण्डिका), असृग्दर (रक्तप्रदर), नेत्र-मुख-मेढ्र (मूत्र-मार्ग) तथा गुद में दाह, प्लीहारोग, गुल्मरोग, विद्रधि, व्यङ्ग (क्षुद्ररोग विशेष), कामला, अग्निनाश (मदाग्नि), तमःप्रवेश, शरीर तथा नेत्रों में लालिमा, वातरक्त एवं पित्तवृद्धि से उत्पन्न होने वाले विकार रक्तवृद्धि के लक्षण हैं।

३. **वृद्ध मांस धातु**—गलगण्ड, गण्डमाला, अर्बुद, ग्रंथिरोग, तालुरोग, जिह्वारोग, कण्ठरोग, स्फिक् (Gluteal Region), गण्डस्थल (Temporal Region), ओष्ठ, बाहु, उदर, ऊरु (Thigh), जँघा (Calf Region) में भारीपन और वृद्धि तथा प्रायः कफ एवं रक्त जन्य विकार के लक्षण होते हैं।

४. **वृद्ध मेदो धातु**—प्रमेह के पूर्वरूप, स्थौल्य के उपद्रव तथा कफ, रक्त एवं मांस वृद्धि होना आदि विकार मेदोवृद्धि के लक्षण हैं।

५. **वृद्ध अस्थि धातु**—अध्यस्थि (अधिक अस्थि या अस्थि के ऊपर अस्थि) एवं अधिदन्त (अधिक दाँत या दाँतों के ऊपर दाँत) अस्थिवृद्ध के लक्षण हैं।

६. **वृद्ध मज्जा धातु**—नेत्र एवं अङ्गों (शरीर) में लालिमा एवं भारीपन, पर्व-स्थानों (अंगुलियों की सन्धियों) में स्थूल मूलवाली एवं वेदना वाली पिण्डिकाओं को उत्पन्न करना मज्जावृद्ध के लक्षण हैं।

७. **वृद्ध शुक्र धातु**—पुनः-पुनः स्त्री-संग की इच्छा एवं शुक्राश्मरी की उत्पत्ति शुक्रवृद्ध के लक्षण हैं।

मलवृधि के लक्षण

कुक्षिशूलाटोपगौरवैः शकृदाधिक्यम्। बस्तितोदाध्मानैर्मूत्राधिक्यम्। कण्डूदौर्गन्ध्यैः स्वेदः। अन्येऽपि च दूषिकादिमला बाहुल्यद्रवताकण्डूगौरवैः॥ ८॥

वृद्ध पुरीष—कुक्षि (उदर) में शूल, आटोप (गुड़गुड़ाहट) और भारीपन उत्पन्न करता है।

वृद्ध मूत्र—वस्ति में तोद (सूई चुभने जैसी पीड़ा) तथा आध्मान करता है।

वृद्ध स्वेद—शरीर में कण्डू तथा दुर्गन्ध उत्पन्न करता है।

इस प्रकार अन्य नेत्र एवं कान आदि के मल की वृद्धि होने पर उन मलों की अधिकता, द्रवता, उन अङ्गों में कण्डू तथा भारीपन हो जाता है।

क्षीण दोषों के लक्षण

प्रसेकारुचिहृल्लाससंज्ञामोहाल्पवाक्चेष्टताप्रहर्षाङ्गसादाग्निवैषम्यादिभिः क्षीणो वायुः पीडयति। स्तम्भशैत्यानियततोददाहारोचकाविपाकाङ्गपारुष्यकम्पगौरवनखनयनशौक्ल्यादिभिः पित्तम्। भ्रमोद्वेष्टनानिद्राङ्गमर्दपरिष्लोषतोददवदाहस्फोटनवेपनधूमायनसन्धिशैथिल्यहृदयद्रवश्लेष्मोशयशून्यतादिभिः श्लेष्मा॥ ९॥

क्षीण वायु के लक्षण—लालास्राव, अरुचि, मिचली, संज्ञामोह (बुद्धिमोह), अल्पवाक् (स्वल्प भाषण), अल्प चेष्टा, अप्रहर्ष (हर्ष का होना), अंगसाद (अंगों में शिथिलता), अग्निवैषम्य आदि लक्षणों से क्षीण वायु शरीर को पीड़ित करता है।

क्षीण पित्त के लक्षण—स्तम्भ (अङ्गों में स्तब्धता), शैत्य (शीतता), अनियत तोद (अनिश्चित स्थानों पर पीड़ा), दाह, अरुचि, अविपाक (अपचन), अंगपारुष्य (अङ्गों में कठोरता), कम्पन, भारीपन, नख और नेत्रों में श्वेतता आदि लक्षणों से क्षीण पित्त शरीर को पीड़ित करता है।

क्षीण कफ के लक्षण—भ्रम, उद्वेष्टन (ऐंठन), अनिद्रा, अंगमर्द, परिष्लोष (गर्मी से स्वल्प त्वक्दाह), तोद (सुई चुभने जैसी वेदना), दव (मुख, ओष्ठ तथा तालु में दाह), स्फोटन (अंगों का फटना), वेपन (कम्पन), धूमायन (कण्ठ में धुआँ निकलने जैसा प्रतीत होना), सन्धि-शैथिल्य, हृदयद्रव (हृदयकम्प), श्लेष्माशय (उरः एवं कण्ठ आदि) में शून्यता का अनुभव आदि लक्षणों से क्षीण कफ शरीर को पीड़ित करता है।

क्षीण धातुओं के लक्षण

शब्दासहत्वहृदयद्रवकम्पशोषशूलशून्यतास्पन्दनघट्टनैरल्पयाऽपि च चेष्टया श्रमतर्षाभ्यां रसः। त्वग्रौक्ष्याम्लशीताभिलाषसिराशैथिल्यैरसृक्। स्फिग्गण्डादिशुष्कतातोदरौक्ष्याक्ष्णग्लानिसन्धिस्फोटनधमनीशैथिल्यैर्मांसम्। प्लीहवृद्धिकटीस्वापसन्धिशून्यताङ्गरूक्षताकार्श्यश्रमशोषमेदुरमांसाभिलाषैर्मांसक्षयोक्तैश्च मेदः। दन्तनखरोमकेशशातनरौक्ष्यपारुष्यसन्धिशैथिल्यास्थितोदास्थिबद्धमांसाभिलाषैरस्थि। अस्थिसौषिर्यनिस्तोददौर्बल्यभ्रमतमोदर्शनैर्मज्जा। श्रमदौर्बल्यास्यशोषतिमिरदर्शनाङ्गमर्दपाण्डुतासदनक्लैब्यमुष्कतोदमेण्ढ्रधूमायनैश्चिराच्च निषेकेण सरक्तनिषेकेण वा शुक्रम्॥ १०॥

---

१. 'श्लेष्माशया उरः कण्ठादयः' इतीन्दुः।

२. 'हृदयं घट्टते विलोडयते' इति गङ्गाधरः। (च० सू० १७।६४)

रसक्षय—शब्दासहत्व (शब्दश्रवण-द्वेष), हृदयद्रव (हृत्कम्प), कम्पन, शोष (शुष्कता), शूल, अंगशून्यता (प्रसुप्ति), स्पन्दन, घट्टन (विलोडन–मथना) तथा थोड़ी भी चेष्टा करने पर थकावट, प्यास आदि लक्षणों से शरीर का पीड़ित होना रसक्षय के लक्षण हैं।

रक्तक्षय—त्वचा में रूक्षता, अम्ल एवं शीतल पदार्थों की इच्छा, सिरा-शैथिल्य (सिराओं में शिथिलता) आदि लक्षणों से शरीर का पीड़ित होना रक्तक्षय के लक्षण हैं।

मांसक्षय—स्फिक् (नितम्ब), गण्डस्थल आदि में शुष्कता, तोद, रूक्षता, अक्षग्लानि (इन्द्रियदौर्बल्य), सन्धिस्फोटन (सन्धियों में व्यथा), धमनी-शैथिल्य आदि लक्षणों से शरीर का पीड़ित होना मांसक्षय के लक्षण हैं।

मेदोक्षय—प्लीहावृद्धि, कटिस्वाप (कटि में स्पर्शज्ञान का अभाव), सन्धियों में शून्यता, अंगो में रूक्षता एवं कृशता, थकावट, शोष (सूखापन), मेदुर मांस अभिलाषा (मेदस्वी प्राणियों के मांस की इच्छा) तथा मांसक्षय के उपर्युक्त लक्षणों से शरीर का पीड़ित होना मेदोक्षय के लक्षण हैं।

अस्थिक्षय—दन्त, नख, रोम एवं केश का गिरना, रूक्षता, कर्कशता, सन्धिशैथिल्य, अस्थितोद (अस्थि में वेदना) तथा अस्थिबद्ध मांस की अभिलाषा (अस्थि में लगे हुए मांस को खाने की इच्छा) आदि अस्थिक्षय के लक्षण होते हैं।

मज्जाक्षय—अस्थि-सौषिर्य (अस्थियों में खोखलापन), निस्तोद (भीषण वेदना), दौर्बल्य, भ्रम, तमोदर्शन (आँखों के सामने अँधेरा दिखलाई पड़ना) आदि मज्जाक्षय के लक्षण होते हैं।

शुक्रक्षय—थकावट, दौर्बल्य, आस्यशोष (मुखशोष), तिमिर-दर्शन (अन्धकार छाना), अंगमर्द (अंगों में वेदना), पाण्डुता, सदन (आलस्य), क्लैब्य (नपुसंकता), मुष्क (Testes) में वेदना, मेढ्रधूमायन (शिश्न एवं भग से धुआँ निकलने जैसी प्रतीति), मैथुन करने पर विलम्ब से वीर्य का स्खलन अथवा रक्तमिश्रित शुक्र का स्खलन आदि शुक्रक्षय के लक्षण होते हैं।

मलक्षय के लक्षण

सशब्दस्य वायोः कुक्षौ तिर्यगूर्ध्वं च भ्रमणेनान्त्रवेष्टनेन पार्श्वहृदयपीडनेनाल्पतया च स्रकृत्। बस्तिनिस्तोदमुखशोषकृच्छ्राल्पविवर्णमूत्रतादिभिः सरुधिरमूत्रतया वा मूत्रम्। स्तब्धरोमतारोमच्यवनत्वक्परिपाटनस्वापपारुष्यस्वेदनाशैः स्वेदः। अन्येऽपि च मला यथायथं मलायनदोषतोदशोषशून्यत्वलाघवैः॥ ११॥

पुरीषक्षय के लक्षण—अपान वायु शब्द के साथ उदर में तिर्यक् या ऊर्ध्व भ्रमण करती हुई आँतों में ऐंठन उत्पन्न करते हुए हृदय एवं पार्श्व में वेदना उत्पन्न करती है एवं अल्प मात्रा में पुरीष आता है।

मूत्रक्षय के लक्षण—वस्ति में भीषण वेदना, मुखशोष, मूत्रकृच्छ्र (मूत्र-त्याग करने में वेदना), मूत्राल्पता, मूत्र में विवर्णता (विकृति) अथवा रक्तमिश्रित मूत्र का आना—ये मूत्रक्षय के लक्षण हैं।

स्वेदक्षय के लक्षण—स्तब्धरोमता (रोमकूपों की रूक्षता), रोमच्यवन (रोमों का गिरना–रोमच्युति), त्वक्परिपाटन (त्वचा का फटना), त्वक्स्वाप (त्वचा में अचैतन्यता), पारुष्य (त्वचा में कर्कशता) तथा स्वेद का न होना—ये स्वेदक्षय के लक्षण है।

अन्य मलों (जैसे नासामल, कर्णमल या नेत्रमल) के क्षय होने पर नेत्र आदि मलायनों में दोष (विकार), तोद, शोष (सूखना), शून्यता तथा लघुता आदि लक्षण होते हैं।

दोष, धातु एवं मल की क्षय-वृद्धि का सामान्य सिद्धान्त

विपरीतगुणक्षयवृद्धिभ्यां च वृद्धिक्षयावुपलक्षयेत्। मलानां त्वतिसङ्गोत्सर्गाभ्यां च तद्वृद्धिक्षयौ। वृद्धेस्तु मलानां क्षयः पीडयति सुतरामनौचित्यात् ॥ १२ ॥

वातादि दोषों, रसादि धातुओं तथा पुरीषादि मलों के प्राकृत गुणों के विपरीत गुणों के क्षय से उनकी वृद्धि (जैसे—वात के विपरीत स्निग्ध आदि गुणों के क्षय से वात की वृद्धि) समझनी चाहिए एवं विपरीत गुणों की वृद्धि से उनका क्षय (जैसे—वात के विपरीत स्निग्ध आदि गुणों की वृद्धि से वात का क्षय) समझना चाहिए।

मलों के अतिसंग (अप्रवर्तन या रुकावट) तथा अत्यन्त उत्सर्ग (विसर्जन) होने से उनका क्षय समझना चाहिए। मलों की वृद्धि की अपेक्षा क्षय शरीर को अत्यधिक पीड़ित करता है, क्योंकि देहधारी प्रायः मलक्षय से अनभ्यस्त होते हैं, किन्तु वृद्धि का अभ्यास होता है।

दोष की क्षय-वृद्धि

दोष	वृद्धि	क्षय
वात	स्निग्ध आदि गुण का क्षय	स्निग्ध आदि गुण की वृद्धि
पित्त	शीत आदि गुण का क्षय	शीत आदि गुण की वृद्धि
कफ	रूक्ष आदि गुण का क्षय	रूक्ष आदि गुण की वृद्धि

वृद्धि-क्षय की चिकित्सा

तत्रास्थ्नि स्थितो वायुः, असृक्स्वेदयोः पित्तम्, शेषेषु तु श्लेष्मा। तस्मादेकवृद्धिक्षयसाधनत्वमेषां न त्वेवमस्थिवाय्वोः। सर्वेव हि वृद्धिः प्रायोऽतिसन्तर्पणनिमित्तत्वाच्छ्लेष्मणानुगता। तद्विपर्ययाच्च क्षयो वायुना। तस्माल्लङ्घनबृंहणाभ्यां वृद्धिक्षयजान् विकारानुपाचरेत्। पवने तु बृंहणलङ्घनाभ्याम्। सर्वत्र च द्रव्यगुणकर्मविपर्ययतुल्यभाषेनाविरुद्धेन ॥ १३ ॥

उन रसादि धातुओं एवं स्वेदादि मलों के मध्य में वायु अस्थि में स्थित रहता है, पित्त रक्त तथा स्वेद में रहता है और कफ शेष सभी धातुओं यथा—रस-मांस-मेद-मज्जा-शुक्र में रहता है। इसलिए इन रसादि (आश्रय) तथा वातादि (आश्रयी) की वृद्धि एवं क्षय में एक ही (समान) चिकित्सा होती है, किन्तु अस्थि एवं वायु की वृद्धि एवं क्षय में ऐसा नहीं होता है, क्योंकि प्रायः शरीरस्थ सभी प्रकार की धातुओं की वृद्धि अत्यन्त सन्तर्पण से होती है और वह वृद्धि कफ के अनुकूल होती है और सन्तर्पण के विपरीत अपतर्पण से सभी का क्षय होता है, किन्तु वायु की वृद्धि होती है। इसलिए वृद्धि एवं क्षय से उत्पन्न रोगों में लघंन एवं बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए। किन्तु वायु की वृद्धि में बृंहण (सन्तर्पण) तथा क्षय में लंघन (अपतर्पण) चिकित्सा करनी चाहिए और सब स्थानों पर द्रव्य, गुण एवं कर्म के विपरीत एवं तुल्य (समान) चिकित्सा करनी चाहिए, किन्तु वह सिद्धान्त विरुद्ध नहीं होना चाहिए।

वृद्धि-क्षय का चिकित्सा-सिद्धान्त

दोष	धातु एवं मल	वृद्धि-चिकित्सा	क्षय-चिकित्सा
१. वायु	अस्थि	बृंहण	लंघन
२. पित्त	रक्त एवं स्वेद	अपतर्पण	सन्तर्पण
३. कफ	रस-मांस-मेद-मज्जा-शुक्र	अपतर्पण	सन्तर्पण

वृद्धि-क्षय के कारण एवं उनकी चिकित्सा

धातवः खलु शारीराः समानैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽऽहारविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिमाप्नुवन्ति । ह्रासं तु विपरीतैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वा । तथाहि देहे धातवो ये गुरवस्ते गुरुभिरैक्यकारितयोपचीयन्ते । लघवस्तु लघुभिस्तद्विपरीतैस्तु पृथक्त्वकारिभिरपचीयन्ते । तस्मादन्येभ्यो द्रव्येभ्योऽपि सुतरां रक्तमाप्याय्यते रक्तेन, मांस मांसेन, मेदो मेदसा, अस्थिः तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ञा, शुक्रं शुक्रेणामगर्भेण गर्भः । यत्र त्वेवं लक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविहाराणामसान्निध्यं स्यात्, सन्निहितानां चाभ्यवहरणमशक्यं विरुद्धत्वाद्घृणित्वादरुचेरन्यस्माद्वा कारणान्तरात् । तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामाहारविहाराणामभ्यवहारः श्रेयान् । तद्यथा—शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धशीतानामपरेषां च द्रव्याणाम् ॥ १४ ॥

शरीर को धारण करने वाले सभी दोष, धातु आदि अपने समान गुण वाले सजातीय आहार-विहार के अभ्यास (सतत सेवन) से वृद्धि को प्राप्त होते हैं अथवा प्रायः समान गुण वाले विजातीय पदार्थों के सेवन करने पर वृद्धि को प्राप्त होते हैं । विजातीय एवं विपरीत गुण वाले आहार-विहार के सेवन से ह्रास (क्षय) को प्राप्त होते हैं । इसलिए शरीर में जो धातुएँ गुरु गुण वाली हैं, वे गुरु गुण प्रधान आहार-विहार के निरन्तर सेवन से गुण की समानता के कारण उपचित अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होती हैं और उसके विपरीत लघु गुण वाली जो धातुएँ हैं, वे लघु गुण वाले आहार-विहार के सेवन से उपचित होती हैं और विपरीत गुण के आहार-विहारों के अभ्यास से पृथक्त्वकारी (असमान) होने के कारण अपचित (क्षय को प्राप्त) होती हैं । इसलिए अन्य रक्तवर्द्धक द्रव्यों की अपेक्षा रक्तपान से रक्त, मांसवर्द्धक द्रव्यों की अपेक्षा मांस-सेवन से मांस, मेदोधातु के सेवन से मेदोधातु, मज्जा के सेवन से मज्जा, शुक्र के सेवन से शुक्र और अण्डा आदि आमगर्भ के सेवन से गर्भ की वृद्धि होती है । किन्तु जहाँ पर धातु के सजातीय (समान) गुण वाले आहार-विहार होने पर भी किसी कारण से उनका सेवन करना सम्भव न हो अथवा प्रकृति-विरुद्ध होने से या घृणा के कारण या अरुचि के कारण या अन्य किसी कारण से इन वस्तुओं का सेवन असम्भव हो, तो वहाँ अधिकतर समान गुण वाले अन्य आहार-विहार का सेवन करना श्रेयस्कर होता है । जैसे शुक्रक्षय में क्षीर एवं घृत का तथा मधुर, स्निग्ध, शीत गुण वाले द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए ।

धातुओं एवं मलों के वृद्धि-क्षय की चिकित्सा

कर्मापि यद्यस्य धातोः समानक्रियतया वृद्धिकरं तस्य तस्य वृद्धिमभिलषता तत्तदासेव्यम् । तथैव चातुल्यक्रियतया ह्रासकरं तदर्थिनेति । अपि च—विशेषतो रक्तवृद्धिजान् रक्तनिबर्हणप्रसादनकायविरेचनैः । मांसवृद्धिजान् संशोधनशस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः । मेदो-

जान्स्थौल्यकार्श्यक्रियाक्रमेण। रसक्षयजान्मांसरसमद्यक्षीरैः। अस्थिक्षयजान् वस्तिभिस्तिक्तोपहितैश्च क्षीरसर्पिर्भिः। शुक्रद्वृद्धिजानतीसारसाधनेन। शुक्रक्षयजान् यवमाषकुल्माषाजमेषमध्यादिभिः। मूत्रवृद्धिक्षयजान् मेहकृच्छ्रचिकित्सया। स्वेदक्षयजानभ्यङ्गव्यायाममद्यस्वप्ननिवातशरणस्वेदैरिति ॥ १५ ॥

जो कर्म जिस धातु के समान गुण वाला होता है, उसको सेवन करने से उस धातु की वृद्धि होती है। इसलिए जो व्यक्ति जिस धातु को बढ़ाना चाहे उसे उसके समान गुण वाले कर्म का सेवन करना चाहिए और इसी प्रकार धातुओं के अतुल्य (असमान) क्रिया करने वाले कर्मों का सेवन ह्रास के लिए करना चाहिए। विशेषतः रक्त की वृद्धि से उत्पन्न रोगों में रक्त-निर्हरण (शिरावेध आदि के द्वारा), प्रसादन (रक्तशोधन) तथा कायविरेचन करना चाहिए। मांस-वृद्धि से उत्पन्न रोगों में संशोधन (वमन-विरेचन आदि), शस्त्रकर्म, क्षारकर्म तथा अग्नि-कर्म करना चाहिए। मेदोवृद्धि से उत्पन्न विकारों में स्थौल्य चिकित्सा और मेदक्षयजन्य रोगों की कार्श्य चिकित्सा करनी चाहिए। रसक्षय-जन्य विकारों में मांस-रस, मद्य एवं क्षीर का सेवन करना चाहिए। अस्थिक्षय से उत्पन्न रोगों में तिक्तद्रव्य मिश्रित वस्ति तथा दुग्ध-घृत आदि चिकित्सा करनी चाहिए। शुक्रत् (पुरीष) वृद्धि से उत्पन्न रोगों में अतिसार के समान उदर शोधन तथा जठराग्नि दीपक आदि चिकित्सा करनी चाहिए। पुरीषक्षय से उत्पन्न रोगों में यव (*Hordeum vulgare* Linn.), माष (*Phaseolus radiates*), कुल्माष, अजा (बकरी) तथा मेष (भेड़) के जठर (उदर) का मांस आदि देना चाहिए। मूत्रवृद्धि से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा प्रमेह के समान तथा मूत्रक्षय से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र के समान करनी चाहिए। स्वेदक्षय से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा अभ्यंग, व्यायाम, मद्यपान, निद्रा, निवात स्थान में निवास तथा स्वेदन-विधि आदि के द्वारा करनी चाहिए।

अग्नि धातु सम्बन्ध

भवति चात्र—

ये पाचकांशा धातुस्थास्तेषां मान्द्यातितैक्ष्ण्यतः।
वृद्धिः क्षयश्च धातूनां जायते शृणु चापरम् ॥ १६ ॥
पारम्पर्येऽपि दावाग्नेस्तत्तत्प्राप्येन्धनं शिखा।
वृद्धिक्षयौ यथा याति तद्वद्धातुपरम्परा ॥ १७ ॥
द्रव्यं तुल्यं विशिष्टं हि स्वं स्वं वृद्ध्यै क्षयाय च।
प्रत्यात्मबीजनियतं भृशमाशु प्रजायते ॥ १८ ॥

सातों धातुओं में पाचकाग्नि रूप पित्त का जो अंश होता है, उनकी मन्दता होने से धातु की वृद्धि होती है और तीक्ष्णता होने से क्षय होता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि यद्यपि अन्न को पकाने वाली अग्नि के अधीन धात्वग्नि की वृद्धि और क्षय हुआ करती है, तथापि आहार द्रव्य की शक्ति के कारण जो धात्वग्नि मन्द हो जाती है, वह अपनी धातु को नष्ट करने (जलाने) में अशक्त होने से वृद्धि ही करती है। इसी प्रकार तीक्ष्ण अग्नि अपनी धातु का क्षय करती है। इसको और स्पष्ट करने के लिए कहते हैं—'अपरं शृणु' अर्थात् और सुनो, जिसे दृष्टान्त द्वारा समझो—

---

१. 'यवपिष्टमुष्णोदकसिक्तमीषत् स्विन्नम्, पूपीकृतं कुल्माषमाहुः'।
(च० सू० २६।२०६ पर चक्रपाणि-व्याख्या)

दवाग्नि की शिखा यद्यपि एक के बाद दूसरे वृक्ष को जलाती हुई निरंतर वनदाह में प्रवृत्त होती हैं, उस समय (छोटे-बड़े) वृक्ष को पार करके कभी ज्वाला बढ़ती है, कभी घटती है। इसी प्रकार धातु के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। इस सम्बन्ध में कहते हैं कि दावाग्नि यद्यपि समस्त वन को जलाती है, तथापि उनकी ज्वाला जब बड़े वृक्ष रूपी इंधन को पाती है, तब बढ़ जाती है और जब अल्प इंधन पाती है, तो घट जाती है। धात्वग्नि की मन्दता में जलाने की शक्ति न रह जाने से आहार-सार का प्रवाह निरन्तर बढ़ता रहता है, तब धातु वृद्ध होती है और धातु तीक्ष्ण होने के कारण आहार-सार रूप धातु को जलाती है। इसलिए वह धातुक्षय हो जाता है।

सभी द्रव्य यद्यपि वह बाह्य हो या आभ्यन्तर हो, समान होते हैं। इसलिए अपने तुल्य द्रव्य के द्वारा वे शीघ्र ही बढ़ जाते हैं और विपरीतता से उनका ह्रास होता है। प्रत्येक के कारण नियत होते हैं। इसलिए अपने कारण द्वारा उसकी वृद्धि होती है। अपने कारण के क्षीण होने पर क्षय होता है। यह धातुओं के वृद्धि-क्षय का कारण है, जैसे माँस की वृद्धि का कारण जिस प्रकार मांस होता है, वैसा अन्य कोई द्रव्य नहीं।

पूर्व धातु से अपर धातु का सम्बन्ध

पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्।

पूर्व धातु (रस धातु) वृद्ध होकर अपर धातु (रक्तादि) को वृद्ध कर देता है और पूर्व धातु क्षीण होकर अपर धातु को क्षीण कर देता है।

दोष-धातु-मल दुष्टि एवं मलायन

दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान्॥ १९॥
अधो द्वे सप्त शिरसि खानि स्वेदवहानि च।
मला मलायनानि स्युर्यथास्वं तेष्वतो गदाः॥ २०॥

मधुर आदि रसों द्वारा दूषित वातादि दोष रस-रक्तादि धातुओं को दूषित कर देते हैं और दूषित हुए दोष तथा धातु मलों को दूषित कर देते हैं। दूषित दोष, धातु तथा मल मलायनों (मल-मार्गों) को दूषित कर देते हैं। मलमार्ग ये हैं—दो अधोगामी—(१) मूत्रमार्ग एवं (२) पुरीष मार्ग; सात मार्ग शिर में—(३-४) दोनों नेत्र, (५-६) दोनों नासाछिद्र, (७-८) दोनों कर्ण एवं (९) मुख मार्ग तथा (१०) स्वेदवह मार्ग (रोमकूप)। इसलिए जिस स्रोत में मल दूषित होते हैं, उन स्रोतों में रोग उत्पन्न हो जाता है।

धातुस्थ पित्त एवं धातुस्थ कफ का लक्षण

वक्ष्यन्ते वातजास्तत्र निदाने वातरोगिके।
पित्तं त्वचि स्थितं कुर्याद्विस्फोटकमसूरिकाः॥ २१॥
रक्ते बिसर्पं दाहं च मांसे मासावकोथनम्।
सदाहान्मेदसि ग्रन्थीन् स्वेदतृड्वमनं[1] भृशम्॥ २२॥
अस्थिन दाहं भृशं मज्ञि हारिद्रनखनेत्रताम्।
पूति पीतावभासं च शुक्रं शुक्रसमाश्रितम्॥ २३॥

---

१. 'स्वेदात्युद्वमनं' इति पाठान्तरम्।

शिरागतं क्रोधनतां प्रलापं स्नायुगं तृषम् ।
कोष्ठगं मदतृड्दाहान् व्यापिनोऽन्यांश्च यक्ष्मणः ॥ २४ ॥
श्लेष्मा त्वचि स्थितः कुर्यात्स्तम्भं श्वेतावभासताम् ।
पाण्ड्वामयं शोणितगो मांससंस्थोऽर्बुदापचीः ॥ २५ ॥
आर्द्रचर्मावनद्धाभगात्रतां चातिगौरवम् ।
मेदोगः स्थूलतां मेहमस्थ्नां स्तब्धत्वमस्थिगः ॥ २६ ॥
मज्जगः शुक्लनेत्रत्वं शुक्रस्थः शुक्रसञ्चयम् ।
विबन्धं गौरवं चाति शिरास्थः स्तब्धगात्रताम् ॥ २७ ॥
स्नायुगः सन्धिशूलत्वं कोष्ठगो जठरोन्नतिम् ।
अरोचकाविपकौ च तांस्तांश्च कफजान् गदान्[1] ॥ २८ ॥
विण्मूत्रयोः साश्रययोस्तत्र तत्रोपदेक्ष्यते ।
उपतापोपघातौ तु स्वाश्रयेन्द्रियगा मलैः ॥ २९ ॥

इनमें वातजन्य रोगों का वर्णन निदानस्थान के अध्याय पन्द्रह में किया जायेगा । पित्तजन्य एवं कफजन्य रोग निम्नलिखित प्रकार हैं—

पित्त जब त्वचा में स्थित होता है, तब विस्फोट एवं मसूरिका को उत्पन्न करता है । रक्त में स्थित होकर विसर्प तथा दाह को उत्पन्न करता है। मांस में स्थित होकर मांस में कोथ (सड़न) उत्पन्न करता है । मेदोधातु में स्थित होकर दाहयुक्त ग्रथियाँ, स्वेद की अधिकता, तृषा एवं वमन उत्पन्न करता है । जब अस्थियों में स्थित होता है, तब अत्यन्त दाह उत्पन्न करता है । मज्जा में स्थित पित्त नाखून एवं नेत्रों में हरिद्रा जैसा रङ्ग उत्पन्न करता है । शुक्र में स्थित पित्त शुक्र में दुर्गन्ध एवं शुक्र का वर्ण पीत कर देता है । शिराओं में स्थित पित्त क्रोध, संताप एवं असम्बद्ध प्रलाप उत्पन्न करता है । कोष्ठ में स्थित पित्त मद, प्यास, दाह तथा पूरे शरीर में फैलने वाले रक्तपित्त आदि रोग को उत्पन्न करता है ।

त्वचा में स्थित श्लेष्मा जड़ता तथा त्वचा में श्वेत वर्ण उत्पन्न करता है । रक्त में स्थित कफ पाण्डुरोग उत्पन्न करता है । मांस में स्थित कफ अर्बुद, अपची, शरीर का गीले चमड़े से आवृत होने जैसी प्रतीति एवं भारीपन उत्पन्न करता है । मेद में स्थित कफ स्थूलता एवं प्रमेह को उत्पन्न करता है । अस्थि में स्थित कफ स्तब्धता को उत्पन्न करता है । मज्जा में स्थित कफ नेत्र में श्वेत वर्ण उत्पन्न करता है । शुक्र में स्थित कफ शुक्र को रोककर इसकी मात्रा को बढ़ा देता है । सिरा में स्थित कफ विबन्ध (रुकावट), भारीपन तथा शरीर में स्तब्धता उत्पन्न करता है । स्नायु में स्थित कफ सन्धियों में शून्यता उत्पन्न करता है । कोष्ठ में स्थित कफ उदरवृद्धि, अरुचि, अविपाक (भोजन का न पचना) तथा अन्य कफजन्य रोगों को उत्पन्न करता है ।

पुरीष तथा मूत्र में स्थित वातादि दोष जिन रोगों को उत्पन्न करते हैं, उनका वर्णन मूत्राघात और अतिसार आदि के रूप में किया जायेगा और ये वातादि दोष जब इन्द्रिय अधिष्ठानों को विकृत करते हैं, तब उनमें उपताप (वेदना) एवं उपघात (विनाश) उत्पन्न करते हैं ।

---

१. 'कफसम्भवान्' इति पाठान्तरम् ।

धातुस्थ दोषों का लक्षण

दोष	(१) त्वक्	(२) रक्त	(३) मांस	(४) मेद	(५) अस्थि
वात	त्वक् स्फुटन, रूक्षता	तीव्रवेदना, संज्ञा-नाश, ताप, लालिमा, विवर्णता, अरूंषिका, विष्टम्भ, अरुचि, कृशता, भ्रम	तोदबहुल एवं कर्कश ग्रन्थि, भ्रम, अङ्गों में भारीपन, अतिवेदना, जड़ता, मुक्के या डण्डे से आघात जैसे अनुभव होना	मांसस्थ लक्षण	टांग, सन्धि एवं अस्थि में तीव्र शूल तथा बलक्षय
पित्त	विस्फोट, मसूरिका	विसर्प, दाह	कोथ	दाहयुक्त ग्रन्थियाँ स्वेद की अधिकता, तृषा एवं वमन	अत्यधिक दाह
कफ	जड़ता, श्वेतवर्णता	पाण्डुरोग	अर्बुद, अपची, शरीर का गीले चमड़े से आवृत्त होने के समान प्रतीति	स्थूलता एवं प्रमेह	स्तब्धता

दोष	(६) मज्जा	(७) शुक्र	(८) शिरा	(९) स्नायु	(१०) कोष्ठ
वात	अस्थियों में सौषिर्य, अनिद्रा स्तब्धता, वेदना	शुक्र का शीघ्र क्षरण, सङ्ग एवं शुक्रविकार	आध्मान, रिक्तता	गृध्रसी, आयाम कुबड़ापन	—
पित्त	नाखून एवं नेत्रों में हरिद्रा जैसा वर्ण	शुक्र में दुर्गन्ध, शुक्र का वर्ण पित्त	क्रोध, सन्ताप असम्बद्ध प्रलाप	—	मद, प्यास, दाह, सर्व शरीर में रक्तपित्त
कफ	नेत्र में श्वेतवर्णता	शुक्र का क्षरण रोककर मात्रा में वृद्धि	विबन्ध, भारीपन, शरीर में स्तब्धता	सन्धियों में शून्यता	उदरवृद्धि, अरुचि, अविपाक, अन्य कफजन्य रोग

दोषों का कोष्ठ से शाखा आदि में गमन और उसकी चिकित्सा

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्यादहिताचरणादपि ।
कोष्ठाच्छाखास्थिमर्माणि द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ ३० ॥
दोषा यान्ति तथा तेभ्यः स्रोतोमुखविशोधनात् ।
वृद्ध्याभिष्यन्दनात्पाकात्कोष्ठं वायोश्च निग्रहात् ॥ ३१ ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतु प्रतीक्षिणः ।
ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि ॥ ३२ ॥
तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु तु ।

कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु ॥ ३३ ॥
आगन्तुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा ।

वातादि दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होते हुए भी कोष्ठ में प्रधान रूप से स्थित होते हैं। कोष्ठ से रक्तादि धातुओं में निम्नलिखित प्रकार से पहुँच कर व्याधि को उत्पन्न करते हैं—

व्यायाम करने से, जठराग्नि की तीक्ष्णता से, अहित आचरण से तथा स्वभाव से ही वायु के शीघ्रगामी होने के कारण दोष कोष्ठ से रक्तादि धातुओं, त्वचा, अस्थि तथा मर्मों में पहुँच जाते हैं। स्रोतों का मुख शुद्ध हो जाने से या उन दोषों की वृद्धि के कारण अभिष्यन्दन होने से, पाक हो जाने से तथा वायु के निग्रह (प्रकृतिस्थ) हो जाने से दोष शाखाओं से कोष्ठ में आ जाते हैं। वहाँ कोष्ठ में आकर अन्य कारणों की प्रतीक्षा करते हैं। स्वयं कोई रोग उत्पन्न नहीं करते हैं। देश-काल एवं अन्य किसी हेतु को पाकर अपने आश्रय (स्थान) में अथवा अन्य आश्रयों में कुपित हो जाते हैं। इनमें वायु कदाचित् अपने स्थान में अथवा कदाचित् पित्त तथा श्लेष्मा के स्थान में कुपित होता है। इसी प्रकार पित्त तथा श्लेष्मा भी अपने-अपने स्थान में अथवा दूसरे के स्थान में कुपित होकर रोग उत्पन्न करते हैं।

इनमें अपने स्थान में स्थित दोष की चिकित्सा स्पष्ट है। अर्थात् दोषानुसार चिकित्सा करें। दूसरे स्थान में गये दोषों की चिकित्सा दो प्रकार की है—(१) यदि स्थानिक दोष की अपेक्षा आगन्तुक दोष बलवान् है, तो पहले आगन्तुक दोष की चिकित्सा करनी चाहिए। किन्तु आगन्तुक दोष निर्बल हो, तो प्रथम स्थानिक दोष की चिकित्सा करनी चाहिए। (२) यदि आगन्तुक एवं स्थानिक दोनों दोष समान बल वाले हों, तो प्रथम स्थानिक दोष की चिकित्सा करने के पश्चात् आगन्तुक दोष को शान्त करना चाहिए।

ओज

तेजो यत्सर्वधातूनामोजस्तत्परमुच्यते ॥ ३४ ॥
मृदु सोमात्मकं शुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् ।
यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद् गर्भरसाद्रसः ॥ ३५ ॥
संवर्तमानं हृदयं समाश्रयति यत्पुरा ।
यच्छरीररसः स्नेहः प्राणो यत्र प्रतिष्ठिताः ॥ ३६ ॥
यस्यानाशान्न नाशोऽस्ति प्रीणिता येन देहिनः ।
हृदयस्थमपि व्यापि तत्परं जीवितास्पदम् ॥ ३७ ॥
ओजः क्षीयेत कोपक्षुद्धचानशोकश्रमादिभिः ।
बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥
दुश्छायो दुर्मना रूक्षो भवेत् क्षामश्च तत्क्षये ।
जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम् ॥ ३९ ॥
ओजोवृद्धौ हि देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयाः ।

शरीर की सभी धातुओं का जो परम (प्रधान) तेज है, वह ओज कहलाता है। यह ओज मृदु, सौम्यस्वरूप, शुद्ध, किञ्चित् रक्त एवं पीतवर्ण होता है। यह गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में उसका सारभूत द्रव्य है और गर्भ की प्रथम धातु का भी यह प्रसाद भाग है, जो कि सर्वप्रथम हृदय में प्रविष्ट होता है, इसके पश्चात् शरीर में फैलता है। यह शरीर के रस का स्नेह भाग है, जिसमें

प्राण प्रतिष्ठित (वृद्ध) होते हैं, जिसके नाश न होने से मृत्यु नहीं होती और जिससे सभी प्राणी प्रीणित (तर्पित) होते हैं। यह हृदय में रहता हुआ भी समस्त शरीर में व्याप्त रहता है और यही ओज शिर-हृदय आदि जीवित स्थानों की अपेक्षा प्रधान रूप से जीवन का आस्पद (आश्रय) है।

ओज का क्षय—क्रोध करने से, भूखा रहने से, ध्यान (चिन्ता) करने से, शोक से तथा श्रम आदि से ओज का क्षय हो जाता है। इस दशा में मनुष्य को अकारण भय लगता है, दुर्बलता मालूम पड़ती है, चिन्ता अधिक होती है, हृदय आदि स्थानों में वेदना होती है। वह दुश्छाय (मलिन कान्ति), दुर्मना (निरुत्साह), रूक्ष (स्नेह रहित) क्षाम (कृशांग) हो जाता है। ओज के क्षय में जीवनीय गण की औषधियों से सिद्ध क्षीर, मांसरस आदि औषधि के रूप में देना चाहिए। ओज की वृद्धि होने पर शरीर की तुष्टि (संतोष), पुष्टि (स्थौल्य) तथा बल (शक्ति) की सम्यक् वृद्धि हो जाती है।

महर्षि सुश्रुत ने ओज का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

'ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्॥
देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम्।
तदभावाच्च शीर्यन्ते, शरीराणि शरीरिणाम्'॥ (सु० सू० १५।२२-२३)

ओज सौम्य, स्निग्ध, शुक्ल (श्वेत), शीत (शीतवीर्य), स्थिर (शरीरावयवस्थैर्यकारक), सर (प्रसरणशील), विविक्त (निर्मल), मृदु, मृत्स्न (पिच्छिल) तथा प्राण का उत्तम आयतन (आधार) है। शरीर का प्रत्येक अवयव इससे व्याप्त होता है और इसके अभाव से देहधारियों का शरीर नष्ट हो जाता है।

महर्षि चरक ने कहा है—

'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्।
ओजः शरीरे सङ्ख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति॥
प्रथमं जायते ह्योजं शरीरेऽस्मिञ्छरीरिणाम्।
सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते'॥ (च० सू० १७।७४-७५)

कुछ-कुछ लाल और कुछ पीला जो शुद्ध हृदय में रहता है, वह शरीर में ओज कहा जाता है, उसके नष्ट होने पर मनुष्य का नाश हो जाता है। देहधारियों के शरीर में सर्वप्रथम ओज की उत्पत्ति होती है। उसका वर्ण घी के समान, रस मधु के समान तथा गन्ध धान की खील के समान होता है।

ओज से कुछ स्थानों पर जीवशक्ति, रसधातु, शरीर की उष्णता तथा कफ आदि भी लिया गया है—

'रसश्चौजः सङ्ख्यातः'। (च० नि० ४।७)

'मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः'। (च० चि० ६।८)

'तन्त्रान्तरेषु ओजः शब्देन रसोऽप्युच्यते, जीवशोणितमप्योजः शब्देनामनन्ति केचित्, ऊष्माणमप्योजःशब्देनापरे वदन्ति'। (सु० सू० १५।१९ पर डल्हण की व्याख्या)

'प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते। स चैवोजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते॥'
(च० सू० १७।११७)

दोषों की वृद्धि-क्षय का सामान्य चिकित्सा-सिद्धान्त

यदन्नं द्वेष्टि यदपि प्रार्थयेताविरोधि तु ॥ ४० ॥
तत्तत्त्यजन् समश्नंश्च तौ तौ वृद्धिक्षयौ जयेत् ।
कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीतसमानयोः ।
वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधा न तत् ॥ ४१ ॥

जिस किसी पुरुष को जिस अविरोधी (अपथ्य) अन्न से द्वेष होता है, उसको छोड़ने से दोषों की वृद्धि शान्त हो जाती है और जिस आहार की प्रार्थना (अभिलाषा) होती है। उनका सेवन करने से दोषों का क्षय शान्त हो जाता है, क्योंकि वातादि दोष जब वृद्ध होते हैं, तब स्वगुण विपरीत आहार-सेवन की इच्छा उत्पन्न होती है और क्षीण होने पर समान गुण वाले आहार-सेवन की इच्छा होती है, किन्तु इसको स्वल्पप्रज्ञ चिकित्सक नहीं समझ पाते।

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः ।
स्वयोनिवर्द्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति ॥
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः ।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति' ॥ (सु० सू० १५।३०-३१)

दोष-धातु-मल अथवा बल (ओज) से क्षीण मनुष्य स्वयोनिवर्द्धक (आत्मकारण वर्द्धक) अन्नपान की अभिलाषा करता है। जिस-जिस आहार-समूह की क्षीण मनुष्य अभिलाषा करता है, उस-उस आहार के लाभ (सेवन) से उस-उस क्षय को नष्ट करता है। डल्हण ने कहा है—

'यवान् मुद्गान् हरेणूंश्च रूक्षं च लघु भोजनम् ।
कषायकटुतिक्तं च वातक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥
तिलमाषकुलत्थादि पिष्ठान्नविकृतिं तथा ।
मस्तुशुक्ताम्लतक्राणि पित्तक्षीणस्तथा दधि ॥
मांस महिषं वाराहमाजं गुडगुरूणि च ।
श्लेष्मक्षीणोऽभिलषति क्षीरस्वप्नदधीनि च' ॥

दोषों की वृद्धि-क्षय का सामान्य लक्षण

यथाबलं यथास्वं च दोषा वृद्धा वितन्वते ।
रूपाणि जहति क्षीणाः समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥ ४२ ॥

बढ़े हुए दोष अपने-अपने लक्षणों (स्वरूप) का विस्तार करते हैं, अर्थात् प्रकट करते हैं। क्षीण दोष अपने स्वाभाविक स्वरूप का परित्याग करते हैं और जब वे सम रहते हैं, तब अपना-अपना कार्य करते हैं।

उपसंहार

य एव देहस्य समा विवृद्धयै त एव दोषा विषमा वधाय ।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः ॥ ४३ ॥

इति दोषादिविज्ञानीयः नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

जो वातादि दोष साम्यावस्था में रहकर देह की वृद्धि के कारण होते हैं, वे ही दोष विषमावस्था में होने पर शरीर का नाश करते हैं। इसलिए हिताहार-विहार के द्वारा इनकी वृद्धि के समान ही क्षय से भी रक्षा करनी चाहिए।

इस प्रकार 'दोषादिविज्ञानीय' नामक एकोनविंशो अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में दोष-धातु एवं मल के प्राकृत कर्म एवं उनके वृद्धि-क्षय का लक्षण विस्तार से बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त सामान्य लक्षण एवं क्षय-वृद्धि का चिकित्सा-सिद्धान्त, दोषों का कोष्ठ से शाखा आदि में गमन एवं चिकित्सा तथा ओज का भी वर्णन किया गया है।

विंशोऽध्यायः

अथातो दोषभेदीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'दोषभेदीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

'दोषानां भेदः दोषभेदः। दोषभेदो य हितः दोषभेदीयः'। अर्थात् दोषों के भेद जिसमें बतलाये गये हैं, वह दोषभेदीय अध्याय है।

दोषों का पाञ्चभौतिक संगठन एवं स्थान

वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः। आग्नेयं पित्तम्। अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा।

तत्र पक्वाशयः कटिः सक्थिनी पादावस्थि श्रोत्रं स्पर्शनं च वातस्थानानि। अत्र च पक्वाशयो विशेषेण। नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रसो रुधिरं चक्षुः स्पर्शनं च पित्तस्थानानि। अत्र नाभिर्विशेषेण। उरः कण्ठः शिरः क्लोम पर्वाण्यामाशयो रसो मेदो घ्राणं रसनं च श्लेष्मस्थानानि। अत्राप्युरो विशेषेण।

इत्थमधोमध्योर्ध्वसन्निवेशिना दोषत्रयेण शरीरमागारमिव स्थूणात्रितयेन स्थिरीकृतम्। अतश्च दोषा देहस्य स्थेमानमानयन्तः[1] स्थूणा इत्युच्यन्ते। धारणाद्धातवः। मलिनीकरणादाहारमलत्वाच्च मलाः। दूषणस्वभावाद्दोषा इति ॥ ३ ॥

वायुमहाभूत एवं आकाशमहाभूत से शरीर के वात नामक दोष की उत्पत्ति होती है। अग्निमहाभूत से पित्त दोष उत्पन्न होता है। जल एवं पृथ्वी महाभूत से कफ दोष की उत्पत्ति होती है।

उनमें पक्वाशय (Large Intestine), कटि (श्रोणि), दोनों सक्थि (ऊरु-टाँगे), दोनों पाद (पैर), अस्थियाँ, श्रोत्र (कर्ण) और स्पर्शन (त्वक्) वायु के स्थान हैं। इनमें भी पक्वाशय विशेष रूप से वायु का स्थान है।

नाभि, आमाशय, स्वेद, लसीका, रस, रक्त, चक्षु (नेत्र) तथा त्वक् ये पित्त के स्थान हैं। इनमें भी नाभि पित्त का विशेष स्थान है।

उरः (वक्ष), कण्ठ (गला), शिर (मूर्धा), क्लोम, पर्व (सन्धियाँ), आमाशय, रसधातु, मेदोधातु, घ्राण (नासा) तथा रसना (जिह्वा) कफ के स्थान है। इनमें भी उरः कफ का विशेष स्थान है।

इस प्रकार अधोभाग में वायु, मध्यभाग में पित्त एवं उर्ध्व भाग में कफ का स्थान है। इस प्रकार रहते हुए तीनों दोष शरीर को उसी प्रकार स्थिर रखते हैं, जिस प्रकार तीन खम्भों पर आगार (भवन) स्थिर रहता है। ये तीनों दोष शरीर को स्थिर रखते हैं, इसलिए इनको स्थूण (स्तम्भ) भी कहते हैं। ये शरीर को धारण करते हैं, इसलिए धातु कहे जाते हैं। ये शरीर को

---

१. 'स्थिरीकरणात्' इति पाठान्तरम्।

मलिन करते हैं और आहार के मल से उत्पन्न होते हैं, अतः मल कहे जाते हैं। शरीर को दूषित करने के स्वभाव के कारण ये दोष भी कहे जाते हैं।

दोषों का पाञ्चभौतिक संगठन

दोष	पञ्चमहाभूत
वायु	वायुमहाभूत एवं आकाशमहाभूत
पित्त	अग्निमहाभूत
कफ	जलमहाभूत एवं पृथ्वीमहाभूत

दोषों का शरीर में स्थान

दोष	शरीर में स्थान
१. वात	*पक्वाशय, कटि, दोनों सक्थि, दोनों पाद, अस्थियाँ, श्रोत्र तथा स्पर्शन (त्वक्), अधोभाग।
२. पित्त	*नाभि, आमाशय, स्वेद, लसीका, रस, रक्त, चक्षु तथा त्वक्, मध्यभाग।
३. कफ	*उरः, कण्ठ, शिर, क्लोम, पर्व, आमाशय, रसधातु, मेदोधातु, घ्राण तथा रसना, ऊर्ध्वभाग।

वायु के भेद, स्थान एवं कर्म

त एते प्रत्येकं पञ्चधा भिद्यन्ते। तद्यथा—प्राणोदानव्यानसमानापानभेदैर्वायुः। तत्र प्राणो मूर्धन्यवस्थितः कण्ठोरश्चरो बुद्धीन्द्रियहृदयमनोधमनीधारणष्ठीवनक्षवथूद्गार-श्वासोच्छ्वासान्नप्रवेशादिक्रियः। उदान उरस्यवस्थितः कण्ठनासिकानाभिचरो वाक्प्रवृत्ति-प्रयत्नोर्जाबलवर्णस्रोतःप्रीणनधीधृतिस्मृतिमनोविबोधनादिक्रियः। व्यानो हृद्यवस्थितः कृत्स्नदेहचरः शीघ्रतरगतिर्गतिप्रसारणकुञ्चनोत्क्षेपावक्षेपनिमिषोन्मेषजृम्भणान्नास्वादन-स्रोतोविशोधनस्वेदासृक्स्रावणादिक्रियो[1]ष्मोनौ च शुक्रप्रतिपादनो विभज्य चान्नस्य किट्टा-त्सारं तेन क्रमशो धातूँस्तर्पयति। समानोऽन्तरग्निसमीपस्थितस्तत्सन्धुक्षणः पक्वामाशयदोष-मलशुक्रार्तवाम्बुवहःस्रोतोविचारो तदवलम्बनान्नधारणपाचनविवेचनकिट्टाधोनयनादि-क्रियः। अपानस्त्वपानस्थितो बस्तिश्रोणिमेण्ढ्रवृषणवङ्क्षणोरुचरो विण्मूत्रशुक्रार्तवगर्भ-निष्क्रमणादिक्रिय इति॥ ४॥

इन तीनों दोषों के पाँच-पाँच भेद होते हैं। जैसे प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान भेद से वायु के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं।

*पक्वाशय, नाभि तथा उरः ये दोषों के विशेष स्थान हैं।

१. 'मनोबोधनादिक्रियः' इति पाठान्तरम्।

(१) **प्राणवायु का स्थान**[1]—यह मूर्धा (शिर) में रहती हुई कण्ठ एवं उरः में विचरण करती है।

प्राणवायु के कर्म—प्राणवायु बुद्धि, इन्द्रिय, मन, हृदय तथा धमनी आदि को धारण करती है, ष्ठीवन (थूकना), क्षवथु (छींक), उद्गार, श्वासोच्छ्वास कर्म तथा अन्न का प्रवेश (निगलना) आदि कर्म करता है।

(२) **उदानवायु का स्थान**[2]—यह उरः में विशेष रूप से रहता हुआ कण्ठ एवं नाभि में संचरण करता है।

उदानवायु के कर्म—**वाक्प्रवृत्ति** (बोलना), प्रयत्न (उद्यम), ऊर्जा (उत्साह), बल, वर्ण (कान्ति), स्रोतों का प्रीणन (स्रोतों की दुष्टि), धी (बुद्धि), धृति (धैर्य), स्मृति, मनोविबोधन (मन की क्रियाशीलता) आदि कर्म करता है।

---

१. (क) प्र उपसर्गपूर्वक अन् प्राणने धातु से प्राण शब्द की निष्पत्ति होती है। 'प्रकर्षेण अनिति चेष्टते इति प्राणः' अर्थात् जो शरीर को जीवित बनाता है या बनाये रखता है, उसे प्राण कहते हैं—'प्राणयति जीवयति इति प्राणः'।

(ख) 'अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणः'। (सु० शा० ४।३)

(ग) 'हृदि प्राणः'। (शा० पू० ५।६)

(घ) 'नाभिस्थः पवनः प्राणः स्पष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्।
कण्ठाद् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणयन् देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम्'॥ (शा० पू० ५।८९-९०)

अर्थात् प्राण हृदय में रहता है। प्राणवायु नाभि तक प्रभाव बनाये रखता है। यह हृदय-कमल के समीपस्थ भाग (फुफ्फुस) को स्पर्श करके कण्ठ से बाहर निकल कर आकाश के पीयूष (अमृत) का पान करके पुनः वेग से शरीर के भीतर आ जाता है। इस प्रकार जीवन-पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर को तृप्त या प्रसन्न कर जठराग्नि को प्रदीप्त करता रहता है।

(च) वायुर्वो वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते॥ (सु० नि० १।१३)

(छ) स्थानं प्राणस्य मूर्धोरः कण्ठ-जिह्वास्य-नासिकाः।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादि कर्म च॥ (च० चि० २८।६)

(ज) दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्॥ (सुश्रुत)

२. (क) 'उद् आनयति इति उदानः'। अर्थात् ऊर्ध्वगामी चेष्टा करने से उदान कहते हैं।

(ख) उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नौर्जाबलवर्णादि कर्म च॥ (च० चि० २८।७)

(ग) उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते॥ (सु० नि० १)

(३) **व्यान वायु का स्थान**[1]—यह हृदय में रहता हुआ समस्त शरीर में संचरण करता है। प्राणवायु की अपेक्षा शीघ्रतर गति करता है।

व्यानवायु के कर्म—शरीर के समस्त अङ्गों को गतिशील करना, अङ्गों का प्रसारण, आकुंचन (संकोच), उत्क्षेप (अंगों को ऊपर ले जाना), अवक्षेप (अंगों को नीचे ले जाना), निमेष (पलकों को बन्द करना), उन्मेष (पलकों को ऊपर उठाना), जम्भाई लेना, अन्नस्वादन (इष्ट-अनिष्ट रसों की प्रतीति), स्रोतों का शोधन, स्वेद एवं रक्त का स्रावण आदि क्रिया एवं योनि में शुक्र पहुँचाना (गर्भक्रिया-सम्पादन), अन्न के सार को किट्ट से विभक्त करके धातुओं को तर्पित करना—ये व्यान वायु के कर्म हैं।

(४) **समानवायु का स्थान**[2]—यह अन्तराग्नि (जठराग्नि) के समीप रहती है तथा उसे संधुक्षित (उदीप्त) करती है।

समानवायु के कर्म—समानवायु पक्वाशय एवं आमाशय में वातादि दोषों, मलों, शुक्र, आर्तव तथा जल का वहन करता है, स्रोतसों में विचरण करता है। इसकी सहायता से अन्न का धारण (अमाशय में अपक्व अन्न का धारण), पाचन, विवेचन (सार-किट्ट का पृथक्करण) एवं किट्ट (मल) भाग का नीचे की ओर लाना आदि क्रियाएँ होती हैं।

(५) **अपानवायु का स्थान**[3]—अपान वायु अपान (श्रोणि आदि) में विशेष रूप में रहता है तथा वस्ति, श्रोणि, मेढ्र, वृषण, वंक्षण एवं ऊरु में संचरण करता है।

अपान वायु के कर्म—अपान वायु पुरीष, मूत्र, शुक्र, आर्तव तथा गर्भ को बाहर निकालने की क्रियाएँ करता है।

---

१. (क) व्यानः प्राधान्येन हृद्यवस्थितः कृत्स्नं निरवशेषं देहं चरति प्राणाद्यपेक्षया शीघ्रतरगतिः। (इन्दुः)

(ख) देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्।
गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा॥ (च० चि० २८)

(ग) कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः।
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि॥ (सु० नि० १)

२. (क) स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः॥ (च० चि० २८)

(ख) आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि॥ (सु० नि० १)

(ग) अन्तरग्नेः स्थानमामाशयपक्वाशययोर्मध्यं नाभेरर्धाङ्गुलमात्रेण वामपार्श्वे। (इन्दुः)

३. (क) वृषणौ बस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरू वङ्क्षणौ गुदम्।
आपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्र-मूत्र-शकृन्ति च॥
सृजत्यार्तवगर्भौ च ... ... । (च० चि० २८)

(ख) पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाऽप्ययम्।
समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः॥ (सु० नि० १)

(ग) अपानस्तु अपाने कटेः अधः तिष्ठति। (इन्दुः)

वायु के भेद, उनके स्थान तथा कर्म

नाम	स्थान	कर्म
(१) प्राणवायु	मूर्धा कण्ठ तथा उरः में विचरण	बुद्धि, इन्द्रिय, मन, हृदय तथा धमनी का धारण । ष्ठीवन क्षवथु उद्गार श्वासोच्छ्वास अन्न का प्रवेश
(२) उदानवायु	ऊरु कण्ठ एवं नाभि में संचरण	वाक् प्रवृत्ति प्रयत्न ऊर्जा वल वर्ण स्रोतों का प्रीणन धी, धृति, स्मृति, मनोविबोधनादि ।
(३) व्यानवायु	हृदय समस्त शरीर में संचरण	समस्त अंगों को गतिशील करना अङ्गों का प्रसारण आकुञ्चन उत्क्षेप अवक्षेप निमेष उन्मेष जम्हाई लेना अन्नस्वादन स्रोतोशोधन स्वेद एवं रक्त का स्रावण गर्भ-क्रिया का सम्पादन योनि में शुक्र पहुँचाना अन्न के सार को किट्ट से विभक्त करके धातुओं को तर्पित करना ।
(४) समानवायु	अन्तराग्नि के समीप	पक्वाशय एवं आमाशय में वातादि दोष, मल, शुक्र, आर्तव तथा जल का वहन । स्रोतो विचरण अन्न का धारण पाचन विवेचन किट्ट भाग को नीचे की ओर लाना ।
(५) अपानवायु	अपान (श्रोणि) वस्ति, श्रोणि, मेढ्र, वृषण, वंक्षण तथा ऊरु में संचरण	अपानवायु, पुरीष, मूत्र, शुक्र, आर्तव तथा गर्भ को बाहर निकालना ।

पित्त के भेद, स्थान एवं कर्म

पाचकरञ्जकसाधकालोचकभ्राजकत्वभेदैः पित्तम्। तत्र यदामपक्वाशयमध्यस्थं पञ्चमहाभूतात्मकत्वेऽपि तेजोगुणोत्कर्षात् क्षपितसोमगुणं ततश्च त्यक्तद्रवस्वभावं सहकारिकारणैर्वायुक्लेदादिभिरनुग्रहाद्दहनपाचनादिक्रियया लब्धाग्निशब्दं पित्तमन्नं पचति सारकिट्टौ विभजति शेषाणि च पित्तस्थानानि तत्रस्थमेवानुगृह्णाति तत् पाचकमित्युच्यते। आमाशयस्थं तु रसस्य रञ्जनाद्रञ्जकम्। हृदयस्थं बुद्धिमेधाभिमानोत्साहैरभिप्रेतार्थसाधनात् साधकम्। दृष्टिस्थं रूपालोचनादालोचकम्। त्वक्स्थं त्वचो भ्राजनाद् भ्राजकम्। तदभ्यङ्गपरिषेकालेपादीन् पाचयति छायाश्च प्रकाशयति ॥ ५ ॥

पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक एवं भ्राजक भेद से पित्त पाँच प्रकार का होता है—

(१) **पाचक पित्त**[1]—इनमें जो आमाशय तथा पक्वाशय के मध्य में स्थित होता है, पञ्चमहाभूतात्मक होने पर भी अग्निगुण के उत्कर्ष के कारण, सोमगुण (जलीय गुण) का क्षय हो जाने से द्रव स्वभाव को छोड़ देता है, वायु एवं क्लेद आदि सहकारी कारणों के द्वारा अनुग्रह (उपकार) रूप से दहन, पाचन आदि क्रियाएँ करता रहता है, इसलिए अग्नि कहा जाता है। यह पित्त अन्न को पचाता है, सार और किट्ट भाग को पृथक् (विभक्त) करता है, शेष पित्त स्थान को अपने स्वस्थान में स्थित होकर बल देता है, अर्थात् अनुगृहीत करता है, उसको 'पाचक पित्त' कहा जाता है।

(२) **रञ्जक पित्त**[2]—आमाशय में स्थित पित्त 'रंजक पित्त' कहा जाता है। यह रस नामक धातु का रंजन करता है।

(३) **साधक पित्त**[3]—हृदय में स्थित पित्त 'साधक पित्त' कहलाता है। यह बुद्धि, मेधा, अभिमान (अहंकार), उत्साह तथा अभिप्रेत अर्थ (अभीष्ट अर्थ) को सिद्ध करता है।

---

१. शेषाणि पित्तस्थानानि धात्वादीनि अनुगृह्णाति स्वस्थानास्थितमेव तेषूपकरोति इत्यर्थः। (इन्दुः)

पाचक रसों का प्रमुख स्थान क्षुद्रान्त्र होता है, जिसे पच्यमानाशय या ग्रहणी भी कहा जाता है। इसी में पित्तधराकला स्थित होती है। यह आमाशय तथा पक्वाशय के मध्य में स्थित होता है। आधुनिक क्रियाशारीर की दृष्टि से विभिन्न पाचक रसों तथा एञ्जाइम्स को पाचक पित्त के अन्तर्गत माना जा सकता है।

२. यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स रसस्य रागकृदुक्तः। (सु० सू० २१।१०)

आधुनिक क्रियाशारीर की दृष्टि से रंजक पित्त को 'Haemopoietic Principle' कह सकते हैं।

३. (क) यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः। (सु० सू० २१)

सोऽभिप्रार्थित-मनोरथ-साधनकृदिति धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थस्य साधक इत्यर्थः। (डल्हण)

(ख) यत्तु हृदयस्थं बुद्ध्यादिभिः कारणभूतैरभिप्रेतमर्थंग्रहणस्मरणादिरूपेण साधयति तत् साधकम्। (इन्दुः)

आधुनिक क्रियाशारीर में चिन्तन या विचार का स्थान मस्तिष्क को माना गया है, किन्तु

(४) **आलोचक पित्त**[1]—दृष्टि में स्थित पित्त को 'आलोचक पित्त' कहते है। यह रूप को देखने की शक्ति देता है।

(५) **भ्राजक पित्त**[2]—त्वचा में स्थित पित्त को 'भ्राजक पित्त' कहते हैं। यह त्वचा का भ्राजन (प्रकाशन) करता है। यह अभ्यंग, परिषेक, आलेप आदि का पाचन करता है तथा पञ्च-नाभस छाया आदि को प्रकाशित (प्रकट) करता है।

पित्त के भेद, उनके स्थान तथा कर्म

नाम	स्थान	कर्म
(१) पाचक पित्त	आमाशय एवं पक्वाशय के मध्य	दहन, पाचन, सार-किट्ट-विभजन तथा शेष पित्त स्थानों को स्वस्थान में स्थित होकर बल देना।
(२) रंजक पित्त	आमाशय, यकृत् एवं प्लीहा	रस धातु का रंजन।
(३) साधक पित्त	हृदय	बुद्धि, मेधा, अभिमान, उत्साह तथा अभिप्रेत अर्थ का साधन।
(४) आलोचक पित्त	दृष्टि	रूप-दर्शन।
(५) भ्राजक पित्त	त्वचा	त्वचा का प्रकाशन, अभ्यंग, परिषेक, आलेप आदि का पाचन तथा नाभस आदि पञ्चछाया का प्रकाशन।

श्लेष्मा के भेद, स्थान एवं कर्म

अवलम्बकक्लेदबोधकतर्पकश्लेषकत्वभेदैः श्लेष्मा। स तूरस्थः स्ववीर्येण त्रिकस्यान्न-वीर्येण च सह हृदयस्य च शेषाणां च श्लेष्मस्थानानां तत्रस्थ एवोदककर्मणाऽवलम्बनादव-लम्बक इत्युच्यते। आमाशयस्थितोऽन्नसङ्घातस्य क्लेदनात्क्लेदकः। रसनास्थः सम्यग्रसबोध-नाद्बोधकः। शिरस्थश्चक्षुरादीन्द्रियतर्पणात् तर्पकः। पर्वस्थोऽस्थिसन्धिश्लेषात् श्लेषक इति॥ ६॥

व्यवहार में सदैव देखा जाता है कि तैजस् स्वर्ण, कस्तूरी, मुक्ता, केशर, शराब, चाय तथा काफी आदि हृदयोत्तेजक पदार्थों का सेवन कराने से विचार-स्मृति-चिन्तन-उत्साह आदि की वृद्धि हो जाती है, किन्तु श्लेष्मवर्धक, महिष-क्षीर, दधि, माष, गुड़ आदि के सेवन से श्लेष्मा की वृद्धि होकर उक्त गुणों का ह्रास हो जाता है।

१. दृष्टिस्थं अन्तस्तारकास्थितं तु रूपस्यालोचनात् तदायत्तरूपग्रहणशक्तित्वादालोचक-शक्तित्वेनोच्यते। (इन्दुः)

यद् दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रूपग्रहणेऽधिकृतः। (सु० सू० २१)

आधुनिक क्रियाशारीर की दृष्टि से अलोचक पित्त को रेटिना में स्थित राडोप्सीन तथा आयोडाप्सिन कह सकते हैं।

२. यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छायानां च प्रकाशकः। (सु० सू० २१)

आधुनिक क्रियाशारीर की दृष्टि से इसे मेलेनिन कह सकते हैं।

अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक एवं श्लेषक भेद से कफ पाँच प्रकार का होता है—

(१) **अवलम्बक कफ**[1]—यह उरः (वक्षस्थल) में स्थित अपनी शक्ति से त्रिकास्थि का, अन्नवीर्य (आहार रस) से हृदय का तथा शेष कफ के स्थानों का स्वस्थान में रहकर उदक कर्म (जलकर्म) द्वारा अवलम्बन करता है, इसलिए अवलम्बक कफ कहा जाता है ।

(२) **क्लेदक कफ**[2]—आमाशय में स्थित रहने वाले कफ को क्लेदक कफ कहते हैं । यह अन्न समूह का क्लेदन करता है (क्लिन्न बनाता है) ।

(३) **बोधक कफ**[3]—रसना में स्थित कफ को बोधक कफ कहते हैं । यह मधुरादि रसों का बोध कराता है ।

(४) **तर्पक कफ**[4]—**शिर में रहने** वाले कफ को तर्पक कफ कहते हैं । यह चक्षु आदि इन्द्रियों का तर्पण करता है ।

(५) **श्लेषक कफ**[5]—**पर्वों (सन्धियों)** में रहने वाले कफ को श्लेषक कफ कहते हैं । यह अस्थि-सन्धियों को **श्लिष्ट करने से श्लेषक** कहा जाता है ।

---

१. (क) उरःस्थस्त्रिकसन्धारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति ।
(सु० सू० २१)

(ख) त्रिकं शिरो बाहुद्वयसन्धानस्थानम् । (डल्हणः)

(ग) त्रिकस्य बाहुग्रीवासंयोगस्य । (इन्दुः)

त्रिक शब्द का अर्थ डल्हण और इन्दु ने 'बाहुग्रीवा सन्धि' किया है । रणजीतराय देसाई ने आधुनिक दृष्टि से अवलम्बक कफ को फुप्फुसों एवं हृदय की आवरण कलाओं द्वारा स्रुत कफ माना है ।

२. माधुर्यात् पिच्छिलत्वात् च प्रक्लेदित्वात् तथैव च ।
आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुरशीतलः ॥
स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ।
(सु० सू० २१)

आधुनिक दृष्टि से आमाशय की अन्तःकला का स्राव (Gastric Mucous Secretion) क्लेदक कफ को कह सकते हैं ।

३. जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग् रसज्ञाने वर्तते । (सु० सू० २१)

आधुनिक दृष्टि से बोधक कफ को स्वादाकुंर (Taste Buds) तथा इसके समीप स्थित श्लेष्म-ग्रन्थियाँ (Mucous Glands) माना जा सकता है ।

४. (क) शिरःस्थः स्नेहसन्तर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रहं करोति ।
(सु० सू० २१)

(ख) इन्द्रियाणां श्रोत्र-त्वक्-चक्षुः-जिह्वा-घ्राणानामनुग्रहं करोति स्वकार्यसामर्थ्यं जनयति । (डल्हण)

आधुनिक क्रियाशारीर की दृष्टि से इसे मस्तिष्क द्रव (Cerebrospinal Fluid) कह सकते हैं ।

५. सन्धिस्थः श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति । (सु० सू० २१)

आधुनिक दृष्टि से श्लेषक कफ को साइनोवियल फ्लूइड (Synovial Fluid) कह सकते हैं ।

कफ के भेद, उनके स्थान तथा कर्म

नाम	स्थान	कर्म
(१) अवलम्बक कफ	उरः (वक्षस्थल)	त्रिकास्थि का अवलम्बन हृदयावलम्बन शेष कफ स्थानों का अवलम्बन
(२) क्लेदक कफ	आमाशय	अन्न समूह का क्लेदन
(३) बोधक कफ	रसना	मधुरादि रसों का बोध
(४) तर्पक कफ	शिर	चक्षु आदि इन्द्रियों का तर्पण
(५) श्लेषक कफ	सन्धियाँ	अस्थियों एवं सन्धियों का संश्लेषण

एवममीषु स्थानेषु भूयिष्ठमविकृताः सकलशरीरव्यापिनोऽपि वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते। तेषां वृद्धिहेतुर्वक्ष्यते निदानेषु। समासतश्च[1] वृद्धिक्षयलक्षणमुक्तं पूर्वाध्याये ॥७॥

इस प्रकार वात, पित्त एवं कफ सम्पूर्ण शरीर में फैले रहते हैं, किन्तु उपर्युक्त स्थानों में अविकृत अवस्था में इनका आधिक्य होता है। इन तीनों की वृद्धि एवं क्षय का हेतु (कारण) निदानस्थान में कहा जायेगा और संक्षेपतः इनकी वृद्धि एवं क्षय का लक्षण पिछले दोषादि विज्ञानीय अध्याय में कहा गया है।

वृद्धि के भेद तथा प्रशमन

वृद्धिर्हि द्वेधा चयकोपभेदेन। तत्रोष्णगुणोपहिता रूक्षादयो वायोः सञ्चयमापादयन्ति। शीतगुणोपहिताः प्रकोपमुष्णगुणोपहिताः स्निग्धादयः प्रशमम्। शीतगुणोपहितास्तीक्ष्णादयः पित्तस्य चयमुष्णगुणोपहिताः कोपं शीतगुणोपयिता मन्दादयः प्रशमम्। शीतगुणोपहिताः स्निग्धादयः कफस्य चयमुष्णगुणोपहिताः कोपं तथा तु रूक्षादयः प्रशमम् ॥ ८ ॥

दोषों की वृद्धि —१. चय एवं २. प्रकोप भेद से दो प्रकार की होती है। इनमें वायु अपने रूक्ष, शीत, लघु, खर, विशद इन पाँच गुणों के द्वारा अपने विरुद्ध उष्ण गुण के साथ मिलकर संचय को प्राप्त होता है। यही रूक्षादि गुण वायु के समान गुण वाले शीत गुण के संयोग से वायु का प्रकोप करते हैं। उष्ण गुण से युक्त स्निग्ध आदि गुण वायु का शमन करते हैं। पित्त के तीक्ष्ण आदि गुण अपने विरोधी शीत गुणों के साथ मिलकर पित्त का संचय करते हैं और उष्ण गुण से युक्त होकर पित्त का प्रकोप करते हैं। शीत गुण से युक्त स्निग्ध आदि गुण पित्त का प्रशमन करते हैं। शीत गुण से युक्त स्निग्धादि गुण कफ का संचय करते हैं, उष्ण गुण से युक्त स्निग्धादि गुण कफ को कुपित करते हैं तथा उष्ण गुण से युक्त रूक्षादि गुण कफ का प्रशमन करते हैं।

चय-कोप का लक्षण

तत्र—

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।
विपरीतगुणेच्छा च कोपस्तून्मार्गगामिता ॥ ९ ॥

१. 'सामान्यतश्च' इति पाठान्तरम्।

लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसम्भवः ।
स्वस्थानस्थस्य समता विकारासम्भवः शमः ॥ १० ॥
देहे क्रुद्धोऽनिलवशात्कृत्स्नेऽर्धेऽवयवेऽपि वा ।
दोषो विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥ ११ ॥

चय—**दोषों का** अपने स्थान में वृद्धि संचय (चय) कहलाता है। दोषों के चय का लक्षण-दोषों **की वृद्धि** करने वाले आहार-विहार के सेवन के प्रति द्वेष तथा इनसे विपरीत गुणों वाले औषध, आहार एवं विहार की इच्छा होती है।

प्रकोप—वातादि दोषों की उन्मार्गगामिता (दोषों का अपने स्थान से स्थानान्तर गमन) कोप है। कुपित दोष अपने लक्षणों को दिखलाते हैं।

प्रशम—दोषों का अपने स्थान में साम्यावस्था में रहना तथा व्याधि का उत्पन्न न होना प्रशम कहा जाता है।

सभी वातादि क्रुद्ध (कुपित) दोष वायु के वशीभूत होने के कारण कभी सम्पूर्ण शरीर में तथा कभी आधे शरीर में तथा कभी शरीर के एक अवयव में विकार को उत्पन्न कर देते हैं, जिस प्रकार वायु के कारण कहीं भी बादल आकाश में वर्षा कर देता है।

दोषजन्य रोगों की संख्या

अथ प्रकुपिता वातादयो नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतपन्ति। आविष्कृततमास्तु वायोरशीतिर्विकाराश्चत्वारिंशत्पित्तस्य विंशतिः श्लेष्मणः ॥ १२ ॥

प्रकुपित वातादि दोष अनेक प्रकार के **विकारों** से शरीर को पीड़ित करते हैं। इनमें प्रधान रूप से वातजन्य अस्सी विकार, पित्तजन्य **चालीस विकार** तथा कफजन्य बीस विकार होते हैं।

वातजन्य अस्सी विकार

तत्र वातविकाराः। तद्यथा—**नखभेदो** विपादिका पादशूलं पादभ्रंशः सुप्तपादता वातखुडता गुल्फग्रहः पिण्डिकोद्वेष्टनं गृध्रसी जानुभेदो जानुविश्लेष ऊरुसाद ऊरुस्तम्भः पङ्गुत्वं गुदभ्रंशो गुदार्तिर्वृषणाक्षेपो मेढ्रस्तम्भोः वङ्क्षणानाहः श्रोणिभेदो विड्भेद उदावर्तः खञ्जत्वं कुब्जत्वं वामनत्वं त्रिकग्रहः पृष्ठग्रहः पार्श्वावमर्द उदरावेष्टो हृन्मोहो हृद्द्रवो वक्षोद्धर्षस्तथा वक्षोपरोधो वक्षस्तोदो बाहुशोषस्तथा ग्रीवास्तम्भो मन्यास्तम्भः कण्ठोद्ध्वंसो हनुस्तम्भस्तालुवोष्ठभेदो दन्तभेदो दन्तशैथिल्यं मूकत्वं वाक्सङ्गः प्रलापः कषायास्यता मुखशोषो रसाज्ञत्वं घ्राणनाशः कर्णशूलमशब्दश्रुतिरुच्चैः श्रुतिर्बाधिर्यं वर्त्मस्तम्भो वर्त्मसङ्कोचस्तिमिरमक्षिशूलमक्षिव्युदासो भ्रूव्युदासः शङ्खभेदो ललाटभेदः शिरोरुक्केशभूमिस्फुटनमर्दितमेकाङ्गरोगः सर्वाङ्गरोग आक्षेपको दण्डकः श्रमो भ्रमो वेपथुर्जृम्भाग्लानिर्विषादो रौक्ष्यं पारुष्यं श्यावारुणाभासत्वमस्वप्नोऽनवस्थितचित्तता च ॥ १३ ॥

वायुजनित अस्सी विकार—

१. नखभेद (नखों का फटना)।
२. विपादिका (पाणि-पाद स्फुटन-बिवाई Cracking of Feet)।
३. पादशूल (पैरों में वेदना)।
४. पादभ्रंश (पैरों का इच्छानुसार न पड़ना Foot Drop)।

५. सुप्तपादता (पैरों का शून्य हो जाना Numbness of Foot)।
६. वातखुडता (पैर तथा जंघा की अस्थियों में पीड़ा)।
७. गुल्फग्रह (गुल्फ संधि का जकड़ जाना Stiff Ankle)।
८. पिण्डिकोद्वेष्टन (पिण्डलियों में ऐंठन Cramps in the Calf Musoles)।
९. गृध्रसी (Sciatica)।
१०. जानुभेद (घुटनों में पीड़ा Genu Varum)।
११. जानुविश्लेष (जानु-सन्धि का उतर जाना Genu Valgum)।
१२. ऊरुसाद (जाँघों में शिथिलता Pain in the Thigh)।
१३. ऊरुस्तम्भ (जाँघों में स्तब्धता Stiffness of Thigh)।
१४. पंगुत्व (Paraplegia)।
१५. गुदभ्रंश (Prolapse Rectum)
१६. गुदार्ति (गुदप्रदेश में पीड़ा)।
१७. वृषणाक्षेप (अण्डकोषों का ऊपर चला जाना)।
१८. मेढ्रस्तम्भ (मेढ्र में स्तब्धता Stiffness of Penis)।
१९. वंक्षणानाह (वंक्षणप्रदेश का फूल जाना Tension in Inguinal Region)।
२०. श्रोणिभेद (कमर में वेदना Pain in Pelvic Region)
२१. विड्भेद (मलभेद Diarrhoea)।
२२. उदावर्त (Misperistalsis)।
२३. खंजत्व (लगड़ापन Lamness)।
२४. कुब्जत्व (कुबड़ापन Kyphosis)।
२५. वामनत्व (बौनापन Dwarfism)।
२६. त्रिकग्रह का जकड़ जाना (Stiffness of Sacro-iliac Joint)।
२७. पृष्ठग्रह (पीठ का जकड़ जाना Stiffness of Back)।
२८. पार्श्व अवमर्द (पार्श्व में पीड़ा)।
२९. उदरावेष्टन (पेट में ऐंठन के समान होना Griping Pain in Abdomen)।
३०. हृदयमोह (हृदय में व्याकुलता Bradycardia)।
३१. हृद्द्रव (हृदय का तेजी से धड़कना Tachycardia)।
३२. वक्षोद्घर्ष (वक्षप्रदेश में घिसने के समान पीड़ा Rubbing Pain in Chest)।
३३. वक्षोपरोध (हृदय अथवा फुफ्फुस की गति में अवरोध)।
३४. वक्षतोद (वक्ष में वेदना Pricking Pain in Chest)।
३५. बाहुशोष (बाहु का सूखना Atrophy of Arm)।
३६. ग्रीवास्तम्भ (ग्रीवा में स्तब्धता Stiffness of Neck)।
३७. मन्यास्तम्भ (Torticollis)।
३८. कण्ठध्वंस (स्वरभेद Hoarseness of Voice)।
३९. हनुस्तम्भ (Stiffness of Jaw)।
४०. तालुभेद।
४१. ओष्ठभेद (ओष्ठ का फटना)।
४२. दन्तभेद (दाँत का फटना)।
४३. दन्तशैथिल्य (दाँतों का हिलना)।

४४. मूकत्व (गूँगापन)।
४५. वाक्संग (वाणी का बन्द हो जाना)।
४६. प्रलाप (असम्बद्ध बोलना)।
४७. कषाय आस्यता (मुँह में कसैलापन)।
४८. मुखशोष (मुख का सूखना)।
४९. रसाज्ञत्व (रस का ज्ञान न होना)।
५०. घ्राणनाश (गन्ध का ज्ञान न होना)।
५१. कर्णशूल (कानों में पीड़ा होना)।
५२. अशब्द श्रुति (बिना शब्द के सुनाई पड़ना)।
५३. उच्चैः श्रुतिः (ऊँचा सुनना)।
५४. बाधिर्य (बहरापन)।
५५. वर्त्मस्तम्भ (पलकों में स्तब्धता)।
५६. वर्त्मसंकोच (पलकों का सिकुड़ना)।
५७. तिमिर (Cataract)।
५८. अक्षिशूल (नेत्रों में वेदना)।
५९. अक्षिव्युदास (नेत्र का टेढ़ा होना Ptosis of Eye Ball)।
६०. भ्रूव्युदास (भ्रू का टेढ़ा होना Ptosis of Eye Brow)।
६१. शंखभेद (कनपटी पर वेदना Pain in Temporal Region)।
६२. ललाटभेद (ललाट में वेदना Pain in Frontal Region)।
६३. शिरोरुक् (शिर में वेदना Headache)।
६४. केशभूमि स्फुटन (शिर की त्वचा का फटना Dandruff)।
६५. अर्दित (मुँह का टेढ़ा हो जाना Facial Paralysis)।
६६. एकांग रोग (पक्षाघात Monoplegia)।
६७. सर्वांगरोग (सर्वांगवध Polyplegia)।
६८. आक्षेपक (झटका आना Convulsions)।
६९. दण्डक (डण्डे की तरह गिर जाना)।
७०. श्रम (थकावट)।
७१. भ्रम (चक्कर आना Giddiness)।
७२. वेपथु (कम्पन Tremor)।
७३. जृम्भा (जम्भाई आना Yawing)।
७४. ग्लानि (हर्ष का क्षय)।
७५. विषाद (अप्रसन्नता)।
७६. रौक्ष्य (रूखापन Dryness)।
७७. पारुष्य (कठोरता Hardness)।
७८. श्याव-अरुण अवभासत्व (शरीर काला एवं लाल होना)।
७९. अस्वप्न (नींद का न आना)।
८०. अनवस्थित चित्तता (चित्त का स्थिर न होना)।

पित्तजन्य चालीस विकार

पित्तविकाराः पुनः ओषः क्लोषो दवो दवथुर्विदाहोऽन्तर्दाहस्त्वग्दाहोऽसदाहो

धूमकोऽम्लक ऊष्माधिक्यमतिस्वेदोऽङ्गगन्धोऽवयवसदनं शोणितक्लेदो मांसक्लेदस्त्वङ्-मांसदरणं[1] चर्मदरणं रक्तकोठो रक्तविस्फोटो रक्तमण्डलानि रक्तपित्तं हरितत्वं हारिद्रत्वं नीलिका कक्ष्या कामला तिक्तास्यता लोहितगन्धास्यता पूतिमुखत्वं तृष्णाधिक्यमतृप्ति-रास्यपाको गलपाकोऽक्षिपाकः पायुपाको मेण्ढ्रपाको जीवादानं तमःप्रवेशो हरितहारिद्रनेत्र-मूत्रशकृत्वं च ॥ १४ ॥

पित्तजनित चालीस विकार—

१. ओष (गरमी Heating)।
२. प्लोष (जलन Scorching)।
३. दव (Burning Sensation in Oral Cavity)।
४. दवथु (Burning Sensation in Sensory Organs)।
५. विदाह (Burning Sensation)।
६. अन्तर्दाह।
७. त्वक्दाह।
८. असंदाह (Burning Sensation in Shoulder)।
९. धूमक (Fuming)।
१०. अम्लक (Acid Eructation)।
११. ऊष्माधिक्य (Hyperthermia)।
१२. अतिस्वेद (Excessive Sweating)।
१३. अंगगन्ध (अप्रियगन्ध)।
१४. अवयव सदन (किसी अवयव में शिथिलता)।
१५. शोणितक्लेद (रक्त में सड़न Sloughing of Blood)।
१६. मांसक्लेद (Sloughing of Muscles)
१७. त्वक् मांसदरण (त्वचा एवं मांस का फटना Cracking of Skin and Muscles)।
१८. चर्मदरण (Itching of Skin)।
१९. रक्तकोठ (रक्तवर्ण का चकत्ता Urticaria)।
२०. रक्तविस्फोट (रक्तवर्ण का फफोला Red Vesicle)।
२१ रक्तमण्डल (रक्तवर्ण का गोलाकार चकत्ता Red Wheals)।
२२. रक्तपित्त (Bleeding Tendency)।
२३. हरितत्व (नख-मूत्र आदि का हरा हो जाना)।
२४. हारिद्रत्व (नेत्र-नख-मूत्र आदि का हरिद्रावर्ण हो जाना)।
२५. नीलिका (नेत्र-नख-मूत्र आदि का नीला हो जाना अथवा मुख या शरीर में नील वर्ण का दाग होना)।
२६. कक्ष्या (Herpes)।
२७. कामला (Jaundice)।
२८. तिक्तास्यता (Bitter Taste)।
२९. लोहितगन्धास्यता (मुख से रक्त जैसा गन्ध निकलना)।
३०. पूतिमुखत्व (मुख से दुर्गन्ध निकलना Foetid Odour of Mouth)।

---

१. 'मांसावदरणम्' इति पाठान्तरम्।

३१. तृष्णाधिक्य (Excessive Thirst)।
३२. अतृप्ति (Non-Satisfaction)।
३३. आस्यपाक (मुखपाक Stomatitis)।
३४. गलपाक (गले का पकना Pharyngitis)।
३५. अक्षिपाक (नेत्र का पकना Conjunctivitis)।
३६. पायुपाक (गुदपाक Proctitis)।
३७. मेढ्रपाक (मूत्रमार्ग का पाक Urethritis)।
३८. जीवादान (Haemorrhage)।
३९. तमःप्रवेश (अँधेरा छाना या मूर्च्छा आना Fainting)।
४०. हरित-हारिद्र-नेत्र-मूत्र, शकृत्व (नेत्र-मूत्र-पुरीष का हरित Greenish तथा हारिद्र Yellowish वर्ण हो जाना)।

कफजन्य बीस विकार

श्लेष्मविकारास्तु—तृप्तिस्तन्द्रा निद्राऽऽधिक्यं स्तैमित्यं गुरुगात्रताऽऽलस्यं मुखमाधुर्यं प्रसेकः श्लेष्मोद्गिरणं मलाधिक्यं बलासो[1] हृदयोपलेपः कण्ठोपलेपो धमनीप्रतिचयो[2] गलगण्डोऽतिस्थौल्यं शीताग्नित्वमुदर्दः श्वेतावभासता श्वेतनेत्रमूत्रशकृत्वं च ॥१५॥

श्लेष्मजनित बीस विकार—

१. तृप्ति (खाना खाने की इच्छा न होना Anorexia Nervosa)।
२. तन्द्रा (ऊँघाई Drowsiness)।
३. निद्राधिक्य (Excessive Sleep)।
४. स्तैमित्य (शरीर में आर्द्रता की प्रतीति होना)।
५. गुरुगात्रता (शरीर में भारीपन Heaviness of the Body)।
६. आलस्य (Laziness)।
७. मुखमाधुर्य (मीठेपन की प्रतीति)।
८. प्रसेक (लालास्राव का आना Salivation)।
९. श्लेष्मोद्गिरण (कफ का निकलना Mucous Expectoration)।
१०. मलाधिक्य (मलों की अधिकता Excessive Excretion of Excreta)।
११. बलास (बलक्षय Loss of Strength)।
१२. हृदयोपलेप (हृदय-प्रदेश में लेप की प्रतीति या भारीपन)।
१३. कण्ठोपलेप (कण्ठ के भीतर लेप की प्रतीति)।
१४. धमनी-प्रतिचय (Hardening of Vessels)।
१५. गलगण्ड (Goiter)।
१६. अतिस्थौल्य (Obesity)।
१७. शीताग्नित्व (मन्दाग्नि Suppression of Digestive Power)।
१८. उदर्द (Urticaria)।

---

१. 'बलासकः' इति चरकः। 'बलासकः बलक्षयः किंवा श्लेष्माद्रेकान् मन्दज्वरित्वं, स्थूलाङ्गता वा बलासकः' इति चक्रपाणिः।

२. 'धमनीप्रतिचयो धमन्युपलेपः' इति चक्रपाणिः। 'धमन्युपलेपेन धमनीनां पुष्टता' इति गङ्गाधरः। 'धमनीनां प्रतिचयः अतिपूरणम्' इति योगीन्द्रनाथसेनः।

१९. श्वेतावभासता (त्वचा में श्वेतता Pallor)।

२०. श्वेतनेत्रमूत्रशकृतत्व (नेत्र, मूत्र तथा पुरीष में श्वेतता)।

कतिपय पारिभाषिक शब्द

तत्र सर्वाङ्गीणस्तीव्रो सन्तापो दाहः। स्वेदारतिमानोषः। प्रादेशिकः स्वेदरहितोऽग्न्यर्चिषेव दाहः प्लोषः। मुखोष्ठतालुषु दाहो दवः। चक्षुरादीन्द्रियेषु दाहो दवथुः। पाणिपादांसमूलेषु विविधः सन्तापो विदाहः। कोष्ठे दाहोऽन्तर्दाहः। शिरोग्रीवाकण्ठतालुषु धूमायनं धूमकः। सान्तर्दाहहृदयशूलोद्गारोऽम्लकः। शोणितस्य कृष्णतादौर्गन्ध्यतनुत्वानि क्लेदः, मांसस्य तु कृष्णतादौर्गन्ध्यं च। बाह्यत्वक्संहतिश्चर्मकोथः[1]। कोष्ठगौरवादाहारास्पृहा तृप्तिः। अन्ये पुनराहुः—अन्नानभिनन्दना तृप्तिरिव तृप्तिररोचकः। निद्रार्तस्येव विषयाग्रहणं तन्द्रा। स्तैमित्यं तु प्रमीलक इत्यन्यैः पठितम्। उपलेप इवोपलेपः। तदशिशयः प्रतिचयोऽतिपूरणम्। अग्नेरतिमन्दता शैत्यम्। उरोऽभिष्यन्द उदर्दः, केषाञ्चिच्छीतवेपथुरुदर्दः॥ १६॥

अन्ये पुनराहुः—

शीतपानीयसंस्पर्शाच्छीतकाले विशेषतः।
सरागकण्डूः शोफः स्यादुदर्दः स कफोद्भवः॥ इति॥ १७॥

समस्त शरीर में तीव्र संताप को **दाह** कहते हैं। स्वेद और बेचैनी के साथ होने वाले दाह का नाम **ओष** है। किसी अंग-विशेष में स्वेद रहित अग्नि की ज्वाला के समान दाह का नाम **प्लोष** है। मुख, ओष्ठ एवं तालु में होने वाले दाह का नाम **दव** है। चक्षु आदि इन्द्रियों में होने वाले दाह को **दवथु** कहते हैं। हाथ, पैर तथा अंसफलक प्रदेश में विविध प्रकार के होने वाले संताप को **विदाह** कहते हैं। कोष्ठ (महास्रोत) में होने वाले दाह को **अन्तर्दाह** (कोष्ठदाह) कहते हैं। शिर, ग्रीवा, कण्ठ और तालु में धुँआ निकलने जैसी प्रतीति को **धूमक** कहते हैं। अन्तर्दाह के साथ हृदयशूल एवं अम्ल-उद्गार आने को **अम्लक** कहते हैं। रक्त की कृष्णता, दुर्गन्ध एवं पतलापन को **शोणितक्लेद** कहते हैं। मांस की कृष्णता तथा दुर्गन्ध को **मांसक्लेद** कहते हैं। सम्पूर्ण बाह्य त्वचाओं को चर्म कहते हैं, बाह्य त्वचा का समूह **चर्मकोथ** कहलाता है। कोष्ठ (महास्रोत) में भारीपन होने से भोजन के प्रति उत्पन्न अनिच्छा को **तृप्ति** कहते हैं। अन्य लोगों का कथन है कि अन्न की अभिलाषा न होने पर तृप्ति होने के समान (तृप्ति) अनुभव होने को **अरोचक** कहते हैं। निद्रा से पीड़ित होने के समान शब्द-स्पर्श आदि विषयों को न ग्रहण करना **तन्द्रा** है। स्तैमित्य को अन्य तन्त्रकार **प्रमीलक** भी कहते हैं। दीवाल पर मिट्टी इत्यादि से लेप करने के समान प्रतीति को **उपलेप** कहते हैं। उपलेप की अधिकता अर्थात् धमनी का अत्यन्त पूरित होना **धमनी-प्रतिचय** है। अग्नि की अतिमन्दता को **अग्निशैत्य** कहा जाता है। उरः (वक्ष) में होने वाले अभिष्यन्द (स्राव) को **उदर्द** कहते हैं। कुछ आचार्यों का कथन है कि शीत से जो कम्पन होता है, वह उदर्द है। अन्य आचार्य पुनः कहते हैं—शीतल जल का स्पर्श होने से विशेषतः शीत ऋतु में लालिमा एवं कण्डू से युक्त शोफ को उदर्द कहते हैं। यह कफ से उत्पन्न होता है।

क्षुद्र रोगों का अङ्गानुरूप नामकरण

महाविकारास्तु यथास्वमेवोपदेक्ष्यन्ते। क्षुद्रविकाराः पुनर्यदेवाङ्गमाविशन्ति तदुप-

---

१. 'बाह्यत्वचः संहतिः चर्मकोथशब्देन उच्यते' इतीन्दुः। अर्थात् बाह्यत्वचा सिकुड़कर जब संहति (एकत्रित) रूप में हो जाती है, तो उसे चर्मकोथ कहते हैं।

पदमेव नाम लभन्ते । यथा—नखशङ्खललाटभेदाः सान्तर्दाहकण्ठहृदयोपलेपादयः । तेषां हि तथैव स्वरूपमुपदिष्टं भवति ॥ १८ ॥

ज्वर, गुल्म आदि महारोगों का वर्णन तो निदानस्थान में अपने-अपने प्रकरण में किया जायेगा । क्षुद्र रोग जिस अङ्ग में उत्पन्न होते हैं, उस अंग के विशेषज्ञ से व्यवहार के लिए वही नाम प्राप्त कर लेते हैं । जैसे नख में भेदन के समान पीड़ा होने से इस रोग को नख-भेद कहा है । शंख प्रदेश में होने से शंखभेद, इसी प्रकार ललाटभेद, अन्तर्दाह, कण्ठ-उपलेप आदि में उनका नाम ही विकारों के स्वरूप को निर्दिष्ट करता है ।

रोगों का असंख्येयत्व

सर्वेषु तेषु तेष्वनुक्तेषु चान्येष्वसङ्ख्येयत्वाद्विकारेष्विमान्येव दोषाणामात्मलिङ्गानि सकलशरीरव्यापीन्यव्यभिचारीणि च । तथा तत्कर्माण्युपक्रमश्च । तत्रात्मलिङ्गान्यायुष्कामीये निर्दिष्टानि ॥ १९ ॥

रोग असंख्य हैं, सबका नामकरण नहीं किया जा सकता । अतः सम्पूर्ण शरीर में फैलने वाले वात, पित्त और कफ को अपने लक्षणों से पहचानना चाहिए । ये वातादि दोषों के अपने-अपने लक्षण अव्यभिचारी (अपवाद रहित) होते हैं । इनके अपने-अपने कर्म तथा उपक्रम (चिकित्सा) होते हैं । वातादि दोषों के आत्मलिङ्ग (अपने लक्षण) आयुष्कामीय नामक प्रथम अध्याय में निर्दिष्ट किये जा चुके हैं ।

प्रकुपित वातादि दोषों के कर्म

कर्माणि तु वायोः स्रंसव्यासङ्गसादभेदतोदहर्षतर्षवर्तार्तिमर्दकम्पव्यथवेष्टभङ्गशूलशोषस्वापपारुष्यसौषिर्यसङ्कोचस्पन्दनानि कषायरसत्वं श्यावारुणवर्णता च । पित्तस्य दाहोष्मपाकस्वेदक्लेदकोथस्रावरागाः कटवम्लरसत्वं शुक्लारुणवर्ज्यवर्णता च । श्लेष्मणः कण्डूस्थैर्यगौरवोपदेहस्नेहशैत्यबन्धचिरकारित्वानि मधुरलवणरसत्वं श्वेतवर्णता चेति ।२०।

प्रकुपित वायु के कर्म—स्रंस (अधःपतन–बाहु आदि सन्धियों का भ्रंश), व्यास (फैलाना), संग (अवरोध), साद (शिथिलता), भेद (भेदन या फटने के समान पीड़ा), तोद (सुई चुभने के समान पीड़ा), हर्ष (रोमाञ्च), तर्ष (प्यास–तृष्णा), वर्त (घूमने के समान पीड़ा), मर्द (मर्दन के समान कष्ट), कम्प (कम्पन), व्यध (विद्ध-सा प्रतीत होना), वेष्ट (ऐंठन), भंग (टूटना), शूल, शोष (सूखना), स्वाप (सुन्न होना), पारुष्य (कर्कशता), सौषिर्य (खोखला हो जाना), संकोच (संकुचित होना), स्पन्दन (फड़कना), कषायरसत्व (मुख में कषाय रस की प्रतीति) तथा श्याव-अरुण वर्णता (त्वचा का वर्ण कपिश एवं अरुण होना) ।

प्रकुपित पित्त के कर्म—दाह (संताप), उष्म (उष्णता), पाक (Suppuration), स्वेद (Perspiration), क्लेद (Sloughing), कोथ (सड़न Putrefaction), स्राव (स्रुति Discharge), राग (लौहित्य Redness), कटु-अम्लरसत्व (मुख में कटु-अम्ल रसों की प्रतीति) तथा शुक्ल-अरुणवर्ज्य-वर्णता (शुक्ल एवं अरुण वर्ण के अतिरिक्त अन्य रंगों का शरीर में उत्पन्न हो जाना) ।

प्रकुपित कफ के कर्म—कण्डू (खुजली), स्थैर्य (स्थिरता), गौरव (भारीपन), उपदेह (उपचय या संचय), स्नेह (स्निग्धता), शैत्य (शीतत्व), बन्ध (बाँधना), चिरकारित्व (देर से कार्य करना), मधुरलवणरसत्व (मुख में मधुर एवं लवण रसों की प्रतीति) तथा श्वेत वर्णता (त्वचा का श्वेत हो जाना) ।

रसों द्वारा दोषों का अनुमान

कपिलस्त्वेषां स्वलक्षणानि रसतो निर्दिदेश ॥ २१ ॥
कटूवम्ललवणं पित्तं स्वाद्वम्ललवणः कफः ।
कषायतिक्तकटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानतः ॥ २२ ॥

सुश्रुतः पुनः पठति—पित्तं विदग्धमम्लतामुपैति; श्लेष्मा लवणताम् । तदेवमेतानि वाय्वादिरूपकर्माण्यवहितः सम्यगुपलक्षयेदागमप्रत्यक्षानुमानैः । अनन्तरं च देशकालमात्रादीन्प्रमाणीकृत्याश्वेवोपक्रमेतेति ॥ २३ ॥

आचार्य कपिल का कथन है कि इन दोषों के लक्षणों का ज्ञान रसों द्वारा होता है । पित्त दोष कटु, अम्ल तथा लवण रसों वाला; कफ दोष मधुर, अम्ल एवं लवण रसों वाला तथा वात दोष कषाय, तिक्त तथा कटु रसों वाला अनुमान द्वारा देखा जाता है ।

पुनः सुश्रुत का कथन है कि पित्त विदग्ध होकर अम्ल बनता है और श्लेष्मा विदग्ध होकर लवण बनता है । पित्त एवं कफ हमेशा ऐसे नहीं होते हैं, केवल विदग्धावस्था में ही ऐसा होता है । इसलिए वायु आदि के लक्षण और कार्यों को सम्यक् सावधान होकर आगम (शास्त्र) प्रमाण, प्रत्यक्ष (चक्षु आदि इन्द्रियों से देखकर) प्रमाण और अनुमान द्वारा भलीभाँति समझना चाहिए । इसके पश्चात् देश, काल, मात्रा आदि का विचार करके शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए ।

दोषों के तिरसठ भेद

भवन्ति चात्र —

वक्ष्यन्तेऽतः परं दोषा वृद्धिक्षयविभेदतः ।
पृथक् त्रीन्विद्धि संसर्गस्त्रिधा तत्र तु तान्नव ॥ २४ ॥
त्रीनेव समया वृद्ध्या षडेकस्यातिशायने ।
त्रयोदश समस्तेषु षड्द्वयेकातिशयेन तु ॥ २५ ॥
एकं तुल्याधिकैः षट् च तारतम्यविकल्पनात् ।
पञ्चविंशतिरित्येवं वृद्धैः क्षीणैश्च तावतः ॥ २६ ॥
एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ते पुनश्च षट् ।
एकक्षयैर्द्वन्द्ववृद्ध्या सविपर्ययायाऽपि ते ॥ २७ ॥
भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टास्त्रिषष्टिः स्वास्थ्यकारणम् ।

इसलिए अब वातादि दोषों को वृद्धि एवं क्षय भेद से कहेंगे—

पृथक्-पृथक् तीनों दोषों की वृद्धि—

१. वात वृद्ध
२. पित्त वृद्ध
३. कफ वृद्ध

दो दोषों की सम वृद्धि के तीन भेद—

४. वात-पित्त वृद्ध
५. वात-कफ वृद्ध
६. पित्त-कफ वृद्ध

संसर्ग (दो दोष) में एक-एक दोष की अतिशय छः वृद्धि—

७. वात वृद्ध	पित्त वृद्धतर
८. पित्त वृद्ध	वात वृद्धतर
९. वात वृद्ध	कफ वृद्धतर
१०. कफ वृद्ध	वात वृद्धतर
११. कफ वृद्ध	पित्त वृद्धतर
१२. पित्त वृद्ध	कफ वृद्धतर

एक-एक दोष की तथा दो-दो दोषों की अतिशय छः वृद्धि—

१३. वात वृद्ध	पित्त-कफ अतिशय वृद्ध
१४. पित्त वृद्ध	वात-कफ अतिशय वृद्ध
१५. कफ वृद्ध	वात-पित्त अतिशय वृद्ध
१६. वात-पित्त वृद्ध	कफ अतिशय वृद्ध
१७. पित्त-कफ वृद्ध	वात अतिशय वृद्ध
१८. वात-कफ वृद्ध	पित्त अतिशय वृद्ध

तुल्य या समान वृद्धि एक—

१९. वात-पित्त-कफ वृद्ध

तर (वृद्धतर) एवं तम (वृद्धतम) विकल्प से छः वृद्धि—

२०. वात वृद्ध	पित्त वृद्धतर	कफ वृद्धतम
२१. वात वृद्ध	कफ वृद्धतर	पित्त वृद्धतम
२२. पित्त वृद्ध	कफ वृद्धतर	वात वृद्धतम
२३. पित्त वृद्ध	वात वृद्धतर	कफ वृद्धतम
२४. कफ वृद्ध	वात वृद्धतर	पित्त वृद्धतम
२५. कफ वृद्ध	पित्त वृद्धतर	वात वृद्धतम

इसी प्रकार उपर्युक्त पच्चीस वृद्धि भेद के समान क्षीण दोषों के भी पचीस भेद होते हैं। जैसे—

पृथक्-पृथक तीन दोषों का क्षय—

२६. वात क्षीण
२७. पित्त क्षीण
२८. कफ क्षीण

दो दोषों के सम क्षय के तीन भेद—

२९. वात-पित्त क्षीण
३०. वात-कफ क्षीण
३१. पित्त-कफ क्षीण

संसर्ग (दो दोषों) में एक-एक दोष का अतिशय छः क्षय—

३२. वात क्षीण	पित्त क्षीणतर
३३. पित्त क्षीण	वात क्षीणतर

३४. वात क्षीण — कफ क्षीणतर
३५. कफ क्षीण — वात क्षीणतर
३६. कफ क्षीण — पित्त क्षीणतर
३७. पित्त क्षीण — कफ क्षीणतर

एक-एक दोषों तथा दो-दो दोषों का अतिशय छः क्षय—

३८. वात क्षीण — पित्त-कफ अतिशय क्षय
३९. पित्त क्षीण — वात-कफ अतिशय क्षय
४०. कफ क्षीण — वात-पित्त अतिशय क्षय
४१. वात-पित्त क्षीण — कफ अतिशय क्षय
४२. पित्त-कफ क्षीण — वात अतिशय क्षय
४३. वात-कफ क्षीण — पित्त अतिशय क्षय

तुल्य या समान क्षय एक—

४४. वात-पित्त-कफ क्षीण

तर (क्षीणतर) एवं तम (क्षीणतम) विकल्प से छः क्षय—

४५. वात क्षीण — पित्त क्षीणतर — कफ क्षीणतम
४६. वात क्षीण — कफ क्षीणतर — पित्त क्षीणतम
४७. पित्त क्षीण — कफ क्षीणतर — वात क्षीणतम
४८. पित्त क्षीण — वात क्षीणतर — कफ क्षीणतम
४९. कफ क्षीण — वात क्षीणतर — पित्त क्षीणतम
५०. कफ क्षीण — पित्त क्षीणतर — वात क्षीणतम

एक-एक दोष की वृद्धि, समता तथा क्षय के कारण छः भेद—

५१. वात वृद्ध — पित्त सम — कफ क्षीण
५२. पित्त वृद्ध — वात सम — कफ क्षीण
५३. कफ वृद्ध — पित्त सम — वात क्षीण
५४. वात वृद्ध — कफ सम — पित्त क्षीण
५५. पित्त वृद्ध — वात सम — पित्त क्षीण
५६. कफ वृद्ध — वात सम — पित्त क्षीण

एक दोष के क्षय तथा दो दोषों की वृद्धि से तथा एक दोष की वृद्धि एवं दो दोषों के क्षय से छः भेद—

५७. वात क्षीण — पित्त-कफ वृद्ध
५८. पित्त क्षीण — वात-कफ वृद्ध
५९. कफ क्षीण — वात-पित्त वृद्ध
६०. वात-कफ क्षीण — कफ वृद्ध
६१. वात-कफ क्षीण — पित्त वृद्ध
६२. पित्त-कफ क्षीण — वात वृद्ध

६३ स्वप्रमाणस्थ वात-पित्त-कफ के स्वास्थ्य का कारण।

इस प्रकार बासठ भेद रोग का कारण और तिरसठवाँ भेद स्वास्थ्य का कारण कहा गया है।

दोषों की वृद्धि, साम्यावस्था एवं क्षय का लक्षण

रोगावस्थासु युगपद् वृद्धिसाम्यक्षयानुगम् ॥ २८ ॥
षट्कं हि दुर्बोधतरं विकारैरुपदेक्ष्यते ।
प्रकृतिस्थं यदा पित्तं वृद्धो वायुः कफक्षये ॥ २९ ॥
स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ।
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितौ ॥ ३० ॥
गात्रोद्देशे तथा स्यातां बलहानिपरिश्रमौ ।
प्रकृतिस्थं कफं क्षीणे पित्ते वायुर्यदा बली ॥ ३१ ॥
कर्षेत् कुर्यात् तदा शूलं सशैत्यस्तम्भगौरवम् ।
प्रकृतिस्थं यदा वातं पित्तं वृद्धं कफक्षये ॥ ३२ ॥
संरुणद्धि तदा दाहः शूलं चास्योपजायते ।
प्रकृतिस्थं कफं वृद्धं पित्तं वायुक्षये यदा ॥ ३३ ॥
सन्निरुध्यात्तदा कुर्यात् सतन्द्रागौरवं ज्वरम् ।
प्रकृतिस्थं यदा वायुं वृद्धः पित्तक्षये कफः ॥ ३४ ॥
सन्निरुध्यात् तदा कुर्याच्छीतकं गौरवं रुजम् ।
प्रकृतिस्थं यदा पित्तं वृद्धः श्लेष्माऽनिलक्षये ॥ ३५ ॥
सन्निरुध्यात् तदा कुर्यान्मन्दाग्नित्वं शिरोग्रहम् ।
निद्रातन्द्रोपलेपांश्च हृद्रोगं गात्रगौरवम् ।
ष्ठीवनं पित्तकफयोर्नखादीनां च पीतताम् ॥ ३६ ॥

रोगों की विभिन्न अवस्थाओं में दोषों की वृद्धि, साम्यावस्था और क्षय की जो छः अवस्थाएँ एक साथ बतलाई गयी हैं, वह समझना बहुत कठिन है। इसलिए कुछ विकार निम्नलिखित प्रकार से समझाये गये हैं—

(१) जब पित्त साम्यावस्था में तथा वायु वृद्ध और कफ क्षीण होता है, तब वृद्ध वायु उन दोनों को उनके स्थान से लेकर शरीर में जहाँ-जहाँ विसर्पण करता है, वहाँ अनवस्थित (अस्थिर) रूप से भेदन जैसी पीड़ा, दाह, बलहानि और परिश्रम का अनुभव होता है।

(२) जब बली (वृद्ध) वायु प्रकृतिस्थ कफ एवं क्षीण पित्त को अपने स्थान से खींचकर जहाँ-जहाँ ले जाता है, वहाँ शूल, शीतलता एवं भारीपन होता है।

(३) जब वृद्ध पित्त कफ का क्षय होने पर प्रकृतिस्थ वायु को एक स्थान पर रोक देता है, तब दाह एवं शूल होता है।

(४) जब वृद्ध पित्त वायु का क्षय होने पर प्रकृतिस्थ कफ को रोक देता है, तब तन्द्रा, गौरव तथा ज्वर होता है।

(५) जब वृद्ध कफ पित्त का क्षय होने पर प्रकृतिस्थ वायु को रोकता है, तब शीत, गुरुता एवं वेदना होती है।

(६) जब वृद्ध कफ वायु का क्षय होने पर प्रकृतिस्थ पित्त को रोकता है, तब शिरोरोग, निद्रा, तन्द्रा, उपलेप, हृदयरोग, शरीर में भारीपन, पित्त एवं कफ-निष्ठीवन (मुख से कफ एवं पित्त का निकलना) तथा नख-नेत्र आदि में पीलापन आ जाता है।

ये दोषवृद्धिक्षययोर्विकाराः कीर्तिताः पृथक् ।
शेषेष्वपि तु तानेव कल्पयेत् तद्यथायथम् ॥ ३७ ॥

वातादि दोषों की वृद्धि एवं क्षय से होने वाले विकार जो पृथक्-पृथक् कहे गये है, उन्हीं की वातादि के शेष समस्त भेदों में भली प्रकार (यथोचित) कल्पना कर लेनी चाहिए; अर्थात् उनको ठीक प्रकार से जान लेना चाहिए ।

दोषों का असंख्येयत्व

संसर्गाद्रसरुधिरादिभिस्तथैषां दोषांस्तु क्षयसमताविवृद्धिभेदैः ।
आनन्त्यं तरतमयोगतश्च यातान् जानीयादवहितमानसो यथास्वम् ॥ ३८ ॥

इति दोषभेदीयो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इन वातादि दोषों का रस-रक्तादि धातुओं से संसर्ग तथा उनके क्षय, समता और वृद्धि के भेद से और क्षय आदि के साथ तर-तम आदि का योग होने से दोषों के अनन्त भेद हो जाते है । इसलिए उनको एकाग्र होकर ठीक प्रकार से समझना चाहिए ।

इस प्रकार दोषभेदीय नामक विंशोऽध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में दोषों का पाञ्चभौतिक संगठन, शरीर में उनके विशिष्ट एवं सामान्य स्थान का निर्देश मिलता है । इसके साथ ही दोषों के पाँच भेद, शरीर में उनका स्थान तथा कर्म, वात-जन्य अस्सी, पित्तजन्य चालीस तथा कफजन्य बीस विकारों का विवेचन मिलता है ।

एकविंशोऽध्यायः

अथातो दोषोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'दोषोपक्रमणीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

'दोषोपक्रमणस्य सर्वरोगौषधत्वात्। उपक्रमणं औषधम्'। (हेमाद्रिः) अर्थात् उपक्रम औषध है, इसलिए दोषोपक्रमण का अधिकार जिस अध्याय में है, उस अध्याय की व्याख्या करेंगे; अर्थात् दोष की शान्ति के लिए उपयोगी स्नेहादि का निरूपण करेंगे।

वात की चिकित्सा

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदो मृदूनि स्निग्धोष्णमधुराम्ललवणानि संशोधनान्यभ्यवहार्याणि चाभ्यङ्गपूर्वमुपनाहनोपवेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहसंवाहनपीडनानि वित्रासनविध्मापनविस्मरणानि सुरासवविधानं स्नेहाश्चानेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहरविरेचनीयद्रव्योपहितास्तथा शतपाकसहस्रपाकाः सर्वशः प्रयोगार्था बस्तयो बस्तिनियमो विशेषतस्तैलं मांसरसोऽनुवासनानि सुखशीलता स्त्रीसम्पर्कवर्ज्यश्च हैमन्तो विधिः ॥ ३ ॥

वायु के उपक्रम में स्नेहन, स्वेदन, मृदु, स्निग्ध, उष्ण, मधुर, अम्ल, लवण द्रव्यों से संशोधन एवं इन्हीं द्रव्यों का औषध-आहार रूप में प्रयोग करना चाहिए। अभ्यंग के पश्चात् उपनाह[1] (पुल्टिश), उपवेष्टन (कसकर वस्त्र आदि से बाँधना), उन्मर्दन (कस कर मर्दन करना), परिषेक (वातहर द्रव्यों से सिञ्चन), अवगाहन[2] (वातहर द्रव्यों के क्वाथ में बैठना), संवाहन (धीमे-धीमे हाथ से दबाना), पीड़न (कसकर दबाना), वित्रासन (डराना), विध्मापन (धमकाना), विस्मरण (किसी बात को विस्मृत कराना या भुलाना), सुरा एवं आसवों का सेवन, स्थावर एवं जंगम विविध प्रकार के स्नेहों का सेवन, दीपनीय, पाचनीय, वातहर एवं विरेचनीय द्रव्यों से सौ या हजार बार सिद्ध स्नेहों का सेवन, इन्हीं की वस्तियों का प्रयोग तथा वस्ति के नियमों का पालन (वस्ति-विधियों से युक्त आचार का पालन) करें।

विशेषकर तैल, मांसरस, अनुवासनवस्ति का सेवन, सुख से रहना, स्त्री-सम्पर्क के अतिरिक्त अन्य हेमन्त ऋतुचर्या का पालन करना चाहिए।

पित्त की चिकित्सा

पित्तस्य सर्पिर्नानं सर्पिषा स्नेहनमधोदोषहरणं मधुरतिक्तकषायाणामौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगो मृदुसुरभिशीतहृद्यानां गन्धानामुपसेवा परमशिशिरसुरभिसलिलमज्जनं मनोऽनुकूलसंस्पर्शसुखानां मुक्तामणिवैदूर्याश्मगर्भशङ्खशिलापद्मरागचन्द्रकान्तकान्ततर-

---

१. 'उपनाहः स्निग्धोष्णवातहरकृतः पिण्डबन्धः' इतीन्दुः।
२. 'अवगाहो वातहरद्रव्यपूर्णद्रोण्यां मज्जनम्' इतीन्दुः।

[1]तरलावलीनां भ्रमरत्रासितसहस्रपत्रोत्पलकदलीदलनवमालिकाकुन्दमल्लिकादिविविध-वर्णप्रसूनविरचितानां स्रजां च धारणमुरसा। क्षणे क्षणे चाग्र्यचन्दनप्रियङ्गुकालेयकमृणाल-कर्पूरसुगन्धिशीतस्वच्छगन्धवारिभिः सकमलकुमुदकुवलयैर्भूमितलकवाटवातायनहर्म्य-भित्तीनामभिप्रोक्षणम्। श्रुतिसुखदमृदुमधुरमनोनुगानां गीतवादित्राणामभ्युदयानां च श्रवणम्। अयन्त्रणैः समानविषयवेषचरितैरुत्सवोत्तरान्योन्यदर्शनैः सुहृद्भिः सहासनम्। अनृतवचनविहार[3]स्वभावसुरभितरवदनकुड्मलानां[4] नातिस्पष्टाभिधायिनामनुपचार-मधुरकोमलोल्लापानां प्रियाणामपत्यकानां सदयमाश्लेषः। निर्दयं च [5]तनुमृदुसुरभिनिव-सनाभिर्मल्लिकामुकुलानुकारिमुक्ताफलप्रा[6]यविभूषणीभिः सहचरीनिनादसङ्क्रान्तोपजनितौ-त्सुक्यकलहंसानुनादितनूपुररशनाकलापसिञ्जितानुगमसम्मुखमुग्धस्निग्धमृदुवचनाभिनिज-जघननिबिडकुचयुगुलालङ्कारभारोद्वहनश्रमश्वसनकम्पितमध्यमुकुलितलोचनोत्पलाभिः किञ्चिद्विगलितनवयौवनाभिः प्रियाङ्गसङ्गमात्रातिमात्रसुखास्वादविस्मयमा[7]शुकैककालोपजातव्रीडावैलक्ष्यप्रगल्भतावैक्लव्यहर्षविषादविस्मयस्मितकोपप्रसादसाध्वसस्रस्तस्विन्न-सर्वाङ्गद्रवीकृतहिमाङ्गरागाभिः समस्तदेहहृदयप्रह्लादकारिणीभिर्विलासवतीभिश्चतुरङ्ग-मिवानङ्गबलमङ्गैस्तनुभिरपि समुद्वहन्तीभिरङ्गनाभिराश्लेषः। सकलरजनीकरकर-निकरावकीर्णशिशिरतराणि भवनतलसलिलपुलिनानि। अतिसितसिकतोपास्तृततलमनेक-कायन्त्रप्रवृत्तविमलसलिलधारं धारागृहम्। सागरानुकारितोयाशयोपतीरसुनिविष्टकुसु-मितबहुविटपपृथुतुङ्गविविधतरतटरुहतरुनिबहबहलच्छायोपसञ्छन्नं धवलरक्तनीलनीरज-रजोव्याप्तसमस्तजलविपुलसिकतिलतलोपकल्पितं दोलायमानगलदुदककलशसरणकैरकस्र-वदुदकप्रवाहाहितमृत्सौरभभूतलैकदेशं, प्रलम्बमानाम्रजम्बूकदम्बबिदुलनिचुलादिकिसलय-मञ्जरीफलस्तबकप्रत्युप्तपटालिकं मुहुर्मुहुः पुरुषप्रयत्नप्रेरितघटमुखोद्गीर्णक्षीरचन्दनानु-विद्धावलग्नपतितशेषमुक्ताफलायमानजललवमुच्छ्रायविस्तारवदनिषिद्धदूरविस्तृतशीतवात-प्रवेशमत्यर्थसतताम्बुशीतशीकराभिषेकप्रतिहतसन्तापदाहमोहश्रमक्लमपिपासमतिशयप्राप्त-रामणीयकं हिमाचलस्पर्द्धिशैत्यमम्बुधरकाललीलाविडम्बि कायमानम्। प्रफुल्लपद्मो-त्पलपुण्डरीकसौगन्धिककोकनदशतपत्रपरागरागानुरञ्जितजलचरविहङ्गगणकलनिनदरम्या दीर्घिकाः। मधुपानलोभनिलीयमानालिकुलचलितलताप्रताननिपतितविविधकुसुमनिचय-शयनरचनासव्यापारमृदुपवनान्युपवनानि। विशेषतस्तु घृतं पयो विरेचनानि सौम्याः सर्वे भावा दिवास्वप्नवर्ज्यश्च ग्रैष्मौ विधिः॥ ४॥

पित्त के उपक्रम में सर्पिष्पान (घृतपान), संशोधन के लिए घृत से स्नेहन (तैल से नहीं), अधोदोष-हरण (विरेचन द्वारा दोषों को बाहर निकालना), मधुर, तिक्त एवं कषाय रस वाले

---

१. 'तरलो हारमध्यमणिः' इतीन्दुः।
२. 'पत्रासितोत्पल' इति पाठान्तरम्।
३. 'विरह' इति पाठान्तरम्।
४. 'कुड्मलं मुकुलम्' इति पाठान्तरम्।
५. 'तनुतर' इति पाठान्तरम्।
६. 'प्रायालङ्काराभिः' इति पाठान्तरम्।
७. 'करकस्तुषारः' इतीन्दुः।

औषध-आहार का सेवन, मृदु, सुगन्धित, शीतवीर्य एवं प्रिय गन्ध वाले द्रव्यों का सेवन तथा अत्यन्त शीतल एवं सुगन्धित जल में गोता लगाना चाहिए। मन के अनकूल स्पर्श में प्रिय मुक्ता (मोती Pearl), मणि (Aluminium Oxide), वैदूर्य (Compound of Carbon and Magnesium) अश्मगर्भ (मरकत-पन्ना), शंख (Turbo mormortus), शिला (पुखराज Compoud of Aluminium and Silica), पद्मराग (लालमणि-माणिक्य Oxide of Aluminium, Iron and Cromium), चन्द्रकान्तमणि (चन्द्रमणि) के सुन्दर-सुन्दर एवं तरल (माला के बीच की सबसे बड़ी मणि) से युक्त माला धारण करें। भ्रमरों द्वारा त्रसित सहस्र पत्रोत्पल (कमल *Nelumbo nucifera*), कदली पत्र (*Musa pardisiaca* Linn.), नवमल्लिका (*Jasminum* sp.), कुन्द (*Boswellia serrata*), मल्लिका (बेला *Jasminum sambac* आदि विचित्र रंगों के पुष्पों से बनी माला को वक्ष या उरः में धारण करें। प्रतिक्षण उत्तम चन्दन (*Santalum album*), प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla*), कालेयक (रक्तचन्दन *Santalum* sp.), मृणाल (*Nelumbo nucifera*) एवं कपूर (*Cinnamomum camphora*) आदि सुगन्धित, शीतल एवं स्वच्छ गन्ध जलों के कमल (पद्म *Nelumbo nucifera*), कुमुद (श्वेत कमल *Nymphaea alba*), कुवलय (नीलोत्पल *Nymphaea stellata*) द्वारा भूमितल, कबाट (किवाड़), वातायन (गवाक्ष-खिड़की), हर्म्य (गृह) एवं दीवालों का अभिप्रोक्षण (सिचन-छिड़काव) करें।

कर्पूर

श्रवणेन्द्रियों को सुख देने वाले मृदु, मधुर एवं मनोहर गीतों, वाद्ययन्त्रों तथा अभ्युदयों (उन्नतिकारक या शुभ समाचारों) का श्रवण, अपने समान वेषभूषा एवं आचरण वाले मित्रों के साथ निश्चिन्त होकर स्वेच्छापूर्वक तथा एक उत्सव से अन्य उत्सवों को उत्तरोत्तर देखें। असत्य भाषण एवं विहार स्वभाव इन दोषों से अत्यन्त सुगन्धित मुखकलिका जिसकी हो रही है, जो

बालक बहुत स्पष्ट नहीं बोलते हैं (जिनका उच्चारण अति स्पष्ट नहीं हुआ है) और स्वाभाविक मधुर और कोमल जिनका भाषण (उल्लाप) है, ऐसे प्रिय बालकों का दयापूर्वक आलिङ्गन करें।

तनु (पतली), मृदु (कोमल), सुरभित (सुगन्धित) वस्त्र वाली, मल्लिका के कलियों के समान मोतियों (Pearl) से बने हुए अलंकारों को धारण करने वाली, अपनी सहचरों के शब्द को सुनकर संकल्प उत्पन्न होने से उत्सुकता वाले कलहंसों के समान शब्द करने वाले बिछुए, नूपुर एवं रसना (करधनी) समूह के शब्दों के साथ-साथ सम्मुख मुग्ध वचनों को बोलने वाली अपनी जंघाओं, घने दोनों कुचों पर अलंकार-भार को धारण करने से पैदा होने वाले परिश्रम से उत्पन्न श्वास के द्वारा बीच-बीच में आधे बन्द हो जाते नेत्रकमलों वाली, कुछ ढल गया है नवीन यौवन जिनका, प्रिय के अङ्ग-सङ्ग की मात्रा से अत्यन्त सुखकर आस्वादान होने से ढीले पड़ गये है वस्त्र जिनके और किसी-किसी समय लज्जा, विलक्षणता, प्रगल्भता, विकलता, हर्ष, विषाद (शोक), विस्मय (आश्चर्य), स्मित (मुसकराहट), क्रोध (कोप), प्रसाद (प्रसन्नता), साध्वस (भय) के कारण ढीले और स्वेद युक्त होने के कारण सर्वाङ्ग में पिघल गया है ठण्डा अङ्गराग जिनका, समस्त देह और हृदय को प्रसन्न करने वाली, अनेक लीलाओं को करने वाली, अपने कृश अङ्गों से मानो कामदेव की चतुरंगिणी सेना धारण किये हुए हो, ऐसी स्त्रियों के साथ आलिङ्गन करें।

पूर्ण चन्द्रमा के किरणसमूह के पड़ने से बहुत ठण्डे भवनों के तल पर वर्तमान जल के किनारों का सेवन करें। अत्यन्त श्वेत बालू से ढँके हुए तल वाले अनेक शरीर के रूप में यन्त्रों से निकलने वाली निर्मल जलधारा वाले धारागृह का सेवन करें। समुद्र का अनुकरण करने वाले जलाशयों के समीप में स्थित खिले हुए अनेक वृक्षों तथा तरह-तरह के अति उच्च वृक्षसमूहों की अत्यधिक छाया से ढँके हुए सफेद, लाल, नील (नीलकमल) के पराग से व्याप्त सम्पूर्ण जल जो कि अत्यधिक बालू से युक्त हों, ऐसे स्थानों का सेवन करे, दोलायमान (हिलते हुए) और खिसकते हुए जल के घड़े के रखन का स्थान और करक (मिट्टी के टोटीदार बर्तन) से टपकते हुए जल-प्रवाह से युक्त उठती हुई सुगंध वाले भूतल के एक प्रदेश का सेवन करें।

लटके हुए आम (*Mangifera indica* Linn.), जामुन (*Syzygium cumuni*), कदम्ब (*Anthocephalus indicus* A. Rich), विदुल ('वेतस' इति डल्हण), निचुल (वेत *Barringtonia acutangula* Gaertn.) आदि के पुष्पों की मञ्जरियों और फल के गुच्छों से निर्मित वस्त्रों की कुटी और बार-बार पुरुषों के प्रयत्न से प्रेरित घड़े के मुख से निकलने वाले खस (*Veteriveria zizanioides*), चंदन (*Santalum album*) आदि सुगन्ध से युक्त गिरते हुए मुक्ता-फल के समान पानी की बूंदों से युक्त ऊँचाई और विस्तार वाले स्थानों का सेवन करें। नहीं रोका जा रहा है दूर से आने वाला शीत और वात का प्रवेश जिनमें; निरन्तर जल की ठण्डी बिन्दुओं द्वारा स्नान से नष्ट सन्ताप, दाह, मोह, श्रम, क्लम और पिपासा होने के कारण अत्यन्त सुन्दरता को धारण करने वाले हिमालय की शीतता की स्पर्धा करने वाले वर्षा काल में लीलाओं का अनुकरण करने वाले ऐसे कायमान (गृह) में निवास करे। खिले हुए पद्म (*Nelumlo nucifera*), उत्पल, (*Nymphea stellata*), पुण्डरीक (*Nelumbo nucifera*), सौगन्धिक (कमुद *Numphaea alba*), कोकनद (कमल *Nelumbo nucifera*) तथा शतपत्र (कमल) के पराग के रंग से अनुरंजित जलचर एवं पक्षीगणों के सुन्दर शब्द से रमणीक बावलियों का सेवन करें। मधुपान के लोभ से छिपते हुए भ्रमरों के समूह से हिलती हुई लताओं की डण्ठलों से गिरने वाले अनेक प्रकार के पुष्पसमूह से शयन-रचना (शय्या के निर्माण) के कार्य में संलग्न मन्द वायु जहाँ पर है, ऐसे उपवनों का सेवन करें।

विशेषतः घृत, दुग्ध, विरेचन और सभी सौम्य भावों का तथा दिवास्वप्न के अतिरिक्त ग्रीष्म ऋतुचर्या का पालन करना चाहिए।

कफ की चिकित्सा

श्लेष्मणः पुनर्विधिविहितानि तीक्ष्णानि संशोधनानि [1]विरूक्षप्रायाण्यभ्यवहार्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि तीक्ष्णानि दीर्घकालस्थितानि हृद्यानि मद्यानि। धावनलङ्घन-प्लवनजागरणनियुद्धयुद्धसंव्यवायव्यायामरूक्षोन्मर्दनस्थानोच्छादनानि। विशेषतः क्षौद्रं यूषो वमनानि सर्वशश्चोपवासः सधूमगण्डूषः सुखप्रतिषेधः सुखार्थं वासन्तो विधिरिति॥

कफ के उपक्रम में शास्त्रोक्त विधि से निर्मित तीक्ष्ण संशोधन (वमन-विरेचन); प्रायः रूक्ष तथा कटु, तिक्त, कषाय रस वाले आहार द्रव्यों का सेवन; तीक्ष्ण, पुरानी (चिरकालीन) तथा हृद्य मद्य का सेवन; दौड़ना, लंघन, प्लवन (तैरना), जागरण (जागना), नियुद्ध (बाहुयुद्ध करना), युद्ध (काष्ठादि से युद्ध), सव्यवाय (सम्यक् मैथुन करना), व्यायाम करना, रूक्ष द्रव्यों से अङ्गमर्दन करना, रूक्ष स्थानों में रहना तथा रूक्ष वस्त्र ओढ़ना चाहिए।

विशेष रूप से मधु, मूँग (*Phaseolus mungo* Linn.) का यूष, वमन, उपवास, तीक्ष्ण द्रव्यों का धूम एवं तीक्ष्ण द्रव्यों के कुल्ले, सुखार्थ (दोषों की शान्ति के लिए) सुख-प्रतिषेध (सुख का परित्याग) तथा वसन्त ऋतुचर्या का पालन करना चाहिए।

दोषसंसर्गसन्निपातोपक्रम

भवति चात्र—

उपक्रमः पृथग्दोषान् योऽयमुद्दिश्य कल्पितः।
संसर्गसन्निपातेषु तं यथास्वं विकल्पयेत्॥ ६॥
ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते वासन्तः कफमारुते।
मरुतो योगवाहित्वात् कफपित्ते तु शारदः॥ ७॥
योज्याः पट्वम्लमधुरा वायौ क्रुद्धे रसाः क्रमात्।
पित्ते तिक्तस्ततः स्वादुः कषायश्च रसो हितः॥ ८॥
कटुकः प्राक् ततस्तिक्तः कषायोऽन्ते कफामये।

ये जो उपक्रम (चिकित्सा-विधियाँ) वातादि दोषों के शमन के लिए पृथक्-पृथक् कहे गये हैं, इन्हीं का प्रयोग संसर्गज (द्वन्द्वज) तथा सन्निपातज (त्रिदोषज) विकारों में यथानुसार करना चाहिए। सामान्य रूप से वायु और पित्त के विकार में ग्रीष्म-ऋतुचर्या, कफ एवं वायुजनित विकार में वसंत-ऋतुचर्या और वायु के योगवाही होने से कफ एवं पित्तजनित विकारों में शरद् ऋतुचर्या का सेवन करना चाहिए। वायु के विकार में क्रमशः लवण, अम्ल एवं मधुर रसों का सेवन करना चाहिए। पित्त के प्रकोप में तिक्त, मधुर एवं कषाय रस का सेवन करना चाहिए। कफ के विकार में कटु, तिक्त एवं कषाय रसों का प्रयोग करना चाहिए।

ऋतुदोष सम्बन्ध

चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु॥ ९॥
वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु।

---

१. 'रूक्ष' इति पाठान्तरम्।

चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभिः समीरणः ॥ १० ॥
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति ।
अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम् ॥ ११ ॥
पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः ।
चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः ॥ १२ ॥
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति ।
इति कालस्वभावोऽयम्—

वायु का संचय ग्रीष्म ऋतु में, प्रकोप वर्षा ऋतु में तथा शमन शरद् ऋतु में होता है। पित्त का संचय वर्षा में, प्रकोप शरद् में तथा शमन हेमन्त ऋतु में होता है। कफ का संचय शिशिर ऋतु में, प्रकोप वसन्त ऋतु में तथा शमन ग्रीष्म ऋतु में होता है। ग्रीष्म ऋतु में लघु एवं रूक्ष गुण वाला वायु, लघु एवं रूक्ष औषध तथा आहार के सेवन से लघु एवं रूक्ष गुण वाले शरीर में संचित हो जाता है, किन्तु ग्रीष्म ऋतु की उष्णता के कारण वह कुपित नहीं होता। वर्षा ऋतु में शीतलता के कारण गर्मी के अभाव से वायु कुपित हो जाता है और शरद् ऋतु में सूर्य की ऊष्मा से शान्त हो जाता है। वर्षा ऋतु में जल और औषधियों का अम्लविपाक होने से अम्ल गुण वाले पित्त का संचय होता है, किन्तु काल की शीतलता के कारण पित्त प्रकुपित नहीं होता। शरद् ऋतु में काल की उष्णता के कारण पित्त प्रकुपित्त होता है। हेमन्त एवं शिशिर ऋतु में जल एवं औषधियों के स्निग्ध तथा शीतल होने से और समान गुण वाले काल एवं शरीर के होने से स्निग्ध एवं शीत गुण वाले कफ का संचय होता है, परन्तु काल की शीतलता के कारण स्कन्न (जमा हुआ) कफ प्रकुपित नहीं होता है, किन्तु वसन्त ऋतु में सूर्य की किरणों से पिघलने पर कफ का प्रकोप होता है। यह काल का अपना स्वभाव है।

ऋतुओं के अनुसार दोषों का संचय, प्रकोप एवं प्रशमन

दोष	संचय	प्रकोप	प्रशमन
वात	ग्रीष्म	वर्षा	शरद्
पित्त	वर्षा	शरद्	हेमन्त
कफ	शिशिर	वसन्त	ग्रीष्म

आहार दोष सम्बन्ध

—आहारादिवशात् पुनः ॥ १३ ॥
चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः कालेऽपि वा न तु ।
व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम् ॥ १४ ॥
निवर्तते तु कुपितो मलोऽल्पाल्पं जलौघवत् ।

आहार-विहार आदि के कारण वातादि दोष तत्काल संचय, प्रकोप एवं प्रशमन को प्राप्त होते हैं। आहार-विहार के कारण उपर्युक्त ऋतुओं में संचय, प्रकोप अथवा प्रशमन को प्राप्त नहीं होते हैं। जैसे वर्षा ऋतु में वात के विपरीत आहार-विहार के सेवन से वात कुपित नहीं होता है, किन्तु शीत आदि के सेवन से ग्रीष्म ऋतु में वायु कुपित हो जाता है। कुपित दोष एकाएक सम्पूर्ण

शरीर में पैर के तलवे से लेकर मस्तक तक जल की बाढ़ के समान शीघ्र फैल जाते हैं, किन्तु रोगों का प्रशमन (शान्ति) धीरे-धीरे होता है, जैसे नदी का जल धीरे-धीरे घटता है।

दोषों की चिकित्सा में युक्ति

चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन् ॥ १५ ॥
सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाविरोधतः।
क्रमान्मरुत्पित्तकफान् सर्वत्र सदृशे बले ॥ १६ ॥
वातादीनां यथापूर्वं यतः स्वाभाविकं बलम्।
ऊचे पराशरोऽप्यर्थममुमेव प्रमाणयन् ॥ १७ ॥
यथोपन्यासतः प्राप्तमादौ दोषभिषग्जितम्।
नेतृभङ्गेन दृष्टो हि समं सैन्यपराजयः ॥ १८ ॥

सभी दोषों को संचयकाल में ही जय (शान्त) करना चाहिए। यदि संचयकाल की उपेक्षा के कारण दोष कुपित हो गये हैं, तो कुपित दोष की चिकित्सा शेष (अकुपित) दोषों का विरोध न करते हुए करना चाहिए। यदि तीनों दोष प्रकुपित हों, तो जो दोष बलवान् हों, उसकी चिकित्सा शेष दो दोषों से विरोध न करते हुए करना चाहिए। अर्थात् ऐसा न हो कि एक के शान्त करने पर शेष दोनों प्रकुपित हो जायें। यदि तीनों दोषों के कुपित होने पर समान बल हो, तो क्रमशः वात, पित्त एवं कफ की चिकित्सा करनी चाहिए, क्योंकि स्वभावतः कफ से पित्त तथा पित्त से वायु बलवान् होता है। महर्षि पराशर ने इसी अर्थ को उदाहरण मानकर प्रमाणित किया है। उनका कथन है कि दोषों में वायु प्रबल होता है, अतः सर्वप्रथम उसी की चिकित्सा करनी चाहिए, क्योंकि देखा जाता है कि नायक का विनाश होने पर सेना का पराजय हो जाता है। दोषों में वायु सेनानायक तथा कफ एवं पित्त सेना के समान हैं। वायु ही पित्त एवं कफ को शरीर में इधर-उधर ले जाता है।

दोषों के चिकित्सा-क्रम में मतमतान्तर

स्थानतः केचिदिच्छन्ति प्राक् तावत् श्लेष्मणो वधम्।
शिरस्युरसि कण्ठे च प्रलिप्तेऽन्नरुचिः कुतः ॥ १९ ॥
तदभावे कथं भोज्यपानद्रव्यावचारणम्।
असत्यभ्यवहारे च कुतो दोषविनिग्रहः ॥ २० ॥
तस्मादादौ कफो घात्यः कायद्वारार्गलो हि सः।
मध्यस्थायि यतः पित्तमाशुकारि च चिन्त्यते ॥ २१ ॥
अतो वातसखस्यास्य कुर्यात् तदनु निग्रहम्।
अत एव च पित्तादिः कफान्तोऽन्यैः क्रमः स्मृतः ॥ २२ ॥

कुछ आचार्यों का कथन है कि शरीर में दोषों के स्थान के अनुसार प्रथम कफ को नष्ट करना चाहिए, इसके बाद पित्त, तत्पश्चात् वायु को; क्योंकि शिर, वक्ष एवं कण्ठ में कफ के लिप्त हो जाने से अन्न में रुचि नहीं होती है। भोजन में रुचि न होने से भोज्य द्रव्यमान आदि का व्यवहार (प्रयोग) नहीं हो सकता। आहार के अभाव में दोषों की शान्ति कैसे सम्भव है ? अतएव सर्वप्रथम कफ को शान्त करना चाहिए। यह प्रवृद्ध कफ कायद्वार (महास्रोत के द्वार) को अर्गला (किवाड़) के समान बाँधे रखता है। कफ का शमन होने के पश्चात् शरीर के मध्य में स्थित शीघ्र

कार्यकारी वायु के मित्र अग्निरूप पित्त को शान्त करना चाहिए। तत्पश्चात् वायु को शान्त करना चाहिए।

रोगानुसार दोष-चिकित्साक्रम

सुश्रुतश्च न सर्वत्र मतमेतद् ब्रवीति तु।
जयेज्ज्वरेऽतिसारे च क्रमात् पित्तकफानिलान्॥ २३॥
प्रायेण तापात्मतया ज्वरे तेजो विशिष्यते।
विशश्च सरणं पित्तात् तथा च मृदुकोष्ठता॥ २४॥
तस्य चानुबलः श्लेष्मा गौरवापक्तिजाड्यकृत्।
वायुश्च वर्द्धतेऽवश्यं यस्त्वहःसु तयोः क्षये॥ २५॥
ज्वरातिसारयोस्तस्मादेष दोषजये क्रमः।

उक्त पित्तादि से कफान्त तक दोषों के शान्त करने के क्रम को सुश्रुत सर्वत्र उपयोगी नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि ज्वर एवं अतिसार में क्रम से सर्वप्रथम पित्त को, फिर कफ को तत्पश्चात् वायु को जीतना चाहिए, क्योंकि प्रायः तापस्वरूप होने से सभी ज्वरों में पित्त प्रबल होता है। अतिसार में पुरीष की प्रवृत्ति और पुरीष की मृदुकोष्ठता पित्त के कारण ही होती है। इन दोनों रोगों में पित्त का सहायक कफ होने से शरीर में भारीपन, अपच तथा जड़ता उत्पन्न होती है। पित्त और कफ के क्षीण हो जाने से दिन में वायु की अवश्य वृद्धि हो जाती है, इसलिए ज्वर एवं अतिसार में दोष को जीतने के लिए यही क्रम अपनाना चाहिए। अर्थात् क्रम से पित्त, कफ एवं वायु की चिकित्सा करनी चाहिए।

बल के अनुसार चिकित्साक्रम

कफपित्तानिलानन्ये क्रमादाहुस्तयोरपि॥ २६॥
यस्मादामाशयोत्क्लेशात् भूयिष्ठं तत्समुद्भवः।
क्रमेणाद्येन तत्रापि प्रवृद्धान् स्वाशये स्थितान्॥ २७॥
स्वाशये तु प्रदुष्टानां स्थितैवं ह्याशुकारिता।
विज्ञाय कर्मभिः स्वैः स्वैर्दोषोद्रेकं यथाबलम्॥ २८॥
भेषजं योजयेत् तत्र तन्त्रीकुर्यान्न तु क्रमम्।
प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्॥ २९॥
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् ययो न कोपयेत्।[1]

अन्य आचार्यों का कथन है कि ज्वर और अतिसार की चिकित्सा में प्रथम कफ की, फिर पित्त की और अन्त में वायु की चिकित्सा करनी चाहिए, क्योंकि रोगों की उत्पत्ति आमाशय के उत्क्लेश (आमदोष) से होती है। इस अवस्था में यदि ज्वर एवं अतिसार की चिकित्सा में सर्वप्रथम पित्त की शान्ति के लिए शीतल औषधियों का सेवन किया जाता है, तो आमाशय में और उत्क्लेश बढ़ जायेगा। इसलिए अपने आशय में स्थित प्रवृद्ध दोषों को प्रथम शान्त करना चाहिए, क्योंकि अपने आशय में कुपित दोष आशुकारी (शीघ्रकारी) होते हैं। दोषों का अपने-अपने कर्मों एवं बलों के अनुसार उद्रेक (वृद्धि) जानकर औषधि का प्रयोग करना चाहिए। किसी एक नियम को पकड़कर नहीं रहना चाहिए।

---

१. च० नि० ८।२३।

जो प्रयोग (औषधि) एक व्याधि को शान्त करता है तथा दूसरी व्याधि को उत्पन्न कर देता है, वह विशुद्ध चिकित्सा नहीं होती। विशुद्ध चिकित्सा वह होती है, जो उत्पन्न रोग को शान्त करे तथा दूसरे किसी अन्य रोग को उत्पन्न न करे।

दोषों के सन्निपात में युक्ति

क्रुद्धं मलमलं जेतुं नाल्पभावादुभावपि ॥ ३० ॥
दोषा दोषात्मकत्वाच्च न समेऽपि परस्परम्।
शीतद्रवाम्ललवणकट्वादिगुणतुल्यता ॥ ३१ ॥
दृष्टा मिथश्च दोषेषु नातोऽन्योन्यं जयन्ति ते।
आरम्भकं विरोधेऽपि मिथो यद्वद् गुणत्रयम् ॥ ३२ ॥
विश्वस्य दृष्टं युगपद् व्याधेर्दोषत्रयं तथा।

दोषों का सन्निपात (प्रकोप) दो प्रकार का होता है—(१) विषम दोष (२) सम-दोष। विषम दोषों में क्रुद्ध (कुपित-वृद्ध) दोष को शेष दोनों दोष विरोधी तथा निर्बल होने से शान्त करने में समर्थ नहीं होते हैं। समदोष में अर्थात् जब तीनों दोष समवृद्ध होते हैं, तब भी एक दोष दूसरे दोष को शान्त नहीं करते हैं, क्योंकि दोषों का स्वभाव ही दूषित करना है, शमन करना नहीं। दोषों में शीत, द्रव, अम्ल, लवण, कटु आदि गुणों की समानता देखी जाती है, इसलिए दोष परस्पर एक-दूसरे को शान्त नहीं करते हैं। जैसे परस्पर विरुद्ध होते हुए भी सत्त्व, रज एवं तम नामक तीनों गुण एक साथ रहते हुए सम्पूर्ण विश्व की रचना करते हैं, वैसे ही वातादि तीनों दोष परस्पर विरुद्ध होने पर भी रोग को उत्पन्न करते हैं।

आम एवं पक्व (निराम) दोष के लक्षण

वायुरामान्वयः सार्तिराध्मानकृदसञ्चरः ॥ ३३ ॥
दुर्गन्धमसितं पित्तं कटुकं बहलं गुरु।
आविलस्तन्तुमांस्त्यानः प्रलेपी पिच्छिलः कफः ॥ ३४ ॥
विपर्यये तु पक्वत्वं तथा ताम्रं समेचकम्[1]।
पीतं च पित्तमच्छं च श्लेष्माऽच्छः पिण्डितोऽथवा ॥ ३५ ॥
विशदश्च सफेनश्च धवलो मधुरो रसे।

आमदोष से युक्त वायु कुक्षि में पीड़ा और आध्मान करता है तथा शरीर में सम्यक् प्रकार से संचार (गति) नहीं करता। आम रस से युक्त पित्त दुर्गन्धयुक्त, असित (काला) वर्ण वाला, रस में कटु, बहल (गाढ़ा) एवं गुरु (भारी) हो जाता है। आम से युक्त कफ आविल (मलिन), तन्तुओं वाला, स्त्यान (जमा हुआ या गाढ़ा), प्रलेपी (कण्ठ आदि में लिप्त) और पिच्छिल (चिपचिपा) होता है। इसके विपरीत लक्षण होने पर वातादि दोष को पक्व (निराम) समझना चाहिए। निराम (पक्व) पित्त ताम्र वर्ण का तथा समेचक (अनेक वर्ण का) एवं पीला और स्वच्छ होता है। निराम कफ स्वच्छ, पिण्डीभूत, विशद (पिच्छिलता रहित), फेनयुक्त, श्वेत और रस में मधुर होता है।

आम का लक्षण

उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ॥ ३६ ॥

---

१. 'समेचकम् अनेकवर्णम्' इतीन्दुः।

दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ।
अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात् ॥ ३७ ॥
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सम्भवम् ।
आमेन तेन सम्पृक्ताः दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥

उष्मा (जठराग्नि) के निर्बल हो जाने से रस नामक आदि धातु परिपक्व (जीर्ण) नहीं होता है । तब यह दूषित रस जब आमाशय में पहुँच जाता है, तो उस रस को आम कहते हैं ।

अन्य आचार्यों का कथन है कि अत्यन्त दूषित वातादि दोषों के परस्पर सम्मूर्च्छन से आम-दोष की उत्पत्ति होती है । यथा—देश-काल की अपेक्षा से कोद्रव (*Paspalum scrobiculatum* Linn.) में विष की उत्पत्ति हो जाती है । उस आम से युक्त होने पर वातादि दोष एवं रस-रक्तादि धातुएँ तथा पुरीष आदि दूष्य जब दूषित हो जाते हैं, तब इसे साम कहते हैं और उनसे उत्पन्न रोगों को भी साम कहते हैं ।

आम का सामान्य अर्थ बिना पका हुआ (कच्चा), अपक्व, अपचित और अजीर्ण होता है । यह अवस्था अग्नि के अपूर्ण कार्य के परिणामस्वरूप होती है । जठराग्नि तथा धात्वग्नि की मन्दता के कारण अन्न तथा रस नामक आद्य धातु का ठीक से परिपाक न होने पर जो अपक्व आम रस बनता है, उसे आम कहते है । विजयरक्षित ने मधुकोष-टीका[1] में आम शब्द से निम्नलिखित विकृत द्रव्यों का ग्रहण किया है—

(१) अन्नज रसरूप आम ।
(२) अपाचित आद्य धातु (रस) रूप आम ।
(३) अविपक्व असंयुक्त दुर्गन्धित बहुपिच्छिल द्रव्य ।
(४) मल-संचयरूप आम ।
(५) प्रथम दोष-दुष्टिरूप आम ।
(५) रस-रक्तादि रूप आम ।

आम दोष की चिकित्सा

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान् निर्हरेत् ॥ ३८ ॥
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव ।
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः ॥ ३९ ॥
पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान् ।

---

१. (क) सोऽन्नजो रस इति आमः; अन्नरसस्यैवापक्वस्य तन्त्रान्तरे आमव्यपदेशात् । (मधुकोष-व्याख्या)

(ख) आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः ।
आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः ॥ (मधुकोष-व्याख्या)

(ग) आममन्नरसं केचित् केचित्तु मलसञ्चयम् ।
प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते ॥ (मधुकोष-व्याख्या)

(घ) अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहुपिच्छिलम् ।
सदनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते ॥ (मधुकोष-व्याख्या)

वायु का स्वरूप, प्राकृत-वैकृत कर्म तथा सामान्य उपक्रम

वायु का स्वरूप	वायु का प्राकृत कर्म	वृद्धवायु का कर्म	क्षीणवायु का कर्म	प्रकुपित वायु का कर्म	वायु का सामान्य उपक्रम
रूक्ष लघु शीत खर सूक्ष्म चल	उच्छ्वास निःश्वास उत्साह प्रसन्दन इन्द्रियपाटव (विषयग्रहणसामर्थ्य) वेग प्रवर्तन	कार्श्य कार्ष्ण्य गात्रकम्प स्फुरण उष्णकामिता संज्ञानाश निद्रानाश बल उपघात इन्द्रिय उपघात अस्थिशूल मज्जाशोथ मलसंग आध्मान आटोप मोह दैन्य भय शोक प्रलाप	लालास्राव अरुचि मिचली संज्ञामोह अल्पवाक् अल्पचेष्टा अप्रहर्ष अंगसाद अग्निवैषम्य	स्रंस व्यास संग साद भेद तोद हर्ष तर्ष वर्त मर्द कम्प व्यध वेष्ट भंग शूल शोष स्वाप पारुष्य शौषिर्य संकोच स्पन्दन कषायरसत्व श्याव-अरुणवर्णता	स्नेहन स्वेदन मृदु, स्निग्ध, उष्ण, मधुर, अम्ल एवं लवणरस-प्रधान आहार एवं औषध का सेवन। अभ्यंग उपनाह उपवेष्टन उन्मर्दन परिषेक संवाहन पीड़न वित्रासन विस्मरण वस्ति विशेषतः तैल, मांसरस, अनुवासन वस्ति तथा सुख से रहना। मैथुन के अतिरिक्त हेमन्त-ऋतुचर्या

पित्त का स्वरूप, प्राकृत-वैकृत कर्म तथा सामान्य उपक्रम

पित्त का स्वरूप	पित्त का प्राकृत कर्म	वृद्धपित्त का कर्म	क्षीणपित्त का कर्म	प्रकुपित पित्त का कर्म	पित्त का सामान्य उपक्रम
सस्नेह तीक्ष्ण उष्ण लघु विस्र सर द्रव	पक्ति (पाचन) ऊष्मा अभिलाषा क्षुधा पिपासा प्रभा कान्ति प्रसाद दर्शन मेधा शौर्य मार्दव	त्वचा-नेत्र-मूत्र एवं पुरीष में पीतता ग्लानि इन्द्रियदौर्बल्य ओजविस्रंसन शीतल आहार-विहार की इच्छा दाह मुख में तिक्तता का अनुभव प्यास मूर्च्छा अल्पनिद्रा क्रोध	स्तम्भ शैत्य अनियत तोद दाह अरुचि अविपाक अंगपारुष्य कम्पन भारीपन नख और नेत्र में श्वेतता	दाह ऊष्मा (उष्णता) पाक स्वेद क्लेद कोथ स्राव राग कटु, अम्लरसत्व शुक्ल, अरुण वर्ज्य वर्णता	सर्पिपान (घृतपान) विरेचन मधु, तिक्त, कषायरस-प्रधान औषध, आहार एवं विहार । मृदु, सुगन्धित्, शीतवीर्य एवं प्रिय गन्ध-वाले द्रव्यों का सेवन । शीतल एवं सुगन्धित जल में गोता लगाना शीतल गृह तथा वायु का सेवन । मनोहर संगीत एवं वाद्ययन्त्र का श्रवण । शिशुओं से वार्ता एवं आलिंगन । मनोहर स्त्रियों का आलिंगन । विशेषतः घृत, दुग्ध एवं विरेचन । दिवास्वप्न के अतिरिक्त ग्रीष्म ऋतुचर्या ।

कफ का स्वरूप, प्राकृत-वैकृत कर्म तथा सामान्य उपक्रम

कफ का स्वरूप	कफ का प्राकृत कर्म	वृद्धकफ का कर्म	क्षीणकफ का कर्म	प्रकुपित कफ का कर्म	कफ का सामान्य उपक्रम
स्निग्ध	स्थैर्य	श्वैत्य	भ्रम	कण्डू	तीक्ष्ण सशोधन (वमन-विरेचन)।
शीत	स्नेह	शैत्य	उद्वेष्टन	स्थैर्य	रूक्ष, कटु, तिक्त एवं कषायरस-प्रधान आहार का सेवन।
गुरु	सन्धिबन्धन	स्थौल्य	अनिद्रा	गौरव	
मन्द	वृषता	आलस्य	अंगमर्द	उपदेह	तीक्ष्ण, पुराना तथा हृद्य मद्य का सेवन।
श्लक्ष्ण	क्षमा	गौरव	परिप्लोष	स्नेह	दौड़ना
मृत्स्न	धी	अङ्गसाद	तोद	शैत्य	लंघन
स्थिर	बल	स्रोतोपिधान	दव	बन्ध	प्लवन
	अलौल्य	मूर्च्छा	स्फोटन	चिरकारित्व	जागरण
		निद्रा	वेपन	मधुर-लवणरसत्व	नियुद्ध
		तन्द्रा	धूमायन	श्वेतवर्णता	व्यवाय
		श्वास	सन्धिशैथिल्य		व्यायाम
		कास	हृदयद्रव		विशेषतः मधु, मूँग का यूष, वमन, उपवास तथा तीक्ष्ण द्रव्यों का धूम एवं गण्डूष।
		प्रसेक	श्लेष्माशय में शून्यता का अनुभव		वसन्त-ऋतुचर्या
		हृल्लास			
		अग्निसाद			
		सन्धिविश्लेष			

शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम् ॥ ४० ॥
हन्त्याशु युक्तं वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान् ।
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान् पक्वाधानात् गुदेन च ॥ ४१ ॥
उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्वं वा न चामान्वहतः स्वयम् ।
धारयेदौषधैर्दोषान् विधृतास्तेऽपि कुर्वते ॥ ४२ ॥
रोगानुत्पादनिर्दिष्टानतिस्थौल्यादिकान् गदान् ।
प्रवृत्तान् प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिनः ।
विबद्धान् पाचनैस्तैस्तैः पाचयन्निर्हरेत वा ॥ ४३ ॥

इति दोषोपक्रमणीयो नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त सामदोषों का संशोधन द्वारा निर्हरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि आम से मिश्रित दोष रसादि धातुओं में लीन होकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहते हैं, जिससे उक्लेश (बाहर निकलने की प्रवृति) भी नहीं होता है। यदि इन दोषों को बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाता है, तो यह प्रयत्न दोषों के आश्रयरूपी शरीर के नाश के लिए होता है। जैसे कच्चे फल से रस निकालने के प्रयत्न में रस का आश्रय फल ही विनष्ट हो जाता है। इसलिए इसमें पाचन, दीपन, स्नेहन और स्वेदन आदि से उस आमदोष को परिष्कृत (शुद्ध) करके बल के अनुसार यथोक्त काल में शोधन द्रव्यों द्वारा उसका शोधन करना चाहिए। यह शोधन उसी ओर से करना चाहिए, जिस ओर से समीपता हो। आमाशय के दोष मुख द्वारा, शिर के दोष नस्य (नासा) द्वारा और पक्वाशय के दोष विरेचन द्वारा गुदमार्ग से शीघ्र नष्ट होते हैं। कदाचित् यदि वातादि दोष स्वयं ही ऊर्ध्वमार्ग या अधोमार्ग से प्रवृत्त हो रहे हों, तो इनको औषधि आदि द्वारा नहीं रोकना चाहिए, क्योंकि इनको रोकने से 'रोगानुत्पादनीय' अध्याय में कहे गये अतिस्थौल्य आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए स्वयं प्रवृत्त दोषों को पहले निकलने देना चाहिए। दोषों के अनुसार आम के क्षय होने तक कोई स्तम्भन औषधियाँ नहीं देनी चाहिए। इस प्रकार आमदोषों का विविध पाचन औषधियों द्वारा पाचन करना चाहिए अथवा पाचनोपरान्त शोधन (निर्हरण) करना चाहिए।

इस प्रकार दोषोपक्रमणीय नामक एकविंशो अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में दोषों का सामान्य चिकित्सा-सिद्धान्त विस्तार से बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त ऋतुओं से दोषों का सम्बन्ध, दोषों के चिकित्सा-क्रम में विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख, आम का लक्षण, आम-निराम दोष का लक्षण एवं आमदोष की चिकित्सा बतलायी गयी है।

द्वाविंशोऽध्यायः

अथातो रोगभेदीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'रोगभेदीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

पीडार्थकर रुज् धातु में घञ् प्रत्यय लगने से 'रोग' शब्द बनता है। रोग वह अवस्था है, जिससे शरीर एवं मन में पीड़ा का अनुभव हो। अर्थात् जिनके द्वारा पीड़ा हो, उनकी रोग संज्ञा है। 'आधीयतेऽभिनिवेश्यते प्रतीकारय मन अनेन इति व्याधिः।' (शब्दस्तोम)। जिसके प्रतीकार के लिए मन सदैव प्रयत्नशील रहता हो, वह व्याधि है। 'तत्र प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'। (पातञ्जल-योगदर्शन)। योगदर्शन में प्रतिकूल वेदना को दुःख (व्याधि) कहा गया है। 'तद्दुःखसंयोगो व्याधय इति' (सु० सू० १)। महर्षि सुश्रुत ने दुःख के संयोग को व्याधि कहा है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इस प्रकार कहा गया है—

Disease is a change in that condition as a result of which the organism suffers from discomfort. —William Boyd.

रोगों के सात भेद

सप्तविधाः खलु रोगा भवन्ति—सहगर्भजातपीडाकालप्रभावस्वभावजाः। ते तु पृथक् द्विविधाः। तत्र सहजाः शुक्रार्तवदोषान्वयाः कुष्ठार्शोमेहादयः पितृजा मातृजाश्च। गर्भजा जनन्यपचारात्कौब्ज्यपाङ्गुल्यपैङ्गल्यकिलासादयोन्नरसजा दौर्हृदविमानजाश्च। जातजाः स्वापचारान् सन्तर्पणजा अपतर्पणजाश्च। पीडाकृताः क्षतभङ्गप्रहारक्रोधशोकभयादयः शारीरा मानसाश्च। कालजाः शीतादिकृता ज्वरादयो व्यापन्नजा असंरक्षणजाश्च। प्रभावजा देवगुरूल्लङ्घनशापाथर्वणादिकृता ज्वरादयः पिशाचादयश्च। स्वभावजाः क्षुत्पिपासाजरादयः कालजा अकालजाश्च; तत्र कालजा रक्षणकृताः; अक्षरणजा अकालजाः ॥ ३ ॥

रोग सात प्रकार के होते हैं—(१) सहजजन्य, (२) गर्भजन्य, (३) जातजन्य, (४) पीड़ाजन्य, (५) कालजन्य, (६) प्रभावजन्य तथा (७) स्वभावजन्य। ये सातों रोग पृथक्-पृथक् दो प्रकार के होते हैं—

(१) **सहजजन्य रोग** (Hereditary)—शुक्र-आर्तवदुष्टि से उत्पन्न होते हैं; जैसे—कुष्ठ, अर्श, प्रमेह आदि। ये रोग पितृजन्य शुक्रदुष्टि से तथा मातृजन्य आर्तवदुष्टि से होते हैं।

(२) **गर्भजन्य रोग** (Congenital)—माता के अभिचार (मिथ्या आहार-विहार) से उत्पन्न होते हैं; जैसे—कुबड़ापन, पंगुत्व, पिङ्गलता, किलास (श्वित्र)। ये रोग भी दो प्रकार के होते हैं—गर्भिणी के दूषित आहार रस से तथा दौहृद के विमान (इच्छा-पूर्ति न होने) से।

(३) **जातजन्य रोग**—अपने किये हुए अपचार (मिथ्या आहार-विहार) से उत्पन्न होते हैं। ये भी दो प्रकार होते हैं—सन्तर्पण जन्य (अधिक खाने से) तथा अपतर्पण जन्य (भूखे-प्यासे रहने से)।

(४) **पीड़ाजन्य** (Acoidental or Traumatic)—चोट, अस्थिभंग (हड्डी टूटना), प्रहार, क्रोध, शोक, भय आदि **से पीड़ाजन्य** (आगन्तुक) रोग होते हैं। ये दोष-प्रकोप के बिना ही अकस्मात् शरीर में कष्ट उत्पन्न **कर देते हैं**। ये दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक और मानसिक।

(५) **कालजन्य रोग**—शीत, गर्मी, वर्षा आदि से उत्पन्न होते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं—व्यापन्न–शीत आदि से व्यापन्न (दूषित) अन्न खाने से और असंरक्षणज–शरीर का शीत आदि से भली प्रकार रक्षा न करने से।

(६) **प्रभावजन्य रोग**—देवता तथा गुरु की आज्ञा का उल्लंघन (असम्मान) करने, उनके अभिशाप तथा आथर्वण मन्त्रों से किये हुए मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अभिचारों द्वारा उत्पन्न ज्वर आदि तथा पिशाचादि से उत्पन्न उन्माद आदि होते हैं।

(७) **स्वभावजन्य रोग** (Natural)—भूख, प्यास, जरा (वृद्धावस्था) आदि स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—कालज रोग शरीर की रक्षा करने पर भी होते हैं और अकालजन्य रोग शरीर की भलीभाँति रक्षा न करने पर होते हैं।

उपर्युक्त व्याधियों एवं सुश्रुतोक्त व्याधियों की निम्नलिखित ढंग से तुलना की जा सकती है—

सुश्रुतोक्त व्याधियाँ (सु० सू० २४)	वाग्भटोक्त व्याधियाँ
१. आदिबल-प्रवृत्त < मातृज, पितृज	१. सहज
२. जन्मबल-प्रवृत्त < रसकृत, दौहृदापचारज	२. गर्भज
३. दोषबल-प्रवृत्त	—
शारीर < आमाशयसमुत्थ, पक्वाशयसमुत्थ	
मानस < राजस, तामस	
४. कालबल-प्रवृत्त < अव्यापन्नर्तुकृत, व्यापन्नर्तुकृत	३. कालज
५. दैवबल-प्रवृत्त < विद्युदशनिकृत, पिशादिकृत	४. प्रभावज
६. स्वभावबल-प्रवृत्त < कालकृत, अकालकृत	५. स्वभावज
७. संघातबल-प्रवृत्त < शस्त्रकृत, व्यालकृत	६. पीड़ाजन्य ७. जातज

प्रत्युत्पन्नकर्मज एवं पूर्वकर्मज रोग

त एते समासतः पुनर्द्विविधा भवन्ति—प्रत्युत्पन्नकर्मजाः पूर्वकर्मजाश्च। तत्र रोगोत्पत्ति प्रत्युत्पन्नं कर्म यदनेनैव शरीरेण दृष्टमदृष्टं चोद्दिश्याप्तोपदिष्टानां विहितानां प्रतिषिद्धानामननुष्ठानमनुष्ठानं वा। जन्मान्तरातीतेन तु पूर्वम्। तत्तु पुनर्दैवाख्यमुक्तं च नियतानियतभेदेन प्राक्। तस्मात् दृष्टहेतवः प्रत्युत्पन्नकर्मजाः। विपरीता दैवजन्मानः। अल्पनिदाना महारुजश्चोभयात्मकाः॥ ४॥

ये सभी सातों प्रकार के रोग संक्षेप में दो प्रकार के होते हैं—(क) प्रत्युत्पन्न कर्मज—इसी शरीर द्वारा किये गये कर्मों से उत्पन्न रोग तथा (ख) पूर्व कर्मज—पूर्व जन्मकृत कर्मों से उत्पन्न रोग।

रोगोत्पत्ति के प्रति प्रत्युत्पन्न कर्म इस शरीर द्वारा दृष्ट (प्रत्यक्ष) या अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) रूप से आप्तपुरुषों द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान न करना अथवा आप्तपुरुषों द्वारा निषिद्ध अनुष्ठान करना होता है। जैसे सद्वृत्त आदि में कहे कर्मों का अनुष्ठान न करना तथा निषिद्ध कर्मों का सेवन करना।

पूर्व कर्मज रोग—इस जन्म से पूर्वजन्म के क्रिया-कर्म पूर्वकर्म हैं। पूर्व जन्मकृत कर्म का नाम 'दैव' है, जिसका वर्णन 'विरुद्धान्न-विज्ञानीय' नामक अध्याय में किया जा चुका है। वह नियत एवं अनियत भेद से दो प्रकार का होता है। इसलिए जिन रोगों का हेतु (कारण) प्रत्यक्ष होता है, वे प्रत्यक्ष कर्मज रोग कहलाते हैं और जिन रोगों का उत्पादक कारण प्रत्यक्ष नहीं होता है, वे 'दैवजन्य' कहलाते हैं। जो रोग स्वल्प हेतु से उत्पन्न होकर अत्यन्त पीड़ा को पैदा करते हैं, वे उभयात्मक (दैवप्रत्युत्पन्नज) रोग होते हैं।

प्रत्युत्पन्नकर्मज एवं दैवजन्य रोग की चिकित्सा

तत्र यथास्वं प्रतिपक्षशीलनात् पूर्वेषां रोगाणामुपशमः। सत्येव विपक्षशीलनेऽनिष्ट-कर्मक्षयाद् दैविकानाम्। दोषकर्मक्षयादन्येषाम्॥ ५॥

इनमें प्रत्युत्पन्नकर्मज रोग हेतु-व्याधिविपरीत औषधि के सेवन से शान्त हो जाते हैं। दैवजन्य (पूर्वकर्मज) रोग हेतु-व्याधिविपरीत औषधि का सेवन करने पर भी पूर्वकृत अनिष्ट कर्म के क्षय होने पर ही शान्त होते हैं। उभयात्मक (दैवप्रत्युत्पन्नज) रोग वातादि दोषों तथा पूर्वजन्मकृत कर्म दोनों के क्षय होने पर शान्त होते हैं।

पराभिसंस्कार से रोगोत्पत्ति

अन्ये पुनः प्रत्युत्पन्नं कर्म परकृतमपि वर्णयन्ति। तच्च पराभिसंस्कारमाचक्षते। एवं चाहुः—यदि स्वयं कृतादेव कर्मणः कार्यनिवृत्तिः स्यात् न दृष्टं पुरुषान्तरकृतात्किमिति विद्वानपि पराचरितयोरुपकारापकारयोः सुखदुःखानुरोधात्तोषरोषौ प्रतिकर्तव्यचिन्तां वा प्रतिपद्यते। एवमेते व्याधयो द्विविधाः सन्तस्त्रिविधा जायन्ते॥ ६॥

अन्य आचार्यों का मत है कि प्रत्युत्पन्न कर्म शत्रु आदि दूसरे पुरुषों द्वारा किया हुआ अभिचारी भी होता है। वे परकृत कर्म को पराभिसंस्कार कहते हैं। उनका कहना है कि यदि स्वयं के कर्म से ही कार्य की निवृत्ति (उत्पत्ति) होती है, तो विद्वान् पुरुष दूसरे के द्वारा किये हुए उपकार में सुख का अनुभव करके दूसरे को प्रसन्न करने की कर्त्तव्यता तथा दूसरे के द्वारा किये हुए अपकार में दुःख का अनुभव करके उसके प्रतिरोष (प्रतिरोध) की वृद्धि क्यों करता है? इस प्रकार ये व्याधियाँ दो प्रकार की होती हुईं भी तीन प्रकार की हो जाती हैं—(१) प्रत्युत्पन्न कर्मज, (२) दैव कर्मज एवं (३) परकृत कर्मज।

दोषानुसार रोगों के भेद

ततश्च दोषविशेषतो भूयः सप्तविधाः॥ ७॥

दोषानुसार रोग सात प्रकार के होते हैं—(१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) वातपित्तज, (५) वातकफज, (६) कफपित्तज एवं (७) सन्निपातज।

महर्षि वाग्भट कृत रोगों का वर्गीकरण

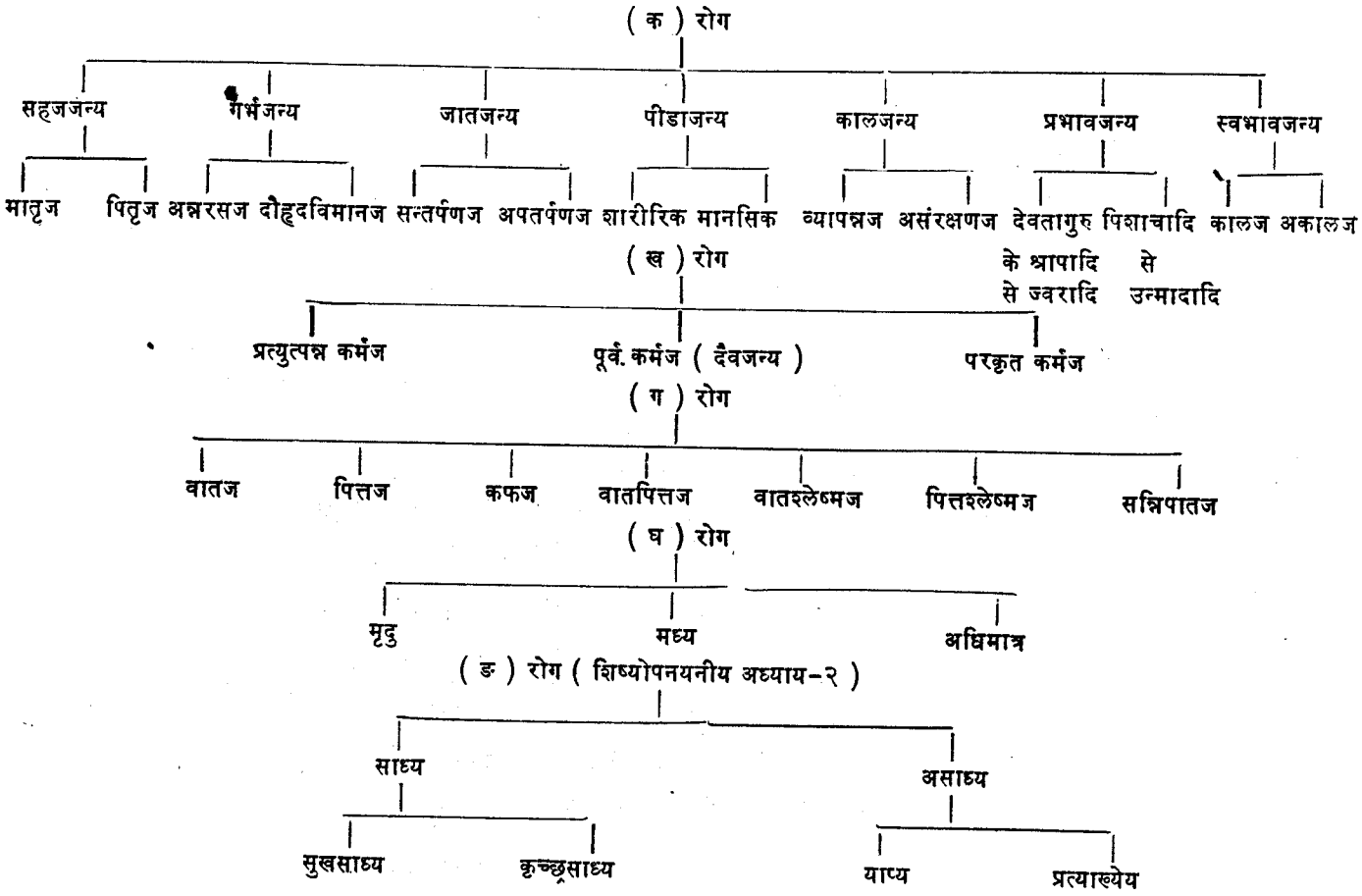

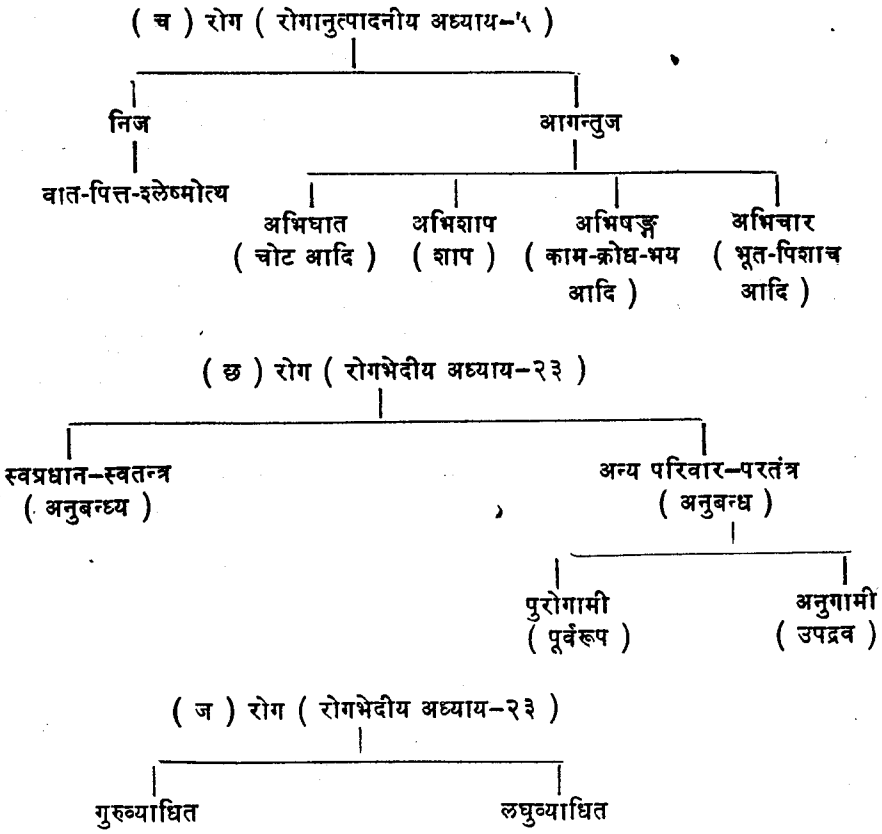
(च) रोग (रोगानुत्पादनीय अध्याय–१)
निज
आगन्तुज
वात-पित्त-श्लेष्मोत्थ
अभिघात (चोट आदि)
अभिशाप (शाप)
अभिषङ्ग (काम-क्रोध-भय आदि)
अभिचार (भूत-पिशाच आदि)
(छ) रोग (रोगभेदीय अध्याय–२३)
स्वप्रधान–स्वतन्त्र (अनुबन्ध्य)
अन्य परिवार–परतंत्र (अनुबन्ध)
पुरोगामी (पूर्वरूप)
अनुगामी (उपद्रव)
(ज) रोग (रोगभेदीय अध्याय–२३)
गुरुव्याधित
लघुव्याधित

रोगसमूह आयुर्वेदोपदेश की अपेक्षा रखता है !

सकलोऽपि चायं रोगसमूहः प्रतीकारवानायुर्वेदविहितमुपदेशमपेक्षते। यस्मान्नियतहेतुकोऽप्यामयः सम्यग्भिषगादेशानुष्ठानादुपात्तायुःसंस्कारापरिक्षये जातोऽपि वा। सह्यवेदनतां प्रतिपद्यते। अनुपक्रम्यमाणस्तु सर्व एव प्रायशो भनक्त्यकाण्डे। स्वयमपि च दैवान्निदानाल्पतया वा निवर्तमानः षोडशगुणसमुदितक्रियोपलम्भादाशुतरमपरिविलष्टस्य चापगच्छति। अनियतफलदायिनि तु दैवे हिताभ्यासरतस्यावकाशमेव न लभते व्याधिः। तस्मान्न कस्याञ्चिदवस्थायामात्मवान् हिताहितयोस्तुल्यदर्शी स्यात् ॥ ८ ॥

यह समस्त रोगसमूह प्रतिक्रियावान् होता है। अर्थात् इन सभी रोगों का प्रतिकार आयुर्वेद के उपदेशों की अपेक्षा रखता है, क्योंकि नियत (निश्चित) कारण वाला रोग भी वैद्य के आदेश का सम्यक् प्रकार से पालन करने पर आयु का संस्कार बने रहने से वेदनाओं को सहन करने वाला होता है, अर्थात् मृत्यु का कारण नहीं होता। रोगी सारे कष्ट सहन कर लेता है। चिकित्सा न करने पर सभी रोग प्रायः अकाल में ही जीवन को नष्ट कर डालते हैं और कुछ रोग दैववश (भाग्यवश) या निदान की स्वल्पता के कारण स्वयं शान्त हो जाते हैं अथवा षोडश गुण युक्त उत्तम चिकित्सा द्वारा क्लेश न देकर शीघ्र स्वयं शान्त हो जाते हैं। जहाँ दैव (पूर्वजन्मकृत कर्म) नियत (निश्चित) रूप से फल देने वाला नहीं होता है, वहाँ हित आहार-विहार का सेवन करने वाले पुरुष को रोग नहीं होता है। इन सभी कारणों से आत्मवान् (जितेन्द्रिय) पुरुष को किसी भी दशा में हित और अहित के सेवन में समदर्शी नहीं होना चाहिए।

रोगों का एकत्व एवं अनेकत्व

त्रिविधाश्च पुनर्व्याधयो मृदुमध्याधिमात्रभेदेन। तत्राल्पलक्षणा मृदवो मध्यलक्षणा मध्याः सम्पूर्णलक्षणास्त्वधिमात्राः। ते पुनः सुखसाध्यादिविशेषेण चतुर्विधाः प्रागुपदिष्टाः। सुबहुशोऽपि च भिद्यमाना व्याधयो निजागन्तुतां न व्यभिचरन्ति। तत्र निजास्तु दोषोत्थाः। तेषु पूर्वं वातादयो वैषम्यमापद्यन्ते ततो व्यथाऽभिनिर्वर्तते। बाह्यहेतुजास्त्वागन्तवः। तेषु व्यथा पूर्वमुपजायते ततो दोषवैषम्यम्। दोषवैषम्येणैव च बहुरूपा रुगनुबध्यते प्रवर्धते च। एवं च कृत्वा न दोषव्यतिरेकेण रोगानुबन्धः। केवलं पौर्वापर्ये विशेषः। तस्मादेकाकारा एव रोगास्तथा रुक्सामान्यादसङ्ख्यभेदा वा प्रत्येकं समुत्थानस्थानसंस्थानवर्णनामवेदनाप्रभावोपक्रमविशेषात्ते यथास्थूलं यथास्वमेवोपदेक्ष्यन्ते। असङ्ख्येयत्वाच्च दोषलिङ्गैरेव रोगानुक्रमं च विभजेत् ॥ ९ ॥

पुनः व्याधियाँ मृदु, मध्य एवं अधिमात्र भेद से तीन प्रकार की होती हैं। इनमें मृदु रोग वे हैं, जिनके लक्षण अल्प होते हैं। मध्य रोग वे हैं, जिनके लक्षण मध्यम होते हैं तथा अधिमात्र रोग वे होते हैं, जिनके सम्पूर्ण लक्षण होते हैं। वे रोग पुनः सुखसाध्य आदि भेद से चार प्रकार के द्वितीय (शिष्योपनयनीय) अध्याय में बतलाये गये हैं। इस प्रकार विभिन्न संख्या में रोग होने पर भी सभी रोग दो प्रकार के होते हैं—(१) निज (Endogenous) और (२) आगन्तुज (Exogenous)। इनमें निज व्याधियाँ वातादि दोषों से उत्पन्न होती हैं; उनमें पहले वातादि दोष विषमता को प्राप्त करते हैं, तत्पश्चात् रोग की उत्पत्ति होती है। बाह्य कारणों से उत्पन्न रोग आगन्तुक होते हैं। आगन्तुक रोगों में वेदना पहले उत्पन्न होती है, तत्पश्चात् वे दोषवैषम्यता को प्राप्त होते हैं। दोषवैषम्य से ही अनेक प्रकार की पीड़ा उत्पन्न होती हैं और बढ़ती है। इस प्रकार दोषवैषम्य

के बिना रोग का अनुबन्ध (रोगोत्पति) नहीं होता है। केवल निज एवं आगन्तुज रोगों में आगे-पीछे का ही भेद है। अर्थात् निज रोगों में दोषवैषम्य पहले होता है तथा आगन्तुज रोगों में दोषवैषम्य बाद में होता है। इसलिए सभी रोग रुजा (वेदना) की समानता से एक ही प्रकार का होता है अथवा समुत्थान (निदान-कारण), स्थान (देह-देश), संस्थान (लक्षण), वर्ण (पाण्डु-पीत-रक्त-श्वेतादि), नाम (ज्वर, अतिसार, कास आदि), वेदना (शूल आदि), प्रभाव (व्याधि-शक्ति) एवं उपक्रम (चिकित्सा) के भेद से प्रत्येक रोग असंख्य प्रकार के होते हैं, जिनका विस्तृत विवेचन निदान एवं चिकित्सा आदि स्थानों में किया जायेगा। असंख्य होने के कारण दोषों के लक्षणों के अनुसार रोगों का विभाग करके उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

दोष ही सभी रोगों का मूल कारण है !

दोषा एव हि सर्वरोगैककारणम्। यथैव शकुनिः सर्वतः परिपतन् दिवसं स्वां छायां नातिवर्तते; यथा वा कृत्स्नं विकारजातं वैश्वरूप्येण व्यवस्थितं गुणत्रयमप्यतिरिच्य न वर्तते; तथैवेदमपि कृत्स्नं विकारजातं दोषत्रयमिति। यथा च विद्युद्वर्षादयो नभसि भवन्ति न त्ववश्यं निमित्ततस्त्ववश्यमपि; तरङ्गबुद्बुदादयश्चाम्भसि। तथा दोषेषु रोगाः ॥ १० ॥

सभी रोगों का एकमात्र कारण वातादि तीनों दोष ही हैं। जैसे पक्षी नदी, वन एवं समुद्र आदि सभी स्थानों पर दिन भर उड़ता हुआ भी अपनी छाया का अतिक्रमण नहीं करता है अथवा जैसे इस विश्व का समस्त विकार-समूह नानारूप में व्यवस्थित होता हुआ भी सत्त्व-रज-तम इन तीनों से अलग नहीं हो सकता, वैसे ही ज्वर आदि सम्पूर्ण रोगसमूह वात-पित्त-कफ इन तीनों दोषों से अलग नहीं हो सकता। जैसे विद्युत्, वर्षा एवं इन्द्रधनुष आदि आकाश में रहने पर भी बिना कारण के दिखलाई नहीं पड़ते, वातावरण रूप निमित्त कारण से अवश्य दिखलाई देते हैं। जैसे पानी में तरंग और बुलबुले रहते हुए भी बिना कारण के दिखलाई नहीं देते और निमित्त (कारण) से दिखलाई पड़ते हैं, उसी प्रकार रोग भी दोषों में सर्वदा रहने पर असात्म्य आदि निमित्त कारणों के बिना दिखलाई नहीं पड़ते।

रोगों के तीन कारण

त्रिविधं तु निमित्तमेषामसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्च। ते पुनः प्रत्येकमतियोगायोगमिथ्यायोगभेदात् त्रिविधा भिद्यन्ते। तत्र यथास्वं चक्षुरादीन्द्रियाणां रूपादिभिरर्थैरतिसंसर्गोऽतियोगः। अल्पशो नैव वा संसर्गस्त्वयोगः। सूक्ष्मातिदूरान्तिक-स्थातिभास्वद्भैरवाप्रियविकृतादिदर्शनं द्विष्टात्युच्चपरुषभीषणादिश्रवणं पूत्यमेध्याति-तीक्ष्णोग्रप्रतिकूलाद्याघ्राणं स्वभावादिभिराहारकल्पनाविशेषायतनैरपथ्यानां रसानामभ्यव-हारस्तथा स्नानादीनां शीतोष्णादीनां च स्पृश्यानामयथावदुपसेवनमशुचिभूताभिघातविष-वातादिसंस्पर्शश्च मिथ्यायोगः ॥ ११ ॥

रोगों के कारण तीन प्रकार के होते हैं—(१) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, (२) प्रज्ञापराध एवं (३) परिणाम। पुनः इन तीनों में प्रत्येक के कारण अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनमें चक्षु आदि इन्द्रियों का रूप आदि विषयों से अत्यधिक संयोग अतियोग है। स्वल्प अथवा बिलकुल ही संयोग न होना अयोग है। अति सूक्ष्म, अति दूर, अति निकट, अत्यन्त भास्वर (चमकीला), अति भैरव (अत्यन्त भीषण), अत्यन्त अप्रिय और विकृत आदि वस्तुओं का दर्शन चक्षु इन्द्रिय का रूप के साथ मिथ्यायोग है।

निन्दित, बहुत ऊँचा, कठोर एवं भीषण आदि शब्दों का सुनना श्रोत्रेन्द्रिय का अपने विषय के साथ मिथ्यायोग है। पूति (दुर्गन्धित), अमेध्य (अपवित्र), अतितीक्ष्ण, उग्र (उत्कट) एवं प्रतिकूल (अप्रिय) आदि गन्धों को सूँघना घ्राणेन्द्रिय का अपने विषय के साथ मिथ्यायोग है। स्वभाव, संयोग, भावना, पात्र एवं मात्रा आदि भेद से आहार की नाना प्रकार की कल्पना तथा विशेषायतन से अपथ्य रसों का सेवन रसनेन्द्रिय का मिथ्यायोग है। स्नान आदि शीत-उष्ण आदि स्पर्श का विपरीत प्रकार से सेवन न करना, अपवित्र, भूत (प्राणियों) का अभिघात (दंश) एवं विषैली वायु आदि का संस्पर्श स्पर्शेन्द्रिय का अपने विषय के साथ मिथ्यायोग है।

प्रज्ञापराध

कायवाङ्मनोभेदेन तु त्रिविधमप्यहितं कर्म प्रज्ञापराधः। तत्र कायादिकर्मणोऽतिप्रवृत्तिरतियोगः। अल्पशो नैव वा प्रवृत्तिरयोगः। वेगोदीरणधारणविषमाङ्गचेष्टनस्खलनकण्डूयनप्रहारप्राणायामादि तथा क्षुत्पिपासाऽर्द्धभुक्तभाषणादि भयशोकेर्ष्यामात्सर्यादि दशविधं चाकुशलं कर्म यथास्वं मिथ्यायोगः॥ १२॥

शरीर, वाणी और मन इन तीनों के द्वारा किया जाने वाला अहित कर्म प्रज्ञापराध है। इनमें शरीर, वाणी और मन द्वारा किये कर्मों की अति प्रवृत्ति अतियोग है, अल्प प्रवृत्ति अथवा सर्वथा अप्रवृत्ति अयोग कहा जाता है। मल, मूत्र आदि वेगों का उदीरण (बलात् प्रवर्त्तन) अथवा धारण (शरीर के अंगों द्वारा विषम चेष्टा करना), स्खलन (गिरना), कण्डूयन (खुजलाना), प्रहार (चोट लगना) एवं प्राणायाम (प्राणों का आयाम-विस्तार) आदि शरीर के मिथ्यायोग हैं। भूख, प्यास एवं खाते समय बोलना आदि वाणी के मिथ्यायोग तथा भय, शोक, ईर्ष्या एवं मात्सर्य आदि मन के मिथ्यायोग हैं।

दशविध निन्दित कर्म—हिंसा, चोरी, अगम्य स्त्रीगमन, पैशुन्यता (निन्दा करना), परुषता (क्रोध), असत्य बोलना, सम्भिन्नालाप (फूट डालने वाला वचन), व्यापद् (बुरा चिन्तन), अभिध्या (पर धन की इच्छा) तथा दृग्विपर्यय (बुरे को अच्छा एवं अच्छे को बुरा समझना) शरीर, वाणी और मन के मिथ्यायोग हैं।

परिणाम

परिणामः पुनः काल उच्यते। सोऽपि शीतोष्णवर्षभेदात्त्रिधा तत्रातिमात्रस्वलक्षणः कालोऽतियोगः। हीनस्वलक्षणस्त्वयोगः। विपरीतो मिथ्यायोगः। त एतेऽतियोगादयः सामान्यतोऽनुपशयलक्षणाः। सर्वो वा प्रज्ञापराध एवायं यदेषामविवर्जनम्। अर्थकर्मकालाः पुनः सम्यग्योगेनोपशयाद्भूयिष्ठं स्वास्थ्यहेतवः। तत्रापि रसवर्जा विषया यथायथमिन्द्रियं बाधन्तेऽनुगृह्णन्ति च शेषा रसकर्मकालास्तु सर्वं देहम्॥ १३॥

परिणाम काल को कहते हैं। अर्थात् शीत, उष्ण एवं वर्षा भेद से यह तीन प्रकार का होता है। ग्रीष्म आदि ऋतुओं में अपने स्वाभाविक लक्षणों से उष्णता आदि का अधिक होना काल का अतियोग कहलाता है, अपने लक्षणों से हीन होना हीनयोग अथवा अयोग कहलाता है तथा ग्रीष्मादि ऋतुओं में अपने लक्षणों के विपरीत शीत आदि का होना मिथ्यायोग कहलाता है। ये सभी अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग आदि सामान्य रूप से शरीर के लिए अनुपशय (अहितकर) होते हैं और इन सबसे न बचना प्रज्ञापराध है। अर्थ, कर्म एवं काल का सम्यग् योग उपशय होने से स्वास्थ्य का कारण होता है। इनमें भी रस नामक विषय को छोड़कर चारों विषय—शब्द-स्पर्श-रूप-गन्ध अपने-अपने इन्द्रियों को अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग से पीड़ित करते हैं और सम्यग्

योग से अपनी-अपनी इन्द्रियों का उपकार करते हैं तथा रस नामक विषय (अर्थ), कर्म तथा काल के अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग से सम्पूर्ण शरीर को हानि पहुँचाते हैं और सम्यग् योग से सम्पूर्ण शरीर का उपकार करते हैं।

इसके अतिरिक्त माधव-निदान की मधुकोष-टीका में व्याधि के निम्नलिखित कारण बतलाए गये हैं—

(क) सन्निकृष्ट हेतु, विप्रकृष्ट हेतु, व्यभिचारी हेतु तथा प्राधानिक हेतु।
(ख) दोष हेतु, व्याधि हेतु एवं उभय हेतु।
(ग) उत्पादक हेतु एवं व्यञ्जक हेतु।

निदानादि की विशेषता से रोगों का भावाभाव

अपि च—सर्वभावानां भावाभावौ नान्तरेण योगातियोगादीन् व्यवस्येत्। सर्वेषां पुनर्विकाराणां निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो भावाभावविशेषा भवन्ति। यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषान्नान्योन्यमनुबध्नन्तीषद्वाऽनुबध्नन्त्यबला वा न तदाऽभिनिवर्तन्ते व्याधयश्चिराद्वाऽभिनिवर्तन्ते तनवो वा भवन्त्यसम्पूर्णलिङ्गा वा। विपर्यये तु विपरीताः॥ १४॥

सभी बाह्य और आध्यात्मिक भावों का भाव (होना) अथवा अभाव (न होना) सम्यक् योग एवं अतियोग-अयोग-मिथ्यायोग के बिना नहीं होते। सामान्य स्थिति में उन सभी विकारों की उत्पत्ति (भाव) तथा विनाश निदान (मिथ्या आहार-विहार), दोष (वातादि), दूष्य (रस-रक्तादि) की विशेषता से होते हैं, क्योंकि जब तक ये तीनों निदान, दोष एवं दूष्य परस्पर अनुबद्ध नहीं होते हैं, तब तक रोग उत्पन्न नहीं होते; अथवा जब ये तीनों निदान आदि परस्पर ईषत् (स्वल्प) अनुबद्ध होते हैं, तब रोग देर से उत्पन्न होता है; और जब ये निदान आदि निर्बल होकर अनुबद्ध होते हैं, तब रोग भी तनु (दुबले-पतले) उत्पन्न होते हैं या सम्पूर्ण लक्षणों वाले नहीं होते। इसके विपरीत दशा में रोग भी विपरीत होते हैं। अर्थात् यदि निदानादि शीघ्र मिलते है, तो रोग भी शीघ्र होता है। यदि ये तीनों बलवान् होते हैं, तो रोग भी बलवान् एवं सम्पूर्ण लक्षणों वाला होता है।

रोगमार्ग

त्रयश्च रोगाणां मार्गा बाह्यमध्याभ्यन्तराः। तत्र बाह्यो रक्तादिधातवस्त्वक् च। स पुनः शाखाख्यः। तदाश्रया गण्डपिटिकालज्यपचीचर्मकीलार्बुदाधिमांसमषव्यङ्गादयो बहिर्भागाश्च शोथार्शोगुल्मविसर्पविद्रध्यादयः। मध्यो मूर्धहृदयबस्त्यादीनि मर्माण्यस्थिसन्धयः। तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुशिराकण्डरादयः। तदाश्रयाः पक्षवधग्रहापतानकार्दितराजयक्ष्मास्थिसन्धिशूलगुदभ्रंशादयो मूर्धादिरोगाश्च। आभ्यन्तरो महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयाश्रयः कोष्ठोऽन्तरिति पर्यायाः; तदाश्रया ज्वरातिसारच्छर्द्यलसकविसूचिकाश्वासकासहिध्माऽऽनाहोदरप्लीहादयोऽन्तर्भागाश्च विसर्पशोफार्शोविद्रधिगुल्मादयः॥ १५॥

रोग के तीन मार्ग हैं—(१) बाह्य रोगमार्ग, (२) मध्यम रोगमार्ग एवं (३) आभ्यन्तर रोगमार्ग। इसमें रक्तादि धातु तथा त्वचा बाह्य रोगमार्ग हैं। इसे शाखा शब्द से भी कहा जाता है। इस बाह्य मार्ग का आश्रय लेकर गण्ड (गलगण्ड), पिटिका (फोड़ा-फुंसी), अलजी,

अपची, चर्मकील, अर्बुद, अधिमांस (मांस-वृद्धि), मषक (मस्सा) तथा व्यंग आदि रोग तथा बाह्य भाग (त्वचा) में होने वाले शोथ, अर्श, विसर्प एवं विद्रधि आदि रोग होते हैं।

शिर, हृदय एवं वस्ति आदि मर्म तथा अस्थि-सन्धियाँ एवं स्नायु, सिरा, कण्डरा आदि मध्यम रोगमार्ग हैं। इनका आश्रय लेकर पक्षवध, सन्धियों आदि में स्तब्धता, अपतानक, अर्दित, राजयक्ष्मा, अस्थिशूल, सन्धिशूल, गुदभ्रंश तथा शिरारोग आदि रोग होते हैं।

महास्रोतस् (महाविवर), शरीरमध्य (शरीर का मध्य भाग), महानिम्न, आमपक्वाशयाश्रय (आमाशय एवं पक्वाशय), कोष्ठ तथा अन्तराभ्यन्तर रोगमार्ग के छः पर्याय हैं। इनका आश्रय लेकर ज्वर, अतिसार, छर्दि (वमन), अलसक, विसूचिका, श्वास, कास, हिक्का, आनाह, उदररोग, प्लीहारोग तथा भीतरी भाग में होने वाले विसर्प, शोथ, अर्श, विद्रधि एवं गुल्म आदि रोग होते हैं।

अरुणदत्त ने रोगमार्ग को रोगों का अयन अर्थात् स्थान कहा है[1]। 'शाखारक्तादयस्त्वक्' को बाह्य रोगमार्ग कहा गया है, शाखा नाम व्यवहार के लिए है। रक्तादि धातुएँ जिनको शाखा कहा गया है, वे वृक्ष की शाखाओं के समान होने के कारण बाह्य रोगमार्ग हैं, आन्तरिक नहीं। त्वक् शब्द से त्वगाश्रित रस का भी ग्रहण किया जाता है। इसलिए रस शब्द शाखाओं में नहीं लिया गया हैं। इसका कारण यह है कि रस को शाखा न कहने से हृदयस्थ रस शाखा नहीं माना जाता है। वह रस कोष्ठ शब्द से ही गृहीत हो जाता है। ऐसे ही यकृत और प्लीहा में स्थित शोणित कोष्ठ शब्द से ग्रहण कर लिया जाता है। यह चक्रपाणि का मत है।

स्वतन्त्र एवं परतन्त्र रोग

ते च रोगाः स्वप्रधाना भवन्त्यन्यपरिवारा वा क्रमादननुबन्ध्यानुबन्धाख्याः। तत्राद्याः स्वतन्त्राः स्पष्टाकृतयो यथास्वं समुत्थानोपशयाश्च। इतरे तु तद्विपरीताः। तद्वच्च दोषा अपि। तत्रान्यपरिवारा व्याधयो द्विविधाः पुरोगामिनोऽनुगामिनश्च। तेष्वाद्याः पूर्वरूपसंज्ञा उपद्रवास्त्वितरे। तान् यथायथमेव वक्ष्यमाणानुपलक्षयेत्। प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति तेषाम्। अनुपशाम्यतो वा पश्चात्तानुपक्रमेत् त्वरितं वा बलवन्तमुपद्रवं प्रधानाविरोधेन। स हि पीडाकरतरो भवति। व्याधिपरिक्लिष्टदेहत्वात्प्रमेहपिटकादिवत्। तथाऽन्यः प्रधानमेव रोगोऽन्यस्य हेतुर्भवति। यथा ज्वरो रक्तपित्तस्य रक्तपित्तं वा ज्वरस्य। तौ श्वासस्य। प्लीहा जठरस्य। तच्छ्वयथोः। अर्शांसि गुल्मोदरातिसारग्रहणीनाम्। प्रतिश्यायः कासज्वरयोः। तो क्षयस्य। क्षयः शोषस्य। एकश्चापचारो निमित्तमेकस्य व्याधेः। बहूनां च तथा बहवः तद्वदेकं लिङ्गम्। एवमेव प्रशमेऽभ्युपायः तथा स एवान्यस्य प्रकोपे। तस्मात्तानवहितः सम्यगागमादिभिः परीक्षेत ॥ १६ ॥

ये सभी रोग कदाचित् स्वप्रधान–स्वयं प्रधान होते हैं अथवा कदाचित् अन्य व्याधियों के परिवार रूप में होते हैं। अर्थात् जब ये स्वतन्त्र–प्रधान रूप से होते हैं, तब अनुबन्ध्य कहलाते हैं तथा अन्य परिवार रूप में होने पर अनुबन्ध कहलाते हैं। इनमें प्रथम प्रकार के स्वतन्त्र (प्रधान) रोग स्पष्ट लक्षण वाले, अपने कारणों से उत्पन्न तथा अपनी ही चिकित्सा से शान्त होते हैं। इनसे इतर (विपरीत) अनुबन्ध रोग होते हैं। वे दूसरे कारणों से उत्पन्न, अस्पष्ट लक्षणों वाले तथा दूसरी चिकित्सा से शान्त होते हैं। इसी प्रकार दोष भी दो प्रकार के होते है। इनमें अन्य परिवार

---

१. 'रोगाणामयनं स्थानम्' इति अरुणदत्तः।

नामक व्याधि दो प्रकार की होती है—(१) पुरोगामी (रोगोत्पत्ति के आगे चलने वाले रोग) तथा (२) अनुगामी (रोग के पीछे चलने वाले रोग)। इनमें पुरोगामी रोगों को पूर्वरूप तथा अनुगामी रोगों को उपद्रव कहते हैं। दोनों का वर्णन ज्वर आदि रोगों के साथ किया जायेगा। ये परतन्त्र रोग प्रधान रोग के शान्त होने पर शान्त हो जाते हैं अथवा यदि बद्धमूल होने से शान्त न हों, तो प्रधान रोग को शान्त करने के पश्चात् इनकी चिकित्सा करनी चाहिए। यदि उपद्रव बलवान् हो तो ऐसी चिकित्सा से उसको शान्त करना चाहिए, जो प्रधान रोग का विरोधी न हो, क्योंकि रोग के कारण शरीर परिक्लिष्ट (दुःखी) होने से उपद्रव अधिक कष्टदायी होता है। जैसे प्रमेह रोग से दुःखी शरीर में शराविका आदि प्रमेहपिडिका अधिक कष्टदायी होती है।

इसी प्रकार कोई प्रधान रोग ही किसी अन्य रोग का हेतु (कारण) हो जाता है। जैसे ज्वर रक्तपित्त का अथवा रक्तपित्त रोग ज्वर का कारण हो जाता है और दोनों श्वास का कारण बन जाते हैं। प्लीहारोग उदररोग का कारण बन जाता है और उदररोग शोथ का कारण बन जाता है। अर्शरोग गुल्मरोग, उदररोग, अतिसार और ग्रहणी रोग का कारण बन जाता है। प्रतिश्याय रोग कास एवं ज्वर का कारण है। कास और ज्वर क्षयरोग का कारण है और क्षय शोष का कारण है। एक ही अपचार (मिथ्या आहार-विहार) किसी एक रोग का कारण होता है तथा एक व्याधि के बहुत से लक्षण होते हैं। इसी प्रकार एक रोग की चिकित्सा अन्य रोग के प्रकोप का कारण होती है। इसलिए सावधान होकर आगम आदि (आप्तोपदेश-प्रत्यक्ष-अनुमान) द्वारा भली प्रकार इन रोगों की परीक्षा करनी चाहिए।

रोगपरीक्षण-विधि

तत्रागमतो रोगमेवमेवं प्रकोपनमेवं योनिमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवं[1] वेदनमेवं रूपशब्दगन्धरसस्पर्शमेवं पूर्वरूपमेवमुपद्रवमेवं वृद्धिस्थानक्षयान्वितमेवमुदर्कमेवं[2] नामानम्। तस्मिन्नियं प्रतीकारस्य प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिः। प्रत्यक्षतस्त्वातुरस्य यथास्वमिन्द्रियैर्वर्ण-संस्थानप्रमाणोपचयच्छायाविण्मूत्रच्छर्दिताधिक्यमन्त्रकूजनमङ्गुल्यादिसन्धिस्फुटनं[3] देह-शक्रुद्व्रणादिगन्धं सुप्तशीतोष्णस्तम्भसंस्पर्दश्लक्षणखरस्पर्शं[4] च। प्रकृतिविकृतिमुक्तमास्य-रसं तु प्रश्नेन तथा सुच्छर्ददुश्छर्दत्वं मृदुक्रूरकोष्ठतां स्वप्नदर्शनमभिप्रायं जन्मामयप्रवृत्ति-नक्षत्रद्विष्टेष्टसुखदुःखानि च। तथा वयः प्रत्यक्षेण च। अनुमानतस्तु यूकापसर्पणेन शरीरस्य वैरस्यम्[6]। मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम्। तथाऽग्नि जरणशक्त्या बलं व्यायामशक्त्या गूढलिङ्गव्याधिमुपशयानुपशयतो दोषप्रमाणमपचारविशेषेणायुषः क्षयं रिष्टैः प्रकृतिसत्त्व-सारसात्म्यबलान्यनुशीलनेनेति॥ १७॥

आगम (आयुर्वेदोपदेश या आप्तोपदेश) द्वारा रोग की परीक्षा इस प्रकार करनी चाहिए—यह रोग इस प्रकार का है, इस प्रकार से प्रकुपित होता है, इसकी योनि (कारण) तथा वातादि दोष इस प्रकार है, रोग की आत्मा (स्वरूप) इस प्रकार है, अधिष्ठान (आश्रय) यह है, इस प्रकार की वेदना (रुजा) होती है, रोग में रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्पर्श इस प्रकार के हैं, रोग के ये पूर्वरूप हैं और ये उपद्रव हैं, व्याधि की वृद्धि, स्थान एवं क्षय इस प्रकार का है, रोग का

---

१. 'योनिमेवमधिष्ठानमेवमात्मानमेवम्' इति पाठान्तरम्। २. 'उदर्को व्याधेर्फलम्' इतीन्दुः। ३. 'मङ्गुल्यादिषु सन्धिषु स्फुटनं' इति पाठान्तरम्। ४. 'स्तम्भन' इति पाठान्तरम्। ५. 'युक्त' इति पाठान्तरम्। ६. 'शरीरवैरस्यं' इति पाठान्तरम्।

उर्दक (व्याधि का फल—मृत्यु अथवा स्वास्थ्य) इस प्रकार है, व्याधि का नाम इस प्रकार है, इस रोग के प्रतिकार में इस प्रकार की प्रवृत्ति (चिकित्सा-पथ्य) एवं इस प्रकार की निवृति (अपथ्य) होती है।

प्रत्यक्ष द्वारा रोगी की परीक्षा इस प्रकार करनी चाहिए; यथा—चक्षु-इन्द्रिय द्वारा रोगी के वर्ण (रंग), संस्थान (लक्षण), प्रमाण (शरीर की लम्बाई-चौड़ाई), उपचय (पुष्टि), छाया, विड् (पुरीष), मूत्र, छर्दित (वमन में निकला द्रव्य) की मात्रा की परीक्षा करनी चाहिए। श्रवणेन्द्रिय द्वारा अन्त्रकूजन (आँतों की गुड़गुड़ाहट) तथा अँगुली आदि की सन्धियों में स्फुटन की परीक्षा करनी चाहिए। घ्राणेन्द्रिय द्वारा शकृत् (पुरीष) एवं व्रण आदि की परीक्षा करनी चाहिए। स्पर्शेन्द्रिय द्वारा रोगी के शरीर की सुप्तता (शून्यता), शीतलता, उष्णता, स्तब्धता, स्पंदन, श्लक्ष्णता, खरता (रूक्षता) आदि की परीक्षा करनी चाहिए। रोगी के मुख के प्राकृत-वैकृत रस (स्वाद) की परीक्षा प्रश्न के द्वारा करनी चाहिए। इसी प्रकार सुखपूर्वक वमन होना, दुःखपूर्वक वमन का होना, मृदुकोष्ठ, क्रूरकोष्ठ, स्वप्नदर्शन, अभिप्राय (हार्दिक इच्छा), व्याधि की प्रवृत्ति जन्म से है अथवा नहीं, ग्रह-नक्षत्र आदि से रोग का सम्बन्ध (निदान० १।२१-३२), किन-किन वस्तुओं से रोगी को द्वेष (अरुचि) है अथवा कौन-सी वस्तुएँ इष्ट (रुचिकर) हैं, तथा सुख-दुःख तथा वय (उम्र) की परीक्षा प्रश्न द्वारा करनी चाहिए।

अनुमान द्वारा रोगी की परीक्षा इस प्रकार करनी चाहिए—शरीर पर जुओं के अपसर्पण (गमन) से शरीर की विरसता को तथा मक्षिका के उपसर्पण (बैठने) से शरीर की मधुरता को, पाचनशक्ति से जठराग्नि को, व्यायामशक्ति से बल को, गूढ़ लक्षण वाली व्याधि को उपशय एवं अनुपशय से, दोषों की मात्रा को अपचार (अपथ्य) की अल्पता एवं बहुलता से, आयु के क्षय को अरिष्ट लक्षणों से, वातादि प्रकृति, सत्त्व (मन), सार (मांस-सार, त्वक्-सार आदि), सात्म्य (अनुकूल आहार-विहार) एवं बल को अनुशीलन से (साथ में रहकर) जानना चाहिए।

रोगी-परीक्षा के सन्दर्भ में प्रथम अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है।

ज्ञान का महत्व

भवति चात्र—

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति योगिवत्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगाँश्चिकित्सति ॥ १८ ॥

जो चिकित्सक ज्ञान सहित बुद्धि रूपी दीपक को लेकर रोगी की अन्तरात्मा में योगी के समान प्रवेश नहीं करता है, वह रोगों की चिकित्सा नहीं कर सकता है।

गुरु व्याधित एवं लघु व्याधित

द्वाविमौ व्याधितौ व्याधिस्वरूपस्याप्रकाशकौ।
तद्यथैको गुरुव्याधिः सत्त्वदेहबलाश्रयात् ॥ १९ ॥
लघुव्याधिवदाभाति लघुव्याधिस्ततोऽन्यथा।
बाह्यावयवमात्रेण तयोर्मुह्यति बालिशः ॥ २० ॥
ततोऽल्पमल्पवीर्यं वा विपरीतमतऽथवा।
पथ्यं विपर्यये युञ्जन् प्राणान्मुष्णाति रोगिणाम् ॥ २१ ॥

दो प्रकार के रोगी रोग के वास्तविक स्वरूप (लक्षण) का प्रकाशन नहीं करते हैं—(१) गुरु व्याधित—ऐसे रोगी बड़े रोग से पीड़ित होने पर भी मानसिक एवं शारीरिक बल के आश्रय (आधिक्य) से लघु व्याधित (छोटी बीमारी) से पीड़ित मालूम पड़ते हैं। (२) लघु व्याधित—ऐसे रोगी उपर्युक्त गुरु व्याधित के लक्षणों के विपरीत होते हैं। अर्थात् छोटे रोग से पीड़ित होने पर भी अल्प शारीरिक एवं मानसिक बल (हीन सत्त्व) के कारण गुरु व्याधित (बड़ी व्याधि से पीड़ित) मालूम पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में वालिशः (स्वल्पज्ञ) चिकित्सक रोगी के बाह्य स्वरूप को देखकर भ्रमित हो जाता है, जिसके कारण अल्प मात्रा में अथवा अल्पवीर्य वाली औषधि को गुरु व्याधि (बड़े रोग) में अथवा अधिक मात्रा में बहुवीर्य औषधि को लघु व्याधि (छोटी बीमारी) में देकर तथा पथ्य को विपरीत रूप में प्रयुक्त करके रोगी को मार डालता है।

रोग-परीक्षण में दक्षता

ज्ञानांशेन न हि ज्ञानं कृत्स्ने ज्ञेये प्रवर्तते।
बुभुत्सेत भिषक् तस्मात्तत्त्वं तन्त्रानुशीलनात् ॥ २२ ॥
अभियुक्तस्तु सततं सर्वमालोच्य सर्वथा।
न जातु स्खलति प्राज्ञो विषमेऽपि क्रियापथे ॥ २३ ॥

क्योंकि ज्ञानांशेन (स्वल्प ज्ञान) के द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता है, अर्थात् एक ज्ञात (ज्ञान के एक अंश) से अन्य अज्ञात को ज्ञात नहीं कर सकते, इसलिए भिषक् को तंत्र (चिकित्साशास्त्र) के अनुशीलन से व्याधि के तत्त्व को जानना चाहिए। जो बुद्धिमान् शास्त्र में निरन्तर लगन के साथ सर्वथा (सभी प्रकार से) रोगी को समझ कर चिकित्सा में प्रवृत्त होता है, वह विषम (दुरूह) चिकित्सा-मार्ग में भी स्खलित (विचलित) नहीं होता है।

निजागन्तुविपर्यय

आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमतिप्रवृद्धम्।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक् ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ॥ २४ ॥

इति रोगभेदीयो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

आगन्तुक विकार अति प्रवृद्ध होकर निज विकार तथा निज विकार अति प्रवृद्ध होकर आगन्तुक विकार का अनुसरण करता है। इसमें अनुबन्ध (अप्रधान) और प्रकृति (प्रधान) को सम्यक् प्रकार से जानकर तत्पश्चात् चिकित्सा-कर्म प्रारम्भ करना चाहिए।

इस प्रकार रोगभेदीय नामक द्वाविंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में रोगों के अनेक भेद, रोगों के तीन कारण—१. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, २. प्रज्ञापराध एवं ३ परिणाम; त्रिविध रोग-मार्ग—१. बाह्य रोगमार्ग, २. मध्यम रोगमार्ग और ३. आभ्यन्तर रोगमार्ग और त्रिविध रोग-परीक्षण-पद्धति—१. आगम, २. प्रत्यक्ष एवं ३. अनुमान का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही दोष को ही सभी रोगों का मूल कारण बतलाया गया है।

त्रयोविंशोऽध्यायः

अथातो भेषजावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'भेषजावचारणीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

इसके पूर्व के अध्याय में रोग जानने का प्रकार बतलाया गया। अब रोग ज्ञात हो जाने पर औषध (भेषज) प्रयोग के ज्ञानार्थ इस अध्याय का प्रारम्भ किया जा रहा है। भेषज (औषध) एवं अवचारण (चिकित्सा) अर्थात् भेषजावचारण का तात्पर्य 'भेषज के द्वारा चिकित्सा' होता है।

औषध शब्द का अर्थ—

'ओसो नाम रसः सोऽस्यां धीयते यत्तदोषधिः।
ओसदारोग्यमाधत्ते तस्मादोषधिरोषधः' ॥

(काश्यपसंहिता-खिलस्थान ३।२७)

ओस का अर्थ रस है। वह रस जिससे शरीर में आधान किया जाता है तथा आरोग्य की प्राप्ति होती है, वह औषधि है। वैदिक-वाङ्मय में औषधि शब्द उद्भिज वर्ग (Vegetable Kingdom) के लिए प्रयुक्त हुआ है। औषधि के अन्य अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) महर्षि चरक ने ओषधि से स्थावर, जंगम और पार्थिव तीनों का ग्रहण किया है, यथा—'तत्पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं जाङ्गमौद्भिदपार्थिवम्'। (च० सू० १)

(२) महर्षि सुश्रुत ने ओषधि शब्द से जाङ्गम और औद्भिद् का ग्रहण किया है, यथा—'द्रव्याणि पुनरोषधयः। तास्तु द्विविधाः—स्थावरा जङ्गमाश्च'। (सु० सू० १)

(३) स्थावर (औद्भिद्) के चार भेदों में एक भेद ओषधि है—'फलपाकनिष्ठा ओषधय इति' (सु० सू० १)। अर्थात् फल पकने पर जो नष्ट हो जाय, वह ओषध है, जैसे—गोधूम आदि।

औषध और भेषज में अन्तर—

'औषधं द्रव्यसंयोगं ब्रुवते दीपनादिकम्। हुतव्रततपोदानं शान्ति कर्म च भेषजम्' ॥

(काश्यपसंहिता)

अर्थात् दीपन आदि द्रव्यों का संयोग औषध तथा हवन, व्रत, तप, दान आदि कर्म भेषज है। इस प्रकार दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा भेषज शब्द से अभिहित है।

इस प्रकार भेषज एवं औषध शब्द में भिन्नता होते हुए भी चिकित्सा की दृष्टि से दोनों का एक ही अर्थ है।

भेषजावचारण-विधि

भेषजमवचारयन् प्रागेव तावदेवमातुरं परीक्षेत। कस्मिन्नयं देशे जातः संवृद्धो व्याधितो वा। कस्मिंश्च देशे मनुष्याणामिदमाहारजातमिदं विहारजातमेतावद्बलमेवंविधं सत्त्वमेवंविधं सात्म्यमियं भक्तिरिमे व्याधयो हितमिदमहितमिदमिति। प्राग्ग्रहणेन केन वा निदानविशेषेणास्य कुपितो दोषो। दोषस्य ह्येकस्यापि बहवः प्रकोपे हेतवः। तस्माद्यथास्वलक्षणैः कर्मभिश्च बुद्धवाभिषक् दोषमेवमवगमयेत्। तद्यथा—किमाहारेण कुपितो वायुः

किं विहारेण तथा रूक्षेण लघुना शिशिरेण वा साहसेन वेगरोधेन वा भयेन शोकेन वेति। ततश्च तत्प्रतिपक्षमेवौषधं प्रयुज्यमानमाशु सिद्धये सम्पद्यते। तत्र मधुराम्ललवणा रसाः कटुतिक्तकषायाश्चेतरेतरप्रतिपक्षाः। तदनन्तरं चोपलभेत। मृदुमध्यातिमात्रविकल्पनया कथं निदानमासेवितम्। एकरूपस्यापि हि हेतोर्मृद्वादिविभागेन पृथक्समवेतानां च दोषाणामंशांशबलविकल्पविशेषाद्व्याधेर्बलाबलविशेषः। तत्रानेकदोषात्मकेषु व्याधिष्वनेकरसेषु च भेषजेषु रसदोषप्रभावमेकैकशोऽभिसमीक्ष्य व्याधिभेषजप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत। न त्वेवं सर्वत्र। न हि विषमविकृतिसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेणोपगृहीतानामुपहतानां चान्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेन समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसितुं शक्यम्। तथाविधे हि समुदाये समुदायप्रभावमेवोपलभ्य व्याध्यौषधप्रभावतत्त्वमवगच्छेत्॥ ३॥

चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले रोगी की परीक्षा करनी चाहिए—यह रोगी किस देश में उत्पन्न हुआ है, किस देश में बढ़ा और किस देश में रोगी हुआ? उस देश में मनुष्यों का यह आहार है, इस प्रकार का विहार है, इस प्रकार का बल है, इस प्रकार का सत्त्व है, इस प्रकार का सात्म्य है, इस प्रकार की रुचि है, इस प्रकार के रोग वहाँ होते हैं, यह हित (पथ्य) है और यह अपथ्य है, किस निदान विशेष से दोष कुपित हुए हैं? क्योंकि एक दोष के प्रकोप के अनेक कारण होते हैं, इसलिए दोषों को अपने-अपने लक्षण तथा अपने-अपने कर्मों से समझकर दोष का निश्चय करें। जैसे क्या आहार से वायु कुपित हुआ है, क्या विहार से कुपित हुआ है, रूक्ष, लघु, शिशिर (शीत), आहार-विहार से कुपित हुआ है अथवा साहस से अधिक कार्य करने से, वेगों को रोकने से, भय से अथवा शोक से वायु कुपित हुआ है और इसके पश्चात् दोष का कारण जानकर उसके विपरीत औषध (चिकित्सा) का प्रयोग करने पर शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

इनमें मधुर-अम्ल-लवण नामक तीनों रस एवं कटु-तिक्त-कषाय नामक तीनों रस परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। इसके अनन्तर यह विचार करना चाहिए कि रोग का कारण एक प्रकार होने पर क्या रोगी ने मृदु, मध्य अथवा अतिमात्रा में निदान का सेवन किया है, क्योंकि एक समान कारण होने पर भी मृदु, मध्य एवं अतिमात्रा विभाग से पृथक्-पृथक् अथवा मिश्रित दोषों की नानाविध अंशांश कल्पना द्वारा बल की विशेषता से रोग के बल एवं अबल का निर्णय हो जाता है। अनेक दोष वाले रोगों में तथा अनेक रस वाली औषधियों में एक-एक रस और दोष का प्रभाव समझकर रोग एवं भेषज के प्रभाव की ओर ध्यान देना चाहिए; किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं किया जाता। क्योंकि रोगों में दोष विषम विकृति से भी रहते हैं और द्रव्यों में रस भी विषम विकृति सम्बन्ध से रहते हैं। उनमें समुदाय प्रभाव तत्त्व का निर्ण .ा कठिन होता है। क्योंकि—१. नानात्मक रोग विषम विकृति से होते हैं, २. औषध नानात्मक होती है, ३. औषध एक दूसरे औषध से उपगृहीत (उपकृत) होती है, अथवा ४. एक दूसरे के प्रभाव को उपहत (नष्ट) करती है और अन्य प्रकार देश-काल आदि के विकल्पों की कल्पना इस सम्बन्ध में की जा सकती है, इसलिए अवयव के प्रभाव को देखकर अनुमान कर समुदाय के प्रभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के समुदायात्मक स्वरूप में समुदायात्मक प्रभाव को ही देखकर व्याधि एवं औषध के प्रभाव का ज्ञान निश्चित करना चाहिए। समुदाय के प्रभाव तत्त्व को जानकर ही व्याधि और औषध के प्रभाव तत्त्व का निश्चय करना चाहिए और जहाँ पहले कहे गये लक्षणों के विपरीत भावों का समुदाय हो, वहाँ अवयव प्रभाव से निश्चय करना चाहिए।

स्थान-विशेष से भेषज-विशेष

तथा कस्य धामाधिष्ठाय व्याधिरयमवस्थित इति निरूपयेत्। प्रविसृतो हि दोषः स्वमेव स्थानमातङ्कायाधितिष्ठन् मूर्धादीन्वा दुस्तरो भवति। ततश्च स्थानविशेषेण भेषज-विशेषः पर्येषितव्यः ॥ ४ ॥

यह भी निश्चय करना चाहिए कि यह व्याधि दोष के किस धाम (स्थान) को अधिष्ठान बनाकर अवस्थित है, क्योंकि कुपित होकर दोष अपने ही स्थान में रोग रूप में रहता हुआ कष्ट-साध्य हो जाता है। कदाचित् मूर्धा (शिर) आदि में रहता हुआ कष्टसाध्य हो जाता है। इसलिए स्थान-विशेष की अपेक्षा से औषध-विशेष का निरूपण करना चाहिए, क्योंकि जो औषध एक स्थान-विशेष में हित (पथ्य) है, वही औषध उसी दोष में अन्य स्थान पर हितकर नहीं होती है।

भैषज्यवीर्य-प्रमाण-विकल्प

ततश्चैवमालोचयेत्—कस्यायमौषधस्य व्याधिरातुरो वा योग्यः कियतो वा दोषानुरूपो हि भैषज्यवीर्यप्रमाणविकल्पो व्याधिव्याधितबलापेक्षो भवति ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् यह निश्चय करना चाहिए कि यह रोग अथवा रोगी किस औषध के योग्य है तथा इसके लिए कितनी मात्रा में औषध उपयुक्त है, क्योंकि दोषों के अनुरूप एवं रोग तथा रोगी में बल की अपेक्षा से औषध के वीर्य (शक्ति) की मात्रा में विकल्प (भेद) होता है।

सौम्यासौम्य भेषज

सहसाऽतिबलानि संशोधनौषधान्याग्नेयवायव्यान्यतिसौम्यान्यतिमात्राणि वा तथाऽग्निक्षारशस्त्रकर्माण्यल्पसत्त्वमातुरमल्पबलं वाऽतिपातयेयुः। संशमनानि तु व्याधिबलादधिकानि तमुपशमय्य व्याधिं व्याधिक्षपितदेहे शीघ्रमन्यमावहन्ति। शरीरबलादधिकानि ग्लानिमूर्च्छामदमोहबलक्षयान्। अग्निबलादधिकानि ग्लानिमग्निसादं च ॥ ६ ॥

औषधियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) संशोधन (२) संशमन। इनमें शोधन औषधियाँ भी दो प्रकार की होती हैं—(क) असौम्य (ख) सौम्य। इनमें असौम्य संशोधन औषधियाँ आग्नेय एवं वायव्य होती हैं तथा सौम्य औषधियाँ आप्य, नाभस एवं पार्थिव होती हैं। ये औषधियाँ अथवा अग्निकर्म, क्षारकर्म एवं शस्त्रकर्म सहसा अतिमात्रा में प्रयुक्त करने पर स्वल्प सत्त्व (मनोबल) या अल्पबल वाले रोगी को नष्ट कर डालते हैं। संशमन औषधियाँ भी व्याधि के बल (शक्ति) से अधिक शक्तिशाली होने से उसको प्रयुक्त करने पर उस रोग को शान्त करके रोग से दुर्बल बने शरीर में शीघ्र ही अन्य व्याधि को उत्पन्न कर देती हैं। शरीर के बल से अधिक शक्तिशाली औषध ग्लानि, मूर्च्छा, मद, मोह और बलक्षय (दौर्बल्य) को उत्पन्न कर देती हैं। अग्निबल से अधिक शक्तिशाली औषधि ग्लानि और अग्निसाद (मदाग्नि) को उत्पन्न करती है।

उपचार के पूर्व बलाबल की परीक्षा

अपि च-अतिस्थूलोऽतिकृशो दुर्बलो दुर्बद्धमांसशोणितास्थ्यङ्गावयवोऽल्पाग्निरल्पाहारोऽसात्म्याहारोऽपचितः साररहितो वा व्याधिबलमेव तावदसमर्थः सोढुं किं पुनस्तथाविधो भेषजमेवं वेगम्। तस्मात्तादृशमविषादकरैर्मृदुसुखैरुत्तरोत्तरगुरुभिरविभ्रमैश्चोपाचरेद्दोषधैर्विशेषादबलाः। ताह्यनवस्थितमृदुविक्लवहृदयाः प्रायः सुकुमाराः परं संस्तभ्याश्च[1]।

१. 'परायत्ताश्च' इति पाठान्तरम्।

ततोऽपि विशेषेण शिशवः। तथा बलवति व्याध्यातुरेऽल्पबलमल्पं वा भेषजमकिञ्चित्करं भूय एव दोषमुत्क्लेश्य व्याधिमुदीरयेत् ॥ ७ ॥

अतिस्थूल, अतिकृश, दुर्बल (हीनबल), दुर्बद्ध (शिथिल) मांस-रक्त-अस्थि-अंग एवं अवयव वाले, अल्पाग्नि (मंदाग्नि), अल्पाहार (स्वल्पाहारी), असात्म्याहार (अपथ्य भोजी), उपचित (अपुष्ट शरीर वाला) अथवा सार-रहित (अदृढ़) रोगी व्याधि के बल को ही सहने में अशक्त होते हैं। पुनः वे किस प्रकार औषध के वेग को सहन कर सकते हैं? इसलिए अतिस्थूलादि रोगी का उपचार अविषादकर (कष्ट न देने वाला), मृदुवीर्य, सुखकारक, उत्तरोत्तर (क्रमशः) गुरु, तीक्ष्ण तथा अविभ्रम (दोषों को क्षुभित न करने वाली) औषधियों से करना चाहिए। विशेष रूप से अबला (स्त्रियों) की चिकित्सा उपर्युक्त प्रकार की औषधियों से करनी चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ अनवस्थित (अस्थिर), कोमल तथा विक्लव (भीरु) हृदय वाली होती हैं। प्रायः सुकुमार तथा दूसरों के आश्रित होती हैं। स्त्रियों से भी विशेष सुकुमार बच्चे होते हैं। इसी प्रकार बलवान् रोगी तथा बलवान् रोग में स्वल्प शक्ति वाली या स्वल्प मात्रा में प्रयुक्त औषधि कुछ कार्य (लाभ) न करके दोष को अत्यधिक कुपित कर व्याधि को और भी बढ़ा देती है।

औषध-परीक्षा

योग्यमपि चौषधमेवं परीक्षेत—इदमेवं रसवीर्यविपाकमेवं गुणमेवं द्रव्यमेवं कर्मैवं प्रभावमस्मिन्देशे जातमस्मिन्नृतावेवं गृहीतमेवं निहितमेवं विहितमेवं निषिद्धमेवमुपसंस्कृतमेवं संयुक्तमेवं युक्तमनया मात्रयैवंविधस्य पुरुषस्यैवंविधे काल एतावन्तं दोषमपकर्षत्युपशमयति वा। अन्यदपि चैवंविधं भेषजमभूत्। तथा तेनानेव वा विशेषेण प्रयुक्तमिदमकरोत्। सूक्ष्माणि हि दोषौषधदूष्यदेशकालबलानलाहारसारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि यान्यनालोचितानि निहन्युरातुरम्। आलोच्यमानानि तु विपुलबुद्धिमपि चिकित्सकमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धिम्। तस्मादभीक्ष्णशः शास्त्रार्थकर्मानुशीलनेन संस्कुर्वीत प्रज्ञाम्। अपि च—सन्ति व्याधयो ये शास्त्र उत्सर्गापवादैरुपक्रमं प्रति निर्दिष्टाः। तत्र प्राज्ञ एव दोषादिगुरुलाघवेन सम्यगध्यवस्येदन्यतरनिष्ठायाम् ॥ ८ ॥

योग्य औषधियों की परीक्षा इस प्रकार करनी चाहिए—यह औषध इस प्रकार के रस, वीर्य एवं विपाक वाली है, इस प्रकार के गुण वाली है, इस प्रकार का द्रव्य है, इस प्रकार का कार्य वाली है, इस प्रकार के प्रभाव वाली है, इस देश में उत्पन्न हुई है, इस ऋतु में उत्पन्न हुई है, इस प्रकार लाई गयी है, इस प्रकार रखी गयी है, इस प्रकार बनायी गयी है, इस प्रकार की औषधि इस दशा में विहित (प्रयोज्य) है एवं इस प्रकार से औषधि का प्रयोग निषिद्ध है, इस प्रकार से इसका संस्कार किया गया है, अमुक द्रव्य से संयुक्त है, इस प्रकार प्रयुक्त की गई, इस मात्रा में दी गई, इस प्रकार के रोगी को दी गई, इतने समय में और इतने दोषों को वमन अथवा विरेचन द्वारा शरीर से बाहर निकाल देती है, अथवा शान्त कर देती है; दूसरी औषधि भी इस प्रकार की थी, इतनी मात्रा में उसे भी देने पर अथवा विशेष मात्रा में देने पर यह कार्य किया था, क्योंकि दोष, औषध, दूष्य, देश, काल, बल, अग्नि, आहार, सार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति तथा वय की अवस्थाएँ इतनी सूक्ष्म होती हैं कि उनका विचार किये बिना ये भेद (विकल्प) रोगी को मार देते हैं और विचार करने पर तो विपुल बुद्धि (विस्तीर्ण बुद्धि) वाले चिकित्सक को भी व्याकुल कर देते हैं, पुनः अल्प बुद्धि वाले चिकित्सक अपनी बुद्धि को सुसंस्कृत बनायें कि ऐसी भी कुछ व्याधियाँ है,

जो शास्त्र में चिकित्सा के प्रति उत्सर्ग (सामान्य) एवं अपवाद (विशेष) के रूप में निर्दिष्ट हैं। इसमें बुद्धिमान् चिकित्सक निश्चित निर्णय के लिए दोष-दूष्य आदि की गुरुता एवं लघुता से निश्चय कर लें।

संशोधन-काल

कालश्च भेषजस्य योग्यतामादधाति। स तु क्षणलवमुहूर्तादिभेदेनातुरावस्थया च द्विधोक्तः प्राक्। अपि च —शीतोष्णवर्षलक्षणस्त्रिविधः कालः। तत्र शीतोष्णयोर्वृष्टिशीतयोश्चान्तरेण साधारणौ वसन्तजलदात्ययौ। ग्रीष्मवर्षकालयोस्तु प्रारम्भो वृष्टेः प्रावृडिति विकल्प्यते। प्राक् तत्र शीतोष्णवर्षलक्षणा ऋतवस्त्रयो हेमन्तग्रीष्मवर्षाख्यास्तेषामन्तरे संशोधनार्थं साधारणा वसन्तप्रावृट्शरदाख्यास्त्रयो विकल्प्यन्ते। तत्र संशोधनं प्रति फाल्गुन-चैत्रौ वसन्तः। आषाढश्रावणौ प्रावृट्। कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्।[1] तेषु साधारणेष्वहस्सु वमनादीनां प्रवृत्तिर्निवृत्तिरितरेष्वयोगातियोगभयात्। साधारणा हि मन्दशीतोष्णवर्षतया सुखत्वाद् भवन्त्यविकल्पकाः शरीरौषधानां विपरीतास्त्वतरे॥ ९॥

काल भी औषध की योग्यता (गुण) को उत्पन्न करता है। वह काल क्षण-लव-मुहूर्त आदि तथा आतुर के अवस्था-भेद से दो प्रकार का पहले भी कह दिया गया है। इसमें जो क्षणादि काल है, वह शीत-उष्ण-वर्षा लक्षण से तीन प्रकार का होता है। इसमें शीत काल और उष्ण काल के मध्य में साधारण वसन्त काल तथा वर्षा एवं शीत के मध्य में साधारण जलदात्यय (शरद् ऋतु) होती है। ग्रीष्म एवं वर्षा काल में, वर्षा का जो आरम्भिक काल है, उसे नातिउष्णशीत साधारण प्रावृट् कहते हैं। पहले शीत-उष्ण-वर्षा के लक्षणों वाली हेमन्त, ग्रीष्म, वर्षा नामक ऋतुएँ बतलाई गयी हैं। उनके मध्य की वसन्त, प्रावृट् तथा शरद ये तीन ऋतुएँ संशोधन के लिए उपयुक्त हैं। इनमें संशोधन के लिए फाल्गुन एवं चैत्र मास का वसन्त, आषाढ़ एवं श्रावण मास का प्रावृट् तथा कार्तिक एवं मार्गशीर्ष मास का शरद् कहा गया है। इस वसन्त, शरद् एवं प्रावृट् साधारण कालों में वमनादि की प्रवृत्ति करनी चाहिए और शेष शीत, उष्ण एवं वर्षा ऋतुओं में अयोग तथा अतियोग के भय से वमन आदि का प्रयोग नहीं (निवृत्ति) करना चाहिए, क्योंकि उन वसन्त, शरद् और प्रावृट् ऋतुओं में शीत, उष्ण एवं वर्षा की मन्दता (अल्पता) के कारण सुखकारक होने से शरीर और औषध में विकल्प (आपद्-व्याधि) नहीं पैदा होता है। इसके विपरीत शीत-उष्ण-वर्षा काल तीक्ष्ण होने तथा दुःखकारक होने से शरीर और औषध में व्यापद् उत्पन्न करने वाले होते हैं।

शीतकाल एवं वर्षाकाल में संशोधन का निषेध

तथा हि—शीतकालेऽतिमात्रशीतोपहतत्वाच्छरीरमत्यर्थशीतवातविष्टब्धबद्धगुरुदोषं[2] भवति। तदनुप्राप्तं च भेषजं संशोधनार्थमुष्णस्वभावमपि शीतोपहतत्वान्मन्दवीर्यतां गतमयोगाय जायते। शिशिरं[3] च वातप्रायोपद्रवाय। तद्वद्वर्षास्वपि समन्तादतिघनेन बहलेन घनसङ्घातेनावनते[4] नभस्युपरुद्धतेजःप्रकरेषु दिनकरकरेषु [5]जलदपटलप्लावनोद्दामकर्दमायां भूमावत्यर्थोपक्लिन्नमवसन्नानलबलमादानदुर्बलं शरीरं भवति। औषधग्रामस्तु जलदो-

१. इन्दुकृत टीका-ग्रन्थ में 'प्राक् तत्र···शरत्' पर्यन्त पाठ उपलब्ध नहीं है।

२. 'विष्टब्धमतिस्तब्धबहुगुरुदोषम्' इति पाठान्तरम्। ३. 'शरीरं' इति पाठान्तरम्। ४. 'घनसम्पातेनावतते' इति पाठान्तरम्। ५. 'जलपटलोत्प्लावनो' इति पाठान्तरम्।

दरप्रततप्रमुक्तधारावपातसम्भृताम्बुनिवहोपप्लावितमूलजालसारविटपो बहलकोमलपल्लवोपचितस्कन्धशाखः पुनरिव बालतामुपगतोऽल्पवीर्यो भवति। अपरिसंस्थिततया च क्षितिमलप्रायाभिरम्लविपाकाभिः खगमृगसरीसृपादिशवधातुमूत्रपुरीषसंस्पृष्टाभिरद्भिः सलिलशिशिरसीकरानुबिद्धशिशिरपवनसम्पृक्तेन च धराधरोष्मणा कोमलत्वादपरिणतस्यास्य सुतरां विदाहो जन्यते। ततश्चासावपथ्यतामुपगतो ध्रुवमयोगाय। प्रथमसङ्गृहीतमपि चौषधं तोयदतोयानुगतमारुतोपहते जगतीति ॥ १० ॥

शीत काल में अतिमात्रा में शीत के कारण शरीर पीड़ित रहता है, अत्यधिक शीत और वायु से वातादि दोष विष्टब्ध (स्तब्ध), बद्ध एवं गुरु होते हैं। ऐसी अवस्था में संशोधन के लिए दी गई औषधि उष्ण स्वभाव वाली होने पर भी शीत से उपहत (शक्तिहीन) होने से मन्दवीर्य हो जाती है, इस प्रकार की औषधि अयोग के लक्षणों को उत्पन्न करती है। शीत स्वभाव वाला संशोधन देने पर वायुजनित उपद्रव पुनः हो जाते हैं। इसी प्रकार वर्षा में सभी दिशाओं में अत्यन्त घने बादल आकाश में छा जाने के कारण सूर्य की किरणों का फैला हुआ तेज अवरुद्ध होने से, पृथ्वी पर बार-बार वर्षा होने के कारण अत्यधिक कर्दम (कीचड़) होने से, शरीर के अत्यन्त आर्द्र होने से, अग्निबल के मन्द हो जाने से (मल का बल बढ़ा होने से) तथा आदानकाल होने के कारण शरीर दुर्बल होता है। इस वर्षाकाल में औषधियाँ बादलों में से निरन्तर गिरने वाले जल से भींग जाती हैं, वृक्षों के मूल, जाल एवं सार जल में डूबे रहते हैं, शाखाएँ घने कोमल पल्लव (पत्ते) वाली हो जाती हैं। औषधियों का स्वरूप स्थिर न हो पाने से औषधि विदाह पैदा करती है, क्योंकि वे जल से और पर्वतों की ऊष्मा से दूषित होती हैं। जल में क्षितिमल (कीचड़ आदि) अधिक होता है। यह खगादि के शव, रसादि धातुएँ और मूत्रादि मल से मिला हुआ होता है। पर्वत पानी की बूँदों से मिश्रित वायु के स्पर्शवाला होता है। औषधिग्राम (औषधिसमूह) कोमल होने के कारण उस समय परिपूर्ण नहीं होता है। इसलिए उस समय की औषधि प्रशस्त नहीं होती है। अम्लविपाक वाली जल के सीकर (बिन्दु) से संयुक्त शीतल वायु के सम्पर्क से और पर्वतों की गर्मी से कोमल होने के कारण परिपक्व न होने से उसमें अत्यन्त विदाह पैदा हो जाता है। इसलिए वह द्रव्य अपथ्य हो जाता है और वह निश्चय ही अयोग (प्रयोग के अयोग्य) हो जाता है। प्रथम संग्रह की हुई औषधि बादल एवं जल के साथ चलने वाली वायु से संसार के उपहत (पीड़ित) होने के कारण अयोग के लक्षण उत्पन्न करता है।

ग्रीष्मऋतु में संशोधन का निषेध

ग्रीष्मे पुनरादानोपहतत्वाच्छरीरमुष्णरूक्षवातातपाध्मातमतिस्विन्नमतिशिथिलमतिप्रविलीनदोषं भवति। भेषजं पुनरनुष्णमपि तपनतरतपनकरनिपातादुष्णवीर्यतीक्ष्णतामुपगतमतियोगायोपकल्पते[1]। शरीरं च पिपासाश्रमक्लोमोपद्रवाय। तस्मात्साधारणेष्वेव तदन्तरालेषु वमनादीनि योजयेत्। न चेदात्ययिको व्याधिः। आत्ययिके तु कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन संयोगसंस्कारप्रमाणविकल्पैश्चोपपाद्यौषधमेवावहितोऽवचारयेत् ॥ ११ ॥

ग्रीष्मकाल में पुनः शरीर आदानकाल से उपहत रहता है, उष्ण एवं रूक्ष वायु तथा धूप से पीड़ित होता है, स्वेद अधिक निकलता है, अत्यन्त शिथिल होता है, दोष अत्यधिक विलीन

१. 'तपनकरनिपाता' इति पाठान्तरम्।

(पिघला) होता है। इस अवस्था में अनुष्ण (कुछ उष्ण) वीर्यवाली औषधियाँ सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से उष्णवीर्य एव तीक्ष्ण होकर शरीर में अतियोग उत्पन्न करती हैं। शरीर में प्यास, भ्रम, क्लम एवं उपद्रव होता है। इसलिए उक्त ऋतुओं के मध्य में आने वाली साधारण ऋतुओं में वमन आदि संशोधन कर्म करना चाहिए, यदि आत्ययिक व्याधि न हो तो। किन्तु आत्ययिक व्याधि में जो ऋतु चल रही है, उससे विपरीत गुणों को कृत्रिम उपायों से उत्पन्न करके संयोग, संस्कार एवं प्रमाण भेद से औषध को निर्मित कर सावधानीपूर्वक प्रयोग करना चाहिए।

भैषज्य देने का काल

आतुरावस्थासु तु कालाकालसंज्ञा[1]। तद्यथा—अस्यामवस्थायामस्यौषधस्य कालोऽकालो वा। न ह्यप्राप्तातीतकालमौषधं यौगिकं भवति, तस्य त्वेकादशधाऽवचारणम्। तद्यथा—अभक्तं प्राग्भक्तं मध्यभक्तमधोभक्तं सभक्तमन्तरभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुः सग्रासं ग्रासान्तरं निशि च ॥ १२ ॥

रोगी की अवस्था काल एवं अकाल शब्द से कही गयी है। जैसे रोगी की इस अवस्था में इस औषध का काल (समय) है अथवा इस औषध का अकाल (समय नहीं) है, क्योंकि समय से पूर्व अथवा समय बीत जाने पर दी गई औषधि यौगिक (उपयुक्त) नहीं होती है, उस औषधि को देने के लिए ग्यारह काल हैं, जैसे—१. अभक्त (बिना खाये), २. प्राक्भक्त (भोजन से पूर्व), ३. मध्यभक्त (भोजन के मध्य में), ४. अधःभक्त (भोजन के पश्चात्), ५. सभक्त (भोजन के साथ), ६. अन्तरभक्त (अनन्तरभक्त), ७. सामुद्ग (भोजन के आदि और अन्त में), ८. मुहुर्मुहुः (बार-बार), ९. सग्रास (कवल में मिलाकर), १०. ग्रासान्तर (दो कवलों के बीच में) तथा ११. निशा (रात्रि में)।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है कि दिन, रोगी, औषध, व्याधि, व्याधि के जीर्ण लक्षण एवं ऋतु के अनुसार चिकित्सा के काल का निर्धारण करना चाहिए। उन्होंने औषध-सेवन का निम्नलिखित काल बतलाया है—

'रोग्यवेक्षो यथा प्रातर्निरन्नो बलवान् पिबेत्।
भेषजं लघुपथ्यान्नैर्युक्तमद्यात्तु दुर्बलः ॥
भैषज्यकालो भुक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः।
सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासग्रासान्तरे दश' ॥ (च० चि० ३०।२९७-२९८)

अभक्त काल

तत्राभक्तं नाम केवलमेवौषधम्। तन्निरन्नोपयोगादतिवीर्यं कफोद्रेके विमुक्तामाशयस्रोताः। प्रातर्बलवानुपयुञ्जीत। इतरस्तु प्राग्भक्तादिकम्। अन्नसंसर्गेण हि तन्नातिग्लानिकरं भवति ॥ १३ ॥

अभक्त काल वह है, जिसमें केवल औषध का प्रयोग होता है। अन्न का संसर्ग न होने से यह औषध अत्यन्त वीर्यशाली होती है। कफ की वृद्धि में इस औषध के प्रयोग से आमाशय के स्रोत खुल जाते हैं। इसका सेवन प्रातःकाल बलवान् पुरुष को करना चाहिए। दूसरे निर्बल व्यक्ति प्राग्भक्त आदि कालों में औषधि का सेवन करे, क्योंकि अन्न के संसर्ग से अत्यधिक ग्लानि नहीं होती है।

---

१. 'कलाः कालसंज्ञा' इति पाठान्तरम्।

प्राग्भक्त काल

प्राग्भक्तं नाम यदनन्तरभक्तम्। तदपानानिलविकृतावधःकायस्य च बलाधानार्थं तद्गतेषु च व्याधिषु प्रशमनाय कृशीकरणं योज्यम् ॥ १४ ॥

प्राग्भक्त काल वह है, जिसमें भोजन के पहले औषध खाई जाती है; अर्थात् औषध के के पश्चात् कुछ भोजन अवश्य किया जाता है। इस प्रकार से औषधि अपान वायु की विकृति में और अधःकाय (शरीर के निचले भाग) में बलाधान के लिए प्रयुक्त होती है तथा अधःकाय के के रोगों के शमन के लिए शरीर को कृश करने हेतु सेवन किया जाता है।

मध्यभक्त काल

मध्यभक्तं मध्ये भक्तस्य तत्समानानिलविकृतौ। कोष्ठगतेषु च व्याधिषु पैत्तिकेषु च ॥ १५ ॥

मध्यभक्त काल वह है, जब भोजन के मध्य में आधा भोजन कर लेने पर औषध खाई जाती है, पुनः तत्काल शेष भोजन किया जाता है। इसका प्रयोग समान वायु की विकृति, उदरगत रोगों तथा पित्तजन्य व्याधियों में करना चाहिए।

अधोभक्त काल

अधोभक्तं भक्तादनन्तरम्। यत्तु व्यानविकृतौ प्रातराशान्तमुदानविकृतौ पुनः सायमाशान्तं पूर्वकायस्य च बलाधानार्थं तद्गतेषु व्याधिषु च श्लैष्मिकेषु च प्रशमाय [1]स्थूलीकरणं च ॥ १६ ॥

अधोभक्त काल वह है, जिसमें भोजन के अनन्तर तत्काल औषधि का सेवन किया जाता है। इसका प्रयोग व्यानवायु की विकृत में, प्रातःकालीन भोजन के अनन्तर उदान वायु की विकृति में एवं पुनः सायःकाल भोजन के अनन्तर किया जाता है। पूर्वकाय (शरीर के ऊपरी भाग) में बल बढ़ाने के लिए तथा पूर्वकाय की व्याधियों के शमन के लिए एवं कफजनित रोगों के शमन के लिए तथा शरीर को स्थूल करने के लिए इसका प्रयोग करना चाहिए।

सभक्त काल

[2]सभक्तं यदन्नेन समं साधितं पश्चाद्वा समालोडितम्। तद्बालेषु सुकुमारेष्वौषधद्वेषिष्वरुचौ सर्वाङ्गेषु च रोगेषु ॥ १७ ॥

सभक्त काल वह है, जिसमें औषधि को अन्न के साथ ही पका लिया जाता है अथवा अन्न के सिद्ध हो जाने के पश्चात् उसमें मिला दिया जाता है। ऐसी औषधि का सेवन बालक, बालिकाओं, सुकुमारों तथा औषध से द्वेष करने वालों को कराया जाता है तथा अरुचि एवं सर्वाङ्ग शरीर के रोगों में किया जाता है।

अन्तरभक्त काल

अन्तराभक्तं[3] यत्पूर्वाह्णभक्ते जीर्णे मध्याह्ने भेषजमुपयुज्यते तस्मिंश्च जीर्णे पुनरपराह्णे भोजनम्। एतेन रात्रिर्व्याख्याता। तद्दीप्ताग्नेर्व्यानजेष्वामयेषु ॥ १८ ॥

---

१. 'स्थूलीकरणार्थं च' इति पाठान्तरम्। २. 'समभक्तम्' इति पाठान्तरम्।
३. 'अन्तरभक्तम्' इति पाठान्तरम्।

अन्तरभक्त काल वह है, जिसमें पूर्वाह्णकालीन भोजन के जीर्ण हो जाने पर मध्याह्न में औषध ली जाती है। औषध के पच जाने पर पुनः सायंकाल भोजन कर लिया जाता है। इसी प्रकार सायंकालीन भोजन के पच जाने पर रात्रि में औषधि ली जाती है तथा उसके पच जाने पर प्रातः भोजन किया जाता है। इसका प्रयोग प्रदीप्त अग्निवालों में तथा व्यानवायुजन्य रोगों में करना चाहिए।

सामुद्ग काल

सामुद्गं यदादावन्ते च भुक्तस्य। तत्तु [1]लघ्वन्नपानयुक्तं [2]पाननावनावलेहादि हिध्मायां कम्पाक्षेपयोरूर्ध्वाधःसंश्रये च दोषे ॥ १९ ॥

सामुद्ग सेवन काल वह है, जिसमें भोजन के आदि में तथा अन्त में औषधि ली जाती है। यह औषधि लघु एवं स्वल्प अन्नपान के आगे-पीछे लेना चाहिए। यह औषधि पाचन, अवलेह एवं चूर्ण के रूप में लेना चाहिए। इसका प्रयोग हिक्कारोग, कम्प, आक्षेपक तथा उर्ध्व-अधोकाय में आश्रित दोषों में करना चाहिए।

मुहुर्मुहुः काल

मुहुर्मुहुस्तु पुनःपुनर्भुक्ते यदभुक्ते वा। तच्छ्वासकासहिध्मातृट्छर्दिषु विषनिमित्तेषु च विकारेषु ॥ २० ॥

मुहुर्मुहुः सेवन काल वह है, जिसमें औषध को भोजन खाने और न खाने पर प्रति क्षण दिया जाता है। यह श्वास, हिक्का, कास, तृषा, वमन और विषजन्य रोगों में दी जाती है।

सग्रास, ग्रासान्तर और निशा काल

सग्रासं यद्ग्राससम्पृक्तम्। ग्रासान्तरं यद्ग्रासयोर्ग्रासयोर्मध्ये। द्वयमप्येतत्प्राणानिल-विकृतौ। तथा सग्रासं चूर्णलेहवटकादिकमग्निदीपनं वाजीकरणानि चोपयुञ्जीत। ग्रासान्तरं हृद्रोगे वमनं धूमं च। जत्रूर्ध्वामयेषु तु निशायाम् ॥ २१ ॥

सग्रास काल वह है, जिसमें प्रत्येक ग्रास के साथ औषध ली जाती है। ग्रासान्तर काल वह है, जिसमें औषध दो ग्रासों के मध्य में ली जाती है। इन कालों का प्रयोग प्राणवायु की विकृति में किया जाता है। चूर्ण, लेह, वटक आदि अग्निदीपन एवं वाजीकरण हेतु सग्रास लिये जाते हैं। ग्रासान्तर औषध को हृद्रोग की शान्ति से लिए वमन औषध एवं धूम रूप में लेना चाहिए। जत्रु के ऊपर के रोगों (शालाक्यतन्त्र के रोग) में रात्रि में औषधि का सेवन किया जाता है।

अभक्त औषध काल में वर्ज्यावर्ज्य

तत्राद्ये काले तृषितः पीतशीताम्बुरजीर्णी क्षुधितः क्षामश्च भेषजं वर्जयेत्। शेषेषु वा हृद्यमसात्म्यमतितीक्ष्णोष्णोग्रगन्धं भूरिमात्रं चेति ॥ २२ ॥

इनमें प्रथम अभक्त काल में प्यास से पीड़ित, जल पीकर निर्वाह करने वाले, अजीर्णी (अजीर्ण रोगी), क्षुधित (भूख से पीड़ित) तथा क्षाम (निर्बल) व्यक्ति उपवास करते हुए औषध का सेवन न करें। शेष प्राग्भक्त आदि कालों में हृदय के लिए अप्रिय, असात्म्य, अतितीक्ष्ण, उग्र गन्धवाली तथा मात्रा में अधिक औषधि लेनी चाहिए।

---

१. 'लघ्वल्पान्नयुक्तम्' इति पाठान्तरम्। २. 'पाचनावलेहचूर्णादि' इति पाठान्तरम्।

चिकित्सावस्थाक्रम

भवति चात्र—

रोगमादौ परीक्षेत तदनन्तरमौषधम् ।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥ २३ ॥
निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिरल्पेनायाति हेतुना ।
देहे मार्गीकृते दोषशेषः सूक्ष्म इवानलः ॥ २४ ॥
तस्मात् तमनुबध्नीयात् प्रयोगेणानपायिना ।
सिद्धानामपि योगानां पूर्वेषां दार्ढ्यमावहन् ॥ २५ ॥

सर्वप्रथम निदानादि पञ्च उपायों द्वारा रोग की परीक्षा करनी चाहिए। इसके पश्चात् योग्यता एवं अयोग्यता की दृष्टि से औषध की परीक्षा करनी चाहिए। तत्पश्चात् रोग एवं औषध का स्वरूप जानकर ज्ञानपूर्वक (सुविधापूर्वक) चिकित्सा-कर्म करना चाहिए। रोग शान्त होने पर भी थोड़े से कारणों से पुनः उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि शरीर में वातादि दोष अपना मार्ग बनाये रहते है और वह थोड़ा भी शेष रहने पर उसी प्रकार बढ़ जाते हैं, जिस प्रकार बुझी हुई अग्नि थोड़ी भी शेष रहने पर अल्प हेतु से पुनः वृद्धि को प्राप्त हो जाती है। इसलिए पुनः उत्पन्न हुए रोगों को निरुपाय प्रयोगों से शान्त करना चाहिए। इसके लिए पूर्व में जिन योगों से वह शान्त किया गया था, उन योगों को रस एवं वीर्य के अनुसार संस्कार करके उनको अधिक बलवान् बनाकर प्रयोग करना चाहिए।

पथ्य प्रयोग में कल्पना-विधि

सातत्यात्स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम् ।
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् पुनः ॥ २६ ॥
मनसोऽर्थानुकूल्येन तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम् ।
सुखोपभोगता च स्याद्व्याधेश्चातः परिक्षयः ॥ २७ ॥
लौल्याद्दोषक्षयाद्व्याधिवैषम्येण च या रुचिः ।
तासु पथ्योपचारज्ञो योगेनान्नं प्रकल्पयेत् ॥ २८ ॥

सतत (निरन्तर) कई दिनों से एक ही पदार्थ सेवन करते रहने से अथवा स्वादु न होने से पथ्य आहार द्वेष्य (अरुचिकर) हो जाता है। इसलिए विविध कल्पनाओं द्वारा उसे प्रिय बनाना चाहिए। मन के अनुकूल प्रिय पथ्य मिलने से तुष्टि (सन्तोष) आदि होती है, जिससे ऊर्जा (उत्साह), रुचि, बल और सुख का उपभोग होता है। इसलिए व्याधि भी नष्ट होती है। जिह्वा की लोलुपता के कारण, दोष के क्षय होने से अथवा रोग की विषमता के कारण जो रुचि होती है, उनमें पथ्यापथ्य को जानने वाला वैद्य नाना प्रकार के योगों द्वारा पथ्य आहार की कल्पना करे; अर्थात् आहार को रुचिकर बनाकर लेना चाहिए।

पथ्य के सम्बन्ध में महर्षि अग्निवेश ने कहा है—

'पथ्यं पथोऽनपेतं यच्चोक्तं मनसः प्रियम्'। (च० सू० २५।४५)

अर्थात् जो आहार द्रव्य पथ (शारीरिक स्रोतों) के लिए अपकारक (हानिकर) न हो तथा मन के लिए प्रिय हो, उसे पथ्य कहते हैं।

लोलिम्बराज ने कहा है—

पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः । पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः ॥

(वैद्यजीवन १।१०)

अर्थात् पथ्य-सेवी रोगी पथ्य से ही रोग को निर्मूल नष्ट कर देता है । उसको औषध-सेवन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । इसी प्रकार पथ्यपूर्वक न रहने पर औषध-सेवन करने से रोग नष्ट नहीं होता है । अतः पथ्य का महत्त्व औषध-सेवन से अधिक है ।

दोषशोधन-काल

शीतोष्णवर्षानिचितं चैत्रश्रावणकार्तिके ।
क्रमात् साधारणे श्लेष्मवातपित्तं हरेद् द्रुतम् ॥ २९ ॥
प्रावृट्शरद्वसन्तानां मासेष्वेतेषु वाऽऽहरेत्[1] ।
साधारणेषु विधिना त्रिमासान्तरितान्मलान् ॥ ३० ॥
कृत्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं यथायथम् ।
प्रयोजयेत् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥ ३१ ॥

शीतकाल में संचित कफ को चैत्र मास में, ग्रीष्म काल में संचित वायु को श्रावण मास में और वर्षा काल में संचित पित्त को कार्तिक मास में शीघ्र निकालना चाहिए अथवा प्रावृट्, शरद्, वसन्त ऋतु के महीने में दोषों को निकालना चाहिए । मलों को तीसरे महीने विधिपूर्वक निकाल देना (निर्हरण करना) चाहिए । यह स्वस्थवृत्त का नियम है । आतुरावस्था में यथाकाल कृत्रिम उपायों द्वारा शीत, गर्मी और वर्षा का प्रतिकार करके संशोधन-क्रिया करनी चाहिए । प्राप्त (उपस्थित) क्रियाकाल का त्याग (किसी भी प्रकार से) नहीं करना चाहिए ।

उपचारान्त प्रयोग

सप्ताहेन गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत् ।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासङ्करो हितः ॥ ३२ ॥
गुणेऽल्पेऽपि तु तामेव विशेषोत्कर्षलब्धये ।

रोग-शमन के लिए प्रयुक्त क्रिया के सात दिन प्रयोग करने पर कोई गुण उपलब्ध न हो, तो किसी दूसरी चिकित्सा-विधि का प्रयोग करना चाहिए । पहले की हुई क्रिया की शक्ति शान्त हो जाने पर दूसरी क्रिया करनी चाहिए, क्योंकि क्रियाओं का संकर (मेल) होना हित (पथ्य) नहीं होता है । यदि पहले की हुई चिकित्सा से थोड़ा भी लाभ (गुण) दिखलाई पड़े, तो विशेष लाभ के लिए उसी क्रिया का प्रयोग करना चाहिए ।

राजा के विषय में चिकित्सा-नियम

भेषजं नृपतेर्हृद्यमल्पमल्पात्ययं शुचि ॥ ३३ ॥
शुद्धागमं बहुगुणं बहुकृत्वः प्रयोजितम् ।
अनन्यकार्योऽविहितस्तन्मन्त्रिगुरुसम्मतम्[2] ॥ ३४ ॥
आस्वादितं परिचरैः स्वयं चानु प्रयोजयेत् ।

राजा के लिए औषध हृद्य (हृदय के लिए प्रिय), अल्पमात्रा में, अल्प अत्यय (अल्प

---

१. 'वा हरेत्' इति पाठान्तरम् । २. 'तथा तन्मन्त्रिसम्मतः' इति पाठान्तरम् ।

कष्ट देने वाली), पवित्र, वणिक् आदि से लायी गयी, बहुत गुण वाली, बहुत बार प्रयोग की हुई, राजा के मन्त्री तथा गुरुजनों की सम्मति से बनायी गयी, परिचरों द्वारा तथा स्वयं खाकर देखी गयी हो—इस प्रकार की औषधि सर्वसाधारण की अपेक्षा अत्यन्त मन लगाकर सावधान होकर प्रयोग में लाना चाहिए।

अमृत के समान गुणशाली औषध

उचितो यस्य यो देशस्तज्जं तस्यौषधं हितम् ॥ ३५ ॥
देशेऽन्यत्रापि वसतस्तत्तुल्यगुणजन्म च।
वीर्यवद्भावितं सम्यक् स्वरसैरसकृल्लघु ॥ ३६ ॥
रसगन्धादिसम्पन्नं काले जीर्णे च मात्रया।
एकाग्रमनसा युक्तं भैषज्यममृतायते ॥ ३७ ॥

इति भेषजावचारणीयो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

जो व्यक्ति जिस देश में उत्पन्न होता है, उसके लिए उसी देश की औषधि हितकर (पथ्य) होती है। यदि वह व्यक्ति दूसरे देश में भी रहता हो, तो उसकी जन्मभूमि के समान देश में उत्पन्न औषध का प्रयोग करना चाहिए। वह औषध उत्कृष्ट वीर्य वाली, स्वजातीय द्रव्यों से अनेक बार सम्यक् प्रकार से भावना दी हुई, लघु, रस, गंध आदि से सम्पन्न उचित काल में जीर्ण होने वाली, मात्रापूर्वक रोगी द्वारा एकाग्र होकर सेवन की गई अमृत के समान होती है।

इस प्रकार 'भेषजावचारणीय' नामक त्रयोविंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में औषध-प्रयोग के समय रोगी-परीक्षण, दोष के स्थान-विशेष से औषध-विशेष का निरूपण, औषध की मात्रा, उपचार के पूर्व रोगी के बलाबल की परीक्षा, औषध-परीक्षा एवं औषध देने का विविध काल बतलाया गया है।

इसके अतिरिक्त पथ्य का उद्देश्य एवं दोष के शोधन का विवेचन किया गया है।

चतुर्विंशोऽध्यायः

अथातो द्विविधोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'द्विविधोपक्रमणीय अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

उपक्रम का अर्थ चिकित्सा होता है। द्विविध उपक्रम के लिए हितकर द्विविधोपक्रमणीय है।

द्विविध उपक्रम

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः।
एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥ ३ ॥
बृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ।

साम-निराम भेद से उपक्रम्य (रोग अथवा रोगी) दो प्रकार का होने से उसका उपक्रम (चिकित्सा-उपचार) भी दो प्रकार का होता है। उनमें एक संतर्पण (Nutritional Therapy) रूप उपक्रम तथा दूसरा अपतर्पण (Emaciating Therapy) रूप उपक्रम होता है। संतर्पण का बृंहण (Nourishing Therapy) तथा अपतर्पण का लंघन (Lightening Therapy) पर्याय है।

बृंहण-लंघन

[1]बृंहणं यद्बृहत्वाय [2]लङ्घनं लाघवाय तत् ॥ ४ ॥
देहस्य भवतः प्रायो भौमाप्यमितरच्च ते।

जो कर्म शरीर को बृहत् (स्थूल) करें, वह बृंहण है तथा जो कर्म शरीर को लघु (कृश) बनावे, वह लंघन है। भौम (पार्थिव) तथा आप्य (जलीय) द्रव्य बृंहण और आग्नेय, वायव्य एवं नाभस द्रव्य लंघनकारक होते हैं।

स्नेहन-रूक्षण तथा स्तम्भन-स्वेदन

[3]स्नेहनं [4]रूक्षणं कर्म [5]स्वेदनं [6]स्तम्भनं च यत् ॥ ५ ॥

---

१. गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूलपिच्छिलम्।
प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते ॥ (च० सू० २२।१३)

२. लघूष्णतीक्ष्णविशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम्।
कठिनं चैव यद्द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम् ॥ (च० सू० २२।१२)

३. द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम्।
प्रायो मन्दं मृदु च यद् द्रव्यं तत्स्नेहनं मतम् ॥ (च० सू० २२।१५)

४. रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम्।
प्रायशः कठिनं चैव यद् द्रव्यं तद्धि रूक्षणम् ॥ (च० सू० २२।१४)

५. शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं रूक्षं द्रवं स्थिरम्।
यद् द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत् स्तम्भनं स्मृतम् ॥ (च० सू० २२।१७)

६. उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्म द्रवं स्थिरम्।
द्रव्यं गुरु च यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते ॥ (च० सू० २२।१६)

भूतानां तदपि द्वैध्याद् द्वितयं नातिवर्तते ।

स्नेहन (Oleation Therapy), रूक्षण (Drying Therapy), स्वेदन (Fomentation Therapy) तथा स्तम्भन (Astringent Therapy)—इनके जो चिकित्साकर्म हैं, वे उपर्युक्त बृंहण एवं लंघन से बाहर नहीं हैं । सभी भूत (प्राणी) आग्नेय एवं सौम्य होने से दो प्रकार के होते हैं । इसलिए स्नेहन-स्तम्भन सौम्य होने से बृंहण वर्ग में तथा रूक्षण-स्वेदन आग्नेय होने से लंघन वर्ग में आ जाते हैं ।

लंघन-चिकित्सा के भेद

शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम् ॥ ६ ॥
यदीरयेद् बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं तु तत् ।
निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः ॥ ७ ॥
न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि ।
समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा ॥ ८ ॥
पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः ।
बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च ॥ ९ ॥

लंघन चिकित्सा दो प्रकार की होती है—१. शोधन तथा २. शमन । इनमें जो औषध शरीर के भीतर स्थित वातादि दोषों को बाहर निकालती है, वह शोधन-चिकित्सा है । वह शोधन पाँच प्रकार का होता है—१. निरूहवस्ति (गुदमार्ग से औषधि, क्वाथ, स्नेह आदि देना), २. वमन (दोषों का ऊर्ध्वहरण), ३. कायविरेक (दोषों का अधोहरण), ४. शिरोविरेक (ऊर्ध्व मल निर्हरण—नस्य) तथा ५. अस्त्रविस्रुति (रक्त का शिरा आदि द्वारा निर्हरण) । जो औषधि वातादि दोषों को बाहर नहीं निकालती है, समान (स्वप्रमाणस्थ) दोषों को न उत्क्लेशित करती है और न ही अपने स्थान से हटाती है तथा विषम (स्वप्रमाण से हीन या अधिक) स्थित दोषों को समानावस्था में सम्पादित करती है, वह शमन औषधि कहलाती है । वह शमन औषधि सात प्रकार की होती है—१. पाचन, २. दीपन, ३. क्षुत् (अन्नवर्जन), ४. तृट् (उदक्-वर्जन), ५. व्यायाम, ६. आतप (धूप) तथा ७. मारुत (वायु) । यद्यपि शमन लंघन ही है, तथापि वात और वात-पित्त में बृंहण चिकित्सा ही शमन-चिकित्सा होती है ।

बृंहण के योग्य रोगी, रोग तथा चिकित्सा

बृंहयेद्व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान् ।
भाराध्वोरःक्षतक्षीणरूक्षदुर्बलवातलान् ॥ १० ॥
गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मेऽपरानपि ।
मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धबस्तिभिः ॥ ११ ॥
स्वप्नशय्यासुखाभ्यङ्गस्नाननिर्वृतिहर्षणैः ।

व्याधि से कर्शित, औषध से कर्शित, मद्यपान से कर्शित, स्त्री (मैथुन) से कर्शित, शोक से कर्शित, भार उठाने, रास्ता चलने तथा उरःक्षत से क्षीण, रूक्ष एवं दुर्बल शरीर, वातिक प्रकृति, गर्भिणी, सूतिका (प्रसूता), बालक, वृद्ध तथा ग्रीष्म ऋतु में सभी का बृंहण करना चाहिए । मांस, दुग्ध, सिता (शर्करा), सर्पि (घृत), मधुर एवं स्निग्ध बस्तियाँ, स्वप्नसुख (निद्रा), शय्यासुख (निद्रा—बिना बिस्तर के लेटना), अभ्यंग, स्नान, निर्वृति (सन्तोष) तथा हर्षण (आनन्द) से बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए ।

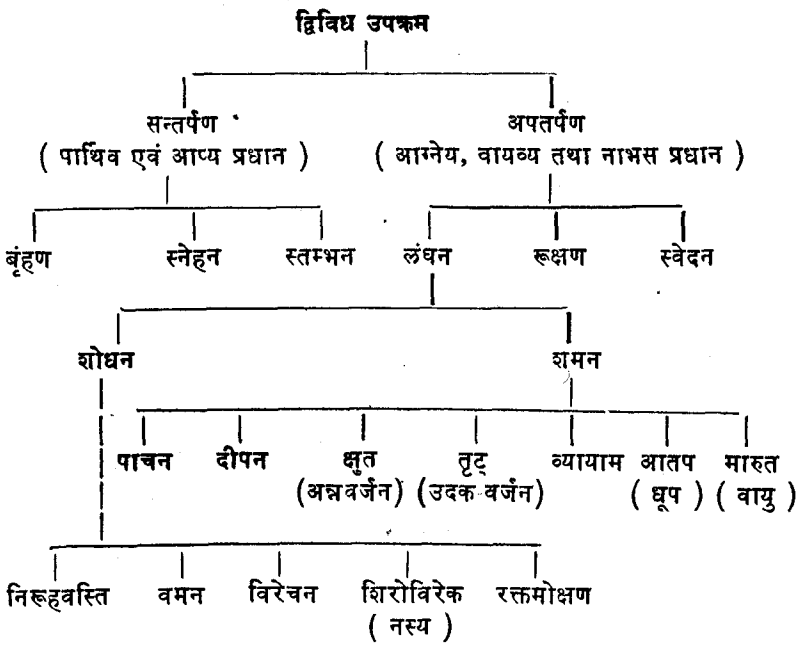

लंघन के योग्य रोगी तथा रोग

मेहामदोषातिस्निग्धज्वरोरुस्तम्भकुष्ठिनः ॥ १२ ॥
विसर्पविद्रधिप्लीहशिरःकण्ठाक्षिरोगिणः ।
स्थूलाँश्च लङ्घयेन्नित्यं शिशिरे त्वपरानपि ॥ १३ ॥

मेह (प्रमेहरोगी), आमदोष वाले, अतिस्निग्ध, ज्वररोगी, ऊरुस्तम्भ रोगी, कुष्ठुरोगी, विसर्प, विद्रधि, प्लीहारोगी, शिरोरोगी, कण्ठरोगी, नेत्ररोगी तथा अतिस्थूल लोगों को नित्य लंघन कराना चाहिए। शिशिर ऋतु में तो अन्य लोगों को भी लंघन कराना चाहिए। अर्थात् सभी का लंघन कराना चाहिए।

दीपन-पाचन का विषय

तत्र संशोधनैः स्थौल्यबलपित्तकफाधिकान् ।
आमदोषज्वरच्छर्दिरतीसारहृदामयैः ॥ १४ ॥
विबन्धगौरवोद्गारहृल्लासादिभिरातुरान् ।
मध्यस्थौल्यादिकान् प्रायः पूर्वं पाचनदीपनैः ॥ १५ ॥
एभिरेवामयैरार्तान् हीनस्थौल्यबलादिकान् ।
क्षुत्तृष्णानिग्रहैर्दोषैस्त्वार्तान्मध्यबलैर्दृढान् ॥ १६ ॥
समीरणातपायासैः किमुताल्पबलैर्नरान् ।

इनमें अतिस्थूल, अधिक बलवान्, अधिक पित्त एवं कफ वालों का संशोधन के द्वारा लंघन कराना चाहिए। आमदोष, ज्वर, छर्दि (वमन), अतिसार, हृदयरोग, विबन्ध, गौरव, उद्गार, हृल्लास आदि से पीड़ित तथा मध्य श्रेणी के स्थौल्य, बल, पित्त एवं कफ वालों को पहले प्रायः दीपन-पाचन से लंघन कराना चाहिए।

आमदोष तथा हीन श्रेणी के स्थौल्य, बल, पित्त एवं कफ वालों को क्षुधा-निग्रह (उपवास) तथा पिपासा-निग्रह (प्यास) द्वारा लंघन कराना चाहिए। वात, पित्त एवं कफ दोषों के मध्यम बल से पीड़ित, दृढ़ (बलवान्) पुरुषों को वात, आतप (धूप) और आयास (व्यायाम) से लंघन कराना चाहिए। अल्पबल तथा अल्पदोष वाले रोगियों को लंघन कराना चाहिए।

लंघन-बृंहण में युक्ति

न बृंहयेल्लङ्घनीयान् बृंह्यांश्च मृदु लङ्घयेत् ॥ १७ ॥
युक्त्या वा देशकालादिबलतस्तानुपाचरेत्।

जो लंघन के योग्य हैं, उनका बृंहण नहीं करना चाहिए। किन्तु जो बृंहण के योग्य हैं, उनको लंघन-साध्य रोगों में मृदु लंघन कराना चाहिए अथवा देश, काल, सत्त्व, सात्म्य आदि के बल की अपेक्षा से युक्तिपूर्वक लंघन के रोगी को भी बृंहण अथवा बृंहण के योग्य रोगी को भी लंघन कराना चाहिए।

सम्यक् बृंहण तथा लंघन का लक्षण

बृंहिते स्याद् बलं पुष्टिस्तत्साध्यामयसङ्क्षयः ॥ १८ ॥
विमलेन्द्रियता सर्गो मलानां लाघवं रुचिः।
क्षुत्तृट्सहोदयः शुद्धहृदयोद्गारकण्ठता ॥ १९ ॥
व्याधिमार्दवमुत्साहस्तन्द्रानाशश्च लङ्घिते।

सम्यक् बृंहण हो जाने पर शरीर में बल (सामर्थ्य) तथा पुष्टि होती है तथा बृंहण साध्य रोगों का क्षय हो जाता है। सम्यक् लंघन होने पर इन्द्रियों की निर्मलता, मलों की प्रवृत्ति, हलकापन, भोजन में रुचि, भूख एवं प्यास का एक साथ उदय (उत्पन्न) होना, हृदय उद्गार एवं कण्ठ का शुद्ध होना, व्याधि (लंघन-साध्य) में मृदुता, उत्साह तथा तन्द्रा का नाश हो जाता है।

बृंहण एवं लंघन का अतियोग

अनपेक्षितमात्रादिसेविते कुरुतस्तु ते ॥ २० ॥
अतिस्थौल्यार्तिकार्श्यादीन् वक्ष्यन्ते ते च सौषधा।
रूपं तैरेव विज्ञेयमतिबृंहितलङ्घिते ॥ २१ ॥

अधिक मात्रा में बृंहण का सेवन करने से अतिस्थौल्य तथा अधिक मात्रा में लंघन का सेवन करने से अतिकृशता आदि उत्पन्न हो जाती है। अतिस्थूलता तथा अतिकृशता आदि का वर्णन तथा चिकित्सा इसी अध्याय में आगे कहेंगे। इन्हीं अतिस्थौल्य एवं अतिकार्श्य आदि के लक्षणों से बृंहण एवं लंघन के अतियोग का लक्षण जानना चाहिए।

अतिस्थौल्य का वर्णन

तत्र शोधनमुद्दिश्य स्थौल्याद्याः प्रागुदाहृताः।
गुर्वादिवृद्धसंलीनश्लेष्ममिश्रोऽन्नजो रसः ॥ २२ ॥
आम एव श्लथीकुर्वन् धातून्स्थौल्यमुपानयेत्।
अतिस्थौल्यादतिक्षुत्तृट्प्रस्वेदश्वासनिद्रताः ॥ २३ ॥
आयासाक्षमताजाड्यमल्पायुर्बलवेगता ।
दौर्गन्ध्यं गद्गदत्वं च भवेन्मेदोऽतिपुष्टितः ॥ २४ ॥

इनमें संशोधन का वर्णन करते समय स्थौल्य आदि पहले कह दिया गया है। गुरु आदि पदार्थों का सेवन करने से बढ़ा हुआ तथा संलीन (व्याप्त) हुआ श्लेष्मा आहाररस के साथ मिल कर परिपूर्ण पाक न होने से आम अवस्था में रह जाता है तथा रक्त आदि धातुओं को शिथिल करता हुआ स्थूलता उत्पन्न करता है। अतिस्थूलता से—१. अधिक मात्रा में भूख लगना, २. अधिक प्यास का लगना, ३. अधिक पसीना निकलना, ४. थोड़ा परिश्रम करने पर श्वास फूलना, ५. अधिक निद्रा आना, ६. परिश्रम का कार्य करने में कठिनाई, ७. जड़ता, ८. अल्पायु, ९. अल्पबल, १०. अल्पवेग (उत्साह में न्यूनता), ११. शरीर में दुर्गन्ध होना तथा १२. गद्गदत्व (अस्पष्ट भाषण) हो जाता है। ये लक्षण मेदोधातु की अतिपुष्टि से होता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में कहा गया है–'Obesity, the excessive accumulation of fat in subcutaneous and deep tissues, is due to excessive intake as compared with output of calories.' —*Savill's System of Clinical Medicine.*

आधुनिक चिकित्सा-विदों ने स्थूलता की उत्पत्ति के निम्नलिखित कारण बतलाये हैं—

१. वंशानुगत परिबल।

२. मानसिक एवं सामाजिक परिबल।

३. अन्तःस्रावी ग्रथियों की अस्त-व्यस्तता।

४. शारीरिक श्रम का अभाव।

५. पाचनतन्त्र या चयापचय में त्रुटि।

६. पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में स्थूलता का प्रमाण।

स्थूलता के अन्य असामान्य कारण—

इसके अतिरिक्त सामान्यतः धूम्रपान करने वालों की अपेक्षा धूम्रपान न करने वालों का वजन कुछ अधिक होता है। मानसिक तनाव कम करने वाली औषधियाँ जैसे एण्टीडिप्रेसण्ट एवं नशा उत्पन्न करने वाली औषधियों का सेवन सगर्भावस्था, मधुमेह, कैंसर एवं मूत्रपिण्डों के रोग में भी स्थूलता बढ़ता है।

स्रोतःसु मेदोरुद्धेषु वायुः कोष्ठे विशेषतः।
चरन्प्रज्वलयत्यग्निं क्षुत्तृषौ स्तस्ततोऽधिकम् ॥ २५ ॥
स्थूलं कोटरवद्वृद्धौ दहतोऽन्यनिलौ च तम्।
स्वेदवाहिसिरामूलभवाद्विष्यन्दनादपि ॥ २६ ॥
मेदसः श्लेष्मयोगाच्च भवति स्वेदभूरिता।

मेदोधातु के अधिक बढ़ जाने के कारण स्रोतों के मुख बन्द हो जाने से वायु कोष्ठ (महास्रोतस्) में विशेष रूप में घूमता हुआ अग्नि को प्रज्वलित करता है; जिससे भूख एवं प्यास अधिक लगती है। जैसे वृक्ष के कोटर में लगी अग्नि वायु की सहायता से वृक्ष को जला देती है, वैसे ही कोष्ठ में स्थित अग्नि और वायु स्थूल पुरुष को जला डालते हैं। मेद स्वेदवाही शिराओं का मूल होने से विष्यन्दन (पिघलने) के कारण और श्लेष्मा के साथ संयोग होने से स्थूल व्यक्ति को पसीना अधिक निकलता है।

कोष्ठ एव विपक्वेऽस्य संरुद्धस्रोतसो रसे ॥ २७ ॥
सर्वत्रालब्धवृत्तित्वात्प्रायो मेदः प्रचीयते।
तच्छेषोऽल्परसोऽल्पत्वान्नालं रक्तादिपुष्टये ॥ २८ ॥

स्थूल पुरुष में स्रोतों का अवरोध होने के कारण आहार रस कोष्ठ में ही रहता है, वह सम्पूर्ण शरीर में नहीं पहुँच पाता है, जिससे प्रायः मेदोधातु का सञ्चय होता है। मेद से बचा (शेष) स्वल्प रस थोड़ा होने से रक्तादि धातुओं का पोषण करने के लिए पर्याप्त नहीं होता है।

तुल्येऽपि वाय्वादिचये प्राक्चितं चीयते तराम्।
मेदस्तेनासमत्वेन धातूनां विदधाति तत्॥ २९॥
श्वासादीनचिराच्चान्यान् ज्वरोदरभगन्दरान्।
मेहोरुस्तम्भपिटकाविद्रधिप्रभृतीन् गदान्॥ ३०॥

वायु एवं अग्नि की समान वृद्धि होने पर भी पूर्व से बढ़ा हुआ मेदोधातु अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक बढ़ता है। धातुओं की विषमता से मेदोधातु श्वास आदि को शीघ्र उत्पन्न कर देता है तथा ज्वर, उदररोग, भगन्दर, प्रमेह, ऊरुस्तम्भ, पिटिका तथा विद्रधि आदि रोगों को उत्पन्न करता है।

अतिस्थौल्य का लक्षण एवं चिकित्सा

अयथोपचयोत्साहश्चलस्फिगुदरस्तनः।
अतिस्थूलः स्मृतो योज्यं तत्रान्नं मारुतापहम्॥ ३१॥
श्लेष्ममेदोहरं यच्च कुलत्था यवका यवाः।
जूर्णश्यामाकमुद्गाद्याः पानेऽरिष्टो मधूदकम्॥ ३२॥
मस्तु तक्रं च तीक्ष्णोष्णं रूक्षं छेदि च भेषजम्।
चिन्ताव्यवायव्यायामशोधनास्वपनं भजेत्॥ ३३॥
देहापेक्षी तथा रूक्षं स्नानमुद्वर्तनादि च।

शरीर के उपचय (संगठन) के समान उत्साह का न होना तथा स्फिक् (नितम्ब), उदर एवं स्तन का हिलना अतिस्थूलता का लक्षण है। इसमें वायुशामक, श्लेष्म तथा मेदोधातुनाशक अन्न देना चाहिए। जैसे—कुलथी (*Dolichos biflorus* Linn.), यवक (जई), जो (*Hordeum vulgare*), जूर्ण (ज्वार *Thysandeeolaena grostis* Nees.), श्यामाक (साँवा *Panicum frumentaceum*), मुद्ग (मूँग *Phaseolus mungo*) आदि एवं पीने के लिए अरिष्ट, मधु-मिश्रित जल, मस्तु (दही का तोड़), तक्र, तीक्ष्ण-उष्ण-रूक्ष गुणवाली तथा छेदन करने वाली औषधियों का सेवन करना चाहिए। चिन्ता, व्यवाय (मैथुन), व्यायाम, शोधन तथा जागरण आदि अपने शरीर की शक्ति के अनुसार करना चाहिए। रूक्ष स्नान (अभ्यंग किये बिना) तथा रूक्ष उद्वर्तन करना चाहिए।

स्थौल्यनाशकयोग

मधुना त्रिफलां लिह्याद् गुडूचीमभयां घनम्॥ ३४॥
रसाञ्जनस्य महतः पञ्चमूलस्य गुग्गुलोः।
[1]शिलाजतोः प्रयोगश्च साग्निमन्थरसो हितः॥ ३५॥
विडङ्गं नागरं क्षारः काललोहरजो मधु।
यवामलकचूर्णं च योगोऽतिस्थौल्यदोषजित्॥ ३६॥

---

१. 'शिलाह्वयः' इति पाठान्तरम्।

मदनं त्रिफलामुस्तसप्ताह्वारिष्टवत्सकम् ।
सपाठारग्वधं पीतमतिबृंहणरोगजित् ॥ ३७ ॥
तद्वद्वत्सकशम्याकदेवदारुनिशाद्वयम् ।
समुस्तपाठाखदिरत्रिफलानिम्बगोक्षुरम् ॥ ३८ ॥
मदनादीनि चालेपः स्नानादिष्वपि योजयेत् ।
हिङ्गुगोमेदकव्योषकुष्ठक्रौञ्चास्थिगोक्षुरम् ॥ ३९ ॥
एलावृषभषड्ग्रन्थाखराश्वोपलभेदकम् ।
तक्रेण दधिमण्डेन पीतं कोलरसेन वा ॥ ४० ॥
मूत्रकृच्छ्रं कृमीन्मेहं स्थूलतां च व्यपोहति ।

मधु के साथ त्रिफला (अक्ष, बिभीतक एवं आमलक), गिलोय (*Tinospora cordifolia* Willd.) या हरड़ (*Terminalia chebula* Retz.) अथवा घन (मोथा *Cyperus rotundus* Linn.) को चाटना चाहिए । रसाञ्जन, बृहत्पंचमूल, गुग्गुल (*Commiphora mukul* Engl.) तथा शिलाजीत का प्रयोग अग्निमंथ (अरणी *Clerodendrum phlomidis* Linn.) के स्वरस के साथ हितकर है । विडङ्ग (*Embelia ribes Burm.* f.), नागर (सोंठ *Zingiber officinale*), यवक्षार, काललोह रज (लोह भस्म) का मधु के साथ सेवन करना चाहिए । जौ (*Hordeum vulgare*) तथा आँवले (*Emblica officinalis* Gaertn.) का चूर्ण अतिस्थौल्य नष्ट करता है । मदनफल (*Randia dumetorum*), त्रिफला, नागरमोथा (*Cyperus rotundus* Linn.), सप्तपर्ण (*Alstonia scholaris*), अरिष्ट (निम्ब *Azadirachta indica* A. Juss.), वत्सक (कुटज *Holarrhena antidysenterica* Wall.), पाठा (*Cyclea peltata* और आरग्वध (अमलतास *Cassia fistula*) को सम भाग में लेकर क्वाथ बनाकर पीने से अति बृंहण से उत्पन्न रोग नष्ट होते हैं । इसी प्रकार वत्सक (कुटज *Holarrhena antidysenterica*), शम्याक (अमलतास *Cassia fistula*), देवदारु (*Cedrus deodara*), हल्दी (*Curcuma longa* Linn.), दारुहल्दी (*Berberis aristata* DC.), मोथा (*Cyperus rotandus*), पाठा (*Cyclea peltata*), खदिर (*Acacia catechu* Willd.), त्रिफला, निम्ब (*Azadirachta indica*), गोक्षरु (गोखरु *Tribulus terrestris* Linn.) का क्वाथ अतिस्थूलता को नष्ट करता है । मदनफल (*Randia dumetorum*) आदि उक्त द्रव्यों के क्वाथ से स्नान तथा इनका लेप करना चाहिए । हिंगु (*Ferula foetida* Regel.) गोमेद मणि, व्योष (त्रिकटु), कुष्ठ (कूठ *Saussurea lappa* C. B. Cl.), क्रौञ्चास्थि (क्रौञ्चपक्षी *Anthropoides virgo* की अस्थि), गोक्षुर (*Tribulus terrestris* Linn.), एला (इलायची *Elettaria cardamomum*), वृष (अडूसा *Adhatoda vasica* Nees.), षड्ग्रन्था (वचा *Acorus calamus* Linn.), खराश्वा (अजमोदा *Apium graveolens* Linn.) तथा पाषाणभेद (अश्मभेद *Aerva lanata* Juss.) का चूर्ण तक्र के साथ, दही के पानी के साथ अथवा बेर (*Zizyphus jujuba* Linn.) के रस के साथ पीने से मूत्रकृच्छ्र, कृमिरोग, प्रमेह तथा स्थूलता का नाश होता है ।

स्थौल्यनाशक योग

कृमिघ्नत्रिफलातैलसक्तुत्र्यूषणदीप्यकैः ॥ ४१ ॥
[1]लोहोदकाप्लुतो मन्थः शस्तो बृंहणरोगिणाम् ।

१. 'लोहोदकाप्लुत इत्यगुरुदकाप्लुतः, उदककरणं च षडङ्गविधानेन' इति चक्रपाणिः ।

व्योषकट्वीवराशिग्रुविडङ्गातिविषास्थिराः ॥ ४२ ॥
हिङ्गुसौवर्चलाजाजीयवानीधान्यचित्रकाः ।
निशे बृहत्यौ हपुषा पाठामूलं च केम्बुकात् ॥ ४३ ॥
एषां चूर्णं मधुघृतं तैलं च सदृशांशकम् ।
सक्तुभिः षोडशगुणैर्युक्तं पीतं निहन्ति तत् ॥ ४४ ॥
अतिस्थौल्यादिकान्सर्वान् रोगानन्यांश्च तद्विधान् ।
हृद्रोगकामलाश्वित्रश्वासकासगलग्रहान् ॥ ४५ ॥
बुद्धिमेधास्मृतिकरं सन्नस्याग्नेश्च दीपनम् ।
योज्यं तथा यथा व्याधिः स्वेदासृक्स्रावणान्यपि ॥ ४६ ॥

कृमिघ्नादि मन्थ—कृमिघ्न (वायविडंग *Embelia ribes* Burm. f.), त्रिफला, तैल, सत्तू, त्र्यूषण (त्रिकटु), दीपक (अजवायन *Apium graveolens*) इन दस औषधियों को लोहोदक अर्थात् तप्त लौह से बुझे जल में घोलकर बनाया हुआ मन्थ बृंहणजन्य रोगों में लाभ करता है। अन्य आचार्यों ने लोहोदक का दूसरा अर्थ अगुरु (*Aquilaria agallocha* Roxb.) का षडङ्गविधि से बनाया क्वाथ किया है।

व्योषादि मन्थ—व्योष (त्रिकटु), कटुवी (कुटकी *Picrorhiza kurrora*), वरा (त्रिफला), शिग्रु (शोभांजन *Moringa olefera* Linn.), विडंग (*Embelia ribes*), अतिविषा (अतीस *Aconitum heterophyllum* Wall.), स्थिरा (शालपर्णी *Desmodium gangeticum* DC.), हिंगु (हींग *Ferula foetida* Regal.), सौवर्चल (काला नमक), अजाजी (श्वेत जीरा *Carum carvi* Linn.), यवानी (अजवायन *Apium graveolens*), धान्यक (धनिया *Coriandrum sativum*), चित्रक (*Plumbago zeylanica* Linn.) निशा (हरिद्राद्वय–हल्दी एवं दारुहल्दी *Curcuma longo & Berberis aristata*), बृहती (बड़ी कटेरी एवं छोटी कटेरी *Solanum xanthocarpum & Solanum indicum*), हपुषा (*Juniperus communis* Linn.), पाठा (*Cyclea peltata*) तथा केम्बुक (*Costus speciosus* Smith.) की जड़—इन चौबीस औषधियों को सम भाग में मिलाकर इनका एक भाग, तत्सम मधु का द्वितीय भाग, घृत का तृतीय भाग, तैल का चतुर्थ भाग तथा इन चारों भागों से सोलह गुणा जौ (*Hordeum vulgare*) का सत्तू मिलाकर जल में घोलकर प्रतिदिन पीना चाहिए। इसका सेवन करने से अतिस्थौल्य आदि रोग, कामला, श्वित्र (श्वेतकुष्ठ), श्वासरोग, कासरोग तथा गलग्रह नष्ट होते हैं। यह मन्थ बुद्धि, मेधा एवं स्मृति को बढ़ाता है तथा मन्दाग्नि को प्रदीप्त करता है।

इसी प्रकार बृंहण जनित रोगों में व्याधि के अनुसार क्रमशः स्वेदन तथा रक्तमोक्षण आदि का भी प्रयोग करना चाहिए।

अतिकार्श्य का वर्णन

अतिकार्श्यं भ्रमः कासस्तृष्णाधिक्यमरोचकः ।
स्नेहाग्निनिद्रादृक्श्रोत्रशुक्रौजःक्षुत्स्वरक्षयः ॥ ४७ ॥
बस्तिहृन्मूर्धजङ्घोरुत्रिकपार्श्वरुजा ज्वरः ।
प्रलापोर्ध्वानिलग्लानिच्छर्दिपर्वास्थिभेदनम् ॥ ४८ ॥
वर्चोमूत्रग्रहाद्याश्च जायन्तेऽतिविलङ्घनात् ।

अतिकार्श्येन नायासवर्षशीतोष्णक्षुत्तृषः[1] ॥ ४९ ॥
तृप्तिव्याध्यौषधमदान् सहतेऽल्पबलत्वतः ।
श्वासकासक्षयप्लीहगुल्मार्शोवह्निमन्दताः ॥ ५० ॥
कृशं प्रायश्च धावन्ति रक्तपित्तानिलामयाः[2] ।

अतिलंघन से अतिकार्श्य (अतिकृशता), भ्रम, कास, तृष्णाधिक्य (प्यास की अधिकता), अरुचि हो जाती है तथा स्नेह, अग्नि, निद्रा, दृष्टि, श्रवणशक्ति, शुक्र, ओज, क्षुत् (भूख) तथा स्वर का क्षय हो जाता है। वस्ति, हृदय, मूर्धा (शिर), जंघा, ऊरु, त्रिक (कटि) तथा पार्श्व-प्रदेश में वेदना होती है। ज्वर, प्रलाप, वायु का ऊपर जाना, ग्लानि, वमन, पर्वसन्धियों तथा अस्थियों में भेदन (विदारण) के समान वेदना होती है तथा पुरीष एवं मूत्र का अवरोध हो जाता है। अत्यन्त कृशता के कारण, अल्पबल होने से मनुष्य परिश्रम, वर्षा, शीत, गर्मी, भूख, प्यास, तृप्तिरोग एवं औषधि का मद नहीं सह सकता है। कृश व्यक्ति को प्रायः श्वासरोग, कासरोग, क्षय-रोग, प्लीहारोग, गुल्मरोग, अर्शरोग, मन्दाग्नि, रक्तपित तथा वातरोग होते हैं।

कार्श्य ही स्थौल्य से श्रेष्ठ

कार्श्यमेव वरं स्थौल्यान्न हि स्थौल्यस्य भेषजम् ॥ ५१ ॥
बृंहणं लङ्घनं नालमतिमेदोऽग्निवातजित् ।
मधुरस्निग्धसौहित्यैर्यत्सौख्येन च नश्यति ॥ ५२ ॥
क्रशिमा स्थविमाऽत्यन्तविपरीतनिषेवणैः ।

यद्यपि कृशता महान् रोग है, तथापि अतिस्थूलता से कृशता ही श्रेष्ठ है, क्योंकि स्थूलता की कोई चिकित्सा नहीं है। इसके लिए न बृंहण पर्याप्त है और न ही लंघन। यदि बृंहण दिया जाता है, तो अग्नि तथा वायु शान्त होता है, किन्तु मेदोधातु बढ़ जाती है। लंघन करने पर मेदोधातु का क्षय होता है, किन्तु अग्नि तथा वायु बढ़ जाती है। इसलिए अतिस्थौल्य दुश्चिकित्स्य होने से कार्श्य ही श्रेष्ठ है। क्रशिमा (कृशता) मधुर एवं स्निग्ध अन्नपान के पर्याप्त सेवन से तथा सुख-पूर्वक रहने से नष्ट होता है। स्थविमा (स्थूलता) कृशता से अत्यन्त विपरीत उपक्रम यथा व्यायाम एवं चिन्ता आदि से नष्ट किया जा सकता है।

अतिकृश का लक्षण एवं चिकित्सा

शुष्कस्फिग्गुदरग्रीवः स्थूलपर्वा सिरातनः ॥ ५३ ॥
उच्यतेऽतिकृशस्तत्र प्रागुक्तो बृंहणो विधिः ।
अश्वगन्धाविदार्याद्या वृष्याश्चौषधयो हिताः ॥ ५४ ॥
अचिन्तया हर्षणेन ध्रुवं सन्तर्पणेन च ।
स्वप्नप्रसङ्गाच्च कृशो वराह इव पुष्यति ॥ ५५ ॥

जिसके स्फिक् (नितम्ब), उदर तथा ग्रीवा सूखे हों, अँगुलियों की सन्धियों की अस्थियाँ मोटी दिखलायी पड़ें और शरीर के ऊपर शिराएँ दिखलायी पड़ें, वह अतिकृश कहा जाता है। इसमें पूर्व में कही गई बृंहण विधि का सेवन करना चाहिए। अश्वगन्धा (*Withania somnifera* Dunal.) तथा विदारीकन्द (*Pueraria tuberosa* DC.) आदि वृष्य औषधियाँ कृश के लिए

---

१. 'तृट् क्षुधः' इति पाठान्तरम्। २. 'पित्तज्वरामयाः' इति पाठान्तरम्।

हितकर होती हैं। अचिन्ता (चिन्ता न करने से), प्रसन्न रहने से, सन्तर्पण जन्य अन्न-पान का सेवन करने से तथा अतिनिद्रा के सेवन से कृश व्यक्ति सूअर के समान मोटा हो जाता है।

लङ्घनोत्थेषु रोगेषु शेषेष्वप्युपकल्पयेत्।
यत्तदात्वे समर्थं स्याद् यच्चाभ्यासेन पुष्टये ॥ ५६ ॥
सद्यःक्षीणो यतः सद्यो बृंहणेनोपचीयते।
चिरं क्रमेण च क्षीणस्तदाभ्यासेन तत्र च ॥ ५७ ॥
बृंहणं देहमात्राग्निबलादीन्वीक्ष्य योजयेत्।

लंघन से उत्पन्न (कृशता आदि से अतिरिक्त) श्रम, कास आदि रोगों में उन रोगों की वह चिकित्सा तत्काल करें, जो उस रोग को शान्त करने में समर्थ हो तथा निरन्तर सेवन से पुष्टि देने वाली हो, क्योंकि सद्यः (तत्काल) क्षीण (कृश) हुआ व्यक्ति तत्काल बृंहण उपचार द्वारा पुष्ट होता है तथा जो व्यक्ति बहुत समय में क्रमशः क्षीण (कृश) होता है, वह बृंहण उपचार के निरन्तर सेवन से पुष्ट होता है। इसलिए दोनों प्रकार के बृंहण का प्रयोग भी देह, मात्रा, जठराग्नि, बल आदि का विचार करके करना चाहिए।

मांस के समान अन्य बृंहण द्रव्य नहीं है

नहि मांससमं किञ्चिदन्यद्देहबृहत्वकृत् ॥ ५८ ॥
मांसादमांसं मांसेन सम्भृतत्वाद्विशेषतः।
क्रव्यान्मांसरसांस्तस्माद्कलावणिकाँल्लघून् ॥ ५९ ॥
वेसवारीकृतैस्तद्वज्जाङ्गलैश्च कृताकृतान्।
रसांस्तथा च क्षीरादींस्तर्पणांस्तर्पणान्पुनः ॥ ६० ॥
युञ्ज्यात्कृशानां ज्वरिणां कासिनां मूत्रकृच्छ्रिणाम्।
तृष्यतामूर्ध्ववातानां मूढमारुतवर्चसाम् ॥ ६१ ॥

मांस के समान अन्य कोई पदार्थ देह को बृहत् (मोटा) करने वाला नहीं होता। मांस खाने वाले सिंह (*Panthera leo persica*) आदि प्राणियों का मांस, मांस न खाने वाले मृग (*Cervus axis*) आदि प्राणियों के मांस की अपेक्षा विशेष रूप से बृंहणकारक होता है। इसलिए कच्चा मांस खाने वाले प्राणियों का मांसरस (जल एवं लवण के संयोग से तैयार) का लंघनजन्य रोगों में सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार जांगल प्राणियों के मांस का वेशवार बनाकर तथा कृत (घृत, मसाला आदि से संस्कृत) तथा अकृत (घृत, मसाला आदि से रहित) मांसरस का सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार दूध आदि संतर्पण पदार्थों को देना चाहिए। कृश, ज्वररोगी, कासरोगी, मूत्र-कृच्छ्ररोगी, तृषारोगी, ऊर्ध्ववातरोगी, मूढ़वात तथा मल के अवरोध में तर्पण करना चाहिए। 'इन्दु' ने यहाँ तर्पण शब्द से 'सक्तु का सेवन' अर्थ किया है।

रोगानुसार तर्पण योग

समकृष्णासितातैलक्षौद्राज्यो हि सतर्पणः[1]।
मन्थस्तद्वत्सिताक्षौद्रमदिरासक्तुयोजितः ॥ ६२ ॥
फाणितं सक्तवः सर्पिर्दधिमण्डोऽम्लकाञ्जिकम्।

१. 'समैः कृष्णासितातैलक्षौद्राद्यैर्द्वयंशतर्पणैः' इति पाठान्तरम्।

तर्पणं मूत्रकृच्छ्रघ्नमुदावर्तहरं परम् ॥ ६३ ॥
मन्थः खर्जूरमृद्वीकावृक्षाम्लाम्लीकदाडिमैः ।
परूषकैः सामलकैः सद्यस्तृष्णादिरोगजित् ॥ ६४ ॥
स्वादुरम्लो जलकृतः सस्नेहो रूक्ष एव वा ।
सद्यः सन्तर्पणो मन्थः स्थैर्यवर्णबलप्रदः ॥ ६५ ॥

कृष्णा (पिप्पली *Piper lougum* Linn.), सिता (मिश्री), तैल, क्षौद्र (मधु) इनका समभाग तथा इन सबका दुगुना सत्तू मिलाकर जल में घोलकर मन्थ बनाकर सेवन कृश एवं ज्वर आदि रोगों में हितकारक है । इसी प्रकार मिश्री, मधु, मदिरा और सत्तू के मन्थ का सेवन करना चाहिए । फाणित (राब), सत्तू, सर्पि (घृत), दधिमण्ड (दही का पानी) तथा खट्टी काञ्जी मिलाकर बनाया तर्पण मूत्रकृच्छ्र तथा उदावर्त को नष्ट करता है । यह अत्यधिक तर्पण योग है । खर्जूर (*Phoenix dactylifera* Linn.), मृद्वीका (मुनक्का *Vitis vinifera* Linn.) वृक्षाम्ल (*Garcinio indica*), अम्लीक (इमली *Tarmarindus indica* Linn.), दाडिम (अनार *Punica granatum* Linn.), परूषक (फालसा *Grewia asiatica* Linn.) और आँवला (*Emblica officinalis* Gaertn.) से बनाया गया मन्थ तत्काल पिपासा आदि रोगों को शान्त करता है । मधुर तथा अम्ल द्रव्यों से जल में बनाया हुआ स्नेह युक्त अथवा रूक्ष मन्थ ही तत्काल सन्तर्पण करने वाला होता है तथा शरीर में स्थिरता, वर्ण तथा बल को देने वाला होता है ।

स्थौल्य एवं कृश में आहार विशेष

गुरु चातर्पणं स्थूले विपरीतं हितं कृशे ।
यवगोधूममुभयोस्तद्योग्याहितकल्पनम् ॥ ६६ ॥

स्थूल पुरुष को गुरु अपतर्पण आहार देना चाहिए । कृश पुरुष को इसके विपरीत लघु एवं सन्तर्पण आहार देना चाहिए । कृश एवं स्थूल दोनों के लिए यव (*Hordeum vulgare*) एवं गोधूम (गेहूँ *Triticum valgare*) पथ्य है, किन्तु उनके योग्य कल्पना करके उन्हें तैयार करना चाहिए ।

प्रकृति से स्थौल्य एवं कृशता

स्थौल्यकार्श्ये प्रकृत्याऽपि स्यातां तत्राप्ययं विधिः ।
सततं व्याधिततया सदा योज्यो विभज्य च ॥ ६७ ॥

कुछ मनुष्य प्रकृति से भी स्थौल्य एवं कृश होते हैं । उनमें भी इसी विधि का प्रयोग करना चाहिए । किसी रोग के कारण स्थौल्य एवं कृशता हो, तो रोगानुसार चिकित्सा के साथ-साथ उक्त विधि का सेवन करना चाहिए ।

लंघन एवं बृंहण का मात्रा के अनुसार सेवन

मात्रादियुक्ते सेवेत यस्तु बृंहणलङ्घने ।
समधात्वग्निदेहोऽसौ समसंहननो भवेत् ।
दृढेन्द्रियबलत्वाच्च न द्वन्द्वैरभिभूयते ॥ ६८ ॥

जो पुरुष मात्रा आदि के अनुसार बृंहण तथा लंघन का सेवन करता है, वह समधातुओं वाला, सम अग्नि वाला, सम शरीर वाला होता है । उसके शरीर का संहनन (गठन) सम होता

है और वह पुरुष दृढ़ेन्द्रिय तथा दृढ़बल वाला होने से द्वन्द्व (दुःख तथा आतपादि) से अभिभूत (परास्त) नहीं होता है ।

लंघन-बृंहण में ग्राही-भेदी आदि का अन्तर्भाव

दोषगत्याऽतिरिच्यन्ते ग्राहिभेद्यादिभेदतः ।
उपक्रमा न तु द्वित्वाद्भिन्ना अपि गदा इव ॥ ६९ ॥

इति द्विविधोपक्रमणीयो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

वातादि दोषों की विविध गति के कारण और ग्राही एवं भेदी आदि नाना भेदों के कारण असंख्य प्रकार के उपक्रम होते हैं, किन्तु वे सब बृंहण एवं लंघन से भिन्न नहीं होते हैं । जिस प्रकार व्याधि नाना प्रकार की होने पर भी साम एवं निराम भेद से दो प्रकार की होती है ।

इस प्रकार 'द्विविधोपक्रमणीय' नामक चतुर्विंश अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में बृंहण-लंघन भेद से दो प्रकार की चिकित्सा एवं उनके भेद बतलाये गये हैं । इसके अतिरिक्त अतिस्थौल्य एवं अतिकार्श्य का लक्षण, कारण एवं चिकित्सा बतलायी गयी है तथा 'अतिस्थूलता' से 'कृशता' को श्रेष्ठ कहा गया है —'कार्श्यमेव वरं स्थौल्यान्न हि स्थौल्यस्य भेषजम्' । मांस के समान मोटापा करने वाला अन्य कोई पदार्थ नहीं होता—'नहि मांससमं किञ्चिदन्यद्देह-बृहत्वकृत्' ।

पञ्चविंशोऽध्यायः

अथातः स्नेहविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'स्नेहविधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

'स्निह्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगने से 'स्नेह' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। स्नेह का शाब्दिक अर्थ होता है—प्रेम; तैल जैसे चिकने पदार्थ आदि। इसी प्रकार 'स्निह्' धातु में 'णिच-ल्युट्' प्रत्यय लगने से 'स्नेहन' शब्द की व्युत्पत्ति होती है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'तैल आदि से अभ्यंग करना' होता है। सामान्यतः स्नेहन शब्द का तात्पर्य शरीर को स्निग्ध करने से होता है। यह 'स्नेहन-क्रिया' स्नेह द्रव्यों से की जाती है। चरकसंहिता में स्नेहन की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—'स्नेहनं स्नेह-विष्यन्दमार्दवं क्लेदकारकम्'। (च० सू० २२।१०) अर्थात् शरीर का स्नेहन, विष्यन्दन, विलयन, मार्दव (मृदुता) एवं क्लेदन करने वाली क्रिया को स्नेहन कहा जाता है। शरीर पर पंचकर्म द्वारा सम्यक् प्रभाव उत्पन्न हो, इस हेतु जो पूर्वकर्म (स्नेहन एवं स्वेदन) कहे गये हैं, उनमें स्नेह प्रमुख है। यह स्नेहन-क्रिया शरीर पर बाह्य रूप से तैल आदि स्निग्ध पदार्थों का अभ्यंग करके भी की जाती है तथा इन पदार्थों का आभ्यंतर (मुख द्वारा) प्रयोग करके भी की जाती है। स्नेहन कर्म को मुख्यकर्म एवं पूर्वकर्म दोनों रूपों में प्रयुक्त किया जाता है। जहाँ पंचकर्म अथवा शोधन को ध्यान में रखते हुए स्नेहन किया जाता है, वहाँ यह पूर्वकर्म तथा जहाँ किसी रोग-विशेष के शमन हेतु स्नेहन किया जाता है, वहाँ यह मुख्यकर्म होता है।

स्नेहोपयोगी द्रव्य-संग्रह

स्नेहादिषूपयोगाय तद्व्यापच्छमनाय च।
कुर्यात्प्रागेव तद्योगिद्रव्यसम्भारसङ्ग्रहम् ॥ ३ ॥

स्नेहादि कर्म में उपयोग के लिए तथा स्नेहादि कर्म से उत्पन्न व्यापत्तियों का शमन करने हेतु पहले ही उसके लिए उपयोगी सामग्री का संग्रह करना चाहिए।

स्नेहन-रूक्षण द्रव्य

गुरुशीतसरस्निग्धमन्दसूक्ष्ममृदुद्रवम् ।
औषधं स्नेहनं प्रायो विपरीतं विरूक्षणम् ॥ ४ ॥

गुरु, शीत, सर, स्निग्ध, मन्द, सूक्ष्म, मृदु तथा द्रव गुणवाली औषधियाँ प्रायः स्नेहन होती है। इसके विपरीत लघु, उष्ण, स्थिर, रूक्ष, तीक्ष्ण, स्थूल, कठिन तथा सान्द्र गुण वाली औषधियाँ प्रायः विरूक्षण (रूक्ष) होती है।

यहाँ स्नेह द्रव्यों के गुणों को बतलाते हुए कहा गया है कि ये द्रव्य गुरु, शीत आदि आठ गुणों से सम्पन्त होते हैं। 'गुरु' शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है—भारी। यह गुरुता (भारीपन) उन द्रव्यों में कर्म-सापेक्ष्य देखी जाती है, उनके भार को देखकर उन्हें गुरु नहीं कहा जाता। जो द्रव्य जठराग्नि द्वारा अपेक्षाकृत विलम्ब से पचते हैं, वे 'गुरु' कहे जाते है। हेमाद्रि ने गुरु द्रव्यों को पुष्टिकारक बतलाया है। शीत द्रव्य शरीर में आनन्द एवं उत्साह उत्पन्न करते हैं, स्तम्भन करते हैं,

मूर्च्छा को दूर करते हैं, स्वेदन को अल्प करते हैं तथा तृष्णा एवं दाह का शमन करते हैं। सर गुण का अर्थ होता है—प्रसरणशीलता। सामान्यतः जो द्रव्य अनुलोमन करते हैं, वे सर कहलाते हैं। स्निग्ध गुण से चिकनाहट अर्थ लिया जाता है। ये द्रव्य शरीर का स्नेहन करते हैं, मलों का विलयन करते हैं, शरीर में मार्दव (कोमलता) उत्पन्न करते हैं तथा क्लेदकारक होते हैं। मन्द गुण का तात्पर्य धीमापन से है। इस गुण से युक्त द्रव्य शरीर में विलम्ब से तथा धीरे-धीरे कार्य करने वाले (Slow Active) होते हैं। इसी गुण के कारण स्नेह द्रव्य दोष, धातु एवं मलों के साथ अधिक देर तक सम्पर्क में रहते हैं। सूक्ष्म गुण का तात्पर्य स्रोतोगामिता से है। अर्थात् ये द्रव्य इतने सूक्ष्म होते हैं कि शरीर के समस्त स्रोतों में शीघ्र ही व्याप्त हो जाते हैं। जो द्रव्य शरीर में कोमलता उत्पन्न करते हैं, उन्हें मृदुगुण युक्त कहा जाता है। इस तरह द्रव गुण से युक्त द्रव्य शरीर में आर्द्रता तथा क्लेदन आदि करते हैं। सारांश यह है कि उपर्युक्त आठों गुणों से युक्त होने के कारण स्नेह द्रव्य उन गुणों के तत्-तत् कर्मों का सम्पादन भी करते हुए शरीर को अनुगृहीत करते हैं।

आधुनिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो सभी स्नेह वसा अम्ल (Fatty Acids) के ग्लिसराइड्स होते हैं तथा कार्बन परमाणु युक्त होते हैं। ये देर से पचते हैं, परन्तु अपेक्षाकृत अधिक ऊर्जा (Energy) प्रदान करते हैं तथा विटामिन 'ए' एवं 'डी' से युक्त होते हैं। इसी विटामिन 'ए' के कारण ये शरीर-प्रतिरोधक-क्षमता (Body Resistance) को बढ़ाते हैं तथा त्वचा को कांति एवं स्निग्धता प्रदान करते हैं। इसी तरह अपने अन्य गुणों के कारण ये शरीर को पुष्ट करते हैं तथा जीवनीय गुणों (Vitality) में वृद्धि करते हैं।

सर्वोत्तम स्नेह

सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम्।
तत्रापि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्॥ ५॥
माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्माद्यंव च शीलनात्।

स्नेहों में—१. सर्पि (घृत), २. मज्जा, ३. वसा तथा ४. तैल प्रवर (श्रेष्ठ) हैं। इन चारों में भी घृत सबसे उत्तम माना गया है, क्योंकि यह संस्कारों से दूसरों के गुणों का अनुवर्तन करता है तथा रस में मधुर, अविदाही तथा जन्मकाल से ही सेवन किया जाता है।

चारों प्रकार के श्रेष्ठ स्नेहों में भी घी को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। मात्र 'घृत' शब्द से गोघृत का बोध होता है। घृत को पित्तविकारों के शमनार्थ 'परमौषधि' कहा गया है। यह वात-पित्तहर, दाहशामक, रस-शुक्र-ओजोवृद्धिकर, शरीर को मृदु बनाने वाला तथा स्वर-वर्णप्रसादन होता है—'घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम्। निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्णप्रसादनम्'। (च० सू० १३।१४) 'संस्कारो हि गुणान्तराधानम्' अर्थात् विभिन्न क्रियाओं द्वारा किसी औषधि (या द्रव्य) विशेष में किन्हीं विशेष गुणों के आधान करने की क्रिया को 'संस्कार' कहा जाता है। संस्कारों द्वारा विशेष गुणों को ग्रहण करने में घृत सर्वोपरि होता है। यह उपर्युक्त चारों स्नेहों से अपेक्षाकृत लघु होता है। इन्हीं सब कारणों से घृत को सर्वश्रेष्ठ स्नेह कहा गया है।

स्नेहों का दोषों पर प्रभाव

पित्तघ्नास्ते यथापूर्वमितरघ्ना यथोत्तरम्॥ ६॥
घृतात्तैलं गुरु वसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च।

ये चारों स्नेह यथापूर्व क्रम से पित्तशामक होते हैं। अर्थात् तैल की अपेक्षा वसा, वसा की अपेक्षा मज्जा और मज्जा की अपेक्षा घृत पित्तशामक होता है। यथोत्तर (उत्तरोत्तर) ये वात-

कफ-शामक होते हैं, अर्थात् घृत की अपेक्षा मज्जा, मज्जा की अपेक्षा वसा तथा वसा की अपेक्षा तैल वात-कफ-शमिक होता है। घृत से तैल, तैल से वसा तथा वसा से मज्जा गुरु होता है।

स्नेहों की संज्ञा तथा योनि

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान् ॥ ७ ॥
स्नेहाशया दधि क्षीरं मांसास्थि फलदारु च।

दो स्नेहों के मिश्रण को 'यमक' कहते हैं, यथा—सर्पि-वसा, सर्पि-तैल, सर्पि-मज्जा आदि। तीन स्नेहों के मिश्रण को त्रिवृत् कहते हैं, यथा—घृत-तैल-वसा। चारों स्नेहों के मिश्रण को महास्नेह कहते हैं यथा—घृत-तैल-वसा-मज्जा। स्नेह का आशय (योनि–उत्पत्तिस्थान) दधि, दुग्ध (घृत की योनि), मांस (वसा की योनि), अस्थि (मज्जा का आशय) तथा फल एवं दारु-काष्ठ (तैल की योनि) है।

'स्नेहानां द्विविधा सौम्य योनिः स्थावरजङ्गमा'। (च० सू० १३।९) अर्थात् स्नेह की योनि दो प्रकार की होती है—१. स्थावर योनि (Vegetable Source) तथा २. जंगम योनि (Animal Source)। घृत, वसा, मज्जा आदि जंगम योनि (Animal Source) के स्नेह हैं तथा तैल स्थावर योनि (Vegetable Source) का स्नेह है। आधुनिक समय में जांगम स्नेहों को विभिन्न अन्य प्राणियों से भी प्राप्त कर उनका उपयोग किया जाता है जैसे–कॉड लिवर ऑयल (Cod Liver Oil) आदि।

'तिलोद्भवं तैलम्'। अर्थात् जो तिल से उत्पन्न हुआ हो, वह तैल है। तैल अन्य द्रव्यों (जैसे सरसों, मूँगफली, अलसी आदि) से भी प्राप्त किया जाता है परन्तु तिल-तैल को महर्षियों ने सर्वश्रेष्ठ माना है तथा औषधि-निर्माण में इसी का सर्वाधिक उपयोग किया है। अतएव जहाँ मात्र 'तैल' शब्द का निर्देश हो, वहाँ इसका तात्पर्य तिल के तैल से ही लेना चाहिए। प्रायः ये तैल बीजों अथवा फलों की मज्जा से प्राप्त किये जाते हैं। कुछ ऐसे भी तैल होते हैं, जो वृक्षों की दारु (काष्ठ-लकड़ी एवं छाल) से प्राप्त किये जाते हैं, उसे एसेंसियल ऑयल (Essential Oil) कहते हैं। जैसे चन्दन तथा अगुरु का तैल। घृत की तरह ही तैलों को विभिन्न औषधियों से सिद्ध करके औषधीय तैलों (Medicated Oils) का निर्माण करके वांछित प्रयोजन की सिद्धि की जाती है।

स्नेहन के योग्य व्यक्ति

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचिन्तकाः ॥ ८ ॥
वृद्धबालाबलकृशा रूक्षाः क्षीणास्रेतसः।
वातार्तस्यन्दतिमिरदारुणप्रतिबोधनः ॥ ९ ॥
स्नेह्याः—

जिनको स्वेदन तथा संशोधन करना हो, जो मद्यपान, मैथुन तथा व्यायाम में आसक्त हो, जो चिन्तक (चिन्तन-मनन करने वाले) हो, जो वृद्ध, बाल (बालक), अबल (अल्पबल वाले) हों, कृश तथा रूक्ष शरीर वाले हों, जिनका रक्त तथा शुक्रधातु क्षीण हो गया हो, जो वातव्याधि, अभिष्यन्दरोग तथा तिमिररोग से पीड़ित हों तथा जो दारुण प्रतिबोधन (कष्ट से नेत्र के पलकों को खोलता) हो, उनको स्नेहन करना चाहिए।

यहाँ यह निर्देश किया गया है कि स्नेहन कराने योग्य कौन-कौन से व्यक्ति है। सामान्यतया स्वेदन कर्म से पूर्व सर्वदा स्नेहन किया जाता है, तथापि कुछ स्वेद ऐसे होते हैं, जिनके पूर्व स्नेहन

कराने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे रूक्षस्वेद या बालुकास्वेद करना हो, तो पहले स्नेहन नहीं कराया जाता। रूक्ष व्यक्तियों में स्नेहन का प्रयोग करना एक सामान्य नियम है। अत्यधिक व्यायाम, मैथुन, मद्यपान तथा चिन्तन में लीन रहने से शरीर में रूक्षता की वृद्धि होती है, अतएव ऐसे पुरुषों को स्नेहन अवश्य कराना चाहिए। बालकों में समस्त धातुएँ परिपक्व नहीं होती, अतः धातुओं में पुष्टि लाने के लिए स्नेहन कराया जाता है। वैसे भी बालकों की धातुओं में सामान्य वृद्धि के लिए अधिक कैलारी (ऊर्जा) की आवश्यकता होती है, इसके साथ ही बालकों के शरीर में चयापचय (Metabolism) की क्रिया स्वाभाविक रूप से अधिक हुआ करती है। इस सम्पूर्ण ऊर्जा की उपलब्धि कराने के लिए बालकों के लिए स्नेहपान कराना लाभदायक होता है। वृद्धों के शरीर में टूट-फूट की प्रक्रिया (Katabolic Actions) स्वाभाविक रूप से अधिक हुआ करती है, इनकी क्षतिपूर्ति हेतु वृद्धों को स्नेहपान कराना उचित होता है। कृश तथा अबल व्यक्तियों को बृंहणार्थ स्नेहन कराया जाता है। नेत्रों में रूक्षता के कारण ही दारुण प्रतिबोधन होता है, अतः इसकी चिकित्सा हेतु स्नेह का स्थानिक प्रयोग तथा आभ्यन्तर प्रयोग कराना लाभदायक होता है। नेत्रों के लिए अन्य स्नेहों की अपेक्षा घृत अधिक हितकर होता है।

स्नेहन के अयोग्य

—न त्वतिमन्दाग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः।
ऊरुस्तम्भातिसारामगलरोगगरोदरैः ॥ १० ॥
मूर्च्छाच्छर्द्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्च पीडिताः।
अपप्रसूता युक्ते च नस्ये बस्तौ विरेचने ॥ ११ ॥

जिनकी अग्नि अत्यन्त मन्द अथवा तीक्ष्ण हो, जो अत्यन्त स्थूल या दुर्बल हो, जो ऊरुस्तम्भ, अतिसाररोग, आमरोग, गलरोग, गरविष, उदररोग, मूर्च्छा, छर्दि, अरुचि, कफविकार, तृषा (पिपासा) रोग तथा मद्यजन्य मदात्यय से पीड़ित हों, जो अपप्रसूता (अकाल प्रसूता—अपरिपूर्ण मास प्रसूता) हो तथा जिनको नस्य, वस्ति अथवा विरेचन दिया गया हो, उनको स्नेहन नहीं कराना चाहिए।

उपर्युक्त प्रकार के रोगियों में सामान्यतया आम एवं अग्निमांद्य की प्रधानता रहती है तथा स्रोतोरोध रहता है, अतएव इस अवस्था में स्नेहपान कराने से कफ की वृद्धि होती है, फलस्वरूप व्याधि का बल बढ़ जाता है, अतएव इन रोगियों को स्नेहपान नहीं कराना चाहिए। अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति की जठराग्नि भी क्षीण रहती है, अतः पिया हुआ स्नेह नहीं पचता, इसलिए इन व्यक्तियों को भी स्नेहपान नहीं कराना चाहिए।

स्नेहों का प्रयोग

तत्र धीस्मृतिमेधाग्निकाङ्क्षिणां शस्यते घृतम्।
ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु ॥ १२ ॥
तैलं लाघवदाढर्ययोक्रूरकोष्ठेषु देहिषु।
वातातपाध्वभारस्त्रीव्यायामक्षीणधातुषु ॥ १३ ॥
रूक्षक्लेशक्षमात्यग्निवातावृतपथेषु च।
शेषौ वसा तु सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु च ॥ १४ ॥
तथा दग्धाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ।

धी (बुद्धि), स्मृति (पूर्वानुभूत स्मरण), मेधा (प्रज्ञा) तथा अग्नि (जठराग्नि) की अभिलाषा करने वालों के लिए घृत उत्तम है। ग्रंथिरोग, नाडीव्रण (Sinus), कृमिरोग, श्लेष्म-विकार, मेदोविकार, वातविकार, शरीर में लघुता एवं दृढ़ता चाहने वालों को तथा क्रूरकोष्ठ वालों के लिए तैल उत्तम है। वात (वायु), आतप (धूप), मार्ग चलने, भार ढोने, मैथुन तथा व्यायाम से धातुक्षय में, रूक्ष शरीर में, क्लेशक्षम (कष्ट सहने वालों) में, अत्यग्नि (तीक्ष्णाग्नि) में, वायु से स्रोतों के आवृत्त (अवरुद्ध) होने पर वसा तथा मज्जा स्नेह का प्रयोग उत्तम होता है।

संधि, अस्थि, मर्म-प्रदेश तथा कोष्ठ की पीड़ा में, दग्ध (जलने), आहत (चोट लगने), योनिभ्रंश, कर्णरोग एवं शिरोरोग में वसा का प्रयोग उत्तम होता है। सर्पि, तैल, वसा और मज्जा ये चारों स्नेह श्रेष्ठ हैं, तथापि इन चारों का अलग-अलग प्रयोग विभिन्न व्याधियों में होता है। ऐसा इसलिए है कि इन चारों स्नेहों के अपने-अपने विशिष्ट गुण होते हैं।

घृत रस, शुक्र एवं ओज की वृद्धि करता है, अतः तत्सम्बधित विकारों के प्रशमनार्थ एवं धी, धृति आदि के लाभार्थ इसका प्रयोग होता है। तैल वातरोगों के प्रशमनार्थ परमौषधि कहा गया है, अतः वातविकारों में उपर्युक्त औषधियों से सिद्ध तैल का प्रयोग उचित होता है। इसके साथ ही तैल उष्ण एवं कफ के लिए अवृद्धिकर होता है, अतः वह कफजन्य रोगों में भी प्रयुक्त होता है। शोधन होने से यह नाड़ीव्रण तथा योनि आदि के शोधनार्थ भी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार वसा एवं मज्जा आदि का प्रयोग भी किया जाता है।

ऋतुकाल भेद से स्नेह का प्रयोग

तैलं प्रावृषि वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे ॥ १५ ॥
सर्वं सर्वस्य च स्नेहं युञ्ज्याद्भास्वतिनिर्मले।
ऋतौ साधारणे—

प्रावृट् ऋतु (श्रावण मास) में तैल, वर्षा के अन्त शरद् ऋतु में घृत तथा माधव (वसन्त ऋतु) में वसा एवं मज्जा स्नेहन के लिए उत्तम होता है। सभी घृतादि स्नेहों का प्रयोग साधारण ऋतुओं (वसन्त, प्रावृट् तथा शरद्) में सूर्य के निर्मल होने पर (बादल आदि आकाश में न होने पर) करना चाहिए।

रात्रि एवं दिन में स्नेह का नियम

—दोषसाम्येऽनिलकफे कफे ॥ १६ ॥
दिवा निश्यनिले पित्ते संसर्गे पित्तवत्यपि।

दोषों की साम्यावस्था में वात-कफ या केवल कफ की प्राकृत एवं वैकृत अवस्था में दिन में स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। केवल वात या केवल पित्त अथवा पित्त-वात या पित्त-कफ के विकार में रात्रि में स्नेह का सेवन करना चाहिए।

रात्रि-दिन में स्नेह नियम का अपवाद

त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं च योजयेत् ॥ १७ ॥
उष्णेऽपि रात्रौ सर्पिश्च दोषादीन्वीक्ष्य चान्यथा।
निश्यश्नुते वातकफाद्रोगानहनि पित्ततः ॥ १८ ॥

आत्ययिक अवस्था में शीतकाल में भी दिन में तैल का प्रयोग करना चाहिए और उष्ण काल में रात्रि में घृत का प्रयोग करना चाहिए अथवा दोष-दूष्य-बल आदि का विचार कर उसके

अनुसार स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। रात्रि में स्नेह का उपयोग करने से वात-कफजन्य रोग तथा दिन में स्नेह का उपयोग करने से पित्तजन्य रोग होते हैं।

प्रावृट् ऋतु में वर्षा के आ जाने से वातावरण में स्वाभाविक रूप में कुछ शीतलता आ जाती है। इसलिए इस ऋतु में तैल का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक लाभकारी होता है, क्योंकि तैल स्वभावतः उष्ण गुण वाला होता है। शरद् ऋतु में पित्त का प्रकोप होकर तज्जन्य व्याधियों की उत्पत्ति होती है, अतः इस अवस्था में पित्त की परमौषधि घृत का स्नेहपान कराना उपयुक्त होता हैं। इसी प्रकार वसन्त ऋतु (वैशाख) आदानकाल का मध्य होता है, इस अवस्था में मनुष्यों की शक्ति में क्षीणता आती है, अतः वसा एवं मज्जा का उपयोग किया जाता है, क्योंकि ये दोनों अपेक्षाकृत अधिक शक्तिदायक होते हैं तथा शीत एवं उष्ण न होने से ऋतु के अनुकूल होते हैं।

स्नेहों की प्रयोग-विधि

युक्त्याऽवचारयेत्स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन बस्तिभिः।
नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्धकर्णाक्षितर्पणैः ॥ १९ ॥

स्नेह का प्रयोग मात्रा, काल, क्रिया, भूमि, देह एवं दोष को समझकर युक्तिपूर्वक करना चाहिए। स्नेह का सेवन भक्ष्य (भोज्य, लेह्य, पेय) आदि अन्न के साथ तथा वस्ति, नस्य, अभ्यंग, अंजन, गण्डूष, शिरोवस्ति, कर्णपूरण तथा नेत्रतर्पण द्वारा शरीर में करना चाहिए।

शरीर में स्नेह का प्रयोग किस-किस प्रकार से किया जाय, इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि आहार की विभिन्न कल्पनाओं के रूप में तथा वस्ति आदि क्रियाओं के माध्यम से स्नेह का शरीर में उपयोग करना चाहिए। जो केवल स्नेह का पान नहीं कर सकते, उनको विभिन्न प्रकार की भोज्य कल्पनाओं के साथ मिलाकर स्नेह का प्रयोग कराया जाता है; इसे ही स्नेह की विचारणा कहते हैं। चरकसंहिता में स्नेहों के प्रयोग हेतु चौबीस विधियाँ बतलाई गई हैं, जिन्हें 'चतुर्विंशति प्रविचारणा' कहा गया है—'प्रविचार्यतेऽवचार्यतेऽनुकल्पेनोपयुज्यतेऽनयेति प्रविचारणा ओदनादयः।' (चक्रपाणि) अर्थात् ओदन (भात) आदि विभिन आहार-कल्पनाओं में स्नेह मिश्रित कर खिलाना एवं वस्ति आदि के रूप में स्नेह का शरीर में प्रयोग करना ही विचारणा या अवचारणा है। वस्ति, नस्य, शिरोवस्ति आदि विभिन्न प्रक्रियाओं का विस्तृत वर्णन आगे के अध्यायों में किया जायेगा।

स्नेहों की विचारणा

रसभेदैककत्वाभ्यां चतुःषष्टिर्विचारणाः।
स्नेहस्यान्याभिभूतत्वादल्पत्वाच्च क्रमात्स्मृताः ॥ २० ॥

स्नेह की विचारणा चौंसठ प्रकार की होती है, इनमें मधुरादि रसों के तिरसठ भेदों के अनुसार तिरसठ प्रकार की तथा बिना किसी रस के साथ केवल स्नेह मात्र से देने से चौंसठ प्रकार की विचारणा होती है। रसों के अनुसार तिरसठ प्रकार की विचारणाओं में स्नेह अन्य द्रव्यों से अभिभूत होने से अल्पवीर्य वाला हो जाता है। केवल स्नेह अल्प मात्रा में प्रयुक्त होने से भी अल्पवीर्य वाला हो जाता है। दोनों के अल्पवीर्य होने से अच्छपेय उत्तम माना गया है।

पहले आहार की विभिन्न कल्पनाओं के अनुसार चौबीस प्रकार की विचारणाएँ बतलाई गईं हैं। इनके अतिरिक्त भी यहाँ चौंसठ प्रकार की विचारणाएँ—रस-भेदों के अनुसार तिरसठ तथा एक स्वतंत्र स्नेह के रूप में बतलाई गईं हैं।

अच्छपेय

यथोक्तहेत्वभावाच्च नाच्छपेयो विचारणा ।
स्नेहस्य कल्पः स श्रेष्ठः स्नेहकर्माशुसाधनात् ।। २१ ।।

उपर्युक्त रसों के मिश्रण का अभाव होने से अच्छपेय स्नेह विचारणा नहीं माना जाता है। अच्छपेय स्नेहपान का श्रेष्ठ कल्प है, क्योंकि वह स्नेहन कर्म को शीघ्र सम्पादित करता है।

अच्छपेय स्नेह को सर्वश्रेष्ठ स्नेह माना गया है, क्योंकि इसमें मात्र शुद्ध स्नेह का पान कराया जाता है, अन्य किसी कल्पना के साथ मिश्रित करके स्नेह नहीं दिया जाता। जिन व्यक्तियों को स्नेह सात्म्य होता है तथा जो बलवान् होते हैं एवं स्नेह को आसानी से पचा सकते हैं, उन्हें ही अच्छस्नेह पिलाना चाहिए। अच्छस्नेह का पान अत्युष्णकाल या अतिशीतकाल अथवा वर्षाकाल में नहीं कराना चाहिए। इस अच्छस्नेह से अतिशीघ्र शरीर का स्नेहन होता है। इससे शरीर को विटामिन 'ए' एवं 'डी' प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। शोष आदि विभिन्न व्याधियों में कुछ विशिष्ट प्रकार की मछलियों की वसाओं का प्रयोग आजकल आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में भी होता है। यह भी अच्छस्नेह का उदाहरण है। यह ध्यान देने की बात है कि अच्छस्नेह शुद्ध स्नेह होता है, अनेक प्रकार की औषधियों से संस्कारित नहीं होता।

स्नेह की मात्रा

द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यामैर्जीर्यन्ति या क्रमात् ।
ह्रस्वमध्योत्तमा मात्रास्तास्ताभ्यश्च कनीयसीम् ।। २२ ।।
कल्पयेद्वीक्ष्य दोषादीन्प्रागेव तु ह्रसीयसीम् ।
अज्ञातकोष्ठे हि बहुः कुर्याज्जीवितसंशयम् ।। २३ ।।

स्नेह की जो मात्रा दो प्रहर में जीर्ण हो जाती है, वह ह्रस्व मात्रा होती है। जो चार प्रहर में जीर्ण होती है, वह मध्यम होती है तथा जो आठ प्रहर में जीर्ण होती है, वह उत्तम मात्रा होती है। दोष, देश, काल एवं सात्म्य आदि का विचार करके ह्रसीयसी (न्यूनतम अर्थात् ऐसी मात्रा जो दो प्रहर से भी पहले पच जाती हो) को सबसे पहले प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि अज्ञात कोष्ठ वाले व्यक्ति में प्रयुक्त स्नेह की अधिक मात्रा जीवन को संशय में डाल देती है।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की अग्नि कितनी बलवान् है इसका पता न हो, तो सर्वप्रथम ह्रसीयसी मात्रा से ही स्नेह का प्रयोग आरम्भ करना चाहिए, जिससे पिया हुआ स्नेह पच जाय। इस प्रकार अग्नि की शक्ति को देखते हुए मात्रा को धीरे-धीरे बढ़ा कर उचित परिमाण तक लाना चाहिए।

ह्रस्व मात्रा

तत्र दुर्बलमन्दाग्निबालवृद्धसुखात्मकैः ।
अपथ्यरिक्तकोष्ठत्वं ज्वरातीसारकासिभिः ।। २४ ।।
ह्रस्वा पेया सुखा सा हि परिहारेऽनुवर्तते ।
चिराच्च बल्या न रुजे व्यापन्नाऽपि प्रकल्पते ।। २५ ।।

इन तीनों मात्राओं में दुर्बल, मंदाग्नि, बालक, वृद्ध, सुखात्मा (सुकुमार), अपथ्य सेवन से जिसका कोष्ठ रिक्त हो चुका हो, जो ज्वर, अतिसार एवं कासरोग से पीड़ित हों, इन सबको

ह्रस्वमात्रा का सेवन कराना चाहिए, क्योंकि ह्रस्वमात्रा सुखदायक होती है। उसके लिए किसी प्रकार के परिहार (परहेज) की जरूरत नहीं होती है और देर से शरीर को बलवान् बनाती है तथा किसी प्रकार का व्यापद् (रोग) होने पर भी कष्ट नहीं देती है।

मध्यम मात्रा

मेहोरुःपिटिकाकुष्ठवातशोणितपीडितैः ।
मध्यमा मृदुकोष्ठैश्च स्नेहनी स्यात्सुखेन सा ॥ २६ ॥
न बलक्षपणी मन्दविभ्रंशा शुद्धयेऽप्यलम् ।

प्रमेहरोग, ऊरुस्तम्भ, प्रमेहपिटिका, कुष्ठरोग तथा वातरक्त से पीड़ितों को तथा मदुकोष्ठ वालों को मध्यम मात्रा का सेवन कराना चाहिए। मध्यम मात्रा से सुखपूर्वक स्नेहन हो जाता है, बल का क्षय भी नहीं होता है, व्यापद् होने पर भी थोड़ा होता है तथा वह शोधन के लिए भी पर्याप्त होता है, अर्थात् समर्थ होता है।

उत्तम मात्रा

महादेहानलबलक्षुत्तृट्क्लेशसहिष्णुभिः ॥ २७ ॥
गुल्मोदावर्तवीसर्पसर्पदंशाभिपीडितैः ।
उन्मत्तैः कृच्छ्रमूत्रैश्च महती शीघ्रमेव सा ॥ २८ ॥
सर्वमार्गानुसारेण जयेद्व्याधीन्सुयोजिता ।

बृहद् शरीरवालों, तीक्ष्ण अग्निवालों तथा अधिक बलवालों, अधिक भूख, प्यास, क्लेश, कष्ट सहने वालों तथा गुल्मरोग, उदावर्त, विसर्प, सर्पदंश से पीड़ितों, उन्मन्त और मूत्रकृच्छ्र के रोगियों को स्नेह की महती (उत्तम) मात्रा देनी चाहिए। यह मात्रा शरीर के सभी मार्गों का अनुसरण करके भलीभाँति प्रयोग होने से रोगों को शीघ्र ही शान्त कर देती है।

उत्तम एवं मध्यम मात्रा में सेवन किया गया स्नेह परिमाण में अधिक होने के कारण संशमन तथा संशोधन कार्य करके शरीर से शीघ्र ही बाहर हो जाता है। इसी प्रकार अल्प मात्रा में प्रयुक्त किया गया स्नेह परिमाण में अपेक्षाकृत कम होने के कारण स्रोतों में जाकर स्थिर हो जाता है और अपने गुणों को भी स्थिर रखता है।

शोधन एवं शमन के लिए स्नेह-प्रयोग का विधान

ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने स्नेहोऽच्छः शुद्धये बहुः ॥ २९ ॥
शमनः क्षुद्वतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते ।

शोधन करने के लिए पहले दिन के अन्न के जीर्ण हो जाने पर अच्छस्नेह (केवल स्नेह) को उत्तम मात्रा में प्रयुक्त करना चाहिए। शमन के लिए पहले दिन का अन्न पच जाने के पश्चात् भूख लगने पर भोजन किये बिना मध्यम मात्रा में स्नेह को खाली पेट देना चाहिए।

चरकसंहिता में इस बात का उल्लेख मिलता है कि शमन के लिए स्नेह की उत्तम मात्रा, संशोधन के लिए स्नेह की मध्यम मात्रा तथा बृंहण के लिए स्नेह की ह्रस्व मात्रा का प्रयोग होता है।

स्नेह-भेद
आशय (योनि) भेद
स्थावर
फल (सरसों)
दारु-काष्ठ (चन्दन)
जंगम
दधि
क्षीर
संयोग भेद
यमक
त्रिवृत्
मांस
अस्थि
महान्
प्रयोग भेद
बाह्य
आभ्यन्तर
मात्रा भेद
ह्रस्वीयसी (न्यूनतम)
ह्रस्व
मध्यम
उत्तम
कर्म भेद
अभ्यंग
अञ्जन
गण्डूष
शिरोवस्ति
कर्णपूरण
नेत्रतर्पण
शोधन
शमन
बृंहण
भक्ष्य
वस्ति
नस्य

बृंहण के लिए स्नेह-प्रयोग का विधान

बृंहणो रसमद्याद्यैः सभक्तोऽल्पो हितः स च ॥ ३० ॥
बालवृद्धपिपासार्तस्नेहद्विण्मद्यशीलिषु ।
स्त्रीस्नेहनित्यमन्दाग्निसुखितक्लेशभीरुषु ॥ ३१ ॥
मृदुकोष्ठाल्पदोषेषु काले चोष्णे कृशेषु च ।
स्नेहः प्राग्भोजनात् कुर्यादूरुजङ्घाकटीबलम् ॥ ३२ ॥
वेगानुलोम्यमारोग्यमधःकायगदक्षयम् ।
मध्ये बृहत्वाग्निबलस्थिरताकुक्षिरुक्शमान् ॥ ३३ ॥
इन्द्रियस्थिरतामूर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगदक्षयम् ।

बृंहण करने वाले स्नेहों को मांसरस, मद्य तथा भोजन आदि के साथ थोड़ी मात्रा में देना चाहिए। यह थोड़ी मात्रा बालक, वृद्ध, पिपासा से पीड़ित, स्नेह से द्वेष करने वाले, मद्य सेवन करने वाले, नित्य स्त्री-सेवन करने वाले, नित्य स्नेह का सेवन करने वाले, मंदाग्नि वाले, सुखपूर्वक जीवन बिताने वाले, कष्टों से डरने वाले, मृदु कोष्ठ तथा अल्प दोष वाले, ग्रीष्मऋतु में तथा कृश शरीर वाले व्यक्तियों को देना चाहिए। भोजन से पहले लिया गया स्नेह ऊरु, जंघा और कटि में बल एवं वायु का अनुलोमन तथा आरोग्य करता है तथा शरीर के अधोभाग के रोगों को नष्ट करता है। भोजन के मध्य में लिया गया स्नेह शरीर को बृहत् (पुष्ट) करता है, अग्नि को बल देता है, शरीर में स्थिरता लाता है तथा उदर की पीड़ा को नष्ट करता है। भोजन के पश्चात् लिया गया स्नेह इन्द्रियों को स्थिरता प्रदान करता है तथा जत्रु से ऊपर के रोगों को नष्ट करता है।

रोगों के शमनार्थ जो स्नेह दिया जाता है, उसे शमन स्नेह कहते हैं। यदि शमनार्थ स्नेह देना हो, तो भूख लगने पर स्नेह का ही पान कराते हैं, भोजन नहीं देते। भूख की अवस्था में दिया हुआ यह स्नेह शारीरिक स्रोतों में शीघ्र व्याप्त होकर प्रकुपित दोषों का शमन करता है। इसे मध्यम मात्रा में ही दिया जाता है। स्नेह देने के एक-डेढ़ घंटे बाद भोजन करने की अनुमति दी जाती है। परन्तु बृंहण स्नेह मांसरस, मद्य अथवा अन्य आहार कल्पों के साथ ही दिया जाता है तथा अल्प मात्रा में दिया जाता है।

दोषानुसार स्नेह का सेवन

वाते सलवणं सर्पिः पित्ते केवलमिष्यते ॥ ३४ ॥
वैद्यो दद्याद् बहुकफे क्षारत्रिकटुकान्वितम् ।

वायु की अधिकता में घृत को नमक के साथ, पित्त की अधिकता में केवल शुद्ध घृत तथा कफ की अधिकता में यवक्षार तथा त्रिकटु मिलाकर घृत का सेवन कराना चाहिए।

स्नेहों का अनुपान

वार्युष्णमच्छेऽनुपिबेत्स्नेहे तत्सुखपक्तये ॥ ३५ ॥
आस्योपलेपशुद्ध्यै च तौवरारुष्करे न तु ।
उष्णोपचारः स्नेहे स्यादुष्णो ह्युष्णैर्विरुध्यते ॥ ३६ ॥

अच्छस्नेह पीने के पश्चात् उष्ण जल पीना चाहिए। स्नेह सुखपूर्वक पच जाता है और मुख की चिपचिपाहट दूर हो जाती है। तुवरक (चालमोगरा *Hydnocarpus laurifolia*) और

अरुष्कर (भिलावा *Semecarpus anacardium*) का स्नेह पीने के पश्चात् उष्ण जल का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि सभी स्नेहों में उष्ण उपचार किया जाता है, किंतु तुवरक (*Hydnocarpus laurifolia*) और भिलावा (*Semecarpus anacardium*) उष्ण होने से उसमें उष्ण उपचार विरुद्ध होता है।

स्नेहपान के पश्चात् कर्त्तव्य

ततो गुरुप्रावरणो निर्वातशयनस्थितः।
जरणान्तं प्रतीक्षेत तृष्यन्नुष्णाल्पवारिपः॥ ३७॥
शिरोरूक्भ्रमनिष्ठीवमूर्च्छासादारतिक्लमैः ।
जानीयाद् भेषजं जीर्यज्जीर्णं तच्छान्तिलाघवात्॥ ३८॥
अनुलोमानिलस्वास्थ्यक्षुत्तृष्णोद्गारशुद्धिभिः ।

स्नेहपान के पश्चात् भारी वस्त्र ओढ़कर वायु रहित स्थान में सोना चाहिए और स्नेह के पचने की प्रतीक्षा करनी चाहिए तथा प्यास लगने पर थोड़ा-थोड़ा गर्म जल पीना चाहिए। शिरोवेदना, भ्रम, निष्ठीवन (मुख से थूकना), मूर्च्छा, साद (शिथिलता), अरति (बेचैनी) तथा क्लम उत्पन्न होने पर स्नेह पच रहा है, ऐसा समझना चाहिए। जब शिरोवेदना आदि लक्षण शान्त हो जायें और हलकापन प्रतीत हो, तो स्नेह को पचा हुआ समझना चाहिए। स्नेह के पच जाने पर वायु का अनुलोमन, आरोग्य, भूख तथा प्यास का अनुभव तथा उद्गार की शुद्धि हो जाती है।

जीर्णाजीर्णविशङ्कायां पुनरुष्णोदकं पिबेत्॥ ३९॥
तेनोद्गारविशुद्धिः स्यात् ततश्च रुचिलाघवम्।

स्नेह जीर्ण हो गया है या नहीं, यदि ऐसी आशंका हो, तो पुनः उष्ण जल पिलाना चाहिए। इससे उद्गार की शुद्धि हो जाती है तथा इसके पश्चात् भोजन में रुचि और शरीर में हलकापन आ जाता है।

स्नेहपान काल में आहार

भोज्योऽन्नं मात्रया पास्यन् श्वः पिबन् पीतवानपि॥ ४०॥
द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करम्।

जिसे कल स्नेहपान कराना हो, अर्थात् स्नेहपान के एक दिन पूर्व अथवा जिस दिन स्नेहपान कराना हो अथवा स्नेहपान के एक दिन पश्चात् स्वल्प मात्रा में द्रव, उष्ण, अनभिष्यन्दि, नातिस्निग्ध (जो अत्यन्त स्निग्ध न हो) तथा असंकर (जो अनेक जाति का न हो) आहार लेना चाहिए।

स्नेहपान काल में विहार

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः॥ ४१॥
व्यायामवेगसंरोधशोकवर्षहिमातपान्।
प्रवातयानयानाध्वभाष्यात्यशनसंस्थितीः॥ ४२॥
नीचात्युच्चोपधानाहः स्वप्नधूमरजांसि च।
यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत्॥ ४३॥

सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधिक्षीणेषु च क्रमः ।
उपचारस्तु शमने कार्यः स्नेहे विरिक्तवत् ॥ ४४ ॥

स्नान एवं पान आदि में उष्ण जल का प्रयोग करें, ब्रह्मचर्य का पालन करें, रात्रि में ही सोयें (दिन में सोना तथा रात्रि में जागरण का निषेध है) । व्यायाम, मल-मूत्र आदि के उपस्थित वेग का निरोध, शोक, वर्षा, शीत, धूप, तेज वायु, घोड़ा-ताँगा आदि यान की सवारी, पैदल चलना, बहुत बोलना, अधिक भोजन, बहुत देर तक एक आसन में रहना, बहुत नीचा या बहुत ऊँचा सिरहाना रखना, दिन में सोना तथा धुआँ एवं धूल का परित्याग करना चाहिए, अर्थात् इनसे बचना चाहिए । इस प्रकार उपचार का सेवन एवं परित्याग जितने दिन स्नेहपान किया जाय, उतने दिन तथा उतने ही अगले और दिनों तक करना चाहिए । इस प्रकार का उपचार स्वेदन, वमन, विरेचन आदि में तथा व्याधि से क्षीण व्यक्तियों में भी होना चाहिए । शमन स्नेहपान में विरेचन के समान उपचार होना चाहिए ।

स्नेहपान के पूर्व मृदु औषधि

स्नेहस्य पानात्पूर्वं च दातव्यं मृदु भेषजम् ।
उत्तेजनं हुताशस्य कोष्ठलाघवकारि च ॥ ४५ ॥

स्नेहपान से पूर्व जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली तथा कोष्ठ में लघुता उत्पन्न करने वाली मृदु भेषज देनी चाहिए ।

ऊपर के श्लोकों में स्नेहपान के पूर्व तथा स्नेहपान के पश्चात् किये जाने वाले कर्मों का विवेचन किया गया है । यदि इन पथ्यापथ्यों का पालन न किया जाय, तो स्नेहव्यापद् होकर जीवन संशय में पड़ सकता है । प्रायः स्नेहपान के पश्चात् उष्णोदक का पान सभी स्थान पर बतलाया गया है । स्नान में भी उष्ण जल का ही प्रयोग करना चाहिए । ठण्डा पानी अभिष्यंदी होने के कारण स्रोतोवरोध कर देता है । फलस्वरूप स्नेह के पाक एवं शोषण में अनावश्यक विलम्ब होता है । लघु आहार जैसे यवागू एवं यूष आदि का ही सेवन करें । शरीर के तीन उपस्तंभों में से एक—ब्रह्मचर्य पालन करने का भी निर्देश है, क्योंकि यह ओज, बल, वर्ण, मेधा आदि की वृद्धि करता है । दिवास्वप्न कफकारक होता है, इससे बचना चाहिए । वेगविधारण से वायु का प्रकोप होता है, अतः इसका भी परित्याग करना चाहिए । जोर से बोलने पर वाग्ग्रह होता है, अतः जोर से बोलने का भी निषेध है । क्रोध, शोक आदि मानसिक भाव भी शरीर की पाचन आदि विभिन्न क्रियाओं पर प्रभाव डालते हैं, अतः इनसे बचना चाहिए । साथ ही अन्य उपर्युक्त पथ्यापथ्यों का भी ध्यान रखना चाहिए ।

स्नेहपान की अवधि

त्र्यहमच्छं मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत् ।
सम्यक्स्निग्धोऽथवा यावदतः सात्मी भवेत्परम् ॥ ४६ ॥
सात्मीभूतो हि कुरुते न मलानामुदीरणम् ।
अतियोगेन वा व्याधीन् यथाम्भो ह्यतियोजनात्[1] ॥ ४७ ॥
विहत्य सेतुं मृत्कोष्ठात् स्रवति क्षपयन्मृदम् ।
स्नेहोऽप्यग्निं तथा हृत्वा स्रवति क्षपयंस्तनुम् ॥ ४८ ॥

---

१. 'यथाम्बोघोतियोजनात्' इति पाठान्तरम् ।

मृदुकोष्ठ में तीन दिन, क्रूरकोष्ठ में सात दिन अथवा जितने दिनों में सम्यक् स्नेहन हो जाये, तब तक अच्छस्नेह का पान कराना चाहिए। इसके पश्चात् स्नेह सात्म्य हो जाता है। स्नेह सात्म्य हो जाने के पश्चात् मल आदि का शोधन नहीं करता है अथवा स्नेह का अतियोग रोगों को उत्पन्न करता है। जैसे बहुत दूर तक फैला हुआ जल का वेग पुल को तोड़कर मिट्टी के कोष्ठ से बहने लगता है, वैसे ही स्नेह भी अधिक मात्रा में होने पर अग्नि को नष्ट करके शरीर को क्षीण करता हुआ अतिसार उत्पन्न करता है।

स्नेह के सम्यक्, हीन तथा अतियोग

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्।
मृदुस्निग्धाङ्गताग्लानि स्नेहोद्वेगोऽथ लाघवम् ॥ ४९ ॥
विमलेन्द्रियता सम्यक् स्निग्धे रूक्षे विपर्ययः ।
पाण्ड्वामयाङ्गसदनघ्राणवक्त्रगुदस्रवाः ॥ ५० ॥
गुददाहरुचिच्छर्दिर्मूर्च्छातृष्णाप्रवाहिकाः।
[1]शुष्कोद्गारभ्रमश्वासकासाः स्नेहातिसेवनात् ॥ ५१ ॥

स्नेह का सम्यग्योग होने पर वायु का अनुलोमन हो जाता है, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, पुरीष स्निग्ध और ढीला हो जाता है, शरीर मृदु एवं स्निग्ध हो जाता है, ग्लानि नष्ट हो जाती है, स्नेहोद्वेग (स्नेह का प्रद्वेष) हो जाता है, शरीर हलका हो जाता है और श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ विमल हो जाती हैं। स्नेह के अयोग या हीनयोग होने पर उपर्युक्त लक्षणों से विपरीत रूक्षता आदि हो जाती है। स्नेह का अतियोग होने पर पाण्डुरोग, अंगों में शिथिलता, नासास्राव, मुखस्राव, गुदस्राव, गुददाह, अरुचि, वमन, मूर्च्छा, तृष्णा, प्रवाहिका, खट्टी डकार, भ्रम, श्वास एवं कास होता है।

स्नेह का मिथ्यायोग

अमात्रयाऽहितोऽकाले मिथ्याहारविहारतः।
स्नेहः करोति शोफार्शस्तन्द्रानिद्राविसंज्ञताः ॥ ५२ ॥
कण्डूकुष्ठज्वरोत्क्लेशशूलानाहबलक्षयान् ।
जठरेन्द्रियदौर्बल्यजाड्यामस्तम्भवाग्ग्रहान् ॥ ५३ ॥
तांस्तान्स्वदोषहेतूत्थान्पाण्ड्वादींश्चातियोजनात् ।

अमात्रा (अधिक मात्रा या हीन मात्रा) में तथा अकाल में स्नेहपान करने पर मिथ्या आहार-विहार के कारण शोफ, अर्श, तंद्रा, निद्रा, विसंज्ञता (संज्ञाहीनता–मूर्च्छा), कण्डू, कुष्ठ, ज्वर, उत्क्लेश, शूल, आनाह, बलक्षय, अग्निमांद्य, इन्द्रिय-दौर्बल्य, जड़ता, आमदोष, ऊरुस्तम्भ, वाग्ग्रह (वाणी में अवरोध) तथा स्नेह के अति सेवन से भिन्न-भिन्न दोषों से होने वाले पाण्डु आदि रोगों को उत्पन्न करता है।

स्नेहव्यापद् की चिकित्सा

क्षुत्तृष्णोल्लेखनस्वेदरूक्षपानान्नभेषजम् ॥ ५४ ॥
तक्रारिष्टखलोद्दालयवश्यामाककोद्रवाः।

---

१. 'शुक्तोद्गार' इति पाठान्तरम्।

पिप्पलीत्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलु ॥ ५५ ॥
यथास्वं प्रतिरोगं च स्नेहव्यापदि साधनम् ।

स्नेहपान से उत्पन्न व्यापद् में भूखा रहना (भोजन-निवृत्ति), तृष्णा रोकना (पिपासा-निग्रह), उल्लेखन (वमन), स्वेदन, रूक्ष पान, रूक्ष अन्न, रूक्ष भेषज, तक्रारिष्ट, खल, उद्दालक (शालि-विशेष), यव (*Hordeum vulgare*), श्यामाक (तृणधान्य विशेष *Panicum frumentaceum*), क्रोद्रव (कोदों *Paspalum crobiculatum*), पिप्पली, (*Piper longum*), त्रिफला, मधु, पथ्या (हरीतकी *Terminalia chebula*), गोमूत्र, गुग्गुलु (*Commiphora mukul*) का सेवन करना चाहिए तथा रोगों के अनुसार उनकी चिकित्सा करनी चाहिए ।

स्नेहव्यापद् तभी होते हैं, जब रोगी अथवा वैद्य अथवा दोनों ही प्रमादवश उचित रीति से स्नेह का प्रयोग न करें या स्नेहकर्म के पूर्व अथवा पश्चात् किये जाने वाले नियमों का पालन न करें । स्नेह के प्रकार का उचित निर्णय न करना, मात्रा या काल के अनुसार स्नेहन न करना अथवा स्नेहनोत्तर उष्णोदक का पान न करना आदि से ये व्यापद् उत्पन्न होते हैं ।

इन व्यापदों की चिकित्सा में उष्णोदक मुख्य होता है, क्योंकि यह स्नेहपाचन, आमपाचन और वातानुलोमन करता है । इसके अतिरिक्त तक्र, अरिष्ट आदि उपर्युक्त औषधियों द्वारा एवं वमन आदि कर्मों द्वारा उनकी शान्ति करनी चाहिए ।

स्नेह के हीनयोग या अयोग से रूक्षता

विरूक्षणे लङ्घनवत् कृतातिकृतलक्षणम् ॥ ५६ ॥

विरूक्षण (स्नेह के हीनयोग अथवा अभाव) में लंघन के समान लक्षण होते हैं और उसी के समान चिकित्सा करनी चाहिए ।

स्नेह का पित्तप्रकृति पर प्रभाव

स्नेहेन पैत्तिकस्याग्निर्यदा तीव्रतरीकृतः ।
स्नेहमाशु जरां नीत्वा पुनरोजोऽभितश्चरन् ॥ ५७ ॥
उदीरयेत्सोपसर्गां पिपासामस्य चाधिकाम् ।
सोसूंस्त्यजेद्यद्युदकं न पिबेदाशु शीतलम् ॥ ५८ ॥
शीतसेकावगाहान्वा तत्तृष्णापीडितो भजेत् ।
स्नेहाग्निना दह्यमानः स्वविषेणेव पन्नगः ॥ ५९ ॥

जब कभी स्नेहपान से पित्त प्रकृति वाले मनुष्य की जठराग्नि अत्यन्त तीक्ष्ण हो जाती है, तब या अग्नि स्नेह को शीघ्र जीर्ण (पचा) करके पुनः ओज को जला कर सम्पूर्ण शरीर में घूमती हुई ज्वर आदि महारोग तथा प्राणनाशक पिपासा को उत्पन्न करती है; इस दशा में यदि रोगी तत्काल शीतल जल नहीं पीता है, तो उसकी मृत्यु हो जाती है । शीतल जल से सिंचन अथवा अवगाहन भी करना चाहिए । अन्यथा तृष्णा से पीड़ित मनुष्य स्नेहाग्नि से जलता हुआ उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त होता है, जिस प्रकार क्रोधादि के कारण अपने ही विष की वृद्धि से सर्प मर जाता है ।

स्नेहपान के अजीर्ण से उत्पन्न तृष्णा का उपाय

अजीर्णबलवत्यां तु शीतैर्दिह्याच्छिरोमुखम् ।
छर्दयेत्तदशान्तौ च पीत्वा शीतोदकं पुनः ॥ ६० ॥

रूक्षान्नमुल्लिखेद्भुक्त्वा तादृश्यां तु कफानिले ।
समदोषश्च निःशेषं स्नेहमुष्णाम्बुनोद्धरेत् ॥ ६१ ॥
ततो दोषातिबलतः पूर्वोक्तं च विधिं श्रयेत् ।

यदि स्नेहपान के अजीर्ण से बलवान् प्यास उत्पन्न हो जाय, तो शीतल जल से शिर और मुख को धोना तथा स्नेह का वमन कर देना चाहिए। यदि इससे भी शान्ति न हो, तो पुनः शीतल जल पीकर और रूक्ष अन्न खाकर वमन कराना चाहिए। कफ एवं वात प्रकृति वाले व्यक्ति अथवा समदोष वाले व्यक्ति को प्यास की अधिकता में उपर्युक्त प्रकार की तृष्णा हो, तो उष्ण जल पिलाकर समस्त स्नेह को वमन द्वारा निकाल देना चाहिए। इसके पश्चात् दोष आदि के बल का विचार करके पूर्वोक्त विधि का सेवन करना चाहिए।

पित्त की अधिकता में घृत सेवन का निषेध

न सर्पिः केवलं पित्ते पेयं सामे विशेषतः ॥ ६२ ॥
सर्वं ह्यनुरुजं देहं हत्वा संज्ञां च मारयेत् ।

पित्त की प्रधानता में अच्छस्नेह नहीं पीना चाहिए। विशेष रूप से साम पित्त में अच्छस्नेह नहीं पीना चाहिए, क्योंकि सामपित्त में आम स्नेह से मिलकर पित्त की सहायता से स्रोतों को बन्द करके संज्ञा को नष्ट करके मार डालता है।

स्नेह के पश्चात् स्वेद आदि का विधान

स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् स्वेदमाचरेत् ॥ ६३ ॥
स्निग्धस्त्र्यहं स्थितः कुर्याद्विरेकं वमनं पुनः ।
एकाहं दिनमन्यच्च कफमुत्क्लेश्य तत्करैः ॥ ६४ ॥
तिलमाषदधिक्षीरगुडमत्स्यरसादिभिः ।

स्नेहन के पश्चात् स्वेदन करना चाहिए। स्वेदन काल में स्निग्ध द्रव एवं उष्ण अन्न तथा धन्व (जांगल) पशु-पक्षियों के मांसरस का भोजन करना चाहिए। स्नेहन करने के तीन दिन के पश्चात् चौथे दिन विरेचन करना चाहिए। यदि वमन कराना हो, तो स्नेहन के एक दिन बाद स्निग्ध, द्रव, उष्ण, जांगल मांसरस का सेवन कराकर दूसरे दिन तिल (*Sesamum indicum*), उड़द (*Phaseolus radiatus*), दधि, क्षीर, गुड़, मछली, मांसरस आदि के द्वारा कफ का उत्क्लेशन कराकर वमन कराना चाहिए।

मांसल आदि पुरुषों में स्नेह का विधान

मांसला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नयः ॥ ६५ ॥
स्नेहोचिताश्च ये स्नेह्यास्तान्पूर्वं रूक्षयेत् ततः ।
संस्नेह्य शोधयेदेवं स्नेहव्यापन्न जायते ॥ ६६ ॥
अलं मलानीरयितुं स्नेहश्चासात्म्यतां गतः ।

मांसल (अधिक मांस वाले), मेदुर (मेदस्वी), अधिक कफ वाले, विषम अग्नि वाले अथवा प्रतिदिन स्नेह का अभ्यास करने वाले व्यक्तियों को यदि संशोधन से पूर्व स्नेहन कराना हो, तो स्नेहन के पूर्व रुक्षण कराना चाहिए और रूक्षण के पश्चात् स्नेहन करके शोधन कराना चाहिए। इस प्रकार करने से स्नेहजन्य व्याधियाँ नहीं होती हैं। स्नेह असात्म्य होने पर भी पुरीष

आदि मलों को बाहर निकालने में पर्याप्त होता है। अर्थात् स्नेह सात्म्य हो जाने पर पुरीषादि मलों को बाहर निकालने में पर्याप्त नहीं होता।

सद्यः स्नेह योग

बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहारासहिष्णुषु ॥ ६७ ॥
योगानिमाननुद्वेगान् सद्यःस्नेहान् प्रयोजयेत्।
प्रभूतमांसनिःक्वाथान् जाङ्गलानूपजान् रसान् ॥ ६८ ॥
स्नेहभृष्टेषु वा तेषु यवागूं नाऽतिसंहताम्।
तिलचूर्णं च सस्नेहं फाणितं कृशरां तथा ॥ ६९ ॥
तिलकाम्बलिकं भूरिस्नेहं सर्पिष्मतीमपि।
पेयां सुखोष्णां क्षौरेयीं पात्रे वा ससिताघृते ॥ ७० ॥
सर्पिर्लवणयुक्तं वा सद्योदुग्धं तथा पयः।
पेयां च पञ्चप्रसृतां स्नेहैस्तण्डुलपञ्चमैः ॥ ७१ ॥

बालक, वृद्ध आदि तथा स्नेहपान के परिहार (परहेज) को सहन न कर सकने वाले व्यक्तियों के लिए स्नेहोद्वेग (स्नेह से द्वेष) न करने वाले एवं सद्यः स्नेहन करने वाले निम्नलिखित योगों का सेवन करना चाहिए—

१. अत्यधिक मांस से निर्मित मांसरस।
२. जांगल तथा आनूपदेशीय प्राणियों का मांसरस।
३. मांसरसों के साथ स्नेह से भुनी हुई पतली यवागू।
४. स्नेह से युक्त तिल (*Sesamum indicum*) का चूर्ण।
५. घृत, तैल आदि से युक्त राब।
६. घी से युक्त कृशरा (खिचड़ी)।
७. अत्यधिक स्नेह से मिश्रित तिलकाम्बलिक।
८. अत्यधिक घी मिश्रित गर्म दूध की पेया।
९. मिश्री अथवा घी वाले पात्र में धारोष्ण (तुरन्त का दुहा हुआ) दूध।
१०. घी-लवण मिश्रित या सद्योदुग्ध (धारोष्ण दुग्ध)।
११. पंच प्रसृता पेया— घृत, तैल, वसा, मज्जा तथा चावल को मिलाकर बनायी गयी पेया।

पायसं माषमिश्रं च बहुस्नेहसमायुतम्।
तैलशुण्ठीगुडसुरं[1] जीर्णे मांसरसाशिनः ॥ ७२ ॥
स्नेहं वैकं सुराऽच्छेन दध्नो वा सगुडं सरम्।
वसां वराहजां सर्पिः पिप्पलीं लवणं तिलान् ॥ ७३ ॥
पिप्पलीं लवणं स्नेहाँश्चतुरो दधिमस्तुकम्।
दध्ना सिद्धं व्योषगर्भं धात्रीद्राक्षारसे घृतम् ॥ ७४ ॥
यवकोलकुलत्थाम्बुक्षारक्षीरसुरादधि ।
घृतं च सिद्धं तुल्यांशं सद्यःस्नेहनमुत्तमम् ॥ ७५ ॥

---

१. 'गुडरसम्' इति पाठान्तरम्।

सिद्धांश्च चतुरः स्नेहान् बदरत्रिफलारसैः ।
योनिशुक्रामयहरान्सद्यःस्नेहान्प्रयोजयेत् ॥ ७६ ॥
लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम् ।
तद्धि विष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ॥ ७७ ॥

दूध से सिद्ध, बहुस्नेहयुक्त, माष (*Phaseolus radiatus*) मिश्रित ओदन, घी आदि किसी एक स्नेह में तैल, शुंठी (*Zingiber officinale*) तथा गुडयुक्त सुरा मिलाकर लेना चाहिए। इसके जीर्ण होने पर मांसरस का सेवन करना चाहिए अथवा सुरा के साथ अच्छस्नेह का पान करना चाहिए अथवा गुड़ के साथ दही पीयें। सुअर (*Sus cristasus*) की वसा को घी, पिप्पली (*Piper longum*), लवण और तिल (*Sesamum indicum*) के साथ खायें। पिप्पली (*Piper lougum*), लवण, चारों स्नेह (घृत-तैल-वसा-मज्जा) तथा दही का पानी (मस्तु) मिलाकर सेवन करें। धात्री (आँवला *Emblica officinalis*) एवं द्राक्षा (*Vitis vinifera*) मिश्रित रस में दही, त्रिकटु (शुंठी-मरिच-पिप्पली) मिलाकर सिद्ध किये घी का सेवन करें। यव (*Hordeum vulgare*), कोल (बेर *Zizyphus jujuba*), कुलत्थ (*Dolichos biflorus*), जल, यवक्षार, दुग्ध, सुरा, दही तथा इन सबके समान भाग में घृत लेकर सिद्ध किया गया स्नेह सद्यः स्नेहकारक होता है। बेर (*Zizyphus jujuba*) और त्रिफला रस में सिद्ध किये गये चारों स्नेह योनिरोग एवं शुक्र-विकार को नष्ट करते हैं तथा तत्काल स्नेहन करता है। लवणयुक्त स्नेह तत्काल स्नेहन कर देता है, क्योंकि लवल अभिष्यन्दि, स्निग्ध, शुष्क एवं व्यवायि होता है।

कतिपय योगों का निषेध

गुडानूपामिषक्षीरतिलमाषसुरादधि ।
कुष्ठशोफप्रमेहेषु स्नेहार्थं न प्रकल्पयेत् ॥ ७८ ॥
त्रिफलापिप्पलीपथ्यागुग्गुल्वादिविपाचितान् ।
स्नेहान् यथास्वमेतेषां योजयेदविकारिणः ।
क्षीणानां त्वामयैरग्निदेहसन्धुक्षणक्षमान् ॥ ७९ ॥

कुष्ठ, शोफ एवं प्रमेह रोग में स्नेहन के लिए गुड़, आनूपदेशीय प्राणियों का मांस, दूध, तिल (*Sesamum indicum*), माष (उड़द *Phaseolus radiatus*), सुरा और दही का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उपर्युक्त कुष्ठ आदि रोगों में स्नेहन के लिए त्रिफला, पिप्पली (*Piper longum*), पथ्या (हरीतकी *Terminalia chebula*), गुग्गुल (*Commiphora mukul* Engl.) आदि के योग से सिद्ध स्नेहों का प्रयोग कराना चाहिए, जो जठराग्नि को प्रदीप्त तथा शरीर को पुष्ट करते हैं।

स्नेह सेवन से लाभ

दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः ।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहोपसेवी पुरुषः प्रदिष्टः ॥ ८० ॥

इति स्नेहविधिर्नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

स्नेहों का सेवन करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, कोष्ठ (उदर) शुद्ध होता है, रसादि धातुएँ तरुण बनी रहती हैं। शरीर बल, वर्ण एवं कान्ति से युक्त होता है। इन्द्रियाँ दृढ़ होती हैं। वृद्धावस्था देर से आती है तथा स्नेहोपसेवी मनुष्य सौ वर्ष तक जीता है।

इस प्रकार 'स्नेहविधि' नामक पञ्चविंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

स्नेहनकर्म का मुख्यकर्म एवं पूर्वकर्म दोनों रूपों में प्रयोग किया जाता है। घृत, मज्जा, वसा तथा तैल—ये चार श्रेष्ठ स्नेह माने गये हैं। इनमें भी घृत को सर्वोत्तम कहा गया है, क्योंकि वह संस्कारों से गुणों का अनुवर्तन करता है। यह धी, स्मृति, मेधा तथा अग्नि की वृद्धि हेतु भी उत्तम कहा गया है। शुद्ध घी धातुओं को पोषण प्रदान करता है। शुद्ध घी से विटामिन 'ए', 'डी' 'ई' और 'के' प्राप्त होता है। घृत-सेवन से व्यक्ति दीर्घायु होता है तथा प्रतिभा एवं ज्ञानशक्ति का विकास होता है। स्नेह प्रयोग की अनेकों विधियाँ जैसे—भक्ष्य, वस्ति, नस्य, अभ्यंग, अंजन, गण्डूष, शिरोवस्ति, कर्णपूरण तथा नेत्रतर्पण इत्यादि बतलायी गयी हैं।

षड्विंशोऽध्यायः

अथातः स्वेदविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयः महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'स्वेदविधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

चरकसंहिता में यह वर्णन आया है—'स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्।' (च० सू० १३।९९), अर्थात् पहले स्नेहन करना चाहिए, तत्पश्चात् स्वेदन करना चाहिए। अतएव पहले स्नेहन का फिर स्वेदन का वर्णन किया गया है। स्वेद का शाब्दिक अर्थ होता है पसीना। अतः स्वेदन का तात्पर्य स्वेद उत्पन्न करने की प्रक्रिया से हुआ। विभिन्न कृत्रिम उपायों द्वारा शरीर में स्वेद उत्पन्न करने की क्रिया को ही स्वेदन कहा जाता है। चरकसंहिता में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्।' (च० सू० २२।११) अर्थात् शरीर का स्तम्भ (जकड़ाहट), गौरव (भारीपन) एवं शीत (शरीर का ठंडापन) दूर करके स्वेद को उत्पन्न करने की प्रक्रिया को स्वेदन कहते हैं।

'स्विद्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय करके 'णिच्' और 'अच्' प्रत्यय के द्वारा 'स्वेद' शब्द की निरुक्ति होती है। इसके दो अर्थ होते हैं—(१) पाक करना (पकाना) एवं (२) शरीर से निकला पसीना। व्यवहार में भी चावल आदि पकाने की क्रिया को 'स्विन्न' करना कहते हैं। स्वेदित मनुष्य को भी स्विन्न कहते हैं। क्रियाशारीर की दृष्टि से स्वेद को मेदोधातु का मल कहा गया है—'मलः स्वेदस्तु मेदसः' (च० चि० १५।१८)। इसके साथ ही यह शरीर के क्लेद को धारण करता है—'स्वेदस्य क्लेद विधृतिः'। (अ० हृ० सू० ११।५)। स्वेद केश और रोमों को धारण भी करता है। शरीर से स्वेद का निकलना एक प्राकृत क्रिया है। अस्वेद एवं अतिस्वेद ये विकृत अवस्थाएँ हैं। पंचकर्म के पूर्वकर्मों में स्नेहन के बाद स्वेदन का ही स्थान है। यह स्वेदन क्रिया सार्वदैहिक एवं स्थानिक दोनों प्रकार से की जाती है। जहाँ पर सार्वदैहिक रूप से स्वेदन कराया जाता है, वहाँ शरीर में त्वग्गत रक्तसंवहन (Peripheral Blood Circulation या Cutaneous Blood Circulation) को बढ़ा दिया जाता है, जिससे ये रक्तवाहिनियाँ (Peripheral Blood Vessels) विवृत (Dilate) हो जाती हैं। फलस्वरूप स्वेदन (Sweating) प्रारम्भ हो जाता है। जहाँ स्थानिक रूप से स्वेदन क्रिया की जाती है, जैसे शोफ आदि में; वहाँ भी यही प्रयोजन रहता है कि उस स्थान-विशेष का स्वेदन (Fomentation) करके, उस स्थान का रक्तसंवहन बढ़ा दिया जाय। व्यावहारिक भाषा में इसे सेंक करना भी कहा जाता है। सार्वदैहिक स्वेदन को 'सर्वाङ्गस्वेद' तथा स्थानिक स्वेदन को 'एकाङ्गस्वेद' कहते हैं। स्वेदन-प्रक्रिया भी दो विधियों से की जाती हैं—(१) अग्नि के सीधे सम्पर्क से तथा (२) बिना अग्नि के सम्पर्क से। पहले को अग्निस्वेद तथा दूसरे को निरग्निस्वेद कहते हैं। इसी प्रकार रूक्षस्वेद (Dry Fomentation) तथा स्निग्धस्वेद (Wet Fomentation) भेद से भी यह दो प्रकार का होता है। रूक्षस्वेद में बालुका, वस्त्र, सैन्धव लवण तथा हथेली आदि को गर्म करके इनसे स्वेदन किया जाता है, जब कि स्निग्धस्वेद में मांस एवं किलाट (खोया) आदि की पोटली को गर्म करके स्वेदन किया जाता है। सारांश यह कि सूक्ष्म मार्गों में लीन दोषों का विलयन करके द्रव रूप में इन्हें बाहर निकालने की प्रक्रिया को ही स्वेदन कहते हैं।

स्वेद के भेद

चतुर्विधोऽग्निस्वेदो भवति । तापोपनाहद्रवोष्मभेदेन ॥ ३ ॥

अग्निस्वेद चार प्रकार का होता है—(१) तापस्वेद, (२) उपनाहस्वेद, (३) द्रवस्वेद तथा (४) ऊष्मस्वेद ।

तापस्वेद

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्यफालवालुकावस्त्रघटिकादिभिः साक्षादग्निना च प्रयोक्तव्यः ॥ ४ ॥

इनमें तापस्वेद अग्नि से तप्त पाणितल (हथेली), कांस्यपात्र, फाल (लोहे का गोला), बालुका (बालू की पोटली), वस्त्र तथा घटिका (घड़ा) आदि से तथा साक्षात् अग्नि के द्वारा किया जाता है, अर्थात् अग्नि के सामने बैठकर किया जाता है ।

इसे हम रूक्षस्वेद (Dry Fomentation) कह सकते हैं ।

उपनाहस्वेद

उपनाहस्तु[1] सर्वगन्धधान्यसर्षपकिण्ववचादेवदारुरास्नैरण्डमूलमधुकशताह्वासुराकिट्टादिवातहरद्रव्यचूर्णैर्यवगोधूमशकलैरानूपासृक्पित्तशिरःपादामिषवेसवारैश्च । तथा श्लेष्मसंसृष्टे वायौ सुरसादिभिः । पित्तसंसृष्टे च पद्मकादिभिः । पृथक् सहितैर्वा । क्षीरशुक्तधान्याम्ललवणमस्तुप्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः साल्वणाभिधानैः बहुशः प्रदिह्योष्णवीर्यापूतिमृदुरोमचर्मभिस्तदभावे घनवातहरपत्राविककौशेयैरुपनद्धमङ्गमहःस्थितं विदाहपरिहारार्थं निशि मुञ्चेत् । दिवा वा निशि बद्धम् । दोषदेशकालवशेन वा ॥ ५ ॥

उपनाह (उष्ण पिण्डबंध) स्वेद, सर्वगंध द्रव्य (कूठ, अगरु, तगर आदि), धान्य (धनिया *Coriandrum sativum*), सर्षप (सरसों *Brassica compestris*), किण्व (*Yeast*), वच (*Acorus calamus*), देवदारु (*Cedrus deodara*), रास्ना (*Pluchea lanceolata*), एरण्डमूल (*Ricinus communis*), मधुक (मुलहठी *Glycyrrhiza glabra*), शताह्वा (सौंफ *Foeniculum vulgare*), सुराकिट्ट आदि वातहर द्रव्यों का चूर्ण या यव (*Hordeum vulgare*), गेहूँ (*Triticum vulgare*) का चूर्ण अथवा आनूप पशु-पक्षियों का रक्त, पित्त, शिर, पैर के मांस का वेशवार (सूक्ष्म छिन्न मांस या कीमा) से स्वेदन किया जाता है । इसी प्रकार कफ से वायु के मिलने पर सुरसादि गण की औषधियों से उपनाह करना चाहिए तथा पित्त से वायु के मिलने पर पद्मकादि गण की औषधियों से स्वेदन करना चाहिए । उपर्युक्त द्रव्यों को पृथक्-पृथक् अथवा मिलाकर दूध, शुक्त (सिरका), धान्याम्ल (कांजी), लवण, मस्तु (दही का पानी) में गाढ़ा पीसकर उसमें थोड़ा स्नेह मिलाकर गर्म करके साल्वणादि गण की औषधियों से बार-बार लेपन करके उसके ऊपर उष्णवीर्य, दुर्गन्ध-रहित, कोमल रोमों वाले चमड़े से अथवा चमड़े के अभाव में वातहर मोटे पत्तों से अथवा आविक (कम्बल) अथवा कौशेय (रेशमी

---

१. (क) 'उपनह्यते वध्यते चर्मपट्टादिनेत्यन्वर्थनामास्योपनाहः' इति अरुणदत्तः ।
(ख) 'उपनहनमुपनाहो बन्धनमित्यर्थः' । (चन्द्रनन्दन)
(ग) 'उपनाह उष्णपिण्डबन्धः' इतीन्दुः ।

२. 'सुराकिट्टं जगलः' इतीन्दुः ।

वस्त्रों) से दिन में बाँध देना चाहिए। उपर्युक्त बाँधे हुए अंग में विदाह न होने पाये, इसलिए इसे रात्रि में खोल देना चाहिए अथवा रात्रि में बाँधे हुए उपनाह को दिन में खोल देना चाहिए अथवा दोष, देश, काल के अनुसार शीघ्र या देर से खोल देना चाहिए।

उपनाह का शाब्दिक अर्थ बंधन से होता है। उपचार (चिकित्सा) के लिए किसी स्थान-विशेष पर औषधियों को पीसकर बाँधे जाने को उपनाह कहते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का पुल्टिस (Poultice) भी यही है। यह उस अंग-विशेष का स्वेदन भी करता है तथा वातशामक भी होता है। इसे साग्नि (अग्नि) तथा निरग्नि (अनग्नि) दोनों स्वेदों में लिया गया है। यहाँ इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि दिन में बाँधे गये उपनाह को रात्रि में तथा रात्रि में बाँधे गये उपनाह को दिन में खोल देना चाहिए, अन्यथा विदाह का भय रहता है। उपनाहस्वेद में प्रयुक्त होने वाली औषधियों को पीसकर गर्म करके बाँधा जाता है तथा बिना गर्म किए भी बाँधा जाता है। इसलिए इसका साग्नि तथा निरग्नि दोनों प्रकार के स्वेदों में समावेश किया गया है।

इन्दु ने सुराकिट्ट को जगल (मद्य के नीचे का गाढ़ा भाग) कहा है। चरक ने जगल का गुण इस प्रकार बतलाया है—'शूलप्रवाहिकाटोपकफवातार्शसां हितः। जगलो ग्राहिरूक्षोष्णः शोफघ्नो भक्तपाचनः'॥ (च० सू० २७।१८१)

द्रवस्वेद

द्रवस्वेदस्तु द्विविधः परिषेकोऽवगाहश्च। तत्र शिग्रुवरणाम्रातकमूलकसर्षपसुरसार्जकवासावंशाश्मन्तकाशोकशिरीषार्ककरञ्जैरण्डमालतीपत्रभङ्गपूतीकदशमूलादिवातहरैः द्रव्यैः मस्तुसलिलसुराक्षीरशुक्तादिक्वाथैः[1] पूर्वोक्तैश्च यथादोषं पृथक्सहितैर्वा कुम्भीवर्षणिकाः प्रणालीर्वा पूरयित्वा वातहरसिद्धस्नेहाभ्यक्तमनभ्यक्तं वोपविष्टं किलिञ्जे वा शयानमेकाङ्गे सर्वाङ्गे वा वस्त्रावच्छन्ने परिषेचयेत्। तैरेवाद्भिः पूर्णे महति कटाहे कुण्डे द्रोण्यां वाऽवगाहयेत्॥ ६॥

द्रवस्वेद दो प्रकार का होता है—(१) परिषेक एवं (२) अवगाह। इनमें परिषेक नामक स्वेदन में शिग्रु (शोभांजन *Moringa oleifera*), वरणा (*Crataeva nural*), आम्रातक (आमड़ा *Spondias pinnata*), मूलीबीज (*Raphanus sativus*), सर्षप (सरसों *Brassica campestris*), सुरसा (तुलसी *Ocimum sanctum*), अर्जक (*Ocimum basilicum*), वासा (*Adhota vasica*), वंश (बाँस *Bambusa bambos*), अश्मन्तक (पाषाण भेद *Ficus rumphii* Blume.), अशोक (*Saraca indica*), शिरीष (*Albizzia lebbeck*), अर्क (मदार *Calotropis procera*), करंज (*Pongamia pinnata*), एरण्ड (*Ricinus communis*), मालतीपत्र (चमेली का पत्ता *Jasmine grandiflorum*), भंग (*Cannabis indica*), पूतीक (पूतिकरंज *Caeselpinia bonducella*), दशमूल आदि वातहर द्रव्यों, मस्तु, पानी, सुरा, दूध, शुक्त (सिरका) आदि का क्वाथ बनाकर पूर्वोक्त अगरु (*Aquilaria agallocha*), तगर (*Valeriana wallichii*) तथा कुष्ठादि उपनाहस्वेद में कहे गये द्रव्यों को वातादि दोषानुसार लेकर सबको पृथक्-पृथक् अथवा एक में मिलाकर क्वाथ बना लें। इस क्वाथ को घड़ा अथवा वर्षणिका (जिसमें वर्षा के समान जल गिरता है–फव्वारा) प्रणाली में भरकर परिषेचन करना चाहिए। परिषेचन से पूर्व वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध स्नेह से अभ्यंग कर लेना चाहिए अथवा आवश्यक न होने पर अभ्यंग न करें। रोगी को चटाई पर अथवा तख्त पर बैठाकर उसके एक अंग को अथवा

१. 'शुक्तादिभिः क्वथितैः' इति पाठान्तरम्।

सम्पूर्ण अंगों को वस्त्र से ढँककर परिषेचन करना चाहिए। उपर्युक्त क्वाथ बड़े कड़ाहे, कुण्ड अथवा द्रोणी को पूर्ण करके अवगाहन करना चाहिए।

इसे हम स्निग्धस्वेद (Wet Fomentation) कह सकते हैं, क्योंकि इसमें स्वेदन द्रव्यों का क्वाथ प्रयुक्त होता है। इस उष्ण क्वाथ अथवा किसी भी द्रव पदार्थ को किसी अंग पर डालने को या सम्पूर्ण शरीर पर डालने को 'परिषेक' कहते हैं तथा उसी द्रव में बैठ या लेट जाने को 'अवगाहन' कहते हैं। इस द्रव स्वेद का ही रूपान्तर आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में उष्णस्नान (Warm Bath), अत्युष्ण स्नान (Hot Bath), अत्युष्ण पादस्नान (Hot Foot Bath) तथा अवगाहन (Tub Bath) भी है।

ऊष्मस्वेद

ऊष्मस्वेदः पुनरष्टधा भिद्यते—पिण्डः संस्तरो नाडी घनाश्मा कुम्भी कूपः कुटी जेन्ताकश्च ॥ ७ ॥

ऊष्मस्वेद आठ प्रकार का होता है; यथा—(१) पिण्डस्वेद, (२) संस्तरस्वेद, (३) नाडीस्वेद, (४) घनाश्मस्वेद, (५) कुम्भीस्वेद, (६) कूपस्वेद, (७) कुटीस्वेद तथा (८) जेन्ताकस्वेद।

पिण्डस्वेद

तत्र मृत्कपालपाषाणलोष्टलोहपिण्डानग्निवर्णान् सन्दंशेन गृहीत्वाऽम्भस्यम्ले वा निमज्जयेत्। तैरार्द्राविकवस्त्रेण वेष्टितैः श्लेष्ममेदोभूयिष्ठं सरुजमङ्गं ग्रन्थिमद्वा स्वेदयेत्। पांशुसिकतागवादिपुरीषधान्यबुसपुलाकपललैर्वाऽम्लोत्क्वथितैः पूर्ववद्वेष्टितैर्गवादिशकृताऽऽर्द्रेण पिण्डीकृतेनोपनाहद्रव्योत्कारिकाकृशरामांसपिण्डैर्वा वातरोगेष्विति पिण्डस्वेदः। स एव सङ्करास्यः ॥ ८ ॥

इनमें पिण्डस्वेद मृत्कपाल (मिट्टी के घड़े का टुकड़ा), पाषाण (पत्थर), लोष्ठ (मिट्टी का ढेला), लोहपिण्ड को अग्नि में गर्म करके संदंश यन्त्र (सँड़सी) से पकड़ कर जल अथवा कांजी में डुबो देना चाहिए। फिर इसको भीगे हुए ऊनी वस्त्र में लपेट कर कफ एवं मेद से पीड़ित अंग अथवा ग्रन्थि का इससे स्वेदन करना चाहिए। पाशु (धूल), सिकता (बालुका), गवादि पुरीष (गोबर आदि), धान्यबुस (धान का तुष या भूसा), पुलाक (अच्छी तरह से पकाया हुआ अन्न), तथा पलल (मांस) को अम्ल में पका कर पूर्ववत् कम्बल आदि में लपेट कर स्वेदन करना चाहिए। गाय आदि के गीले पुरीष (गोबर) से पिण्ड बनाकर स्वेदन करना अथवा उपनाह स्वेद में कहे गये द्रव्यों की उत्कारिता, कृशरा (खिचड़ी) या मांस के वेशवार से वातरोगों में स्वेदन करना पिण्डस्वेद है। इसी को संकरस्वेद भी कहते हैं।

यहाँ पिण्ड का तात्पर्य पोटाली से है। उष्ण किये गये द्रव्यों की पोटली बनाकर सेंकने की क्रिया को पिण्डस्वेद कहते हैं। यह सामान्यतया कफज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्तरस्वेद

यथार्हस्वेदद्रव्याणि पिहितमुखायां कुम्भ्यां[1] सम्यगुपस्वेद्य निवातशरणशयनस्थे किलिञ्जे प्रस्तीर्याविककौशेयवातहरपत्रान्यतमोत्तरप्रच्छदे रौरवाजिनप्रावारादिभिः स्ववच्छन्नं स्वेदयेदिति संस्तरस्वेदः ॥ ९ ॥

---

१. 'पिहितमुखायामुखायां' इति पाठान्तरम्।

दोषादि की अपेक्षा से एरण्डमूल (Root of *Ricinus communis*) तथा मांस आदि स्वेदन द्रव्यों को बन्द मुख वाली कुम्भी (पतीली या हाँड़ी) में रखकर उसके मुख को बन्द करके उबालना चाहिए। तत्पश्चात् वायु रहित गृह में बिछी चटाई पर उपर्युक्त वातहर द्रव्यों को फैला दें। इसके ऊपर कम्बल, रेशमी वस्त्र या एरण्ड आदि के वातहर पत्तों को बिछा दें। उस पर रोगी को लिटाकर रौरव (चर्मपट्टिका), कम्बल, रेशमी वस्त्र आदि ओढ़ा दें। इस प्रकार के स्वेद को संस्तरस्वेद कहते हैं।

कुछ आचार्यों ने इसे प्रस्तरस्वेद की संज्ञा दी है—'प्रस्तीर्यते इति प्रस्तरः' अर्थात् स्वेदन द्रव्यों को प्रस्तीर्ण (फैला) कर उस पर व्यक्ति को लिटाकर जो स्वेदन-क्रिया की जाती है, उसे प्रस्तर (संस्तर) स्वेद कहते हैं।

नाडीस्वेद

पूर्ववदेव वोपस्वेद्योखामुखेनऽन्यामुखां नाडीं मूलच्छिद्रप्रमाणपार्श्वच्छिद्रामभिसन्धायावलिप्य च पार्श्वच्छिद्रस्थया नाड्या शरेषिकावंशदलकिलिञ्जकरञ्जपत्रान्यतमकृतया गजाग्रहस्तसंस्थानया व्यामदीर्घयाऽध्यर्द्धव्यामदीर्घया वा स्वायामचतुर्भागाष्टभागपरिणाहमूलाग्रस्रोतसा सर्वतो वातहरपत्रसंवृतछिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया सुखोपविष्टस्य स्वभ्यक्तप्रावृतेऽङ्गे वाष्पमुसहरेत्। वाष्पो ह्यनृजुगामी विहितचण्डवेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाडीस्वेदः॥ १०॥

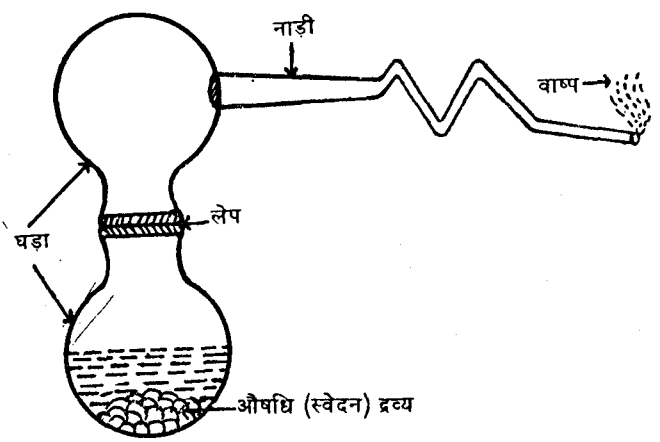

नाडीस्वेद

पूर्ववत् संस्तरस्वेद के समान स्वेदन द्रव्यों को पतीली (या हाँडी) आदि में रखकर इसके ऊपर दूसरी उलटी हाँडी को रखकर, दोनों के मुख को मिट्टी आदि से जोड़ दें तथा ऊपर की हाँडी के पार्श्व में एक छिद्र कर दें। इस छिद्र में सर (मूँज *Saccharum arundinaceum*), ईषिका (सरकण्डा), बाँस (*Bambusa bambos*) के पत्ते, किलिंजक या करंज (*Pongamia pinnata*) के पत्ते से बनाई हुई नाड़ी जोड़ दें। यह नाड़ी हाथी की सूँड़ के समान जड़ में मोटी तथा अग्रभाग में पतली हो। इसकी लम्बाई एक व्याम (साढ़े तीन हाथ) अथवा आधा व्याम तथा इस नाड़ी के अग्रभाग की चौड़ाई लम्बाई के आठवें भाग के बराबर हो तथा मूल लम्बाई के चौथे भाग के बराबर होना चाहिए। मूल से लेकर अग्रभाग तक यदि कोई छिद्र हो, तो वातनाशक

एरण्ड (*Ricinus communis*) आदि के पत्ते से उसे बाँध देना चाहिए। यह नाड़ी दो या तीन जगह के टेढ़ी होनी चाहिए। इस नाड़ी से निकले वाष्प द्वारा सुखपूर्वक बैठे अथवा लेटे हुए अच्छी प्रकार अभ्यंग करके (प्रावृत्त) वस्त्र आदि ओढ़े हुए रोगी के शरीर का स्वेदन करना चाहिए। स्वेदन करते समय रोगी का शरीर कम्बल आदि से ढँका होना चाहिए। नाड़ी दो-तीन स्थानों पर झुकी होने से वाष्प टेढ़ा होकर निकलता है, जिससे उसका प्रचण्ड वेग कम हो जाता है, फलस्वरूप त्वचा नहीं जलती तथा सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है। इस प्रकार किया गया स्वेदन नाड़ीस्वेद कहा जाता है।

घनाश्मस्वेद

पुरुषाया‌ममात्रमधिकं वा घनं समं च शिलातलं भूप्रदेशं वा वातहरदारुदीप्तेनाग्निना सर्वतस्तापयित्वाऽग्निमपोह्योष्णोदकाम्लादिभिरभ्युक्ष्य यथोक्तप्रच्छदे संस्तरवत्स्वेदयेदिति घनाश्मस्वेदः ॥ ११ ॥

रोगी की लम्बाई एवं चौड़ाई के बराबर या कुछ अधिक लम्बी-चौड़ी, मोटी एवं समतल शिलातल (पत्थर) या भूमि-प्रदेश को वातहर लकड़ियाँ जलाकर गर्म करें। गर्म हो जाने पर आग को वहाँ से हटाकर उस पर गर्म पानी या कांजी का छिड़काव करें। इसके पश्चात् संस्तर स्वेदों में कहे गये कम्बल आदि बिछाकर तथा ओढ़कर रोगी को लिटा दें तथा संस्तर स्वेदन विधि से स्वेदन करें। यह घनाश्मस्वेद कहलाता है।

इसे शिलास्वेद या अश्मघन स्वेद भी कहते हैं।

कुम्भीस्वेद

पूर्ववत्स्वेदद्रव्याणि कुम्भ्यामुत्क्वाथ्योपश्लिष्योपविष्टस्तद्वदूष्माणं गृह्णीयात्। भूमौ वा तां निखाय तदूर्ध्वमासनं शयनं वा नातिघनप्रच्छदं परितः प्रलम्बमानकुथाकम्बलगोणिकं निधाय तत्रस्थस्योष्माणं गृह्णतः कुम्भ्यामग्निवर्णानयोगुडानुपलाँश्च शनैर्निमज्जयेदिति कुम्भीस्वेदः ॥ १२ ॥

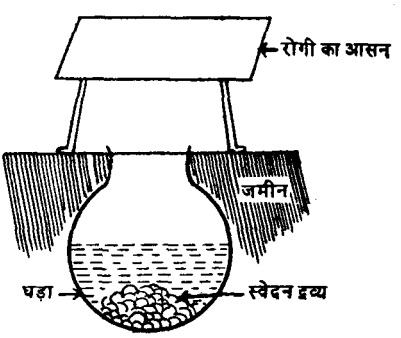

कुम्भीस्वेद

नाड़ीस्वेद के समान स्वेदन द्रव्यों को कुम्भ (हाँडी या घड़े) में रखकर उबालें। जब उसमें से भाप निकलने लगे, तब रोगी उस भाप के पास बैठकर भाप को ग्रहण करे अथवा वातहर क्वाथ से पूरे घड़े को जमीन में गाड़ कर उसके ऊपर बैठने के लिए कोई आसन या सोने के लिए कोई तख्त रख दें, जिसके ऊपर बहुत मोटा बिस्तर नहीं होना चाहिए। इसके ऊपर स्वेदन लेने वाला रोगी कम्बल आदि ओढ़ कर बैठ जाय तथा वाष्प को ग्रहण करे। इस हाँडी या घड़े में लोहे

के गर्म (तप्त) गोले को धीरे-धीरे डालते रहना चाहिए, जिससे भाप निकलती रहे तथा क्वाथ गर्म रहे। यह कुम्भीस्वेद की विधि है।

कूपस्वेद

शयनस्याधो विस्तारद्विगुणखाते कूपे वातहरदारुकरीषान्यतरपूर्णदग्धे विगतधूमे स्वास्तीर्णशयनस्थं स्वेदयेदिति कूपस्वेदः ॥ १३ ॥

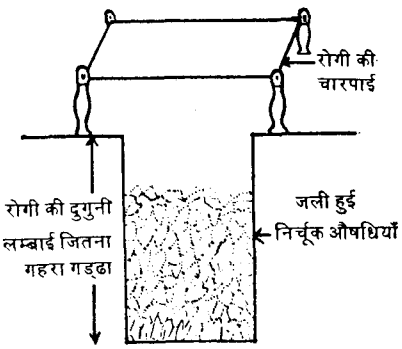

कूपस्वेद

शयन करने पर रोगी की जितनी लम्बाई हो; उसका दुगुना गहरा गड्ढा खोदकर वातहर लकड़ियों तथा गोबर से पूर्ण करके इसको जला दें। जब यह जल जाय तथा धुआँ निकलना बन्द हो जाय, तब इसके ऊपर चारपाई बिछाकर रोगी लेट जाय और कम्बल आदि से ओढ़ कर स्वेदन करे। यह कूपस्वेद है।

कुटीस्वेद

कुटीं नात्युच्चविस्तारां वृत्तामच्छिद्रामुपनाहकल्कघनप्रदिग्धकुड्यां सर्वतो विधूम-प्रदीप्तखदिराङ्गारपूर्णहसन्तिकासमूहपरिवृतां विधाय तन्मध्ये च शय्यां तत्रस्थं स्वेदये-दिति कुटीस्वेदः ॥ १४ ॥

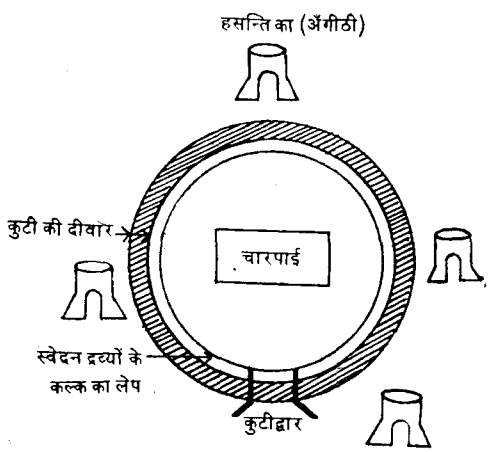

कुटीस्वेद

इसमें न बहुत ऊँची, न बहुत विस्तृत, गोल (कोणरहित) एवं छिद्ररहित कुटी बनाएँ। उसकी दीवालों पर अन्दर की ओर उपनाह स्वेदोक्त द्रव्यों के कल्क से मोटा लेप कर दें और दीवालों के पास चारों ओर खदिर (*Acacia catechu* Willd.) की लकड़ी से प्रदीप्त एवं निर्धूम हसन्तिका (अँगीठियाँ) रख दें। इस कुटी के मध्य में चारपाई बिछाकर उस पर रोगी बैठकर या लेटकर स्वेदन करे। यह कुटीस्वेद है।

यह कुटी प्रशस्त, निर्वात एवं समतल भूमि में बनानी चाहिए। स्वेदन से पूर्व वातघ्न द्रव्यों के तैल से अभ्यंग करा देने से रोगी का सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है।

जेन्ताकस्वेद

अथ जेन्ताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत। पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा दिशि गुणवति प्रशस्तभूमिभागे देशे कृष्णमृत्तिके सुवर्णवर्णमृत्तिके वा परिधापुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सुतीर्थे समसुविभक्तभूमिभागे सप्ताष्टौ वाऽरत्नीः परिक्रम्योदकात्प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाऽभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्। उत्सेधविस्ततः परमरत्नयः षोडश समन्तात्सुवृत्तं मृत्कर्मसम्पन्नमनेकवातायनम्। अस्य च कूटागारस्यान्तः समन्ततो भित्तिमरत्निविस्तारोच्छ्रायां पिण्डिकां कारयेदाकपाटात्। मध्ये चास्य कूटागारस्य [1]किष्कुमुक्तं द्विपुरुषप्रमाणं मृन्मयं कन्दुसंस्थानं बहुसूक्ष्मछिद्रमङ्गारकोष्ठकस्तम्भं सापिधानं कारयेत्। तं च खादिराणामाश्वकर्णानां वा काष्ठानां पूरयित्वा दीपयेत्। स यदा जानीयात्साधुदग्धानि काष्ठानि विगतधूमान्यवतप्तं सर्वमग्निना तदाग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा युक्तमिति। तत्रैनं वातहराभ्यङ्गाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्। अनुशिष्यात्सौम्य प्रविश कल्याणायारोग्याय च। प्रविश्य चैनां पिण्डिकामारुह्य पार्श्वापरपार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः। न च त्वरया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डिकैषा विमोक्तव्याऽऽप्राणोच्छ्वासात्। भ्रश्यानो ह्यतः पिण्डिकावकाशाद् द्वारमनधिगच्छन् स्वेदमूर्च्छापरीततया सद्यःप्राणान् जह्याः। तस्मात्पिण्डिकामेनां न कथञ्चन मुञ्चेथाः। त्वं यदाजानीयाः विगताविष्यन्दमात्मानं सम्यक्प्रस्रुतस्वेदपिच्छं सर्वस्रोतोविमुक्तं लघुभूतमपगतविबन्धस्तम्भसुप्तिवेदनागौरवमिति। ततः पिण्डिकानुसारेण द्वारं प्रपद्येथाः। निष्क्रम्य च चक्षुषोः परिपालनार्थमतिस्विन्नोऽपि न सहसा शीतोदकमनुप्रविशेथाः। सम्यक्स्विन्नस्त्वपगतसन्तापक्लमो मुहूर्तात्सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिषिक्तोऽग्नीयादिति जेन्ताकः स्वेदः॥ १५॥

जेन्ताकस्वेद करने का इच्छुक वैद्य सर्वप्रथम भूमि की परीक्षा करे। पूर्व अथवा उत्तर दिशा में गुणवान् एवं प्रशस्त भू-भाग में एक कूटागार बनायें, जहाँ की मिट्टी काली या स्वर्ण जैसी हो। यह स्थान किसी परिवाप (लंबे ताल), पुष्करिणी (ऐसा तालाब जिसमें कमल के फूल खिले हों) या अन्य किसी जलाशय के दक्षिण अथवा पश्चिम किनारे पर हो और इसका मुँह घाट की ओर हो। समतल एवं सुविभक्त भूमि हो और ऐसा स्थान जलाशय से सात या आठ अरत्नि (बँधी मुट्ठी) हट कर पूर्वमुख या उत्तरमुख अथवा घाट की तरफ हो। इसकी उँचाई (लम्बाई) या चौड़ाई सोलह अरत्नि हो और यह चारों ओर से गोल हो, मिट्टी से लिपा-पुता हो तथा अनेक वातायन (झरोखों) वाला हो। इस कूटागार के अंदर दीवार के पास एक अरत्नि ऊँची

१. 'किष्कुः हस्तः' इति चक्रपाणिः। चरकसंहिता में 'चतुष्क किष्कुः' कहा गया है, अतः यहाँ भी चार हाथ प्रमाण में लेना चाहिए।

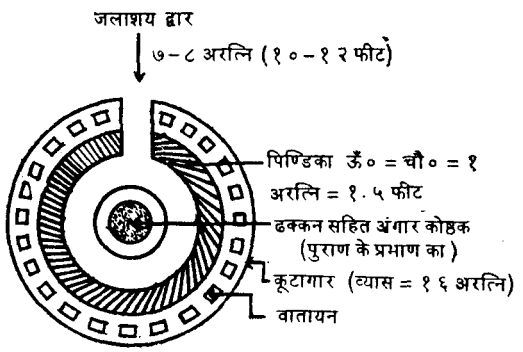

जेन्ताकस्वेद

एवं चौड़ी पिण्डिका दरवाजे तक होनी चाहिए। इस कूटागार के मध्य में पिण्डिका (किष्कु) से चार हाथ दूरी पर पुरुष (रोगी) के प्रमाण के बराबर मिट्टी का गोलाकार ढक्कन सहित अनेक छिद्रों वाला अंगारकोष्ठ बनाना चाहिए। इस अंगारकोष्ठ में खदिर (*Acacia catechu*) अथवा अश्वकर्ण (शाल *Shorea robusta*) आदि की लकड़ियाँ भरकर आग लगा दें। जब यह समझ लें कि लकड़ी ठीक से जल गयी है, धुआँ निकलना बंद हो गया है, अग्नि के अंगारे से अंगार-कोष्ठक तप्त हो गया है और कूटागार स्वेदन योग्य ऊष्मा से युक्त हो गया है, तब उसमें रोगी को वातहर द्रव्यों के तैल से अभ्यंग कराकर, शरीर को कपड़े से ढँक करके कूटागार में प्रवेश करावें। प्रवेश के समय रोगी को उपदेश दें कि हे सौम्य ! कल्याण एवं आरोग्य के लिए इस घर में प्रवेश करो तथा इसमें प्रवेश करके पिंडिका पर चढ़ करके एक पार्श्व से पुनः दूसरे पार्श्व (करवट) बदलते हुए सुखपूर्वक शयन करो। यदि पिंडिका पर शयन करने पर स्वेद या मूर्च्छा से पीड़ित हो जाओ, तब भी जब तक शरीर में प्राण और श्वास रहे, तब तक इस पिंडिका को कभी मत छोड़ना, क्योंकि इस पिंडिका से गिर जाने पर पसीना और मूर्च्छा से पीड़ित होने के कारण इसके दरवाजे को न मिलने से शीघ्र ही प्राणों को छोड़ दोगे। इसलिए इस पिंडिका को कभी मत छोड़ना। जब तुम अपने को अविष्यन्द (कफदोष) से रहित समझ लो, शरीर से पसीने की चिपचिपाहट निकल चुकी हो, शरीर के सभी स्रोतस् खुल गये हैं, शरीर में लघुता (हलकापन) आ गया है, विबन्ध दूर हो गया है, स्तब्धता, सुप्ति (शून्यता), वेदना, भारीपन दूर हो गया है, तब पिंडिका के अनुसार द्वार पर आ जाना और बाहर निकल कर अति स्विन्न होने पर भी (बहुत स्वेद आने पर भी) नेत्रों की रक्षा के लिए सहसा शीतल जल में प्रवेश नहीं करना। इस प्रकार सम्यक् प्रकार से स्वेदन हो चुकने पर शरीर का संताप एवं क्लम (थकान) नष्ट हो जाने पर थोड़ी देर रुककर इच्छानुसार सुखोष्ण जल से स्नान करके भोजन करना चाहिए। यही जेन्ताकस्वेद है।

दोषभेद से स्वेद-विधान

तेषां विशेषतस्तापोष्मस्वेदौ कफे प्रयोजयेत्। उपनाहमनिले किञ्चित्पित्तसंसृष्टेऽन्यतरस्मिन् द्रवमिति ॥ १६ ॥

इन चारों प्रकार के स्वेदों में तापस्वेद और उष्णस्वेद का कफजनित रोगों में प्रयोग करना चाहिए। वायुजनित रोगों में उपनाहस्वेद करना चाहिए और कफ या वायु का पित्त से कुछ संसर्ग होने पर द्रवस्वेद का प्रयोग करना चाहिए।

अनाग्नेय स्वेद

अनाग्नेयं पुनर्मेदःकफावृत्ते वायौ। निवातसदनगुरुप्रावरणमुहुर्मद्यपानव्यायामाक्षुदातपनियुद्धाध्वभारहरणामर्षभयैः। उपनाहं च पित्तान्वये पूर्वोक्तेनैव विधिनाऽग्निरहितमिति ॥ १७ ॥

मेदोधातु, कफ तथा वायु से आवृत होने पर अनाग्नेय (अग्नि के योग के बिना) स्वेद करना चाहिए। जैसे—(१) निवातसदन (वायु रहित स्थान में सोना), (२) गुरुप्रावरण (मोटे या भारी वस्त्र धारण करना), (३) मुहुर्मुहुः मद्यपान (बार-बार मद्य पीना), (४) व्यायाम, (५) क्षुधा (भूख), (६) आतप (धूप), (७) नियुद्ध (बाहुयुद्ध आदि), (८) अध्व (पैदल चलना या मार्ग-गमन), (९) भारहरण (भार ढोना), (१०) अमर्ष (क्रोध) और (११) भय। इसके अतिरिक्त वायु एवं पित्त के मिले होने पर पूर्वोक्त उपनाह द्रव्यों को अग्नि में बिना गर्म किये बाँधना चाहिए।

अनाग्नेय स्वेद का तात्पर्य ऐसी विधि से है, जिसमें इस प्रकार से स्वेदन किया जाय कि अग्नि का सीधा सम्पर्क भी न हो और स्वेदन हो जाय। एतदर्थ उपर्युक्त ग्यारह विधियाँ बतलाई गई हैं। चरकसंहिता में उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त उपनाह को भी अनाग्नेय स्वेद में गिना गया है तथा साग्नि स्वेद में भी इसका समावेश किया गया है। चक्रपाणि ने इसकी टीका करते हुए कहा है—'उपनाहो द्विविधः, साग्निरनग्निश्च, तत्र यः साग्निरुपनाहः स सङ्कर एव बोद्धव्यः' (चक्रः)। तात्पर्य यह है कि राई, सर्षप आदि उष्ण द्रव्यों को पीसकर बिना गर्म किये जब उपनाह के रूप में बाँध दिया जाता है, तब उसे 'अनग्नि उपनाह' तथा जब विभिन्न औषधियों को गर्म करके उसे बाँधा जाय, तब उसे 'साग्नि उपनाह' कहते हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त ग्यारह विधियाँ ऐसी हैं, जिनके कारण शरीर से अग्नि के सीधे सम्पर्क के बिना भी स्वेद शरीर से बाहर आता है।

भय एवं क्रोध आदि मानसिक अवस्थाओं में पैरासिम्पेथेटिक नर्वस् (Parasympathetic Nerves) की उत्तेजना (Stimulation) होती है, फलस्वरूप स्वेद आदि का निकलना होता है। अतः रोगी को भय दिखलाने से एवं क्रोध दिलाने से भी उसका स्वेदन किया जा सकता है। परन्तु ये विधियाँ कुछ विशिष्ट रोगों जैसे उन्माद एवं अपस्मार में ही की जाती हैं, सर्वत्र नहीं।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में Ultraviolet Rays, Infra-red Rays आदि किरणों द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, उसे भी हम अनाग्नेय स्वेद में समाविष्ट कर सकते हैं।

स्वेदन में नियम

भवति चात्र—

निवातेऽन्तर्बहिःस्निग्धो जीर्णान्नः स्वेदमाचरेत्।
व्याधिव्याधितदेशर्तुवशान्मध्यवरावरम् ॥ १८ ॥
कफार्तो रूक्षणं रूक्षो रूक्षस्निग्धं कफानिले।
आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयाश्रिते ॥ १९ ॥
रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः ।
अल्पं वङ्क्षणयोः स्वल्पं दृङ्मुष्कहृदये न वा ॥ २० ॥
पद्मोत्पलादिभिः सक्तुपिण्ड्या वाऽऽच्छाद्य चक्षुषी।

---

१. 'बहुमद्यपानम्' इति पाठान्तरम्। २. 'भारभरण' इति पाठान्तरम्।

शीतैर्मुक्तावलीपद्मकुमुदोत्पलभाजनैः ॥ २१ ॥
मुहुः करैश्च तोयार्द्रैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत् ।

स्वेदन निवात (वायु-रहित) स्थान में करना चाहिए। स्वेदन के पूर्व स्नेहपान द्वारा अन्तःस्नेहन तथा अभ्यंग द्वारा बाह्यस्नेहन कर लेना चाहिए। अन्न के पच जाने पर स्वेदन करना चाहिए। व्याधि (रोग), व्याधित (रोगी), देश, ऋतु की अपेक्षा से मध्यम, वर (उत्कृष्ट) अथवा अवर (हीन) स्वेदन करना चाहिए। कफ से पीड़ित पुरुष में रूक्षस्वेद तथा कफ और वायु के संसर्ग में रूक्ष एवं स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करना चाहिए। आमाशयगत वायु में सर्वप्रथम रूक्षस्वेद तत्पश्चात् स्निग्धस्वेद करना चाहिए। पक्वाशयगत कफ में पहले स्निग्धस्वेद तत्पश्चात् रूक्षस्वेद करना चाहिए। यह नियम स्थान के विचार से किया गया है। आमाशय कफ का स्थान है, वहाँ वायु आगंतुक रूप से आ गई है, इसलिए पहले आगंतुक की अपेक्षा स्थानीय दोष का अधिक ध्यान रखना चाहिए (इसी तरह पक्वाशय वायु का स्थान है)। वंक्षण-प्रदेश (Inguinal Region) में अल्प स्वेदन करना चाहिए। दृक् (नेत्र), मुष्क (वृषण) और हृदय-प्रदेश पर अत्यंत अल्प स्वेदन करना चाहिए अथवा इन पर स्वेदन नहीं करना चाहिए। नेत्रों को कमल (*Nelumbo nucifera*) एवं उत्पल (*Nymphae stellata*) आदि पुष्प अथवा सत्तू की पिंडी से स्वेदन करना चाहिए। जिसका स्वेदन किया जा रहा हो, ऐसे पुरुष के हृदय को शीतल मोतियों की माला, पद्म (कमल *Nelumbo nucifera*), कुमुद (*Nymyhaea alba*), उत्पल (नील-कमल *Nymphaea stellata*), शीतल जल से भरे हुए भाजन (पात्र) अथवा शीतल जल से भीगे हाथों से बार-बार स्पर्श करते रहना चाहिए।

सम्यक् स्विन्न के लक्षण तथा इसके अतियोग

शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽङ्गानां च मार्दवे ॥ २२ ॥
स्याच्छनैर्मृदितः स्नातस्ततः स्नेहविधिं भजेत् ।
पित्तास्रकोपतृण्मूर्च्छास्वराङ्गसदनभ्रमाः ॥ २३ ॥
सन्धिपीडा ज्वरः श्यावरक्तमण्डलदर्शनम् ।
स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च तत्र स्तम्भनमौषधम् ॥ २४ ॥
विषक्षाराग्न्यतीसारच्छर्दिमेहातुरेषु च ।

सम्यक् स्वेद का लक्षण—शीत और शूल नष्ट हो जाता है और अंगों में मृदुता आ जाती है। सम्यक् स्वेदन के पश्चात् अंगों को धीरे-धीरे मलना चाहिए तथा उसके पश्चात् उष्णोदक से स्नान कराकर स्नेहनोक्त आहार-विहार नियम का सेवन करना चाहिए।

स्वेदन का अतियोग—पित्तप्रकोप, रक्तप्रकोप, तृषा, मूर्च्छा (मोह), स्वरभंग, अंगसदन (अंगों की शिथिलता), भ्रम, संधियों में वेदना, ज्वर, आँखों के सामने काला-लाल-सा दिखलाई पड़ना तथा वमन होता है। इसमें स्तम्भन औषधियाँ देनी चाहिए तथा स्वेद के अतियोग के अतिरिक्त विषविकार, क्षार, अग्निदग्ध, अतिसार, छर्दि तथा मोह में स्तंभन औषधि देनी चाहिए।

स्वेदन का अतियोग होने पर स्वेदन औषधि के विपरीत गुण-कर्मों वाली औषधि (स्तंभन) एवं आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए। स्तंभन औषधियों के गुण-कर्म आगे बतलाये जायेंगे। सामान्यतः स्वेदन के अतियोग के लक्षण उत्पन्न होने पर ग्रीष्म ऋतुचर्या में निर्दिष्ट शीतोपचार (शीतल आहार-विहार) करना चाहिए तथा मधुर एवं शीतल गुणों वाली औषधि का प्रयोग करना चाहिए।

स्वेदन एवं स्तम्भन

स्वेदनं गुरु तीक्ष्णोष्णं प्रायः स्तम्भनमन्यथा ॥ २५ ॥
द्रवस्थिरसरस्निग्धरूक्षसूक्ष्मं च भेषजम् ।
स्वेदनं स्तम्भनं श्लक्ष्णरूक्षसूक्ष्मसरद्रवम् ॥ २६ ॥
प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासतः ।

गुरु, तीक्ष्ण, उष्ण द्रव्य प्रायः स्वेदकारक होते हैं। इसके विपरीत लघु, मंद तथा शीत द्रव्य प्रायः स्तंभक होते हैं। द्रव, स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष और सूक्ष्म द्रव्य स्वेदन होते हैं। श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, सर, द्रव द्रव्य प्रायः स्तंभक होते हैं। तिक्त, कषाय एवं मधुर द्रव्यः प्रायः स्तंभक होते हैं।

स्वेदन-स्तंभन द्रव्यों के गुणों की तुलना

क्रमाङ्क	स्तम्भन	स्वेदन
१.	शीत	उष्ण
२.	मंद	सर
३.	मृदु	तीक्ष्ण
४.	लघु	गुरु
५.	रूक्ष	स्निग्ध, रूक्ष
६.	सूक्ष्म	सूक्ष्म
७.	श्लक्ष्ण	—
८.	द्रव	द्रव
९.	स्थिर	स्थिर
१०.	तिक्त, कषाय एवं मधुर रस	—

स्तंभन का सम्यक् योग तथा अतियोग

स्तम्भितः स्याद् बले लब्धे यथोक्तामयसङ्क्षयात् ॥ २७ ॥
स्तम्भत्वक्स्नायुसङ्कोचकम्पहृद्ग्राग्घनुग्रहैः ।
पादौष्ठत्वक्करैः श्यावैरतिस्तम्भितमादिशेत् ॥ २८ ॥

सम्यक् स्तंभन होने पर शरीर में बल की प्राप्ति तथा यथोक्त रोगों की शांति हो जाती है। स्तंभन के अतियोग से अंगों में स्तब्धता, त्वचा एवं स्नायु में संकोच, कम्पन, हृद्ग्रह, वाक्ग्रह और हनुग्रह तथा पैर, ओष्ठ, त्वक् और हाथ श्याव वर्ण का हो जाता है।

स्तंभन चिकित्सा स्वेदन के ठीक विपरीत होती है। चरकोक्त षड् उपक्रम में स्तंभन भी एक है। इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'स्तभनं स्तम्भयति यद् गतिमन्तं चलं ध्रुवम्' ॥ (च० सू० २२।१२) अर्थात् जो द्रव्य गतिशील, चल पदार्थों को अवरुद्ध कर उन्हें ध्रुव (अचल) बना देते हैं, वे स्तंभन कहलाते हैं। इनके गुणों का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। प्रायः पित्तज व्याधियों से पीड़ित, क्षार एवं अग्नि से दग्ध, दमन एवं अतिसार के रोगी, विषपीड़ित, स्वेदन के अतियोग के लक्षणों से पीड़ित व्यक्तियों का स्तम्भन कराया जाता है।

स्वेदन के अयोग्य रोग एवं रोगी

न स्वेदयेदतिस्थूलरूक्षदुर्बलमूर्च्छितान् ।
स्तम्भनीयक्षतक्षीणक्षाममद्यविकारिणः ॥ २९ ॥
तिमिरोदरवीसर्पकुष्ठशोषाढ्यरोगिणः ।
पीतदुग्धदधिस्नेहमधून्कृतविरेचनान् ॥ ३० ॥
भ्रष्टदग्धगुदग्लानिक्रोधशोकभयार्दितान् ।
क्षुत्तृष्णाकामलापाण्डुमेहिनः पित्तपीडितान् ॥ ३१ ॥
गर्भिणीं पुष्पितां सूतां मृदु चात्ययिके गदे ।

अतिस्थूल, रूक्ष, दुर्बल, मूर्च्छित, जिनका स्तंभन करना हो, उरःक्षती, क्षयरोगी, क्षाम (कृश), मदात्यय आदि मद्य विकार से पीड़ित, तिमिररोग, उदररोग, विसर्परोग, कुष्ठरोग, आढ्य-रोग, (वातरक्त), जो दुग्ध, दधि, स्नेह तथा मधु पिया हो, जिसने विरेचन किया हो, जिसे भ्रष्टगुद (गुदभ्रंश) या दग्धगुद (क्षार-अग्नि आदि से) हो, जो ग्लानि, क्रोध, शोक तथा भय से पीड़ित हो, जो भूख, प्यास, कामला, पाण्डुरोग, प्रमेह तथा पित्तरोग से पीड़ित हो, गर्भिणी, पुष्पिता (ऋतुमती) तथा सूता (प्रसूता) को स्वेदन नहीं कराना चाहिए। यदि आत्ययिक (आपत्कालीन) स्थिति हो, तो मृदु (थोड़ा) स्वेदन कराना चाहिए।

सारांश यह कि पित्त-प्रधान व्याधियों, जैसे मद्यपानजन्य विकार, तृष्णा आदि रोगों में, आत्ययिक अवस्थाओं जैसे उरःक्षत एवं मूर्च्छा आदि रोगों में तथा अत्यधिक दुर्बलता में स्वेदन नहीं कराना चाहिए।

स्वेदन के योग्य रोगी

श्वासकासप्रतिश्यायहिध्माऽऽध्मानविबन्धिषु ॥ ३२ ॥
स्वरभेदानिलव्याधिपक्षाघातापतानके ।
अङ्गमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकुक्षिहनुग्रहे ॥ ३३ ॥
महत्त्वे मुष्कयोः खल्यामायामे वातकण्टके ।
मूत्रकृच्छ्रार्बुदग्रन्थिशुक्राघाताढ्यमारुते ॥ ३४ ॥
वेपथुश्वयथुस्वापस्तम्भजृम्भाङ्गगौरवे ।
कर्णमन्याशिरःकोष्ठजङ्घापादोरुरुक्षु च ॥ ३५ ॥
स्वेदं यथायथं कुर्यात् तदौषधविभागतः ।
स्विन्नोऽन्नं पथ्यमश्नीयाद्दोषरोगानुरोधतः ।
तदहः स्निग्धसर्वाङ्गो व्यायामं सुतरां त्यजेत् ॥ ३६ ॥

श्वास, कास, प्रतिश्याय, हिक्का, आध्मान, विबन्ध, स्वरभेद, वातव्याधि, पक्षाघात, अपतानक, अङ्गमर्द, कटिग्रह, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कुक्षिग्रह, हनुग्रह, मुष्कवृद्धि, खल्ली, आयाम (बाह्यायाम), वातकण्टक, मूत्रकृच्छ्र, अर्बुद, ग्रंथि, शुक्राघात (शुक्रारोध), आढ्यमारुत, (ऊरुस्तम्भ), वेपथु, जृम्भा (जँभाई), अङ्गगौरव (शरीर का भारीपन), कर्णशूल, मन्याशूल, शिरःशूल, उदरशूल, जंघाशूल, पादशूल तथा ऊरुशूल में यथानुसार उचित औषधियों द्वारा स्वेदन करना चाहिए। स्वेदन करने के पश्चात् पथ्य आहार दोष एवं रोगों के अनुसार लेना चाहिए। जिस दिन जेन्ताक आदि से सर्वाङ्ग का स्वेदन किया गया हो, उस दिन व्यायाम बिल्कुल नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि वातव्याधि से पीड़ित जैसे मन्याशूल, अर्दित आदि रोगी, कफविकार जैसे—प्रतिश्याय, कास आदि से पीड़ित रोगी तथा शोधनार्ह रोगी को स्वेदन कराना चाहिए।

स्वेदन से लाभ

अग्नेर्दीप्तिं मार्दवं त्वक्प्रसादं भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम्।
कुर्यात्स्वेदो जाड्यतन्द्रापहारं स्तब्धान् सन्धींश्चेष्टयत्याशु चास्य ॥ ३७ ॥

सम्यक् स्वेदन जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, शरीर को मृदु करता है, त्वचा को निर्मल करता है, अन्न में रुचि तथा स्रोतों की शुद्धि करता है। जडता तथा तंद्रा को नष्ट करता है तथा स्तब्ध (जकड़ी हुई) संधियों को शीघ्र चेष्टावान् (कार्य करने योग्य) बनाता है।

तात्पर्य यह है कि स्वेदन, स्रोतों में लीन दोषों को द्रवीभूत करके बाहर निकालता है, वात का नियमन करता है, शरीर में मार्दव लाता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है, त्वचा को मृदु करता है, वर्ण-प्रसादन करता है, भोजन में रुचि उत्पन्न करता है, स्रोतों का शोधन करता है, निद्रा-तंद्रा-आलस्य को दूर करता है, संधियों को चेष्टावान् बनाता है तथा दोषों का शोधन करता है।

स्वेदन का प्रभाव

स्नेहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा वा स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसंस्थाः।
दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्हियन्ते ॥ ३८ ॥

इति स्वेदविधिर्नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

जो वातादि दोष कोष्ठ (महास्रोत), रस, रक्तादि धातुओं में होते हैं, अथवा स्रोतों में लीन (व्याप्त) होते हैं या शाखा, अस्थि (बाहु आदि नलकास्थियों) में होते हैं, वे सभी दोष स्नेह द्वारा क्लिन्न (स्रुति योग्य) होकर तथा स्वेद द्वारा द्रवीकृत्य होकर शाखा आदि से कोष्ठ में आ जाते हैं और कोष्ठ से वमन-विरेचन आदि द्वारा सम्यक् प्रकार से बाहर निकाल दिये जाते हैं।

इस प्रकार 'स्वेदविधि' नामक षड्विंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

स्वेद
आग्नेय स्वेद
अनाग्नेय स्वेद
निवातसदन गुरुप्रावरण मुहुर्मुहुः मद्यपान क्षुधा व्यायाम आतप नियुद्ध अध्व भारहरण अमर्ष भय
तापस्वेद
उपनाहस्वेद
द्रवस्वेद
ऊष्मस्वेद
पाणितल कांस्यपात्र फाल बालुका वस्त्र घटिका परिषेक अवगाह
पिडस्वेद संस्तरस्वेद नाडीस्वेद घनाश्मस्वेद कुम्भीस्वेद कूपस्वेद कुटीस्वेद जेन्ताकस्वेद

सप्तविंशोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'वमन-विरेचनविधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

पहले स्नेहन एवं स्वेदन इन पूर्वकर्मों का वर्णन किया गया। तत्पश्चात् अब वमन एवं विरेचन का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

वमन एवं विरेचन शब्द की निरुक्ति

दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनाख्यमधोभागं विरेचनाख्यमुभयं वा मलविरेचनाद्विरेचनमित्युच्यते ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वभाग (मुखमार्ग) से दोषों का निर्हरण वमन तथा अधोभाग (गुदमार्ग) से दोषों का निर्हरण विरेचन कहा जाता है अथवा मल के रेचन (दोष-निर्हरण) के कारण वमन एवं विरेचन दोनों को 'रेचन' कहा गया है।

ऊपर वमन तथा विरेचन की परिभाषा बतलायी गयी है। 'वम' शब्द का तात्पर्य 'उद्गार' से होता है। 'वम' शब्द में 'ल्युट्' प्रत्यय से 'वमन' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। 'वमन' शब्द के चार अर्थ होते हैं—(१) उल्टी करना, (२) मर्दन करना, (३) निकाल देना और (४) अभिष्यन्दन करना। वमन को कफदोष की प्रधान चिकित्सा कहा गया है। दोषों को स्वस्थान से हटाकर ऊपर या नीचे के मार्गों द्वारा शरीर से बाहर निकालने की क्रिया को संशोधन कहा जाता है। ऊपर के मार्ग से दोषों को बाहर निकालने की क्रिया वमन तथा नीचे के मार्ग से निकालने की क्रिया विरेचन कहलाती है, तथापि दोनों मार्गों से दोषों को बाहर निकाला जाता है, अतः उन दोनों को ही विरेचन कहा जा सकता है। चक्रपाणि ने भी कहा है—'विरेचनशब्देनेह वमनं विरेचनं च गृह्यते।' (च० सू० ४।३)। फिर भी वमन से ऊर्ध्वभाग से दोषहरण एवं विरेचन से अधोभाग से दोषहरण लिया जाता है।

'रिच' धातु में 'वि' उपसर्ग और 'णिच्' तथा 'ल्युट्' प्रत्यय से 'विरेचन' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। 'विरेचन' शब्द का तात्पर्य मलादि को बाहर निकालने से होता है। पित्तज व्याधियों की चिकित्सा में विरेचन को परमौषधि माना गया है—'विरेचनं पित्तहराणाम्' (च० सू० २५।४०) वमन की अपेक्षा विरेचन अधिक सुविधाजनक होता है तथा इसमें उपद्रव भी कम होते हैं। इसके साथ ही विरेचन द्रव्यों की संख्या वमन द्रव्यों की अपेक्षा अधिक होती है। शार्ङ्गधरसंहिता में विरेचन (अधोभागहर) द्रव्यों के चार प्रकारों का वर्णन मिलता है—

(१) अनुलोमन (Carminatives)—मलों को पका कर, उनको तोड़ कर एवं उनका विबन्ध दूर कर जो औषधि उन्हें अधोमार्ग में दी जाती है, वह अनुलोमन होती है।

(२) स्रंसन (Laxatives)—कोष्ठ में लीन मलों को बिना पक्व किये ही जो औषधियाँ उन्हें नीचे से लाकर बाहर निकाल देती हैं, उन्हें स्रंसन कहा जाता है।

(३) भेदन (Drastic Purgatives)—बद्ध या अबद्ध पिंडित मलों को भेदकर जो औषधि उन्हें नीचे ले जाकर बाहर निकाल देती है, उसे भेदन औषधि कहते हैं।

(४) रेचन या विरेचन (Purgatives)—पक्व या अपक्व मलों को पतला करके जो औषधि उन्हें नीचे के मार्ग से बाहर निकाल देती हैं, वे रेचन कहलाती हैं।

वमन एवं विरेचन द्रव्यों की कार्य-विधि

तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकाषीण्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य सौक्ष्म्याद् व्यवायित्वाच्च धमनीरनुसृत्य स्नेहेन [1]मृदूकृत्यान्तःशरीरे [2]स्वोष्मणाऽऽर्द्रदारुवद्विष्यण्णे स्थूलाणुस्रोतोभ्यः सकलमपि दोषसङ्घातमौष्ण्यात्पुनर्विष्यन्दयन्ति। तैक्ष्ण्याद्विकाषित्वाच्च विच्छिन्दन्ति। स [3]विष्यन्नविच्छिन्नो दोषसङ्घातः पारिप्लवः स्नेहाक्तभाजनस्थ इवोदकाञ्जलिरसज्जनुप्रस्रवणभावादामाशयमौगम्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावाच्चौषधस्योर्ध्वं प्रवर्तते। सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधः। उभयतश्चोभयगुणात्मकत्वादुभयभागप्रभावाच्च ॥ ४ ॥

इनमें उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि एवं विकासी औषधियाँ अपने वीर्य (शक्ति) द्वारा हृदय में पहुँच कर सूक्ष्म तथा व्यवायी होने से सभी धमनियों का अनुसरण करके सूक्ष्म तथा स्थूल सभी स्रोतों में पहुँचती हैं और पूर्वकृत स्नेहन से अन्तःशरीर के कोमल होने तथा स्वेद की उष्णता के कारण शरीर के स्थूल तथा सूक्ष्म स्रोतों से पिघले हुए समस्त दोषों को अपनी उष्णता से पिघला देती हैं। जैसे गर्मी लगने पर हरी लकड़ी में से इसका स्राव होता है, वैसे ही स्वेदनकर्म से शरीर में स्राव होता है। तीक्ष्ण और विकासी होने से ये औषधियाँ दोषसमूहों का विच्छेदन (छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन) कर देती हैं। यह स्रवित एवं छिन्न-भिन्न दोषसमूह तैरता हुआ जैसे स्नेह से स्निग्ध भाण्ड (पात्र) में जल नहीं चिपकता है, वैसे ही सूक्ष्म एवं स्रवणशील होने से आमाशय में पहुँच कर उदानवायु से प्रेरित होकर औषधियों के अग्नितत्त्व एवं वायुतत्त्व के प्रधान होने के कारण

वमन-विरेचन द्रव्यों की कार्य-विधि बोधक तालिका

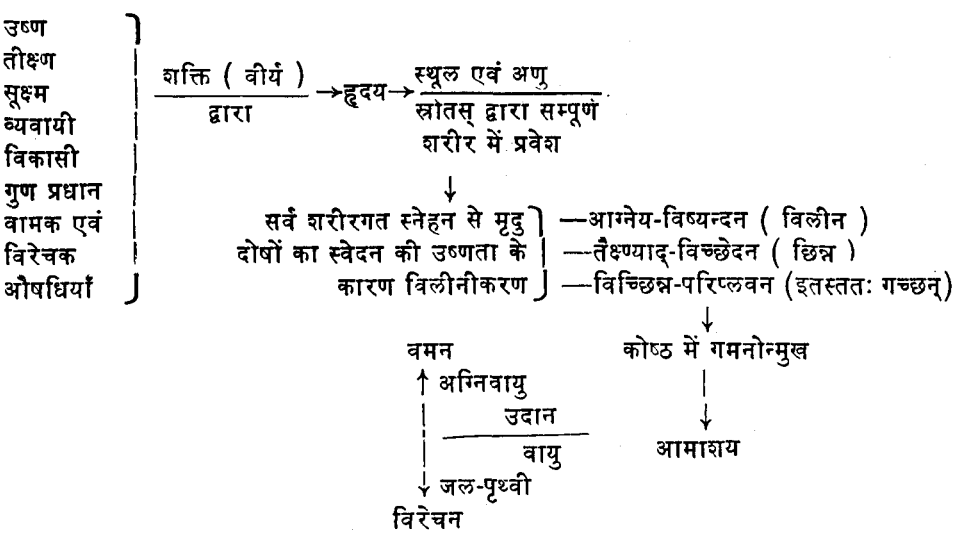

१. 'मृदूकृतेऽन्तश्शरीरे' इति पाठान्तरम्। २. 'स्वेदोष्मणा' इति पाठान्तरम्।
३. 'विष्यण्ण' इति पाठान्तरम्। ४. 'मनुगम्य' इति पाठान्तरम्।

ऊर्ध्वभाग से दोषों के निकालने के प्रभाव से मुखमार्ग से वमन के रूप से बाहर आते हैं। जल और पृथ्वीगुण-प्रधान होने से, अधोभाग से दोष निकलने के प्रभाव से गुदमार्ग से विरेचन रूप में दोष बाहर आते हैं। औषधियों के ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी होने तथा अग्नि, वायु, पृथ्वी तथा जल गुण प्रधान होने से दोनों मार्गों (ऊर्ध्व एवं अधोमार्ग) से दोष बाहर निकलते हैं।

कहा गया है कि वामक द्रव्यों में ये गुण होते हैं—१. उष्ण, २. तीक्ष्ण, ३. सूक्ष्म, ४. व्यवायी, ५. विकाशी एवं ६. ऊर्ध्वभाग प्रभाव। उष्ण गुण के कारण यह दोषों का विष्यंदन करता है; अर्थात् दोषों को पकाकर द्रवीभूत करता है। तीक्ष्ण गुण के कारण वामक द्रव्यों की क्रिया में शीघ्रता आती है। सूक्ष्म गुण के कारण यह समस्त स्रोतों में व्याप्त होने की क्षमता रखता है। ये व्यवायी होते हैं अर्थात् जठराग्नि द्वारा पाक होने से पूर्व ही ये शरीर में व्याप्त होकर अपने कर्म प्रारम्भ कर देते हैं। विकाशी होने के कारण धातुओं में श्लिष्ट दोषों को पृथक् करते हैं। वायु एवं अग्निमहाभूत-प्रधान होने के कारण ये ऊर्ध्वभाग में प्रभाव दिखलाते हैं, अर्थात् वमन कराते हैं। वमन (Emesis) क्रियाशारीर की दृष्टि से दो प्रकार से होती है—(१) प्रत्यक्ष (Direct)—मस्तिष्क के रक्त-संचार में अल्पता आने से, मस्तिष्क में किसी प्रकार का शोथ (Inflammation) होने, मस्तिष्क में कोई अर्बुद (Tumour) होने या मूत्रविषमयता (Uraemia) आदि कारणों से वमन हो सकता है। (२) अप्रत्यक्ष (Indirect)—शारीरिक बाह्य उत्तेजनाओं जैसे बुरे स्वाद का द्रव्य खाने से, घृणाजनक दृश्य को देखने या दुर्गन्ध सूँघने आदि कारणों से। वमन-क्रिया कराने वाले द्रव्यों को वामक (Emetics) द्रव्य कहते हैं। ये वामक द्रव्य भी विभिन्न प्रकार से कार्य करते हैं—(१) आमाशय में पहुँच कर ये वैगस नर्व एण्डिंग्स (Vagus Nerve Endings) को क्षुभित (Stimulate) करते हैं तथा वमन कराते हैं। जैसे सैंधवलवण, सरसों, उष्ण जल आदि। इनको आमाशयिक वामक द्रव्य (Gastric Emetics) कहा जाता है। (२) कुछ औषधियाँ शरीर में शोषित होने के पश्चात् वमन कराती हैं, जैसे—हृत्पत्री (Digitalis), अहिफेन (Opium) आदि। शास्त्रोक्त वामक द्रव्य प्रायः आमाशयिक क्षोभ उत्पन्न करके ही वमन कराते हैं। इसी प्रकार विरेचन द्रव्य (Purgatives, Catharatics, Evacuants या Apirients) भी कई प्रकार से कार्य करते हैं। जैसे—१. शोषित न होने वाले द्रव्यों का परिमाण बढ़ाकर, २. जल का शोषण रोककर, ३. अन्त्र को क्षुभित कर एवं उसकी गति बढ़ाकर तथा ४. नाड़ी-संस्थान पर प्रभाव डालकर—इस प्रकार ये विरेचन कराते हैं।

आयुर्वेदानुसार विरेचन द्रव्यों में भी वही गुण होते हैं, जो वामक द्रव्यों में। अर्थात् ये भी उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी तथा विकाशी होते हैं, परन्तु इनमें पृथ्वी तथा जलमहाभूत की अधिकता होने के कारण ये अधोभागहर गुण वाले होते हैं; अर्थात् नीचे के मार्ग से दोषों को बाहर करते हैं। इन वामक एवं विरेचक द्रव्यों के गुणों की तालिका निम्नलिखित है—

वामक द्रव्य	विरेचक द्रव्य
उष्ण	उष्ण
तीक्ष्ण	तीक्ष्ण
सूक्ष्म	सूक्ष्म
व्यवायी	व्यवायी
विकाशी	विकाशी
अग्नि एवं वायु-प्रधान	पृथ्वी एवं जल-प्रधान
ऊर्ध्वभागहर	अधोभागहर

वमन-विरेचन का प्रयोग

तत्रोत्क्लिष्टे[1] श्लेष्मणि पित्तसंसृष्टे वा तत्स्थानगते वा पित्तेऽनिले वा श्लेष्मोत्तरे वमनमाचरेत्। पित्ते तु विरेकं श्लेष्मसंसृष्टे वा तत्स्थानगते वा श्लेष्मणीति ॥ ५ ॥

कफ अपने स्थान में वृद्ध हो, तो वमन कराना चाहिए। कफ के साथ पित्त संसृष्ट होने पर अथवा कफ के स्थान में पित्त या वायु पहुँच गया हो, तो वमन कराना चाहिए। पित्त में विरेचन कराना चाहिए। कफ के साथ पित्त का संसर्ग होने पर तथा पित्त के स्थान में कफ के आ जाने पर विरेचन कराना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि कफप्रधान दोषों में वमन कराना ही चाहिए, परन्तु यदि कफ के स्थान पर दूसरा दोष पहुँच गया हो, तब भी उस स्थान के दोष-विशेष (कफ) का ही ध्यान रखते हुए वमन कराना चाहिए। इसी प्रकार पित्त की परमौषधि विरेचन है, परन्तु यदि पित्त के स्थान पर दूसरा दोष आ गया हो, तब भी पहले उस स्थान-विशेष के दोष-विशेष (पित्त) की ही चिकित्सा (विरेचन) पर ध्यान देना चाहिए।

वमन के योग्य रोगी एवं रोग

तत्र वमनसाध्या विषपीतदष्टदिग्धविद्धविरुद्धाजीर्णान्नवज्वरराजयक्ष्मातिसारा-धोरक्तपित्तविसूचिकाऽलसकाविपाकारोचकापचीग्रन्थ्यर्बुदश्लीपद[2]मेदोगरोन्मादापस्मार-श्वासकासहृल्लासविसर्पप्रमेहकुष्ठपाण्डुवर्त्ममुखघ्राणकपालरोगकर्ण[3]रोगशोफस्तन्यदोषादयो दोषभेदीयोक्ताश्च श्लेष्मव्याधयो विशेषेणैते हि परं वमनेन नाशमुपयान्ति। सलिलाप-गमेनानिष्पन्नशाल्यादिवत् ॥ ६ ॥

जिसने विषपान किया हो, जिसे सर्प ने काटा हो, जिसे विषैले बाण से चोट लगी हो, जिसने विरुद्ध भोजन का सेवन किया हो तथा अजीर्ण, नवज्वर, राजयक्ष्मा, अतिसार, अधोगामी रक्तपित्त, विसूचिका, अलसक, अविपाक, अरोचक, अपची (गण्डमाला), ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, मेदोरोग, गरविष, उन्माद, अपस्मार, श्वास, कास, हृल्लास, विसर्प, प्रमेह, कुष्ठ, पाण्डुरोग, वर्त्म-रोग, मुखरोग, नासारोग, कपालरोग, कर्णरोग, शोथ, स्तन्यदोष आदि रोगों तथा दोषभेदीय अध्याय में कहे गये बीस प्रकार के कफजन्य रोगों में वमन कराना चाहिए, क्योंकि ये रोग विशेष रूप से वमन का प्रयोग करने पर उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार खेत से जल निकाल देने पर आधे धान्य नष्ट हो जाते हैं या सूख जाते हैं।

विष पीये हुए व्यक्ति को वमन कराने का अभिप्राय उसके आमाशय की शुद्धि (Stomach Wash) कराने से है। ऐसा करने से पान किया हुआ विष अधिकांश मात्रा में शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है। विरुद्ध भोजन किये हुए व्यक्ति में भी इसी बात का ध्यान रखा जाता है। नवज्वर में कफ की प्रधानता रहने से स्रोतोरोध रहता है, अतः इसमें भी वमन कराया जाता है। रक्तपित्त की चिकित्सा विपरीत मार्ग से दोषों का शोधन कराकर की जाती है, अतः अधोगामी रक्तपित्त में वमन कराने का निर्देश है। इनके अतिरिक्त भी प्रायः जितने रोगों का ऊपर वर्णन आया है, उनमें कफ की ही प्रधानता रहती है, अतः इनमें वमन कराना उपयुक्त होता है।

---

१. 'तत्रोत्कृष्टे' इति पाठान्तरम्। २. 'मेदोगदगरो' इति पाठान्तरम्। ३. 'कर्णरोध' इति पाठान्तरम्।

वमन के अयोग्य रोगी एवं रोग

अवम्यास्तु गर्भिणीसुकुमारान्यकार्यव्यग्ररूक्षरूक्षाशनप्रायातिदीप्ताग्निभाराध्वकर्मनित्यक्लान्तक्षतक्षीणातिस्थूलकृशवृद्धबालदुर्बलश्रमभयशोकक्रोधमदमूर्च्छाक्षुत्पिपासार्तोपवासव्यवायव्यायामाध्ययनचिन्ताप्रसक्तछर्दिरूर्ध्वरक्तपित्तवातास्थापितानुवासितसंवृतकोष्ठदुश्छर्दितहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातप्लीहगुल्मोदराष्ठीलार्शः स्वरोपघाततिमिरभ्रमानिलार्तादिताक्षेपकाक्षिशिरःशङ्खकर्णपार्श्वशूलिनोऽनस्थापितकृमिणकोष्ठ इति। अन्यत्रामगरविषविरुद्धाभ्यवहारेभ्यः शीघ्रविकारित्वादेषाम्। तत्र गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाच्च दारुणरोगप्राप्तिः स्यात्। सुकुमारस्य हृदयविकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरप्रवृत्तिः। अन्यकार्यव्यग्रस्यौषधं न प्रवर्तते। कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगाद्दोषान्कुर्यात्[1]। रूक्षस्य वायुरङ्गग्रहम्। रूक्षाशनप्रायस्य वायुना क्षपितदेहत्वाद्बलक्षयः स्यात्। तथाऽतिदीप्ताग्नेरग्निबलेन, भाराध्वकर्मनित्ययानक्लान्तानां चायासेन, क्षतस्य भूयःक्षणनाद्रक्तातिप्रवृत्तिः। क्षीणादीनामौषधबलाक्षमत्वाद्देहबलोपरोधोऽन्तःक्षतभयं च प्रसक्तच्छर्ध्यूर्ध्वरक्तपित्तयोरुदान उत्क्षिप्य प्राणान् हरेद्रक्तं [2]वाऽतिप्रवर्तयेत्। ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासितानामूर्ध्ववातातिप्रवृत्तिः। संवृतकोष्ठस्य [3]दुश्छर्दस्य चातिमात्रप्रवाहणादन्तःकोष्ठे समुत्क्लिष्टैर्दोषैर्विसर्पस्तम्भजाड्यवैचित्यानि मरणं वा। हृद्रोगिणो हृदयोपरोधः उदावर्तादिभिरार्तानामर्दितादिभिश्च यथायथमामयप्रवृद्धिर्मरणं वा। कृमिणकोष्ठस्यास्थापनेनाधः पूर्वमनिर्हृतैः कृमिभिरतिबहुत्वादशेषानिस्सरणेन हृदयमतिकर्षद्भिश्छर्दिषोऽतिप्रवृत्तिः स्यात्॥ ७॥

गर्भवती स्त्री, कोमल प्रकृति, अन्य कार्य में व्यग्र (व्याकुल) व्यक्ति, रूक्ष शरीर, रूक्ष भोजन करने वाले व्यक्ति, अतिदीप्ताग्नि (अत्यन्त तीक्ष्ण जठराग्नि वाले), प्रतिदिन भार ढोने वाले, मार्ग चलने वाले, नित्यकार्य करने से थके हुए आदि में, उरःक्षत, क्षीण (जिसी धातुएँ क्षीण हो गई हों), अतिस्थूल, अतिकृश, वृद्ध, बालक, दुर्बल, श्रम, भय, शोक, क्रोध, मद, मूर्च्छा, भूख, प्यास से पीड़ित, उपवास, व्यवाय (मैथुन), व्यायाम, अध्ययन, चिंता में लगे हुए, वमन, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त, ऊर्ध्ववात, जिसको आस्थापन तथा अनुवासन वस्ति दी गई हो, संवृत कोष्ठ, दुश्छर्द (जिसको कठिनाई से वमन हो), हृद्रोग, उदावर्त, मूत्राघात, प्लीहारोग, गुल्मरोग, उदररोग, अष्ठीला, अर्श, स्वरोपघात (स्वरभंग), तिमिररोग, भ्रम, वातव्याधि से पीड़ित, अर्दित, आक्षेपक, नेत्रशूल, शिरःशूल, शंखशूल, कर्णशूल तथा पार्श्वशूल, जिसे आस्थापनवस्ति न दी गई हो एवं जिसके कोष्ठ में कृमि हो, ऐसे लोगों को वमन नहीं कराना चाहिए।

किन्तु आमदोष, गरविष, विरुद्ध आहार-जनित विकार में तत्काल वमन देना चाहिए, क्योंकि आमविष आदि शीघ्र विकार उत्पन्न कर देते हैं। गर्भिणी को वमन कराने से गर्भव्यापद् (गर्भ में विकार), आमगर्भभ्रंश (गर्भस्राव या गर्भपात) अथवा दारुण (भयानक) रोग हो जाते हैं। सुकुमार व्यक्ति को वमन कराने से, हृदय का विकर्षण होने से, मुखमार्ग अथवा गुदमार्ग से रक्तस्राव की प्रवृत्ति हो सकती है। अन्य कार्य में व्यग्र व्यक्ति को वमन कराने से औषधि अपना कार्य नहीं करती अथवा कष्ट के साथ कार्य करती हुई वमन के अयोग्य लक्षणों को उत्पन्न करती है। रूक्ष व्यक्ति को वमन कराने से कुपित वायु शरीर को स्तब्ध कर देता है। रूक्ष आहार का सेवन करने

---

१. 'योगदोषान्' इति पाठान्तरम्। २. 'चाऽतिप्रवर्तयेत्' इति पाठान्तरम्।
३. 'दुश्छर्दितस्य' इति पाठान्तरम्।

वाले को वमन कराने से वायु द्वारा दोषों का क्षय होने से बल का क्षय हो जाता है। अत्यन्त दीप्त अग्नि में अग्नि के बल से, भार ढोने, मार्ग चलने, नित्य कार्य करने वालों में परिश्रम के कारण बल का क्षय होता है; उरःक्षत में वमन कराने से अत्यधिक क्षत हो जाने के कारण रक्त की प्रवृत्ति होने लगती है। क्षीण (दुर्बल) व्यक्ति को वमन कराने से औषध बल को सहन न कर सकने के कारण शारीरिक बल का क्षय हो जाता है अथवा उरःक्षत का भय रहता है। बार-बार छर्दि तथा ऊर्ध्व रक्तपित्त वाले व्यक्ति को वमन कराने से उदान वायु ऊपर की ओर उठकर प्राणों को नष्ट करती है या रक्त की अतिप्रवृत्ति करती है। ऊर्ध्ववात (उद्गार), आस्थापन, अनुवासन वस्ति देने के पश्चात् वमन कराने से वायु के ऊर्ध्वगमन की प्रवृत्ति होती है। संवृतकोष्ठ तथा छर्दि में कठिनाई होने वालों को वमन कराने से वमन करते समय अत्यन्त प्रयत्न करने के कारण कोष्ठ के भीतर उत्क्लिष्ट दोष विसर्प, स्तम्भ, जड़ता, वैचित्य (चित्त की विकृति) अथवा मृत्यु को उत्पन्न कर सकते हैं। हृदयरोगी को वमन कराने से हृदय की गति बंद हो सकती है। उदावर्त आदि से पीड़ित तथा अर्दित आदि में वमन कराने से उदावर्त एवं अर्दित आदि रोगों में वृद्धि अथवा मृत्यु हो सकती है। कृमिकोष्ठ वालों में आस्थापनवस्ति दिये बिना वमन कराने से गुदमार्ग से कृमियों के न निकलने अथवा कृमियों की अधिकता के कारण उनके बाहर न निकलने से हृदय के अतिकर्षण के कारण वमन की अत्यधिक प्रवृत्ति हो सकती है।

अन्य निर्देश

गर्भिण्यादिचिन्ताप्रसक्ताश्चात्र[1] धूमान्तैः प्रायः सर्वकर्मभिर्वक्ष्यमाणैः परिहर्तव्याः। अजीर्णी तु सर्वैरेव वमनवर्जैरामदोषभयात्[2]। नवज्वरस्य दोषस्तम्भभयादिति ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त गर्भिणी से लेकर चिंता-प्रसक्त पर्यन्त व्यक्तियों को प्रायः वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन और धूमपान इन सभी कर्मों को त्याग देना चाहिए। अजीर्ण के रोगी को वमन के अतिरिक्त विरेचन आदि सभी कर्मों को त्याग देना चाहिए, क्योंकि आमदोष का भय रहता है। नवज्वर में वमन को छोड़कर अन्य कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि विरेचन आदि अन्य कर्म करने से दोषों के स्तम्भन का भय रहता है।

विरेचन के योग्य व्याधियाँ

अथ विरेचनसाध्या जीर्णज्वरोर्ध्वरक्तपित्तगुल्मविद्रधिप्लीहार्शोभगन्दरोदरकृमिणकोष्ठमूत्राघातरेतोयोनिदोषवातशोणितहलीमकव्यङ्गतिमिरकाचाभिष्यन्दाक्षिपाकक्षाराग्निदग्धदुष्टव्रणशिरःपक्वाशयशूलोदावर्तविबन्धच्छर्दिविस्फोटादयो वम्योक्ताश्च विसूचिकादयो दोषभेदीयोक्ताश्च पित्तव्याधयो विशेषेण। एते हि परं विरेचनेन नाशमुपयान्त्यग्न्यपनयनेनाग्निगृहतापवत् ॥ ९ ॥

जीर्णज्वर, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त, गुल्म, विद्रधि, प्लीहारोग, अर्शरोग, भगन्दर, उदररोग, कृमिकोष्ठ, मूत्राघात, शुक्रदोष, योनिदोष, (योनिव्यापद्), वातरक्त, हलीमक, व्यंग, तिमिररोग, काच (तिमिर की अवस्था-विशेष), अभिष्यन्द, अक्षिपाक, क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, दुष्टव्रण, शिरःशूल, पक्वाशयशूल, उदावर्त, विबन्ध, छर्दिरोग, विस्फोट आदि एवं वमन के योग्य कहे गये विसूचिका आदि तथा 'दोषभेदीय' अध्याय में कही गईं चालीस प्रकार की पैत्तिक व्याधियाँ विशेष रूप से विरेचन के योग्य होती हैं। ये सभी रोग विरेचन से उसी प्रकार शान्त होते हैं, जिस प्रकार अग्नि निकालने से अग्निगृह का ताप शान्त हो जाता है।

---

१. 'प्रसक्तान्ताश्चात्र' इति पाठान्तरम्। २. 'वर्ज्यैं' इति पाठान्तरम्।

तात्पर्य यह है कि विरेचन निम्नलिखित अवस्था में कराया जाता है—(१) पित्तज पुरुषों एवं व्याधियों में, (२) रक्तज व्याधियों में, (३) विपरीत मार्ग से शोधन द्वारा शांत होने वाली व्याधियों (जैसे ऊर्ध्वग रक्तपित्त) में, (४) शोधनार्ह व्याधियों जैसे उदावर्त आदि में एवं (५) वमन के बाद जिन व्याधियों में विरेचन कराने का निर्देश दिया गया है, ऐसी व्याधियों (कुष्ठ आदि) में।

विरेचन के अयोग्य रोग एवं रोगी

अविरेच्याः पुनर्नवज्वरातीसार्यधोरक्तपित्तक्षतगुदलङ्घितरात्रिजागरितास्थापितालघ्वग्निराजयक्ष्ममदात्ययार्त्ताध्मातसशल्याभिहतातिस्निग्धरूक्षक्रूरकोष्ठाः। तत्र नवज्वरस्याविपक्वान्दोषान्न निर्हरेद्वा [1]तानेव तु कोपयेत्। अतिसार्यधोरक्तपित्तयोरतिप्रवृत्त्या हन्यात्। क्षतगुदस्य गुदे प्राणोपरोधकरीं रुजं जनयेत्। लङ्घितादयो भेषजवेगं न संहेरन्। राजयक्ष्मार्तस्य क्षीणधातुतया मलबलत्वं तदभावाद्देहनाशः स्यात्। मदात्ययार्तस्य मद्यक्षीणे देहे वायुः प्राणोपरोधाय। आध्मातस्य पुरीषाशये निचितो वायुर्विसर्पन् सहसा तीव्रतरमाध्मानं मरणं वा जनयेत्। सशल्याभिहतयोः क्षते वायुराश्रितो जीवितं हिंस्यात्। अतिस्निग्धस्यातियोगो भवेत्॥ क्रूरकोष्ठस्यौषधोद्धता दोषा ह्यप्रवर्तमाना हृदयशूलपर्वभेदानाहछर्दिमूर्च्छाक्लमान् जनयित्वा प्राणान् हन्युः। गर्भिण्यादीनां पूर्वोक्तदोषः स्यात्॥

नवज्वर रोगी, अतिसार एवं अधोग रक्तपित्त रोगी, क्षतगुद (जिसके गुद में क्षत हो), लंघित (जिसने लंघन किया हो), रात्रिजागरित (जिसने रात्रिभर जागरण किया हो), आस्थापित (जिसे आस्थापन वस्ति दी गई हो), जिसे अल्पाग्नि (मन्दाग्नि), राजयक्ष्मा, मदात्यय तथा आध्मान हो, जिसे शल्य लगा हो या चोट लगी हो, जिसका शरीर अत्यन्त स्निग्ध या अत्यन्त रूक्ष हो तथा क्रूरकोष्ठ हो, उसे विरेचन नहीं कराना चाहिए। इन लोगों को विरेचन कराने से निम्न हानियाँ होती हैं—नवज्वर रोगी को विरेचन कराने से अपक्व दोषों का निर्हरण नहीं होता, अपितु वायु कुपित हो जाता है। अतिसार तथा अधोगामी रक्तपित्त में दिया गया विरेचन इनकी अधिक प्रवृत्ति करके रोगी को मार डालता है। गुद में क्षत होने पर विरेचन देने से प्राणघातक वेदना उत्पन्न होती है। लंघित आदि रोगी औषधि के वेग को सहन नहीं कर सकते। राजयक्ष्मा के रोगी में धातुओं के क्षीण होने से मल ही बल होता है। विरेचन देने से मल निकल जाता है, अर्थात् मल का अभाव हो जाता है और मल का अभाव होने से शरीर नष्ट हो जाता है। मदात्यय में विरेचन कराने से मद्य से देह के क्षीण हो जाने के कारण वायु कुपित होकर प्राणों को नष्ट करता है। आध्मान में विरेचन देने से पुरीषाशय में संचित वायु फैलता हुआ अचानक तीव्र आध्मान को उत्पन्न कर देता है अथवा मृत्यु ला देता है। शल्य अथवा चोट लगे व्यक्ति में विरेचन कराने से क्षतयुक्त स्थान में वायु आश्रित होकर जीवन को नष्ट कर डालता है। अत्यन्त स्निग्ध व्यक्तियों को विरेचन कराने से विरेचन का अतियोग हो जाता है। क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्तियों में विरेचन औषधियों के द्वारा दोष बाहर न आकर हृदयशूल, पर्वभेद, आनाह, छर्दि, मूर्च्छा एवं क्लम को उत्पन्न करके प्राणों को नष्ट कर डालता है। गर्भिणी आदि में पूर्वोक्त वमनोक्त (वमन में कहे गये) दोष होते हैं।

---

१. 'वातमेव च कोपयेत्' इति पाठान्तरम्।

वामक औषधिपान-विधि

अथ साधारणे काले सम्यक्स्निग्धस्विन्नमनुपहतमानसं [1]सुच्छर्दयितव्यमिति ग्राम्यानूपौदकश्रृतमांसरसक्षीरदधिमाषतिलपललशाकादिभिर्द्रवप्रायैः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं सुखोषितं जीर्णाहारं पूर्वाह्णे स्नातानुलिप्तं स्रग्विणमहतवाससं देवताऽग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवन्तं कृतहोमबलिमङ्गलप्रायश्चित्तस्वस्तिवाचनं जानुसमसंस्तृतसोपधानोपाश्रयासनोपविष्टं निरन्नमीषत्स्निग्धं वा यवागूमण्डेन घृतमात्रां पीतवन्तं भीरुकृशबालवृद्धसुकुमारान्वा [2]दोषानुरूपेणाकण्ठं पीतक्षीरतक्रयूषेक्षुमांसरसमद्यतुषोदकयवागूमण्डान्यतमं नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्तोदये प्रशस्ते यथाव्याधिदोषदूष्यादिविहितामौषधमात्रां मधुसैन्धवयुक्तां सुखोष्णां ब्राह्मणप्रयुक्ताभिराशीर्भिरभिमन्त्रिताम् ॥ ११ ॥

पुनश्च—

ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः ।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु वः ॥ १२ ॥
रसायनमिवर्षीणाममराणामिवामृतम् ।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥ १३ ॥

नमो भगवते भैषज्यगुरवे [3]वैदूर्यप्रभराजाय तथागतायार्हते सम्यक् सम्बुद्धाय ॥

तद्यथा—

'ॐ भैषज्येभैषज्येमहाभैषज्येभैषज्यसमुद्गतेस्वाहा' ।

इत्येवमभिमन्त्र्योदङ्मुखः प्राङ्मुखमातुरं पाययेत् ॥ १४ ॥

साधारण काल (श्रावण, कार्तिक, चैत्र मास) में सम्यक् प्रकार से स्नेहन और स्वेदन किये हुए प्रसन्नचित्त पुरुष को वमन कराना चाहिए। वमन कराने से एक दिन पूर्व ग्राम्य, आनूप और औदक प्राणियों के मांसरस को दूध, दही, उड़द (*Phaseolus radiatus*), तिल (*Sesamum indicum*), पलल (तिलकुट) आदि कफवर्द्धक द्रव पदार्थ को खिलाकर कफ को उत्क्लेशित करें और रात्रि में सुखपूर्वक सोने दें। प्रातःकाल आहार के जीर्ण होने पर स्नान करायें और चंदन (*Santalum album* Linn.) आदि का लेप और माला तथा सुन्दर वस्त्र पहना दें। देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध एवं वैद्य का पूजन करायें। हवन, बलि, मंगलाचरण, प्रायश्चित्त, स्वस्तिवाचन करायें। जानु (घुटने) के बराबर ऊँचे गद्देदार उपाश्रय (पीछे तकिया आदि के सहारे) से युक्त आसन पर बैठा दें। उस समय कुछ न खिलायें-पिलायें अथवा थोड़ा स्निग्ध यवागू, मण्ड के साथ घृत की एक मात्रा पिला दें अथवा जो भीरु (डरपोक), कृश, बाल, वृद्ध या सुकुमार हों, उन्हें दोषानुसार दूध, तक्र, यूष, गन्ने (*Saccharum officinale*) का रस, मांसरस, मद्य, तुषोदक, यवागू, मण्ड इनमें से कोई एक द्रव आकण्ठ (गले तक) पिला दें। उत्तम नक्षत्र, तिथि, करण तथा मुहूर्त में व्याधि, दोष एवं दूष्य आदि के अनुसार वामक औषधि द्रव्य की मात्रा लेकर, उसमें मधु एवं सैन्धव मिलाकर सुखोष्ण (हलका गरम) करके खिला दें। किसी ब्राह्मण से निम्नलिखित मंत्र द्वारा औषध को अभिमंत्रित करके उत्तराभिमुख होकर पूर्वाभिमुख बैठे रोगी को औषधि पिलायें। अभिमंत्रित करने का मंत्र—**'ब्रह्मा, दक्ष,** अश्विनीकुमार-द्वय, रुद्र, इन्द्र, भूमि

---

१. 'श्वः च्छर्दयितव्यमिति' इति **पाठान्तरम्**। २. 'दोषातुरोधेनाकण्ठं' इति पाठान्तरम्।
३. 'वैडूर्य' इति पाठान्तरम्।

(पृथ्वी), चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि सभी ऋषि तथा संपूर्ण औषधियाँ और समस्त प्राणी तुम्हारी रक्षा करें'।

यह औषधि तुम्हारे लिए वैसे ही लाभ करे, जैसे ऋषियों को रसायन औषधि, देवताओं को अमृत तथा उत्तम जाति के नागों के लिए अमृत लाभप्रद होता है।

भगवान् बुद्ध की प्रार्थना—भगवान्, औषध, गुरु, वैदूर्यमणि के समान कान्तिवान्, पूजनीय सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् तथागत को नमस्कार है।

तद्यथा—'ॐ भैषज्ये·····स्वाहा'।

वमन एक महत्त्वपूर्ण कर्म है। इस वमन की विधि में जो मंत्रोच्चार आदि किये जाते हैं, उससे रोगी का मानसिक बल बढ़ जाता है। इससे रोगी के कल्याण की कामना की जाती है तथा यह नैष्ठिकी चिकित्सा भी है। रोगी के मन की अवस्था का आकलन करके उसे मानसिक शान्ति, विश्वास एवं आत्मबल देने के लिए ये मंत्रोचार किये जाते हैं।

वामक औषधि पीने के पश्चात् कर्म

[1]पीतवान्नुरुन्यस्तभुजो वमनानुगतमानसोऽग्नितप्तैः पाणिभिरुपतप्यमानो मुहूर्तमनुपालयेत्। स यदा जानीयात् स्वेदप्रादुर्भावेन दोषं प्रविलयमापद्यमानं, रोमहर्षेण वा स्थानेभ्यः प्रविचलितं, कुक्ष्याध्मानेन च कुक्षिमनुसृतं क्रमात् हृदयोपमर्दहृल्लासास्यसंस्रवणैश्चोर्ध्वमभिमुखीभूतम्। [2]समुपस्थितानेकप्रतिग्राहः पार्श्वललाटोपग्रहेण नाभिप्रपीडनेन पृष्ठप्रतिलोममर्दनेन च [3]प्रवृत्तव्यपत्रपाणीयपुरुषो विवृतौष्ठतालुकण्ठो नातिमहता व्यायामेन वेगानुदीरयन्नाप्रवृत्तान् न प्रवर्तयन् प्रवृत्ताँश्चानुवर्तयन् सुपरिलिखितनखाभ्यामङ्गुलीभ्यामुत्पलकुमुदैरण्डनालैर्वा कण्ठमनभिस्पृशन्[4] वमेन्नात्युन्नतो नात्यवनतः पार्श्वापवृत्तो वा। तत्रात्युन्नतस्य पृष्ठहृदयपीडा भवति, अत्यवनतस्य शिरःकोष्ठपीडा, पार्श्वापवृत्तस्य पार्श्वकोष्ठहृदयोर्ध्वजत्रुपीडेति ॥ १५ ॥

रोगी वामक औषधि पीकर, दोनों हाथों को ऊरु पर रखकर वमन की प्रवृति में मन लगाये। हाथों को अग्नि पर तपा-तपा कर मुहूर्त्त भर (२ घड़ी–४८ मिनट) प्रतीक्षा करे। जब स्वेद आने लगे, तब जाने कि दोष पिघल रहे हैं। शरीर में रोमांच होने पर जाने कि दोष अपने स्थानों से विचलित हो रहे हैं। कुक्षि में आध्मान होने पर जाने कि दोष कुक्षि में आकर क्रमशः हृदयोपमर्द (हृदय में पीड़ा) करके हृल्लास तथा आस्य-संस्रवण (मुख से स्राव) होने लगे, तब समझे कि दोष ऊपर की ओर अभिमुख हो गये हैं। इस समय वहाँ अनेक परिचारक उपस्थित रहें। कोई रोगी के पार्श्व भाग को एवं कोई ललाट को दबाता रहे; कोई नाभि का प्रपीडन करे और कोई उसके पीठ को नीचे की ओर से ऊपर की ओर मलता रहे। इनमें कोई ऐसा व्यक्ति न हो, जिससे रोगी को लज्जा का अनुभव हो। ओष्ठ, तालु तथा कंठ खोलकर बहुत अधिक परिश्रम के बिना वेगों को बाहर निकालें। अप्रवृत्त वेगों को बाहर नहीं निकालना चाहिए। प्रवृत्त वेगों को भलीभाँति बाहर निकालने के लिए दो अँगुलियों के नखों को भलीभाँति काट कर इनसे या कमल (*Nelumbo nucifera* Gaertn), कुमुद (*Numphaea alba* Linn.) या एरण्डनाल (*Ricinus communis* Linn.) से गले को स्पर्श करते हुए वमन करें। शिर को बहुत ऊँचा उठाकर अथवा बहुत नीचा करके या एक पार्श्व में

---

१. 'ततः पीतवान्' इति पाठान्तरम्।. २. 'अथ समुस्थितानेक' इति पाठान्तरम्।
३. 'प्रवृत्ताव्यपत्रपणीय' इति पाठान्तरम्। ४. 'कण्ठमभिस्पृशन्' इति पाठान्तरम्।

रखकर वमन नहीं करना चाहिए। अधिक उन्नत होकर बैठने से पृष्ठ और हृदय में पीड़ा होती है, नीचा रखने से शिर और कोष्ठ में पीड़ा होती हैं, पार्श्व में रखने से पार्श्व, कोष्ठ, हृदय और जत्रु के ऊपर के भागों में पीड़ा होती है।

दोषानुसार वामक द्रव्यों का प्रयोग

एवं कटुतीक्ष्णैः[1] कफे छर्दयेत्। स्वादुभिः पित्तयुते। अम्लैः सस्नेहैरनिलसंसृष्टे। यावत्कफच्छेदः केवलौषधप्रवृत्तिः पित्तदर्शनं वा ॥ १६ ॥

कफविकार में कटु रस एवं तीक्ष्ण गुण वाले द्रव्यों से, पित्तविकार में मधुर रस वाले द्रव्यों से, पित्त से युक्त श्लेष्मविकार में मधुर रस वाले द्रव्यों से, वायु से मिश्रित श्लेष्मविकार में अम्ल रस एवं स्निग्ध गुण वाले द्रव्यों से वमन कराना चाहिए। जब तक कफ का छेदन हो रहा हो, तब तक अंगुली आदि से वमन करना चाहिए अथवा कफ-छेदन के अनंतर केवल औषधि की ही प्रवृत्ति होने तक वमन कराना चाहिए अथवा वमन में पित्त का दर्शन होने तक वमन कराना चाहिए।

पहले कहा जा चुका है कि मधुर, अम्ल, लवण रस वाले द्रव्यों से वायु का शमन होता है, कटु, तिक्त एवं कषाय रस वाले द्रव्यों से कफ का शमन होता है तथा कषाय, तिक्त और मधुर रस वाले द्रव्यों से पित्त का शमन होता है। अतः तत्-तत् दोषज विकारों में उनको शमन करने वाले रसों से युक्त तत्-तत् औषधियाँ देनी चाहिए।

हीनवेग के समय कर्त्तव्य

हीनवेगस्तु पिप्पल्यामलकसर्षपकल्कलवणोष्णोदकैः पुनः पुनः प्रवर्तयेत्। प्रभूतवमनासहिष्णुद्व्यहं त्र्यहं वा विश्रम्य। असात्म्यबीभत्सदुर्दर्शदुर्गन्धानि वमनानि विदध्यात्। विपरीतानि तु विरेचनानि। सर्वेषु च वमनेषु सैन्धवं मधु च विदध्यात्कफविलयनविच्छेदनार्थम्। वेगाँश्चास्य प्रतिग्राहगतानवेक्षेत ॥ १७ ॥

वमन का हीनवेग प्रवृत्त हो, तो पिप्पली (*Piper longum*), आमलक (*Emblica officinalis*), सरसों (*Brassica compestris*) के कल्क में नमक मिलाकर गर्म पानी से पिला दें। इस तरह वमन को बार-बार प्रवृत्त कराना चाहिए। जो लोग अधिक वमन सहने में समर्थ न हों तो उन्हें दो या तीन दिन विश्राम करके पुनः वमन कराना चाहिए। वमन द्रव्य असात्म्य तथा वीभत्स, देखने में दुर्दर्श (घृणाजनक) तथा दुर्गन्धयुक्त होता है। परन्तु विरेचन द्रव्य इसके विपरीत सात्म्य आदि होता है। सभी वमनकारक कषायों में कफ-विलयन के लिए सैंधव लवण तथा कफ-विच्छेदन के लिए मधु मिलाना चाहिए। आये हुए वमन के वेगों को प्रतिग्राह (पीकदान) में कराकर उनकी परीक्षा करनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि यदि वमन का सम्यग्योग न होकर हीनयोग हो, तब पुनः वमन कराना चाहिए। यदि रोगी अल्प बल वाला हो और बार-बार वमन को सहन कर सकने में असमर्थ हो, तब तुरन्त दुबारा वमन न कराकर दो-तीन दिन बाद वमन कराना चाहिए। वमन किये हुए द्रव को पीकदान में एकत्रित करके उसकी परीक्षा करनी चाहिए। यदि रोगी विषपीत हुआ, तो उस द्रव में विष की मात्रा मिलेगी। इसी तरह अन्य परीक्षाएँ (Naked Eye Examinations & Microscopic Examination) करनी चाहिए।

---

१. 'कटुतीक्ष्णोष्णैः' इति पाठान्तरम्।

वमन के अयोग का लक्षण

तत्राप्रवृत्तिः केवलस्य वा भेषजस्य प्रवृत्तिर्विबन्धो वा वेगानामयोगलक्षणम्। ततश्चारोचकगौरवाध्मानकण्डूस्फोटकोठालस्यशूलप्रतिश्यायलोमहर्षप्रसेकशोफशीतज्वरादयः॥

वमन की अप्रवृत्ति (वमन का न आना) या केवल औषध का वमन में आना या वेगों का रुक-सा जाना (थोड़ी-थोड़ी प्रवृत्ति) वमन के अयोग का लक्षण है। इससे अरोचक, भारीपन, आध्मान, कण्डू, स्फोट, कोठ (चकत्ता एवं शीतपित्त), आलस्य, शूल, प्रतिश्याय, लोमहर्ष, प्रसेक या लालास्राव, शोफ और शीतज्वर हो जाता है।

वमन के सम्यग् योग का लक्षण

योगलक्षणं पुनः काले क्रमात्कफपित्तानिलप्रवृत्तिर्नातिमहती व्यथा स्वयं चावस्थानं ततश्च स्वस्थता मनःप्रसादः स्वरविशुद्धिररोचकादिवैपरीत्यं च॥ १९॥

वमन का सम्यग् योग होने पर ठीक समय पर क्रमशः पहले कफ, फिर पित्त और इसके पश्चात् वायु की प्रवृत्ति होती है। इनके निकलने में अधिक व्यथा नहीं होती, वेग स्वयं रुक जाते हैं। इसके पश्चात् आरोग्य, मन की प्रसन्नता, स्वर की शुद्धि, अरोचक के विपरीत रुचि, लघुता, कोष्ठ में हलकापन तथा मुख की शुद्धता आदि होती है।

वमन के अतियोग का लक्षण

अतियोगे तु फेनिलरक्तचन्द्रिकोद्गमनम्। ततश्च क्षामतास्वरक्षयदाहकण्ठशोषभ्रममोहोन्मादमूर्च्छाशिरःशून्यताहृद्धूमायनगात्रशूलसुप्तितृष्णोर्ध्वानिलप्रकोपकर्णशूलार्दितवाक्सङ्ग्रहनुसंहननजिह्वाप्रवेशनिर्गमाक्षिव्यावृत्तिविसंज्ञतानिद्राबलाग्निहानयो भवन्ति। जीवशोणितप्रवृत्त्या मरणं वा। तेषां सिद्धिषु साधनं वक्ष्यते॥ २०॥

वमन का अतियोग होने पर आमयुक्त लालरक्त की चन्द्रिका (मोर के पंख) के समान वमन होता है और इसके पश्चात् क्षामता (कृशता), स्वरक्षय, दाह, कंठशोष, भ्रम, मोह, उन्माद, मूर्च्छा, शिर में शून्यता, हृदय से धुआँ निकलने की प्रतीति, गात्रशूल, सुप्ति (संज्ञानाश), तृष्णा, वायु का ऊपर की ओर गमन, कर्णशूल, अर्दित (Facial Paralysis), वाक्संग (वाणी में अवरोध), अनुग्रह (Lock Jaw), जिह्वा का अन्दर की ओर प्रवेश या बाहर की ओर निकलना, अक्षिव्यावृत्ति (नेत्रगोलकों का घूम जाना), विसंज्ञता (संज्ञा में विकृति आ जाना), निद्राहानि, बलहानि और अग्नि का क्षय अथवा जीवशोणित निकलने से मृत्यु तक हो जाती है। इन सभी विकारों की शान्ति के उपाय सिद्धि एवं कल्पस्थान में 'वमन-विरेचनव्यापत्सिद्धि' नामक अध्याय में कहे जायेंगे।

वमन के पश्चात् उपचार

योगेन तु खल्विमं[1] छर्दितवन्तं सुविशोधितपाणिपादमुखं मुहूर्तमाश्वास्य धूमत्रयस्यान्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वा पुनरुपस्पृष्टोदकं सम्मानितसुरभिताम्बूलं निवातागारशय्यास्थितं [2]स्नेहोक्तेनाहारविधिनाऽनुशिष्यात्॥ २१॥

सम्यग्योग से वमन होने पर रोगी का हाथ, पैर और मुख भलीभाँति धुलाकर एक मुहूर्त भर सांत्वना एवं आराम देकर रोगी की सामर्थ्यानुसार मृदु, मध्य एवं तीक्ष्ण धूमों में से किसी एक

१. 'खल्वेनं' इति पाठान्तरम्। २. 'स्नेहोक्तेनाचार' इति पाठान्तरम्।

धूम का पान करा दें। धूमपान के पश्चात् पुनः हाथ-पाँव धुलाकर सुगंधित ताम्बूल खिलाकर वायु रहित घर के भीतर शय्या पर बैठा दें और स्नेह अध्याय में कहे गये आहार-विहार का सेवन करने का उपदेश दें।

वमन कराने के पश्चात् आतुर को तुरन्त प्राकृत आहार नहीं दिया जाता है, बल्कि पहले सांत्वना (Reassurance) देने के पश्चात् यथोचित धूम का पान कराया जाता है, फिर पथ्यापथ्य का विचार करते हुए संसर्जनक्रम का सेवन कराया जाता है, फिर संतर्पण चिकित्सा की जाती है, जिनका वर्णन आगे किया जायेगा।

वमन के पश्चात् आहार का विधान

ततोऽग्निबलमवेक्ष्य क्षुधं च सायाह्ने अपरे वाऽह्नि सुखोदकपरिषिक्तः पुराणानां रक्तशालितन्दुलानां सुसिद्धमन्नमस्नेहलवणकटुकमल्पस्नेहलवणकटुकं वा द्रवप्रायमुष्णोदकानुप्रायं सायं प्रातरुपयुञ्जानो विधिमिममवेक्षेत पेयादीनाम् ॥ २२ ॥

इसके पश्चात् रोगी का अग्निबल एवं भूख को देखकर सायंकाल सुखोष्ण जल से स्नान कराकर, पुराना लाल चावल (*Oryza sativa*) का भात, स्नेह, लवण और कटु रस के बिना अथवा स्वल्प स्नेह, लवण और कटु रस के साथ पतला करके उष्ण जल के साथ रात्रि में तथा अगले दिन प्रातः पिलायें। इसके पश्चात् निम्नलिखित पेयादि क्रम का सेवन करायें।

शोधनोपरान्त आहार के रूप में पेयादि क्रम की व्यवस्था कराई जाती है, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा।

पेयादि क्रम

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम्।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान्प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ॥ २३ ॥

प्रधान, मध्य और अवर शुद्धि से शुद्ध (विशुद्ध) पुरुष पेया, विलेपी, कृत एवं अकृत यूष तथा कृत एवं अकृत मांसरस क्रमशः तीन अन्न कालों में तथा एक अन्न काल में सेवन करे।

प्रधान शुद्धि की अवस्था में तीन अन्नकालों में पेया, इसके पश्चात् तीन अन्नकालों में विलेपी, फिर तीन अन्नकालों में कृताकृत रस देना चाहिए। इस प्रकार वमन के दिन की सन्ध्या से लेकर सात रात्रि तक पेयादि का क्रम है। मध्य शुद्धि में पहले दो समय पेया, दो समय विलेपी, दो समय कृताकृत यूष एवं दो समय कृताकृत रस का सेवन करें। अवर शुद्धि की अवस्था में एक काल में पेया, एक काल में विलेपी, फिर एक काल में कृताकृत रस का सेवन करें। इसमें भी यह व्यवस्था है कि यूष या रस में तीन कालों में पहले काल में अकृत यूष या रस, फिर उत्तरकाल में कृत यूष तथा रस देना चाहिए। यह नियम प्रधान और मध्य में स्पष्ट है। किन्तु अवर में यूष एवं रस के सम्बन्ध में साम्य होने से कृताकृत की व्यवस्था नहीं हो पा रही है। इसलिए चक्रपाणि ने अपनी टीका (चरक-सिद्धि० १।११) में यह कहा है कि एक ही काल होने पर थोड़े का संस्कार कर तथा थोड़े का बिना संस्कार किये ही प्रयोग करना चाहिए।

संशोधन के पश्चात् रोगी की जठराग्नि मंद हो जाती है, अतः जठराग्नि के अल्प बल को देखते हुए आहार के रूप में पेयादि से प्रारम्भ करते हुए क्रमशः लघु फिर धीरे-धीरे गुरु आहार दिया जाता है। इस प्रकार क्रमशः आतुर को प्राकृत आहार पर लाया जाता है। इसी को संसर्जन क्रम भी कहते हैं। आचार्य जेज्जट का कथन है—'संशोधनाभ्यां दोषद्रवीकरणादामाशयानुगत-

दोषौषधस्याग्निरायाति संन्नव दिष्टमुच्यते। संशोधनाभ्यां दोषधात्वनवस्थानात्तदग्निमान्द्यं···।' अर्थात् संशोधन के कारण दोष द्रवीभूत होकर आमाशय को प्राप्त होते हैं। अतः दोषों द्वारा आमाशयिक क्षोभ के फलस्वरूप अग्निमांद्य होना संभव ही है। इसीलिए संशोधन के पश्चात् उपर्युक्त पेयादि क्रम (संसर्जन क्रम) का विधान किया जाता है। सुश्रुत के अनुसार पेयादि क्रम के स्थान पर कुल्थी, आठकी या जांगल मांस का यूष भी दिया जा सकता है।

संसर्जनक्रम की तालिका

दिन	समय	प्रधान शुद्धि	मध्यम शुद्धि	अवर (हीन) शुद्धि
प्रथम	प्रातःकाल	—	—	—
	सायंकाल	पेया	पेया	पेया
द्वितीय	प्रातःकाल	पेया	पेया	विलेपी
	सायंकाल	पेया	विलेपी	कृताकृत यूष
तृतीय	प्रातःकाल	विलेपी	विलेपी	कृताकृत रस
	सायंकाल	विलेपी	अकृत यूष	सामान्य भोजन
चतुर्थ	प्रातःकाल	विलेपी	कृत यूष	—
	सायंकाल	अकृत यूष	अकृत मांसरस	—
पंचम	प्रातःकाल	कृत यूष	कृत मांसरस	—
	सायंकाल	कृत यूष	सामान्य भोजन	—
षष्ठ	प्रातःकाल	अकृत मांसरस	—	—
	सायंकाल	कृत मांसरस	—	—
सप्तम	प्रातःकाल	कृत मांसरस	—	—
	सायंकाल	सामान्य भोजन	—	—

पेया आदि से लाभ

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः॥ २४॥

जैसे बाह्य अग्नि स्वल्प होने पर भी तृण एवं गोमय (गोबर) आदि के संयोग से क्रमशः प्रदीप्त होकर महान्, स्थिर तथा सर्वपच (सब कुछ पचाने वाली) हो जाती है, वैसे ही वमन तथा विरेचन से शुद्ध व्यक्ति की जठराग्नि पेया आदि के क्रमशः सेवन करने से महान्, स्थिर और सभी कुछ पचाने वाली हो जाती है।

वमन एवं विरेचन के वेग एवं प्रमाण

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ।
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके [1]प्रस्थस्तथा स्यात् द्विचतुर्गुणश्च॥ २५॥

वमन में चार वेगों का होना जघन्य, छः वेगों का होना मध्यम और आठ वेगों का होना प्रवर (उत्तम) कहा गया है। विरेचन में दस वेगों का होना जघन्य, बीस वेगों का होना मध्यम

१. १ प्रस्थ = ६४ तोला = ७६८ ग्राम।

तथा तीस वेगों का होना उत्तम माना गया है। इसी प्रकार मात्रा की दृष्टि से विरेचन में निकलने वाला द्रव्य एक प्रस्थ जघन्य, दो प्रस्थ मध्यम तथा चार प्रस्थ उत्तम होता है।

वमन एवं विरेचन के वेगों की तालिका

वेग	संख्या एवं मात्रा	उत्तम	मध्यम	हीन
वमन	संख्या	८ (पित्तान्त)	६	४
	मात्रा	२ प्रस्थ	१ प्रस्थ	½ प्रस्थ
विरेचन	संख्या	३० (कफान्त)	२०	१०
	मात्रा	४ प्रस्थ	२ प्रस्थ	१ प्रस्थ

वमन एवं विरेक मर्यादा

पित्तावसानं वमनं विरेकादर्द्धं कफान्तं च विरेकमाहुः।
द्वित्रान्सविट्कानपनीय वेगान्मेयं विरेके वमने तु पीतम् ॥ २६ ॥ इति ॥

पुनः अन्य आचार्य पित्त के आने पर वमन को उत्कृष्ट कहते हैं। वमन में उपर्युक्त मात्रा विरेचन से आधी होनी चाहिए। अर्थात् आधा प्रस्थ जघन्य, एक प्रस्थ मध्यम तथा दो प्रस्थ उत्तम वमन कहा गया है। इसी प्रकार कफ के आने तक को उत्तम विरेचन कहा गया है। विरेचन में दो-तीन वेगों को छोड़ने के पश्चात् उपर्युक्त प्रमाण होना चाहिए। वमन में ली गई औषधि के परिमाण को छोड़कर उपर्युक्त परिमाण होना चाहिए।

विरेचन विधि

अथ वमितवन्तं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य श्वो विरेचयितव्य इति सुजरमश्लेष्मलं स्निग्धं फलाम्लमुष्णमुष्णोदकानुपानं जाङ्गलरसौदनं भोजयेत्। ततः सुखोषितं पूर्वोक्तेन विधिनाऽतीतश्लेष्मकाले निरन्नं विभज्य कोष्ठं यथाहौंषधिमात्रां पाययेत्। न त्वकृतवमनमन्यत्रातिक्रूरकोष्ठात् ॥ २७ ॥

विधिपूर्वक वमन किये हुए व्यक्ति को पुनः स्नेहन तथा स्वेदन कराकर कल इस रोगी को विरेचन कराया जायेगा, ऐसा निश्चय करके इसे उसी दिन (विरेचन से एक दिन पूर्व) ठीक से पचने वाला अश्लेष्मल (जो कफकारक न हो), स्निग्ध, जांगल प्राणियों के मांसरस के साथ चावल को खट्टे फलों (दाडिम आदि) से मिश्रित गरम जल के साथ भोजन के रूप में देना चाहिए। इसके पश्चात् रात में आराम से सुलाकर प्रातःकाल पूर्वोक्त विधि से कफ का समय व्यतीत हो जाने पर बिना भोजन कराये खाली पेट कोष्ठ का विचार करके यथायोग्य औषधि की मात्रा को पिला दें। बिना वमन कराये विरेचन औषधि नहीं देनी चाहिए। किन्तु क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति को वमन कराये बिना विरेचन दिया जा सकता है।

विरेचन के पूर्व वमन का महत्त्व

अकृतवमनस्य हि श्लेष्मणोपहतमौषधमूर्ध्वं प्रवर्तते। उरसि वाऽवरुद्धमवतिष्ठते। ततो नालं विरेकाय। सम्यग्विरिक्तस्यापि चाधःस्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीं छादयित्वा गौरवमापादयति प्रवाहिकां वा। न त्वेष दोषोऽतिक्रूरकोष्ठस्य वाय्वात्मकत्वात् ॥ २८ ॥

विरेचन के पूर्व वमन न कराने से विरेचन औषध कफ से उपहत (तिरस्कृत) होकर ऊपर की ओर प्रवृत्त हो जाती है अथवा उरःस्थल में रुक जाती है। इसलिए विरेचन कराने के लिए वे समर्थ नहीं होतीं। यदि सम्यक् प्रकार से विरेचन हो जाये, तो भी कफ ग्रहणी को आच्छादित कर गौरव (शरीर में भारीपन) या प्रवाहिका नामक रोग उत्पन्न कर देता है, किन्तु अतिक्रूर कोष्ठ में वमन न कराने से ये दोष नहीं होते, क्योंकि क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्ति के उदर में वायु की अधिकता होती है।

विरेचन काल

श्लेष्मकाले त्वकृतवमनोक्तदोषाः शूलाध्मानगौरवाणि च कृत्वा छर्दिक्षीणे श्लेष्मण्यपराह्णे रात्रौ वा विरेचयेत्। तेनान्नावृतमपि तुल्यं छर्दिं च पुनस्तज्जनयति। अविरिक्तस्य तु श्लेष्मकाले च वमनं निष्फलं योज्यम्। तथोर्ध्वं सुखेन निर्हरणात्॥ २९॥

बिना वमन कराये हुए विरेचन करने से जो दोष पैदा होते हैं, वे ही दोष वमन कराने के पश्चात् भी श्लेष्मकाल में विरेचन कराने से हो जाते हैं अथवा श्लेष्मकाल में दिया गया विरेचन शूल, आध्मान, गौरव (भारीपन) उत्पन्न कर अग्निबल से श्लेष्मा के क्षीण होने पर या तो सन्ध्या के समय या रात्रि में विरेचन कराता है। श्लेष्मकाल में जो विरेचन देते हैं, उसी के समान दोषकारी अन्नावृत (भोजन के पश्चात् विरेचन या विरेचन के पश्चात् भोजन) विरेचन भी जब अन्न क्षीण होगा, उस समय सायंकाल या रात्रि में विरेचन करायेगा। दोनों में अन्तर यह है कि अन्नावृत छर्दि पैदा करता है, श्लेष्मकालपीत नहीं। जिस व्यक्ति ने पहले विरेचन का सेवन नहीं किया और श्लेष्मकाल में वमन द्रव्य का सेवन किया है, उसको वह द्रव्य सुखपूर्वक विरेचन कराता है।

त्रिविध कोष्ठ

कोष्ठस्तु त्रिविधो भवति। मृदुः क्रूरो मध्यश्च। तत्र बहुपित्तो मृदुः, स विरिच्यते क्षीरेक्षुरसाम्लतक्रमस्तुगुड[1]कृशरासर्पिर्नवमद्योष्णोदकपीलुद्राक्षापूगफलादिभिरपि। बहुवातः क्रूरः, स दुर्विरेच्यस्त्रिफलातिल्वकत्रिवृन्नीलिनीफलादिभिरपि। बहुश्लेष्मा समदोषश्च मध्यः, स साधारणः। ये च स्निह्यन्त्यच्छपानेन प्रायशस्त्रिसप्तपञ्चरात्रैरिति॥ ३०॥

कोष्ठ तीन प्रकार का होता है—मृदु (कोमल) कोष्ठ, क्रूर (कड़ा या रूक्ष) कोष्ठ तथा मध्य कोष्ठ। इनमें मृदु कोष्ठ में पित्त की अधिकता होती है; इस प्रकार के कोष्ठ में दूध, इक्षुरस, अम्ल, तक्र, मस्तु, गुड़, कृशरा (खिचड़ी), घृत, नूतन मद्य, उष्ण जल, पीलु (*Salvadora indica*) का फल, द्राक्षा (*Vitis vinifera*), सुपारी (*Areca catechu*) आदि से विरेचन हो जाता है। क्रूरकोष्ठ में वात की अधिकता होती है। इनका त्रिफला, तिल्वक् (*Viburnum nervosum*), त्रिवृत्, (*Ipomoea turpethum*), नीलिनी (*Indigofera indica*) के फल आदि से कठिनाई (दुःख) से विरेचन होता है। बहुत कफ या समदोष से मध्य कोष्ठ होता है। यह साधारण होता है, जो प्रायः अच्छस्नेह पान से तीन दिन में स्निग्ध होते हैं। जो कोष्ठ सात दिन में स्निग्ध होते हैं, उन्हें क्रूरकोष्ठ तथा जो पाँच दिन में स्निग्ध होते हैं, उन्हें मध्यकोष्ठ कहते हैं।

विरेचन-विधि

तत्र कषायमधुरद्रव्यैः पित्ते विरेचनम्। मूत्रकटूष्णैः कफे। स्निग्धोष्णलवणैर्वाते। पीतमात्र एव चौषधे छर्दिविघाताय शीताम्बुना मुखमस्य सहसा सिञ्चयेत्। ततश्चोष्णोद-

१. 'कृशरस' इति पाठान्तरम्।

केन सोऽन्तर्मुखं विशोध्यार्द्रसुरभिमृन्मातुलुङ्गजम्बीरसुमनःसौगन्धिकादिहृद्यगन्धानुपजिघ्रेत्। निवातसुखशय्यास्थितश्चाविबन्धार्थमल्पाल्पमुष्णोदकमनुकण्ठंचँस्तन्मना वेगान्नधारयन् ईरयमाणश्च शय्यासन्ने प्रतिग्राहेऽशीतस्पृक् विरिच्येत। यथा च वमने स्वेदप्रसेकौषधकफपित्तानिलाः क्रमेण प्रवर्तन्ते तथा विरेचने वातमूत्रपुरीषपित्तकफाः, पुनश्चान्ते वायुः, दोषाणां हि देहे तथासन्निवेशान्मार्गवैपरीत्याच्च शोधनयोरिति ॥ ३१ ॥

इनमें पित्त की प्रधानता में कषाय तथा मधुर रस वाले द्रव्यों से विरेचन करायें। कफ की प्रधानता में मूत्र, कटु रस एवं उष्ण द्रव्यों से विरेचन करायें। वात की प्रधानता में स्निग्ध, उष्ण एवं लवण रस वाले द्रव्यों से विरेचन करायें। विरेचन औषधि लेते ही वमन को रोकने के लिए शीतल जल से तत्काल छींटें मारना चाहिए। इसके पश्चात् गर्म जल से कुल्ला करवा कर गीली सुगंधित मिट्टी, मातुलुंग (गलगल *Citrus aurantifolia*), जम्बीर (बिजौरानींबू *Citrus lemon*), चमेली (*Jasmine grandiflorum*) के फूल तथा मन को पसन्द सुगन्ध सुँघाना चाहिए। इस समय रोगी को वायुरहित घर के भीतर सुखदायक शय्या पर बैठा देना चाहिए। मल की रुकावट को नष्ट करने के लिए थोड़ा-थोड़ा गर्म पानी पिलाते रहें। रोगी भी मलत्याग की कामना करता रहे और शय्या के समीप में रखे गये प्रतिग्राह (मलपात्र) में मलत्याग करता रहे, तत्पश्चात् उष्ण जल से संस्कार करें। जिस प्रकार वमन में स्वेद, प्रसेक (लालास्राव), वामक औषधि, कफ, पित्त या वायु क्रमशः प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार विरेचन में क्रमशः वायु, मूत्र, पुरीष, पित्त, कफ और अन्त में पुनः वायु प्रवृत्त होता है। वमन और विरेचन में दोषों का इस प्रकार से विपरीत निस्सरण का कारण यह है कि शरीर में दोषों का सन्निवेश इस प्रकार का है और मार्ग में विपरीतता है। अर्थात् वमन में पहले कफ निकलता है और विरेचन में पहले वायु निकलता है।

अप्रवृत्त विरेचन में कर्म

[1]अप्रवृत्तौ भेषजोत्तेजनार्थमुष्णोदकं पाययेत्। पाणितापैश्च जठरं स्वेदयेत्। प्रवृत्ते च दीप्ताग्नेः स्निग्धवपुषो बहुदोषस्यालपे दोषे नैव वा प्रवृत्तेऽल्पदोषस्यापि जीर्णभैषजस्याहःशेषं बलं चापेक्ष्य भूयो मात्रां विदध्यात्। न त्वजीर्णौषधस्यातियोगभयात्। तदहर्वा भुक्तवतोऽन्येद्युः। अदृढस्नेहं वा दशरात्रादूर्ध्वमुपस्कृतदेहमवहितो भूयः पाययेत् ॥ ३२ ॥

यदि विरेचन औषधि कार्य न करे, तो उसे उत्तेजित करने के लिए उष्ण जल पीना चाहिए। हाथों को गर्म करके उदर को सेंकना चाहिए। अग्नि के प्रबल होने, शरीर के स्निग्ध होने, शरीर में बहुत दोष होने से विरेचन होने पर भी या अल्प दोष वालों में विरेचन न होने पर या अल्प प्रवृत्त होने पर थोड़े दोष वालों में भी औषध जीर्ण हो गया हो, तो दिन के समय रोगी के बल को देखकर के वामक औषधि की दूसरी मात्रा पिलानी चाहिए। किन्तु औषधि जीर्ण हुए बिना दुबारा औषधि नहीं देनी चाहिए। इससे अतियोग होने का भय रहता है अथवा उसी दिन भोजन देकर दूसरे दिन विरेचन दें अथवा स्नेहन ठीक से न हुआ हो, तो फिर भलीभाँति स्नेहन करा कर सावधानीपूर्वक दस दिनों के बाद विरेचन औषधि का सेवन करायें।

सर्वदा रोगी

ह्रीभयलोभैश्च वेगाभिघातशीलाः प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजश्च

---

१. 'अप्रवृत्तौ तु' इति पाठान्तरम्।

भवन्ति। तस्मादेते वेगधारणप्रवृद्धवातत्वात्सदाऽऽतुरा दुर्विरेच्याश्च। तान्सुस्निग्धान् शोधयेत् ॥ ३३ ॥

प्रायः स्त्रियाँ लज्जा के कारण, राजसेवक भय के कारण और व्यापारी लोभ के कारण समय पर वेगों का त्याग नहीं कर पाते हैं। इसलिए उपस्थित वेगों को रोकने से प्रवृद्ध वायु के कारण ये सर्वदा रोगी रहते हैं तथा इनको कठिनाई से विरेचन होता है। इनको सम्यक् प्रकार से स्निग्ध करके वमन-विरेचन कराना चाहिए।

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त रोगी विभिन्न कारणों से वेगोत्सर्ग नहीं कर पाते। अतः वायु का प्रकोप उनके शरीर में हो जाता है। फलस्वरूप शारीरिक रूक्षता बढ़ जाती है तथा कोष्ठ मल के संचय के कारण अधिक अशुद्ध हो जाता है। अतएव इनको विरेचन में कठिनाई होती है, अतः इन रोगियों का शोधन करने से पहले इनका सम्यक् स्नेहन अवश्य करा लेना चाहिए।

अन्य दुर्विरेचनीय

अन्यानपि चाकालनिर्हारविहाराहारान्। ततश्चैषां सदाऽऽतुरत्वादल्पोऽप्यामयो दुःसाध्यो भवति। तेषां पुनः क्रियाविधिः स्नेहव्यापत्सिद्धावुपदेक्ष्यते ॥ ३४ ॥

अन्य भी जो लोग अकाल में मल-मूत्र का त्याग, विहार (घूमना) और भोजन करते हैं, इसलिए वे सदैव रोगी रहते हैं। रोगी होने से थोड़ा रोग भी दुस्साध्य हो जाता है। इनकी चिकित्सा उत्तरतंत्र में स्नेहव्यापत्सिद्धि में कही जायेगी।

विरेचन का हीन योग

तत्रासम्यग्विरेकात्कुक्षिहृदयाविशुद्धिराध्मानमरुचिः प्रसेकः कफपित्तोत्क्लेशच्छर्दिभ्रमाः कण्डूः पिटका विदाहो गौरवमग्निसादस्तन्द्रा स्तैमित्यं प्रतिश्यायो वातविण्मूत्रसङ्गश्च ॥ ३५ ॥

विरेचन का असम्यक् योग होने से कुक्षि (उदर) एवं हृदय में अशुद्धि, आध्मान, अरुचि, प्रसेक, कफ एवं पित्त का उत्क्लेश, वमन, भ्रम, कण्डू, पिटिका, विदाह, भारीपन, अग्निमांद्यता, तन्द्रा, स्तैमित्य (शरीर में चिपचिपाहट महसूस होना), प्रतिश्याय और वायु तथा मूत्र का अवरोध हो जाता है।

विरेचन का सम्यग् योग

सम्यग्विरेकाद्व्याध्युपशमो यथोक्तविपर्ययश्च ॥ ३६ ॥

विरेचन का सम्यग् योग होने पर रोग की शांति तथा उपर्युक्त असम्यक् लक्षणों के विपरीत लक्षण एवं कुक्षि हृदय आदि की शुद्धि, मुख की विशदता आदि लक्षण होते हैं।

विरेचन का अतियोग

अतिविरेकात्तु केवलं दोषरहितमुदकं रक्तं वा मेदोमांसधावनोपमं कृष्णं वा प्रवर्तते। परिकर्तिका हृदयोद्वेष्टनं गुदनिःसरणं नयनप्रवेशः पिपीलिकासञ्चार इवाङ्गे वमनातियोगतुल्यता च ॥ ३७ ॥

विरेचन का अतियोग होने से पुरीष एवं पित्त आदि से रहित केवल पानी या रक्त या मेदो धातु या मांस के धोवन के समान जल या काला जल निकलता है। परिकर्तिका (गुदवलियों

में कैंची से काटने जैसी पीड़ा), हृदय में पीड़ा या ऐंठन, गुदनिःसरण (गुदभ्रंश), नयनप्रवेश (आँखों का अंदर धँस जाना), शरीर पर चीटियों के चलने की-सी प्रतीति होना और वमन के अतियोग के समान लक्षण होते हैं ।

विरेचनोत्तर पथ्य

सम्यग्विरिक्तं चैनं वमनोक्तेन धूमवर्जेन विधिनोपपादयेत् । अथ वमितवानिव क्रमेणान्नान्युपञ्जानः प्रकृतिभोजनमागच्छेदिति ॥ ३८ ॥

सम्यग् विरेचन होने पर रोगी को धूमपान विधि को छोड़कर शेष वमनोक्त विधि का सेवन करायें । इसके पश्चात् वमन किये हुए पुरुष के समान पेया आदि का क्रमशः सेवन कराते हुए स्वाभाविक भोजन पर लाना चाहिए ।

तात्पर्य यह है कि जैसे वमन के बाद पेयादि संसर्जन-क्रम का विधान किया जाता है, वैसे ही विरेचन के बाद भी संसर्जनक्रम का पालन करते हुए रोगी को प्राकृत आहार पर लाना चाहिए ।

वमन एवं विरेक काल

भवति चात्र—

जीर्णान्ने वमनं योज्यं कफे जीर्णे विरेचनम् ।
मन्दवह्निमसंशुद्धमक्षामं दोषदुर्बलम् ॥ ३९ ॥
अदृष्टजीर्णलिङ्गं च लङ्घयेत्पीतभेषजम् ।
स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेशसङ्गैरिति न बाध्यते ॥ ४० ॥

पहले दिन किये हुए आहार के पच जाने पर वमन औषधि देनी चाहिए । कफ के जीर्ण हो जाने पर विरेचन देना चाहिए । वमन-विरेचन के लिए औषधि पीने से मंदाग्नि के कारण शोधन न हुआ हो, रोगी व्यक्ति दुर्बल न हो, किन्तु दोष दुर्बल हों, जीर्ण के लक्षण न दिखलाई पड़ते हों, तो उसे लंघन कराना चाहिए । स्नेह, स्वेद, औषधि का उत्क्लेश तथा संग (अवरोध) से रोगी को कोई कष्ट नहीं होता है ।

लंघन के कारण जठराग्नि प्रबल होती है, अतः यहाँ मंदाग्नि की अवस्था में लंघन कराने का निर्देश किया गया है ।

विरेकान्तर तर्पणादि क्रम

संशोधनास्रविस्रावस्नेहयोजनलङ्घनैः ।
यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिमाचरेत् ॥ ४१ ॥
स्रुताल्पपित्तश्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकम् ।
पेयां न पाययेत् तेषां तर्पणादिक्रमो हितः ॥ ४२ ॥

संशोधन, अस्रविस्रावण (रक्तमोक्षण), स्नेहन तथा लंघन करने से जठराग्नि मंद हो जाती है । इसलिए इनके पश्चात् पेयादि आहार-क्रम का सेवन कराना चाहिए । जिस रोगी के पित्त एवं कफ स्वल्प मात्रा में बाहर निकले हों, जो मद्य पीने वाला हो या वातपित्त प्रकृति का हो, उसको पेया के क्रम का प्रयोग नहीं करना चाहिए । उसके लिए तर्पण आदि का क्रम हितकारक होता है ।

मद्यपी एवं वातपित्त प्रकृति के पुरुषों में वात के प्रकोप के अधिक अवसर होते हैं, अतः उनको पेयादि लघु आहार-क्रम का पालन न कराकर वातशामक संतर्पण आदि क्रम की औषधियाँ एवं आहार-विहार का पालन कराया जाता है ।

वमन एवं विरेचन में प्रतीक्षा नियम

अपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं विरेचनम् ।
निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत् ॥ ४३ ॥

वमन औषधि के पाक (जीर्ण) होने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए । अर्थात् यदि वमन में विलम्ब हो, तो शीघ्र वमन के प्रवर्तन की क्रिया आरम्भ कर देनी चाहिए, किन्तु विरेचन औषधि के जीर्ण होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए । अन्यथा अपक्व औषधि दोषों को बाहर नहीं निकालती ।

वमन एवं विरेचन विपर्यय में उपाय

ऊर्ध्वाधो रेचनं युक्तं वैपरीत्येन जायते ।
यदा तदा छर्दयतः सिञ्चेदुष्णेन वारिणा ॥ ४४ ॥
पादौ शीतेन चोर्ध्वाङ्गं विपरीतं विरेचनम् ।

जब किसी कारण से वमन औषधि से विरेचन तथा विरेचन से वमन हो जाय, तब विरेचन से विपरीत वमन में उष्ण जल से पैरों का सिंचन करना चाहिए और यदि वमन के विपरीत विरेचन हो रहा हो, तो पैरों को ठंडे जल से तथा सिर का गर्म जल से सिंचन करना चाहिए ।

स्वयं प्रवृत्त विरेचन में उपाय

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यः स्वयम् ॥ ४५ ॥
विरिच्यते भेदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत् ।

यदि किसी दुर्बल और बहुत दोष वाले व्यक्ति में दोषों के पक जाने से स्वयं विरेचन हो जाता है, तो उसे विरेचन ओषधि अथवा स्तम्भन औषधि न देकर भेदनीय आहार द्वारा उसका उपचार करना चाहिए ।

मृदु एवं अल्प औषधि द्वारा संशोधन

दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशो नरः ॥ ४६ ॥
अपरिज्ञातकोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधम् ।
वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम् ॥ ४७ ॥
हरेद् बहूँश्चलान्दोषानल्पानल्पान्पुनः पुनः ।
दुर्बलस्य मृदुद्रव्यैरल्पान्संशमयेत्तु तान् ॥ ४८ ॥
क्लेशयन्ति चिरं ते हि हन्युश्चैनमनिर्हृताः ।

जो दुर्बल हों, जिसका पहले वमन एवं विरेचन हो चुका हो, जिसके शरीर में दोष अल्प हों, जो कृश हो और जिसके कोष्ठ के विषय में जानकारी नहीं हो, ऐसे लोगों को कोमल और अल्प मात्रा में औषधि पिलानी चाहिए, क्योंकि शोधन की औषधि बार-बार पीना अच्छा नहीं होता, किन्तु एक साथ अधिक पीना भी ठीक नहीं है, उससे जीवन संकट में पड़ सकता है । बहुत एवं गतिशील बने दोषों को बार-बार थोड़ा-थोड़ा करके निकालना चाहिए । दुर्बल व्यक्ति में स्वल्प दोषों को मृदु द्रव्यों से शान्त करना चाहिए, क्योंकि बाहर न निकले हुए दोष रोगी को बहुत समय तक क्लेश देते रहते हैं ।

मदाग्नि एवं क्रूर कोष्ठ में शोधन

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः ॥ ४९ ॥
सन्धुक्षितार्ग्नि विजितकफवातं विशोधयेत् ।

मन्दाग्नि तथा क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्तियों को क्षार, लवण एवं घी पिलाकर जठराग्नि को प्रदीप्त करके तथा कफ और वायु को शान्त करके शोधन करना चाहिए ।

विरेचन से पूर्व वस्ति का प्रयोग

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशीलिनाम् ॥ ५० ॥
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति ।
तेभ्यो बस्तिं पुरा दद्यात्ततः स्निग्धं विरेचनम् ॥ ५१ ॥
शक्तन्निर्हृत्य वा किञ्चित्तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिः ।
प्रवृत्तं हि मलं स्निग्धो विरेको निर्हरेत्सुखम् ॥ ५२ ॥

रूक्ष शरीर वालों, वायु की अधिकता वालों, क्रूरकोष्ठ, नित्य व्यायाम करने वालों तथा प्रदीप्त अग्नि वालों को विरेचक औषधि विरेचन किये बिना ही जीर्ण हो जाती है । ऐसे व्यक्तियों को पहले वस्ति देने के पश्चात् स्निग्ध विरेचन देना चाहिए अथवा तीक्ष्ण फलवर्त्तियों से कुछ मल निकालकर स्निग्ध विरेचन देना चाहिए, क्योंकि प्रवृत्त हुआ मल स्निग्ध विरेचन से सुखपूर्वक निकल जाता है ।

स्निग्ध-रूक्ष विरेचन नियम

विषाभिघातपिटिकाकुष्ठशोफविसर्पिणः ।
कामलापाण्डुमेहार्तान्नातिस्निग्धान्विशोधयेत् ॥ ५३ ॥
सर्वान्स्नेहविरेकैश्च रूक्षैस्तु स्नेहभावितान् ।

विष, अभिघात, पिटिका, कुष्ठ, शोथ, विसर्प, कामला, पाण्डु एवं प्रमेह से पीड़ित रोगियों को स्वल्प स्नेहन कराना चाहिए । सबको स्नेह विरेचन से शोधित करना चाहिए । किन्तु स्नेह-भावित पुरुषों को रूक्ष विरेचन देना चाहिए ।

संशोधन के पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन

कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यन्तरेऽन्तरे ॥ ५४ ॥
स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत स्नेहमन्ते बलाय च ।

वमन आदि कर्मों के बीच-बीच में बार-बार स्नेहन और स्वेदन देना चाहिए और अन्त में शरीर को बलवान् करने के लिए स्नेहन कराना चाहिए ।

स्नेहन एवं स्वेदन का महत्त्व

ऊषादिभिर्यथोत्क्लेश्य ह्रियते वाससो मलः ॥ ५५ ॥
तथैव वपुषः स्नेहस्वेदमाषतिलादिभिः ।

जैसे ऊसर मिट्टी (रेह) आदि से वस्त्र का मल बाहर निकाला जाता है, वैसे ही माष (उड़द *Phaseolus radiatus*), तिल (*Sesamum indicum* Linn.) आदि द्वारा स्नेहन-स्वेदन कर शरीर का मल बाहर निकाला जाता है ।

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः ॥ ५६ ॥
दारुशुष्कमिवानामे शरीरं तस्य दीर्यते ।

स्नेहन एवं स्वेदन का सेवन किये बिना जो संशोधन करता है, उसका शरीर उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूखी लकड़ी मोड़ते समय टूट जाती है ।

तीक्ष्ण संशोधन

सुखं क्षिप्तं महावेगमसक्तं यत्प्रवर्तते ॥ ५७ ॥
नातिग्लानिकरं नापि हृदि पायौ च रुक्करम् ।
अन्तराशयगं क्लिन्नं कृत्स्नं दोषं निरस्यति ॥ ५८ ॥
विरेचनं निरूहं वा तत्तीक्ष्णमिति निर्दिशेत् ।

जो संशोधन सुखपूर्वक, अल्प समय में, तेजी के साथ तथा बिना किसी अवरोध के साथ प्रवृत्त होता है, अधिक ग्लानि नहीं करता, हृदय तथा गुद में पीड़ा नहीं करता और कोष्ठ में स्थित समस्त दोषों को बाहर निकाल देता है, वह तीक्ष्ण विरेचन या तीक्ष्ण निरूह कहलाता है ।

औषधि की तीक्ष्णता एवं मन्दता

जलाग्निकीटैरस्पृष्टं देशकालगुणान्वितम् ॥ ५९ ॥
नवं मात्राधिकं किञ्चित्तुल्यवीर्यैः सुभावितम् ।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तीक्ष्णत्वं याति भेषजम् ॥ ६० ॥
अतो विपर्यये मन्दं मन्दतां च प्रपद्यते ।

जो औषधि जल, अग्नि और कीटों (घुन आदि) से दूषित नहीं हुई हो, देश तथा काल के गुणों से सम्पन्न हो, नवीन हो, मात्रा से कुछ अधिक प्रयुक्त हुई हो, अपने समान वीर्य वाली औषधियों से संस्कारित (भावित) हो एवं सम्यक् प्रकार से स्नेहन एवं स्वेदन कराये गये पुरुष को दी गई हो, वह तीक्ष्णता को प्राप्त कर लेती है । उपर्युक्त लक्षणों से विपरीत होने पर औषधि मन्दता को प्राप्त होती है । जो औषधि इन दोनों के बीच के लक्षणों से युक्त हो, वह मध्य कहलाती है ।

रोगों के तीन प्रकार

तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः सर्वमध्यात्पलक्षणः ॥ ६१ ॥
बलापेक्षं हितं तेषु तीक्ष्णं मध्यं मृदु क्रमात् ।

जो व्याधि अपने समस्त लक्षणों से युक्त हो, वह तीक्ष्ण; जो मध्यम संख्या में लक्षणों से युक्त हो, वह मध्य तथा जो अल्प लक्षणों से युक्त हो, वह मृदु व्याधि कहलाती है । इनमें तीक्ष्ण व्याधि में तीक्ष्ण औषधि, मध्य व्याधि में मध्य तथा मृदुव्याधि में मृदु औषधि देनी चाहिए । रोगी के बल की अपेक्षा से औषधि देनी चाहिए । यदि रोगी निर्बल तथा व्याधि तीक्ष्ण हो, तो मृदु औषधि का प्रयोग करना चाहिए ।

संशोधन हेतु सात्म्य द्रव्यों का निषेध

अप्रवर्त्यं मलान् द्रव्यं सात्मीभूतं हि जीर्यति ॥ ६२ ॥
वमनं वा विरेकं वा तस्मात्सात्म्यं न योजयेत् ।

वमन अथवा विरेचन देते समय सात्म्य द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि सात्म्य द्रव्य मलों को बाहर निकाले बिना ही जीर्ण हो (पच) जाता है।

संशोधन का असम्यग्योग विषवत् तथा सम्यग्योग अमृतोपम

विभ्रंशो विषवत्सम्यग् यो[1] हि यस्यामृतोपमः ।
कालेऽवश्यं प्रयोज्यं च तस्माद्यत्नेन तत्पिबेत् ॥ ६३ ॥

संशोधन का मिथ्यायोग विष के समान प्राणघातक होता है और यही संशोधन सम्यक् रूप से प्रयोग किया जाय, तो अमृत के समान जीवनदायक होता है और उचित समय पर यह अवश्य प्रयोज्य होता है। इसलिए संशोधन द्रव्यों का प्रयोग यत्नपूर्वक शास्त्रोक्त विधि से करना चाहिए।

संशोधन का महत्त्व

बुद्धिप्रसादं बलमिन्द्रियाणां धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य **दीप्तिम्** ।
चिराच्च पाकं वयसः करोति संशोधनं सम्यगुपास्य**मानम्** ॥ ६४ ॥

इति वमनविरेचनविधिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त संशोधन बुद्धि को निर्मल करता है, इन्द्रियों को बल देता है, रस-रक्तादि धातुओं में स्थिरता उत्पन्न करता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है तथा जरा (वृद्धावस्था) को देर से लाता है।

वास्तव में संशोधन-चिकित्सा संशमन-चिकित्सा से अधिक श्रेष्ठ होती है। कहा भी गया है—'दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। ये तु संशोधनैर्शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः' ॥ अर्थात् लंघन-पाचन (संशमन) आदि कर्मों से जीते गये दोष तो पुनः कभी भी कुपित हो सकते हैं, किन्तु जो संशोधन से शुद्ध कर लिये गये हैं, उन दोषों का पुनः प्रकोप नहीं होता।

इस प्रकार 'वमनविरेचन-विधि' नामक सप्तविंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में वमन-विरेचन द्रव्यों की कार्य-विधि, वमन-विरेचन के अयोग, सम्यक्योग, अतियोग का लक्षण, वमन-विरेचन के योग्यायोग्य रोगी एवं रोग का निर्देश तथा वमन-विरेचन द्रव्यों की कार्य-विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

---

१. 'सम्यग्योगो' इति पाठान्तरम्।

अष्टाविंशोऽध्यायः

अथातो बस्तिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'बस्तिविधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

बस्ति-विवेचन

बस्तिरनिलप्रधानेषु दोषेषु प्रयुज्यते। बस्तिना दीयते बस्तिं वा पूर्वमन्वेत्यतो बस्तिः। स च सर्वोपक्रमाणां प्रधानतमः शीघ्रसुखबृंहणादिकारित्वाद्विकृतानिलोच्छेदित्वाच्च। अनिलो हि दोषाणां नेता स्वतन्त्रः सर्वशरीरचेष्टैककारणम्। पञ्चात्मतया सप्रत्यङ्गाङ्गव्यापी[1]। विधाता विविधबाह्याध्यात्मिकभावानां सर्गस्थितिप्रलयानां हेतुर्मार्गत्रयजानामपि रोगाणामिति ॥ ३ ॥

बस्ति का प्रयोग वात-प्रधान दोषों में किया जाता है। इसमें औषधि बकरी आदि की बस्ति (मूत्राशय) द्वारा दी जाती है, इसलिए बस्ति कहते हैं अथवा इसके द्वारा सर्वप्रथम औषधि बस्ति प्रदेश में जाती है, इसलिए इसका नाम बस्ति है। शीघ्र सुखपूर्वक बृंहणकारक होने से तथा विकृत वायु को जड़ से नष्ट करने के कारण बस्ति सभी उपक्रमों में प्रधान है। वायु सभी दोषों का नेता (एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने वाला) तथा स्वतन्त्र शरीर की पूर्ण चेष्टाओं का एकमात्र कारण है। प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान भेद से शिर आदि अंगों तथा नेत्र, कर्ण, अंगुली आदि प्रत्यंगों में व्याप्त है। विविध बाह्य एवं आध्यात्मिक भावों के सर्ग (उत्पत्ति), स्थिति (स्थान) एवं प्रलय (विनाश) का विधाता है। अन्तःमार्ग, बाह्यमार्ग एवं मध्यम मार्ग में उत्पन्न होने वाले रोगों का हेतु (कारण) है।

बस्ति-चिकित्सा को वातज विकारों की परमौषधि माना गया है—'शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्। वस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु' ॥ 'बस्ति' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है—'बस्तैः आवृणोति मूत्रम्' अर्थात् बस्ति जो मूत्र का आवरण करता है। यहाँ इसका तात्पर्य मूत्राशय (Urinay Bladder) से है। विभिन्न प्राणियों के इस मूत्राशय का ही प्रयोग बस्तिकर्म हेतु यंत्र (बस्तिपुटक) बनाने में किया जाता है। प्राणियों की बस्ति (मूत्राशय) का ही थैला (बस्तिपुटक) बनाकर, उसे दबाकर औषधि को शरीर के अन्दर पहुँचाया जाता है, अतएव इस कर्म को 'बस्तिकर्म' कहा जाता है—'बस्तिना दीयते इति बस्तिः' (वा०)। अर्थात् बस्ति के द्वारा यह दिया जाता है (औषधि शरीर में प्रवेश कराई जाती है), अतः इस कर्म को बस्तिकर्म कहते हैं।

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि बस्ति वह क्रिया है जिसमें गुदमार्ग, मूत्रमार्ग, अपत्यमार्ग (Vaginal Canal), व्रणमुख आदि से औषधिसिद्ध विभिन्न द्रव पदार्थों (क्वाथ, स्नेह आदि) को शरीर में प्रवेश कराया जाता है। मूत्रमार्ग एवं अपत्यमार्ग से दी जाने वाली बस्ति उत्तरबस्ति कहलाती है और व्रणमुख से दी जाने वाली बस्ति व्रणबस्ति कहलाती है। इन उपर्युक्त मार्गों से शरीर में द्रवौषधि पहुँचाने के लिए यह आवश्यक है कि औषधि पर दबाव डालकर

---

१. 'अङ्गप्रत्यङ्गव्यापी' इति पाठान्तरम्।

वेग के साथ उसे शरीर के अन्दर पहुँचाया जाय। इस हेतु पूर्वकाल में रबर आदि के थैलों का आविष्कार नहीं हुआ था, अतः विभिन्न प्राणियों (बकरी एवं भैंस आदि) के मूत्राशय (बस्ति) का इसमें उपयोग होता था, फलस्वरूप इस कर्म का नाम ही बस्तिकर्म रख दिया गया। यहाँ पर बस्ति शब्द 'बस्त' का द्योतक है। वस्त शब्द का अर्थ बकरा होता है। अतएव बकरे के मूत्राशय का उपयोग इस क्रिया के लिए प्राचीन काल में किया जाता था, अतः बकरे से सम्बन्धित होने के कारण इसे बस्ति कहते हैं।

बस्ति-चिकित्सा का उपयोग

सुखत्वादेव च बस्तिर्बालवृद्धकृशस्थूलक्षीणधात्विन्द्रियेषु च स्त्रीषु चानिलोपसर्गादप्रजासु कृच्छ्रप्रजासु चोपदिश्यते। तथाऽग्निबलवर्णमेधास्वरायुःसुखप्रदो वयःस्थापनः पङ्गूरुस्तम्भभग्नसङ्कुचितानिलाध्मानशूलारोचकोदावर्तपरिकर्तिकादिषु हित इति ॥४॥

सुखपूर्वक प्रयोग करने योग्य होने से बालक, वृद्ध, कृश, स्थूल, धातुक्षय से पीड़ित, इन्द्रिय-दौर्बल्य से पीड़ित, वायु से पीड़ित होने के कारण संतानहीन स्त्रियों तथा प्रसवकाल में कष्ट पाने वाली स्त्रियों के लिए बस्ति का सेवन लाभप्रद होता है। यह बस्ति अग्नि, बल, वर्ण (कान्ति), मेधा, स्वर, आयु तथा सुख को देने वाली तथा वयःस्थापक (आयु को स्थिर रखने वाली) होती है। पंगु, ऊरुस्तम्भ, अस्थिभंग, संकुचित वायु (अवरोध), आध्मान, शूल, अरोचक, उदावर्त तथा परिकर्तिका आदि रोगों में हितकारी होती है।

कुछ विद्वान् बस्ति को आधुनिक चिकित्सा के एनिमा (Enema) से तथा उत्तरबस्ति को डूश (Douche) से साम्य स्थापित करते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। एनिमा (Enema) या डूश (Douche) का कार्यक्षेत्र सीमित है। डूश का उद्देश्य केवल प्रक्षालन करना होता है तथा एनिमा प्रायः मल को शरीर से बाहर निकालने के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य एनिमा भी हैं, जैसे पोषक बस्ति (Nutrient Enema), कृमिघ्न बस्ति (Anthelmentic Enema), ग्राही बस्ति (Astringent Enema), नैदानिक वस्ति (Diagnostic Enema) तथा सूदन बस्ति (Emollient Enema) आदि। परन्तु इनका कार्य-क्षेत्र सीमित तथा कार्य (Effect) स्थानिक ही होता है, जब कि बस्ति का कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसका आकलन नहीं किया जा सकता। ऊपर बस्ति-चिकित्सा के उपयोग के बारे में बताया ही जा चुका है। इतना ही नहीं बस्ति के उपयोग को देखते हुए इसे सम्पूर्ण कायचिकित्सा ही मान लिया गया है। कहा गया है—'शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च। ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥ विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसङ्घातकरः स यस्मात्। तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्ति विना भेषजमस्ति किञ्चित्। तस्माच्चिकित्सार्द्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके' ॥ (च० सि० १।३८-३९)

बस्ति के भेद

स तु बस्तिस्त्रिविधः। आस्थापनमनुवासनमुत्तरबस्तिश्च। तत्रास्थापनं दोषदूष्यानुसारेण नानाद्रव्यसंयोगादिनिर्वृत्तम्। तस्य भेदा उत्क्लेशनं शोधनं शमनं लेखनं बृंहणं वाजीकरणं पिच्छाबस्तिर्माधुतैलिकमित्यादयः। माधुतैलिकस्य पर्याया यापनो युक्तरथो दोषहरः [1]सिद्धबस्तिरिति। तेषां नामभिरेव स्वरूपमाख्यातम् ॥ ५ ॥

यह बस्ति तीन प्रकार की होती है—१. आस्थापन, २. अनुवासन और ३. उत्तरबस्ति।

१. 'स्निग्धबस्ति' इति पाठान्तरम्।

इनमें आस्थापन बस्ति दोष एवं दूष्य के अनुसार अनेक द्रव्यों के संयोग से बनायी जाती है। इसके भेद उत्क्लेदन, शोधन, शमन, लेखन, बृंहण, वाजीकरण, पिच्छाबस्ति तथा माधुतैलिक आदि हैं। माधुतैलिक का पर्याय यापन, युक्तरथ, दोषहर एवं सिद्धबस्ति है। इनके नामों से ही इन बस्तियों के स्वरूप बतला दिये गये हैं, जैसे जो बस्ति अनेक द्रव्यों के संयोग से दोषों का उत्क्लेश करती है उसे उत्क्लेशन; जो दोषों को शान्त करती है उसको शमन; जो श्लेष्मा आदि का विलयन करती है उसे लेखन; जो दोषों का शोधन करती है उसे शोधन; जो पिच्छास्वरूप होती है, उसे पिच्छाबस्ति तथा जो मधुतैल-प्रधान होती है उसे माधुतैलिक कहते हैं।

दोष एवं दूष्यों के अनुसार विभिन्न औषधियों के क्वाथ आदि का प्रयोग जिस बस्ति में किया जाता है, वह आस्थापनबस्ति होती है। इसे निरूह भी कहते हैं। यह वयःस्थापन करती हैं, इसीलिए इसे आस्थापनवस्ति कहते हैं।

आस्थापन या निरूह शब्दों की निरुक्ति

तद्वयःस्थापनाद्दोषस्थापनाद्वाऽऽस्थापनमित्युच्यते। शरीररोहणाद्दोषनिर्हरणादचिन्त्यवीर्यप्रभावतया[1] चास्मिन्नूहासम्भवान्निरूह इति ॥ ६ ॥

वय (आयु) की स्थापना (स्थिर) करने या दोषों की स्थापना (शान्त) करने से इसे आस्थापनबस्ति कहते हैं। शरीर का रोहण एवं दोषों का निर्हरण करने से, अचिंत्य वीर्य एवं प्रभाव होने के कारण ऊह (तर्क-वितर्क) करना सम्भव नहीं होता है, इसीलिए इसे निरूह कहते हैं।

अनुवासनबस्ति

अनुवासनं यथाहौषधसिद्धः स्नेहनार्थे स्नेहः। स्नेहविधौ च चतुर्धाऽभिहितः ॥ ७ ॥

जिस बस्ति में स्नेहार्थ दोष एवं रोगों के अनुसार औषधियों से सिद्ध स्नेह दिया जाता है, उसे अनुवासनबस्ति कहते हैं। स्नेहविधि नामक अध्याय में चार प्रकार के स्नेह (घृत, तैल, वसा, एवं मज्जा) कहे गये हैं।

इस बस्ति में मुख्य औषधि स्नेह होती है। सुश्रुत ने इसे स्नैहिक बस्ति भी कहा है। 'अनुवसन् अपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयते इत्यनुवासनः।' अर्थात् जो बस्ति शरीर के अन्दर रहते हुए भी दोष उत्पन्न नहीं करती तथा जिस बस्ति का अनुदिन (प्रत्येक दिन) प्रयोग किया जा सकता है, उसे अनुवासनबस्ति कहते हैं।

मात्राबस्ति

तस्य भेदो मात्राबस्तिः, स पेयस्नेहह्रस्वमात्रातुल्यः सेव्यः सदा च माधुतैलिकवद् बालवृद्धाध्वभारयानव्यायामचिन्तास्त्रीनित्यस्त्रीनृपेश्वरसुकुमारदुर्बलानिलभग्नाल्पाग्निभिनिष्परिहारतया सुखो बल्यो वर्ण्यः सृष्टमलो दोषघ्नश्च। तथापि तौ नाजीर्णे योज्यौ। न च दिवास्वप्नस्तयोः[2] सेव्यः। यतश्चासावनुवसन्नपि[3] न दूष्यत्यनुवासरमपि वा दीयत इत्यनुवासनम् ॥ ८ ॥

अनुवासनबस्ति का भेद मात्राबस्ति है। इसकी मात्रा स्नेहपान की ह्रस्वमात्रा के समान होती है। इस मात्राबस्ति का सर्वदा सेवन माधुतैलिक बस्ति के समान बालक, वृद्ध, प्रतिदिन मार्ग-

---

१. 'चिन्त्यप्रभावतया' इति पाठान्तरम्। २. 'दिवास्वप्नः' इति पाठान्तरम्।

३. 'सोऽन्नमनुवसन्नपि' इति पाठान्तरम्।

गमन करने वाले, भार ढोने वाले, घोड़े आदि की सवारी करने वाले, व्यायाम एवं चिंता करने वाले, मैथुन करने वाले तथा स्त्री, राजा, सुकुमार, दुर्बल, वातपीड़ित, अस्थिभग्न से पीड़ित और मंदाग्नि वाले को किसी प्रकार का परिहार (परहेज का नियम) न होने से करना चाहिए। यह बस्ति सुखदायक, बलवर्द्धक, कान्तिकारक, मलोत्सर्ग करने वाली तथा वातादि दोषों को नष्ट करने वाली होती है। तथापि मात्राबस्ति तथा अनुवासनबस्ति को अजीर्ण रोगों में नहीं देना चाहिए। इन बस्तियों का प्रयोग कर दिन में नहीं सोना चाहिए। यह बस्ति शरीर में रहने पर कुछ हानि नहीं करती अथवा प्रतिदिन दी जाती है, इसलिए इसे अनुवासनबस्ति कहते हैं।

छः घंटे में जीर्ण होने (पचने) वाली स्नेह की मात्रा को स्नेहपान की ह्रस्व मात्रा कहा जाता है। मात्राबस्ति में स्नेह की यही मात्रा प्रयुक्त होती है। सुश्रुत ने इस मात्राबस्ति को अनुवासनबस्ति का ही एक भेद माना है।

उत्तरबस्ति

उत्तरबस्तिरपि स्नेहोनुवासनवत्, शोधनं निरूहवदपि च केचिदाहुः। स निरूहादुत्तरमुत्तरेण वा मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्तिः ॥ ९ ॥

उत्तरबस्ति भी स्नेहन के लिए अनुवासन के समान प्रयुक्त होती है और कुछ आचार्यों के मत से शोधन के लिए निरूहण के समान दी जाती है। इसे निरूहण बस्ति के पश्चात् देने से अथवा उत्तरमार्ग (मूत्रमार्ग या योनिमार्ग) से देने के कारण उत्तरबस्ति कहा जाता है।

यह उत्तरबस्ति पुरुषों तथा स्त्रियों में मूत्रमार्ग से तथा गर्भाशयगत रोगों की शांति एवं अन्य भी प्रयोजनों से स्त्रियों में अपत्यमार्ग से दी जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसे मात्र वैजाइनिल डूश (Vaginal Douche) नहीं कहा जा सकता। यह इसका एक प्रकार हो सकता है।

आस्थापनबस्ति के योग्य रोग

तत्रास्थाप्या गुल्मप्लीहानाहशूलशुद्धातीसारजीर्णज्वरप्रतिश्यायाढ्यरोगहृदयकुक्षिपार्श्वग्रहपर्वाभितापपार्श्वयोनिशूलाङ्गसुप्तिशोषकम्पगौरवातिलाघवान्त्रकूजवातविण्मूत्रशुक्रसङ्गाश्मरीशर्करावृद्धिशुक्रार्तवस्तन्यनाशरजःक्षयोन्मादरेतोदोषकृमिकोष्ठविषमाग्निसशब्दाल्पाल्पोग्रगन्धोत्थानादयो दोषभेदीयोक्ताश्च वातव्याधयः। विशेषेणैते हि परं बस्तिनानाशमुपयान्ति मूलच्छेदेन वृक्षवत् ॥ १० ॥

गुल्मरोग, प्लीहारोग, आनाह, शूल, शुद्ध अतिसार, जीर्णज्वर, प्रतिश्याय, आढ्यरोग (ऊरुस्तम्भ), हृदयग्रह, कुक्षिग्रह, पार्श्वग्रह, पर्व अभिताभ (अंगुलियों की सन्धियों में वेदना), पार्श्वशूल, योनिशूल, अंग-सुप्ति (अंगों में संज्ञानाश), शोष, कम्पन, गौरव (भारीपन), अतिलाघव (अत्यन्त हलकापन), अन्त्रकूजन, वातसंग (अपानवायु का अवरोध), विट्संग (मलावरोध), मूत्रसंग (मूत्रावरोध), शुक्रसंग (शुक्रावरोध), अश्मरी, शर्करा (प्रमेह का एक भेद), वृद्धि (वृषणवृद्धि या अन्त्रवृद्धि), शुक्रक्षय, आर्तवक्षय, स्तन्यक्षय, रजःक्षय, उन्माद, कृमिकोष्ठ, विषमाग्नि, उदर में शब्द के साथ थोड़ा-थोड़ा एवं दुर्गन्ध के साथ वायु का उठना और 'दोषभेदीय' अध्याय में कहे गये अस्सी प्रकार की वातिक व्याधियाँ आस्थापन के योग्य होती हैं। उपरोक्त सभी रोग विशेष रूप से आस्थापनबस्ति के प्रयोग के द्वारा उसी प्रकार विनष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार मूल काट देने से वृक्ष नष्ट हो जाता है।

---

१. 'वर्चोमूत्र' इति पाठान्तरम्।

बस्ति को सम्पूर्ण चिकित्सा ही मान लिया गया है। इसका कार्यक्षेत्र अति विस्तृत है। सभी रोगों एवं सभी रोगियों में तथा सभी अवस्थायों में बस्ति का प्रयोग किया जा सकता है, तथापि दोष, दूष्य, देश, काल एवं बल आदि को ध्यान में रखते हुए कुछ विशिष्ट रोगों मे अलग-अलग प्रकार की बस्ति देने का निर्देश किया गया है।

आस्थापनबस्ति के अयोग्य रोग

अनास्थाप्यास्त्वतिस्निग्धोत्क्लिष्टदोषक्षतोरस्कातिकृशा निरन्नाः कृतवमनविरेक[1]-नस्यप्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाकासश्वासहिध्मा[2]ऽर्शोबद्धछिद्रदकोदराध्मानालसकविसूचिकामातीसारारोचकाल्पाग्निगुदशोफकुष्ठमदमेहार्ता गर्भिणी चाप्रवृत्ताष्टम मासा। तत्रातिस्निग्धोत्क्लिष्टदोषयोर्दोषानुत्क्लेश्योदरं मूर्च्छां श्वयथुं वा निरूहो जनयेत्। क्षतोरस्कस्यातिकृशस्य च क्षोभव्यापन्नशरीरमाशु पीडयेत्। अनिरन्नस्य वक्ष्यते। कृतवमनविरेकयोस्तु रिक्तं देहं क्षतं क्षार इव दहेत्। स्नेहबस्तिस्तु सद्योऽग्निमवसाद्य श्लेष्मामयाय स्यात्। कृतनस्यस्यास्य विभ्रंशं विवृतोर्ध्वस्रोतस्तया कुर्यात्। अनुवासनं तु दोषोत्क्लेशनम्। प्रसक्तच्छर्द्यादीनां वायुर्निरूहमूर्ध्वं नयेत्। अनुवासनं च अर्शसस्यावृतमार्गत्वादनागच्छन्बस्तिः प्राणान् हिंस्यात्। स्नेहः पुनरर्शांस्यभिष्यन्द्याध्मानाय स्यात्। बद्धोदराद्याध्मानान्तानां भृशतरमाध्मानान्मृत्युः। अलसकार्तादीनां चामदोषात्। अरोचकार्तादीनां यथास्वमामयवृद्धिः। गर्भिण्याः पूर्वोक्तो दोषः॥ ११॥

अतिस्निग्ध उत्क्लिष्ट दोष वाले, उरःक्षत रोगी, अतिकृश, निरन्न (भूखे), जिनको शीघ्र वमन, विरेचन, नस्य कराया गया हो, जिनको निरन्तर वमन हो रहा हो, जिनको मुख से थूक की प्रवृत्ति हो रही हो; जो कास, श्वास, हिक्का, अर्शरोग, बद्धोदर, छिद्रोदर (क्षतोदर), दकोदर (जलोदर), आध्मान, अलसक, विसूचिका, आमातिसार, अरोचक, मंदाग्नि, गुदशोथ, कुष्ठ, मद, प्रमेह से पीड़ित हों और ऐसी गर्भिणी जिसका आठवाँ मास आरम्भ न हुआ हो, ये लोग आस्थापन के अयोग्य हैं। इनमें अतिस्निग्ध एवं उत्क्लिष्ट दोष वालों को दी हुई आस्थापनबस्ति दोषों को उत्क्लेशित करके उदररोग, मूर्च्छा या शोथ उत्पन्न कर देती है। उरःक्षत एवं अतिकृश रोगी में प्रयुक्त निरूहबस्ति शरीर में क्षोभ पैदा करके शरीर को शीघ्र कष्ट देती है। भूखे लोगों को आस्थापनबस्ति से जो हानि होती है, वह इसी अध्याय में आगे कहेंगे। वमन एवं विरेचन से रिक्त शरीर को निरूहणबस्ति उसी प्रकार जला डालती है, जिस प्रकार क्षत व्रण को क्षार जला डालता है।

स्नेह बस्ति अग्नि को शीघ्र मन्द करके कफज रोगों को उत्पन्न करती है। नस्य के पश्चात् शिरःस्रोतों के खुले रहने से प्रयुक्त निरूहणबस्ति आस्यविभ्रंश (मुख का खुला रहना) उत्पन्न कर सकता है और अनुवासनबस्ति दोषों का उत्क्लेश करता है। निरन्तर वमन करने वाले रोगियों में वायु निरूह को ऊपर की ओर ले जाती है और अनुवासन को भी ऊपर ले जाती है। अर्शरोग में मलमार्ग बन्द होने से बस्ति वापस न आकर प्राणों को नष्ट कर डालती है और स्नेह अर्शों का अभिष्यन्दन करके आध्मान उत्पन्न कर देती है। बद्धोदर से आध्मान-पर्यन्त कहे गये रोगों में आस्थापनबस्ति देने से अत्यधिक आध्मान होकर मृत्यु हो जाती है। अलसक आदि से पीड़ित रोगियों में आस्थापनबस्ति देने से आमदोष के कारण मृत्यु हो जाती है। अरोचक आदि से पीड़ित रोगियों

---

१. 'विरेचननस्य' इति पाठान्तरम्। २. 'हिक्का' इति पाठान्तरम्।

में उन-उन विकारों की वृद्धि हो जाती है। गर्भिणी को आस्थापनबस्ति देने से पूर्वोक्त गर्भव्यापद् एवं आमगर्भभ्रंश आदि विकार हो जाते हैं।

अनुवासनबस्ति के योग्य रोगी

य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः। रूक्षातिदीप्ताग्नयः केवलानिलार्ताश्च विशेषेण। ते हि[1] परमनुवासनेनाप्याप्यन्ते मूलसेकेन वृक्षवत्। य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्याः। तथा [2]निरन्नपाण्डुरोगकामलाप्रमेहप्रतिश्यायप्लीहकफोदराढ्यवातवर्चोभेदार्तपीतविषगर-पित्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठातिस्थूलश्लीपदगलगण्डापचीकृमिणकोष्ठाः। तत्रातिस्निग्धादीनां यथास्वमुक्ताः पृथग्दोषाः॥ १२॥

जो आस्थापनबस्ति के योग्य होते हैं, वे ही अनुवासनबस्ति के भी योग्य होते हैं। रूक्ष शरीर वाले, अत्यन्त तीव्र अग्नि वाले तथा केवल वायु से पीड़ित व्यक्ति विशेष रूप से अनुवासन के योग्य होते हैं, क्योंकि ऐसे लोग अनुवासनबस्ति से उसी प्रकार पुष्ट होते हैं, जैसे मूल को सींचने से वृक्ष पुष्ट होते हैं। जो आस्थापनबस्ति के योग्य नहीं होते तथा निरन्न (भूखे), पांडुरोग, कामला, प्रमेह, प्रतिश्याय, प्लीहा रोग, कफोदर, आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ), मलभेद से पीड़ित हों, जिसने विषपान किया हो तथा गरविष, पित्तकफजनित विकार, अभिष्यन्द, गुरुकोष्ठ (उदर का भारीपन), अतिस्थूल, श्लीपद, गलगण्ड, अपची एवं कृमिकोष्ठ रोगों में अनुवासनबस्ति नहीं देना चाहिए। इनमें अतिस्निग्ध आदि को अनुवासन से होने वाली हानियों को पहले कहा जा चुका है।

ऊपर कहा जा चुका है कि आस्थापन एवं अनुवासन बस्तियों के प्रयोग की विधि एवं निषेध समान हैं। जिन-जिन रोगियों के लिए अनुवासनबस्ति का निषेध किया गया है, यदि उन्हें अनुवासनबस्ति दी जाय, तो उनके रोग बढ़ कर असाध्यता को प्राप्त हो जाते हैं।

इनकी विधि एवं निषेध समान होते हुए भी कुछ अन्तर अवश्य है। जैसे—भोजन किये हुए व्यक्ति को आस्थापन नहीं देते, किन्तु स्नेह(अनुवासन)बस्ति तो भोजन किये हुए व्यक्ति को ही देते हैं, क्योंकि स्नेह में सूक्ष्म तथा शीघ्र व्याप्त होने वाले गुण होते हैं। यदि खाली पेट स्नेहबस्ति दी जाय, तो वह ऊपर तक पहुँच जायेगी। इसी प्रकार कृश व्यक्ति को आस्थापन(निरूह)बस्ति नहीं दी जाती, परन्तु उसे अनुवासनबस्ति दी जाती है। इसी प्रकार चिकित्सक को स्वयं भी तर्क-वितर्क करके यह निर्णय कर लेना चाहिए कि किसे अनुवासनबस्ति दें और किसे आस्थापन-बस्ति दें।

भोजन किये बिना अनुवासनबस्ति तथा भोजन के उपरान्त निरूहबस्ति के प्रयोग का निषेध

अपि च—

अभुक्ते रिक्तकोष्ठस्य प्रयुक्तमनुवासनम्।
सरदूरगसूक्ष्मत्वैः क्षिप्रमूर्ध्वं प्रपद्यते॥ १३॥
तेन वायोर्जयो न स्याद्वातधामन्यतिष्ठता[3]।
कायाग्नेराशु नाशश्च विशेषादनिवर्तिना[4]॥ १४॥

---

१. 'एते' इति पाठान्तरम्। २. 'निरन्नवज्वर' इति पाठान्तरम्।
३. 'वातस्थाने ह्यतिष्ठता' इति पाठान्तरम्। ४. 'निवर्तनात्' इति पाठान्तरम्।

स्नेहः सद्योऽशिताहाररुद्धे त्वामाशयेऽनिलम् ।
पक्वस्थं हन्ति पक्वस्थश्च्यवते चान्नपाकतः ॥ १५ ॥
निरूहश्च समीरश्च तीक्ष्णवेगावुभावपि ।
तावन्नमूर्च्छितौ तीक्ष्णावधोऽन्नेन सहागतौ ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वं वा शकृता सार्द्धं संस्थितौ कोष्ठ एव वा ।
समलाहारविष्टब्धौ हरेतामाशु जीवितम् ।
[1]भुक्त एवानुवास्योऽस्मान्न निरूह्योऽत्र[2] भुक्तवान् ॥ १७ ॥

भोजन किये विना अर्थात् खाली पेट रहने पर यदि अनुवासनबस्ति का प्रयोग किया जाय, तो यह सर, दूरगामी तथा सूक्ष्म होने के कारण शीघ्र ही ऊपर की ओर पहुँच जाता है । इस अनुवासन की ऊर्ध्वप्रवृत्ति से वात के स्थान पक्वाशय में न रहने से वायु की शान्ति नहीं होती । स्नेह के न लौटने से विशेषतः जठराग्नि का नाश हो जाता है, इसलिए खाली पेट अनुवासनबस्ति नहीं देनी चाहिए, क्योंकि तुरन्त खाये हुए आहार से आमाशय भरा होने से पक्वाशय में स्थित अनुवासन स्नेह पक्वाशय में स्थित वायु को नष्ट कर डालता है और आहार अन्न पचने पर बचा हुआ स्नेह गुदमार्ग से वापस आ जाता है ।

निरूहण(आस्थापन)बस्ति तथा वायु दोनों ही तीक्ष्ण वेग वाले होते हैं और ये दोनों तीक्ष्ण अन्न के साथ गुदमार्ग में (नीचे की ओर) आकर अथवा मल के साथ ऊर्ध्वमार्ग (मुख) की ओर जाकर मल या आहार से कोष्ठ में रुक जाने से वायु और निरूहबस्ति शीघ्र प्राणों को नष्ट कर डालते हैं ।

इसलिए अनुवासनबस्ति आहार लेने के बाद देनी चाहिए और निरूहबस्ति आहार के उपरान्त नहीं देनी चाहिए ।

पाण्डुरोगार्तादीनां दोषानुत्क्लेश्य स्नेहबस्तिरुदरं जनयेत् । प्रतिश्यायादिवतां भूय एव दोषं वर्धयेत् ॥ १८ ॥

पाण्डु इत्यादि रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को दी गयी अनुवासनबस्ति (स्नेहबस्ति) दोषों को उत्क्लेशित करके उदररोगों को उत्पन्न कर देती है तथा प्रतिश्याय आदि से पीड़ित व्यक्तियों में उन-उन दोषों (रोगों) की और भी वृद्धि कर देती है ।

बस्तिनेत्र के निर्माण की विधि

तयोस्तु नेत्रं सुवर्णादिधातुमणिशङ्खशृङ्गदन्तास्थिवेणुनलखदिरकदरतिनिशतिन्दुकादिदारुसारमयमृज्वकर्कशं गोपुच्छाकृति गुलिकामुखमूनवर्षवार्षिकसप्तद्वादशषोडशवर्षाणां विंशतिप्रभृतिषु च क्रमात्पञ्चषट्सप्ताष्टनवद्वादशाङ्गुलप्रमाणं मूलेऽग्रे चातुराङ्गुष्ठकनिष्ठिकापरिणाहमर्द्धाङ्गुलात् प्रभृत्यर्द्धार्द्धाङ्गुलप्रवृद्धं[3] त्र्यङ्गुलपर्यन्तप्रवेशमूलच्छिद्रं, [4]वनमुद्गमाषकलायकिल्लन्नकलायकर्कन्धुवाह्याग्रच्छिद्रं मूलच्छिद्रप्रमाणाङ्गुलैरग्रे यथास्वं सन्निविष्टकर्णिकं कर्णिकान्तःप्रतिबद्धसूत्रान्तर्गृहीताग्रपिधानघनचैलवर्तिमूले द्व्यङ्गुलान्तराले कर्णिकाद्वयं कारयेत् । वर्षान्तरेषु च वयोबलशरीराण्यवेक्ष्य नेत्रप्रमाणमुत्कर्षयेत् ॥१९॥

---

१. 'भुक्तवाननुवास्योऽस्मान्न' इति पाठान्तरम् । २. 'निरूहस्तु' इति पाठान्तरम् ।
३. 'अर्द्धाङ्गुलप्रवृद्धव्यङ्गुल' इति पाठान्तरम् । ४. 'वनमुद्गमुद्गमाष' इति पाठान्तरम् ।

इन दोनों (आस्थापन और अनुवासन) बस्तियों का नेत्र सुवर्ण आदि किसी धातु, मणि, शंख, शृंग, दंत, अस्थि, वेणु (बाँस *Bambusa bambos*), नल (नरकट *Phragmites karka*) खदिर (*Acacia catechu*), कदर (दुर्गन्धित खदिर *Acacia farnisiana*), तिनिश (*Dugeinia dalbergioides*), तिन्दुक (*Diospyros peregrina*) आदि की लकड़ी के सार (काष्ठसार) का बना, सीधा, चिकना, गोपुच्छ की आकृति के समान तथा मुख (अग्र) भाग पर गुलिका के समान (अर्थात् मुखभाग तीक्ष्ण न हो) बनाना चाहिए । बस्तिनेत्र की लंबाई एक वर्ष से कम आयु वाले रोगियों के लिए रोगी की अपनी अँगुली से से पाँच अंगुल, एक वर्ष की आयु वाले रोगी के लिए छः अंगुल, सात वर्ष तक की आयु वाले रोगी के लिए सात अंगुल, बारह वर्ष तक की आयु वाले रोगी के लिए आठ अंगुल, सोलह वर्ष तक की आयु वाले रोगी के लिए नौ अंगुल और बीस वर्ष तक की आयु वाले रोगी के लिए बारह अंगुल होना चाहिए । नेत्र की मोटाई मूलभाग में रोगी के अँगूठे की मोटाई के बराबर तथा नेत्र का मुखाग्र भाग रोगी की कनिष्ठिका अंगुली की मोटाई के बराबर होना चाहिए । नेत्र का छिद्र मूलभाग में एक वर्ष की आयु वाले रोगी

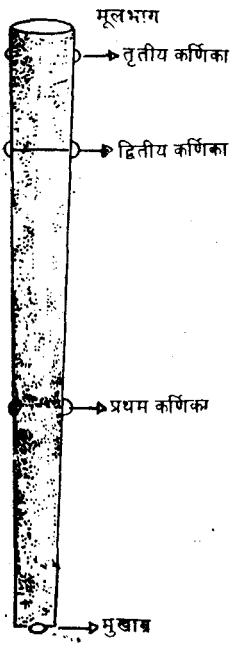

बस्तिनेत्र

के लिए आधा अंगुल प्रमाण का होना चाहिए, फिर क्रमशः आधा-आधा अंगुल बढ़ाते हुए बीस वर्ष की आयु वाले रोगी के लिए प्रयुक्त होने वाले बस्तिनेत्र के मूलभाग का छिद्र तीन अंगुल का होना चाहिए । अर्थात् एक वर्ष से कम आयु के रोगी के लिए आधा अँगुल, एक वर्ष के रोगी के लिए एक अँगुल, सात वर्ष के रोगी लिए डेढ़ अंगुल, बारह वर्ष तक के रोगी के लिए दो अंगुल, सोलह वर्ष तक के रोगी के लिए ढाई अंगुल तथा बीस वर्ष तक के रोगी के लिए तीन अंगुल प्रमाण का छिद्र रखना चाहिए । बस्तिनेत्र के अग्रभाग वाला छिद्र क्रमशः जंगली मूंग (*Phaseolus mungo* var), उड़द (*Phaseolus radiatus*), भिगोये हुए मटर (*Pisum sativum*) या कर्कन्धु (झड़बेर

Zizyphus nummularia) के प्रमाण का होना चाहिए। इस बस्तिनेत्र के आगे वाले भाग में कर्णिका बनानी चाहिए। यह कर्णिका बस्तिनेत्र की लम्बाई तथा मूल वाले छिद्र की चौड़ाई के अनुसार ही नेत्र के मुखाग्र भाग से कुछ स्थान पीछे हटकर बनानी चाहिए। उदाहरणार्थ बीस वर्ष के रोगी के लिए बीस अंगुल लम्बाई का बस्तिनेत्र हो तथा मूल छिद्र तीन अंगुल प्रमाण का हो, उसमें बस्तिनेत्र के अग्रभाग में तीन अंगुल छोड़कर कर्णिका बनानी चाहिए। इस कर्णिका में एक धागा बाँधकर, मोटे कपड़े से बनाई हुई एक बत्ती उस धागे में बाँध देना चाहिए। यह बत्ती नेत्र के अगले छिद्र को बन्द करने के लिए प्रयुक्त होती है। इस कर्णिका से मूल की ओर दो अंगुल हटकर (पीछे) दो कर्णिकाएँ बनानी चाहिए। बीस वर्ष से अधिक आयु वाले रोगियों में उनके वय-बल-शरीर के अनुसार ही नेत्र का परिमाण रखना चाहिए।

बस्तिनेत्र प्रमाण तालिका

क्रमाङ्क	आयु	लम्बाई	नेत्र के मूल भाग में छिद्र
१.	एक वर्ष से कम आयु	५ अंगुल	$\frac{1}{2}$ अंगुल
२.	एक वर्ष	६ अंगुल	१ अंगुल
३.	सात वर्ष तक	७ अंगुल	$1\frac{1}{2}$ अंगुल
४.	बारह वर्ष तक	८ अंगुल	२ अंगुल
५.	सोलह वर्ष तक	९ अंगुल	$2\frac{1}{2}$ अंगुल
६.	बीस वर्ष तक	१२ अंगुल	३ अंगुल

बस्तिपुट का निर्माण

ततोऽजाविवराहहरिणगोमहिषान्यतमजं स्नेहमुद्गविमृदितं विगतच्छिद्रशिराग्रन्थिस्कन्धं नातिवर्तुलं मृदु दृढं कषायरक्तं सुखसंस्थाप्यौषधप्रमाणं न्युब्जं विवृताननं विवेश्य बस्तिं कर्णिकयोर्दृढेन सूत्रेण घनं समं च बध्वा परिवर्त्य पुनश्चान्यद्बस्तिमुखबन्धनार्थं सूत्रमुपधायानुगुप्तं निधापयेत् ॥ २० ॥

तत्पश्चात् बकरी (*Capra sibica*), भेड़ (*Ovis vignei*), सुअर (*Sus cristasus*), हरिण (*Cervus axis*), गाय (*Bos indicus*) अथवा भैंस (*Bos bubalus*) की वस्ति (मूत्राशय) लेकर उसे स्नेह (तैल) एवं मूँग (*Phaseolus mungo*) से मर्दन कर लें एवं यह निरीक्षण कर लें कि इसमें छिद्र, सिरा, ग्रंथि तथा गंध तो नहीं है। यह बस्ति बिलकुल गोल नहीं होनी चाहिए तथा कोमल, दृढ़, खैर (*Acacia catechu*) अथवा बबूल (*Acacia arabica*) आदि किसी कषाय द्रव्य से रंगी हुई तथा जिसमें औषधि सुगमतापूर्वक रखी जा सके, ऐसी होनी चाहिए। इस बस्तिपुट को खोलकर उलटा करके बस्ति-नेत्र पर चढ़ाकर, उसकी कर्णिकाओं पर रखकर मजबूत सूत्र से बाँध देना चाहिए। बदलने के लिए बस्ति को बाँधने हेतु दूसरा सूत्र साथ में बाँधकर इसे सुरक्षित रूप में रख देना चाहिए।

बस्तिपुटक को बस्तिनेत्र से जोड़कर बाँध दिया जाता है। बस्तिद्रव को इस पुटक में ही रखा जाता है। वास्तव में प्राचीन काल में रबर जैसी संकुचित होने वाली एवं प्रसरणशील थैली का अभाव होने के कारण प्राणियों के मूत्राशय से इस पुट का निर्माण किया जाता था।

बस्त्यभावे प्लवनीछागलाङ्कपादमधूच्छिष्टोपदिग्धघनसूक्ष्मतान्तवान्यतमं निवेशयेत् ॥ २१ ॥

बस्ति हेतु यदि उपर्युक्त प्राणियों का मूत्राशय न मिले, तो प्लवनी (एक प्रकार का जलचर पक्षी) अथवा बकरा (*Capra sibica*) के अंकपाद (ऊरुचर्म) के सूक्ष्म चर्म से बस्तिपुट का निर्माण करें अथवा बारीक छिद्रों वाले वस्त्र पर मोम लगाकर बस्ति बनायें।

आयु के अनुसार बस्ति की मात्रा

आस्थापनमात्रा तु प्रथमे वर्षे प्रकुञ्चः। ततः परं प्रतिवर्षं प्रकुञ्चमभिवर्धयेदाषट् प्रसृताः ततश्चोर्ध्वं प्रसृताभिवृद्धिः। प्राप्तानतीताष्टादशसप्ततेस्तु द्वादश प्रसृताः। परं चातो दशैव। अन्ये पुनर्द्वादशप्रसृतस्याप्यष्टाविच्छन्ति ॥ २२ ॥

प्रथम वर्ष की आयु में आस्थापन(निरूह)बस्ति की कषाय स्नेह सहित मात्रा एक प्रकुञ्च (एक पल या चार तोला या अड़तालीस ग्राम) की होनी चाहिए और इसके पश्चात् जब तक कुल मात्रा बारह पल की न हो जाय, तब तक प्रतिवर्ष क्रमशः एक-एक पल की मात्रा बढ़ाते जाना चाहिए। अर्थात् प्रथम वर्ष की आयु में इसकी मात्रा एक पल, द्वितीय वर्ष में दो पल तथा इसी तरह बारह वर्ष की आयु में इसकी मात्रा बारह पल होनी चाहिए। तत्पश्चात् तेरहवें से अठारहवें वर्ष तक प्रतिवर्ष इसकी मात्रा एक-एक प्रसृति (दो-दो पल) बढ़ाना चाहिए। इसके अनुसार अठारहवें वर्ष में निरूहबस्ति की मात्रा बारह प्रसृति (चौबीस पल) होती है। यह बारह प्रसृति (छियानबे तोला) की मात्रा अठारह से सत्तर वर्ष तक की आयु के रोगियों को देनी चाहिए। सत्तर वर्ष से अधिक आयु वाले रोगियों में निरूहबस्ति की मात्रा बारह प्रसृति (चौबीस पल या छियानबे तोला) से घटाकर अस्सी तोला ही रखना चाहिए। अन्य आचार्य बारह प्रसृति (छियानबे तोला) मात्रा की जगह आठ प्रसृति (चौंसठ तोला) को ही उचित मानते हैं।

माधुतैलिक एवं अनुवासनबस्ति की मात्रा

यथास्वमास्थापनमात्रा पादहीना माधुतैलिके प्रयोज्या। अनुवासने त्वेवमेवास्थापनस्य पाद इति ॥ २३ ॥

जिस वर्ष आस्थापनबस्ति की जो मात्रा बतलाई गई है, उसी वर्ष माधुतैलिक बस्ति की मात्रा आस्थापनबस्ति की मात्रा से एक-चौथाई कम लेनी चाहिए। इसी प्रकार अनुवासनबस्ति की मात्रा भी आस्थापनबस्ति की उक्त मात्रा के चौथे हिस्से के बनाबर लेनी चाहिए।

आस्थापनबस्ति की मात्रा

संख्या	आयु	मात्रा		
		प्रसृति (चरकोक्त)	प्रकुंच (वाग्भटोक्त)	तोला
१.	एक वर्ष	आधी प्रसृति	एक प्रकुंच	चार तोला
२.	दो वर्ष	एक प्रसृति	दो प्रकुंच	आठ तोला
३.	तीन वर्ष	डेढ़ प्रसृति	तीन प्रकुंच	बारह तोला
४.	चार वर्ष	दो प्रसृति	चार प्रकुंच	सोलह तोला
५.	पाँच वर्ष	ढाई प्रसृति	पाँच प्रकुंच	बीस तोला
६.	छः वर्ष	तीन प्रसृति	छः प्रकुंच	चौबीस तोला
७.	सात वर्ष	साढ़े तीन प्रसृति	सात प्रकुंच	अट्ठाईस तोला
८.	आठ वर्ष	चार प्रसृति	आठ प्रकुंच	बत्तीस तोला

९.	नौ वर्ष	साढ़े चार प्रसृति	नौ प्रकुंच	छत्तीस तोला
१०.	दस वर्ष	पाँच प्रसृति	दस प्रकुंच	चालीस तोला
११.	ग्यारह वर्ष	साढ़े पाँच प्रसृति	ग्यारह प्रकुंच	चौवालीस तोला
१२.	बारह वर्ष	छः प्रसृति	बारह प्रकुंच	अड़तालीस तोला
१३.	तेरह वर्ष	सात प्रसृति	चौदह प्रकुंच	छप्पन तोला
१४.	चौदह वर्ष	आठ प्रसृति	सोलह प्रकुंच	चौंसठ तोला
१५.	पंद्रह वर्ष	नौ प्रसृति	अठारह प्रकुंच	बहत्तर तोला
१६.	सोलह वर्ष	दस प्रसृति	बीस प्रकुंच	अस्सी तोला
१७.	सतरह वर्ष	ग्यारह प्रसृति	बाइस प्रकुंच	अठ्ठासी तोला
१८.	अठारह वर्ष	बारह प्रसृति	चौबीस प्रकुंच	छियानबे तोला
१९.	अठारह से सत्तर वर्ष	बारह प्रसृति	चौबीस प्रकुंच	छियानबे तोला
२०.	सत्तर वर्ष से अधिक	दस प्रसृति	बीस प्रकुंच	अस्सी तोला

आस्थापनबस्ति के पूर्व कर्म

अथास्थापनीयमातुरं स्नेहस्वेदोपपन्नं कृतवमनविरेकमासेवितपेयादिसंसर्गक्रममुपजातबलमनुवासनार्हं पूर्वमेवानुवासयेत् शीतवसन्तयोर्दिवा अन्यथा रात्राववेक्ष्य वा दोषादीन् । अन्यथा हि स्नेहोत्क्लामयप्रादुर्भावः ॥ २४ ॥

जो रोगी आस्थापन के योग्य हो, उसे सर्वप्रथम सम्यक् प्रकार से स्नेहन तथा स्वेदन करा कर वमन एवं विरेचन कराना चाहिए, तत्पश्चात् संसर्जनक्रम का सेवन कराना चाहिए । संसर्जनक्रम का सेवन कराने के फलस्वरूप जब रोगी के शरीर में बल आ जाये और यदि वह अनुवासनबस्ति के योग्य हो, तो उसे पहले अनुवासनबस्ति ही देना चाहिए (तात्पर्य यह है कि यदि रोगी के लिए अनुवासनबस्ति की आवश्यकता न हो, तो अनुवासन न देकर सीधे आस्थापनबस्ति भी दे सकते हैं) । हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त ऋतु में अनुवासनबस्ति दिन में तथा अन्य ऋतुओं में रात्रि में देनी चाहिए अथवा दोष एवं देशानुसार विचार करके यथोचित किसी भी समय में बस्ति दी जा सकती है । इस प्रकार विचार किये बिना ही अनुवासनबस्ति देने से स्नेहव्यापद् में कहे गये रोगों की उत्पत्ति हो सकती है ।

बस्ति-काल

धान्वन्तरीयाः पुनराहुः—

न रात्रौ प्रणयेद् बस्तिं स्नेहोत्क्लेशो हि रात्रिजः ।
स्नेहवीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम् ॥ २५ ॥
अह्नि स्थानस्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते ।
स्फुटस्रोतोमुखं देहं स्नेहो यत्परिसर्पति ॥ २६ ॥
अल्पपित्तकफं रूक्षं भृशं वातरुजार्दितम् ।
भुक्तं जीर्णाशनं कामं रात्रावप्यनुवासयेत् ॥ २७ ॥
केवलानिलनिपीडितं त्वशुद्धमप्यनिरूपितबलं चाप्यनुवासयेदात्ययिकत्वाद्व्याधेः ॥

धान्वन्तरीय (धन्वन्तरि-सम्प्रदाय के) आचार्यों ने पुनः कहा है कि रात्रि में बस्ति का

प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि रात्रि में स्नेह का उत्क्लेश स्वयमेव होता है। अतः बस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह इस उत्क्लिष्ट स्नेह से मिलकर शरीर में आध्मान, गुरुता तथा ज्वर को उत्पन्न कर देता है। इसके विपरीत दिन में समस्त दोष स्वस्थान पर स्थित रहते हैं, जठराग्नि अन्न रस से युक्त होती है तथा शरीर के समस्त स्रोत खुले होते हैं; इन कारणों से दिन में प्रयुक्त अनुवासन बस्ति का स्नेह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। तथापि जिस रोगी के शरीर में पित्त एवं कफ हीन मात्रा में हो, रूक्षता हो तथा जो वायुविकार से अत्यन्त पीड़ित हो एवं खाया हुआ आहार पूर्ण रूप से जीर्ण हो (पच) गया हो, तो रात्रि के समय भी अनुवासनबस्ति का प्रयोग कर सकते हैं। केवल वातरोग से पीड़ित रोगी को यदि आत्ययिक अवसर आ जाये, तो वमन एवं विरेचन कराये बिना और उसके बल का विचार किये बिना भी अनुवासनबस्ति दी जा सकती है।

बस्ति-प्रयोग की विधि

तस्य विधिर्वमनादधिकतरं कृतमङ्गलमनुसुखमभ्यक्तमुष्णाम्बुस्नातं युक्तस्नेहमुचितात्पादहीनं द्रवपूर्वं लघूष्णं सानुपानमशनमशितवन्तं कृतचङ्क्रमणमुत्सृष्टविण्मूत्रमशनार्द्रहस्तमशङ्कनीयपरिचारकं निवाते वेश्मनि प्रतते शयने नात्युच्छ्रिते स्वास्तृत ईषदुन्नतपाददेशे वामपार्श्वेन प्राक्शिरसं संवेशयेत् ॥ २९ ॥

सर्वप्रथम वमनोक्त मंगलाचरण से भी अधिक मंगलपाठ करना चाहिए। तत्पश्चात् धीरे-धीरे सुखपूर्वक अभ्यंग कराकर उष्ण जल से स्नान कराना चाहिए। तत्पश्चात् रोगी को जितना भोजन करने का अभ्यास हो, उससे चौथाई मात्रा कम (अर्थात् सदैव के भोजन का तीन चौथाई) भोजन करायें। भोजन में पहले द्रव पदार्थ तत्पश्चात् उचित स्नेहयुक्त लघु एवं उष्ण आहार देना चाहिए। फिर सुखोष्ण जल को अनुपान के रूप में देना चाहिए। इसके बाद रोगी को थोड़ा टहला दें एवं यदि मलमूत्र के वेग उपस्थित हों, तो उनका उत्सर्ग करा दें। फिर ऐसे रोगी को जिसने टहल लिया है, मलमूत्र का उत्सर्ग कर लिया है तथा जिसके हाथ भोजन करने से आर्द्र हो गये हैं, उसे तत्काल शय्या पर लिटा दें। शयन ऐसे स्थान पर कराना चाहिए, जहाँ कोई ऐसा व्यक्ति न हो, जिसकी उपस्थिति में रोगी को लज्जा की प्रतीति हो और जहाँ वायु के झोंके न पहुँच पाते हों तथा जो स्थान काफी खुला हो। शय्या अधिक ऊँची न हो, उस पर अच्छे वस्त्र बिछे हों, शय्या का पैरों की ओर वाला भाग कुछ ऊँचा उठा हो तथा शिर वाला भाग पूर्व दिशा में और कुछ नीचा हो। इस शय्या पर रोगी बायें हाथ का सिरहाना बनाकर वाम पार्श्व से शिर को पूर्व की ओर रखता हुआ लेट जाये।

अतिस्निग्धाशिनो ह्युभयमार्गसंसर्गात्स्नेहो मदमूर्च्छाग्निसादहृल्लासान् जनयति। रूक्षाशिनो विष्टम्भं बलवर्णहानिं वा। अल्पमात्रद्रवाशिनो विसृष्टविण्मूत्रस्य चान्नावृतेन तदावरणाद् व्यापदम्। चिरमशितवतो विदाहाभिमुखभक्तस्य ज्वरं कुर्यात्। यतश्च वामपार्श्वाश्रयाणि वह्निग्रहणीगुदवलीमुखानि तानि तत्पार्श्वशायिनो निम्नानि भवन्ति। अतस्तथौषधमस्खलितमाप्नोति प्रवेशनिर्गमाविति। संविष्टं चैनमृजुस्थितदेहं स्वबाहूपधानं प्रसारितवामसक्थिमाकुञ्चितेतरं तस्यैव चोपरि प्रसारितदक्षिणबाहुं कारयेत् ॥ ३० ॥

जो व्यक्ति स्नेह-प्रधान भोजन करते हैं, यदि उन्हें अनुवासनबस्ति दी जाती है, तो दोनों मुख एवं गुद भागों से प्रयुक्त स्नेह एक-दूसरे से मिलकर मद, मूर्च्छा, अग्निमांद्य तथा हृल्लास (मिचली) उत्पन्न करते हैं। रूक्ष आहार-सेवी पुरुष में प्रयुक्त स्नेह विष्टम्भ, बल अथवा कान्ति

का नाश कर सकता है। अल्पमात्रा में द्रवप्रधान आहार करने वाले पुरुषों में तथा पुरीष एवं मूत्र का उत्सर्ग करने के पश्चात् यदि अनुवासनबस्ति दी जाती है, तो अन्न द्वारा आवृत होने के कारण अन्य व्यापद् (रोग) उत्पन्न हो सकते हैं। भोजन करने के बहुत देर पश्चात् (भोजन की पच्यमानावस्था में) बस्ति देने पर भोजन में विदाह (जठराग्नि की क्रिया) होने के कारण ज्वर हो जाता है, क्योंकि अग्नि, ग्रहणी तथा गुदवलियों के मुख वामपार्श्व में ही होते हैं तथा वामपार्श्व में लेटने से वे और नीचे की ओर आ जाते हैं, अतः बस्ति द्वारा प्रयुक्त की हुई औषधि बिना किसी अवरोध के भीतर प्रविष्ट हो जाती है तथा यथासमय निकल भी आती है। रोगी को अपनी शय्या पर वाम पार्श्व में लेटकर, अपनी बाईं बाँह को मोड़कर सिर के नीचे तकिया के रूप में रखना चाहिए तथा बायें पैर को सीधा रखते हुए दाहिने पैर को उसके ऊपर कुछ मोड़ कर रखना चाहिए और अपने दाहिने हाथ को दाहिनी टांग पर सीधा करके रखना चाहिए।

बस्तिपुट में औषधि डालने की विधि

पूर्वमेव तु वैद्यो वर्त्या सुपिहिताग्रच्छिद्रं नेत्रं भाजनस्योपरि कृत्वा दक्षिणपादाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां कर्णिकाया उपरिष्टान्निष्पीड्याविबन्धाय शताह्वासैन्धवचूर्णावचूर्णितं प्रागेव नेत्रस्पर्शात्पूर्ववदभिमन्त्रितं यथार्हं यथौषधविपक्वं सुखोष्णं बस्तौ स्नेहमासिच्यावलीकोच्छ्वासं निःसारितवातबुद्बुदमौषधान्ते सूत्रेण द्विस्त्रिर्वा बस्तिमुखमावेष्ट्य दक्षिणपाणौ नेत्रमुपनिधाय तिष्ठेत्। ततो घृताभ्यक्ते पायौ वामहस्तप्रदेशिन्याऽभ्यक्तप्रवेशप्रदेशमपनीतवर्त्युत्तानवामहस्ताङ्गुष्ठोदरपिहिताग्रं मध्यमाप्रदेशिन्युपगृहीतकर्णिकमृज्वनुपृष्ठवंशमनुसुखमेकमना लाघवेन निष्कम्पमद्रुतमविलम्बितं नेत्रमाकर्णिकं प्रवेशयेत्। आतुरोऽपि तदनुलोममवलम्बेत[1]। ततश्च वैद्यो बस्तिमुखं दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्याममुञ्चन्नेत्रमचालयन् हस्तद्वयेनोत्तानेनैकग्रहणेनैवानिलाधिष्ठानभूतं किञ्चिदवशेषयन् न [2]शनैरवेगमनुपीडयेत्। अन्यथा हि व्यापदो भवन्ति। ताः ससाधना सिद्धिषु वक्ष्यन्ते ॥ ३१ ॥

रोगी को लिटाने से पूर्व ही वैद्य मोटे घने वस्त्र की बत्ती से नेत्र के अगले मुख को बन्द करके बस्तिनेत्र को उस पात्र पर रख दें, जिसमें औषध द्रव या स्नेह रखा गया हो। तत्पश्चात् दाहिने पाँव के अँगूठे एवं अँगुली से नेत्र की कर्णिका के ऊपरी भाग में बस्ति की ग्रीवा को दबाये और नेत्र के स्पर्श के पूर्व ही प्रयुक्त होने वाले द्रव में सोया (*Anthem sowr* Kurz.) एवं सैंधव लवण का सूक्ष्म चूर्ण डाल दें। इससे द्रव मलाशय में रुकता नहीं है। अब द्रव को पूर्वोक्त मन्त्रों से अभिमन्त्रित करे। बस्ति में प्रयोग होने वाला स्नेह रोग एवं रोगी के अनुकूल औषधियों के संयोग से अग्नि पर पकाया हुआ एवं पुनः सुखोष्ण किया हुआ होना चाहिए। इस स्नेह से बस्ति को पूर्णरूप से भर लें, जिससे कि बस्तिपुट में वायु या वलियाँ शेष न दिखलाई पड़ें। यदि पुट में कुछ बुलबुले हों, तो दबाकर उन्हें निकाल दें। तत्पश्चात् जहाँ तक द्रव या स्नेह भरा हो, उस स्थान तक नेत्र को ले जाकर सूत्र से बाँध दें एवं इसे दाहिने हाथ में पकड़कर खड़े हो जायें। तत्पश्चात् रोगी की गुदा में घृत का अभ्यंग कर दें एवं बायें हाथ की प्रदेशिनी अंगुली में घृत चुपड़कर रोगी की गुदा के भीतर वहाँ तक यह घी लगा दें, जहाँ तक इस बस्ति का नेत्र पहुँच सकता है। तत्पश्चात् वस्तिनेत्र में से कपड़े की बत्ती को निकाल कर बायें हाथ के अँगूठे से नेत्र के छिद्र को बन्द करके उसी हाथ की मध्यमा एवं तर्जनी अँगुलियों से नेत्र की कर्णिका के स्थान को पकड़े रहें। इसके अनन्तर बस्तिनेत्र के कर्णिका-पर्यन्त भाग पर घृत चुपड़कर बस्तिनेत्र को कर्णिका-पर्यन्त रोगी की गुदा में प्रविष्ट करा दें। बस्तिनेत्र को गुदा में सीधे, पृष्ठवंश की अनुकूल दिशा में धीमे-धीमे तथा

१. 'लोमयन्नवलम्बेत' इति पाठान्तरम्। २. 'शनैरशनैरवेग' इति पाठान्तरम्।

सुखपूर्वक प्रवेश करायें, जिससे कि रोगी को चुभने न पाये। बस्तिनेत्र को गुदा में प्रविष्ट कराते समय वैद्य को एकाग्रचित्त होकर हस्तकौशल के साथ तथा हाथ में बिना कम्पन लाये समस्त कर्म करना चाहिए। नेत्र का प्रवेश अतिशीघ्रता या अतिविलम्ब से न करें एवं रोगी भी इसको अनुलोम रूप से ग्रहण करें तथा हिले-डुले नहीं। इसके अनन्तर बस्ति देने वाला वैद्य दाहिने हाथ के अँगूठे और तर्जनी अँगुली से दृढ़ता से पकड़ कर, बस्तिनलिका को स्थिर रखते हुए दोनों हाथों से धीरे से दबाता हुआ एक ही बार में गुदा में छोड़े। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बस्तिपुट को एक ही बार दबाया जाये, इससे जो स्नेह गुदा में प्रविष्ट हो जाये, उतना तो जाने दें, परन्तु जो थोड़ा स्नेह शेष बचे, उसे वायु के अधिष्ठानभूत शेष स्थान में ही रहने दें, अर्थात् एक से अधिक बार दबाकर वायु को गुदा में प्रवेश होने का अवसर न दें, अन्यथा अनेक व्यापत्तियाँ (व्याधियाँ) हो सकती हैं। इन व्यापत्तियों का वर्णन एवं उपचार आगे सिद्धिस्थान में कहा जायेगा।

यहाँ बस्ति द्रव को गुदा में प्रवेश कराते समय विशेष रूप से इसी बात का ध्यान रखना चाहिए कि रोगी बाईं करवट लेटे एवं बस्ति द्रव के साथ गुदा में वायु का प्रवेश न हो। इसीलिए थोड़ा-सा द्रव पुट में शेष बचा लिया जाता है। यदि ऐसी सावधानी न बरती गई, तो वायु भी बस्तिद्रव के साथ गुदा में प्रविष्ट हो जायेगी। फलस्वरूप अनेक उपद्रव हो सकते हैं। इन उपद्रवों का वर्णन एवं उनकी चिकित्सा सिद्धिस्थान में वर्णित है।

बस्ति देने के पश्चात् कर्म

अन्ये तु त्रिंशन्मात्राः पीडनकालमाहुः। न च बस्तौ दीयमाने क्षवकासहासजृम्भास्पन्दनान्याचरेत्। विण्मूत्रानिलवेगे तु नेत्रमाकृष्य वेगान्ते शेषं प्रणयेत्। अन्ते चोत्तानस्य स्फिजौ पाणितलेन त्रिचतुरो वाराँस्ताडयेत्। तथा तत्पार्ष्णिभ्यां पादतश्च शय्यां त्रिरुत्क्षिपेत्। सोपधानस्य च प्रसारितसर्वाङ्गस्य पार्ष्णिके मुष्टिनाऽऽहन्यात्। तथा पार्ष्ण्यङ्गुलिपादतलपिण्डिकाः। सरुजं चाङ्गं स्नेहेन प्रतिलोमं वाक्शतमात्रं शनैः विमृद्नीयात्। एवमाशु स्नेहो न निवर्तते समनुगच्छति चासमन्तात्सिराः। ततः परं तु स्नैहोक्तमाचारमनुवर्तते॥

अन्य आचार्य कहते हैं कि वस्तिपुट के पीड़न की अवधि तीस मात्रा पर्यन्त होनी चाहिए (आँख की पलक को एक बार खोलने और बन्द करने के समय को एक मात्रा कहा जाता है)। बस्ति-प्रयोग के समय रोगी को छींकना, खाँसना, हँसना, जँभाई लेना और हिलना नहीं चाहिए। बस्तिनेत्र प्रवेश कराते समय यदि कभी पुरीष, मूत्र अथवा अपान वायु का वेग उपस्थित हो जाये, तो नेत्र को वापस निकालकर, पुरीष आदि का उत्सर्ग हो जाने के पश्चात् पुनः नेत्र को गुदा में प्रवेश कराकर स्नेह की शेष मात्रा को भीतर प्रवेश करा देना चाहिए। तत्पश्चात् बस्तिक्रिया के अन्त में रोगी को पीठ के बल (चित्त या उत्तान) लिटा कर उसके स्फिक् (नितम्ब) प्रदेश को हथेलियों से तीन-चार बार ताड़ित करें (थपथपायें) तथा उसकी पार्ष्णियों (एड़ियों) से भी ताड़न करायें और पायताने की ओर से शय्या को तीन बार थोड़ा-थोड़ा उठाकर पटकें। तत्पश्चात् तकिया लगाकर एवं शरीर को फैलाकर सोये हुए रोगी की एड़ियों पर मुष्टि (मुक्की) से ताड़न करे। साथ ही उसकी एड़ी, अँगुली, पाँव के तलवे तथा पिण्डलियों और पीड़ायुक्त समस्त अंगों पर शनैः-शनैः एक सौ वाक् मात्रा (सौ की गिनती गिनने तक) स्नेह का मर्दन करे। ऐसा करने से बस्ति द्वारा गुदा में दिया गया स्नेह शरीर से शीघ्र नहीं लौटता एवं शरीर की समस्त शिराओं में भलीभाँति व्याप्त हो जाता है। तत्पश्चात् रोगी स्नेहविधि अध्याय में कहे गये आचार का अनुवर्तन (पालन) करे।

बस्ति लगाते समय रोगी को हिलना नहीं चाहिए, अन्यथा बस्तिनेत्र से गुद को क्षत पहुँच सकता है। इसीलिए हँसने, छींकने आदि का निषेध किया गया है। चिकित्सक को भी घबराना नहीं चाहिए। हाथ हिल जाने से भी रोगी के गुद को क्षत पहुँच सकता है। यदि वेग उपस्थित हो जाये, तो नेत्र को रोगी के गुद से निकाल कर वेगोत्सर्ग के पश्चात् बस्ति पुनः दे देनी चाहिए। बस्ति देने के पश्चात् ताड़न इसलिए किया जाता है, जिससे स्नेह सम्पूर्ण शरीर में सम्यक् रूप से फैल जाये। इसके बाद पथ्यापथ्य आहार-विहार का उसी प्रकार पालन करना चाहिए, जिस प्रकार स्नेहन कराने के बाद पालन कराया जाता है।

बस्तिकर्म के पश्चात् अन्य आचार

दीप्ताग्नि च सायं लघ्वन्नं भोजयेत्। नैव चानागतस्नेहमपि द्वितीयेऽह्नि। न च तमनुवासयेत्। आगमनकालस्तु परो यामत्रयं ततःपरमनागच्छन्तमहोरात्रमुपेक्षेत। तदाप्यनिवर्तमाने फलवर्तिभिर्लवणारनालप्रायैर्वा तीक्ष्णबस्तिभिः शोधयेत्। स्नेहव्यापत्सिद्धि चेक्षेत[२]। अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेज्जाड्याद्युपद्रवाय स्यात्, ततस्तथाप्युपेक्षेत[३]। शीघ्रनिवृत्ते तु विना मलेन केवले स्नेहे स्नेहमन्यं पुनर्योजयेत्। न ह्यसावतिष्ठन् कार्यं करोति[४]। सुखोषितं चैनं तथा कृतवमनविरेचनास्थापनान्यतमं प्रातः शुण्ठीधान्यक्वाथमितरद्वोष्णमुदकं[५] स्नेहशेषजरणाय वातकफोपशान्तये च पाययेत्॥ ३३॥

बस्तिकर्म के पश्चात् स्नेह के लौट आने पर यदि रोगी की जठराग्नि प्रदीप्त हो (अर्थात् भलीभाँति भूख लग जाय), तो सायंकाल लघु आहार दें। यदि स्नेह वापस गुदमार्ग से न लौटा हो और जठराग्नि भी मन्द हो, तो भोजन न दे और यदि दूसरे दिन भी स्नेह वापस न आये, तो उस दिन भी रोगी को भोजन न दे और न ही अनुवासनबस्ति दें। गुदमार्ग से बस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह के वापस आने की अधिकतम अवधि तीन प्रहर (नव घण्टे) की है। यदि इस अवधि में स्नेह वापस न लौटे, तो आठ प्रहर (एक दिन एवं एक रात) तक इसकी उपेक्षा अर्थात् प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि अब तक स्नेह न लौटे, तो फलवर्तियों तथा लवण एवं काँजी के योग से बनाई गई तीक्ष्ण बस्तियों से शोधन करें। इसके साथ ही स्नेहव्यापत्सिद्धि का ध्यान रखें। अर्थात् यदि कोई व्यापद् उत्पन्न हो, तो उसके निवारण का भी प्रयत्न करें। शरीर (अथवा मलाशय) की अतिरूक्षता के कारण यदि स्नेह नहीं लौट रहा हो, साथ ही जड़ता आदि कोई उपद्रव भी रोगी के के शरीर में लक्षित न हो रहे हों, तो भी उसकी उपेक्षा (अर्थात् प्रतीक्षा) ही करनी चाहिए तथा शोधन आदि का उपाय नहीं करना चाहिए। बस्ति देने के बाद यदि मल को लिये बिना ही केवल स्नेह मात्र गुदमार्ग से शीघ्र वापस लौट आये, तो पुनः उसी समय स्नेहबस्ति दे दें, क्योंकि मलाशय में कुछ समय तक रुके बिना स्नेह कोई कार्य नहीं करता। जो रोगी सुखपूर्वक सोया हो तथा जिसको वमन, विरेचन, आस्थापन दिया गया हो, उसे शरीर में शेष बचे स्नेह के पाचन एवं वात-कफ की शान्ति के लिए प्रातःकाल शुण्ठी (*Zingiber officinale* Roxb) और धनिया (*Coriandrum sativum* Kurz.) का क्वाथ या मात्र उष्णोदक पिलाना चाहिए, जिससे कि रोगी के उपर्युक्त दोषों का पाचन हो जाये।

ततोऽन्नकाले यथोक्तमन्नमश्नीयात्। न चानुवासितं पेयां पाययेत्। सा हि सस्नेहकोष्ठमेनमभिष्यन्दयति। पुनश्च तृतीयेऽह्न्यनुवासयेत्पञ्चमे वा। यदा वा स्नेहपक्तिः स्यात्।

१. 'स्नेहं द्वितीयेऽहनि' इति पाठान्तरम्। २. 'ज्ञावेक्षेत' इति पाठान्तरम्।
३. 'तथाप्युपेक्ष्यः' इति पाठान्तरम्। ४. 'कार्यकरो भवति' इति पाठान्तरम्।
५. 'तरच्चोष्णोदकं' इति पाठान्तरम्।

अतश्च दीप्ताग्निरूक्षवातोल्बणव्यायामनित्यान्प्रत्यहम् । एवममुना क्रमेण दोषाद्यनुसारतस्त्रिचतुरैः स्नेहबस्तिभिरुपस्निग्धं शोधनेनास्थापनेन स्रोतोविशुद्धयर्थमास्थापयेत् । वाताधिक्यादस्निग्धं तु स्नेहनेन ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् भोजन के समय यथायोग्य पेया आदि अन्न का आहार कराये । अनुवासन कराये गये रोगी को पेया नहीं पिलानी चाहिए, क्योंकि वह पेया स्नेह युक्त कोष्ठ में अभिष्यन्द उत्पन्न कर देती है । पुनः उस रोगी को तीसरे अथवा पाँचवें दिन अनुवासन देना चाहिए अथवा जब तक स्नेह पचता जाय, तब तक स्नेहबस्ति देते रहना चाहिए । यदि अग्नि प्रदीप्त हो, कोष्ठ रूक्ष हो, वायु वृद्ध हो अथवा जो नित्य व्यायामशील व्यक्ति हो, तो प्रतिदिन स्नेहबस्ति का प्रयोग किया जा सकता है । इस प्रकार इस क्रम से दोष एवं शरीर की अवस्था के अनुसार तीन-चार स्नेहबस्तियों द्वारा भलीभाँति स्निग्ध हुए रोगी को उसके स्रोतों के शोधनार्थ आस्थापन(निरूहण)बस्ति दें । परन्तु जो वायु की अधिकता के कारण स्निग्ध नहीं हो पा रहा हो, उस रोगी को स्नेहबस्ति ही देना चाहिए ।

निरूहणबस्ति

अथैनं तृतीये पञ्चमे वाऽहनि किञ्चिदावृत्ते मध्याह्ने कृतमङ्गलस्वस्त्ययनमभ्यक्तदेहं स्वेदितमुत्सृष्टमलमनाशितं नातिक्षुधितमवेक्ष्यातुरमार्याविलोकितं नाथमार्यं तारामात्मभुवं धातारमश्विनाविन्द्रमात्रेयं [1]सप्त मुनीन्काशिविदेहपतिप्रभृतीनग्निवेशादींश्च[2] तन्त्रकारान् दीपगन्धपुष्पफलबलिधूपैर्यज्ञ इव प्रकल्पितभागान् कृत्वौषधीवृद्धवैद्यद्विजातींश्च सम्पूज्य तद्विद्यसहितो दोषौषधादिबलेन यथार्हमुपकल्पयेद्बस्तिम् ॥ ३५ ॥

अनुवासनबस्ति देने के पश्चात् तीसरे अथवा पाँचवें दिन मध्याह्न काल के आरम्भ हो जाने पर आतुर को मंगलाचरण, स्वस्तिवाचन आदि किये हुए, देह में अभ्यंग किये हुए, स्वेदन किये हुए और मलत्याग किये हुए, भोजन न किये हुए और वह अधिक क्षुधित नहीं है, ऐसा जान करके आर्याविलोकित नाथ (आर्या द्वारा देखे हुए नाथ), आर्यतारा, आत्मभू (ब्रह्मा), धातार (दक्ष प्रजापति), अश्विनौ (नासत्य एवं दस्र), इन्द्र, आत्रेय, सप्तर्षियों, काशीराज विदेहराज आदि एवं अग्निवेश आदि तन्त्रकारों को दीप-गन्ध-फल-बलि-धूप से यज्ञ की भाँति भाग देकर औषधि से युक्त वृद्ध वैद्य और द्विजातियों की पूजा करके आयुर्वेदज्ञ के साथ दोष-औषधि आदि के बलाबल के अनुसार उचित बस्ति की कल्पना करें ।

पवित्र मन से किये गये कार्य का पवित्र फल ही मिलता है । इसी से प्राचीन महर्षियों ने किसी भी विशेष कार्य को आरम्भ करने के पूर्व मंगलाचरण आदि का विधान रखा है । साथ ही इन सभी क्रिया-कलापों द्वारा रोगी की मानसिक शक्ति भी बढ़ती है तथा धूप आदि द्रव्यों को जलाने से वातावरण शुद्ध होता है ।

औषध की मात्रा

तत्र विंशतिमात्राणि पलान्यौषधानां मदनफलाष्टकं च क्वाथकल्पेन विपचेत् । क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहमनिले षष्ठांशं पित्ते स्वस्थवृत्ते चाष्टमांशं तु कफे । सर्वत्र चाष्टमांशं कल्कस्य स्याद्यावता वा नात्यच्छसान्द्रता भवेत् । गुडस्य पलं युक्त्या मधुसैन्धवे यथायोग्यं च शेषाणि कल्पयेत् ॥ ३६ ॥

---

१. 'सप्तर्षीन् काशिराज' इति पाठान्तरम् । २. 'वेश्यादींश्च' इति पाठान्तरम् ।

वस्ति-कल्पना की औषधियाँ (दशमूल, मोथा आदि) बीस पल लें और आठ दाना मदन-फल (*Randia dumetorum*) लेकर इनका क्वाथ पकायें। तत्पश्चात् वायु दोष के लिए क्वाथ से चतुर्थांश स्नेह, पित्त दोष के लिए क्वाथ का षष्ठांश स्नेह तथा कफ दोष के लिए क्वाथ का अष्टमांश स्नेह लें और यदि स्वस्थावस्था में भी निरूहबस्ति देना हो, तो क्वाथ का षष्ठांश स्नेह लेकर उस क्वाथ में मिलायें। उपर्युक्त द्रव्यों का कल्क उक्त औषधियों के अष्टमांश मिलावें अथवा कल्क इतना मिलावें कि जिससे क्वाथ न अति गाढ़ा रहे और न ही अति पतला रहे। क्वाथ में गुड़ एक पल तथा शहद एवं सैन्धव लवण आदि द्रव्य तथा दोषानुसार गोमूत्र आदि शेष द्रव्यों को यथायोग्य मिलाना चाहिए।

बस्ति की विधि

सर्वाणि चैकध्यमुष्णोदककुम्भीबाष्पाभितप्तानि खजमथितानि बस्तौ प्रक्षिप्यानुवासनवन्निरूहं प्रणयेत्। नात्युष्णशीतं नातिमृदुतीक्ष्णं नातिस्निग्धरूक्षं नातितनुसान्द्रं न हीनातिमात्रं नालवणातिलवणं नात्यम्लं च। तत्र बाष्पमात्रानुतापादौषधस्य विदाहो न भवति। खजप्रमथनात्तु क्वाथस्नेहादयः सम्यक् सम्प्रयुक्ताः सम्यगेव योगमारभन्ते। अन्यथा पुनः क्वाथादीनामुल्बणोऽन्यतमं यथास्वं दोषमीरयेत्। अत्युष्णादीनां तु पृथग्व्यापदः साधनानि च सिद्धिषूत्तरकालमुपदेक्ष्यन्ते ॥ ३७ ॥

इन सभी द्रव्यों को एक साथ एक पात्र में रखकर गर्म जल से भरी कुम्भी (छोटा घड़ा या घटी) के बाष्प से गर्म करें और मथानी से मथकर वस्तिपुट में रखकर अनुवासनबस्ति की विधि के समान ही निरूहणबस्ति दें। बस्ति हेतु प्रयुक्त होने वाला द्रव न बहुत उष्ण, न बहुत शीत, न बहुत मृदु, न बहुत तीक्ष्ण, न बहुत स्निग्ध, न बहुत रूक्ष, न बहुत तनु (पतला), न बहुत सान्द्र (गाढ़ा), मात्रा में न बहुत कम और न बहुत अधिक तथा न लवण से रहित, न बहुत अधिक लवण-युक्त और न ही अत्यन्त अम्लीय होना चाहिए। कुम्भी के बाष्प से गर्म करने पर औषधि में विदाह नहीं होता। मथनी द्वारा सम्यक् प्रकार से मंथन कर लेने से क्वाथ, स्नेह एवं कल्क आदि भली-भाँति मिश्रित हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप ये द्रव्य शरीर में जाकर ठीक-ठीक प्रभाव करते हैं। भलीभाँति मंथन न करने से क्वाथ में प्रयुक्त विभिन्न द्रव्य अपने किसी समान गुणधर्मी दोष को प्रकुपित कर सकते हैं। वस्ति द्रव के अति उष्ण, अति शीत आदि होने के कारण उत्पन्न होने वाली व्यापत्तियों (रोगों) का वर्णन तथा उनके उपचार आगे सिद्धिस्थान में कहे जायेंगे।

बस्ति के दोष

अपि च—

तिर्यक् प्रणीते हि न याति धारा गुदे व्रणः स्याच्चलिते च नेत्रे।
दत्तः शनैर्नाशयमेति बस्तिः कण्ठं प्रधावेदतिपीडितस्तु ॥ ३८ ॥
स्तम्भं विधत्तेऽतिमृदुर्हिमश्च तप्ताम्लतीक्ष्णो भ्रमदाहमोहान्।
स्निग्धोऽतिजाड्यं पवनं तु रूक्षस्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम् ॥ ३९ ॥
करोति मात्राभ्यधिकोऽतियोगं क्षोभं तु सान्द्रः सुचिरेण चैति।
दाहातिसारौ लवणोऽतिकुर्यात्तस्मात्सुयुक्तं सममेव दद्यात् ॥ ४० ॥

और भी—

यदि बस्तिनेत्र का प्रवेश गुदा में तिरछी दिशा में हुआ हो, तो द्रव की धारा गुदा में नहीं जाती और यदि बस्ति-प्रयोग के समय बस्तिनेत्र हिल-डुल जाए, तो गुदा में व्रण हो सकते हैं। यदि

बस्ति धीरे से दी जाये अर्थात् बस्तिपुट धीमे से दबाया जाये, तो द्रव मलाशय तक नहीं पहुँच पाता है। यदि बस्ति तीव्र वेग से दी जाये अर्थात् बस्तिपुट तेजी के साथ दबाया जाय, तो द्रव औषधि तीव्रवेग के कारण कण्ठ तक पहुँच जाती है। बस्ति द्रव औषधि के अति शीतल और अति मृदु होने से जड़ता (स्तम्भ) उत्पन्न हो जाती है तथा अति उष्ण, अति अम्ल या अति तीक्ष्ण बस्ति द्रव भ्रम, दाह एवं मोह को उत्पन्न करता है। अत्यन्त स्निग्ध बस्ति शरीर में जड़ता उत्पन्न करती है तथा अत्यन्त रूक्ष बस्ति वायु का प्रकोप करती है। अति तनु (पतला), थोड़ी मात्रा में प्रयुक्त एवं लवण रहित बस्तिद्रव बस्ति का अयोग करता है। अधिक मात्रा में प्रयुक्त बस्तिद्रव से बस्ति का अतियोग हो जाता है। अति सान्द्र (गाढ़ा) बस्तिद्रव से मलाशय में क्षोभ विलम्ब से होता है, फलस्वरूप मलोत्सर्ग भी देर से होता है। अतिलवण बस्तिद्रव गुदा एवं मलाशय में दाह तथा अतिसार को उत्पन्न करता है। अतएव बस्तिद्रव को पूर्वोक्त विधि-विधान से सम्यक् रूप से निर्मित कर प्रयोग में लाना चाहिए।

यहाँ यह बतलाया गया है कि बस्तिनेत्र को गुदा में सीधे प्रवेश करायें, हिलायें-डुलायें नहीं तथा पुट को इतनी शक्ति से दबायें कि एक ही बार के दबाने से द्रव पदार्थ गुदा में सम्यक् रूप में प्रविष्ट हो जाये, क्योंकि धीमे से दबाने पर मलाशय में पूरा द्रव पहुँच ही नहीं पाता और अधिक शक्ति से दबाने पर वह शरीर में ऊपर (कण्ठ) तक पहुँच जाता है। अतः पुट को मध्यम शक्ति से ही दबाना चाहिए।

निरुह-विधि

अन्ये पुनराहुः—

मात्रां त्रिपलिकां कुर्यात्स्नेहमाक्षिकयोः पृथक्।
कर्षार्द्धं माणिमन्थस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम् ॥ ४१ ॥
सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत्।
माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात्।
आवपेत निरूहाणामेष संयोजने विधिः ॥ ४२ ॥

पुनः अन्य आचार्य कहते हैं—

बस्ति द्रव की कल्पना हेतु स्नेह एवं मधु तीन-तीन पल (बारह तोला), मणिमन्थ (सैंधव लवण) आधा कर्ष (आधा तोला), कल्क दो पल (आठ तोला) एवं शेष समस्त औषधियाँ दस पल (चालीस तोला) की मात्रा में लेना चाहिए। यह परिमाण (मात्रा) स्वस्थ व्यक्ति हेतु कही गयी है। पात्र में सर्वप्रथम मधु, फिर लवण, तत्पश्चात् स्नेह, कल्क एवं क्वाथ इस क्रम से मिलाना चाहिए। इस प्रकार से मिलाने पर द्रव्य समान रस वाले हो जाते हैं; फलस्वरूप निरूहवस्ति का समयोग होता है। निरूह(आस्थापन)वस्ति में द्रव्यों को मिलाने के लिए यही उपयुक्त विधि बतलाई गयी है।

निरूहण बस्ति के पश्चात् कर्म

दत्तमात्रे तूत्तानः सोपधानो निरूहवीर्येण देहव्याप्तये तन्मनास्तिष्ठेत्। उदीर्ण-वेगश्चोत्कटको[1] विसृजेत्। आगमनकालस्तु परो मुहूर्तः। तदाप्यनागच्छन्नाशु मृत्यवे स्यात्। अतस्तत्रानुलोमिकस्नेहक्षारमूत्राम्लं स्निग्धतीक्ष्णोष्णमन्यं प्रयोजयेत्। फलवर्तिस्वेदभयोत्रासादींश्च। बस्तिव्यापत्सिद्धिं चेक्षेत[2] ॥ ४३ ॥

१. 'कटुको' इति पाठान्तरम्। २. 'चावेक्षेत' इति पाठान्तरम्।

निरूहणबस्ति ग्रहण करने के पश्चात् रोगी को चाहिए कि वह तुरन्त शय्या पर तकिया लगाकर पीठ के बल (उत्तान) सो जाये तथा बड़े मनोयोग से प्रतीक्षा करे, जिससे निरूहबस्ति अपने वीर्य से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाये। मल के वेग का अनुभव होते ही उपयुक्त आसन पर उत्कट आसन में (पैर के बल बैठकर) मलत्याग करे। निरूहणबस्ति के पुनरागमन की अधिकतम अवधि एक मुहूर्त्त (दो घड़ी या अड़तालीस मिनट) कही गई है। यदि उपर्युक्त अवधि में बस्ति न लौटे, तो यह शीघ्र मृत्युकारक होती है। अतएव इस अवस्था में अनुलोमक द्रव्यों स्नेह-क्षार-मूत्र-अम्ल आदि से निर्मित स्निग्ध, तीक्ष्ण एवं उष्ण दूसरी निरूहबस्ति दें। फलवर्ति, स्वेद एवं भयोत्रास आदि का प्रयोग करें तथा बस्तिव्यापत्सिद्धि को देखकर उसका सम्यक् प्रयोग करे।

बस्ति देने के बाद वह बस्ति द्रव केवल मलाशय में ही नहीं रहता, बल्कि ग्रहणी तक पहुँच जाता है, ऐसा माना गया है। इसीलिए रोगी को लेट कर मनोयोग से प्रतीक्षा करनी चाहिए कि वह वस्ति द्रव ग्रहणी के द्वारा क्षुद्रान्त्र (Ileum) तक पहुँच कर वहाँ से दोषों को लेकर शीघ्र वापस लौटे।

निरूहण बस्ति की संख्या

स्वयं निवृत्ते तु पूर्ववद् द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं च दद्याद्यावद्वा सुनिरूढः स्यात्। तत्राद्योऽनिलं स्वमार्गादपकर्षति। द्वितीयः पित्तं। तृतीयः श्लेष्माणमिति ॥ ४४ ॥

यदि बस्ति द्रव स्वयमेव वापस आ जाये, तो पूर्ववत् दूसरी, तीसरी और चौथी निरूह बस्ति दें अथवा जब तक रोगी का सम्यक् प्रकार से निरूहण न हो जायें, तब तक पूर्ववत् ही बस्ति देते रहें। इनमें दी गई प्रथम बस्ति वायु को स्वमार्ग से अपकर्षित करती है, दूसरी पित्त को तथा तीसरी कफ को निकालती है।

यदि बस्ति ठीक से दी गई है, तो प्रथम बार में ही मल बाहर आ जाता है तथा वायु का संशमन हो जाता है। दूसरी बस्ति से मल के साथ पित्त भी निकलता है, जो कि पीले वर्ण का होता है। तीसरी बस्ति से मल के साथ कफ भी निकलता है, जो कि मल में चिपचिपाहट को देखकर समझ लेना चाहिए।

बस्ति का हीन, सम्यक् तथा अतियोग

तस्य हीनसम्यगतियोगास्तु विरिक्तवत्। सम्यङ्निरूढं तु कोष्णसलिलावसिक्तं तनुना जाङ्गलरसेन भोजयेत्। स्नाताशितस्यास्य चला दोषशेषाः स्वस्थानमाश्रयन्ते ।४५।

जिस प्रकार विरेचन के हीनयोग, अतियोग एवं सम्यक् योग होते हैं, उसी प्रकार निरूहबस्ति के भी हीन, अति एवं सम्यक् योग होते हैं। भलीभाँति निरूहित व्यक्ति को कोष्ण (हलका उष्ण) जल से स्नान करायें तथा जांगल प्राणियों के मांसरस के साथ उसे भोजन करायें। उपर्युक्त प्रकार से भोजन एवं स्नान करने से शेष चलायमान दोष स्वस्थान में पहुँच जाते हैं।

निरूहण के पश्चात् अनुवासन का प्रयोग

ततः पुनर्वातार्तमातुरं बृंहणीयमन्यं वा तद्विधमशितानन्तरं सायं वा पुनरल्पलघ्वशितं यथास्वमनिलादिषु दशमूलादिसाधितेन तैलेनानुवासयेत्। तस्य हीनसम्यगतियोगाः स्नेहपीतवत्। विशेषस्तु सम्यगनुवासिते किञ्चित्कालं स्थित्वा स्नेहः सपुरीषोऽनिलानुगतः प्रवर्तत इति ॥ ४६ ॥

निरूह एवं आस्थापन(अनुवासन)बस्ति

निरूहबस्ति	अनुवासनबस्ति	विशेष
१. क्वाथ-प्रधान ।	१. स्नेह-प्रधान ।	—
२. बिना भोजन किये प्रयोग करना चाहिए ।	२. अल्प स्नेहयुक्त भोजन की चतुर्थांश मात्रा कम देकर बस्ति का प्रयोग करना चाहिए । (अ० सं० सू० २८।२९)	मात्रा से तात्पर्य नेत्र-पलक के स्वाभाविक रूप में बन्द होने और खुलने में जितना समय लगता है अथवा जानु के चारों ओर हाथ घुमाकर चुटकी बजाने में एक बार में जितना समय लगता है, वह एक मात्रा होती है । (सु० उ० १८)
३. बस्ति देने से लेकर तीस मात्रा तक प्रतीक्षा करनी चाहिए । फिर रोगी को खड़ा होने के लिए कहना चाहिए ।	३. सौ बार गिनती गिनना चाहिए, जिससे स्नेह का वीर्य सम्पूर्ण शरीर में फैल जाय । (अ० सं० सू० २८।३२)	
४. निरूहबस्ति के वापस आने का समय एक मूहूर्त (दो घड़ी अथवा ४८ मिनट) होता है ।	४. स्नेह के शरीर के अन्दर रहने का समय ३ याम (९ घण्टा) तक है । इस अवधि के पश्चात् स्नेह शरीर से निकलना चाहिए । (च० सि० १।४६), (अ० सं० सू० २८।३३) ।	
५. इस विधि से दूसरी, तीसरी अथवा चौथी बस्ति का प्रयोग करना चाहिए । (अ० सं० सू० २८।४४)	५. कफजन्य रोगों में १ या ३, पित्तजन्य रोगों में ५ या ७ तथा वातजन्य रोगों में ९ या ११ बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए । (च० सि० १।२५), (अ० सं० सू० २८।४७-४८) ।	
६. उत्तम मात्रा २४ पल है ।	६. उत्तम मात्रा निरूह की चतुर्थांश अर्थात् ६ पल है ।	१ पल = ४ तोला = ४८ ग्राम लगभग ।
७. अधिक प्रयोग से वात-प्रकोप का भय रहता है । अतः निरूह के पश्चात् अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए ।	७. अधिक प्रयोग से अग्निनाश एवं उत्क्लेश होता है । अतः अनुवासन के पश्चात् निरूह का प्रयोग करना चाहिए ।	रूक्ष एवं बहुवात युक्त पुरुष के लिए प्रतिदिन एवं अन्य पुरुषों के लिए अग्निमांद्य के भय से तीसरे दिन स्नेहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

तत्पश्चात् वातव्याधि से पीड़ित रोगी को 'द्विविधोपक्रमणीय' अध्याय में निर्दिष्ट विधि से अथवा किसी भी अन्य विधि से बृंहण कराना चाहिए। भोजन कर चुकने के पश्चात् अथवा सायंकाल पुनः अल्प एवं लघु भोजन दें तथा वातादि दोषों के अनुसार दशमूल आदि औषधियों से सिद्ध तैल की अनुवासनबस्ति दें। जैसे स्नेहपान के हीनयोग, अतियोग तथा सम्यक्योग के लक्षण होते हैं, वैसे ही अनुवासनबस्ति के भी हीनयोग, अतियोग या सम्यक्योग के लक्षण होते हैं। विशेष रूप से सम्यक् रूप में अनुवासनबस्ति दिये गये व्यक्ति में कुछ समय के पश्चात् स्नेह पुरीष एवं वायु के साथ गुदमार्ग से बाहर आ जाता है।

दोषानुसार स्नेहबस्ति

भवति चात्र—

एवं कफे स्नेहबस्तिमेकं त्रीन्वा प्रयोजयेत्।
पञ्च वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वाऽनिले ॥ ४७ ॥
पुनस्ततोऽप्ययुग्मांस्तु पुनरास्थापनं ततः।
कफपित्तानिलेष्वन्नं यूषक्षीररसैः क्रमात् ॥ ४८ ॥

कहा भी है—

कफप्रधान रोगों में एक या तीन स्नेहबस्तियाँ देनी चाहिए, पित्तप्रधान रोगों में पाँच या सात तथा वातप्रधान रोगों में नौ या ग्यारह स्नेहबस्तियाँ देनी चाहिए। आवश्यकतानुसार इससे अधिक भी बस्तियाँ दी जा सकती हैं, परन्तु इनकी संख्या अयुग्म में (तेरह, पन्द्रह, सत्रह आदि) ही होनी चाहिए। स्नेहबस्ति देने के पश्चात् शोधनार्थ निरूहणबस्ति देना चाहिए। कफप्रधान रोगों में मुद्ग (*Phaseolus mungo*) आदि के यूष के साथ, पित्तप्रधान रोगों में गोदुग्ध के साथ तथा वातप्रधान रोगों में माँस रस के साथ रोगी को आहार देना चाहिए।

दोषानुसार द्रव्यों का प्रयोग

वातघ्नौषधनिःक्वाथस्त्रिवृतासैन्धवैर्युतः।
बस्तिरेकोऽनिले स्निग्धः स्वाद्वम्लोष्णरसान्वितः ॥ ४९ ॥
न्यग्रोधादिगणक्वाथपद्मकादिसितायुतौ।
पित्ते स्वादुहिमौ साज्यक्षीरेक्षुरसमाक्षिकौ ॥ ५० ॥
आरग्वधादिनिःक्वाथवत्सकादियुतास्त्रयः।
रुक्षाः सक्षौद्रगोमूत्रास्तीक्ष्णोष्णकटुकाः कफे ॥ ५१ ॥
त्रयश्च सन्निपातेऽपि दोषान् घ्नन्ति यतः क्रमात्।

वात-प्रधान रोगों में दशमूल तथा एरण्ड (*Ricinus comunis*) आदि वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ में त्रिवृत् (*Ipomoea turpethum* R. Br.) तथा सैंधव डालकर मधुर, अम्ल एवं लवण रसों वाली औषधियों से स्निग्ध की हुई एक बस्ति देनी चाहिए। पित्त-प्रधान रोगों में न्यग्रोधादि तथा पद्मकादिगण की औषधियों के क्वाथ को शर्करा के साथ तथा मधुर, शीतल औषधियों, घृत, क्षीर, इक्षुरस (*Saccharum officinarum* Linn.) तथा मधु-मिश्रित करके दो बस्तियाँ देनी चाहिए। कफ-प्रधान व्याधियों में आरग्वधादि एवं वत्सकादि गण की औषधियों के क्वाथ को मधु, गोमूत्र आदि तीक्ष्ण, उष्ण तथा कटु रसवाली औषधियों से युक्त करके तीन बस्तियाँ देनी चाहिए। तीनों दोषों के सन्निपात की अवस्था में भी तीन बस्तियाँ ही देनी चाहिए, क्योंकि ये क्रम से वात, पित्त तथा कफदोषों का नाश करती हैं।

तात्पर्य यह है कि रोग में जिस दोष को प्रधानता हो, उस दोष के विपरीत (शामक) रस, वीर्य, विपाक वाली औषधियाँ बस्ति में प्रयुक्त करनी चाहिए ।

आचार्य चरक का मत

नाचार्यचरकस्यातो बस्तिस्त्रिभ्यः परं मतः ॥ ५२ ॥
न हि दोषश्चतुर्थोऽस्ति पुनर्दीयेत् यं प्रति ।

आचार्य चरक का यह विचार है कि दोष तीन होते हैं । अतएव दोषानुसार बस्तियों की संख्या भी तीन ही होती है । चौथा कोई दोष नहीं होता, जिसके लिए पुनः बस्ति देनी पड़े ।

विधि-भेद से बस्तियों के तीन भेद

उत्क्लेशनं शुद्धिकरं दोषाणां शमनं क्रमात् ॥ ५३ ॥
त्रिधैव कल्पयेद्बस्तिमित्यन्येऽपि प्रचक्षते ।

अन्य आचार्यों का भी यही मत है कि बस्तियाँ तीन ही प्रकार की होती हैं—१. दोषों का उत्क्लेशन करने वाली, २. दोषों का शोधन करने वाली एवं ३. दोषों का शमन करने वाली ।

उपसंहार

दोषौषधादिबलतः सर्वमेतत्प्रमाणयेत् ॥ ५४ ॥
सम्यङ्निरूढलिङ्गं तु नासम्भाव्य निवर्तयेत् ।

दोष एवं औषधियों के बलाबल को ध्यान में रखते हुए ही विभिन्न बस्तियों की कल्पना करनी चाहिए । जब तक निरूहण करा रहे व्यक्ति में सम्यक् निरूह के लक्षण दृष्टिगोचर न हो जायें, तब तक निरूहबस्ति देते रहना चाहिए ।

बस्तिकर्म, बस्तिकाल तथा बस्तियोग

प्राग् स्नेह एकः पञ्चान्ते द्वादशास्थापनानि च ॥ ५५ ॥
सान्वासनानि कर्मैवं बस्तयस्त्रिंशदीरिताः ।
कालः पञ्चदशैकोऽत्र प्राक्स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा ॥ ५६ ॥
षट् पञ्च बस्त्यन्तरिता योगोऽष्टौ बस्तयोऽत्र तु ।
त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ ॥ ५७ ॥

पुनः संख्या-भेद से तीन प्रकार की बस्तियाँ होती हैं—

कर्मबस्ति—ये तीस हैं । इन तीसों बस्तियों में से पहली एक स्नेहबस्ति दी जाती है तथा अन्त की पाँच (२६वीं, २७वीं, २८वीं, २९वीं तथा ३०वीं) स्नेहबस्ति ही दी जाती है । शेष बारह (२, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, १८, २०, २२ तथा २४वीं) बस्तियाँ निरूहण तथा अन्य बारह (३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २३ तथा २५वीं) बस्तियाँ अनुवासन दी जाती है ।

कालबस्ति—ये पन्द्रह हैं । इनमें से पहली तथा अन्तिम तीन (१३, १४ तथा १५वीं) ये चार स्नेह बस्तियाँ दी जाती हैं । शेष छः निरूह बस्तियाँ (२, ४, ६, ८, १० तथा १२वीं) दी जाती हैं एवं अन्य पाँच अनुवासनबस्तियाँ (३, ५, ७, ९ तथा ११वीं) दी जाती हैं ।

योगबस्ति–ये आठ हैं । इनमें से पहली तथा अंतिम स्नेहबस्ति दी जाती है । शेष में से एक-एक का अन्तर देकर तीन निरूह (२, ४ तथा ६ठवीं) तथा तीन अनुवासन (३, ५ तथा ७वीं) बस्तियाँ दी जाती हैं ।

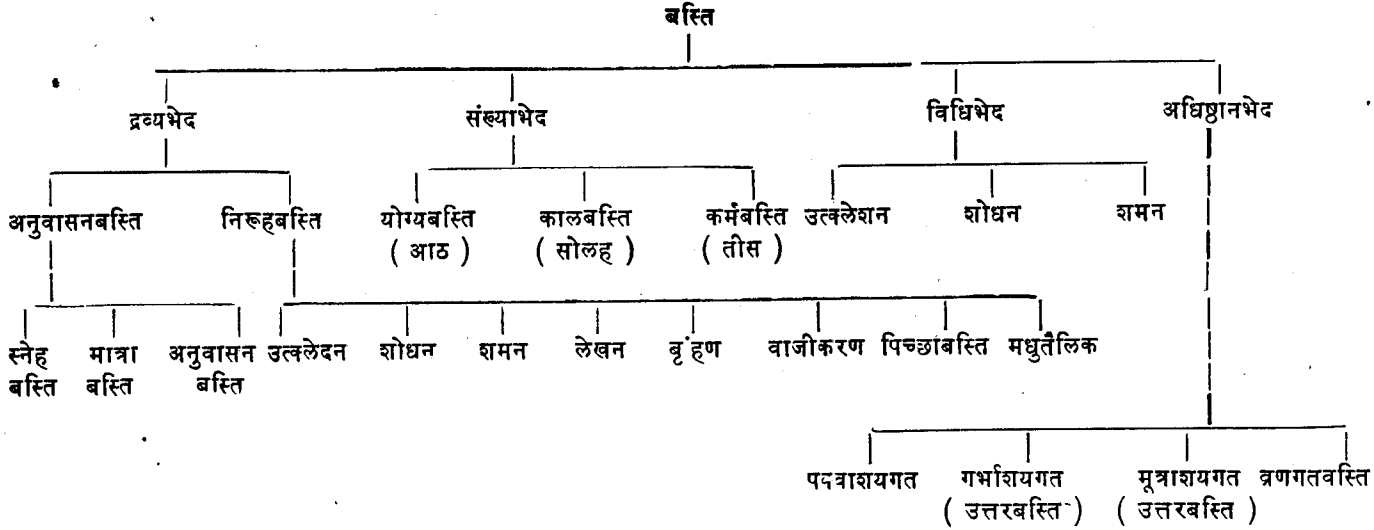
बस्ति
द्रव्यभेद
संख्याभेद
विधिभेद
अधिष्ठानभेद
अनुवासनबस्ति
निरूहबस्ति
योग्यबस्ति
(आठ)
कालबस्ति
(सोलह)
कर्मबस्ति
(तीस)
उत्क्लेशन
शोधन
शमन
स्नेह बस्ति
मात्रा बस्ति
अनुवासन बस्ति
उत्क्लेदन
शोधन
शमन
लेखन
बृंहण
वाजीकरण
पिच्छाबस्ति
मधुतैलिक
पक्वाशयगत
गर्भाशयगत
(उत्तरबस्ति)
मूत्राशयगत
(उत्तरबस्ति)
व्रणगतवस्ति

उपर्युक्त मत चरक का भी है। चरकसंहिता में भी बस्तियों की कुल संख्या कितनी होनी चाहिए, इस सम्बन्ध में उपर्युक्त तीन भेदों का ही वर्णन है। इन तीनों को कर्मबस्ति, कालबस्ति तथा योगबस्ति कहा जाता है; परन्तु इन्हें कर्म, काल तथा योग संज्ञा क्यों प्रदान की गई? यह विचारणीय विषय है।

बस्ति कर्म

स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत्।
उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूहान्मरुतो भयम्॥ ५८॥
तस्मान्निरूढः स्नेह्यः स्यान्निरूह्यश्चानुवासितः।
स्नेहशोधनयुक्त्यैवं बस्तिकर्म त्रिदोषजित्॥ ५९॥

मात्र स्नेहबस्ति अथवा मात्र निरूहबस्ति का बहुत दिनों तक अति सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्नेहबस्ति के प्रयोगाधिक्य से दोषों का उत्क्लेश तथा अग्नि के नाश का भय रहता है तथा इसी प्रकार निरूहबस्ति के प्रयोगाधिक्य से वायु के कुपित होने का भय रहता है। अतः निरूह बस्ति का प्रयोग किये गये व्यक्ति को अनुवासनबस्ति तथा अनुवासन का प्रयोग किये गये व्यक्ति को निरूहबस्ति देना चाहिए। अर्थात् निरूह एवं अनुवासनबस्तियों का प्रयोग क्रमशः एक के बाद एक इस प्रकार से करना चाहिए। इस प्रकार स्नेहबस्ति के द्वारा स्नेहन एवं निरूहणबस्ति द्वारा शोधन—इन दोनों का योग होने से यह बस्तिकर्म त्रिदोषनाशक होता है।

स्नेहबस्ति का लगातार सेवन करने से शरीर में स्नेह का उत्क्लेश हो जाता है, फलस्वरूप जठराग्नि मन्द पड़ जाती है एवं अन्य भी अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, ठीक इसी प्रकार आस्थापन (निरूह) बस्ति का निरन्तर सेवन करने से शरीर में रूक्षता की वृद्धि होती है तथा वायु का प्रकोप होकर अनेक रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव इन दोनों प्रकार की बस्तियों का क्रमशः सेवन करना चाहिए, जिससे स्निग्धता एवं रूक्षता का संतुलन बना रहे तथा दोष-प्रकोप न हो। इन दोनों बस्तियों का क्रमशः सम्यक् प्रयोग करने से त्रिदोषों का शमन होता है।

बस्ति से लाभ

अष्टादशाष्टादशकान् बस्तीनां यो निषेवते।
विधिना ना यथोक्तेन स भवेदजडोऽरुजः[1]॥ ६०॥
सहस्रायुः श्रुतधरो वीतपाप्माऽमरप्रभः।
वाजिस्यदो नागबलः स्थिरबुद्धीन्द्रियानलः॥ ६१॥

जो व्यक्ति उपर्युक्त विधि से अठारह अनुवासन एवं अठारह निरूहवस्तियों का सेवन करता है, वह अजड़ (जड़ता से रहित अर्थात् तीव्र बुद्धि वाला), रोगरहित, हजार वर्षों की आयु वाला (अर्थात् दीर्घायु), श्रुतधर (अर्थात् सुने या पढ़े हुए विषयों को मस्तिष्क में स्थिर रखने वाला), पापरहित, अमर (इन्द्र) के समान ऐश्वर्यशाली, वाजि (घोड़े) के समान स्फूर्तिवाला, नाग (हाथी) के समान बलवान्, स्थिर बुद्धि, स्थिर इन्द्रिय तथा स्थिर अग्नि वाला हो जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि 'बस्ति-चिकित्सा' को आचार्यों ने आधी या सम्पूर्ण चिकित्सा ही मान लिया है। साथ ही साथ यह रोगी का रोग दूर करने के साथ-साथ शरीर को उपर्युक्त गुणों से युक्त करता है।

---

१. 'भवेदजरो' इति पाठान्तरम्।

उत्तर बस्ति

बस्तौ रोगेषु नारीणां योनिगर्भाशयेषु च ।
द्वित्रास्थापनशुद्धेभ्यो विदध्याद्बस्तिमुत्तरम् ॥ ६२ ॥
आतुराङ्गुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशाङ्गुलम् ।
वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम् ॥ ६३ ॥
सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं श्लक्ष्णं हेमादिसम्भवम् ।
कुन्दाश्वमारसुमनःपुष्पवृन्तोपमं दृढम् ॥ ६४ ॥
तस्य बस्तिर्मृदुलघुर्मात्रा शुक्तिर्विकल्प्य वा ।

बस्ति रोगों (मूत्राशय एवं मूत्र-मार्ग आदि के रोगों) एवं स्त्रियों के योनि एवं गर्भाशय के रोगों में पहले दो-तीन आस्थापनबस्तियों द्वारा शोधन करने के पश्चात् उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए । उत्तरबस्ति के प्रयोग हेतु बस्तिनेत्र की लम्बाई-रोगी की अंगुलियों से बारह अंगुल होनी चाहिए । यह बस्तिनेत्र वृत्ताकार (गोल), गोपुच्छ (गाय की पूँछ के) सदृश आकृति वाला अर्थात् जड़ में चौड़ा एवं अग्रभाग में पतला, कर्णिकाओं से युक्त होना चाहिए । बस्तिनेत्र के अग्रभाग वाला छिद्र सिद्धार्थक (सरसों *Brassica compestris*) के प्रवेश करने योग्य होना चाहिए । बस्तिनेत्र चिकना, सुवर्ण आदि धातुओं का बना हुआ तथा मोटाई में कुन्द, अश्वमार (कनेर *Nerium indicum*) या सुमन (चमेली *Jasmine grandiflorum*) के पुष्प-वृन्त (डंठल) के प्रमाण का तथा सुदृढ़ होना चाहिए । इस नेत्र में बाँधा जाने वाला बस्तिपुट कोमल तथा लघु (छोटा) होना चाहिए एवं प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव का परिमाण (मात्रा) एक शुक्ति (दो कर्ष या दो तोला) होना चाहिए अथवा रोग एवं रोगी के बल आदि का सम्यक् विचार करके द्रव की उचित मात्रा का निर्धारण करना चाहिए ।

उत्तरबस्ति की परिभाषा बतलाते हुए चक्रपाणि ने कहा है—'उत्तरबस्तिसंज्ञा उत्तरमार्गदीयमानतया किंवा श्रेष्ठगुणतया उत्तरबस्तिः' ॥ (च० सि० ९।५०) अर्थात् उत्तर मार्ग से दिये जाने के कारण इसे उत्तरबस्ति कहते हैं अथवा उत्तर (श्रेष्ठ) गुणों से युक्त होने के कारण इसे उत्तरबस्ति कहते हैं । यह पुरुषों तथा स्त्रियों में योनिमार्ग द्वारा (भी) दी जाती हैं । इसी अध्याय (२८।९) में उत्तरबस्ति की परिभाषा द्रष्टव्य है ।

अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहबस्तिविधानतः ॥ ६५ ॥
ऋजोः सुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदौ ।
हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्ज्जु शनैः स्त्रोतोविशुद्धये ॥ ६६ ॥
मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिणाहां घनामृजुम् ।
श्लक्ष्णां शलाकां प्रणयेत्तया शुद्धेऽनुसेवनीम्[1] ॥ ६७ ॥
आमेहनान्तं नेत्रं च निष्कम्पं गुदवत्ततः ।
पीडितेऽनुगते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हितः ॥ ६८ ॥
बस्तीननेन विधिना दद्यात् त्रींश्चतुरोऽपि वा ।
अनुवासनवच्छेषं सर्वमेवास्य चिन्तयेत् ॥ ६९ ॥

उत्तरबस्ति देने के लिए सर्वप्रथम रोगी को जैसा कर्म स्नेहबस्ति में कराया जाता है, उसी प्रकार स्वस्तिवाचन (मंगलाचरण) तथा स्नान एवं भोजन कराना चाहिए । तत्पश्चात् उस व्यक्ति

१. 'शुद्धेऽनुसीवनीम्' इति पाठान्तरम् ।

को जानु (घुटने) भर ऊँचे, मृदु (कोमल या गद्देदार) आसन पर पीठ के सहारे से सुखपूर्वक सीधा बैठना चाहिए। फिर उसके शिश्न को हृष्ट (स्तब्ध या दृढ़) एवं सीधा करके मेढ्र (मूत्र-मार्ग) में चमेली (*Jasmine grandiflorum*) के पुष्प-वृन्त के समान मोटी, सीधी, चिकनी तथा घन (ठोस) शलाका को धीरे-धीरे शिश्न-सेवनी की अनुकूल दिशा में मूत्रमार्ग के शोधनार्थ मेहन (शिश्न) के अन्त तक प्रवेश कराना चाहिए। जिस प्रकार बिना हाथ हिलाये गुदा में बस्ति-नेत्र का प्रवेश कराया जाता है, उसी प्रकार मूत्रमार्ग में भी शलाका प्रवेश कराते समय हाथ न हिलायें। इसके पश्चात् बस्तिपुट को पीडन (दबा) करके स्नेह द्रव को मूत्र-मार्ग में प्रवेश करायें। जब स्नेह भीतर प्रवेश कर जाये, तभी बस्ति का क्रम हित माना जाता है। फिर नेत्र को निकाल कर स्नेहबस्ति में जैसा पश्चात् कर्म कहा गया है, उसी प्रकार रोगी के नितम्बों, एड़ियों आदि पर ताड़न करना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त विधि से तीन या चार बार उत्तरबस्ति देना चाहिए। शेष समस्त कार्य अनुवासनबस्ति में निर्दिष्ट विधियों के समान ही करना चाहिए।

स्त्रियों में उत्तरबस्ति का विधान

स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृता[1]।
विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये ॥ ७० ॥
योनिविभ्रंशशूलेषु योनिव्यापद्यसृग्दरे ।

स्त्रियों में उत्तरबस्ति का प्रयोग ऋतुकाल में करना चाहिए, क्योंकि इस काल में योनि का मुख खुला होता है, फलस्वरूप बस्ति द्वारा प्रयुक्त औषधि को योनि एवं गर्भाशय उत्तम रीति से ग्रहण कर लेते हैं। अतएव स्नेह एवं निरूह दोनों प्रकार की उत्तरबस्ति ऋतुकाल में ही दें, परन्तु आत्ययिक परिस्थितियों में अपरिहार्य होने पर ऋतुकाल के अतिरिक्त काल में भी उत्तरबस्ति दी जा सकती है। योनिभ्रंश (गर्भाशय का स्वस्थान से विचलित हो जाना), योनिशूल, योनिव्यापद् तथा असृग्दर (रक्तप्रदर) इन रोगों में ऋतुकाल के बिना भी उत्तरबस्ति दी जा सकती है।

नेत्र का प्रमाण

नेत्रं दशाङ्गुलं मुद्गप्रवेशं चतुरङ्गुलम् ॥ ७१ ॥
अपत्यमार्गे योज्यं स्याद् द्व्यङ्गुलं मूत्रवर्त्मनि ।
मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमङ्गुलम् ॥ ७२ ॥
प्रकुञ्चो मध्यमा मात्रा बालानां शुक्तिरेव तु ।

स्त्रियो में प्रयुक्त होने वाले बस्तिनेत्र की लम्बाई उस स्त्री-विशेष की अँगुली से दस अंगुल लम्बी होनी चाहिए। नेत्र के अग्रभाग वाला छिद्र मूँग (*Phaseolus mungo*) के प्रवेश करने योग्य होना चाहिए। योनि से सम्बन्धित रोगों की चिकित्सा हेतु नेत्र को अपत्यमार्ग (भग) में चार अंगुल ही प्रवेश कराना चाहिए। इसी प्रकार मूत्रमार्ग से सम्बन्धित रोगों में बस्तिनेत्र को स्त्री के मूत्रमार्ग में दो अंगुल प्रवेश कराना चाहिए तथा बालिकाओं के मूत्रमार्ग में मात्र एक अंगुल ही नेत्र को अन्दर प्रविष्ट कराना चाहिए। स्त्रियों में उत्तरबस्ति देने हेतु बस्ति द्रव (या स्नेह) की मध्यम (औसत) मात्रा एक प्रकुञ्च (एक पल या चार तोला) तथा बालिकाओं में एक शुक्ति (दो कर्ण या दो तोला) मानी गई है।

---

१. 'पावृतेः' इति पाठान्तरम्।

उत्तरबस्ति की विधि

उत्तानायाः शयानायाः सम्यक् सङ्कोच्य सक्थिनी ॥ ७३ ॥
ऊर्ध्वं जान्वास्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत् ।
बस्तींस्त्रिरात्रमेवं च स्नेहमात्रां विवर्धयेत् ॥ ७४ ॥
त्र्यहमेवं च विश्रम्य प्रणिदध्यात्पुनस्त्र्यहम् ।

उत्तरबस्ति देने हेतु सर्वप्रथम स्त्री को उत्तान (पीठ के बल), सक्थियों (ऊरु के ऊपर वाले भाग) को सिकोड़ कर तथा जानु (घुटनों) को मोड़ कर सीधा ऊपर रखते हुए लिटा देना चाहिए। इस प्रकार इस विधि से एक अहोरात्र (एक दिन-रात या आठ प्रहर) में तीन या चार बार उत्तरबस्ति देना चाहिए। फिर प्रत्येक दिन स्नेह की कुछ मात्रा (लगभग आधा कर्ष) क्रम से बढ़ाते हुए (तीन दिन तक) उत्तरबस्ति दें। तत्पश्चात् तीन दिनों का विश्राम देकर पुनः अगले तीन दिनों तक उसी विधि से उत्तरबस्ति दें।

वमनादिकाल का निर्देश

पक्षाद्विरेको वमिते ततः पक्षान्निरूहणम् ॥ ७५ ॥
सद्यो निरूढश्चान्वास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ।
यथा कुसुम्भादियुतात्तोयाद्रागं हरेत्पटः ।
तथा द्रवीकृताद्देहाद्बस्तिर्निर्हरते मलान् ॥ ७६ ॥

इति बस्तिविधिर्नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

रोगी को वमन कराने के पन्द्रह दिनों के पश्चात् विरेचन कराना चाहिए तथा विरेचन कराये गये व्यक्ति को पन्द्रह दिन पश्चात् निरूहबस्ति देना चाहिए।

निरूहण के पश्चात् तत्काल अनुवासनबस्ति देना चाहिए। यदि विरेचन कराये हुए व्यक्ति को निरूह देने की आवश्यकता न हो, तो विरेचन के सात दिन बाद ही अनुवासनबस्ति दे देनी चाहिए।

जिस प्रकार कुसुम्भ (*Carthamus tinctorius* Linn.) आदि के रंग से युक्त जल में कपड़ा डालने पर वह रंग को ग्रहण कर लेता है तथा जल को छोड़ देता है, उसी प्रकार बस्ति स्नेहन एवं स्वेदन से द्रवीभूत मलों (दोषों) को शरीर में से बाहर निकाल देती है एवं शेष अविकृत धातुओं को वैसे ही छोड़ देती है।

इस प्रकार 'बस्तिविधि' नामक अष्टाविंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में बस्ति की परिभाषा एवं बस्ति-चिकित्सा के उपयोग (लाभ) के अतिरिक्त बस्ति के तीन भेद—आस्थापन, अनुवासन एवं उत्तर बस्ति का विस्तार के साथ विवेचन मिलता है। बस्ति के विविध नियम, बस्ति देने की विधि, बस्ति-नेत्र एवं बस्ति-पुटक के निर्माण का भी उल्लेख मिलता है। चरक ने सिद्धिस्थान के बारह अध्यायों में जिस बस्ति-चिकित्सा का विस्तृत वर्णन किया है, उसको वृद्धवाग्भट ने यहाँ एक अध्याय में प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अथातो नस्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'नस्यविधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

नस्य की परिभाषा एवं महत्त्व

नासायां प्रणीयमानमौषधं नस्यम्[1]। नावनं नस्तः कर्मेति च संज्ञां लभते। नासा हि शिरसो द्वारम्। तत्रावसेचितमौषधं स्रोतःशृङ्गाटकं प्राप्य व्याप्य मूर्द्धानं नेत्रश्रोत्रकण्ठादि-सिरामुखानि मुञ्जादिषीकामिवासक्तामूर्ध्वजत्रुगतां वैकारिकीमशेषामाशु दोषसहति-मुत्तमाङ्गादपकर्षति ॥ ३ ॥

नासिका द्वारा जो औषधि प्रयुक्त होती है, उसे 'नस्य' कहते हैं। 'नावन' तथा 'नस्तः कर्म' (नासा से किया जाने वाला कर्म या चिकित्सा) नस्य के पर्याय कहे गये हैं। नासा को सिर का द्वार माना गया है। नासा-मार्ग से दी गई औषधि सूक्ष्म स्रोतों द्वारा शृंगाटक (सिर के मध्य भाग में स्थित अवयव) में पहुँच कर एवं सम्पूर्ण मूर्धा (मस्तिष्क) में व्याप्त होकर नेत्र, श्रोत्र (कर्ण), कण्ठ आदि अंगों की सिराओं के मुखों में व्याप्त होकर ऊर्ध्वजत्रुगत विकारोत्पादक समस्त दोषों को मस्तिष्क में से अपकर्षित कर वैसे ही अत्यन्त शीघ्र बाहर निकाल देती है, जैसे मूंज (*Saccharum arundinaceum*) में अटके हुए सरकण्डे (?) को खींच कर बाहर निकाल दिया जाता है।

ऊर्ध्वजत्रुगत समस्त विकारों की नस्य (Inhalation Through Nose या Insuflation) बहुत ही महत्त्वपूर्ण चिकित्सा है। औषधि या विभिन्न औषधियों से सिद्ध स्नेह को नासा-मार्ग से प्रयुक्त करने की क्रिया ही नस्य कहलाती है। महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'औषधमौषधसिद्धं स्नेहो वा नासिकाभ्यां दीयते इति नस्यम्'। (सु० चि० ४०।२१)। नस्य को ऊर्ध्वजत्रु की श्रेष्ठ चिकित्सा इसीलिए कहा गया है, क्योंकि यह नासा द्वारा प्रयुक्त होती है तथा 'नासा' शिर का द्वार माना गया है; कहा गया है—

'नस्तःकर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रवित्।
द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्' ॥

अर्थात् समस्त शिरोरोगों में शास्त्रज्ञों को नस्य कर्म का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि नासा शिर का द्वार है। इस नासा द्वारा औषधियाँ शिर में व्याप्त होकर उन शिर रोगों को नष्ट करती हैं। शिरोविरेचन, शिरोविरेक तथा मूर्धाविरेचन आदि शब्द इसके पर्याय हैं। सुश्रुत ने शिरोविरेचन शब्द को नस्य के एक भेद-विशेष के रूप में भी प्रयुक्त किया है। यह नस्यकर्म ऊर्ध्वभाग-दोषहर होता है। अर्थात् दोषों का यह ऊर्ध्वमार्ग से संशोधन करता है। चरकसंहिता में नस्य को 'नस्तः प्रच्छर्दन' शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। सामान्यतः प्रच्छर्दन का अर्थ वमन होता है, किन्तु

---

१. 'नासायां भवं नस्यम्' इति पाठान्तरम्।

कर्मानुसार नस्य के भेद

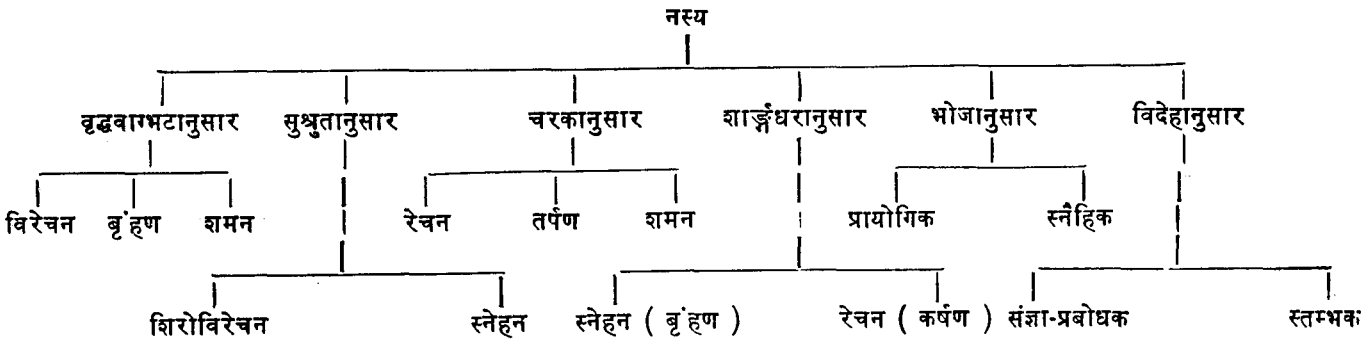

प्रयोगानुसार नस्य के भेद

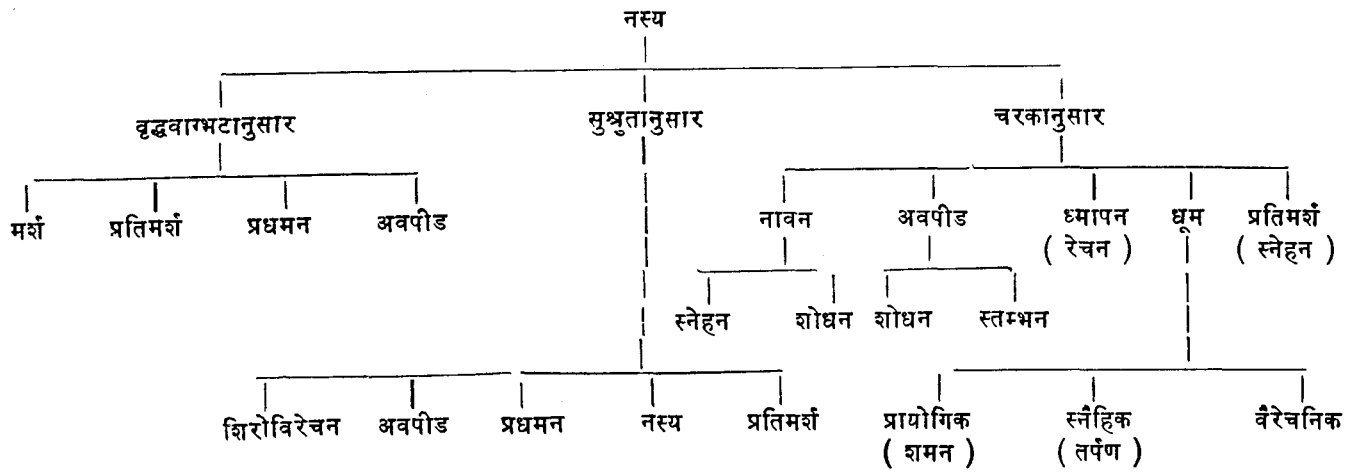

यहाँ 'नस्तः प्रच्छर्दन' से नासा द्वारा किया जाने वाला शोधन समझना चाहिए। अर्थात् नस्यकर्म द्वारा जत्रूर्ध्व भाग के दोषों का निर्हरण होता है।

नस्य के भेद

तत्तु त्रिविधं विरेचनं बृंहणं शमनं च ॥ ४ ॥

यह नस्य कर्म तीन प्रकार का होता है—(१) विरेचन नस्य, (२) बृंहण नस्य एवं (३) शमन नस्य।

उपर्युक्त वर्गीकरण कर्मानुसार किया गया है। नस्य का वर्गीकरण विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से पृथक्-पृथक् किया है। यह वर्गीकरण मुख्यतः दो आधार पर किया गया है—प्रथम कर्म के आधार पर तथा द्वितीय प्रयोग-विधि के आधार पर। विभिन्न आचार्यों द्वारा किये गये वर्गीकरण का संक्षिप्त परिचय पूर्व पृष्ठ में प्रस्तुत तालिकाओं में देखें।

विरेचन नस्य

तेषां विरेचनं जत्रूर्ध्वगौरवशोफोपदेहकण्डूस्तम्भाभिष्यन्दस्रावप्रसेकवैरस्यारोचकस्वरभेदकृमिप्रतिश्यायापस्मारगन्धाज्ञानग्रन्थ्यर्बुददद्रुकोठादिषु श्लेष्मजेषु तीक्ष्णेन स्नेहेन शिरोविरेचनद्रव्यैर्वा सिद्धेन तेषां वा क्वाथचूर्णस्वरसैस्तैरेव वा यथार्हद्रवश्लक्ष्णकल्कितालोडितैर्मधुसैन्धवासवपित्तमूत्रैर्यथास्वं चोपदिष्टैर्योज्यम्। तत्र भीरुस्त्रीकृशसुकुमारेषु स्नेहः। गलरोगसन्निपातज्वरातिनिद्रामनोविकारकृमिशिरोरोगाक्षिस्पन्दनतिमिरकृच्छ्रविषाभिपन्नाभिष्यन्दसर्पदष्टविसंज्ञेषु शेषौ। तेष्वेव च भूयसि दोषे शीघ्रकारिणि च चूर्णः। स हि निहितो नासाग्रावेगकरतरो भवति ॥ ५ ॥

इन तीनों प्रकार के नस्यों में से विरेचन नस्य जत्रु के ऊपर के भाग में भारीपन, शोफ, उपदेह (चिपचिपाहट), कण्डू, स्तम्भ, अभिष्यन्द, स्राव, प्रसेक, मुख की विरसता, अरुचि, स्वरभेद, कृमि, प्रतिश्याय, अपस्मार, गन्ध का ज्ञान न होना, ग्रन्थि, अर्बुद, दद्रु तथा कोठ आदि कफज विकारों में कराया जाता है। यह विरेचन नस्य तीक्ष्ण स्नेहों द्वारा (सरसों आदि के तैलों से) तथा तीक्ष्ण शिरोविरेचन द्रव्यों (ज्योतिष्मती आदि) से सिद्ध तैलों द्वारा अथवा इनके क्वाथ, चूर्ण, स्वरस द्वारा अथवा शहद, सैंधव, मद्य, पित्त या गोमूत्र में घोले गये इन द्रव्यों के कल्क के द्वारा कराया जाता है अथवा रोगों के अपने-अपने प्रकरण में निर्दिष्ट द्रव्यों से कराया जाता है। इनमें से जो भयभीत हो उसको, स्त्री को, कृश व्यक्तियों को और सुकुमार प्रकृति के व्यक्तियों को स्नेह का नस्य देना चाहिए। गलरोग (कण्ठरोग), सन्निपात ज्वर, अतिनिद्रा, मनोविकार, कृमिरोग, शिरोरोग, नेत्रस्पन्दन, तिमिररोग, कृच्छ्ररोग, विष से पीड़ित, अभिष्यन्द, सर्पदंश एवं संज्ञाहीन व्यक्तियों में विरेचन नस्य देना हो, तो इन शिरोविरेचन द्रव्यों के क्वाथ, कल्क या चूर्ण से देना चाहिए। यदि इन रोगों में दोषों की अधिकता हो और औषधि प्रभाव शीघ्र हो, इसकी अपेक्षा हो, तो चूर्ण के नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि चूर्ण नासा में रखने मात्र से वेगपूर्वक कार्य करने वाला होता है।

यह विरेचन नस्य तीक्ष्ण औषध द्रव्यों से निकाले गये तैलों या तीक्ष्ण गुण वाली औषधियों में सिद्ध स्नेहों से कराया जाता है। इसका उद्देश्य शिर के स्रोतों में लीन दोषों का निर्हरण कराना होता है। यह उन औषधियों के कल्क, चूर्ण, क्वाथ आदि से भी दिया जा सकता है। ऐसा देखा

---

१. 'पाकप्रसेक' इति पाठान्तरम्।

गया है कि चूर्ण के रूप में प्रयुक्त औषधि अन्य की अपेक्षा शीघ्र कार्य करने वाली होती है। मात्रा के आधार पर सुश्रुत ने आठ बूंदों को प्रत्येक नासा पुट में छोड़ने को उत्तम मात्रा, छः बूंदों को मध्यम तथा चार बूंदों को अधम (हीन) मात्रा कहा है। तर्जनी अंगुली को स्नेह में डुबाकर बाहर निकालने के बाद स्नेह की जो मात्रा टपकती है, वह एक बिन्दु (बूंद) कहलाती है। वैसे दोषों के प्राबल्यानुसार विरेचन नस्य की यह मात्रा घटायी-बढ़ायी भी जा सकती है।

बृंहण नस्य

बृंहणं सूर्यावर्ताधिविभेदककृमिशिरोरोगाक्षिसङ्कोचस्पन्दनतिमिरकृच्छ्रावबोधदन्तकर्णशूलनादनासामुखशोषवाक्सङ्गस्वरोपघातमन्यारोगापतानकावबाहुकनिद्रानाशादिष्वनिलोत्थेषु स्निग्धमधुरद्रव्यैस्तत्सिद्धैर्यथायथं चोपदिष्टैः स्नेहैर्निर्यासैर्धन्वमांसरसरक्तैश्च ।६।

बृंहण नस्य सूर्यावर्त, अर्धविभेदक, कृमिरोग, शिरोरोग, अक्षिसंकोच, अक्षिस्पंदन, तिमिर-रोग, कृच्छ्रावबोध (कठिनाई से नींद दूर होना), दन्तशूल (Tooth-ache), कर्णशूल, कर्णनाद, नाशाशोष, मुखशोष, वाक्संग (वाणी में अवरोध), स्वरोपघात (स्वरभंग), मन्यारोग, अपतानक, अवबाहुक, निद्रानाश आदि वातिक रोगों में दिया जाता है। यह नस्य स्निग्ध एवं मधुर रस वाले द्रव्यों से सिद्ध स्नेहों द्वारा अथवा उन-उन रोगों में निर्दिष्ट द्रव्यों से सिद्ध स्नेहों द्वारा अथवा उन द्रव्यों के निर्यास द्वारा अथवा जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस एवं रक्त द्वारा दिया जाता है।

प्रायः ऊर्ध्वजत्रु के वातिक विकारों में बृंहण नस्य का प्रयोग किया जाता है। ऊर्ध्वजत्रु के क्षयज विकारों (नासाशोष एवं मुखशोष आदि) में इसका विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है, क्योंकि यह बृंहण होता है। इसे कुछ आचार्यों ने 'स्नेहन नस्य' भी कहा है। जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस एवं रक्त वातशामक तथा बृंहण होते हैं। इनसे तथा अन्य वातघ्न बृंहण द्रव्यों से यह दिया जाता है।

शमन नस्य

शमनमकालवलीपलितखलतिदारुणकरक्तराजीव्यङ्गनीलिकारक्तपित्तादिषु यथास्वमुपदिष्टैः स्नेहैर्भेषजस्वरसादिभिः क्षीरोदकाभ्यां वा समदोषे वाऽणुतैलेनेति ॥ ७ ॥

शमन नस्य अकाल वली (अकाल में झुर्रियां पड़ना), पलित (अकाल में बालों का श्वेत होना), खलति (अकाल में बालों का झड़ना), दारुणक (केशभूमि का रोग), रक्तराजी (नेत्रों में लाल रेखाएँ पड़ना), व्यंग, नीलिका एवं रक्तपित्त आदि रोगों में दिया जाता है। यह नस्य उपर्युक्त रोगों की चिकित्सा के अन्तर्गत निर्दिष्ट स्नेहों से, शमन औषधियों के स्वरस एवं हिम आदि से, दुग्ध या शीतल जल से देना चाहिए। स्वस्थ व्यक्ति को जिसके शरीर में दोष विषम नहीं हैं, उसे अणु तैल से शमन नस्य कराने का विधान किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि शमन नस्य पित्त-प्रधान व्याधियों में दिया जाता है। स्वरस, हिम आदि कल्पनाएँ तथा दुग्ध एवं शीतल जल पित्तशामक होते हैं। अणुतैल की निर्माण-विधि आगे कही जायेगी।

मात्रा भेद से स्नेह के दो प्रकार

तत्र स्नेहो मात्राभेदाद् द्विधा। मर्शः प्रतिमर्शश्च। विरेचनः शमनो वा नासया प्रणीयमानः कल्कोऽवपीडसंज्ञो विरचनचूर्णस्तु प्रधमनाख्यः। परिशेषं तु नावनमवपीडकसंज्ञम्। कल्कीकृतादौषधादवपीडितः स्रुतो रसोऽवपीड इत्यपरेषाम्। तत्र पुनस्तीक्ष्णो

वैशेषिकी शिरोविरेचनसंज्ञा। तथाऽन्ये सर्वमेव विरचनं नस्यमित्याहुः सद्यः श्लेष्मविरेचनसामान्यात् ॥ ८ ॥

मात्रा-भेद से स्नेहन के दो प्रकार होते हैं—(१) मर्श एवं (२) प्रतिमर्श। विरेचन नस्य अथवा शमन नस्य जब कल्क के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, तो उसे अवपीड कहा जाता है। विरेचन नस्य चूर्ण के रूप में प्रयोग करने पर उसे प्रधमन की संज्ञा दी जाती है। शेष नस्य-कर्म (क्वाथ आदि द्वारा) की अवपीडन संज्ञा है। अन्य आचार्यों का मत है कि औषधियों के कल्क को दबा कर निकाले गये रस से जो नस्य लिया जाता है, उसे अवपीडन कहते हैं। यद्यपि समस्त प्रकार के नस्यों द्वारा ऊर्ध्वजत्रु से कफ का विरेचन ही होता है, तथापि तीक्ष्ण द्रव्यों के नस्य को विशेषरूप से शिरोविरेचन की संज्ञा दी जाती है। चूंकि सभी नस्य सामान्य रूप से शिरस्थ कफ का विरेचन ही करते हैं, अतएव शेष सभी नस्यों को विरेचन ही कहा जाता है।

अणुतैल-निर्माण की विधि

अणुतैलविधानं तु मञ्जिष्ठामधुकप्रपौण्डरीकजीवकर्षभककाकोलीद्वयपयस्यासारिवाऽनन्तानीलोत्पलाञ्जनरास्नाविडङ्गतण्डुलमधुपर्णीश्रावणीमेदाकाकनासासरलभद्रदारुचन्दनैः सुपिष्टैरष्टगुणं षड्गुणेन पयसा तैलं पचेत्। घृतं वा पित्तोल्बणेषु दोषेषु ॥ ९ ॥

अणुतैल बनाने के लिए मंजिष्ठा (*Rubia cordifolia*), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra* Linn), प्रपौण्डरीक (*Nelumbo nucifera*), जीवक (*Microstylis nucifera*), ऋषभक (*Microstylis wallichii*), काकोली (*Lilium polyphyllum*), क्षीरकाकोली (*Lillium polyphyllum* D. Don.), पयस्या (क्षीरविदारी *Pueraria tuberosa*), सारिवा (*Cryptolepis buchanani*), अनन्ता (*Hemidesmus indicus*), नीलोत्पल (नीलकमल *Nymphae stellata*), अंजन, रास्ना (*Pluchea lanceolata*), विडंग तण्डुल (*Embelia ribes*), मधुपर्णी (गुडूची *Tinospora codifolia*), श्रावणी (*Sphaeranthus indicus*), मेदा (*Polygonatum verticillatum*), काकनासा (*Pentatropis microphylla* W. B. A.), सरल (*Pinus roxburghii*), साल (*Desmodium gangeticum*), भद्रदारु (*Cedrus deodara* Roxb.) और चन्दन (*Santalum album*) को समभात्रा में लेकर अच्छी प्रकार पीस लें। इस कल्क से आठ गुना तिल का तैल तथा तैल से छः गुना गोदुग्ध लेकर अग्नि पर सिद्ध करें। सम्यक् स्नेहपाक हो जाने पर इसे उतार लें। यदि रोग पित्त-प्रधान हो, तो तिल-तैल की जगह घृत लेकर इसी विधि से स्नेहपाक करके प्रयोग करें।

अणुतैल-निर्माण की दूसरी विधि

अथवा चन्दनागुरुपत्रदार्वीत्वङ्मधुकबलाद्वयबिल्वोत्पलपद्मकेसरप्रपौण्डरीकविडङ्गोशीरह्रीबेरवन्यत्वङ्मुस्तसारिवाबृहतीद्वयांशुमतीद्वयजीवन्तीदेवदारुसुरभिशतावरीः शतगुणे दिव्येऽम्भसि दशभागावशिष्टं क्वाथयेत् ततस्तस्य क्वाथस्य दशमांशेन समांशं तैलं साधयेत्। दशमे चात्र पाके तैलतुल्यमाजमपि पयो दद्यात्। एतदप्यणुतैलं पूर्वस्माद्विशेषेणेन्द्रियदार्ढ्यकरं केश्यं त्वच्यं कण्ठ्यं प्रीणनं बृंहणं दोषत्रयघ्नं च ॥ १० ॥

अथवा चंदन (*Santalum album*), अगुरु (*Aquillalia agallocha*), पत्र (तेजपत्र *Cinnamomum tamala*), दार्वीत्वक् (दारुहरिद्रा *Berberis aristata* DC. की त्वचा), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra*), बलाद्वय (बला *Sida cordifolia*) एवं अतिबला (*Abuliton indicum*), बिल्व (*Aegle marmelos*), उत्पल (*Nymphae stellata*), पद्मकेशर (*Ne-*

lumbo nucifera), प्रपौण्डरीक (*Nelumbo nucifera*), विडंग (*Embelia ribes*), उशीर (*Veteriveria zizaniodes*), ह्रीबेर (?), वन्यत्वक् (*Cyperus platystilis*), मुस्तक (*Cyperus rotundus*), सारिवा (*Hemidesmus indicus*), बृहतीद्वय (छोटी एवं बड़ी कटेरी *Solanum xanthophyllum & Solanum indicum*), अंशुमती-द्वय (शालपर्णी *Desmodium gangeticum* एवं पृश्निपर्णी *Uraria picta Desv.*), जीवन्ती (*Leptadenia reticulata*), देवदारु (*Cedrus deodara*), सुरभि (*Pluchea lanceolata*) एवं शतावरी (*Asparagus racemosus*) को सम मात्रा में लेकर इनसे सौ गुना दिव्यजल (वर्षा का जल) लेकर क्वाथ करें। जब क्वाथ का दसवाँ हिस्सा शेष रह जाये, तो उसे छान लें। इस छने हुए क्वाथ का दशमांश तिल का तैल लेकर दशमांश क्वाथ के साथ सिद्धपाक करें। पुनः क्वाथ के शेष नौ भागों में से एक भाग को लेकर पूर्वकृत सिद्ध तैल के साथ पाक करें। इस प्रकार क्वाथ के प्रत्येक दसवें भाग को क्रमशः लेते हुए जब अन्तिम भाग पाक करने लगें, तो उसमें तैल की सममात्रा में अजा दुग्ध डालकर सिद्धपाक करें। इस प्रकार निर्मित अणुतैल को छानकर इससे नस्यकर्म करें। इस तैल को भी अणुतैल ही कहते हैं। पूर्वोक्त अणुतैल की अपेक्षा यह विशेष रूप से इन्द्रियों में दृढ़ता उत्पन्न करता है। यह केश्य (केशों के लिए हितकारी), त्वच्य (त्वचा के लिए हितकारी), कण्ठ्य (कण्ठ के लिए हितकारी), प्रीणन (धातुओं की पुष्टि करने वाला), बृंहण (बलवर्द्धक) तथा त्रिदोष-नाशक होता है।

उपर्युक्त दोनों अणुतैल स्नेहन नस्य के लिए उत्तम होते हैं। द्वितीय अणु तैल का वर्णन चरक-संहिता के सूत्रस्थान के पाँचवें अध्याय में भी मिलता है। चरकोक्त इस तैल में एला (इलायची) एवं अभया (हरीतकी) ये दो द्रव्य अधिक हैं। शेष निर्माण की विधि में द्रव्यों की मात्रा के अनुपात का वर्णन वही मिलता है, जो वाग्भट ने बतलाया है।

नस्य का निषेध

अनस्यार्हास्तु भुक्तभक्तस्नेहमद्यगरतोयपीतपातुकामशिरःस्नातस्नातुकामसिरा-दिव्यधस्रुतरक्तमूत्रितोच्चारिताभिहतकृतवमनविरेकबस्तिकर्मगर्भिणीसूतिकानवप्रतिश्याय-श्वासकासिनोऽनार्तवदुर्दिनेष्वपि। तत्र भुक्तभक्तस्य नस्येरितो दोष ऊर्ध्वस्रोतांस्यावृत्य छर्दिश्वासकासप्रतिश्यायान् जनयेत्। स्नेहादिपीतपातुकामानामक्षिनासास्यस्यन्दोपहति-तिमिरशिरोरोगान्। शिरःस्नातस्य शिरोऽक्षिकर्णशूलकण्ठरोगपीनसहनुमन्यास्तम्भार्दित-शिरःकम्पान्। स्नातुकामस्य मूर्धस्तैमित्यजाड्यारुचिपीनसान्। स्रुतरक्तस्य क्षामतामरुचि-मग्निसादं च। मूत्रितोच्चारितयोर्भृशतरं वेगधारणजान् विकारान्। अभिहतस्य तीव्रतरां रुजम्। कृतवमनादीनां श्वासकासस्वरेन्द्रियहानिशिरोगौरवकण्डूकृमिदोषान्। गर्भिण्या भक्तद्वेषज्वरमूर्च्छार्ऽधावभेदकाः स्युरपत्यं च व्यङ्गं विकलेन्द्रियमुन्मादापस्मारयुक्तं वा। सूतिकायाः स्रुतरक्तोक्तान् दोषान्। नवप्रतिश्यायस्य स्रोतोरोधाद्दुष्टप्रतिश्यायकेशशात-कृमिकण्डूविचर्चिकाः। श्वासकासिनोर्व्याधिविवृद्धिः। अकाले दुर्दिने सहसैव शैत्याच्छिरो-रुग्वेपथुस्तैमित्यतालुनेत्रकण्डूपाकमन्यास्तम्भकण्ठरोगप्रतिश्यायारूंषिकाः॥ ११॥

भोजन किये हुए, स्नेह-मद्य-गरविष-जल पिये हुए अथवा पीने की इच्छा रखने वाले, शिर से स्नान किये हुए या इसकी इच्छा रखने वाले, सिरावेध आदि से जिसका रक्त निकाला गया हो, जिसे मल या मूत्र का वेग उपस्थित हो, अभिहत (चोट लगी हो), जिसे वमन, विरेचन या बस्ति कराई गयी हो, गर्भिणी, सूतिका, नवप्रतिश्याय, श्वास-कास के रोगी को, बिना प्रशस्त ऋतु के

तथा दुर्दिन में नस्यकर्म नहीं करना चाहिए। तुरन्त भोजन किये हुए व्यक्ति को नस्य के कारण प्रेरित हुए दोष ऊर्ध्वजत्रु के समस्त स्रोतों को आवृत करके छर्दि (वमन), श्वास, कास तथा प्रतिश्याय आदि को उत्पन्न करते हैं। जिसने स्नेहपान किया हो अथवा जो इसकी इच्छा रखता हो, उसे नस्य देने से नेत्र, नासा तथा मुख के स्राव का अवरोध होकर तिमिररोग एवं शिरोरोग आदि उत्पन्न हो सकते हैं। जिसने शिर के ऊपर से स्नान किया है, ऐसे व्यक्ति को नस्य देने से शिरःशूल, नेत्रशूल, कर्णशूल, कंठरोग, पीनस, हनुस्तम्भ (Lock Jaw), मन्यास्तम्भ, अर्दित तथा शिरःकम्प (शिर में कंपन) आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। स्नान करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को नस्य देने से मूर्धा (शिर) में स्तैमित्य, जड़ता, अरुचि तथा पीनस आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जिस पुरुष का सिरावेध आदि कर्मों से रक्त निकाला गया है, उसे नस्य देने से क्षामता (कृशता), अरुचि एवं अग्निमांद्य आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। मल-मूत्रादि के वेग उपस्थित हों और उस समय यदि उनका निवारण किये बिना ही नस्य दिया जाय, तो वेगधारण-जन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। चोट लगे हुए व्यक्ति को नस्य देने से उसकी पीडा और भी तीव्र हो जाती है। जिसे तुरन्त वमन, विरेचन और बस्ति दी गई हो, उसे नस्यकर्म कराने से श्वास, कास, स्वरहानि, इन्द्रियहानि, शिर में गौरव (भारीपन), कण्डू एवं कृमिरोग आदि उत्पन्न हो जाते हैं। गर्भिणी स्त्री को नस्य देने से भोजन के प्रति द्वेष, ज्वर, मूर्च्छा तथा अर्धावभेदक आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं एवं उत्पन्न संतान व्यङ्ग, विकलेन्द्रिय (विकृत इंद्रियों वाली), उन्माद तथा अपस्मार आदि रोगों से युक्त होती है। सूतिका में नस्य कराने से वे ही रोग उत्पन्न होते हैं, जो रक्तस्राव के पश्चात् नस्य कराने पर उत्पन्न होते हैं। नव प्रतिश्याय के रोगी को नस्य कराने से स्रोतों में अवरोध होने के कारण प्रतिश्याय दुष्ट हो जाता है। अर्थात् वह रोग दुष्ट प्रतिश्याय में परिणत हो जाता है एवं केशपात (केशों का झड़ना), कृमिरोग, कण्डू एवं विचर्चिका आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। श्वास-कास के रोगी को नस्य कराने से उसके रोग में और भी वृद्धि हो जाती है। अकाल एवं दुर्दिन (जब घटा से सम्पूर्ण आकाश आच्छादित हो) में नस्य कराने से एकाएक शीत पड़ने के कारण विभिन्न शिरोरोग, वेपथु, स्तैमित्य, तालुपाक, नेत्रकण्डू, मन्यास्तम्भ, कंठरोग, प्रतिश्याय तथा अरूंषिका आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

ऊपर नस्य के लिए निषिद्ध अवस्था का उल्लेख किया गया है तथा यह भी बतलाया गया है कि नस्य से अनार्ह इन व्यक्तियों को यदि नस्य कराया जाय, तो क्या-क्या हानियाँ हो सकती हैं। इन हानियों (रोगों) के उपचार का वर्णन आगे किया गया है।

उपर्युक्त विकारों की चिकित्सा

तेषु यथास्वमायतनं दोषोद्रेकं चापेक्ष्य स्नेहस्वेदशिरोवक्त्रलेपसेकतीक्ष्णावपीडधूम-गण्डूषादीनाचरेत्। विशेषेण तु गर्भिणी रूक्षे नस्यकर्मणि वर्षाभूकाकोलीकपिकच्छुभिः श्रृतं पयः पिबेत्। बलाविदार्यंशुमतीमेदाभिर्वा। एभिरेव च श्रृतं हविः। वातहरसिद्धश्च स्नेहः शिरोबस्तौ कर्णपूरणे च योज्यः। सर्वं च बृंहणमन्नपानम्। भुक्तभक्तादिष्वपि चात्ययिकव्याध्यातुरमपेक्षेत ॥ १२ ॥

इन विकारों में अपने-अपने कारण से दोषों का उद्रेक (अधिकता) देखकर स्नेहन, स्वेदन, शिर तथा वक्त्र (मुख) पर लेप, सेंक, तीक्ष्ण अवपीड नस्य, धूम, गण्डूष आदि रोगी को कराना चाहिए। विशेषतः यदि गर्भिणी को नस्यकर्म कराना हो या रूक्ष नस्यकर्म कराया गया हो, तो वर्षाभू (पुनर्नवा *Boerhaavia diffusa*), काकोली (*Lilium polyphyllum*) एवं कपिकच्छु (केंवाच *Mucuma prurita*) के बीजों को डालकर पकाया गया गोदुग्ध पिलाना चाहिए अथवा

बला (*Sida cordifolia*), विदारी (*Pueraria tuberosa*), अंशुमती (शालपर्णी *Desmodim gangeticum* DC.) तथा मेदा (*Polygonatum verticillatum*) से श्रृत दुग्ध को पिलाना चाहिए अथवा उपर्युक्त इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान कराना चाहिए। वातहर औषधियों से सिद्ध स्नेह की शिरोबस्ति देनी चाहिए या इस स्नेह से कर्णपूरण कराना चाहिए। इसी भाँति रोगी को बृंहण (पुष्टिकारक या बलवर्द्धक) अन्नपान का सेवन कराना चाहिए। भोजन किये हुए तथा अन्य समस्त नस्य के अयोग्य रोगियों में यदि कोई आत्ययिक व्याधि उत्पन्न हो जाय, तो उसके अनुसार आवश्यक चिकित्सा करनी चाहिए।

मर्श स्नेह नस्य

मर्शप्रमाणं तु प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्निमग्नोद्धृताद्यावत्पतति स बिन्दुः। अमी दशाष्टौ षड्विन्दव उत्तममध्यमकनीयस्यो मात्राः। क्वाथादीनामष्टौ षट् चत्वारः। प्रधमननस्यं षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या मुखानिलेरितस्याकण्ठगते दोषानुरोधतश्च पुनःपुनर्योजनमिति ॥ १३ ॥

तर्जनी (प्रदेशिनी) अंगुली के प्रथम दो पर्वों को स्नेह में डुबोकर बाहर निकालने के बाद अंगुली से स्नेह की जितनी मात्रा टपकती है, उसे एक बिन्दु (बूंद) कहते हैं। मर्श स्नेह नस्य के लिये दस बिन्दु की मात्रा को उत्तम, आठ बिन्दु की मात्रा को मध्यम तथा छः बिन्दु की मात्रा को ह्रस्व (या हीन) मात्रा कहा जाता है। इसी तरह क्वाथ आदि से यदि मर्श नस्य देना हो, तो उसमें आठ बिन्दु को उत्तम, छः बिन्दु को मध्यम तथा चार बिन्दु को हीन (ह्रस्व) मात्रा माना जाता है। छः अंगुल लम्बी तथा दोनों ओर मुख वाली नाड़ी के एक मुख में चिकित्सक द्वारा अपने मुँह से हवा फूंक कर औषधि को कण्ठ तक पहुँचाने को प्रधमन नस्य कहते हैं। दोषों की आवश्यकता को देखते हुए प्रधमन नस्य बार-बार दिया जाता है।

मर्श एवं प्रतिमर्श दोनों ही प्रकार के नस्यों में स्नेह का प्रयोग किया जाता है, परन्तु इन दोनों में प्रयुक्त स्नेह की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। 'मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधा स्नेहोऽत्र मात्रया'। (अ० हृ० सू० २०।७)। मर्श नस्य में ली जाने वाली स्नेह की उत्तम, मध्यम तथा हीन मात्रा का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, जबकि प्रतिमर्श नस्य में स्नेह की मात्रा केवल इतनी ली जाती है, जिससे वह नासा से कण्ठ में पहुँच जाये तथा गले में स्राव उत्पन्न न करे। इनमें और भी क्या अन्तर हैं, इसका वर्णन आगे किया जायेगा।

विभिन्न नस्यों की मात्रा

क्र० सं०	नस्य	ह्रस्व मात्रा	मध्य मात्रा	उत्तम मात्रा
१.	शमन नस्य	सोलह बिन्दु (प्रतिनासापुट आठ बिन्दु)	बत्तीस बिन्दु (प्रतिनासापुट सोलह बिन्दु)	चौंसठ बिन्दु (प्रतिनासापुट बत्तीस बिन्दु)
२.	शोधन नस्य (विरेचन नस्य)	आठ बिन्दु (प्रतिनासापुट चार बिन्दु)	बारह बिन्दु (प्रतिनासापुट छः बिन्दु)	सोलह बिन्दु (प्रतिनासापुट आठ बिन्दु)
३.	स्नेहन नस्य			
	मर्श नस्य	छः बिन्दु	आठ बिन्दु	दस बिन्दु
	प्रतिमर्श नस्य	दो बिन्दु	दो बिन्दु	दो बिन्दु

नस्य की विधि

अथ नस्याहं नरमव्याहतवेगं धौतान्तर्बहिर्मुखं स्निग्धस्विन्नशिरसं नातिक्षुधितं प्रायोगिकधूमपानविशुद्धस्रोतसं स्वास्तीर्णनिवातशयनस्थमुत्तानशीर्षमीषदुन्नतपादं प्रसारितकरचरणं जत्रूर्ध्वं पाणितापेन पुनः पुनः स्वेदयेत्। ततः कनकरजतताम्रान्यतमशुक्तिस्थितं प्रदेयमौषधत्रिभागमुष्णाम्बुप्रतप्तं किञ्चित्प्रलम्बितशिरसो वामहस्ताङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यामाक्रम्य नयनप्रच्छादनं चतुर्गुणं वासो मध्यमया नासाग्रमुन्नमय्य प्रदेशिन्यनामिकाभ्यां चैकैकं नासापुटं पर्यायेण पिधायेतरस्मिन्नासास्रोतसि दक्षिणहस्तेन प्रनाड्या पिचुना वाऽनवच्छिन्नधारमासिञ्चेत् ॥ १४ ॥

मर्शनस्य के योग्य रोगी जब मल-मूत्रादि के वेग से पीड़ित न हो, मुख को अन्दर और बाहर से साफ करके, शिर में स्नेहन, स्वेदन करके, बहुत भूखा न हो, प्रायोगिक धूमपान से स्रोतों को शुद्ध करके, वायु रहित स्थान में अच्छी प्रकार बिछायी गयी शय्या पर उत्तान (पीठ के बल) लिटाकर, पैर को थोड़ा ऊपर उठाकर, हाथ-पैरों को फैलाकर जत्रु के उपरी भाग को, हाथ को बार-बार गर्म करके स्वेदित करे। इसके पश्चात् कनक (स्वर्ण), रजत (चाँदी) अथवा ताम्र (ताँबा) की शुक्ति (चम्मच) में नस्य में देने वाली औषधि को रखकर उसका तीन भाग बनावें। इस औषधि को उष्ण जल से गर्म करें। इसके पश्चात् रोगी के शिर को थोड़ा पीछे फैलाकर बायें हाथ के अँगूठे एवं कनिष्ठिका के द्वारा चार तह किये गये कपड़े से आँखों को ढँक दें और मध्यमा (बीच वाली) अँगुली से नासा के अग्रभाग को उन्नत करके प्रदेशिनी (तर्जनी) और अनामिका अँगुली से एक-एक नासापुट को बन्द करके दूसरे नासास्रोतस् (नासापुट) में दाहिने हाथ से प्रनाड़ी (नाली) या रुई के पिचु द्वारा अथवा अनवच्छिन्न धारा द्वारा सिंचन करना चाहिए। जब वाम नासिका बन्द हो, तो दक्षिण में और जब दक्षिण नासिका बन्द हो, तो वाम नासिका में औषधि डालनी चाहिए।

नस्य का काल

वातपित्तकफामयेषु क्रमेणापराह्णमध्याह्नपूर्वाह्णेषु। लालास्रावसुप्तप्रलापदन्तकटकटायनक्रथनकृच्छ्रोन्मीलनपूतिमुखकर्णनादतृष्णार्दितशिरोरोगश्वासकासोन्निद्रेषु रात्रौ। स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने शरद्वसन्तयोः प्राह्णे ग्रीष्मेऽपराह्णे वर्षास्वादित्यदर्शने पञ्चकर्माण्याचरतो बस्तिकर्मोत्तरकालमेव ॥ १५ ॥

वातजन्य रोगों में अपराह्ण काल में, पित्तजन्य रोगों में मध्याह्न काल में तथा कफजन्य रोगों में पूर्वाह्ण में मर्श नस्य देना चाहिए। लालास्राव, सुप्तप्रलाप (सुप्तावस्था में बोलना), दाँतों की किटकिटाहट, क्रथन (सुप्तावस्था में कण्ठ से आवाज निकलना), कृच्छ्रोन्मीलन (आँखों का कठिनाई से खुलना), पूतिमुख (मुख से दुर्गन्ध आना), कानों में शब्द सुनाई देना, तृष्णा, अर्दित, शिरोरोग, श्वास, कास एवं नींद का न आना आदि रोगों में रात्रि में मर्श नस्य देना चाहिए। स्वस्थ व्यक्ति में शीतकाल (शिशिर एवं हेमन्त ऋतुओं) में मध्याह्न के समय, शरद् एवं वसन्त ऋतु में पूर्वाह्ण के समय, ग्रीष्म ऋतु में अपराह्ण के समय तथा वर्षा आदि में सूर्यदर्शन के समय नस्य देना चाहिए। पंचकर्म का सेवन करते समय बस्तिकर्म के तुरन्त पश्चात् मर्श नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

मर्श नस्य की मात्रा

न चैं हीनाधिकं सकृदेव सर्वमत्युष्णशीतमत्युन्नतावनतशिरसे सङ्कुचितगात्रावयवाय देयम्। तत्र हीनं दोषमुत्क्लेश्य न निर्हरेत्। गौरवारुचिकासप्रसेकपीनसछर्दिकण्ठरोगान्कुर्यात्। अधिकमतियोगदोषान्। सकृदेव सर्वं दत्तमुत्स्नेहनशिरोरोगप्रतिश्यायघ्राणक्लेदानुच्छ्वासोपरोधं च। अत्युष्णं दाहपाकज्वररक्तागमशिरोरुग्दृष्टिदौर्बल्यमूर्च्छाभ्रमान्। अतिशीतं हीनदोषान्। अत्युन्नतशिरसोऽपि सम्यक्शिरोऽप्रतिपद्यमानं तानेव। अत्यवनतशिरसोऽतिदूरगमनान्मूर्च्छाजाड्यकण्डूदाहज्वरान्। सङ्कुचितगात्रस्य सम्यग्धमनीरव्याप्नुवद्दोषोत्क्लेशं वेदनां स्तम्भं वा। यदि च नस्ये दीयमाने भेषजवेगादसात्म्यतया वा मूर्च्छा स्यात्ततः शिरोवर्जं शीताम्भसा सिञ्चेत्। न च नस्ये निषिच्यमाने कोपहास्यव्याहारस्पन्दनोच्छिन्दनान्याचरेत्। तथाहि शिरोरुक्प्रतिश्यायकासतिमिरखलतिपलितव्यङ्गतिलकालकमुखदूषिकाणां सम्भवः॥ १६॥

मर्श स्नेह की मात्रा न तो थोड़ी और न ही अधिक हो। सभी स्नेह एक ही बार में नहीं डालना चाहिए। स्नेह न अत्यधिक गर्म हो और न अत्यधिक शीतल हो। नस्य औषधि डालते समय शिर न अत्यधिक ऊँचा हो और न अत्यधिक नीचा हो और शरीर के अंग नस्य देते समय संकुचित न हों। इनमें हीन मात्रा में दिया हुआ नस्य दोषों को उत्क्लेशित करके बाहर नहीं निकालता है। गौरव (शरीर में भारीपन), अरुचि, कास, प्रसेक (लालास्राव), पीनस (जीर्ण प्रतिश्याय), छर्दि, कण्ठ रोग आदि को उत्पन्न कर देता है। अधिक मात्रा में दिया गया नस्य स्नेह के अतियोग से उत्पन्न होने वाले विकारों को उत्पन्न कर देता है। एक साथ दिया गया सभी नस्य उत्स्नेहन (नासा एवं कंठ के स्रोतों में स्नेह का चढ़ जाना), शिरोरोग, प्रतिश्याय, घ्राणक्लेद (नासा में क्लेद) तथा उच्छ्वासोपरोध (श्वास लेने में अवरोध) करता है। अति उष्ण नस्य लेने पर दाह, पाक, ज्वर, रक्तस्राव, शिरोवेदना, दृष्टि-दौर्बल्य, मूर्च्छा और भ्रम को पैदा कर देता है। अति शीतल नस्य हीन मात्रा में लिये गये नस्य के दोषों को उत्पन्न करता है। शिर को अत्यन्त ऊँचा करके दिया हुआ नस्य शिर में सम्यक् रूप से न पहुँच कर उन्हीं हीनमात्रा के लक्षणों को उत्पन्न करता है। शिर को अत्यन्त नीचा करके दिया गया स्नेह बहुत दूर तक जाने से मूर्च्छा, जड़ता, कंडू, दाह तथा ज्वर को पैदा करता है। अंगों को संकुचित कर दिया गया नस्य धमनियों में सम्यक् प्रकार से न फैलकर दोषों को उत्क्लिष्ट करके वेदना एवं स्तम्भ (स्तब्धता) पैदा कर देता है। यदि नस्य देने पर औषधि के वेग के कारण या असात्म्यता के कारण रोगी को मूर्च्छा हो जाये, तब शिर छोड़ कर समस्त शरीर पर शीतल जल से सिंचन करना चाहिए। नासा में स्नेह डालते समय कोप (क्रोध), हास्य, व्याहार (बोलना), स्पन्दन (कम्पन) तथा उच्छिन्दन (ऊपर खींचना) नहीं करना चाहिए। इससे वेदना, प्रतिश्याय, कास, तिमिररोग, खलति (बालों का झड़ना), पलित (बालों का पकना), व्यंग, तिलकालक तथा मुखदूषिका (मुखदूषित करने वाली पिडकाएँ) हो सकती हैं।

नस्य के पश्चात् कर्म

दत्तमात्रे तु नस्ये कर्णललाटकेशभ्रूमिगण्डमन्यास्कन्धपाणिपादतलान्यनुसुखं मर्दयेत्। शनैश्चोच्छिन्द्येत्। अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिणपार्श्वयोरौषधं निष्ठीवेत्। सकफं हि तदभ्यवहृतमग्निमवसादयेत्। दोषं च संवर्धयेत्। एकपार्श्वनिष्ठीवनेन सर्वाः सिरा भेषजेन सम्यग्व्याप्यन्ते। पुनः पुनश्चैनं स्वेदयेदाभेषजदर्शनान्नोच्छिन्देन्निष्ठीवेच्च। ततश्चैवमेव

द्वितीयमंशमनुषेचयेत्तथा तृतीयं दोषादिबलेन वा। विरेचने त्ववपीडे दोषबलमपेक्ष्य पश्चात्स्नेहमनुषेचयेत्। निवृत्तनस्यं चैवमुन्निद्रमुत्तानं वाक्शतमात्रं शाययेत्। ततः पुनरप्युत्क्लिष्टदोषशेषोपशान्तये वैरेचनिकं यथार्हं वा धूमं पाययित्वोष्णोदकगण्डूषान् धारयेत्। अथास्य स्नेहोक्तमाचारमादिशेत्। अतिद्रवपानं च वर्जयेत्। पुनश्च तृतीयेऽहनि नस्यमवसेचयेत्। हिध्मास्वरोपघातमन्यास्तम्भापतानकेषु शिरसि चानिलार्त्यादिभिभूते प्रत्यहं सायं प्रातरुभयकालं वा। अनेन विधिना पञ्च सप्त नव वा दिनानि दद्यादासम्यग्योगाद्वा ॥१७॥

नस्य देने के पश्चात् कर्ण, ललाट, केशभूमि (सिर), गंडस्थल, मन्याप्रदेश, स्कंध (कंधा) तथा पाणितल (हाथ के तलवे) और पादतल (पैर के तलवे) को सुखपूर्वक मर्दन करना चाहिए और स्नेह (औषधि) को नासा द्वारा धीरे-धीरे ऊपर खींचना चाहिए। औषधि को बिना निगले बायें तथा दाहिने पार्श्व से बाहर निकाल देना चाहिए, क्योंकि कफमिश्रित स्नेह को निगलने से जठराग्नि मन्द हो जाती है तथा दोषों की वृद्धि हो जाती है। एक पार्श्व से दोषों को बाहर निकालने से सभी सिराएँ औषधि स्नेह के द्वारा सम्यक् प्रकार से व्याप्त नहीं होती हैं। जब तक औषध बाहर निकले, तब तक बार-बार स्वेदन करना चाहिए। रोगी औषध स्नेह को न तो ऊपर की ओर खींचे और न ही थूककर बाहर निकाले। इसके पश्चात् नस्य औषधि के दूसरे भाग को नासा-पुटों में डालना चाहिए, फिर तीसरे भाग का नस्य देना चाहिए अथवा दोषों के बलानुसार नस्य देना चाहिए। विरेचन अवपीड नस्य में दोषों के बल का विचार करने के पश्चात् स्नेह नस्य देना चाहिए। नस्य कर्म करने के पश्चात् रोगी को उत्तान (पीठ के बल) तथा आँखें खोलकर एक सौ अंक गिनने तक शय्या पर लिटा देना चाहिए। इसके पश्चात् पुनः उत्क्लिष्ट हुए दोषों को शान्त करने के लिए वैरेचनिक नस्य अथवा जो योग्य हो वह धूम पिलाकर उष्ण जल का गण्डूष धारण करना चाहिए। इससे कफ आदि निकल जाता है तथा मुख की शुद्धि हो जाती है। इसके पश्चात् स्नेहोक्त आचार का पालन करने का आदेश देना चाहिए। इस समय अत्यधिक द्रवपान नहीं करना चाहिए। पुनः तीसरे दिन इसी प्रकार नस्य का सेवन करना चाहिए। हिक्का, स्वरोपघात (स्वर बैठना), मन्यास्तम्भ, अपतानक और सिर में वातजन्य विकार होने पर प्रतिदिन एक बार सायंकाल या प्रातःकाल अथवा दोनों समय में नस्य का प्रयोग करना चाहिए। इस विधि से पाँच, सात अथवा नौ दिनों तक नस्य का सेवन करना चाहिए अथवा जब तक नस्य के सम्यक् योग के लक्षण दिखलायी न पड़ें, तब तक नस्य का सेवन कराना चाहिए।

पूर्व में हमने देखा कि स्नेहन-स्वेदन कर्मों के पश्चात् वमन-विरेचन (संशोधन) का प्रयोग कराया जाता है तथा अनुवासनबस्ति से शरीर को स्निग्ध करने के पश्चात् निरूहण (आस्थापन) बस्ति दी जाती है। नस्य कर्म में भी उसी प्रकार पहले स्नेह नस्य का प्रयोग कराया जाता है, फिर द्रवीभूत दोषों के सम्यक् निर्हरणार्थ वैरेचनिक नस्य का प्रयोग कराया जाता है।

सम्यक् नस्य के लक्षण

तत्र सम्यक्स्निग्धे मूर्धनि विरिक्ते वा सुखोच्छ्वासनिःश्वासक्षवथुस्वप्नप्रबोधशिरोवदनेन्द्रियविशुद्धयो भवन्ति। यथोक्तव्याध्युपशमश्च। आयोगातियोगयोस्तु यथास्वं वातकफविकारास्तान्यथास्वमेव साधयेत्। अन्यांश्च पूर्वोक्तान् विकारान् ॥ १८ ॥

नस्य का सम्यक् योग होने से एवं मूर्धा (सिर) का स्नेहन एवं विरेचन हो जाने से सुखपूर्वक श्वास एवं निःश्वास की क्रिया होने लगती है। समय पर छींक आती है और ठीक समय पर निद्रा आती है। समय पर नींद खुलती है, शिर, मुख तथा श्रोत्रादि इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं और

जिन रोगों की शान्ति के लिए नस्य का प्रयोग किया जाता है, उनका प्रशमन हो जाता है। अयोग (हीन योग) होने पर वातजनित विकार तथा अतियोग होने पर कफजनित विकार उत्पन्न हो जाते हैं। उन विकारों की अपनी-अपनी चिकित्सा करनी चाहिए। यदि कोई अन्य विकार उत्पन्न हो गया हो, तो उसकी पूर्वोक्त (पिछले अध्यायों में कही गयी) विधियों से चिकित्सा करनी चाहिए।

प्रतिमर्श नस्य

प्रतिमर्शस्तु क्षामक्षततृष्णामुखशोषवृद्धबालभीरुसुकुमारेष्वप्यकालवर्षदुर्दिनेष्वपि च योज्यः। न तु दुष्टप्रतिश्यायबहुदोषकृमिणशिरोमद्यपीतदुर्बलश्रोत्रेषु। एषां ह्युदीर्णदोषत्वात् तावता दोषोत्क्लेशो भवति। तस्य पञ्चदश कालास्तेषां च गुणाः। प्रातर्दत्ते भुक्तवतश्चान्ते स्रोतोविशुद्धिः शिरोलाघवं मनःप्रसादश्च भवति। विण्मूत्रशिरोभ्यङ्गाञ्जनकवलान्ते दृष्टिप्रसादः। दन्तधावनान्ते दन्तदृढता सौगन्ध्यं च। अध्वव्यायामव्यवायान्ते श्रमक्लमस्वेदस्तम्भनाशः। दिवास्वप्नान्ते निद्राशोषगौरवप्रणाशो मनःप्रसादश्च। अतिहसितान्तेऽनिलप्रशमः। छर्दितान्ते स्रोतोलीनश्लेष्मव्यपोहः। दिनान्ते स्रोतोविशुद्धिः सुखनिद्राप्रबोधश्च भवति॥ १९॥

प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग क्षाम (निर्बल) व्यक्ति, क्षत (उरःक्षत) रोगी, तृष्णा एवं मुखशोष से पीड़ित व्यक्ति, वृद्ध, बाल, भीरु तथा सुकुमार लोगों को अकाल (वर्षा) में और दुर्दिन में में भी करना चाहिए। किन्तु दुष्ट प्रतिश्याय, बहुत दोषों वाले शिरोरोग, कृमिज शिरोरोग, मद्यपान तथा श्रोत्रेन्द्रिय की दुर्बलता में प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस दशा में दोषों के बढ़े होने के कारण प्रतिमर्श नस्य की थोड़ी मात्रा से ही दोषों का उत्क्लेश हो जाता है। इस प्रतिमर्श नस्य के पन्द्रह काल होते हैं और प्रत्येक काल के गुण इस प्रकार हैं—१. प्रातःकाल और २. भोजन के अन्त में प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करने से स्रोतों की शुद्धि, शिर में लघुता तथा मन में प्रसन्नता होती है। ३. मल-त्याग, ४. मूत्र-त्याग, ५. शिरोभ्यंग, ६. अंजन तथा ७. कवलग्रहण में अन्त में प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करने से दृष्टि की स्वच्छता होती है। ८. दाँत धोने के पश्चात् प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करने से दाँतों में दृढ़ता तथा मुख में सुगन्ध होती है। ९. मार्ग चलने, १०. व्यायाम तथा ११. व्यवाय के अन्त में प्रतिमर्श नस्य करने से श्रम (थकावट), क्लम, स्वेद तथा स्तब्धता नष्ट होती है। १२. दिवास्वप्न के अन्त में प्रतिमर्श का प्रयोग करने से निद्रा, शोष और भारीपन का नाश तथा मन की प्रसन्नता होती है। १३. अत्यन्त हँसने के पश्चात् प्रतिमर्श नस्य देने से वायु की शान्ति होती है। १४. वमन करने के अन्त में प्रतिमर्श नस्य देने से स्रोतों में लीन (सटा हुआ) श्लेष्मा नष्ट होता है। १५. दिन के अन्त में नस्य देने से स्रोतों की शुद्धि तथा सुखपूर्वक निद्रा का आना और जागरत्व होता है।

प्रतिमर्श नस्य कभी भी दोषों को उत्पन्न नहीं करता। यह रोगों की वृद्धि न करके शरीर को दृढ़ करता है, क्योंकि इसकी मात्रा अत्यन्त अल्प (दो बिन्दु) होती है, अतः यह वर्ष भर प्रयुक्त हो सकता है। यह जन्म से मरण-पर्यन्त प्रयोग किया जा सकता है। अर्थात् किसी भी वय के रोगी को यह दिया जा सकता है, क्योंकि इसकी मात्रा अत्यन्त कम होती है, अतएव यह दोषों का निर्हरण या कृमियों का नाश आदि नहीं कर सकता है।

प्रतिमर्श नस्य की मात्रा

भवति चात्र—

प्रमाणं प्रतिमर्शश्च बिन्दुद्वितयमिष्यते।
बिन्दुर्वा येन चोत्क्लेशो नानुत्क्लिष्टस्य जायते॥ २०॥

निष्ठ्यूते यत्र वा स्नेहो न साक्षादुपलक्ष्यते ।
न नस्यमूनसप्ताब्दे नातीताशीतिवत्सरे ॥ २१ ॥
न चोनाष्टादशे धूमः कवलो नोनपञ्चमे ।
न शुद्धिरूनदशमे न चातिक्रान्तसप्ततौ ॥ २२ ॥
आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु बस्तिवत् ।
मर्शवच्च गुणान्कुर्यात् स हि नित्योपसेवनात् ॥ २३ ॥
न चात्र यन्त्रणा नापि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भयम् ।
तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते ॥ २४ ॥
शिरसः श्लेष्मधामत्वात्स्नेहाः स्वस्थस्य नेतरे ।

प्रतिमर्श नस्य की मात्रा दो बिन्दु अथवा एक बिन्दु कही गई है । यह मात्रा उतनी होती है, जिसके द्वारा अप्रकुपित (शान्त या समावस्था में स्थित) दोषों का प्रकोप न हो अथवा तैल या स्नेह की उतनी मात्रा प्रतिमर्श में प्रयुक्त करनी चाहिए, जिससे कि वह निष्ठीवन (थूक) में दिखाई न पड़े । सात वर्ष से कम एवं अस्सी वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों को नस्य का प्रयोग नहीं कराना चाहिए । अठारह वर्ष से कम आयु वाले व्यक्तियों को धूम का प्रयोग नहीं कराना चाहिए । पाँच वर्ष से कम अवस्था वाले बालकों को कवल नहीं देना चाहिए । दस वर्ष से कम आयु के बच्चों तथा सत्तर वर्ष से अधिक आयु के वृद्धों को शोधन नहीं कराना चाहिए, परन्तु प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग बस्ति की ही भाँति जन्म से लेकर सर्वदा किया जा सकता है । प्रतिमर्श नस्य का नित्य सेवन करने से यह मर्श के समान गुणकारी होता है, इसके साथ ही विशेषता यह है कि मर्श नस्य प्रयोग के समय आहार-विहार आदि के विधि नियमों के पालन की जो यंत्रणा होती है, वैसा प्रतिमर्श में नहीं होता तथा मर्श में जैसी व्यापत्तियाँ होती हैं, वैसी व्यापत्तियों का भी भय प्रतिमर्श में नहीं रहता । स्वस्थ व्यक्ति हेतु प्रतिदिन नस्य (प्रतिमर्श) के लिए तैल ही उपयुक्त होता है, क्योंकि श्लेष्मा का स्थान शिर को माना गया है, अतः स्वस्थ व्यक्ति के लिए घृत आदि दूसरे स्नेहों की अपेक्षा तैल ही अधिक उपयुक्त होता है ।

प्रतिमर्श नस्य की अल्पमात्रा प्रयुक्त की जाती है, जिससे यह नित्य प्रयोग करने पर भी दोषों का उत्क्लेश नहीं करता तथा मर्श के समान गुणकारी भी होता है । नित्य प्रयोग करने से यह सात्म्य हो जाता है तथा व्यापत्तियाँ उत्पन्न नहीं करता है । इसकी विशेषता यह है कि इसमें विशिष्ट विधि-नियमों या परहेजों का ध्यान नहीं रखना पड़ता । इन्हीं सब कारणों से प्रतिमर्श नस्य के प्रयोग को आजन्म मरण-पर्यन्त प्रशस्त माना गया है ।

मर्श एवं प्रतिमर्श नस्य में भेद

आशुकृच्चिरकारित्वं गुणोत्कृष्टावकृष्टता ॥ २५ ॥
मर्शे च प्रतिमर्शे च न विशेषो भवेद्यदि ।
को मर्शं सपरीहारं सापदं च भजेत्ततः ॥ २६ ॥
अच्छपानविचाराख्यौ कुटीवातातपस्थिती ।
अन्वासमात्राबस्ती च तद्वदेव विनिर्दिशेत् ॥ २७ ॥

इति नस्यविधिर्नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

मर्श नस्य शीघ्र प्रभावकारी तथा श्रेष्ठ गुण युक्त होता है तथा प्रतिमर्श नस्य देर से प्रभाव करने वाला एवं कम गुणों से युक्त होता है। यदि इन दोनों में इस प्रकार का अन्तर नहीं होता, तो ऐसे मर्श नस्य जो अनेक प्रकार के परिहार (परहेज) आदि यंत्रणाओं तथा विविध प्रकार की आपदाओं के भय से युक्त होता है, को कौन प्रयोग करता ? जिस प्रकार मर्श एवं प्रतिमर्श नस्यों में अन्तर होता है, ठीक उसी प्रकार अच्छस्नेहपान एवं स्नेहविचारणा, कुटीप्रावेशिक एवं वातातपिक रसायन तथा अनुवासन एवं मात्राबस्ति में भी अन्तर (गुणों की श्रेष्ठता एवं न्यूनता और शीघ्र-कारित्व तथा चिरकारित्व) होता है।

मर्श एवं प्रतिमर्श में अन्तर

क्रमाङ्क	मर्श	प्रतिमर्श
१.	मात्रा दश, आठ, एवं छः बिन्दु (उत्तम, मध्यम, ह्रस्व मात्रा)।	१. मात्रा दो से एक बिन्दु।
२.	विशेषकर रोगों में प्रयुक्त होता है।	२. जन्म से मरण पर्यन्त (स्वस्थावस्था में) कभी भी प्रयुक्त हो सकता है।
३.	शीघ्र प्रभावकारी होता है।	३. देर से प्रभाव करता है।
४.	श्रेष्ठ गुणयुक्त होता है।	४. न्यून गुणों से युक्त होता है।
५.	प्रयोग काल में पथ्यापथ्य (परहेज) का अधिक ध्यान रखना पड़ता है।	५. कोई यंत्रणा (परहेज) नहीं करनी पड़ती।
६.	इसके असम्यक् प्रयोग से विविध व्यापत्तियाँ हो सकती है।	६. कोई व्यापत्ति नहीं होती।

इस प्रकार 'नस्यविधि' नामक एकोनत्रिंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में नस्य (शिरोविरेचन) की परिभाषा, उसके कर्मानुसार—विरेचन, बृंहण एवं शमन तथा प्रयोगानुसार—मर्श, प्रतिमर्श, प्रधमन और अवपीड के विविध भेद, इसकी रोगानुसार मात्रा एवं कालानुसार प्रयोग का निर्देश मिलता है। इसके साथ ही युक्ति पूर्वक नस्य कर्म से लाभ तथा प्रमाद के कारण होने वाले उपद्रवों तथा उनकी चिकित्सा का भी उल्लेख मिलता है।

त्रिंशोऽध्यायः

अथातो धूमपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'धूमपान-विधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

धूमपान का तात्पर्य धूम (Gases) के ग्रहण (Inhalation) से है। शालाक्य की व्याधियों में धूमपान का अपना एक विशिष्ट स्थान है। सुश्रुतसंहिता में धूमपान से लाभ बतलाते हुए कहा गया है—'नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः। दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिविशदाननः'। (सु० चि० ४०) अर्थात् सम्यक् प्रकार से किया गया धूमपान मनुष्य की इन्द्रियों को स्वस्थ, वाणी एवं मन को प्रसन्न करता है तथा केश, द्विज (दन्त) एवं श्मश्रु दृढ़ हो जाते हैं तथा मुख में सुगन्ध एवं विशदता आ जाती है। धूम वातकफज ऊर्ध्वजत्रु के विकारों नष्ट करता है।

धूमपान के योग्य रोग एवं रोगी

धूमो हि शिरोऽक्षिकर्णशूलाभिष्यन्दगौरवार्धावभेदकपीनसकासश्वासास्यवैरस्य-प्रसेकवैस्वर्यपूतिघ्राणमुखहिध्मागलरोगदन्तशूलदौर्बल्यारुचिहनुमन्याग्रहकृमिकण्डूपाण्डुत्वक्केशदोषक्षवथुनाशबाहुल्यतन्द्राऽतिनिद्राक्रथनादिजत्रूर्ध्वगतवातकफव्याधिप्रशमाय प्रयुज्यते। तथा शिरःकपालेन्द्रियमनोबृंहणप्रसादनाय च। शीतद्रव्यनिर्वृत्तोऽप्यग्निसंयोगादुष्णतया पित्तरक्तविरुद्धः ॥ ३ ॥

धूमपान का प्रयोग उन व्यक्तियों में व्याधि के प्रशमनार्थ किया जाता है, जो शिरःशूल, अक्षिशूल (नेत्रशूल), कर्णशूल, अभिष्यन्द (नेत्राभिष्यन्द), गौरव (भारीपन), अर्धावभेदक, पीनस, कास, श्वास, मुखवैरस्य (मुख की विरसता), प्रसेक (मुख से लालास्राव), वैस्वर्य (स्वर में विकृति), पूतिघ्राण, मुखरोग, हिक्कारोग, गलरोग, दन्तशूल (दाँतो में पीड़ा), दौर्बल्य (कमजोरी), अरुचि, हनुग्रह, मन्याग्रह, कृमिरोग, कण्डू (खुजली), पाण्डु रोग, त्वक्दोष (त्वचा में विकार), केशदोष (केशों में विकार), क्षवथुनाश (छींक न आना), क्षवथुबाहुल्य (छींक का अधिक आना), तन्द्रा, अतिनिद्रा (निद्रा का अधिक आना) एवं क्रथन आदि उर्ध्वजत्रु की कफ-वातजन्य व्याधियों से पीड़ित है। शिरःकपाल, इन्द्रिय एवं मन बृंहणार्थ (बलवर्द्धनार्थ) एवं इनके प्रसादनार्थ (प्रसन्नता उत्पन्न करने हेतु) भी धूम का प्रयोग किया जाता है। शीतल द्रव्यों द्वारा बनाया जाने पर भी अग्निसंयोग द्वारा उष्ण होने से पित्त एवं रक्तजन्य व्याधियों में इस धूमपान का उपयोग विरुद्ध माना जाता है। अर्थात् पित्त एवं रक्तजन्य व्याधियों में धूमपान का निषेध किया गया है।

धूम के भेद

स त्रिविधो भवति। शमनो बृंहणः शोधनश्च। तथा कासघ्नो वामनो व्रणधूपनश्च। तत्र शमनः प्रायोगिको मध्यम इति पर्यायाः। बृंहणः स्नेहनो मृदुरिति। शोधनो विरेचनस्तीक्ष्ण इति च ॥ ४ ॥

---

१. 'क्रथनं सुप्तस्य नासाशब्दः' इतीन्दु।

वह (धूम) तीन प्रकार का होता है—१. शमनधूम, २. बृंहणधूम एवं ३. शोधनधूम। इसी प्रकार धूम के तीन और भेद होते हैं—१. कासघ्नधूम, २. वामकधूम एवं ३. व्रणधूपनधूम। शमनधूम को ही प्रायोगिक धूम तथा मध्यम धूम भी कहा जाता है, बृंहणधूम को स्नेहन धूम एवं मृदुधूम भी कहा जाता है। शोधनधूम को विरेचनधूम एवं तीक्ष्णधूम भी कहा जाता है।

सुश्रुतसंहिता में धूम के पाँच प्रकार बतलाये गए हैं—१. प्रायोगिक, २. स्नैहिक, ३. वैरेचनिक, ४. कासघ्न एवं ५. वामक। चरकसंहिता में तीन प्रकार के धूमों का वर्णन है—१. प्रायोगिक, २. स्नेहिक एवं ३. वैरेचनिक। वास्तव में प्रायोगिक, स्नैहिक एवं वैरेचनिक ये तीन ही धूम-प्रकार हैं। कासघ्न, वामक आदि का तो अवस्था-विशेष में ही प्रयोग होता है। अतः इनको धूम का विशिष्ट भेद मानना चाहिए।

धूम के अयोग्य रोग एवं रोगी

अधूमार्हास्तु विरिक्तदत्तबस्तिरात्रिजागरिताभिहतशिरोमधुदधिदुग्धमद्यस्नेहयवागू विषपयः पीतमत्स्याशितपाण्डुरोगप्रमेहोदराध्मानोर्ध्ववाततिमिररोहिणिकारक्तपित्तिनोऽत्युष्णेऽन्येपि च। एषां हि भ्रमज्वरशिरोऽभितापेन्द्रियोपघाततालुशोषपाकधूमायनच्छर्दिमूर्च्छारक्तपित्तार्दितानि मृत्युं वा धूमो जनयति। अतिमात्रश्चान्येषामपि ॥ ५ ॥

जिन व्यक्तियों को विरेचन कराया गया हो, बस्ति दी गई हो, जिन्होंने रात्रि-जागरण किया हो, जिसके शिर पर चोट लगी हो, जिसने मधु, दधि, दुग्ध, मद्य, स्नेह, यवागू या विष पिया हो, जिसने मछली खाई हो, जो पाण्डुरोग, प्रमेहरोग, उदररोग, आध्मान, ऊर्ध्ववात (वायु का ऊर्ध्व दिशा में प्रवृत्त होना), तिमिररोग, रोहिणी (Diphtheria) एवं रक्तपित्त आदि से पीड़ित हो, उसको तथा जब अति उष्ण काल हो तब अन्य भी व्यक्तियों को धूमपान नहीं कराना चाहिए। इन निषिद्ध व्यक्तियों को अथवा इन निषिद्ध परिस्थितियों में धूमपान कराने से भ्रम, ज्वर, शिरोऽभिताप, (शिर में संताप), इन्द्रियोपघात (इन्दियों का नाश), तालुशोष, तालुपाक, धूमायन (भीतर से धूम निकलने जैसा प्रतीत होना), छर्दि (वमन), मूर्च्छा, रक्तपित्त, अर्दित आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं अथवा मृत्यु हो जाती है। इसके अतिरिक्त यदि धूमपान का अतियोग हो जाये, तो भी उपर्युक्त रोग या मृत्यु हो जाती है।

ऊपर धूम के लिए निषिद्ध रोग एवं रोगियों का वर्णन किया गया है। ये रोग पित्त प्रधान ही होते हैं। इनकी चिकित्सा का वर्णन आगे किया गया है।

उपचार

तत्र वातकफान्यतरसंसृष्टं पित्तमुपलक्ष्य यथास्वं सर्पिःकषायपाननस्यास्यालेपाञ्जनपरिषेकान्। स्निग्धरूक्षशीतान् प्रयुञ्जीत। एतेन सर्वधूमोपघातप्रतीकारा व्याख्याताः ॥ ६ ॥

उपर्युक्त रोगों में पित्त ही प्रधान दोष होता है। अतः वात एवं कफ दोषों से संसृष्ट (मिले हुए) इन पित्त दोषों की सम्यक् विचार करके तदनुसार यथोचित औषधियों से सिद्ध घृत अथवा उन औषधियों से निर्मित कषाय या उन औषधियों का नस्य, मुखलेप, अंजन, परिषेक आदि स्निग्ध, रूक्ष एवं शीत चिकित्सा करनी चाहिए। उपर्युक्त सूत्र द्वारा धूमपान के असम्यक् प्रयोग से उत्पन्न उपद्रवों का चिकित्सा-विधान बतला दिया गया है।

संहितोक्त धूम के भेद
अष्टाङ्गसंग्रहानुसार
सुश्रुतसंहितानुसार
चरकसंहितानुसार
प्रायोगिक
स्नैहिक
वैरेचनिक
कासघ्नधूम
वामकधूम
व्रणधूपनधूम
शमन (प्रायोगिक या मध्यमधूम)
बृंहण (स्नेहन या मृदुधूम)
शोधन (विरेचन या तीक्ष्णधूम)
प्रायोगिक धूम
स्नैहिक धूम
वैरेचनिक धूम
कासघ्न धूम
वामक धूम
वात-कफजन्य रोगों तथा स्वास्थ्य संरक्षणार्थ
वातजन्य रोग
कफजन्य रोग

उपर्युक्त उपद्रवों का विशेष उपचार

विशेषस्तु सर्वस्रोतोऽभिगते धूमे [1]भवन्त्योषाध्माननेत्ररागश्वासकासपीनसाङ्गस्वरसादाम्लकाः। तत्र घृतक्षीरेक्षुरसद्राक्षाशर्करोपयोगस्तद्विधैरेव वमनम्। कटुतिक्तैरपि च नस्यगण्डूषा ॥ ७ ॥

विशेष रूप से प्रयुक्त धूमपान जब शरीर के समस्त स्रोतो में पहुँच जाता है, तब अत्यन्त कष्टकारी वेदना होती है तथा ओष (बेचैनी एवं दाह), आध्मान, नेत्रराग (नेत्रों में लालिमा) श्वासरोग, कासरोग, पीनस, अंगसाद (अंगों में शिथिलिता), स्वरसाद (आवाज का बैठ जाना) तथा अम्लक (खट्टा वमन) आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उपर्युक्त विकारों की शांति के लिए तदनुसार यथोचित औषधियों से सिद्ध घृत, क्षीर, इक्षुरस (गन्ना *Saccharum officinarum* Linn.), द्राक्षा (दाख *Vitis vinifera* Linn.) एवं शर्करा का प्रयोग करना चाहिए तथा इन्हीं के समान गुणकर्म वाले द्रव्यों से वमन तथा कटु-तिक्त रस वाले द्रव्यों का नस्य एवं गण्डूष का प्रयोग करना चाहिए।

प्रायोगिक आदि धूमपान के काल

पानकालास्त्वष्टौ प्रायोगिकस्य निशामूत्रशकृद्दन्तधावनस्वेदनस्याहारशस्त्रकर्मान्ताः। एकादश मृदोः क्षुतव्यवायहसितचिरासितजृम्भितमूत्रशकृद्दन्तधावनतर्पणपुटपाकशस्त्रकर्मान्ताः। पञ्च तीक्ष्णस्य नस्याञ्जनछर्दितस्नानाहःस्वप्नान्ताः। एषु हि कालेषु वातकफोत्क्लेशो भवति ॥ ८ ॥

प्रायोगिक (मध्यम) धूमपान के सेवन हेतु आठ उपयुक्त समय कहे गये हैं—१. रात्रि में, २. मूत्र-विसर्जन के पश्चात्, ३. मल-विसर्जन के पश्चात्, ४. दंतधावन के पश्चात्, ५. स्वेदन के पश्चात्, ६. नस्य के पश्चात्, ७. भोजन के पश्चात् तथा ८. शस्त्रकर्म के पश्चात्।

मृदु (बृंहण) धूमपान के सेवन हेतु ग्यारह प्रशस्त काल कहे गये हैं—१. क्षुधा की प्रतीति होने पर, २. मैथुन के पश्चात्, ३. हँसने के पश्चात्, ४. अधिक देर तक बैठे रहने के पश्चात्, ५. जँभाई लेने के पश्चात्, ६. मूत्र-विसर्जन करने के पश्चात्, ७. मल-विसर्जन करने के पश्चात्, ८. दाँतों को साफ करने के पश्चात् ९. तर्पण (नेत्र की चिकित्सा) के पश्चात्, १०. पुटपाक के पश्चात् तथा ११. शस्त्रकर्म करने के पश्चात्।

तीक्ष्ण (विरेचन) धूमपान के लिए पाँच प्रशस्त काल हैं— १. नस्य, २. अंजन, ३. वमन, ४. स्नान एवं ५. दिवास्वप्न (दिन में सोने) के पश्चात्।

उपर्युक्त समयों में धूमपान का प्रयोग इसलिए बतलाया गया है, क्योंकि उन कालों में वायु तथा कफ का उत्क्लेश (प्रकोप) होता है।

धूमनेत्र

नेत्रं तु बस्तिनेत्रद्रव्यभवं गोपुच्छाकारमग्रमूलयोः कनिष्ठिकाङ्गुष्ठाग्रपरिणाहं राजमाषवाहिधूमवर्तिप्रवेशच्छिद्रमृजु त्रिकोशं श्लक्ष्णं शिथिलशलाकागर्भं शमनादिषु क्रमादातुराङ्गुलमानेन चत्वारिंशद्वात्रिंशच्चतुर्विंशत्यङ्गुलं कुर्यात्। कासघ्ने वमने च दशाङ्गुलम्। व्रणधूपनार्थेऽष्टाङ्गुलं कलायपरिमण्डलं कुलत्थवाहि स्रोत इति। एवं हि धूमो दूरात्प्रवृत्तो नेत्रस्य पर्वच्छेदादूर्ध्वं तनुतया च शनैः श्लिष्यन्न बाधको भवति ॥ ९ ॥

---

१. 'भवन्त्यूषा' इति पाठान्तरम्।

बस्तिनेत्र जिन द्रव्यों से बनाया जाता है, धूमनेत्र भी उन्ही द्रव्यों का बनाना चाहिए। इसकी आकृति गाय (*Bos indicus*) की पूँछ के समान, जड़ में रोगी व्यक्ति के हाथ के अँगूठे जितनी मोटी तथा अग्र भाग रोगी व्यक्ति के हाथ की कनिष्ठिका अँगुली जितनी पतली होनी चाहिए। इस नेत्र के अग्रभाग वाला छिद्र राजमाष (*Dolichose sinensis*) के प्रमाण का तथा पीछे (मूलभाग वाला छिद्र) धूमवर्ति (पूजा हेतु धूप की जो मोटी बत्ती होती है) के प्रमाण का होना चाहिए। धूमवर्ति के बीच में ऋजु (सीधी) परन्तु तीन कोषों (पर्वों) वाली नली बनानी चाहिए। यह नली श्लक्ष्ण (चिकनी) तथा ऐसी होनी चाहिए, जिससे कि इसके अन्दर शलाका डालकर अन्दर रखी औषधि को शिथिल किया जा सके (चलायमान या भुराभुरा किया जा सके)। यदि शमन धूम देना हो, तो इस धूमनेत्र की लम्बाई रोगी की अपनी अंगुलियों से चालीस अंगुल; यदि बृंहण धूम देना हो, तो बत्तीस अंगुल; यदि शोधन धूम देना हो, तो चौबीस अँगुल रखनी चाहिए। यदि कासघ्न और वामक धूम देना हो, तो धूमनेत्र की लम्बाई आठ अंगुल रखनी चाहिए। कासघ्न, वामक तथा व्रणधूपन हेतु प्रयुक्त होने वाले धूमनेत्र की नलिका कलाय (*Lathyrus* sp.) अन्न के समान मण्डलाकार तथा कुल्थी (*Dolichos biflorus* Linn.) के प्रवेश योग्य छिद्र वाली होनी चाहिए। ऐसा धूमनेत्र बनाने से धूम को मुख तक पहुँचने के लिए अधिक दूरी तय करनी पड़ती है तथा तीन पर्वों के होने से धूम अवरोध के कारण तनु (पतला) होकर मुख तक पहुँचता है और धीरे-धीरे धूमनेत्र की नली की दीवार से सटते हुए आता है। फलस्वरूप कोई हानि नहीं करता।

कासघ्नादिषु नेत्राभावे नलवंशैरण्डादीनामन्यतमां नाडीं योजयेत् ॥ १० ॥

कासघ्न, वामक तथा व्रणधूपन धूम के प्रयोग में यदि धूमनेत्र न भी हो, तो उसके स्थान पर नल (नड़सर *Phragmitis karka*), वंश (बाँस *Bambusa bambos*), एरण्ड (*Ricinus communis*) आदि में से किसी एक से निर्मित नली का उपयोग किया जाता है।

धूमवर्त्ति की निर्माण-विधि

यथास्वं च धूमद्रव्याणां कल्केन श्लक्ष्णेनाक्षमात्रेण द्वादशाङ्गुलामीषिकामभ्यस्याहोरात्रोषितां कृत्वा लेपयेत्। तत्र च नवाङ्गुलगर्भां पञ्चप्रलेपामङ्गुष्ठस्थूलां यवमध्यां छायाशुष्कां वर्तिं कृत्वा विगतेषिकां च स्नेहाक्तामङ्गारेषु प्रदीप्य नेत्रमूलच्छिद्रे च निधाय यथार्हं पानायोपनयेत् ॥ ११ ॥

जिन रोगों में धूमपान कराना हो, तदनुसार दोषों का शमन करने वाली औषधियाँ लेकर चिकना कल्क बनायें। धूम द्रव्यों के इस श्लक्ष्ण (चिकने) कल्क को एक तोला की मात्रा में लेकर एक रात-दिन (आठ प्रहर) तक भिगोई गई बारह अंगुल लम्बी ईषिका (सरकण्डे की सींक) के नौ अंगुल भाग पर लेप कर दें। इस प्रकार पाँच बार लेप करें। यह लेप अँगूठे के बराबर मोटा तथा यव (*Hordeum vulgare*) के समान आकृति वाला (बीच में मोटा तथा किनारों पर पतला) होना चाहिए। इसे छाया में सुखाने के पश्चात् बीच में पड़ी हुई ईषिका को निकाल लेना चाहिए। इसको स्नेहसिक्त करके अग्नि के अगारों से प्रदीप्त करके धूमनेत्र के मूलभाग वाले छिद्र में रखकर यथोचित विधि से धूमपान करायें।

प्राचीन काल में जो धूमनेत्र बनाया जाता था, उसी प्रकार आजकल के समय में धूमपान के लिए पाइप (Pipe) प्रचलित है। धूमवर्ति की तरह आज सिगरेट (Cigarette) का प्रयोग होता है। यह भी वर्णन है कि धूमवर्त्ति बनाते समय ईषिका पर कल्क का लेप चढ़ाने से पूर्व क्षौम

(रेशमी वस्त्र) लपेट देना चाहिए। तत्पश्चात् लेप चढ़ाकर सुखाने के बाद ईषिका को धीरे-धीरे बाहर खींच लेना चाहिए। इस धूमवर्ति को प्रदीप्त करके धूमनेत्र के छिद्र में लगाकर तब धूम खींचना चाहिए। धूमनेत्र का निर्माण भी बस्तिनेत्र के सदृश ही स्वर्ण, रजत, पीतल, सीसा आदि धातुओं से किया जाता है। धूमनेत्र की लम्बाई के सम्बन्ध में सुश्रुत का यह मत है कि प्रायोगिक धूमपान में अड़तालीस अंगुल, स्नैहिक धूमपान में बत्तीस अंगुल, वैरेचनिक धूमपान में चौबीस अंगुल तथा कासघ्न एवं वामक धूमपान में पन्द्रह अंगुल लम्बा धूमनेत्र बनाना चाहिए। धूमनेत्र त्रिकोषा या त्रिखण्डा होना चाहिए। अर्थात् इसमें तीन पर्व रहने चाहिए।

धूमपान की विधि

अथ धूमार्हः सुमना ऋजूपविष्टः प्राक्कृतोच्छ्वासनिःश्वासो विवृतौष्ठदशनो नेत्राग्रनिविष्टदृष्टिः पर्यायेणैकैकं नासापुटं पिधायेतरेणाक्षिप्य मुखेनोत्सृजेत्। मुखेन तु मुखेनैव। न नासया दृग्विघातभयात् ॥ १२ ॥

जिसे धूमपान कराना हो, उस व्यक्ति को सुमन (प्रसन्नचित्त) होकर सीधे बैठकर उच्छ्वास-निःश्वास की प्रक्रिया को प्राकृतावस्था में करके ओष्ठ एवं दाँतों को विवृत (खुला) रखकर नेत्र के अग्रभाग पर दृष्टि को रखता हुआ एक के बाद एक नासापुट को क्रम से बन्द करके दूसरे नासापुट से धूम को खींचे एवं मुख से बाहर कर दे। परन्तु मुख से खींचे हुए धूम को मुख से ही बाहर निकाले। उसे नासामार्ग से बाहर न निकाले, क्योंकि इससे दृग्विघात (दृष्टिनाश) का भय रहता है।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नासा से खींचे धूम को मुख से निकाला जा सकता है, परन्तु मुख से खींचे धूम को नासामार्ग से बाहर नहीं निकालना चाहिए, इससे दृष्टि को हानि पहुँचती है। किन-किन अवस्थाओं में नासा से तथा कब-कब मुख से धूम को खींच कर ग्रहण करना चाहिए, इसका वर्णन आगे किया जायेगा।

नासा एवं मुख द्वारा धूमपान का प्रयोग

तत्र प्रायोगिकं द्वौ द्वौ त्रींस्त्रीन् वाऽऽपानां स्त्रींश्च पर्यायान् कण्ठाच्चोर्ध्वमुत्क्लिष्टे दोषे पूर्वं नासया ततो मुखेन। कण्ठे तु पूर्वमास्येन। परं चाहोरात्रस्य द्विः पिबेत्। स्नैहिकं त्रींस्त्रींश्चतुरश्चतुरो वाऽऽपानान् यावद्वाऽऽशुप्रवृत्तिस्तथाहोरात्रस्य[1]। तीक्ष्णं नासाभ्यामेव चतुरश्चतुरश्चापानात् यावद्वा स्रोतोलाघवं तथा त्रिश्चतुर्वाऽहोरात्रस्य। तत्राक्षेपविसर्गावापान इत्याहुः ॥ १३ ॥

प्रायोगिक (मध्यम) धूमपान में दो-दो या तीन-तीन बार श्वास खींच करके तीन बार धूम पियें। कण्ठ से ऊपर के भाग में यदि दोषों का प्रकोप हुआ हो, तो पहले नासा से तत्पश्चात् मुख से धूम को पियें। आठ प्रहर (एक दिन-रात) में प्रायोगिक धूमपान का दो बार प्रयोग करना चाहिए। स्नैहिक धूमपान में तीन-तीन या चार-चार आपान (घूँट या कश) ग्रहण करें अथवा उतने आपान लें, जितने से नेत्रों में अश्रु आ जाये। स्नैहिक धूमपान रात्रि में तथा एक बार करना चाहिए। तीक्ष्ण (शोधन) धूम नासिका से ग्रहण करें तथा चार-चार आपान ग्रहण करें; अथवा उतने ही आपान ग्रहण करें, जितने से शरीर के स्रोतों में लघुता का अनुभव होने लगे। तीक्ष्ण धूम को एक

१. 'यावद्वास्रप्रवृत्तिस्तथा सकदहोरात्रस्य' इति पाठान्तरम्।

दिन-रात में तीन या चार बार ग्रहण करना चाहिए। धूम को भीतर ग्रहण करने की क्रिया को आक्षेप तथा बाहर निकालने की क्रिया को विसर्ग कहा जाता है। एक आक्षेप-विसर्ग मिलाकर एक आपान कहा जाता है।

कासघ्न धूमपान की विधि

कासघ्नं तु चूर्णं गुलिकां वा निर्धूमदीप्तस्थिराङ्गारपूर्णे सुसंस्थिते शरावे प्रक्षिप्यान्येन [1]बुध्नवृत्तच्छिद्रेण शरावेणापिधाय निधाय च तत्र स्रोतसि[2] नेत्रं[3] मुखेनैव धूमं पिबेत्। उरःप्राप्तं च मुखेनैवोद्वमेत्। प्रशान्ते च धूमे पुनः क्षिपेत्पिबेच्चादोषशुद्धेर्लाघवाद्वा ॥ १४ ॥

कासनाशक औषधियों द्वारा निर्मित चूर्ण अथवा गोली को निर्धूम (धुआँ रहित) जलते हुए अंगारों से भरी हुई एवं स्थिर शराव (सकोरा) में डालकर एक दूसरे शराव से ढँक दे, जिसके पेंदे में गोल छिद्र हो। ऊपर वाले शराव के पेंदे में स्थित गोल छिद्र से धूमनेत्र को लगाकर धूम के शान्त हो जाने पर (जलते हुए औषध द्रव्यों के बुझ जाने पर) पुनः धूम द्रव्यों का चूर्ण डालकर पूर्वोक्त विधि से धूमपान करें। ऐसा तब तक करते रहें, जब तक दोष शुद्ध न हो जाय अथवा शरीर में लघुता उत्पन्न न हो जाय।

वामक एवं व्रणधूपन धूम

तद्वद्वामनमपि [4]कृशरामप्यनतिघनां पीत्वा पिबेत्। तद्वच्च व्रणमपि धूपयेद्वैशद्याय क्लेदवेदनोपशमाय च[5] ॥ १५ ॥

जिस प्रकार कासघ्न धूम को ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार वामक (वमन कराने वाली औषधियों से निर्मित) धूम का भी ग्रहण किया जाता है। वामक धूमपान लेने से पहले पतली खिचड़ी पी लेनी चाहिए। इसी उपर्युक्त विधि से व्रणधूपन धूम का भी प्रयोग किया जाता है। व्रण का धूपन करने से व्रण विशद हो जाता है तथा व्रण का क्लेद एवं वेदना शान्त हो जाती है।

विविध धूमपान की सेवन-विधि

धूम-प्रकार	प्रयोग-मार्ग	प्रतिमात्र	संकेत	मात्रा/प्रतिदिन एवं रात
१. प्रायोगिक धूमपान (मध्यम धूमपान)	मुख्य रूप से नासिका द्वारा ग्राह्य, मुख से भी।	दो-दो या तीन-तीन श्वास तीन बार	—	दो बार प्रतिदिन
२. स्नैहिक धूमपान (मृदु धूमपान)	मुख एवं नासा से ग्राह्य	तीन-तीन या चार-चार आपान	जबतक नेत्रोंमें अश्रु न आ जायें।	रात्रि में एकबार

१. 'मूर्ध्नि प्रवृत्तच्छिद्रेण' इति पाठान्तरम्।
२. 'तत्स्रोतसि' इति पाठान्तरम्।
३. 'नेत्रं कृत्वा' इति पाठान्तरम्।
४. 'तिलकृशरा' इति पाठान्तरम्।
५. 'शमनाय च' इति पाठान्तरम्।

३. वैरेचनिक धूमपान (तीक्ष्ण धूमपान)	नासा से ग्राह्य	चार-चार आपान	जब तक शरीर में लघुता न आ जाय ।	तीन या चार बार
४. कासघ्न धूमपान	मुख से ग्राह्य	आवश्यकतानुसार	जब तक शरीर में लघुता न आ जाय ।	आवश्यकतानुसार
५. वामक धूमपान	मुख से ग्राह्य	आवश्यकतानुसार	जब तक शरीर में लघुता न आ जाय ।	आवश्यकतानुसार

धूमपान का अयोग एवं अतियोग

धूमस्यायोगे दोषोत्क्लेशाद्रोगवृद्धिः । अतियोगे प्रागुक्तमिति ॥ १६ ॥

धूमपान का अयोग (हीन योग) होने पर दोषों का उत्क्लेश (प्रकोप) होकर रोग की वृद्धि होती है तथा इसके अतियोग के लक्षण पहले ही कहे जा चुके हैं ।

धूमपान के सयम्क् योग के लक्षण

भवति चात्र—

हृत्कण्ठेन्द्रियसंशुद्धिः शिरसो लाघवं शमः ।
यथेरितानां रोगाणां सम्यक्पीतस्य लक्षणम् ॥ १७ ॥
शमनो वातकफयोः संसर्गे स्वस्थकर्मणि ।
बृंहणो मारुते शस्तो धूमः संशोधनः कफे ॥ १८ ॥
इति धूमपानविधिर्नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

धूमपान का सम्यक् योग होने पर हृदय, कण्ठ एवं इन्द्रियों की शुद्धि हो जाती है, शिर में लघुता उत्पन्न हो जाती है तथा रोग का शमन हो जाता है । वात-कफजन्य रोगों में तथा स्वस्थ व्यक्ति में शमन धूम (प्रायोगिक धूम), वातजन्य रोगों में बृंहण धूम (स्नेहन या मृदु धूम) तथा कफ जन्य रोगों में संशोधन धूम (तीक्ष्ण या विरेचन धूम) का प्रयोग किया जाता है ।

इस प्रकार 'धूमपान-विधि' नामक त्रिंश अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में स्थान, रोग, काल एवं प्रकृति के अनुसार शमन, बृंहण एवं शोधन विधि से तीन प्रकार और कासघ्न, वामक तथा व्रणधूप भेद से पुनः तीन प्रकार धूमपान के बतलाए गये हैं। आजकल लोक-व्यवहार में मादक द्रव्यों का धूम नशा हेतु बीड़ी, सिगरेट, हिरोइन एवं तम्बाकू आदि के रूप मे प्रचुरता से प्रयोग किया जा रहा है, जो इससे बिल्कुल भिन्न एवं व्याधिकारक होता है, क्योंकि तम्बाकू में निकोटिन विष तथा हिरोइन में अहिफेन होता है।

यह धूमपान विशिष्ट औषधियों से निर्मित एक धूमनली द्वारा सेवन किया जाता है। इसका प्रयोग ऊर्ध्वजत्रुगत कफ-वातजन्य रोगों की अनुत्पत्ति एवं उनकी शान्ति के लिए किया जाता है। स्वस्थवृत्त के सन्दर्भ में प्रतिदिन धूमपान के सेवन करने का निर्देश मिलता है। यहाँ धूम के योग्यायोग्य रोग एवं रोगी, धूमनेत्र, धूमवर्ति की निर्माण-विधि, धूमपान के सम्यक् लक्षण एवं उसके अयोग तथा अतियोग का वर्णन है। धूमपान हेतु कुछ विशिष्ट काल जैसे—स्नान, भोजन, सोकर उठने, दन्त-धावन आदि के पश्चात् बतलाया गया है। इस समय वात एवं कफ का उत्क्लेश होता है, जिसका शमन धूमपान से होता है।

एकत्रिंशोऽध्यायः

अथातो गण्डूषादिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'गण्डूषादि विधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

'गण्डूषो मुखापूरः'। (पदार्थचन्द्रिका-टीका) अर्थात् गण्डूष का अर्थ अच्छी प्रकार जल आदि से मुख को भरना होता है। आदि शब्द से गण्डूष, कवल, प्रतिसारण, मुखालेप, मूर्धतैल एवं कर्णपूरण ग्रहण करते हैं।

गण्डूष के भेद

चतुर्विधो भवति गण्डूषः। स्नेहिकः शमनः शोधनो रोपणश्च। तेषामाद्यास्त्रयः क्रमेण वातपित्तकफामयघ्नाः। रोपणस्त्वास्यव्रणघ्नः, शमनः स्तम्भनः प्रसादनो निर्वापण इति पर्यायाः ॥ ३ ॥

गण्डूष चार प्रकार का होता है–(१) स्नैहिक गण्डूष, (२) शमन गण्डूष, (३) शोधन गण्डूष एवं (४) रोपण गण्डूष। इनमें से स्नेहन गण्डूष, शमन गण्डूष तथा शोधन गण्डूष ये तीन क्रमशः वात, पित्त एवं कफजन्य विकारों का नाश करते हैं। रोपण गण्डूष मुख के व्रणों को दूर करता है। शमन गण्डूष को ही स्तम्भन गण्डूष और प्रसादन गण्डूष भी कहा जाता है।

ऊपर गण्डूष के प्रकार तथा उनसे होने वाले लाभों को बतलाया गया है। चरकसंहिता में स्नेह गण्डूष के प्रयोग से होने वाले लाभों को बतलाते हुए कहा गया है कि—तैलगण्डूष का प्रयोग करने से हनु (Mandible) में बल की वृद्धि, स्वर में तीव्रता तथा बदन में मांस-वृद्धि होती है। जिह्वा स्वच्छ रहती है, फलस्वरूप रसों का उत्तम ज्ञान होता है तथा अन्न के प्रति रुचि भी उत्पन्न होती है। मुख तथा कण्ठ कभी शुष्क नहीं होते, ओष्ठ नहीं फटते, दाँत दृढ़ होते हैं, दंत-हर्ष नहीं होता। तात्पर्य यह है कि गण्डूष का धारण करने से मुख के समस्त अवयव शुद्ध हो जाते हैं, इनकी रक्षा होती है तथा इनके बल में वृद्धि होती है। इस प्रकार गण्डूष का मुख के स्वास्थ्य (Oral Hygiene) में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।

गण्डूष में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य

तत्र स्वाद्वम्ललवणोष्णैरौषधैः सिद्धो युक्तो वा नात्युष्णः स्नेहो मांसरसतिलकल्कोदकं क्षीरं वा स्नैहिकः। तिक्तकषायमधुरशीतैः पटोलारिष्टजम्ब्वाम्रमालतीपल्लवोत्पलमधुककाथसितोदकक्षौद्रक्षीरेक्षुरसघृतादिभिः शमनः। कट्वम्ललवणोष्णैः शिरोविरेचनद्रव्यैः शुक्तमद्यधान्याम्लमूत्रान्यतमकल्कितालोडितैः शोधनः। रोपणस्तु कषायमधुरशीतैर्यथास्वं चोपदिष्टैः ॥ ४ ॥

मधुर, अम्ल, लवण रसों वाली तथा उष्ण गुण वाली औषधियों से सिद्ध स्नेह अथवा इन्हीं द्रव्यों से युक्त स्नेह अथवा केवल स्नेह या मांसरस या तिलकल्क या जल या दूध से जो गण्डूष किया जाता है, उसे स्नेहिक गण्डूष कहते हैं।

तिक्त, कषाय, मधुर रसों तथा शीत गुण वाली औषधियों जैसे पटोल (परवल *Trichosanthes cucumerina* Linn.), अरिष्ट (निंब *Azadirachta indica* A. Juss.), जम्बु (जामुन *Syzygium cumuni* Linn.), आम्र (आम *Mangifera indica* Linn.), मालती (*Jasmine grandiflorum*) के पत्र तथा उत्पल (कमल *Nymphaea stellata*) एवं मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra*) के क्वाथ, सितोदक (चीनी का शर्बत), क्षौद्र (मधु), क्षीर (दूध), इक्षुरस, घृत आदि से जो गण्डूष किया जाता है, उसे शमन गण्डूष कहते हैं ।

कटु, अम्ल, लवणरस तथा उष्ण गुण वाली औषधियों, शिरोविरेचन गण की औषधियों, शुक्त (सिरका), मद्य, धान्याम्ल (काँजी) तथा गोमूत्र अथवा उपर्युक्त द्रव्यों का कल्क बनाकर उससे सिरका या जल में घोलकर—इनसे जो गण्डूष किया जाता है, उसे रोपण गण्डूष कहते हैं ।

पहले भी कहा जा चुका है कि स्नैहिक गण्डूष वातजन्य रोगों का शमन करता है । इसमें प्रयुक्त औषधियाँ वातशामक रस एवं गुण आदि से युक्त होती हैं । इसी प्रकार शमन एवं रोपण गण्डूष के द्रव्य भी क्रमशः पित्त तथा कफ के विपरीत गुणों वाले (अर्थात् पित्त एवं कफ का शमन करने वाले) होते हैं ।

रोगानुसार गण्डूष धारण

अपि च—

दन्तहर्षे दन्तचाले मुखरोगे च वातिके ।
सुखोष्णमथवा शीतं तिलकल्कोदकं हितम् ॥ ५ ॥
गण्डूषधारणे नित्यं तैलं मांसरसोऽथवा ।
ऊषादाहान्विते पाके क्षते चागन्तुसम्भवे ॥ ६ ॥
विषे क्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा ।
वैशद्यं जनयत्यास्ये सन्दधाति मुखव्रणान् ॥ ७ ॥
दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगण्डूषधारणम् ।
धान्याम्लमास्यवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥ ७ ॥
तदेवालवणं शीतं मुखशोषहरं परम् ।
आशु क्षीराम्बुगण्डूषो भिनत्ति श्लेष्मणश्चयम् ॥ ९ ॥

और भी—

दन्तहर्ष (दाँत में सिहरन), दन्तचाल (दाँतों का हिलना) और वातिक मुखरोगों में तिल (*Sesamum indicum*) के कल्क को शीतल अथवा हलके उष्ण जल में मिलाकर गण्डूष धारण करना या नित्य तैल एवं मांसरस का गण्डूष धारण करना हितकारी होता है । मुख में ऊषा (क्षारदग्ध के समान पीड़ा), दाह, पाक, आगन्तुज क्षत होने पर एवं विष, क्षार या अग्नि से दग्ध होने पर घी अथवा दूध का गण्डूष मुख में धारण करना उत्तम होता है । इससे मुख में विशदता (पिच्छिलता का नाश अथवा स्वच्छता) आती है तथा मुख के व्रणों का संधान (Healing) होता है । शहद का गण्डूष धारण करने पर दाह तथा तृष्णा का शमन होता है । धान्याम्ल (काँजी) का गण्डूष धारण करने से मुखवैरस्य (मुख की विरसता), मुख के मल तथा मुख की दुर्गन्ध का नाश होता है । बिना लवण के संयोग से निर्मित कांजी का गण्डूष धारण करना शीतल तथा मुखशोषनाशक होता है । क्षारयुक्त जल का गण्डूष धारण करने से मुख में संचित हुए श्लेष्मा का शीघ्र नाश होता है ।

गण्डूष एवं कवल

अथ निवाते सातपे सुखोपविष्टस्तन्मनाः स्विन्नमृदितगलकपोललललाटदेशो वरमध्यावरां क्रमाद्वक्त्रार्द्धत्रिभागचतुर्भागपूरणीं द्रवमात्रां कल्कं वा कोलप्रमाणं किञ्चिदुन्नमितास्योऽनभ्यवहरन्धारयेत्। कवले तु पर्यायेण कपोलौ कण्ठं च सञ्चारयेत्। अयमेव च कवलगण्डूषयोर्विशेषः ॥ १० ॥

मुखे सञ्चर्यते या तु सा मात्रा कवलः स्मृतः।
असञ्चारा तु या मात्रा स गण्डूषः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

इसके पश्चात् जिस व्यक्ति को गण्डूष कराना हो, वह वायु रहित स्थान में एवं धूप में एकाग्रचित्त होकर सुखपूर्वक बैठ जाय तथा पहले गला, कपोल एवं ललाट का स्वेदन तथा मर्दन कर ले। तत्पश्चात् गण्डूष को मुख में धारण करे। गण्डूष की मात्रा तीन प्रकार की कही गयी है। गण्डूष की जो मात्रा मुख में आधी भरी जाये, वह उत्तम मात्रा है; जो एक तिहाई भरी जाये, वह मध्यम मात्रा है और जो एक चौथाई भरी जाये वह हीन मात्रा होती है। उपर्युक्त वर्णित द्रव गण्डूष के लिए है। यदि कल्क का गण्डूष धारण करना हो, तो एक कोल (छः ग्राम) की मात्रा में लेना चाहिए। द्रव गण्डूष का धारण करते समय मुख को थोड़ा ऊपर ही उठाए रखना चाहिए तथा द्रव औषधि को गले से नीचे नहीं उतारना चाहिए। कवल का प्रयोग करते समय औषधि को मुख में एक ओर से दूसरी ओर तथा गले में घुमाना चाहिए। कवल एवं गण्डूष में यही अन्तर है।

औषधि की जो मात्रा मुख में रखकर इधर से उधर घुमाई जा सके, वह कवल होता है। औषधि की जो मात्रा केवल मुख में रखी जाय तथा इधर से उधर न घुमाई जा सके, वह गण्डूष होता है।

ऊपर कवल एवं गण्डूष के जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे हो लक्षण सुश्रुत ने भी चिकित्सा स्थान के चालीसवें अध्याय में कहे हैं।

गण्डूष का सम्यग्योग, अयोग एवं अतियोग

पुनश्चास्य स्वेदमर्दनान्याचरेत्। एवमुत्क्लिष्टः कफो वक्त्रं प्रतिपद्यते। तावच्च धार्यो यावत्कफपूर्णकपोलता स्रवद्घ्राणनेत्रता भेषजस्य वाऽनुपहतिः कफेन। एवं त्रीन्पञ्च सप्त वा गण्डूषान्धारयेत्। यावद्वा सम्यग्धूमपीतलिङ्गोत्पत्तिः। तस्य स्वास्थ्येन योगं जाड्यरसाज्ञानारुचिप्रसेकोपलेपैरयोगं, मुखशोषपाकक्लमारुचिहृदयद्रवस्वरसादकर्णनादैरतियोगमुपलक्षयेत्। तेषां यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥ १२ ॥

इनका (कवल एवं गण्डूष का) धारण कर लेने के पश्चात् पुनः उपर्युक्त अंगों (कपोल, ललाट एवं गला) का स्वेदन तथा मर्दन करें। इसके फलस्वरूप उत्क्लिष्ट हुआ कफ मुख में चला आता है। गण्डूष अथवा कवल को उस समय तक मुख में रखना चाहिए, जब तक कि कपोल (या मुख) कफ से परिपूर्ण न हो जायें तथा नासा एवं नेत्र से स्राव न होने लगे एवं मलीभूत कफ के द्वारा औषधि के गुण नष्ट न कर दिये जायें। इसी प्रकार तीन, पाँच या सात बार गण्डूष का प्रयोग करें अथवा धूमपान के सम्यक् योग के जो लक्षण होते हैं, वे ही लक्षण जब रोगी के शरीर में लक्षित होने लगें, तब तक बार-बार गण्डूष धारण करते रहें। रोग की शान्ति होकर स्वास्थ्य की प्राप्ति हो जाना गण्डूष का सम्यक् योग समझना चाहिए। गण्डूष का अयोग होने पर जड़ता, रसों का अज्ञान (जिह्वा द्वारा रसों की प्रतीति न होना), अरुचि, प्रसेक (लालास्राव) तथा

उपलेप (मुख में लेप किया हुआ-सा प्रतीत होना) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका अतियोग होने पर मुखशोष, मुखपाक, क्लम, अरुचि, हृद्द्रव, स्वरसाद, कर्णनाद आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनकी यथायोग्य औषधियों-द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

प्रतिसारण

[1]प्रतिसारणं तु त्रिविधं गण्डूषोदितानां द्रव्याणां रसक्रिया कल्कश्चूर्णश्च। तदभिष्यन्दाधिमन्थगलशुण्डिकादिषु युक्त्या प्रयोज्यम्। अतिप्रसारणादूषाशोषदाहक्लेदशोफादयो भवन्ति ॥ १३ ॥

प्रतिसारण तीन प्रकार का होता है—१. रसक्रिया, २. कल्क एवं ३. चूर्ण। जिन द्रव्यों से गण्डूष बनाया जाता है, उन्हीं द्रव्यों से प्रतिसारणार्थ रसक्रिया, कल्क एवं चूर्णों का भी निर्माण किया जाता है। अभिष्यन्द, अधिमन्थ तथा गलशुण्डिका आदि रोगों में रोग एवं रोगी का विचार करके युक्तिपूर्वक प्रतिसारण का प्रयोग किया जाता है। अत्यधिक प्रतिसारण करने से उषा (मुख में दाह), शोष, दाह, क्लेद, शोफ आदि रोग होते हैं।

औषधि को अँगुलियों से मुख की भीतरी सतह पर मलने को प्रतिसारण कहते हैं। सुश्रुत ने प्रतिसारण के चार प्रकार बताये हैं—१. कल्क, २. रसक्रिया, ३. क्षौद्र (मधु) एवं ४. चूर्ण। वाग्भट की तरह शार्ङ्गधर ने भी उपर्युक्त तीन ही प्रकार के प्रतिसारण बतलाये हैं। महर्षि सुश्रुत ने मात्र मधु को भी प्रतिसारण का एक पूर्ण प्रकार मान लिया है। व्यवहार में भी देखा गया है कि बहुत से मुखरोगों में मात्र मधु का प्रतिसारण करना अत्यन्त लाभदायक होता है। इसके सम्यग्योग, हीनयोग तथा अतियोग को कवल की ही भाँति समझना चाहिए, ऐसा सुश्रुतसंहिता में वर्णन है।

मुखालेप

मुखालेपोऽपि त्रिविधो दोषघ्नो विषघ्नो वर्ण्यश्च। त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्द्धाङ्गुलोत्सेधः। न चालिप्तमुखोऽतिभाष्यहास्यक्रोधशोकरोदनस्वेदनाग्न्यातपदिवास्वप्नान्सेवेत। कण्डूत्वक्शोषपीनसदृष्टचुपघातभयात्। न च शुष्यन्नुपेक्षितव्यः। शुष्को हि छविं दूषयति। तमार्द्रयित्वाऽपनयेत्। आलेपान्ते च मुखमभ्यज्यात् ॥ १४ ॥

मुख का लेप भी तीन प्रकार का होता है—१. दोषघ्न, २. विषघ्न तथा ३. वर्ण्य मुखालेप। यह मुखालेप प्रमाण (मोटाई) में तीन तरह का होता है—(१) रोगी की अंगुली की चौथाई मोटाई वाला, (२) अंगुली की तिहाई मोटाई वाला तथा (३) अंगुली की आधी मोटाई वाला। मुख पर आलेप करने के पश्चात् अधिक बोलना, हँसना, क्रोध करना, शोक करना, रोना, स्वेदन, अग्नि का ताप लेना, धूप का सेवन करना, दिन में सोना आदि क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए। अन्यथा कण्डू, त्वक्शोष, पीनस, दृष्टि-उपघात (दृष्टि का नाश) आदि होने का भय रहता है। मुख पर किया गया आलेप जब सूख जाये, तो वैसे ही नहीं छोड़ देना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से मुख

---

१. (क) प्रतिसारणम्—अङ्गुल्याघर्षणम्। (आयुर्वेदरसायन-व्याख्या)
(ख) दन्तजिह्वा मुखानां य चूर्णकल्कावलेहकैः।
शनैर्घर्षणमङ्गुल्या, तद्युक्तं प्रतिसारणम्' ॥ (भावप्रकाश-पञ्चकर्मप्रकरण)

२. 'श्लोषदाहक्लेदशोषादयो' इति पाठान्तरम्।

३. 'खादनाग्न्यातप' इति पाठान्तरम्।

की छवि दूषित (विकृत) हो जाती है। सूख जाने पर आलेप को पुनः जल से आर्द्र करके उतार लेना चाहिए। तत्पश्चात् मुख पर अभ्यंग (तैल-मर्दन) करना चाहिए।

मुखालेप का निषेध

न तु योज्यो रात्रिजागरिताजीर्णदत्तनस्यारुचिहनुग्रहप्रतिश्यायिनाम्। सम्यक्-प्रयुक्तश्चाकालवलीपलिततिमिरव्यङ्गतिलकादीन्प्रशमयति। स्वस्थस्य तु दृष्टिबलं पुण्ड-रीककान्तवक्त्रतां च करोति ॥ १५ ॥

जिसने रात्रि-जागरण किया हो, जिसे अजीर्ण हो, जिसे नस्य औषधि दी गई हो, जिसे अरुचि, हनुग्रह एवं प्रतिश्याय आदि रोग हुए हों, उसे मुखालेप का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। यथोक्त विधि से प्रयोग किया गया मुखालेप अकाल वली (असमय में चेहरे पर झुरियाँ पड़ जाना), पलित (बालों का पक जाना), तिमिररोग, व्यंग, तिलक आदि रोगों को नष्ट करता है। स्वस्थ व्यक्ति में मुखालेप का प्रयोग करने से दृष्टि बढ़ती है तथा मुख की कान्ति कमल सदृश हो जाती है।

मुख पर सब ओर लेप करने को मुखालेप कहते हैं। इसके तीन प्रकार बतलाये गये हैं। दोषघ्न एवं विषघ्न मुखालेपों की ही तरह आज के युग में एण्टीसेप्टिक क्रीम (Antiseptic Cream) आदि चेहरे के लिए प्रचलित हैं। वर्ण्य कार्य हेतु तो तमाम वैनिशिंग क्रीम (Vanishing Cream) तथा कोल्ड क्रीम (Cold Cream) आदि बहुतायत से प्रचलित हैं। मुख को कांति की रक्षा के लिए तथा मुहासों, तरह-तरह के निशानों एवं फुंसियों को दूर कर त्वचा को कांतियुक्त बनाने के के लिए आज से ही नहीं, अपितु प्राचीनकाल से प्रयास होते चले आ रहे हैं। आचार्यों ने इस सम्बन्ध में अनेक मुखालेपों का वर्णन किया है।

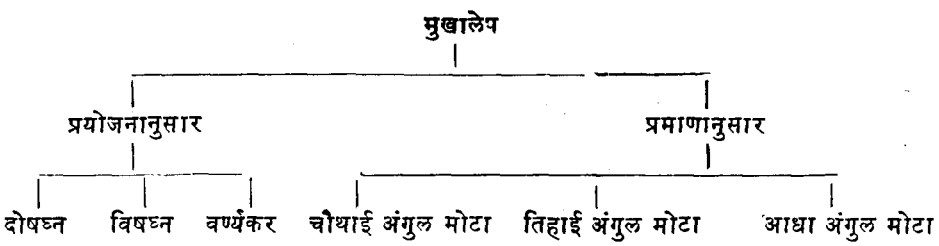

मूर्धतैल एवं उसके प्रकार

मूर्धतैलं पुनश्चतुर्धा भिद्यते। अभ्यङ्गः परिषेकः पिचुर्बस्तिरिति। यथोत्तरं ते बलिनः। तेष्वभ्यङ्गादय प्रसिद्धस्वरूपाः ॥ १६ ॥

शिर पर लगाने वाला तैल (मूर्धतैल) चार प्रकार का होता है—१. अभ्यंग, २. परिषेक, ३. पिचु तथा ४. शिरोबस्ति। अभ्यंग से परिषेक, परिषेक से पिचु तथा पिचु से शिरोबस्ति अधिक बलवान् होती है। मूर्धतैल के अभ्यंग आदि के रूप में इन चारों प्रकार के प्रयोग तो प्रसिद्ध ही हैं।

शिर पर तैल के प्रयोग करने को मूर्धतैल कहते हैं। इसको प्रयोग करने की चार विधियाँ होती हैं। प्रत्येक विधि का प्रयोग भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में किया जाता है। इनका वर्णन आगे किया जायेगा।

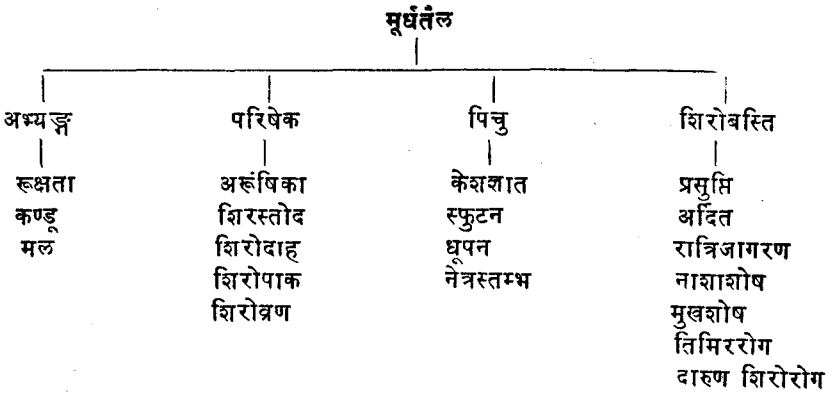

शिरोबस्ति विधि

शिरोबस्तिविधिस्तु बस्तिं सुमृदितं द्विमुखं शिरःप्रमाणमाकर्णप्रदेशं[1] द्वादशाङ्गुलविस्तारं कुर्यात्। अथ शुद्धतनोः सायं रात्रौ वा स्वभ्यक्तस्विन्नस्य जानुसमसोपाश्रयासनोपविष्टस्य केशान्ते श्लक्ष्णं द्व्यङ्गुलं सुसूक्ष्मेण माषपिष्टेन सद्यःसुखाम्बुमृदितेनोभयतः प्रदिग्धं वस्त्रपट्टं बध्नीयात्। ततस्तस्योपरि सन्धाय बस्तिमाकर्णं बस्तिमूलं च दृढमवलोकं समं चैलवेणिकया बध्वा पुनर्माषपिष्टेनापरिस्रावि कृत्वा यथाव्याधिदोषदूष्यहितं सिद्धमन्यतमं स्नेहं [2]सुखोष्णमासेचयेद्यावत्केशभूमेरुपर्यङ्गुलम्। तावच्च धार्यो यावत्कर्णमुखनासास्रुतिर्वेदनोपशमो वा भवति। विशेषतो वातजेषु विकारेषु दश मात्रासहस्राणि पित्तरक्तजेष्वष्टौ। षट् कफजेषु। सहस्रमरोगकर्मणि। ततोऽपनीते स्नेहे विमुच्य बस्तिं शिरसः स्कन्धग्रीवापृष्ठललाटादीन्यनुसुखं मर्दयेत्। उष्णाम्बुना स्नातं च यथार्हं भोजयेत्। स्नेहोक्तं चास्याचारमादिशेत्। एवं त्रीणि पञ्च सप्त वा दिनानि योजयेदिति ॥ १७ ॥

शिरोबस्ति हेतु प्रयुक्त होने वाले बस्तिपुट के निर्माण के लिए सम्यक् प्रकार से मर्दन करके कोमल बनाये गये चमड़े से दो मुखों वाली बस्ति (पुट) बनायें। इसकी परिधि शिर की परिधि के अनुसार ही हो तथा इसकी ऊँचाई बारह अंगुल हो एवं पहनने पर यह कानों तक पहुँच सके, ऐसा बनाना चाहिए। सर्वप्रथम वमन एवं विरेचन आदि से शरीर का सम्यक् रूप से शोधन करके सायंकाल अथवा रात्रि में भलीभाँति अभ्यंग तथा स्वेदन करें। तत्पश्चात् रोगी व्यक्ति को गद्देदार आसन पर बैठायें। फिर एक ऐसे बारीक वस्त्र को जिसके दोनों ओर उड़द के आटे का लेप किया गया हो, इसे शिर पर केश के अन्त में दो अंगुल तक लपेट देना चाहिए। फिर इस बाँधे हुए कपड़े के ऊपर बनाई गई चमड़े की बस्ति रख लें तथा वस्त्र से बनी रस्सी से कस दें। बस्ति सलवटों से रहित तथा सम होनी चाहिए। तत्पश्चात् इस बस्तिपुट के बाहर भी उड़द (*Phaseolus radiatus*) के बारीक पिसे आटे से लेप कर दें, जिससे बस्तिपुट में प्रयुक्त किया जाने वाला तैल स्रवित न हो। तत्पश्चात् शिर के ऊपर बँधी इसी बस्ति में दोष एवं दूष्य आदि का सम्यक् विचार करके उपयुक्त औषधियों से सिद्ध किये गये सुखोष्ण तैल को इतना भर दें कि वह केशभूमि (शिर) के एक अंगुल ऊपर तक भर जाय। जब तक कान, मुख तथा नासिका से स्राव न होने लगे तथा वेदना

१. 'प्रवेशं' इति पाठान्तरम्। २. 'सुसुखोष्ण' इति पाठान्तरम्।

की शान्ति न हो जाय, तब तक शिरोबस्ति को धारण किये रखना चाहिए। इस शिरोबस्ति को वातव्याधि से पीड़ित रोगी को दस हजार मात्राकाल (दस हजार गिनने तक), पित्त तथा रक्त व्याधियों से पीड़ित रोगी को आठ सहस्र मात्राकाल तक तथा कफजन्य व्याधियों से पीड़ित रोगी को छः हजार मात्राकाल तक धारण करना चाहिए। फिर धारण किये गये इस स्नेह को शिर से हटाकर बस्ति को निकाल दें। फिर सिर, स्कन्ध (कन्धा), गला, पीठ तथा ललाट का धीरे-धीरे मर्दन करना चाहिए और उष्ण जल से रोगी को नहलाकर उचित भोजन कराना चाहिए। तत्पश्चात् स्नेहविधि अध्याय में निर्दिष्ट अन्य आचारों का यथोक्त विधि से पालन कराना चाहिए। उपर्युक्त विधि से तीन, पाँच या सात दिनों तक शिरोबस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

यह शिरोबस्ति नेत्रविकार जन्य शिरःशूल तथा शिर की अन्यान्य दारुण व्याधियों को नष्ट करने का एक सशक्त उपाय है। इस हेतु शार्ङ्गधर ने भी बारह अंगुल लम्बी (ऊँची) ही चर्म की पट्टी बनाने का निर्देश किया है। परन्तु सुश्रुत ने शिरोबस्ति में चर्मपट्ट के कोष के स्थान पर बस्ति (Bladder) का ही प्रयोग करने का निर्देश दिया है।

अभ्यङ्गादि प्रयोग

भवति चात्र—

तत्राभ्यङ्गः प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकण्डूमलादिषु।
अरूंषिकाशिरस्तोददाहपाकव्रणेषु च ॥ १८ ॥
परिषेकः पिचुः केशशातस्फुटनधूमने।
नेत्रस्तम्भे च बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दितजागरे।
नासास्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे ॥ १९ ॥
कचशतनसितत्वपिञ्जरत्वं परिफुटनं[1] शिरसः समीररोगान्।
जयति जनयतीन्द्रियप्रसादं स्वरहनुमूर्धबलं च मूर्धतैलम् ॥ २० ॥

कहा भी है—रूक्षता, कण्डू एवं मल आदि से शिर के पीड़ित होने पर अभ्यंग का प्रयोग करना चाहिए। परिषेक का प्रयोग अरूंषिका, शिरस्तोद (शिर में सुई चुभने जैसी पीड़ा), शिरोदाह, शिरोपाक तथा शिरोव्रण में करना चाहिए। पिचु का प्रयोग केशशात (केश का झड़ना), स्फुटन (शिर की त्वचा का फटना), धूपन (शिर से धुँआ निकलने की प्रतीति) और नेत्रस्तम्भ आदि रोगों में करना चाहिए। शिरोबस्ति का प्रयोग प्रसुप्ति, अर्दित, रात्रि-जागरण, नासाशोष, मुखशोष, तिमिररोग तथा दारुण शिरोरोगों में करना चाहिए।

मूर्धतैल का प्रयोग करने से बालों का झड़ना (कचशतन), बालों का सफेद या धूसरवर्ण का होना, शिर की त्वचा का फटना तथा वातिक शिरोरोग आदि नष्ट हो जाते हैं और इन्द्रियों में प्रसन्नता, स्वर, हनु एवं मूर्धा में बलवृद्धि होती है।

कर्णपूरण

धारयेत्पूरणं कर्णे कर्णमूलं विमर्दयन्।
रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदने ॥ २१ ॥

रोगी को एक करवट में लिटाकर उसके दूसरी तरफ के कान को तैल से पूर्णरूप से भर दें। तत्पश्चात् कान के मूल में मर्दन करें। ऐसा तब तक करें, जब तक पीड़ा शान्त न हो जाये।

१. 'परिपुटनं' इति पाठान्तरम्।

यदि स्वस्थ व्यक्ति को कर्णपूरण कराना हो, तो कान में तैल भर कर सौ तक की गिनती गिनने की अवधि तक उसे धारण करना चाहिए ।

कर्णपूरण की ही तरह आजकल के युग में विभिन्न प्रकार के इयर ड्राप्स (Ear Drops) का उपयोग होता है; अन्तर यह है कि कान को उनसे पूरा नहीं भरा जाता । कान के मूल में मर्दन करने का अभिप्राय यह है कि तैल (औषधि) कर्ण के भीतरी भागों तक सम्यक् प्रकार से पहुँच जाय ।

मात्राकाल

यावत् पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम् ।
निमेषोन्मेषकालेन समं मात्रा तु सा स्मृता ।। २२ ।।

इति गण्डूषादिविधिर्नामैकत्रिंशोऽध्यायः ।। ३१ ।।

दाहिने हाथ के अग्रभाग को जानु (घुटने) के चारों ओर मण्डलाकार घुमाने में जितना समय लगता है अथवा नेत्र के एक निमेष एवं एक उन्मेष (एक बार नेत्र बन्द करना तथा खोलना) में जितना समय लगता है, उसे एक मात्रा कहते हैं ।

इस प्रकार गण्डूषादि विधि नामक एकत्रिंश अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में गण्डूष, कवल, प्रतिसारण, मुखालेप, मूर्धतैल एवं कर्णपूरण का विस्तृत उल्लेख मिलता है । उर्ध्वजत्रुगत विकार, मुख का स्वास्थ्य (Oral Hygiene) एवं मुखाकृति के सौन्दर्य-प्रसाधन हेतु इन विविध उपायों की पृथक्-पृथक् उपयोगिता है ।

द्वात्रिंशोऽध्यायः

अथात आश्च्योतनाञ्जनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'आश्च्योतनाञ्जनविधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षि ने कहा है।

नेत्र रोगों की सामान्य चिकित्सा हेतु कुछ स्थानिक उपचारों का वर्णन सुश्रुतसंहिता में किया गया है, यथा—'तर्पणं पुटपाकश्च सेक आश्च्योतनाञ्जने। तत्र तत्रोपदिष्टानि तेषां व्याससं निबोध मे' ॥ (सु. उ. १८) अर्थात् विभिन्न स्थानों पर तर्पण, पुटपाक, सेक, आश्च्योतन, अंजन आदि का जो वर्णन है, उसको मुझसे विस्तार में सुनो। आश्च्योतन-क्रिया में द्रवौषधि को रोगी व्यक्ति के नेत्र में बिंदु-बिंदु करके टपकाया जाता है। इसके सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'यथा दोषोपयुक्तं तु नातिप्रबलमोजसा। रोगमाश्च्योतनं हन्ति सेकस्तु बलवत्तरम्' ॥ अर्थात् दोषानुसार प्रयुक्त आश्च्योतन थोड़े रोग को अपनी शक्ति से नष्ट कर देता है तथा सेक उससे बलवान् होने के कारण बढ़े हुए रोग को अपनी शक्ति से नष्ट करता है। पुनः—'आश्च्योत्यते तत्समन्तात्सार्यते येन तदाश्च्योतनम्। आश्च्योतनञ्च तदञ्जनमिति आश्च्योतनाञ्जनम्'। (पदार्थचन्द्रिका) अर्थात् जिस क्रिया के द्वारा औषधि आँख में चारों तरफ फैला दी जाती है, इस प्रकार के अञ्जन की विधि को आश्च्योतनाञ्जन विधि कहते हैं।

आश्च्योतन एवं बिडालक

आश्च्योतनं सर्वाक्षिरोगेष्वाद्य उपक्रमः। नानाद्रव्यकल्पनया च रागाश्रुघर्षरुग्दाहतोदभेदपाकशोफकण्डूघ्नम्। अव्यक्तेष्वेवं गुणमेव पक्ष्मपरिहारेणाक्षिकोशालेपनं तच्च पुनर्बिडालकसंज्ञकम् ॥ ३ ॥

आश्च्योतन सभी नेत्ररोगों के लिए प्रथम (प्रधान) उपक्रम (चिकित्सा) है। यह आश्च्योतन अनेक द्रव्यों के संयोग से बनाया जाता है। यह नेत्रों के रोग (लालिमा), अश्रु, घर्ष (पलकों का परस्पर चिपकना), रुक् (वेदना), दाह (जलन), तोद (चुभने की पीड़ा), भेद (फटने की-सी वेदना), पाक (पकना), शोफ (सूजन) तथा कण्डू को नष्ट करता है। उपर्युक्त राग आदि के अव्यक्त होने पर पलकों को बचाकर नेत्रकोश पर जो लेप किया जाता है, वह बिडालक कहा जाता है।

आश्च्योतन विभिन्न द्रव्यों के संयोग से निर्मित होता है। नेत्ररोगों में आजकल तो आई ड्राप्स (Eye Drops) के रूप में औषधियों का सर्वाधिक प्रचलन है। नेत्र की पलकों को छोड़कर शेष भाग पर औषधियों का लेप करने से उस नेत्र की आकृति बिल्ली (बिडाल) के समान हो जाती है, अतः उसे बिडालक कहा जाता है। आश्च्योतन को नेत्ररोगों की प्रधान चिकित्सा माना गया है।

आश्च्योतन एवं बिडालक औषधियों की प्रयोग-विधि

तयोरकालो रात्रिः। कालस्तु सर्वमहर्वेदनोत्पत्तिर्वा। निवातशरणशयनस्थस्य विशोध्य नेत्रमपाङ्गे भाजनं कृत्वा वामहस्तेनोन्मील्य दक्षिणहस्तेन शुक्त्यवसक्तया पिचु-

वर्त्या दश द्वादशाष्टौ वा बिन्दून् कनीनकदेशे द्वयङ्गुलादवसेचयेत्। [1]एवमनासन्नबिन्दुपातेनाश्रिताडनाद्रागादयो जायन्ते। आश्च्योतितं च मृदुना चैलेन शोधयेत्। अन्येन चोष्णाम्बुप्लुतेन वातकफयोः स्वेदयेत्। आश्च्योतनं च तयोः कोष्णम्। सुशीतं पित्तरक्तविकारेषु। तत्तु नात्यर्थं तीक्ष्णमुष्णं शीतं वा प्रभूतमूनमपरिस्रावितं वा योजयेत्। अतितीक्ष्णमुष्णं वा दाहरागपाकदृष्टिदौर्बल्यानि करोति। अतिशीतं स्तम्भाश्रुघर्षनिस्तोदान्। अतिमात्रं कषायवर्त्मतासङ्कोचस्फुरणोन्मीलनप्रवातासहत्वघर्षान्। ऊनप्रमाणान्न रोगशान्तिः। अपरिस्रुतमश्रुघर्षवेदनाः॥ ४॥

आश्च्योचतन एवं बिडालक का प्रयोग रात्रि में नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह इसका अकाल (अप्रशस्तकाल) है। इसके प्रयोग का समय पूरा दिन अथवा जब भी नेत्र में वेदना हो, उस समय होता है। वायुरहित स्थान में रोगी को बिस्तर पर लिटाकर, नेत्र को साफ करके नेत्र के अपांग (कान की तरफ) प्रदेश में पात्र को पकड़ करके बायें हाथ से नेत्र को खोल करके दाहिने हाथ से पकड़ी हुई सीपी या फाहे की वर्ति (रुई की बत्ती) से दस, बारह या आठ बिन्दु औषधि द्रव को कनीनिका प्रदेश से दो अंगुल ऊँचाई से टपकायें। इस प्रकार नेत्र से अधिक दूरी या ऊँचाई से औषधि द्रव टपकाने पर नेत्र में ताडन (आघात) लगने के कारण राग (लालिमा) आदि उपद्रव हो सकते हैं, इसलिए आश्चोतन करने के पश्चात् कोमल वस्त्र से नेत्र को साफ कर देना चाहिए। वात-कफजनित विकार में अन्य वस्त्र को गर्म जल में डुबाकर आँख को सेकना चाहिए। वात-कफजन्य विकार में आश्च्योतन औषधि द्रव भी सहने योग्य गर्म होना चाहिए। पित्त एवं रक्तजन्य नेत्ररोगों में आश्च्योतन द्रव शीतल होना चाहिए। आश्च्योतन द्रव बहुत तीक्ष्ण, बहुत उष्ण, बहुत शीतल, अत्यधिक मात्रा में, कम मात्रा में तथा परिस्रावित (कपड़े से बिना छना हुआ) प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। अत्यधिक तीक्ष्ण तथा अत्यधिक उष्ण आश्च्योतन द्रव नेत्र में दाह, राग (लालिमा), पाक तथा दृष्टिदौर्बल्य उत्पन्न कर देता है। अतिशीतल औषधियाँ नेत्र में स्तब्धता, अश्रुस्राव, घर्ष तथा तोद उत्पन्न कर देती हैं। अत्यधिक मात्रा में प्रयुक्त आश्च्योतन औषधि कषायवर्त्मता (पलकों में रूक्षता), संकोच (पलकों का सिकुड़ना), स्फुरण (पलकों का फड़कना), उन्मीलन (पलकों का खुला रहना), प्रवात-असहत्व (वायु का सहन न होना) तथा घर्ष (पलकों का परस्पर संश्लेष) करता है। न्यून (कम) मात्रा में प्रयुक्त आश्च्योतन द्रव प्रयुक्त करने पर नेत्र में अश्रुस्राव, घर्ष तथा वेदना उत्पन्न करता है।

नेत्र पर आश्च्योतन का प्रभाव

नेत्रे च प्रणिहितमौषधं कोशसन्धिसिराशृङ्गाटकघ्राणास्यस्रोतांसि गत्वोर्ध्वं प्रवृत्तमपवर्तयति दोषम्॥ ५॥

नेत्र में डाली हुई औषधि नेत्रकोश की सन्धियों, सिराओं, शृंगाटक मर्म, नासा तथा मुख के स्रोतों में जाकर ऊपर की ओर प्रवृत्त दोष को नीचे की ओर प्रवृत्त करती है।

सुश्रुतसंहिता में आश्च्योतन के तीन भेदों का उल्लेख है—१. स्नेहन, २. लेखन तथा ३. रोपण। इनमें स्नेहन आश्च्योतन का प्रयोग वातज नेत्रविकारों में अपराह्ण में किया जाता है; लेखन आश्च्योतन का प्रयोग कफज नेत्रविकारों में पूर्वाह्ण में तथा रोपण आश्च्योतन का प्रयोग रक्त एवं पित्तजन्य विकारों में मध्याह्न में किया जाता है।

---

१. 'एवमस्य न बिन्दु' इति पाठान्तरम्।

आश्च्योतन के पश्चात् अंजन का प्रयोग

यदा चाश्च्योतनेन पित्तश्लेष्मशोणितोत्थेषु नयनामयेषु संशोधनैर्विशुद्धस्य दूषिकाघनत्वपैच्छिल्यकण्डूद्रेकश्वयथुम्लानतारागविच्छेदैः पक्वलिङ्गमुपलक्षितं भवति। तदा नेत्रमात्राश्रये व्याधावञ्जनं प्रयोज्यम्। न दोषवेगोदये। न चानिर्हृतदोषे। तत्र हि दोषोत्क्लेशेन रागादिवृद्धिः [1]शुक्रपाकतिमिरोत्पत्तिश्च ॥ ६ ॥

जब पित्त, श्लेष्मा एवं शोणित से उत्पन्न होने वाले नेत्रविकारों में आश्च्योतन से संशोधन द्वारा शुद्धि हो जाये और आँख में घनी, चिकनी दूषिका (नेत्रमल) हो, कण्डूद्रेक (खुजली की अधिकता), श्वयथुम्लानता (शोथ में कमी), रागविच्छेद (लालिमा का फटना) हो, तो दोषों का पाक हो गया है, ऐसा समझना चाहिए। इस अवस्था में आश्रित व्याधियों में अंजन का प्रयोग करना चहिए, किन्तु जब दोष का वेग बढ़ रहा हो और दोष बाहर न निकला हो, उस अवस्था में अंजन का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस अवस्था में अंजन का प्रयोग करने से दोष उत्क्लिष्ट होकर राग आदि की वृद्धि कर देता है तथा शुक्रपाक (एक प्रकार का अक्षिपाक) एवं तिमिर रोग उत्पन्न कर देता है।

ऊपर अञ्जन के प्रयोग का समय बतलाया गया है। नेत्ररोगों में दोषों का पाक हो जाने पर ही अंजन का प्रयोग करना चाहिए। दोषों की आमावस्था में अंजन का प्रयोग नहीं करना चाहिए, अन्यथा दोष प्रकुपित होकर रोग के लक्षणों में और वृद्धि कर देता है तथा अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

अञ्जन के चार भेद

तत्तु लेखनं रोपणं स्नेहनं प्रसादनमिति चतुर्विधं भवति। तत्राम्लादिभी रसैः पञ्चभिः शुक्रार्मादिषु लेखनम्। तिक्तकषायैः सस्नेहैरभिष्यन्देषु रोपणम्। सर्पादिवसादिभिर्वाततिमिरादिषु स्नेहनम्। स्वादुशीतैः सस्नेहैरभिष्यन्दान्ते सूर्योपरागाशनिविद्युत्सम्पातभूतपिशाचाद्यद्भुतदर्शनाद्युपहतायां दृष्टौ स्वस्थवृत्ते च प्रसादनम् ॥ ७ ॥

अंजन १. लेखन (दोषों को खुरच कर निकालने वाला), २. रोपण (नेत्रगत व्रण का रोपण करने वाला), ३. स्नेहन (नेत्र को स्निग्ध करने वाला) तथा ४. प्रसादन (दृष्टि को स्वच्छ करने वाला) भेद से चार प्रकार का होता है। इनमें लेखन अञ्जन मधुर रस को छोड़ करके शेष अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय रसों से बनता है। यह शुक्ररोग (Corneal Opacity) तथा अर्म (Pterigium) आदि में प्रयोग करना चाहिए। तिक्त और कषाय रसों को स्नेह के साथ मिश्रण करने से रोपण अञ्जन बनता है। यह नेत्राभिष्यन्द में प्रयुक्त होता है। सर्प आदि की वसा से स्नेहन अंजन बनता है। इसे वातजन्य नेत्ररोगों में तथा तिमिर रोग में प्रयुक्त करना चाहिए। मधुर रस, शीतल द्रव्यों एवं स्नेह के मिश्रण से प्रसादन अंजन बनता है। इसे नेत्राभिष्यन्द के ठीक होने पर, सूर्योपराग (सूर्यग्रहण), विद्युत् सम्पात् (बिजली का गिरना), भूत, पिशाच आदि अद्भुत वस्तु के दर्शन से दृष्टि का नाश हो जाने पर तथा स्वस्थवृत्त में इसका प्रयोग होता है।

नेत्ररोगों के स्थानिक उपचारों में व्यवहृत होने वाले विविध योगों में अञ्जन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। इसका प्रयोग शलाका से किया जाता है। इसके प्रयोग के सम्बन्ध में सुश्रुत

१. 'अक्षिपाक' इति पाठान्तरम्।

ने कहा है—'व्यक्तरूपेषु दोषेषु शुद्धकायस्य केवले। नेत्र एव स्थिते दोषे प्राप्तमञ्जनमाचरेत्'॥ (सु० उ० १८) अर्थात् जब दोषों के लक्षण स्पष्ट हों, पुरुष (रोगी) स्नेहपान एवं वमनादि क्रियाओं द्वारा शुद्ध (शोधित) हो, दोष किसी अन्य दोष से न मिला हो एवं नेत्र में ही स्थित हो, तो यथोचित अञ्जन का सेवन करना चाहिए। सुश्रुत ने अञ्जनों के तीन ही प्रकार बतलाए हैं—१. लेखन, २. रोपण एवं ३. प्रसादन। वाग्भटोक्त स्नेहन अञ्जन को सुश्रुत ने प्रसादन अञ्जन में ही समाविष्ट कर लिया है। कफ रोगों में पूर्वाह्ण में लेखन अञ्जन, पित्तज रोगों में सायंकाल रोपण अञ्जन तथा वातज रोगों में रात्रि में प्रसादन अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए।

प्रत्यञ्जन

प्रसादन एव च चूर्णस्तीक्ष्णाञ्जनातिसन्तप्ते चक्षुषि प्रयुज्यमानः प्रत्यञ्जनसंज्ञा लभते। षड्विधं वा प्रतिरसभेदादञ्जनम्। द्विविधमेव वा तीक्ष्णं मृदु च॥ ८॥

प्रसादन नामक अञ्जन ही जब चूर्णरूप में बनाया जाता है तथा किसी तीक्ष्ण अञ्जन के साथ तीव्र रोग से पीड़ित नेत्र में लगाया जाता है, तो वह प्रत्यंजन कहा जाता है अथवा मधुर आदि प्रत्येक रसों के अनुसार यह अञ्जन छः प्रकार का होता है। विधि-भेद से यह तीक्ष्ण एवं मृदु दो प्रकार का होता है।

अंजन की कल्पना एवं मात्रा

कल्पना तु त्रिविधा। पिण्डो रसक्रिया चूर्णश्च। यथापूर्वं ते बलिनः। तस्मात्प्रबल-मध्याबलेष्वामयेषु क्रमात्तान्प्रयोजयेत्। तत्र पिण्डो हरेणुमात्रतीक्ष्णस्य रसक्रिया विडङ्ग-मात्रा। तद्द्विगुणा मृदोः। चूर्णो द्विशलाकः। मृदोस्त्रिशलाकः॥ ९॥

अञ्जन की कल्पना तीन प्रकार की होती है—१. पिण्ड, २. रसक्रिया और ३. चूर्ण। ये तीनों अञ्जन यथापूर्व बलवान् होते हैं। इसलिए प्रबल रोगों में पिण्ड, मध्यम रोगों में रसक्रिया तथा अबल (निर्बल) रोगों में चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। इनमें तीक्ष्ण द्रव्यकृत पिण्ड अञ्जन की मात्रा हरेणु (निर्गुण्डी *Vitex negundo* Linn.) के बीच के बराबर, तीक्ष्ण द्रव्यकृत रसक्रिया नामक अंजन की मात्रा विडंग बीज (*Embelia ribes* Burm f.) के समान, मृदु द्रव्यकृत रस-क्रिया अंजन की मात्रा विडंग से दुगुनी, तीक्ष्ण द्रव्य निर्मित चूर्णाञ्जन की मात्रा दो शलाका भर और मृदु द्रव्य निर्मित चूर्णाञ्जन की मात्रा तीन शलाका भर होती है।

सुश्रुत ने भी कल्पना-भेद से—१. गुटिका, २. रसक्रिया तथा ३. चूर्ण, ये तीन प्रकार के अंजन बतलाये हैं। इनमें चूर्ण से अधिक बलवान् रसक्रिया तथा रसक्रियां से अधिक बलवान् गुटिका होती है। अतः गुटिका अंजन का प्रयोग प्रबल रोगों में, चूर्ण का प्रयोग निर्बल रोगों में तथा रस-क्रिया अंजन का प्रयोग मध्यम रोगों में किया जाता है।

अंजनपात्र एवं अञ्जनवर्ति घर्षणशिला

पात्रे नु कुर्यात्सौवर्णे मधुरम्। राजतेऽम्लम्। मेषशृङ्गमये लवणम्। कांस्ये तिक्तम्। वैदूर्यमयेऽश्ममये वा कटुकम्। ताम्रमय आयसे वा कषायम्। नलप्लक्षपद्मक-स्फटिकशङ्खान्यतमे शीतम्। एवमव्यापन्नगुणं भवति वर्तिघर्षणार्थं च शिलातिश्लक्षणा निम्नमध्यानुद्गारिणी पञ्चाङ्गुलायता त्र्यङ्गुलविस्तीर्णा॥ १०॥

अञ्जन
कर्मभेद
लेखन
रोपण
प्रसादन
स्नेहन
विधिभेद
तीक्ष्ण
मृदु
कल्पनाभेद
पिण्ड
(प्रबल रोग)
तीक्ष्ण द्रव्यकृत
एक हरेणु मात्रा
रसक्रिया
(मध्यम रोग)
चूर्ण
(अबल रोग)
तीक्ष्णद्रव्यकृत
विडंग बीज
मात्रा
मृदुद्रव्य कृत
दो विडंग बीज
मात्रा
तीक्ष्ण द्रव्यकृत
दो शलाका मात्रा
मृदुद्रव्य कृत
तीन शलाका मात्रा

मधुररस वाले अंजन को स्वर्णपात्र में, अम्लरस वाले अंजन को चाँदी के पात्र में, लवणरस वाले अंजन को (भेड़) के सींग की अंजनदानी में, तिक्तरस वाले अंजन को कांस्यपात्र में, कटुरस वाले अंजन को वैदूर्यमणि अथवा पाषाण के पात्र में तथा कषायरस वाले अंजन को ताम्र अथवा लौह के पात्र में रखना चाहिए। शीतवीर्य वाले अंजन को नल (नड़सर *Phragmites karka*), प्लक्ष (पाकड़ *Ficus tsiela*), पद्म (कमल *Nelumbo nucifera*), स्फटिक अथवा शंख की अंजनदानी में रखना चाहिए। इस प्रकार के पात्रों में रखे हुए अंजन के गुणों में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है। वर्ति नामक अंजन को घिसने के लिए कोई शिला होनी चाहिए, जो अत्यन्त श्लक्ष्ण, मध्य भाग में नीची तथा अनुद्गारिणी (घिसने पर जो घिसे नहीं) और पाँच अंगुल लम्बी तथा तीन अंगुल नीची (चौड़ी) होनी चाहिए।

किसी प्रदार्थ को रखने हेतु पात्र का भी अपना अलग महत्त्व होता है। भाजन (पात्र) के संयोग से भी औषधियों के गुणों में परिवर्तन आता है। अलग-अलग प्रकार के अंजनों हेतु अलग-अलग पात्रों का वर्णन किया गया है। वैसे काँच (शीशा) का पात्र समस्त अंजनों के लिए उपयुक्त होता है। अञ्जनों को अत्यन्त सूक्ष्म (बारीक) घिसने के पश्चात् ही नेत्रों में प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा प्रयुक्त होने पर ये विजातीय द्रव्य (Foreign Body) की तरह प्रभाव दिखलाने लगते हैं तथा नेत्रों में पीड़ा एवं लालिमा आदि उत्पन्न कर देते हैं।

अञ्जन शलाका

शलाकाः पञ्च कनकरजतताम्रलोहोद्भवा अङ्गुली च। तत्राद्ये प्रसादनेऽञ्जने स्नेहने च। मध्या लेखने। अन्त्ये रोपणे। मृदुत्वादङ्गुल्येव प्रधानम्[1]। [2]अन्तःसरुजेऽक्षिणि सैव प्रयोज्या। शेषा दशाङ्गुला राजमाषस्थूलाः। सुश्लक्ष्णास्तनुमध्या मुखयोर्मुकुलाकाराः कलायपरिमण्डलाश्च ॥ ११ ॥

अंजन लगाने के लिए शलाका के रूप में पाँच वस्तुओं का प्रयोग होता है। जैसे—१. सोना, २. रजत, ३. ताम्र, ४. लोहा एवं ५. अँगुली। इनमें स्वर्ण और रजत की शलाका का प्रसादन अंजन और स्नेह अंजन में, ताम्र की शलाका प्रयोग लेखन अंजन में तथा लोहे की शलाका एवं अँगुली का प्रयोग रोपण अंजन में करना चाहिए। मृदु होने से इन सभी में अँगुली की शलाका सबसे प्रधान हैं। नेत्रों में वेदना होने पर अँगुली शलाका का ही प्रयोग करना चाहिए। शेष सभी शलाकाएँ दस अंगुल लम्बी, राजमाष (*Dolichos sinensis*) के समान मोटी, चिकनी, मध्य में पतली और अग्रभाग में मुकुल (कली) के समान तथा कलाय (मटर *Pisum sativum*) के समान गोल होनी चाहिए।

प्रायः बच्चों के नेत्रों में अंजन हेतु अँगुली का ही प्रयोग किया जाता है, क्योंकि चंचलता के कारण हिलने-डुलने से शलाका से नेत्रों को हानि पहुँच सकती है।

अंजन लगाने का समय

अथाञ्जनं नातिशीतोष्णाभ्रवातायां वेलायामुभयकालं च योज्यम्। तथा सततं नैव वा ॥ १२ ॥

अंजन का प्रयोग अत्यन्त शीतकाल में, अत्यन्त गर्मी के समय में, अत्यधिक बादलों के रहने पर तथा अत्यधिक वायु के चलने पर नहीं करना चाहिए। अंजन का प्रयोग प्रातःकाल एवं सायं-

१. 'मृदुत्वादङ्गुल्यत्र प्रधानतमा' इति पाठान्तरम्। २. 'अतः' इति पाठान्तरम्।

काल दोनों समय करना चाहिए। इसका प्रयोग प्रारम्भ कर देने पर आगे भी सदैव करना चाहिए अन्यथा इसका प्रयोग न करें।

अञ्जन की विधि

सरुजे चाक्षिण प्राक्पश्चादितरस्मिन्। अन्यथाऽञ्जनोद्वेगसङ्कुचितेऽन्तः सम्यगोषधं नानुप्रविशेत्। तत्रैवमतिशीतादिषु यथास्वं दोषोत्क्लेशाद्विकारपरिवृद्धिः ॥ १३ ॥

जहाँ एक आँख दुखती हो तथा दूसरी स्वस्थ हो, वहाँ दुखती हुई आँख में पहले अंजन का प्रयोग करना चाहिए। तत्पश्चात् दूसरी आँख में अंजन लगायें। अन्यथा स्वस्थ आँख में अंजन का का पहले प्रयोग करने से अंजन की तीक्ष्णता के कारण दुखती आँख संकुचित हो जाने पर औषध रूप अंजन नेत्र के भीतर सम्यक प्रकार से प्रविष्ट नहीं हो पाता है। उपर्युक्त शीत आदि काल में अंजन लगाने से स्व-स्व दोषों का उत्क्लेश हो जाने के कारण रोग की वृद्धि हो जाती है।

अंजन का निषेध

न च योज्यं क्रुद्धभीतशङ्कितशोकितश्रान्ताशितमात्रविरिक्तधूममद्यपीतदत्तनस्यरात्रिजागरितवेगितरुदितपिपासितज्वरितछर्दितार्ततान्तनेत्राभिहतशिरोरुजार्तशिरःस्नातानुदितादित्येषु। एष्वञ्जनादूष्मोर्ध्वगः संरम्भाश्रुवेदनाविलत्वोषारागदूषिकानिस्तोदकृच्छ्रोन्मीलनश्वयथुशुक्रतिमिरादीन् जनयेत् ॥ १४ ॥

क्रुद्ध, भीत (भयभीत), शंकित, शोकपीड़ित, श्रान्त (थका हुआ), अशितमात्र (भोजन करने के अनन्तर), विरेचन लेने पर, धूमपान करके, मद्य पीकर, नस्य लेने पर, रात्रि में जागते रहने पर, मलमूत्र के वेग से पीड़ित होने पर, पिपासित (प्यास लगने पर), ज्वर एवं छर्दिरोग से पीड़ित होने पर, तान्त (दुर्बल) होने पर, नेत्राभिहत (नेत्र में चोट लगने पर), शिर में वेदना रहने पर, सिर धोकर स्नान करने के पश्चात् तथा सूर्योदय होने पर अंजन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस अवस्था में अंजन का प्रयोग करने से नेत्रगत ऊष्मा ऊपर की ओर जाकर संरम्भ (वेग) के साथ अश्रुस्राव, वेदना, आविलत्व (गँदलापन), ओष (बेचैनीयुक्त दाह), राग (लालिमा), दूषिका (नेत्रमल), तोद (सुई चुभने जैसी पीड़ा), कृच्छ्रोन्मीलन (कठिनाई से नेत्र का खुलना), श्वयथु (शोथ), शुक्ररोग तथा तिमिर आदि नेत्ररोगों को उत्पन्न कर देता है।

अंजन-विधान

अथ समसुखोपविष्टस्योपविष्टो वामाङ्गुष्ठेन वर्त्मोत्तरमुत्क्षिप्य कृष्णभागस्याधःकनीनकादपाङ्गं यावदञ्जनं नयेदनल्पमप्रभूतमनतितीक्ष्णमनच्छमसान्द्रमकर्कशमद्रुतमविलम्बितमतितिर्यग्दृष्ट्यकम्पितमघट्टितमनाक्रान्तं च। चूर्णे तु गतागतं कुर्यात्। अन्यथा हि रागाश्नुशुक्राद्युत्पत्तिः। ततोऽञ्जनानुगमनायानुन्मीलयन् शनैश्शनैरन्तश्चक्षुः सञ्चारयेत्। एवमप्यनुगच्छति। वर्त्मनी किञ्चिच्चालयेत्। न तु सहसोन्मेषणनिष्पीडनप्रक्षालनानि कुर्यात्। सबाष्पोत्क्लिष्टदोषस्तम्भभयात् ॥ १५ ॥

इसके पश्चात् मंगलाचरण करके समतल आसन पर सुखपूर्वक रोगी को बैठाकर चिकित्सक अपने बायें हाथ के अँगूठे से पलक को ऊपर उठाकर कृष्णभाग के नीचे कनीनिका से अपांग तक अंजन लगाये। यह अंजन न बहुत अधिक हो, न बहुत कम हो; न अत्यधिक तीक्ष्ण हो, न अत्यन्त

मृदु हो; न अधिक पतला हो और न अत्यधिक कर्कश (खुरदुरा) हो। अंजन लगाते समय न बहुत शीघ्रता करें, न बहुत विलम्ब करें। दृष्टि (नेत्रगोलक) को टेढ़ा न रखें, हाथ को न कँपायें, नेत्र के किसी अवयव पर दबाव न पड़े तथा नेत्र का कोई भाग अंजन से न बचने पाये। चूर्ण रूप अंजन को शलाका पर लगाकर नेत्र में आगे-पीछे घुमाना चाहिए। यदि अंजनों का प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जाता है, तो नेत्रों में राग, अश्रुस्राव, शुक्ररोग आदि की उत्पत्ति हो जाती है। इसके पश्चात् रोगी नेत्रों को खोले बिना नेत्रगोलक को धीरे-धीरे चलायें, जिससे अञ्जन समस्त नेत्र में व्याप्त हो जाये। इस प्रकार आँख में अञ्जन के पहुँच जाने पर पलकों को भी थोड़ा चलाना चाहिए, किन्तु अंजन लगाकर सहसा नेत्रों को खोलना, हाथों से दबाना अथवा पानी से धोना नहीं चाहिए। ऐसा करने से वाष्प या अश्रु के साथ निकलने वाले दोषों का आँखों में रुकने का भय रहता है।

अंजन के पश्चात् नेत्र-प्रक्षालन एवं शोधन

अपि च—

अपेतौषधसंरम्भं निर्वृतं नयनं यदा।
व्याधिदोषर्तुयोग्याभिरद्भिः प्रक्षालयेत्तदा ॥ १६ ॥
सचैलेनाथ नयनं सव्याङ्गुष्ठेन दक्षिणम्।
ऊर्ध्ववर्त्मनि सङ्गृह्य शनैः शोध्यं समन्ततः ॥ १७ ॥
दक्षिणाङ्गुष्ठकेनैवं शोध्यं सव्यं च लोचनम्।
वर्त्मप्राप्तोऽञ्जनाद्दोषो रोगान्कुर्यादतोऽन्यथा ॥ १८ ॥

जब औषधि का संरम्भ (वेग) शान्त हो जाय, आँख का कष्ट शान्त हो जाय, तब रोग, दोष एवं ऋतु के अनुकूल जल से नेत्रों को धोना चाहिए। इसके पश्चात् चिकित्सक बायें हाथ के अँगूठे से रोगी की दाहिनी आँख की पलक ऊपर की ओर उठाकर धीरे-धीरे कोमल कपड़े से चारों ओर से साफ करें। इसी प्रकार दाहिने हाथ के अँगूठे से बाईं आँख की पलक को ऊपर उठाकर शोधन करना चाहिए। आँख में लगे अंजन का शोधन करने पर वर्त्म में लगा अंजन रोगों को उत्पन्न कर देता है।

अंजन प्रयोग के पहले तथा पश्चात् दोनों समय नेत्र-प्रक्षालन कर लेना चाहिए। जब तक नेत्र के दोष (अश्रु एवं कीचड़ आदि) सम्यक् प्रकार से निकल न जायें, तब तक नेत्र-प्रक्षालन नहीं करना चाहिए। जब मल बाहर निकल जायें, तब शुद्ध जल से नेत्र-प्रक्षालन कर देना चाहिए, अन्यथा वहीं रुका मल पुनः दोषों का प्रत्यावर्तन (Reinfection) करके रोग को पुनः उभाड़ देता है।

अंजन के पश्चात् धूम

तीक्ष्णाञ्जनान्ते चैनं धूमं पाययेत्। यस्याञ्जिते कण्डूजाड्योपदेहाः स्युः। तस्य तीक्ष्णमञ्जनं धूमं वा पुनरेवावचारयेत्। एतदेव दुर्विरक्ताक्षिलक्षणं साधनं च। अतिविरेकात्सन्तापनिस्तोदशूलस्तम्भघर्षाश्रुदारुणप्रतिबोधकषायवर्मताशिरोरुग्दृष्टिदौर्बल्यानि। तत्र शीतमाश्च्योतनं प्रत्यञ्जनं वा। सम्यग्विरेकाद्यथास्वमामयोपशमः। सुखोन्मीलननिमीलनवातातपसहत्वानि चेति ॥ १९ ॥

भवति चात्र—

रोपणादिष्वपि तथा योगादीननुचिन्तयेत्।
दोषोदयानुसारेण प्रतिकुर्वीत तेषु च ॥ २० ॥

इत्याश्च्योतनाञ्जनविधिर्नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग करने के पश्चात् रोगी को धूमपान का सेवन कराना चाहिए। अंजन के पश्चात् यदि नेत्रों में कण्डू, जड़ता तथा उपदेह (चिपचिपाहट) उत्पन्न हो जाय, तो इस अवस्था में तीक्ष्ण अंजन अथवा धूमपान का प्रयोग करना चाहिए। उपर्युक्त कण्डू आदि लक्षण ही दुर्विरिक्त नेत्र के लक्षण हैं तथा अंजन एवं धूमपान इसकी चिकित्सा है। अंजन के अतिविरेक से संताप (दाह), तोद (चुभने जैसी प्रतीति), शूल, स्तम्भ (जड़ता), घर्ष, अश्रुस्राव, दारुण प्रतिबोध (जागरण में कष्ट), कषायवर्त्मता, शिरोवेदना तथा दृष्टिदौर्बल्य हो जाता है। इसमें शीतल आश्च्योतन अथवा प्रत्यञ्जन का प्रयोग करना चाहिए। अञ्जन का सम्यक् विरेक होने पर स्व-स्व रोगों की शान्ति हो जाती है, सुखपूर्वक नेत्र खुलते और बन्द होते हैं तथा नेत्र वात एवं आतप को सहने योग्य हो जाते हैं। कहा गया है—रोपण, स्नेहन तथा प्रसादन अञ्जनों में भी अयोग, अतियोग तथा सम्यक् योग का यथायोग्य विचार करना चाहिए तथा उनमें दोषों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

ऊपर अंजन के अयोग तथा अतियोग आदि के लक्षण कहे गये हैं। अंजन के असम्यक् प्रयोग से जो उपद्रव प्रायः होते हैं, उनकी चिकित्सा दोष-दूष्य-देशानुसार सेक, आश्च्योचन, धूम एवं कवल से करनी चाहिए—'व्यापदञ्च जयेदेतां सेकाश्च्योतनलेपनैः। यथास्वं धूमकवलैर्नस्यैश्चापि समुत्थिताः'॥ तात्पर्य यह है कि देश-काल-अवस्था आदि का ध्यान रखते हुए सिद्धि की इच्छा रखने वाले चिकित्सक को अंजन का युक्तिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार 'आश्च्योतनाञ्जनविधि' नामक द्वात्रिंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सांराश

इस अध्याय में आश्च्योतन एवं अञ्जन विधि का उल्लेख किया गया है। नेत्र-रोगों की सामान्य स्थानिक चिकित्सा में इनका प्रयोग किया जाता है। अञ्जन का प्रयोग स्वस्थवृत्त-प्रकरण में भी आया है। सौवीराञ्जन का प्रयोग नित्य तथा रसाञ्जन का प्रयोग पाँचवे अथवा आठवें दिन करना चाहिए। इससे कफदोष का शमन होता है।

त्रिंशोऽध्यायः

अथातस्तर्पणपुटपाकविधिमध्यायं[1] व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'तर्पणपुटपाक-विधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

तर्पण का शाब्दिक अर्थ होता है—तृप्त करना। अर्थात् नेत्र को उपयुक्त औषधियों से तृप्त करना। पुटपाक में भी यही विधि की जाती है, परन्तु प्रयुक्त औषधियों का पहले पुटपाक विधि से पाक करके उनका रस (पुटपक्व-स्वरस) निकाल लिया जाता है, तत्पश्चात् उनके उस स्वरस से नेत्र को तृप्त किया जाता है। शालाक्यतंत्र (विशेषतः नेत्र) की व्याधियों की ये विशेष चिकित्सा-विधियाँ हैं। सुश्रुतसंहिता (उत्तरतन्त्र) में इनका विस्तृत वर्णन मिलता है।

तर्पण एवं पुटपाक का प्रयोग

यन्नयनं परिताम्यति परिशुष्कं रूक्षं स्तब्धं जिह्मं निम्नमाविलमवनद्धं [2]जीर्णपक्ष्म तथा कृच्छ्रोन्मीलसिरोत्पातसिराहर्षार्जुन[3]शुक्रतिमिराभिष्यन्दाधिमन्थान्यतोवातवातपर्यय-शुष्काक्षिपाकाल्पशोफादिरोगातुरमपगतरागाश्रुदूषिकावेदनं तत्र तर्पणं योजयेत्। न त्वशान्तोपद्रवेऽक्षिणि नातिशीतोष्णवर्षदुर्दिने न नस्यानर्हेषु च। तद्वद् पुटपाकमपि ॥ ३ ॥

जो नेत्र रूप ग्रहण करने में असमर्थ हो अथवा उनसे अंधकार दीखता हो, जो नेत्र सब ओर सूखा हो, रूक्ष हो, स्तब्ध (निश्चल) हो, जो नेत्र जिह्म (वक्र) हो, जो नेत्र निम्न (धँसे) हो, जो नेत्र आविल (मलिन) हो, जो नेत्र अनवबद्ध (खुलते न) हो, जो नेत्र जीर्णपक्ष्म (पलकों के बाल गिरे हुए) हो तथा नेत्र खोलने में कष्ट होता हो, सिरोत्पात, सिराहर्ष, अर्जुन (एक प्रकार का नेत्ररोग), शुक्ररोग, तिमिररोग, अभिष्यन्द, अधिमन्थ, अन्यतोवात, वातपर्यय, शुष्काक्षिपाक, अल्पशोफ आदि नेत्ररोगों से पीड़ित, किन्तु राग (लालिमा), अश्रुस्राव, दूषिका (नेत्रमल) तथा वेदना से रहित नेत्र में तर्पण का प्रयोग करना चाहिए (राग, अश्रुस्राव आदि उपद्रवों में नेत्र में तर्पण का प्रयोग नहीं करना चाहिए)। जो नस्य के अयोग्य हैं, उनमें तर्पण का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार पुटपाक का भी प्रयोग एवं निषेध समझना चाहिए।

ऊपर तर्पण करने योग्य व्याधियों का वर्णन किया गया है। जो तर्पण के विषयाविषय (Indications & Contra-indications) हैं, वे ही पुटपाक के भी विषयाविषय हैं। सुश्रुत ने कहा है कि तर्पण करने से पूर्व शरीर एवं शिर का सम्यक् शोधन भी कर लेना चाहिए।

तर्पण की विधि

अथ दिवसस्याष्टमे भागे गते शेषे वा [4]निर्वातातपरजोधूमे कृतनीलपीतान्यतर-यवनिके वेश्मनि जीर्णभक्तस्य सुखशयनगतस्योत्तानस्य [5]सुमृदितमाषपिष्टकल्केन नेत्र-कोशाद्बहिर्द्वयंङ्गुलोच्छ्रायावाधारौ परिमण्डलावसम्बाधौ समावपरिस्राविणौ कृत्वा

---

१. 'विधि नामाध्यायं' इति पाठान्तरम्।
२. 'शीर्णपक्ष्मं' इति पाठान्तरम्।
३. 'शुष्क' इति पाठान्तरम्।
४. निवातातप' इति पाठान्तरम्।
५. 'मृदित' इति पाठान्तरम्।

तत्रोष्णोदकप्रविलीनं निमीलिते नेत्रे यथास्वौषधविपक्वं क्षीरं सर्पिः सर्पिर्मण्डं वाऽवसेचयेद् यावन्निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि भ्रू रोमाणि च। ततः शनैरस्योन्मेषमाचरतोः मात्रां गणयेत्। वर्त्मजेषु विकारेषु शतं सन्धिजेषु त्रीणि शुक्लजेषु पञ्च कृष्णजेषु सप्त दृष्टिजेष्वटौ सहस्रमधिमन्थेषु। प्रतिदोषं तु वाते सहस्रं पित्ते षट्शतानि कफे पञ्च स्वस्थकर्मणि च ॥

दिन का आठवाँ भाग व्यतीत हो जाने पर (प्रातःकाल) अथवा आठवाँ भाग शेष रहने पर (सायं-काल) वायु, धूप, धूल तथा धूम से रहित स्थान में नीले या पीले रंग की यवनिका (पर्दा) लगाकर, रोगी को घर में बैठाकर, भोजन के पच जाने पर सुखपूर्वक शय्या पर पीठ के बल (उत्तान.) रोगी को लिटा कर, उसके नेत्रकोषों के बाहर चारों ओर उड़द (*Phaseolus radiatus*) की पीठी द्वारा दो अंगुल ऊँचा परिमण्डल (गोला) बनायें। यह परिमण्डल ऐसा नहीं होना चाहिए, जिससे तर्पण द्रव बाहर बहने लगे। इस मण्डल में आँखों को बन्द करके रोगानुसार औषधि से पक्व हुए दुग्ध, घृत या घृतमण्ड को भर देना चाहिए। दुग्ध आदि पदार्थ नेत्रमण्डल में डालने से पूर्व उष्ण जल में रखकर गर्म कर लेना चाहिए। इन मण्डलों में औषध द्रव इतना डालें कि नेत्रपक्ष्म तथा भ्रू के रोम औषधि में डूब जायें। इसके पश्चात् धीरे-धीरे आँख को खोलते और बन्द करते हुए इसकी मात्रा की गणना करें। वर्त्मजन्य रोगों में एक सौ मात्रा, संधिगत रोगों में तीन सौ मात्रा, शुक्लभाग के रोगों में पाँच सौ मात्रा, कृष्णमंडल के रोगों में सात सौ मात्रा, दृष्टिमण्डल के रोगों में आठ सौ मात्रा तथा अधिमंथ में एक हजार मात्रा होती है। प्रत्येक दोषानुसार वायु में एक हजार मात्रा, पित्त में छः सौ मात्रा, कफज रोगों में एवं स्वस्थ नेत्र में पाँच सौ मात्रा पर्यन्त तर्पण का धारण करना चाहिए।

ऊपर तर्पण की विधि एवं उसको धारण करने की अवधि का वर्णन किया गया है। इसको धारण करने की अवधि दो आधारों पर नियत की गई है—(१) रोगाधिष्ठान के अनुसार तथा (२) दोषानुसार। सुविधा की दृष्टि से आगे दी हुई तालिका में यह अवधि प्रदर्शित की गई है।

तर्पणोत्तर क्रम

ततोऽस्यापाङ्गदेशे शलाकयाऽऽधारद्वारं[1] कृत्वा स्नेहं भाजने स्रावयेत्। आधारौ चापनीय यवकल्केनाक्षिकोशौ प्रमृज्य स्नेहेरितकफोपशान्तये विरेचन यथार्हं धूमं पाययेत्। सुखोदकप्रक्षालितमुखं चैनं यथाव्याधि भोजयेत्। आतपाकाशभास्वद्दर्शनानि च परिहरेत् ॥ ५ ॥

तर्पण हो जाने के पश्चात् उक्त मंडल के अपांग प्रदेश में शलाका द्वारा आधार में छिद्र करके स्नेह को पात्र में निकाल लें। आधार परिमण्डल की दीवारों को हटाकर जौ के कल्क से नेत्रकोशों को साफ करके स्नेह से बढ़े हुए कफ को शांत करने के लिए यथोचित विरेचन धूम का सेवन कराना चाहिए। गर्म पानी से मुख को धोकर व्याधि के अनुसार भोजन देना चाहिए। धूप, आकाश और भास्वर (चमकीली) वस्तुओं को नहीं देखना चाहिए।

तर्पण-प्रयोग का काल

अनेन विधिना प्रत्यहं वायावेकान्तरं रक्तपित्तयोर्द्व्यन्तरं कफे स्वस्थे च। यथादोषोत्कर्षं संसर्गसन्निपातयोः। एवमेकाहं त्र्यहं पञ्चाहं वा कुर्यादातृप्तेर्वा। तृप्तातृप्तातितृप्तलिङ्गानि तु क्रमात्स्वास्थ्यवातकफविकारैरादिशेत् ॥ ६ ॥

---

१. 'शलाकया द्वारं कृत्वा' इति पाठान्तरम्।

तर्पण की अवधि
रोगाधिष्ठानानुसार
दोषानुसार
वर्त्मगत रोग
(१०० मात्रा तक)
संधिगत रोग
(३०० मात्रा तक)
शुक्लगत रोग
(५०० मात्रा तक)
कृष्णगत रोग
(७०० मात्रा तक)
दृष्टिगत रोग
(८०० मात्रा तक)
अधिमन्थ रोग
(१००० मात्रा तक)
स्वस्थ नेत्र
(५०० मात्रा तक)
वातज रोग
(१००० मात्रा तक)
पित्तज रोग
(६०० मात्रा तक)
कफज रोग
(५०० मात्रा तक)

इस विधि से वातजन्य रोगों में प्रतिदिन, रक्त एवं पित्तजन्य रोगों में एक दिन छोड़कर और कफजन्य रोगों में तथा स्वस्थ व्यक्तियों में दो दिन छोड़ कर तर्पण का प्रयोग करना चाहिए। संसर्गज (द्वन्द्वज) तथा सन्निपातज रोगों में दोषों की प्रधानता के अनुसार तर्पण का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार एक दिन, तीन दिन, पाँच दिन अथवा जितने दिनों में तृप्ति (रोग-शान्ति) न हो जाये, तब तक तर्पण का प्रयोग करना चाहिए। तर्पण का सम्यक् योग होने से स्वास्थ्य-लाभ होता है। तर्पण का अयोग या हीनयोग होने से वात-पित्तजन्य विकार तथा अतियोग होने से कफजन्य विकार होते हैं।

पुटपाक

यदा तु सम्यग्योगप्राप्तं तर्पणं भवति तदा तद्विधेष्वेव रोगेषु पुटपाकं विदध्यात्। स त्रिविधः। स्नेहनो लेखनः प्रसादनश्च। तत्र स्नेहनमानूपसाधारणमांसमेदोमज्जवसाभिः। तथा स्वादुद्रव्यैश्च क्षीरपिष्टै रूक्षेऽक्षिण प्रयोजयेत्। लेखनं जाङ्गलमृगपक्षिमांसयकृद्भिर्मुक्ताप्रवालशङ्खताम्रायः समुद्रफेनकासीससस्रोतोजसैन्धवादिभिश्च लेखनद्रव्यैर्दधिमस्तुमधुपिष्टैः स्निग्धे। प्रसादनीयं तु जाङ्गलमृगपक्षियकृद्धृदयमज्जवसाभिर्मधुरद्रव्यैश्च स्त्रीस्तन्यक्षीराज्यपिष्टैः। स तु वातपित्तरक्तदृष्टिदौर्बल्यव्रणनाशनः कफविरुद्धः॥ ७॥

जब तर्पण सम्यग्योग को प्राप्त होता है, तब तर्पणजन्य रोगों में पुटपाक का प्रयोग करना चाहिए। वह पुटपाक तीन प्रकार का होता है—(१) स्नेहन—स्निग्ध करने वाला, (२) लेखन—दोषों का लेखन करने वाला तथा (३) प्रसादन—नेत्रों को प्रसन्न करने वाला। इनमें स्नेहन पुटपाक, आनूप एवं साधारणदेशीय प्राणियों के मांस, मेद, मज्जा तथा वसा को एवं मधुर रस वाले द्रव्यों को दूध में पीसकर बनाया जाता है। इसका प्रयोग रूक्ष नेत्र में करना चाहिए। लेखन पुटपाक जांगल मृग एवं पक्षियों के मांस, यकृत् तथा मुक्ता, प्रवाल, शंख, ताम्र, लौह, समुद्रफेन, कासीस, स्रोतांजन और सैंधव आदि लेखन द्रव्यों को दही, मस्तु एवं शहद में पीसकर बनाया जाता है। इसका प्रयोग स्निग्ध नेत्रों में किया जाता है। प्रसादन पुटपाक जांगलदेश के मृग एवं पक्षियों के यकृत्, हृदय, वसा तथा मधुर द्रव्यों को स्त्री के दुग्ध, गोदुग्ध तथा घी में पीस कर बनाया जाता है। इसका प्रयोग वात, पित्त, रक्त के विकार, दृष्टिदौर्बल्य तथा नेत्रगत व्रण में किया जाता है, किन्तु कफजन्य रोगों में इसका प्रयोग नहीं किया जाता।

इस प्रकार स्नेहन, लेखन तथा रोपण द्रव्यों से इन तीनों प्रकार के पुटपाकों को निर्मित किया जाता है।

पुटपाक

स्नेहन	लेखन	प्रसादन (रोपण)
प्रयोग—अति रूक्ष नेत्र विकारों में।	अतिस्निग्ध विकारों में।	वात, पित्त एवं रक्तजन्य नेत्र रोगों तथा नेत्रव्रण में।
निर्माण—आनूप एवं साधारण देशीय प्राणियों के मांस, मेद, मज्जा तथा वसा से एवं मधुर रस वाले द्रव्यों को	जाङ्गल मृग एवं पक्षियों के मांस, यकृत्, मुक्ता, प्रवाल, शंख, ताम्र, लौह, समुद्रफेन, कासीस, स्रोतां-	जाङ्गल देश के मृग एवं पक्षियों के यकृत्, हृदय, मज्जा, वसा तथा मधुर द्रव्यों को स्त्री के दुग्ध, गोदुग्ध

	दूध में पीस कर बनाया जाता है।	जन, सैंधव आदि तथा लेखन द्रव्यों को दही तथा मस्तु में पीसकर बनाया जाता है।	तथा घी में पीसकर बनाया जाता है।
धारण की अवधि—	२०० मात्रा काल तक	१०० मात्रा काल तक।	३०० मात्रा काल तक।
मात्रा—	दो दिनों तक करें।	एक दिन करें।	तीन दिनों तक प्रयोग करें।

पुटपाक-विधि

अथ बिल्वमात्रं वेसवारीकृतं मांसपिण्डं तन्मात्रेणैवौषधपिण्डेन संसृज्यैरण्डपटोल-पत्रैः[1] स्नेहनादिषु क्रमाद्वेष्टयित्वा कुशमुञ्जसूत्राऽन्यतमेन [2]वेष्टयेत्। मृत्प्रलेपनं चात्र द्व्यङ्गुलोत्सेधं कृत्वा धवधन्वनमधूकन्यग्रोधकाश्मर्यराजादनार्जुननक्तमालपाटलीनामन्य-तमैः काष्ठैः शकृता वा गोमहिषयोः पचेत्। अग्निवर्णं चैनमपनीय विगतमृत्सूत्रपत्रं कृत्वा वस्त्रेण पीडयेत्। तेन रसेन सायं तर्पणवत् पूरयेन्नेत्रे। धारयेच्च स्नेहने[3] शतद्वयं मात्राणां लेखने शतं प्रसादने त्रीणि शतानि ॥ ८ ॥

बिल्वमात्र (पल मात्र–४८ ग्राम) मांस लेकर इसका वेसवार (कूट कर सूक्ष्म) बना लें। इसमें एक पल (वेसवार की मात्रा के बराबर) औषधि लेकर दोनों का एक पिण्ड बना ले, फिर इस औषध-पिण्ड को स्नेहन में एरण्ड पत्र (*Ricinus communis*) से, लेखन में वटपत्र (*Ficus bengalensis*) से तथा प्रसादन में उत्पलपत्र (*Nympheae stellala*) से लपेटकर कुश (*Desmostachya bipinnata* Stapf) या मूँज (*Saccharum arundinaceum*) के धागे से बाँध दें। इस गोले के ऊपर दो अंगुल मोटा मिट्टी का लेप करके धव (*Anogeissus latifolia*), धन्वन (धामिन *Grewia tiliaefolia*), मधूक (महुआ *Madhuca latifolia*), न्यग्रोध (वट *Ficus bengalensis*), काश्मरी (गंभारी *Gmelina arborea*), राजादन (खिरनी *Mimusops hexandra*), अर्जुन (*Terminalia arjuna*), नक्तमाल (करंज *Pongamia pinnata*) तथा पाटला (*Stereospermum suaveolens*) में से किसी एक की लकड़ी से अथवा गाय (*Bos indicus*) या भैंस (*Bos bubalus*) के गोबर के उपले की अग्नि से इस गोले को पकायें। जब गोला अग्नि के समान लालवर्ण का हो जाय, तब इसको निकाल कर मिट्टी, धागा एवं पत्र को हटाकर इसे वस्त्र में रखकर निचोड़ लें। इस रस से सायंकाल तर्पण-विधि से आँख को पूरित करें। स्नेह-पुटपाक में दो सौ मात्रा, लेखन-पुटपाक में एक सौ मात्रा और तर्पण-पुटपाक में तीन सौ मात्रा पर्यन्त धारण करना चाहिए।

उपर्युक्त विधि से गोला बनाकर अग्नितप्त करके जो स्वरस निकाला जाता है, उसे पुटपक्व-स्वरस तथा उस विधि को पुटपाक-विधि कहा जाता है। इसी रस से अक्षि (नेत्रों) का तर्पण करने के कारण ही इस क्रिया-विधि को पुटपाक कहते हैं।

---

१. 'पटोलोत्पलपत्रैः' इति पाठान्तरम्। २. 'बध्नीयात्' इति पाठान्तरम्।
३. 'स्निग्धे' इति पाठान्तरम्।

धूमपान आदि का विधान

तर्पणवदेव धूमपानं प्रसादनवर्जम् । सुखोष्णौ च पूर्वौ । शीतः प्रसादनः पुटपाकस्त्वेकाहं द्व्यहं त्र्यहं वा योज्यः । द्विगुणश्च तर्पणपुटपाकयोः परिहारः । बद्धाक्षैश्च मालती-मल्लिकाकुसुमैर्निशां[1] निवसेत् । तथा पक्वातिसारेऽपि पुटपाकस्यायमेव विधिरिति ॥९॥

प्रसादन पुटपाक को छोड़कर शेष दोनों (स्नेहन तथा लेखन पुटपाक) में तर्पण के समान ही धूमपान कराना चाहिए । स्नेहन एवं लेखन पुटपाक सुखपूर्वक सहने योग्य गर्म होना चाहिए और प्रसादन पुटपाक शीतल होना चाहिए तथा पाक एक दिन, दो दिन या तीन दिन तक प्रयोग करना चाहिए । तर्पण और पुटपाक जितने दिन सेवन किये जायें, उससे दुगुने दिनों तक पथ्य का सेवन और अपथ्य का परित्याग करना चाहिए । पुटपाक करने के पश्चात् रात्रि भर आँखों पर मालती (चमेली *Jasmine grandiflorum*) या मल्लिका (जूही *Jasminum sambac* Ait) के पुष्पों को बाँध कर सोना चाहिए । पक्वातिसार में भी जो पुटपाक कहा गया है, वह पुटपाक भी इसी विधि से बनाया जाता है ।

उपसंहार

भवति चात्र—

सेकेऽञ्जने तर्पणे च पुटपाके च ये गदाः ।
जायेरन्विधिविभ्रंशाद्यथास्वं तान्प्रसाधयेत् ॥ १० ॥

इति तर्पणपुटपाकविधिर्नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

कहा भी है—सेक (आश्च्योतन एवं सेक), अंजन, तर्पण तथा पुटपाक करने में यथोक्त विधि का पालन न होने से जो रोग उत्पन्न होते हैं, उनकी अपनी उचित चिकित्सा करनी चाहिए ।

इस प्रकार 'तर्पणपुटपाक-विधि' नामक त्रयस्त्रिंश अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में भी नेत्ररोग की स्थानिक चिकित्सा में तर्पण एवं पुटपाक का प्रयोग बतलाया गया है । जो नस्य के अयोग्य होते हैं, उन्हें तर्पण एवं पुटपाक नहीं करना चाहिए । जो तर्पण के विषयाविषय हैं, वे ही पुटपाक के विषयाविषय (Indications & Contra-indications) हैं ।

---

१. 'कुसुमैर्निवसेत्' इति पाठान्तरम् ।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

अथातो यन्त्रशस्त्रविधि नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'यन्त्रशस्त्रविधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

यन्त्र

मनःशरीरबाधकराणि शल्यानि। तेषां नानाविधानां शल्यानां नानादेशविनिविष्टानामाहरणेऽभ्युपायो यन्त्राण्यर्शोभगन्दरादिषु च शस्त्रक्षाराग्न्यवचारणे शेषाङ्गरक्षणे च। तथा बस्तिप्रणयनादौ शृङ्गालाबुघटिकादयो जाम्बवौष्ठादीनि। अन्यान्यपि चानेकरूपाण्यनेककार्याणि[1] स्वस्थातुरोपकरणानि। अतः कर्मवशात्तेषामियत्ताऽवधारणमशक्यम् ॥ ३ ॥

मन एवं शरीर में आबाध (कष्ट) करने वाले को 'शल्य' कहते हैं। ये अनेक प्रकार के शल्य शरीर के विविध प्रदेशों में प्रविष्ट कर जाते हैं। इनके बाहर निकालने के उपाय को यंत्र कहते हैं। अर्श, भगन्दर आदि में शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि का प्रयोग तथा शेष अंगों की रक्षा के लिए यंत्र का प्रयोग किया जाता है तथा बस्ति आदि देने में बस्तिपुट एवं बस्तिनेत्र यंत्र है। शृंग, अलाबु, घटिका आदि एवं जाम्बवौष्ठ आदि भी यंत्र कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के विविध कार्य करने वाले स्वस्थ एवं आतुर के लिए उपयोगी यंत्र हैं। अतः कार्य के अनुसार अनेक प्रकार का होने के कारण यंत्रों की संख्या का परिगणन करना असंभव है।

सुश्रुतसंहिता में 'शल्य' की परिभाषा बतलाते हुए कहा गया है कि—'तत्र शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्टास्थिबालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च ॥' (सु० सू० १) अर्थात् विविध प्रकार के घास, काष्ठ, पत्थर, धूल के कण, लौह (धातु), लोष्ट (मिट्टी), अस्थि, बाल, नख, पूय, आस्राव, दुष्टव्रण तथा मूढगर्भ के उद्धरणार्थ; यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि के प्रणिधानार्थ तथा व्रणों के विनिश्चयार्थ यह शल्यतंत्र नामक अंग होता है। यहाँ विविध प्रकार के तृण, काष्ठ, पाषाण, रजःकण, लौह, लोष्ट, अस्थि, बाल, नख, पूय, आस्राव एवं मूढगर्भ को 'शल्य' कहा गया है। पुनः 'शल्य' की परिभाषा बतलाते हुए कहा गया है—'सर्वशरीराबाधकरं शल्यम्' (सु० सू० २६।५) अर्थात् समस्त शरीर को आबाध (पीड़ित) करने वाले को 'शल्य' कहते हैं। वाग्भट ने भी ऊपर कहा है कि मन एवं शरीर में आबाध (कष्ट) करने वाले को शल्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसी कोई भी वस्तु जो शरीर या मन को किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाये, वह 'शल्य' है। इस प्रकार तृण, काष्ठ आदि शारीरिक शल्य हैं तथा दुःख, शोक, क्रोध आदि मानसिक शल्य हैं। 'शल्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'शल पीडने' धातु से हुई है। अर्थात् पीड़ा उत्पन्न करने वाले भावों को शल्य कहते हैं।

ये ही शल्य जब शरीर में प्रविष्ट करके पीड़ित करने लगते हैं, तब इनके आहरण (निकालने) हेतु जो उपकरण प्रयुक्त किये जाते हैं, वे यंत्र कहलाते हैं—'तत्र मनःशरीराबाधकराणि शल्यानि, तेषामाहरणोपायो यन्त्राणि'। (सु० स० ७)। यहाँ जिन यंत्रों का वर्णन किया

१. 'कर्माणि' इति पाठान्तरम्।

गया है, वे सामान्यतया शारीरिक शल्यों के आहरणार्थ (निकालने के लिए) प्रयुक्त होते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले विजातीय पदार्थों (Foreign Bodies) को शल्य कहते हैं तथा उनको शरीर से निकालने हेतु धारहीन उपकरणों (Blunt Edge Instruments) का प्रयोग किया जाता है, वे यंत्र कहलाते हैं। अष्टांगहृदय में भी इसकी यही परिभाषा बतलायी गयी है—'नानाविधानां शल्यानां नानादेशप्रबाधिनाम्। आहर्त्तुमभ्युपायो यस्तद्यन्त्रं तच्च दर्शने' ॥ (अ० हृ० सू० २५)। शल्यों के आहरण के अतिरिक्त भी यंत्रों के कुछ और कार्य होते हैं, जिनका वर्णन आगे किया जायेगा।

यन्त्रों की संख्या

अन्ये पुनरेकोत्तरं यन्त्रशतमित्याचक्षते। इह तु समासतः षोढा निर्दिश्यन्ते। [1]स्वस्तिकसन्दंशतालनाडीशलाकाख्यान्यनुयन्त्राणि च ॥ ४ ॥

अन्य आचार्य यंत्रों की संख्या **एक सौ एक** मानते हैं, किन्तु इस ग्रन्थ में संक्षेप में यंत्र छः प्रकार के माने गये हैं। जैसे—१. **स्वस्तिक यंत्र**, २. संदंश यंत्र, ३. ताल यंत्र, ४. नाड़ी यंत्र, ५. शलाका यंत्र और ६. अनु यंत्र।

ऊपर यंत्रों के छः प्रकारों का वर्णन है। यह वर्गीकरण उनके आकार के अनुसार किया गया है। आधुनिक शल्यचिकित्सा की दृष्टि से स्वस्तिक यंत्रों को क्रूसीफार्म इन्स्ट्रूमेण्ट्स् (Cruciform Instruments), संदंश यंत्रों को पिंकर लाइक फॉरसेप्स (Pincher Like Forceps), ताल यंत्रों को पिक-लॉक लाइक इन्स्ट्रूमेण्ट्स् (Pick Lock Like Instruments), नाड़ी यंत्रों को ट्यूबलर इन्स्ट्रूमेण्ट्स् (Tubular Instruments) और शलाका यंत्रों को प्रोब्स (Probes) कह सकते हैं। सुश्रुतसंहिता मे इन छः प्रकार के कुल एक सौ एक यंत्रों का उल्लेख मिलता है।

स्वस्तिक यंत्र

तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि कङ्कसिंहगृध्रकुररादिविविधव्यालमुखान्याकारानुगताभिधानानि। प्रायशो लौहान्यष्टादशाङ्गुलानि। मसूराकारप्रान्तैः कण्ठे कीलैरवबद्धानि मूलेऽङ्कुशवदावृत्तवारङ्गाण्यस्थिविनष्टशल्योद्धरणार्थानि। तेषां सिंहव्याघ्रभुजङ्गमकरादिमुखानि दृश्यवारङ्गेषु शल्येषु प्रयोजयेत्। इतरेषु तु यथायोगं व्रणाकारानुरोधेन कङ्ककाककुररादिमुखानि ॥ ५ ॥

इनमें स्वस्तिक यंत्र कंक (*Ardea cinarea*), सिंह (*Panthera leo persica*), गृध्र (*Sarcogyps calves*) तथा कुरर (*Ciconia* sp.) आदि नाना प्रकार के हिंसक प्राणियों के मुखों के सदृश होते हैं और उन्हीं पक्षियों के मुखों की आकृति के अनुरूप ही कंकमुख यंत्र, सिंहमुख यंत्र तथा कुररमुख यंत्र नाम से जाने जाते हैं। यह प्रायः लोहे से बने हुए तथा अठारह अंगुल लंबे होते हैं। इनका अगला भाग मसूर (*Lens culinaris*) के दाने के सदृश गोलाकार होता है, बीच (कण्ठ) के भाग में कील जुड़े होते हैं तथा पीछे वाला (मूल भाग) जो वारंग (ग्रहणस्थान या यन्त्र को पकड़ने का स्थान या मूठ) होता है, वह अंकुश की तरह आवृत्त (वक्र) होता है। यह हड्डियों में प्रविष्ट शल्यों के आहरण (निकालने) के लिए प्रयुक्त होता है। इन विविध प्रकार के स्वस्तिक यन्त्रों में से सिंहमुख, व्याघ्रमुख, भुजङ्गमुख तथा मकरमुख नामक स्वस्तिक यन्त्रों द्वारा

---

१. इत्यग्रे 'तद्यथा' इत्यधिको पाठः।

उन शल्यों का आहरण किया जाता है, जो शल्य शरीर में प्रविष्ट होकर भी बाहर से दिखलाई पड़ते हैं। अन्य शल्यों (शरीर में प्रविष्ट होने के पश्चात् बाहर से न दिखलाई पड़ने वाले) के आहरणार्थ व्रणों का आकार-प्रकार तथा गहराई आदि देखकर तदनुसार कंकमुख, काकमुख, कुरर-मुख आदि प्रकार के यथायोग्य स्वस्तिक यंत्रों का प्रयोग करना चाहिए।

सुश्रुतसंहिता में चौबीस प्रकार के प्राणियों के मुखों के सदृश चौबीस प्रकार के स्वस्तिक यन्त्रों का वर्णन मिलता है।

आधुनिक शल्यशास्त्र में भी अस्थियों में प्रविष्ट शल्यों के आहारणार्थ, दाँतों को निकालने के लिए तथा कर्ण-नासागत एवं अन्य प्रकार के भी शल्यों के आहरणार्थ इस प्रकार के यन्त्रों का उपयोग किया जाता है, जो विविध प्राणियों की मुखाकृति के सदृश ही होते हैं। जैसे—सिंहमुख यन्त्र (Lion Forceps), शशघाती बाजमुख यन्त्र (Dental Hawk Bill Forceps), मूषिका-मुख यन्त्र (Mouse Teeth Forceps), मकरमुख यन्त्र (Crocodile Forceps) तथा श्वानमुख यन्त्र (Bull Dog Volsalla) आदि। डॉ० घाणेकर ने इन सभी को तथा अन्य भी समस्त फॉरसेप्स (Forceps) को स्वस्तिक यन्त्रों में समाविष्ट किया है। सभी क्रूसीफार्म यन्त्र (Cruciform Instruments) भी स्वस्तिक यन्त्रों के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए आगे कुछ प्रमुख यन्त्रों के चित्र दिये जा रहे हैं—

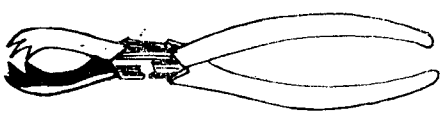

सिंहमुख यन्त्र (Lion Forceps or Fergusson's Lion Saw)

कंकमुख (बगुलामुख) स्वस्तिक यन्त्र

श्येनमुख स्वस्तिक यन्त्र (Universal Tooth Forceps)

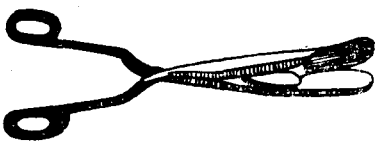

कुररमुख स्वस्तिक यन्त्र (या अश्मरी निष्कासक स्वस्तिक यन्त्र Lithotomy Forceps)

संदंश यन्त्र

सनिबन्धनो निर्निबन्धनश्च षोडशाङ्गुलौ सन्दंशौ द्वौ भवतः । तौ त्वङ्मांससिरा-स्नायुगतशल्योद्धरणार्थमुपदिश्येते । तथाऽन्यः संदंशः षडङ्गुलोऽर्धाङ्गुलविस्तृतो वक्रद्विबाहु-रङ्गुष्ठाङ्गुलिप्रान्तसमागमाकृतिः सूक्ष्मशल्याक्षिपक्ष्मव्रणाधिमांसहरणे ॥ ६ ॥

(१) सनिबन्धन एवं (२) निर्निबन्धन—दो प्रकार के संदंश यन्त्र होते हैं। ये सोलह अंगुल लम्बे होते हैं। ये दोनों प्रकार के संदंश यन्त्र त्वचा, मांस, सिरा तथा स्नायु में प्रविष्ट शल्यों के उद्धरणार्थ प्रयुक्त होते हैं। छः अंगुल लम्बा तथा आधा अंगुल चौड़ा एक प्रकार का संदंश यन्त्र भी होता है। अँगुली एवं अँगूठे की मिलने की जो आकृति बनती है, यह संदंश यन्त्र उसी प्रकार से वक्र एवं दो भुजाओं वाला होता है। इसका उपयोग सूक्ष्म शल्य, अक्षि-पक्ष्म (नेत्र की पलकों के बाल), व्रण एवं अधिमांस के आहरणार्थ किया जाता है।

'सम्यग्दश्यतेऽनेनेति सन्दंशः' अर्थात् जिसके द्वारा अच्छी प्रकार से दंश किया जाय या पकड़ा जाय, उसे संदंश यन्त्र कहते हैं। वे स्वस्तिक यन्त्र से मिलते-जुलते प्रकार के यन्त्र हैं, जो त्वचा, मांस, सिरा तथा स्नायुगत शल्यों के आहरणार्थ प्रयुक्त होते हैं। सनिबन्धन (सनिग्रह) संदंश यन्त्र का आशय यह है कि इसमें यन्त्र के दोनों फलक एक कील से जुड़े होते हैं, जब कि अनिग्रह (निर्निबन्धन) संदंश यन्त्र में यह कील नहीं होती।

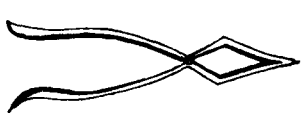

सनिबन्ध (सनिग्रह) संदंश यन्त्र

अनिग्रह संदंश यन्त्र (Dressing Forceps)

सभी संदंश यन्त्रों का भी हम आधुनिक शल्यशास्त्र के अनुसार फॉरसेप्स (Forceps) के अन्तर्गत समावेश कर सकते है। सूक्ष्म शल्यों एवं अक्षि-पक्ष्म निकालने हेतु जिस संदंश यन्त्र का वर्णन ऊपर किया गया है, उसी प्रकार का सिलिया फॉरसेप्स (Cillia Forceps) आज भी पक्ष्मकोप (Trichiasis) में प्रयुक्त होता है।

मुचुण्डी यन्त्र

तद्वच्च मुचुण्डी[1] सा तु ऋजुश्लक्ष्णा सूक्ष्मदन्तर्जुद्विभुजा[2] मूले रुचकनद्धा वलय-पीडनाच्छिन्नार्शशेषगम्भीरव्रणाधिमांसाहरणे ॥ ७ ॥

इसी प्रकार मुचुण्डी (यन्त्र) भी होती है। यह मुचुण्डी ऋजु (सीधी), श्लक्ष्ण (चिकनी), सूक्ष्म, विभक्त दाँतो वाली, दो भुजाओं वाली, मूल मे रुचक (वलय या छल्ला) से युक्त तथा बाहुओं के पीडनार्थ वलय (छल्ले) से युक्त होती है। (मूल वाला छल्ला इस यन्त्र को लटकाने के लिए प्रयुक्त होता है तथा बाहुओं पर चढ़े छल्ले को आगे बढ़ाने से इसकी दोनों भुजाओं के आगे की ओर वाले सिरे पास आ जाते हैं)। यह मुचुण्डी यन्त्र छिन्नार्थ, शेषार्थ (शल्यक्रिया करने के पश्चात् अर्श का छूटा हुआ शेष भाग), गम्भीर व्रण तथा अधिमांसगत शल्य के आहरण में प्रयुक्त होता है।

कुछ शास्त्रज्ञों ने अर्श (Haemorrhoids) की जगह अर्म (Pterigium) का पाठ ग्रहण किया है। मुचुण्डी यन्त्र का चित्र निम्नांकित है—

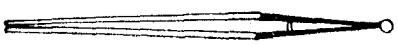

मुचुण्डी यन्त्र

ताल यन्त्र

तालयन्त्रे अपि द्वे द्वादशाङ्गुले। मत्स्यगलतालकवदेकतालकद्वितालके कर्णनाडी-शल्याहरणार्थे ॥ ८ ॥

ताल यन्त्र भी दो प्रकार के होते हैं, जो बारह अंगुल लम्बाई वाले होते हैं। ये मछली के गलतालक (मुखगुहा में स्थित तालु) के सदृश होते हैं। ये एकतालक (एक पार्श्व में ताल से से युक्त) तथा द्वितालक (दोनों पार्श्वों में ताल से युक्त) होते हैं। इनसे कर्णनाड़ी के शल्यों का आहरण किया जाता है।

आधुनिक शल्यशास्त्र की दृष्टि से तालयन्त्रों को स्कूप (Scoop) कहा जा सकता है। सभी स्पून (Spoon) को भी तालयन्त्र में समाविष्ट कर सकते हैं। एकताल का अभिप्राय (Single Scoop) तथा द्विताल का अभिप्राय (Double Scoop) से है। ताल यन्त्रों का चित्र निम्नांकित है—

एकताल यन्त्र (Single Scoop)

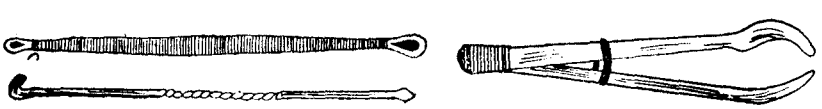

द्विताल यन्त्र (Double Scoop Instruments)

---

१. 'मुचुटी' इति पाठान्तरम्। २. 'सूक्ष्मदन्ता सक्तद्विभुजा' इति पाठान्तरम्।

नाड़ी यन्त्र

नाडीयन्त्राणि सुषिराण्यनेकप्रकाराण्यनेकप्रयोजनान्यनेकतोमुखान्येकतोमुखानि च भवन्ति। स्रोतोगतशल्यदर्शनाहरणार्थं रोगदर्शनार्थं क्रियासौकर्यार्थमाचूषणार्थं चेति। तानि स्रोतोद्वारपरिणाहानि यथायोगप्रदीर्घाणि च कुर्यात् ॥ ९ ॥

नाड़ी-यन्त्र सुषिर (खोखला), विविध प्रकार के प्रयोजनों हेतु, अनेक मुखवाले अथवा एक मुख वाले होते हैं। इनसे स्रोतोगत (स्रोतों में प्रविष्ट) शल्यों का दर्शन एवं आहरण किया जाता है। रोगों के दर्शनार्थ (निदानार्थ), चिकित्सा-कर्म में सुगमता लाने हेतु एवं आचूषण करने हेतु नाड़ी-यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। इन नाड़ी-यन्त्रों को शरीर के स्रोतों के मुख के परिमाण का एवं यथावश्यक लम्बा बनाना चाहिए।

'नाडीवान्तः सुषिराणि यन्त्राणि नाडीयन्त्राणि'। अर्थात् सुषिर (खोखली) नलिका की भाँति नालीदार यन्त्रों को नाड़ीयन्त्र कहते हैं। सभी नाड़ीदार यन्त्रों (Tubular Instruments) को इसके अन्दर समाहित किया जा सकता है। स्रोतोगत शल्यों अर्थात् आभ्यन्तर शल्यों का निरीक्षण करने के लिए इनका प्रमुख उपयोग होता है। आधुनिक शल्यशास्त्र में व्याहृत समस्त स्पेकुलम (Speculum) तथा स्कूप (Scoop) का समावेश इसके अन्दर किया जा सकता है। जैसे—

१. योनि व्रणेक्षण यन्त्र (Vaginal Speculum)।
२. नासिकावीक्षण यन्त्र (Nasal Speculum)।
३. बस्तिदर्शक यन्त्र (Cystoscope)।
४. नेत्रदर्शक यन्त्र (Ophthalmoscope)।
५. कर्णवीक्षण यन्त्र (Aural Speculum)।
६. गलान्तःदर्शक यन्त्र (Laryngoscope)।
७. आमाशयदर्शक यन्त्र (Gastroscope)।
८. गुदादर्शक यन्त्र (Rectoscope)।

दूषित रक्त एवं स्तन्य आदि के आचूषणार्थ भी इनका प्रयोग होता है। जैसे अलाबु, शृंग नाड़ीयन्त्र आदि। स्तन्य के आचूषणार्थ आजकल ब्रेस्ट पम्प (Breast Pump) का प्रयोग किया जाता है। इसी तरह उरस्तोय (Pleurisy with Effusion) में एस्पिरेटर (Potains Aspirator) नामक नाड़ी-यन्त्र का प्रयोग किया जाता है। क्रिया-सौकर्य के लिए तथा क्षार आदि औषधियों के प्रयोग की सहायता के लिए भी नाड़ी-यन्त्रों का प्रयोग होता है। जैसे एकछिद्र अर्शो-यन्त्र से अर्श के ऊपर क्षार का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक भाषा में क्रिया-सौकर्यार्थ प्रयुक्त नाड़ी-यन्त्रों को दिग्दर्शक नाड़ी-यन्त्र (Director) कहा जाता है। जैसे प्रोब डाइरेक्टर (Probe Director), हर्निया डाइरेक्टर (Hernia Director), लिथाटोमी डाइरेक्टर (Lithotomy Director) एवं फिस्चुला डाइरेक्टर (Fistula Director) आदि।

अन्य नाड़ी-यन्त्रों का वर्णन

कण्ठशल्यदर्शनार्थं नाडीं दशाङ्गुलायतां पञ्चाङ्गुलपरिणाहाम्। द्विकर्णस्य तु वारङ्गस्य सङ्ग्रहार्थं त्रिच्छिद्रमुखां नाडीं तत्प्रमाणतः कुर्यात्। तथा चतुष्कर्णस्य पञ्चच्छिद्रमुखाम्। शल्यनिर्घातिनीं तु पद्मकर्णिकाकारशीर्षां द्वादशाङ्गुलां त्र्यङ्गुलसुषिराम् ॥

कण्ठगत शल्य को देखने के लिए जो नाड़ी होती है, वह दश अंगुल लम्बी तथा पाँच अंगुल प्रमाण की परिधि वाली वृत्ताकार होती है। इसका वारंग (मूठ) दो कर्णों वाला होता है, जिसे पकड़ने के लिए नाड़ी-यन्त्र तीन छिद्रों वाला बनाया जाता है। इसी तरह चार कर्णों वाले वारंग को पकड़ने के लिए पाँच छिद्रों वाली नाड़ी बनानी चाहिए। शल्यनिर्घातिनी नाड़ी का शीर्ष भाग पद्मकर्णिकाकार तथा इसकी लम्बाई बारह अंगुल एवं पूरी लम्बाई का तीन अंगुल भाग सुषिर होता है।

जब शल्य का मुख दूसरी ओर निकला रहता है, तब उसी अवस्था में शल्यनिर्घातिनी नाड़ी का प्रयोग किया जाता है। इसका खोखला भाग शल्य के ऊपर रखकर उस पर हथौड़े से चोट की जाती है, जिससे शल्य निकल जाता है।

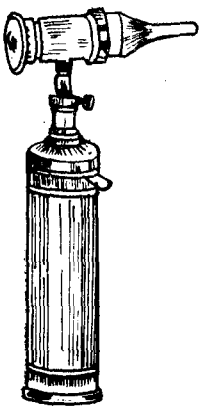

कर्णवीक्षण नाड़ी-यन्त्र
(Aural Speculum)

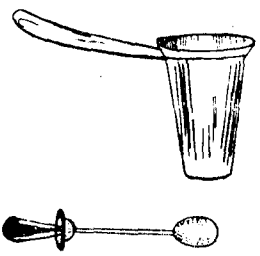

गुदादर्शक यन्त्र
(Proctoscope)

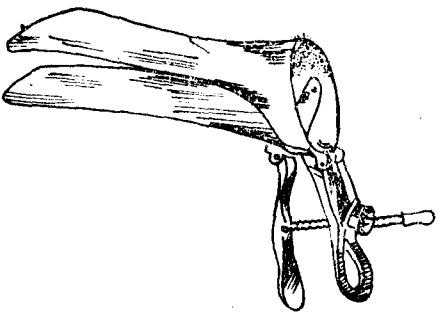

योनिपरीक्षण यन्त्र
(Cusco's Bivalve Vaginal Speculum)

अर्श यंत्र

अर्शोयन्त्रं त्रिविधम्। तल्लौहं[1] दान्तं शाङ्गं वार्क्षं वा गोस्तनाकारं चतुरङ्गुलायतं हस्ततलायतमेकं पञ्चाङ्गुलानि परिणाहेन पुंसाम् षडङ्गुलानि स्त्रीणाम्। द्विच्छिद्रं दर्शनार्थमेकच्छिद्रं कर्मणि। तथाहि सुखेन दर्शनं शस्त्रक्षाराग्न्यनतिक्रमश्च छिद्रं तु त्र्यङ्गुलायतमङ्गुष्ठोदरविस्तारम्। यदङ्गुलमवशिष्टं तस्याधोऽर्धाङ्गुलमुपरि तथा अर्धाङ्गुलोच्छ्रितोद्वृत्तकर्णिकम्। तृतीय तु तादृशमेवशम्याख्यं पार्श्वच्छिद्ररहितं पीडनार्थम्। भगन्दरे तु छिद्रादूर्ध्वमोष्ठमपनीय कुर्वीत। तद्वच्च घ्राणार्शोबुंदयन्त्रं नाड्याकारं द्व्यङ्गुलायतमेकच्छिद्रं प्रदेशिनीपरिणाहम् ॥ ११ ॥

अर्शयंत्र तीन प्रकार के होते हैं। ये लोह (लौह धातु), दंत (हाथी आदि के दाँत), शाङ्ग (गाय आदि की सींग), वार्क्ष (वृक्ष आदि के काष्ठ) के बने हुए गोस्तनाकार (गाय के थन जैसा), चार अंगुल लम्बे, हथेली जितने मोटे तथा पुरुषों में पाँच अंगुल की परिधि वाले होते हैं। यह अर्शयंत्र दो प्रकार का होता है। दो छिद्रों वाले अर्शयंत्र से देखने का काम लिया जाता है

---

१. 'ताम्रयोहैमं' इति पाठान्तरम्।

तथा एक छिद्र वाले अर्श यंत्र का प्रयोग अर्श पर क्षारकर्म करने के लिए किया जाता है। इन छिद्रों से सुविधापूर्वक देखकर शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि कर्म किये जा सकते हैं तथा अतिक्रमण नहीं हो सकता अर्थात् विकारग्रस्त अवयव के अतिरिक्त अन्य स्वस्थ अवयवों पर शस्त्र आदि नहीं पहुँचते। यह छिद्र तीन अंगुल लम्बा तथा अंगुष्ठोदर (अंगूठे के बीच का भाग) के बराबर चौड़ा होता है। नीचे की ओर का बचा हुआ अंगुल भर भाग अधोभाग होता है तथा ऊपर की ओर आधा अंगुल ऊँची ओष्ठ के समान कर्णिका होती है, जो बाहर की ओर झुकी होती है। इन दो प्रकार के अर्शयंत्रों के अतिरिक्त एक तीसरा उसी प्रकार का शमी नामक यंत्र होता है, जिसके पार्श्व में कोई छिद्र नहीं रहता। इन शमीयंत्र का प्रयोग अर्श के पीडनार्थ होता है। भगन्दर में जब इसका प्रयोग किया जाता है, तो इसके ओष्ठ को हटा दिया जाता है। इसी प्रकार नासार्शों एवं अर्बुदों में जब प्रयुक्त करना हो, तो दो अंगुल लम्बा, एक छिद्र वाला, प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुली के समान मोटा, ओष्ठ रहित नाड़ी-यंत्र बनाना चाहिए।

अर्शोयंत्र को आधुनिक परिभाषा के अनुसार रेक्टल स्पेकुलम (Rectal Speculum) कहा जा सकता है।

अंगुलित्राणक यंत्र

तथाऽङ्गुलित्राणकमङ्गुलिप्रवेशनं किञ्चित्स्थूलवृत्तौष्ठमूर्ध्वाधश्छिद्रं गोस्तनाकृति चतुरङ्गुलं दान्तं शाङ्गं वाक्षं वा। तद् दृढेन सूत्रेण मणिबन्धप्रतिबद्धमास्य विस्रावणे योज्यम् ॥ १२ ॥

अंगुलित्राणक यंत्र (Finger Guard) अंगुलि के प्रवेश योग्य, किञ्चित् मोटा, वृत्त (गोलाकार) ओष्ठ वाला, ऊपर नुकीले छिद्र वाला, गाय के स्तन के आकार का, चार अंगुल लम्बा, दाँत, सींग अथवा वृक्ष के काष्ठ का बनाया जाता है। इसे मजबूत धागे से मणिबंध (कलाई) पर बाँधकर कार्य किया जाता है। इसका प्रयोग बन्द मुख को खोलने हेतु किया जाता है।

रोगी का मुख खोलते समय उसके दाँतों से अपनी अंगुलियों की रक्षा करने के लिए चिकित्सक इसे अपने हाथों में पहनता है। आजकल मल-मूत्रादि तथा पूय-रक्तादि पदार्थों से अंगुलियों की रक्षा करने के लिए कोमल गोस्तनाकार रबर के बने दस्ताने प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें फिंगर स्टाल (Finger Stall) कहा जाता है।

योनिव्रणेक्षण यंत्र

योनिव्रणदर्शने यन्त्रं षोडशाङ्गुलं मध्ये सुषिरं चतुर्भित्तं चतुःशलाकं सञ्चारिण्या मुद्रयोर्ध्वं निबद्धमुत्पलमुकुलवक्त्रं मूले शलाकाऽऽक्रमणादूर्ध्वविकासि च। नाडीव्रणप्रक्षालनाभ्यञ्जनयन्त्रे षडङ्गुले बस्तियन्त्राकारे मुखतोऽर्कणिके मूलमुखयोरङ्गुष्ठकलायप्रवेशस्रोतसी। दकोदरे नाडीमुभयतोद्वारां पिच्छनाडीं वा युञ्ज्यात्। स्नेहबस्त्युत्तरबस्तिप्रधमनधूममूत्रवृद्धिनिरुद्धमणिप्रभृतिषु यथास्वमेव च यन्त्राण्युक्तानि ॥ १३ ॥

योनिव्रण देखने के लिए योनिव्रणेक्षण यंत्र सोलह अंगुल लम्बा, मध्य भाग में सुषिर (खोखला), चार भित्तियों के मूलभाग में चार शलाकाओं से युक्त होता है। इसके ऊपर एक मुद्रा (कंगन) लगी होती है, जो इधर-उधर संचालित की जा सकती है। उसका मूल भाग कमल (*Nelumbo nucifera*) की कली जैसा होता है, उसके मूल में शलाका पर दबाव देने से अग्र भाग खुल जाता है। योनि के नाड़ीव्रणों के प्रक्षालन के लिए तथा अभ्यंजन के लिए छः अंगुल लम्बा बस्ति के आकार का यन्त्र बनाना चाहिए। इस यन्त्र के मुख पर कोई कर्णिका नहीं होनी

चाहिए। मुख के मूल में अंगुष्ठ के प्रवेश योग्य तथा मुख पर कलाय (मटर) के प्रवेश योग्य छिद्र होना चाहिए। दकोदर में दोनों ओर मुख वाली नाड़ी अथवा मोर (*Pavo cristasus*) के पंख की नाली का प्रयोग किया जाता है। स्नेहबस्ति, उत्तरबस्ति, प्रधमननस्य, धूमपान, मूत्रवृद्धि, निरुद्धमणि आदि के लिए अपने-अपने यन्त्र बनाने चाहिए।

योनि के अन्तःप्रदेश के निरीक्षणार्थ इसका उपयोग होता है। आजकल इस कार्य को वैजाइनिल स्पेकुलम (Vaginal Speculum) से किया जाता है। ये स्पेकुलम (Speculum) अर्शोयन्त्र की तरह फर्गुसन का वृत्ताकार योनि-परीक्षण यन्त्र (जैसे Fergusson's Speculum), दो भित्तियों वाले कुस्को का योनि-विस्फारक यन्त्र (Cusco's Vaginal Speculum) एवं चार भित्तियों वाले यन्त्र (Allingham's Speculum) की तरह होते हैं। योनिव्रणेक्षण यन्त्र की रचना Allingham's Speculum से काफी साम्यता रखती है।

शृंग, अलाबु एवं घटीयंत्र

शृङ्गं तु ह्रस्वमध्यदीर्घमष्टदशद्वादशाङ्गुलायतं त्र्यङ्गुलप्रवेशमुखमग्रे सर्षपोपमच्छिद्रं तनुचर्मनद्धं चूचुकाकारं[1] च। तद्वातविषरक्ताम्बुदुष्टस्तन्यचूषणार्थम्[2]। [3]श्लेष्मरक्तचूषणार्थंस्त्वलाबुः। स द्वादशाङ्गुलदीर्घोऽष्टादशाङ्गुलपरिणाहस्त्रिचतुरङ्गुलवृत्तसमुच्छ्रितमुखः परिवेष्टितप्रदीप्तकुशबल्वजपिचुगर्भश्च प्रयोज्यः। तद्वदेव च मानकर्मभ्यां घटी। सा तु गुल्मोन्नमनविलयनार्थं च ॥ १४ ॥

ह्रस्व शृंगयन्त्र आठ अंगुल लम्बा, मध्यम दस अंगुल लम्बा तथा दीर्घ बारह अंगुल लम्बा होता है। इसका मुख तीन अंगुल के प्रवेश योग्य होता है। इसके अग्रभाग में सरसों (*Brassica compestris*) के समान छिद्र होता है। यह पतले चमड़े से बँधा तथा चूचुकाकार (स्त्रियों के स्तनाग्र के समान) होता है। इसका प्रयोग वायु, विष, रक्त, अम्बु (जल) एवं दुष्टस्तन्य (दूषित दूध) चूसने के लिए किया जाता है।

कफदूषित रक्त को चूसने के लिए अलाबु यन्त्र का प्रयोग किया जाता है। यह बारह अंगुल लम्बी, अठारह अंगुल परिणाह (परिधि) वाली, तीन-चार अंगुलियों के प्रवेश योग्य वृत्तसम (गोलाकार) तथा उभड़े हुए मुख की होती है। इसको लगाने से पहले कुश (*Desmostachya pinnata*), बल्वज (काँस की एक जातिविशेष *Saccharum arundinaceum*) और पिचु (रुई) जलाकर इसमें भर दिया जाता है और उष्ण होने पर पीड़ित स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है। अलाबु के समान घटीयन्त्र होता है; इसका परिमाण और कर्म अलाबु के समान है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग गुल्म की ऊँचाई को विलीन करने के लिए किया जाता है।

रोगी के व्याधित भाग पर शृंगयंत्र का आधार रखा जाता है तथा अग्र छिद्र पर चिकित्सक अपना मुख रखकर आचूषण करता है। **योगरत्नाकर** में यह वर्णन है कि शृंग लगाने से पहले व्याधित स्थान पर प्रच्छान लगा लिया जाता है। आजकल भी अलाबु और शृंग की जगह कपिंग ग्लासेस (Cupping Glasses) का उपयोग होता है। रबर बाल (Suction Balls) द्वारा भी यह कार्य किया जाता है। शृंग में ऊपर-नीचे दो मुख होते हैं तथा मुख द्वारा आचूषण किया जाता है। जबकि अलाबु और घटी एकमुखी यन्त्र हैं। इनमें मुख द्वारा आचूषण नहीं किया जाता है, बल्कि दीप जलकार शून्य (Vacume) पैदा करके आचूषण कराया जाता है।

---

१. 'चुचूकाकारमुखं' इति पाठान्तरम्। २. 'स्तन्यचूषणार्थम्' इति पाठान्तरम्।
३. श्लेष्मरक्ता' इति पाठान्तरम्। ४. 'दीप्त' इति पाठान्तरम्।

शलाकायन्त्र

शलाकायन्त्राण्यपि नानाकृतीनि नानार्थानि यथायोगदीर्घ[1]परिणाहानि च भवन्ति। तेषामेषणकर्मणी द्वे गण्डूपदमुखे। स्रोतोगतशल्याहरणार्थेऽष्टाङ्गुलनवाङ्गुले द्वे मसूरदलमुखे। षट् शङ्कवः। तेषां व्यूहनक्रियौ द्वादशषोडशाङ्गुलौ द्वावहिफणामुखौ। तथा चालनार्थे दशद्वादशाङ्गुलौ शरपुङ्खमुखौ। आहरणार्थे बडिशमुखौ। तथा गर्भशङ्कुः शङ्कुतुल्योऽष्टाङ्गुलः प्रणताग्रो मूढगर्भाहरणे। तथा सर्पफणाग्रवदेवाग्रवक्त्रं तदास्थ्यमश्मर्याहरणार्थम्। तथा दन्तनिर्घातनं चतुरङ्गुलं शरपुङ्खमुखं स्थूलवृत्तप्रान्तम् ॥ १५ ॥

शलाकायन्त्र भी विभिन्न आकार के तथा विभिन्न कार्यों के अनुसार यथायोग्य लम्बाई एवं परिधि (गोलाई) वाले होते हैं। इसमें एषण कार्य (टटोलने) के लिए दो यन्त्र केचुआ के मुख के समान होते हैं। स्रोतोगत शल्याहरण के लिए आठ अंगुल अथवा नौ अंगुल लम्बा, मसूर (*Lens culinaris*) के पत्ते के समान मुख वाला दो यन्त्र होना चाहिए। शंकु नामक शलाका यन्त्र छः होते हैं। उनका प्रयोग व्यूहन कर्म (कटे हुए मांस आदि को यथास्थान स्थापित करना) में होता है। यह बारह अंगुल एवं सोलह अंगुल लम्बा होता है। अहिफण (सर्पफण) मुख वाले दो यन्त्र होते हैं। शल्य को चलाने (हिलाने-डुलाने) के लिए दस और बारह अंगुल लम्बे शरपुंख मुख वाले दो यन्त्र होते हैं। आहरण के लिए दो बडिशमुख नामक यन्त्र होता है। गर्भशंकु नामक यन्त्र एक होता है। यह शंकु के समान आठ अंगुल लम्बा तथा आगे की ओर झुका हुआ होता है। यह मूढ़गर्भ को निकालने के काम में आता है। सर्पफण यन्त्र साँप के फण के समान आगे टेढ़ा अश्मरी के आहरण के लिए होता है। दन्तनिर्घातन नामक यन्त्र चार अंगुल लम्बा, शरपुंख जैसा मुख वाला मोटा एवं गोल होता है। इसके द्वारा हिलता हुआ दाँत निकाला जाता है।

आधुनिक शल्यशास्त्र के अनुसार केचुए के मुख वाली (गण्डूपद मुखी) शलाका को ब्लण्ट प्रोब (Blunt Probe) कहते हैं। सर्पफणमुखी शलाका को रिट्रैक्टर (Retractor) कहते हैं। शरपुंखमुखी शलाका को भी इसी प्रकार प्रोब (Probe) के ही अन्तर्गत रख सकते हैं। बडिशमुखी शलाका हुक (Hook) जैसी होती है। कार्पास युक्त मसूरदलमुखी शलाका को स्वाब प्रोब (Swab Probe) कहते हैं, जो पूय एवं रक्त आदि को पोछने का कार्य करती है। खल्लमुखी शलाका को स्पून (Spoon) कह सकते हैं। गर्भशंकु-आहरणार्थ जो शलाका यन्त्र प्रयुक्त होता है, उसे ब्लण्ट हुक एण्ड क्रोचेट (Blunt Hook & Crotchet) कहते हैं। कर्णशोधन की शलाका को इयर स्कूप (Ear Scoop) कह सकते हैं। दन्तनिर्घातन यन्त्र को टूथ एलीवेटर (Tooth Elevator) कह सकते हैं।

संक्षेप में शलाका यन्त्र के अन्तर्गत सभी राड्स एण्ड प्रोब्स (Rods and Probes) का समावेश किया जा सकता है।

प्रमुख शलाका यन्त्र

क्रमसंख्या	नाम	आधुनिक नाम	संख्या	कार्य
१	गण्डूपदमुखी	Blunt Probe	२	एषण
२	सर्पफणमुखी	Retractors	२	व्यूहन
३	शरपुंखमुखी	—	२	चालन

१. 'दैर्घ्यं' इति पाठान्तरम्।

४	बडिशमुखी	Hooks	२	आहरण
५	मसूरदलमात्रमुखी	—	२	स्रोतोगत शल्योद्धरणार्थ
६	गर्भशंकु	Blunt Hook & Crotchet	१	मूढ़गर्भ आहरणार्थ
७	दन्तनिर्घातन यन्त्र	Tooth Elevator	१	हिलता हुआ दाँत निकालने वाला
८	शंकु	—	६	व्यूहन
९	प्रमार्जनी शलाकायन्त्र	Swab Probes	६	प्रमार्जन

प्रमार्जनी यन्त्र

षट् कार्पासकृतोष्णीषाणि विविधव्रणक्लेदक्षारप्रमार्जनक्रियासु । तेषामपि दूरासन्नघ्राणव्रणोपयोगिनी षट्सप्ताङ्गुले द्वे । तद्वदेव कर्णेऽष्टाङ्गुलनवाङ्गुले द्वे[1] । पायौ दशद्वादशाङ्गुले द्वे । कर्णशोधनं स्रुवमुखमश्वत्थपत्राग्रम् । तथा क्षाराग्निकर्मार्थं जाम्बवौष्ठानि द्वादशदशाष्टाङ्गुलानि क्रमाद्द्व्यङ्गुलार्द्धाङ्गुलाङ्गुलफलानि ॥ १६ ॥

ये छः होती हैं । इनके अग्रभाग पर रुई लपेटी हुई होती है । इनका प्रयोग नाना प्रकार के व्रणों का क्लेद साफ करने तथा अर्श आदि पर लगाये गये क्षार को साफ करने में होता है । उनमें भी नासागत दूर एवं समीप के व्रण को साफ करने के लिए छः अंगुल तथा सात अंगुल लम्बी दो शलाकाएँ होती हैं । इसी प्रकार कान के व्रण को साफ करने हेतु दो कर्णशलाकाएँ होती हैं । उनमें एक आठ एवं एक नौ अंगुल लम्बी होती है । गुदगत व्रण को साफ करने के लिए पायु (गुद) शलाकाएँ दो होती हैं । उनमें एक दश तथा एक बारह अंगुल लम्बी होती है । कर्णशोधन यन्त्र कर्णशोधन (कान का मैल निकालने) के लिए पीपल (*Ficus religiosa*) के पत्ते के अग्रभाग की तरह स्रुवमुख (हवन में प्रयुक्त होने वाले चमचे) के समान होता है । क्षार और अग्नि कर्म के लिए जाम्बौष्ठ (जामुन *Syzygium cumuni* के फल के आकार का) नामक यन्त्र होता है । इनकी लम्बाई बारह अंगुल, दश अंगुल, आठ अंगुल एवं इनका फलक क्रमशः दो अंगुल, एक अंगुल और आधा अंगुल का होता है ।

प्रमार्जन का तात्पर्य साफ करने से है । इन्हें भी स्वाब प्रोब्स (Swab Probes) के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

अन्य शलाकाएँ

शलाकाश्च स्थूलसूक्ष्मदीर्घह्रस्वमध्याः । आन्त्रवृद्धावर्धेन्दुवक्रा मध्योर्ध्वनिर्गतशलाकाग्रहणा । दहनेनासार्शोऽर्बुदयोः कोलास्थिदलमात्रमुखा वेल्लितौष्ठा[2] । क्षारविषौषधप्रणिधानाय च दर्व्यस्तिस्रोऽष्टाङ्गुला दर्व्याकाराः कनीनिकाऽनामिकामध्यमाङ्गुलीनखपरिमाणनिम्नमुखाः । तथाऽञ्जलिकाऽञ्जलिस्थाना । उत्तरबस्त्यञ्जनादिषु यथायथमेवोपदिष्टानि ॥ १७ ॥

शलाकाएँ स्थूल, सूक्ष्म, दीर्घ (लंबी), ह्रस्व (छोटी) और मध्यम आकार की होती हैं । आंत्रवृद्धि में दहन कर्म के लिए अर्धचन्द्राकार शलाका होती है । इसके मध्यभाग में ऊपर की ओर निकला हुआ पकड़ने योग्य मूठ (हत्था) होता है । नासार्श एवं नासार्बुद को जलाने के लिए

१. इन्दुकृत टीका-ग्रन्थ में 'तद्वदेव···द्वे' पर्यन्त पाठ नहीं है ।

२. 'खल्लीतीक्ष्णोष्ठा' इति पाठान्तरम् ।

बेल (*Aegle marmelos*) की गुठली के समान, बेल के पत्ते के समान मुखवाली तथा हिलते हुए ओष्ठवाली होती है। क्षार एवं विषयुक्त औषध के लिए आठ अंगुल लम्बी दर्वी (कलछी) के आकार की, कनिष्ठिका, अनामिका एवं मध्यमा अंगुली के समान चौड़ी, निम्न मुख वाली तीन दर्वियाँ होती हैं अथवा ये अञ्जली के समान होती है। उत्तरबस्ति तथा अंजन आदि के लिए यथा-योग्य शलाकाएँ पहले बतला दी गई हैं।

अनुयन्त्र

अनुयन्त्राण्ययस्कान्तरज्जुचर्मान्त्रवस्त्राश्ममुद्गरपाणिपादतलाङ्गुलिजिह्वादन्तनख-मुखशाखावालचलोष्मकालपाकहर्षभयानि ॥ १८ ॥

एतानि देहे सर्वस्मिन्देहस्यावयवेऽपि वा।
सन्धौ कोष्ठे धमन्यां च यथायोगं प्रयोजयेत् ॥ १९ ॥

अनुयन्त्र—अयस्कान्त (चुम्बक), रज्जु, चर्म, आंत्र, वस्त्र, अश्म (पत्थर), मुद्गर (स्थूल ह्रस्वकाष्ठ), पाणितल (हथेली), पादतल (तलवा), अंगुली, जिह्वा, दाँत, नख, मुख, शाखा (वृक्षों की), बाल, चल, ऊष्मा, काल, पाक, हर्ष और भय ये यंत्रों के साथ काम में आने से अनुयंत्र कहे गये हैं। इन अनुयंत्रों का प्रयोग सम्पूर्ण देह में अथवा शरीर के किसी एक अवयव, संधि, ओष्ठ तथा धमनी में यथायोग्य करना चाहिए।

सुश्रुत ने इन्हें उपयंत्र कहा है। उपयंत्र की परिभाषा बतलाते हुए कहा गया है कि—'यन्त्रै-रुपमितानि उपयन्त्राणि' अर्थात् यंत्रों से सादृश्य रखने वाले उपकरणों को उपयंत्र कहते हैं। यंत्रों के अभाव में ये उपयंत्र उसी स्थान पर उसी कर्म (यंत्रों के कर्म) हेतु प्रयुक्त होते हैं। सुश्रुत-संहिता में काल, पाक, आंत्र एवं भय इन वाग्भटोक्त चार उपयंत्रों का वर्णन नहीं किया गया है। चूंकि परिभाषा यह बतलाई गई है कि यंत्रों के अभाव में ये प्रयुक्त होते हैं, अतः इनकी संख्या उपर्युक्त से अधिक भी हो सकती है।

यन्त्र के कर्म

यन्त्रकर्माणि तु निर्घातनपूरणबन्धनव्यूहनपरिवर्तनचालनविवरणपीडनमार्गशोधन-विकर्षणाहरणव्यथनोन्नमनविनमनभञ्जनोन्मथनाचूषणैषणदारणर्जुकरणप्रक्षालनप्रधमना-ञ्जनप्रमार्जनानि बाहुल्येव चतुर्विंशतिर्भवन्ति ॥ २० ॥

१. निर्घातन (ताडन करना या चोट करना Hammering), २. पूरण (भरना Filling), ३. बन्धन (रस्सी आदि से बाँधना Bandaging), ४. व्यूहन (यथास्थान रखना Bringing together edges of the wounds), ५. परिवर्तन (Replacement), ६. चालन (हिलाना Moving a foreign body), ७. विवरण (चौड़ा करना Dilatation), ८. पीडन (दबाना Pressing), ९. मार्ग शोधन (Cleaning the path), १०. विकर्षण (खींचना Extraction), ११. आहरण (निकाल देना Pulling out), १२. व्यथन (औषधि-प्रक्षालन आदि द्वारा व्रण के असली रूप को प्रकट करना Washing), १३. उन्नमन (ऊपर उठाना Elevation), १४. विनमन (ऊपर उठी हड्डी को नीचे दबाना Depression), १५. भंजन (तोड़ना Crushing), १६. उन्मथन (मथना Probing or Stiring), १७. आचूषण (चूसना Suction), १८. एषण (खोजना Exploration), १९. दारण (फाड़ना Splitting), २०. ऋजुकरण (टेढ़े शल्य को सीधा करना Straightening), २१. प्रक्षालन (Washing), २२. प्रधमन (Blowing), २३. अञ्जन एवं २४. प्रमार्जन (साफ करना Rubbing out the foreign body)। ये चौबीस कर्म मुख्य रूप से यन्त्रों के हैं।

वाग्भटानुसार यन्त्रों की तालिका

स्वस्तिक यंत्र	संदंश यंत्र	ताल यंत्र	नाड़ी यंत्र	शलाका यंत्र	अनुयंत्र
वाग्भट्ट ने स्वस्तिक यंत्रों की कोई संख्या निश्चित नही की है, मात्र इतना ही कहा है कि ये कंक, सिंह तथा कुरर नामक अनेक हिंसक प्राणियों के मुखों के सदृश होते हैं।	१. सनिबन्धन संदंश यंत्र २. निर्निबन्धन संदंश यंत्र (Dressing Forceps) ३. पक्ष्मकोप संदंश यंत्र (Cilia Forcep or Epilation Forcep) ४. मुचुण्डी संदंशयंत्र	१. एकताल यंत्र (Single Scoop) २. द्विताल यंत्र (Double Scoop)	इनकी निश्चित संख्या का वर्णन वाग्भट ने नहीं किया है तथापि निम्नलिखित प्रमुख नाड़ी यंत्रों का वर्णन किया है— १. अर्शोयंत्र (Rectal Speculum). —एकच्छिद्र अर्शोयंत्र —द्विछिद्र अर्शोयंत्र –छिद्ररहित अर्शोयंत्र या शमीयंत्र २. भगंदर यंत्र ३. घ्राण यंत्र (Nasal Speculum) ४. अंगुलित्राणक यंत्र (Finger Guard) ५. योनिव्रणेक्षण यंत्र (Vaginal Speculum) ६. जलोदर विस्रावण यंत्र ७. स्नेहबस्ति नाड़ी यंत्र ८. उत्तरबस्ति यंत्र ९. प्रधमन यंत्र १०. धूमपान यंत्र ११. मूत्रवृद्धि विस्रावण यंत्र १२. निरुद्धमणि यंत्र १३. शृंग यंत्र (Cupping Glasses) १४. अलाबु यंत्र १५. घटी यंत्र	१. गंडूपदमुखी २ (Blunt Probe) २. मसूरदलमुखी २ (Swab Probe) ३. शंकुमुखी ६ ४. शरपुंखमुखी २ ५. बडिशमुखी २ (Hook) ६. गर्भशंकु १ ७. सर्पफणमुखी १ (Retractors) ८. दंतनिर्घातन १ (Tooth Elevator) ९. प्रमार्जनी यंत्र १ १०. कर्णशोधन २ (Ear Scoop) ११. जाम्ब्वौष्ठ ३ १२. क्षारकर्म शलाका १३. अग्निकर्म शलाका १४. आंत्रवृद्धि यंत्र १ १५. अंजन शलाका १ १६. उत्तरबस्ति शलाका १७. अंजलिका यंत्र १ १८. दर्वी यंत्र ३ १९. नासा यंत्र १	१. अयस्कान्त (चुंबक) २. रज्जु ३. चर्म ४. आंत्र ५. अश्म (पत्थर) ६. मुद्गर ७. पाणितल ८. पादतल ९. अंगुली १०. जिह्वा ११. दंत १२. नख १३. मुख १४. शाखा १५. बाल १६. चल १७. ऊष्मा १८. काल १९. पाक २०. हर्ष २१. भय

यन्त्रों की संख्या (कुल सं० १०१)
(सुश्रुतानुसार)

स्वस्तिक यन्त्र (२४)	संदंश यन्त्र (२)	ताल यन्त्र (२)	नाड़ी यन्त्र (२०)	शलाका यन्त्र (२८)	उपयन्त्र (२५)
१. सिंहमुख (Lion Forceps) यन्त्र	१. सनिग्रह	१. एकताल यन्त्र (Single Scoop)	१. भगन्दर यन्त्र	१. गण्डूपदमुखी (Blunt Probe)	१. रज्जु
२. व्याघ्रमुख यन्त्र	२. अनिग्रह (Dressing Forceps)	२. द्विताल यन्त्र (Double Scoope)	२. अर्शोयन्त्र (Rectal Speculum)	२. सर्पफणमुखी (Retractors)	२. वेणिकान्त
३. वृकमुख यन्त्र			३. घ्राण यन्त्र (Nasal Speculum)	३. शरपुंखमुखी	३. चर्म
४. तरक्षुमुख यन्त्र			४. बस्तियन्त्र	४. बडिशमुखी	४. अन्तर्वल्कल
५. ऋक्षमुख यन्त्र			५. उत्तरबस्ति यन्त्र (Urethral Bougii)	५. मसूरदलमुखी (Swab Probe)	५. लता
६. द्वीपिमुख यन्त्र			६. मूत्रवृद्धिस्रावक यन्त्र	६. खल्लमुखी	६. वस्त्र
७. मार्जारमुख यन्त्र			७. जलोदर यन्त्र	७. अग्निकर्मार्थं	७. अष्ठीलाश्म
८. शृगालमुख यन्त्र			८. धूमनेत्र यन्त्र	८. नासार्बुदाहरणार्थं	८. मुद्गर
९. मृगैर्वारुकमुख यन्त्र			९. निरुद्धप्रकश यन्त्र	९. अंजनार्थं	९. पाणितल
१०. काकमुख यन्त्र			१०. संनिरुद्धगुद यन्त्र	१०. कोलास्थिदलमुखी	१०. पादतल
११. कंकमुख यन्त्र			११. अलाबु यन्त्र	११. मूत्रमार्गविशोधनार्थं	११. जिह्वा
१२. कुररमुख यन्त्र			१२. शृंग यन्त्र (Cupping Glasses)		१२. अंगुलि
१३. चासमुख यन्त्र					१३. दंत
१४. मासमुख यन्त्र					१४. नख
१५. शशघाती यन्त्र					१५. मुख
१६. उलूकमुख यन्त्र					१६. केश
१७. चिल्लीमुख यन्त्र					१७. अश्वकंटक
१८. श्येनमुख यन्त्र					१८. शाखा
१९. गृध्रमुख यन्त्र					१९. निष्ठीवन
२०. क्रौंचमुख यन्त्र					२०. प्रवाहण
२१. भृंगराजमुख यन्त्र					२१. हर्षण
२२. अंजलिकर्णमुख यन्त्र					२२. अयस्कांत
२३. अवभंजनमुख यन्त्र					२३. आर
२४. नन्दीमुख यन्त्र					२४. अग्नि
					२५. भेषज

कंकमुख यन्त्र की प्रधानता

निवर्तते साध्ववगाहते च ग्राह्यं गृहीत्वोद्धरते च यस्मात् ।
यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वविकारि यच्च ॥ २१ ॥

समस्त यंत्रों में कंकमुख यंत्र प्रधान होता है, क्योंकि यह यथावश्यक चलाया जा सकता है तथा व्रणों के भीतर सुगमता से अच्छी तरह प्रविष्ट हो सकता है। ग्रहण करने योग्य शल्यों को भली प्रकार से ग्रहण कर (पकड़) सकता है, उनका उद्धरण (बाहर) कर सकता है तथा समस्त स्थानों में अविकारी (हितकर) रूप से प्रयुक्त हो सकता है।

शस्त्र

शस्त्राणि षड्विंशतिर्भवन्ति । तद्यथा—दन्तलेखनमण्डलाग्रवृद्धिपत्रोत्पलपत्राध्यर्धधारमुद्रिकाकर्तरीसर्पवक्त्रकरपत्रकुशपत्राटामुखान्तरमुखशरारिमुखत्रिकूर्चकुठारिकाव्रीहिमुखशलाकावेतसपत्राराकर्णव्यधनसूचीसूचीकूर्चखजैषणीबडिशनखशस्त्राणि । प्रायशश्च तानि षडङ्गुलानि सुध्मातावर्तितायोघटितान्युत्पलपत्रनीलानि सुग्रहाणि सुरूपाणि सुधाराणि सुसमाहितमुखाग्राण्यकरालानि प्रत्येकं च प्रायो द्वित्राणि स्वप्रमाणार्धचतुर्थभागफलानि । तानि व्याधिदेशवशात् प्रयुञ्जीत । तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण यन्त्रवद् व्याख्याताः ॥ २२ ॥

शस्त्र छब्बीस प्रकार के होते हैं—जैसे—१. दंतलेखन शस्त्र, २. मण्डलाग्र शस्त्र, ३. वृद्धि पत्र शस्त्र, ४. उत्पलपत्र शस्त्र, ५. अध्यर्धधार शस्त्र, ६. मुद्रिका शस्त्र, ७. कर्त्तरी शस्त्र, ८. सर्पवक्त्र शस्त्र, ९. करपत्र शस्त्र, १०. कुशपत्र शस्त्र, ११. आटामुख शस्त्र, १२. अंतर्मुख शस्त्र, १३. शरारिमुख शस्त्र, १४. त्रिकूर्च शस्त्र, १५. कुठारिका शस्त्र, १६. व्रीहिमुख शस्त्र, १७. शलाका शस्त्र, १८. वेतसपत्र शस्त्र, १९. आरा शस्त्र, २०. कर्णव्यधन शस्त्र, २१. सूची शस्त्र, २२. सूचीकूर्च शस्त्र, २३. खंज शस्त्र, २४. एषणी शस्त्र, २५. बडिश शस्त्र और २६. नख शस्त्र।

सामान्य रूप से ये सभी शस्त्र छः अंगुल की लंबाई वाले, अच्छी प्रकार से ध्मातावर्तित (पिघला कर जमाए हुए), शुद्ध लोहे द्वारा निर्मित, स्वच्छ उत्पल (नील कमल *Nymphea stellata*) के पत्तों के समान नीलाभ, सुगमता से ग्रहण करने योग्य (पकड़ने योग्य), सुन्दर स्वरूप वाले, तेज धार वाले, सुन्दर तथा सुगठित मुखाग्र वाले तथा भयंकर न दीखने वाले होने चाहिए। शस्त्रों के फल उनकी पूरी लंबाई का आधा या चौथाई बनाना चाहिए। इनमें से प्रायः दो या तीन शस्त्रों का रोग तथा देश (स्थान एवं रोगी का शरीर) आदि का विचार कर सम्यक् रूप से प्रयोग करना चाहिए। जिस प्रकार यंत्रों के नाम उनकी आकृतियों के अनुसार ही रखे जाते हैं, उसी प्रकार शस्त्रों के नाम भी उनकी आकृतियों के ही अनुसार रखे जाते हैं।

'शस्' हिंसायाम् इस धातु से 'शस्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। शस्त्रकर्म का तात्पर्य हिंसक कर्म से होता है तथा शस्त्र नामक उपकरण इस हिंसा को करता है। तात्पर्य यह है कि जिस उपकरण का प्रयोग करने से शरीर की कोशाओं (Tissue or Cells) को हानि पहुँचे, उसे शस्त्र कहते हैं। शस्त्र का तात्पर्य तेज धार वाले औजार (Sharp Edged Instrument) से है। शस्त्र के दो भाग होते हैं—(१) धार (Edge) वाला भाग या फलक (Blade) तथा (२) हाथ में पकड़ने वाला भाग या वृंत या हत्था या मूठ (Handle)। इनका नाम भी इनकी आकृति के अनुसार ही रखा गया है।

सुश्रुत ने शस्त्रों की संख्या बीस मानी है, जब कि वाग्भट ने छब्बीस। सुश्रुत ने सर्पवक्त्र, शलाका, कर्णव्यधन, सूचीकूर्च, खज तथा कर्तरी इन छः शस्त्रों के नाम नहीं दिये हैं।

शस्त्रों के प्रयोग (कर्म)

तत्र द्वयमाद्यं लेखने। वृद्धिपत्रादीनि त्रीणि पाटने। चत्वारि भेदने। मण्डलाग्रादीन्यष्टौ छेदने। कुशपत्रादीनि पञ्च प्रच्छाने। कुठारिकादीनि षट् व्यधने। तेषामाद्यौ व्रीहिमुखे भेदने छेदने च। सूच्यः सीवने। सूचीकूर्चः कुट्टने। खजो मथने। एषण्येषणे भेदने च। बडिशो ग्रहणे। नखशस्त्रमुद्धरणे। छेद्यभेद्यलेख्यप्रच्छानेषु च। इति द्वादशविधे शस्त्रकर्मण्युपयोगः॥ २३॥

उपर्युक्त शस्त्रों में से पहले वाले दो शस्त्रों (दंत लेखन एवं मंडलाग्र शस्त्र) का उपयोग लेखन कार्य में होता है। वृद्धिपत्र, उत्पलपत्र तथा अध्यर्धधार आदि शस्त्रों का उपयोग पाटनकर्म में होता है। वृद्धिपत्र आदि तीन तथा मुद्रिका शस्त्र का प्रयोग भेदन कर्म में होता है। मंडलाग्र, वृद्धिपत्र, उत्पलपत्र, अध्यर्धधार, मुद्रिका, कर्तरी, सर्पवक्त्र एवं करपत्र इन आठों शस्त्रों का उपयोग छेदन कर्म में होता है। कुशपत्र आदि पाँच (कुशपत्र, आटामुख, अंतर्मुख, शरारिमुख एवं त्रिकूर्च) शस्त्रों का प्रयोग प्रच्छान कर्म में, कुठारिका आदि छः (कुठारिका, व्रीहिमुख, शलाका, वेतसपत्र, आरा एवं कर्णव्यधन) शस्त्रों का प्रयोग वेधन कर्म में होता है। आरा और व्रीहिमुख शस्त्रों का प्रयोग भेदन तथा छेदन में होता है। सूची का प्रयोग सीवन कर्म में होता है। सूचीकूर्च का प्रयोग कूटने में होता है। खज का प्रयोग मथने में होता है। एषणी का प्रयोग एषण कर्म में तथा भेदन कर्म में होता है। बडिश का प्रयोग किसी वस्तु को पकड़ने में होता है। नखशस्त्र का प्रयोग किसी शल्य के उद्धरण, छेदन, भेदन, लेखन तथा प्रच्छान कार्यों में होता है। इस प्रकार इन शस्त्रों का उपर्युक्त बारह प्रकार के कार्यों में उपयोग होता है।

ऊपर विविध प्रकार के शस्त्रों का उपयोग बतलाते हुए द्वादशविधि (बारह प्रकार के) शस्त्र कर्मों का उल्लेख किया गया है। सुश्रुत ने शस्त्रकर्म को अष्टविध ही माना है—'तच्च शस्त्रकर्माऽष्टविधं तद्यथा—छेद्यं, भेद्यं, लेख्यं, वेध्यम्, एष्यम्, आहार्यं, विस्राव्यं, सीव्यमिति॥' (सु० सू० ५)। चरक ने शस्त्रकर्म को षड्विध ही माना है—

पाटनं व्यधनञ्चैव छेदनं लेखनं तथा। प्रच्छनं सीवनञ्चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत्॥
(च० चि० २५।५४)

दन्तलेखन एवं मण्डलाग्र शस्त्र

विशेषतस्तु दन्तलेखनं [1]प्रबद्धवच्चतुरस्रमेकधारं दन्तशर्करालेखने। मण्डलाग्रं प्रदेशिन्यन्तर्नखविस्तृतफलं तल्लेखनवि[2]च्छेदनयोर्वर्त्म[3]रोगोत्पन्नदन्तमांसदुर्निविष्टव्रणगलशुण्डिकादिषु प्रयोज्यम्॥ २४॥

विशेष रूप से दंतलेखन नामक शस्त्र प्रबद्ध (सुन्दर बन्धनों वाला), चतुरस्र (चौकोर) तथा एक धार वाला होता है तथा दन्तशर्करा के लेखन हेतु प्रयोग किया जाता है। मंडलाग्र शस्त्र में इसका फल तर्जनी अंगुली के अंतर्नख (भीतरी नख) के समान विस्तृत होता है। इस मंडलाग्र

---

१. 'सुप्रबन्धवच्चतुर' इति पाठान्तरम्। २. 'छेदनयो' इति पाठान्तरम्।
३. 'वर्त्मरोगोसन्न' इति पाठान्तरम्।

शस्त्र का प्रयोग लेखन, विच्छेदन हेतु तथा वर्त्म (पलक) के रोगों, दंतमांस की सूजन, गहरे व्रणों तथा गलशुण्डिका आदि रोगों में शस्त्रकर्म हेतु किया जाता है।

शस्त्र-कर्म

क्रम	सुश्रुत	वाग्भट	चरक	आधुनिक पर्याय
१.	छेदन—काट कर अलग करना	१. छेदन	१. छेदन	Excision
२.	भेदन—चीरना	२. भेदन		Incision
३.	लेखन—खुरचना	३. लेखन	२. लेखन	Scraping
४.	वेधन—नुकीली वस्तु से छेदना	४. वेधन	३. वेधन	Puncturing
५.	एषण—अन्वेषण करना	५. एषण		Probing or Exploration
६.	आहरण—बाहर खींचना	६. आहरण		Extraction
७.	विस्रावण—पूय, रक्तादि को बाहर निकालना।			Draining
८.	सीवन—टाँका लगाना।	७. सीवन	४. सीवन	Suturing
		८. कुट्टन		Pricking
		९. पाटन (चीरना)	५. पाटन	
		१०. मंथन		Drilling
		११. ग्रहण		Catching
		१२. प्रच्छान (चीरा लगाना)		
			६. प्रच्छन	Tatooing

मण्डलाग्र शस्त्र

दन्तलेखन शस्त्र छः अंगुल लंबा होता है। आधुनिक भाषा में इसे Tooth Scaler कहा जाता है। मण्डलाग्र शस्त्र भी छः अंगुल लम्बा होता है तथा इसका अग्रभाग गोल होता है। गलशुण्डिका (Tonsil) काटने, मूढ़गर्भ में शिरोविदारण करने, नेत्ररोगों जैसे अर्म (Pterigum), पोथकी (Trachoma) तथा सिराजाल आदि रोगों में यह शस्त्रकर्म हेतु प्रयुक्त होता है।

वृद्धिपत्र

वृद्धिपत्रं क्षुराकारं तत्तून्नते गम्भीरे वा श्वयथावृजु सूच्यग्रमिष्टम्। विपरीते तु पृष्ठतोऽवनतधारम् ॥ २५ ॥

वृद्धिपत्र का आकार छूरे के समान होता है। इसे उन्नत (उठे हुए) या गंभीर शोथ में अथवा ऐसा शोथ जो सीधा न हो तथा सूक्ष्म मुख वाला हो, में प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत एक और वृद्धिपत्र होता है, जिसकी धार अवनत (झुकी हुई) होती है।

उन्नतधार वृद्धिपत्र (Scalpel)

अवनतधार वृद्धिपत्र (Curved Bistoury)

आधुनिक भाषा में हम वृद्धिपत्र को छुरा (Knife) कह सकते हैं। इसके दो प्रकार होते हैं। उठे हुए (उन्नत) धार वाले वृद्धिपत्र को स्कालपेल (Scalpel) तथा झुके हुए (अवनत) धार वाले वृद्धिपत्र को कर्व्ड बिस्चुरी (Curved Bistoury) कहा जाता है। इसका उपयोग विद्रधि के भेदन (Incision) हेतु त्वचा-विदारण के लिए तथा वृषण-वृद्धि (Eliphantiasis of Scrotum) में किया जाता है।

अंगुली शस्त्र

अङ्गुलीशस्त्रकं मुद्रिकानिर्गतमुखं वृद्धिपत्रमण्डलाग्रान्तर्धारान्यतमतुल्यार्धाङ्गुलायतधारं प्रदेशिनीप्रथमपर्वप्रमाणार्पणवृत्तमुद्रिकं दृढसूत्रप्रतिबद्धं कण्ठरोगेषु प्रयुज्यते ॥२६॥

अंगुलीशस्त्रमुद्रिका में आगे की तरफ मुख निकला हुआ एक शस्त्र होता है; जो वृद्धिपत्र, मण्डलाग्र अथवा अन्तरधार में से किसी एक के सदृश होता है। आधा अङ्गुल लम्बी धार होती है। इसमें जो मुद्रिका (छल्ला) होती है, वह तर्जनी अंगुली के प्रथम पर्व के बराबर लम्बी होती है। यह मजबूत सूत्र से बंधी होती है। इसका प्रयोग कण्ठ के रोगों में किया जाता है।

मुद्रिकाशस्त्र (Finger Knife)

सुश्रुत ने इसे मुद्रिका शस्त्र कहा है। प्रदेशिनी अंगुली के अगले पर्व के समान इस शस्त्र का वलय (Ring) होता है। साथ ही इसमें वृद्धिपत्र के समान एक शस्त्र जुड़ा होता है। इसे हम फिंगर नाइफ (Finger Knife) कर सकते हैं।

आटामुख एवं अन्तर्मुख शस्त्र

कर्तरी त्रिभागपाशा व्रणस्नायुकेशसूत्रच्छेदनार्थम्। सर्पवक्त्रं वक्रमर्धाङ्गुलफलं घ्राणकर्णार्शोऽर्बुदच्छेदनार्थम्। करपत्रं दशाङ्गुलं द्व्यङ्गुलविस्तारं सूक्ष्मदन्तं खरधारं सुत्सरुनिबद्धमस्थिच्छेदनार्थम्। कुशपत्राटामुखे द्व्यङ्गुलफले। अन्तर्मुखमर्धचन्द्राकाराध्यर्धाङ्गुलफलम् ॥ २७ ॥

---

१. 'मण्डलाग्राध्यर्धधारा' इति पाठान्तरम्।

२. 'चन्द्राकारामध्यर्धाङ्गुलफलम्' इति पाठान्तरम्।

कर्तरी—यह त्रिभागपाशा होती है। इसका एक-तिहाई भाग इसे पकड़ने हेतु तथा शेष दो-तिहाई भाग काटने के लिए होता है। यह व्रण, स्नायु, केश एवं सूत्र के छेदनार्थ (काटने के लिए) प्रयुक्त होता है।

सर्ववक्त्र—यह वक्र होता है तथा इसका फलक आधा अंगुल चौड़ा होता है एवं यह नासार्श, कर्णार्श एवं अर्बुद के विच्छेदनार्थ प्रयुक्त होता है।

करपत्र—इसकी लम्बाई दस अंगुल तथा चौड़ाई दो अंगुल होती है। यह छोटे-छोटे दाँतों से युक्त, खर (रूक्ष या खुरदुरी) धारवाला एवं सुदृढ़ हत्थेवाला होता है तथा यह अस्थि के छेदनार्थ (काटने के लिए) प्रयुक्त होता है।

कुशपत्र एवं आटामुख शस्त्र—इसका फलक दो अंगुल लम्बा होता है।

अन्तर्मुख—अर्धचन्द्राकार होता है तथा इसका फलक डेढ़ अंगुल का होता है।

इनमें कर्तरी तथा सर्पवक्त्र का वर्णन सुश्रुत ने नहीं किया है। करपत्र (Saw) का मुख्य उपयोग अस्थि को काटने के लिए होता है। कुशपत्र का फलक दर्भ (तृण-विशेष) के समान होता है। इसकी समानता पेजेट्स नाइफ या बिस्चुरी (Pagets Knife or Bistoury) से होती है। आटा या आटी का तात्पर्ग एक विशेष पक्षी से है, जो दलदल में रहता है। कुछ लोग इसे हॉक बिल सीजर्स (Hawk Bill Scissors) के अन्तर्गत मानते हैं, परन्तु इसका उपयोग वैसा नहीं है। अतः इसे लान्सेट (Lancet) माना जा सकता है। अन्तर्मुख शस्त्र को कर्व्ड बिस्चुरी (Curved Bistoury) माना जा सकता है।

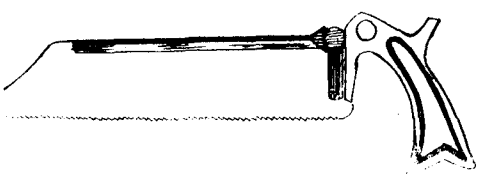

करपत्र शस्त्र (Saw)

कुशपत्र शस्त्र (Pagests Knife)

कुठारिका, व्रीहिमुख एवं शलाका शस्त्र

कुठारिका पृथुदण्डा गोदन्ताकाराऽर्धाङ्गुलफलाऽस्थ्याश्रितसिराव्यधार्था। व्रीहिमुखमध्यर्धाङ्गुलफलं मांसलप्रदेशसिराव्यधार्थं वर्ध्मोदरगुल्मविद्रध्यादिव्यधनभेदनार्थं च[1] शलाकोभयतोमुखी कुरबकमुकुलाग्रा ताम्रमयी लिङ्गनाशव्यधार्था॥ २८॥

कुठारिका—यह पृथु (मोटा) हत्थे वाला, गोदन्त (गाय के दाँत) के आकार का एवं आधे अंगुल के फलक वाला होता है। इसका प्रयोग अस्थि में आश्रित सिरा के बन्धन में किया जाता है।

---

१. 'व्यधनार्था' इति पाठान्तरम्।

व्रीहिमुख शस्त्र—इसका फलक डेढ़ अंगुल का होता है। शरीर के मांसल अवयवों में स्थित सिरा का वेधन करने के लिए इसका प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त वर्त्मरोग, उदररोग, गुल्म, विद्रधि आदि में वेधनार्थ तथा भेदनार्थ प्रयुक्त होता है।

शलाका—यह उभयतो मुखी (दोनों तरफ मुखवाली) होती है। इसका अग्रभाग कुरबक (मोगरा *Barleria prionitis*) की कली के समान होता है। यह ताँबे का बना होता है तथा लिंगनाश नामक नेत्र रोग में वेधनार्थ इसका प्रयोग किया जाता है।

कुठारिका को आधुनिक भाषा में Axe-shaped Knife कहते हैं। व्रीहिमुख का उपयोग मूत्रवृद्धि और जलोदर में जल निकालने से पूर्व वेधनार्थ होता है। इसे ट्रोकार (Trocar) कहा जा सकता है। सुश्रुत ने शलाका शस्त्र का वर्णन नहीं किया है।

व्रीहिमुख शस्त्र (Trocar & Canula)

आरा एवं कर्णव्यधन शस्त्र

आरा चतुरस्रार्धाङ्गुलवृत्तमुखा तावत्प्रवेशा बहलकर्णपालीव्यधार्था पक्वामशोफसन्देहभेदनार्था च। कर्णव्यधनं त्र्यङ्गुलायतमङ्गुलसुषिरं घनं वा यूथिकामुकुलाग्रम् ॥

आरा—यह चतुरस्र (चौकोर) होता है तथा इसका मुख गोल एवं आधा अंगुल प्रमाण का होता है। यह आधा अंगुल ही प्रवेश करता है। बहल (पृथु या मोटी) कर्णपाली का वेधन करने के लिए, पक्वशोफ एवं आमशोफ का निश्चय करने के लिए तथा भेदन कर्म करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

कर्णव्यधन शस्त्र—यह तीन अंगुल लम्बा होता है। इसका एक अंगुल भाग सुषिर (खोखला) तथा घन (मोटा) होता है तथा इसका अग्रभाग यूथिका (जूही *Jasminum sambac* Linn.) की कली के समान होता है।

आराशस्त्र को अल (Awl) या सूजा कहते हैं। कर्णव्यधन शस्त्र का मुख्य कर्म कर्णपाली का वेधन एवं तत्सम्बन्धित अन्य शस्त्रकर्मों में होता है।

सूची

सूच्यस्तिस्रो वृता निगूढदृढपाशाः। तत्र मांसलेष्ववकाशेषु त्र्यङ्गुला [1]त्र्यस्राग्रा। सन्ध्यस्थिव्रणेष्वल्पमांसेषु च द्व्यङ्गुला वृत्ता। पक्वामाशययोर्मर्मसु च सार्धद्व्यङ्गुला धनुर्वक्रा व्रीहिमुखा च ॥ ३० ॥

सूची (सुई) तीन प्रकार की होती है—गोल, दृढ पाशों (सूतों) वाली तथा निगूढ़ छिद्र (ऐसा छिद्र जिसमें सूत डालने पर दिखलाई न पड़े) वाली। मांसल स्थानों में प्रयोग हेतु तीन अंगुल लम्बी तथा तीन कोणों वाली सुई प्रयुक्त होती है। सन्धियों, अस्थिव्रणों तथा अल्पमांस वाले व्रणों में दो अंगुल की लम्बाई वाली वृत्त (गोल) सुई का प्रयोग किया जाता है। पक्वाशय एवं आमाशय के व्रणों एवं मर्मों में ढाई अंगुल लम्बाई वाली, धनुष जैसी वक्र (झुकी हुई), ढाई अंगुल लम्बी तथा व्रीहिमुख के समान अग्रभाग वाली सुई प्रयुक्त होती है।

१. 'त्र्यस्रा' इति पाठान्तरम्।

सूची-यन्त्रों का अभिप्राय सीने योग्य सूची (Suturing Needles) से है। सुश्रुत ने भी इसका वर्णन किया है तथा आज भी ऐसी ही सूची (Needles) प्रयुक्त होती हैं।

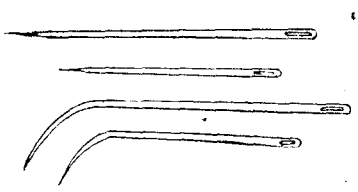

सीधी एवं त्रिधार वक्रसूची

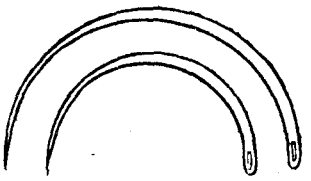

वृत्ताकार सूची

सूची शस्त्र (Suturing Needles)

सूचीकूर्च आदि शस्त्र

सूचीकुर्चो वृत्तैकमूलोऽग्रे सुनिबद्धसप्ताष्टसूचिकः कुष्ठश्वित्रव्यङ्गेन्द्रलुप्तादिषु। खजस्त्वर्धाङ्गुलायतोऽष्टकण्टकमुखस्ताम्रो लौहो वा 'नासाभ्यन्तरतः शोणितमोक्षणार्थः। एषण्यौ द्वे सुश्लक्ष्णस्पर्शे। तयोरेकाऽष्टाङ्गुला गतिकोथशल्यस्रावव्रत्सु व्रणेषु सुषिरान्वेषणे; अन्या सूचीसंस्थाना क्षाराक्तसूत्रप्रतिबद्धा नाडीनां भगन्दरगतीनां च भेदने। बडिशोऽत्यवनतमुखः सूचीतीक्ष्णाग्रो ग्रहणे गलशुण्डिकार्मादेः। नखशस्त्रमष्टाङ्गुलमेकतोऽश्वकर्णमुखमन्यतोवत्सदन्तमुखं सूक्ष्मशल्योद्धृतौ ॥ ३१ ॥

सूचीकूर्च शस्त्र—गोल, मूल भाग में एक तथा अग्रभाग में सात या आठ सुइयों वाला होता है। इसका प्रयोग कुष्ठ, श्वित्र, व्यंग, इन्द्रलुप्त (Alopacia Areata) में किया जाता है।

खज शस्त्र—आधा अंगुल लम्बा, आठ कण्टकयुक्त मुख वाला, तांबा अथवा लोहे का बना हुआ होता है। यह नासिका से रक्त निकालने के काम आता है।

एषणी—यह दो प्रकार की होती है। ये दोनों स्पर्श में श्लक्ष्ण (चिकनी) होती हैं। इनमें एक एषणी आठ अंगुल लम्बी होती है। इसका प्रयोग नाड़ीव्रण की गतिकोथ (सड़न) तथा शल्य के कारण स्राव वाले व्रणों में सुषिरता (खोखलेपन) का अन्वेषण करने में किया जाता है। दूसरी एषणी सुई के समान क्षार लगे हुए सूत से बँधी हुई नाड़ी तथा भगन्दर आदि के भेदने में प्रयुक्त होती है।

बडिश शस्त्र—अत्यन्त अवनत (मुड़ा हुआ) मुखवाला होता है और उसका अग्रभाग सुई के समान तीक्ष्ण होता है। इसका उपयोग गलशुण्डिका एवं अर्म आदि के पकड़ने में किया जाता है।

नख शस्त्र—आठ अंगुल लम्बा होता है तथा एक ओर से थोड़े (*Equuas cabelus*) के कान के समान मुख वाला और दूसरी ओर से वत्स (बछड़े) के दाँत के समान नख वाला होता है। यह सूक्ष्म शल्य को निकालने के काम में आता है।

सूचीकूर्च एवं खजशस्त्रों का सुश्रुतसंहिता में वर्णन नहीं मिलता। एषणी तीन प्रकार से कार्य करती है—१. अन्वेषण, २. भेदन एवं ३. अनुलोमन। अन्वेषण के लिए प्रयुक्त एषणी का वर्णन शलाका के अन्तर्गत यन्त्रों में हो चुका है। भेदन करने वाली एषणी तीक्ष्ण मुखवाली होती है। इसे

---

१. 'नासाभ्यन्तर्गतशोणितमोक्षणार्थः' इति पाठान्तरम्।

शार्प प्रोब (Sharp probe) या सूचिकाकार प्रोब (Needle Shaped Probe) कहते हैं। अनुलोमक एषणी का तात्पर्य डाइरेक्टर (Director) से है, जो क्रिया-सौकर्यार्थ प्रयुक्त होती है। इसे प्रोब डाइरेक्टर (Probe Director) कह सकते हैं।

नखशस्त्र (Nail Parer)

बडिश का तात्पर्य मछली पकड़ने के काँटों से है। आजकल की शल्य-चिकित्सा में जो हुक (Hooks) प्रयुक्त होते हैं, उन्हें बडिश के अन्तर्गत माना जा सकता है। नख शस्त्र का अभिप्राय नेल-पेरर (Nail Parer) से है, जो नाखून काटने के लिए प्रयुक्त होता है।

अनुशस्त्र

अनुशस्त्राणि तु जलौकःक्षाराग्निसूर्यकान्तकाचस्फटिककुरुविन्दनखशाकशेफालिकादिखरपत्रसमुद्रफेनशुष्कगोमयादीनि। स्वबुद्धया च विकल्प्य विविधानि यन्त्रशस्त्राणि तत्कर्माणि चोपकल्पयेत्। हस्त एव चात्र प्रधानतमस्तदधीनत्वाद्यन्त्रशस्त्राणाम्॥ ३२॥

जलौका (*Hirudinaria* sp.), क्षार, अग्नि, सूर्यकान्तमणि, काँच (शीशा), स्फटिक (वैक्रान्त), कुरुबिंद (*Oryza sativa*), नख, शाक (सागवान), शेफालिका (हरसिंगार *Nyctanthes arbortristis*) आदि के खुरदरे पत्र, समुद्रफेन, शुष्क गोमय (सूखा गोबर) आदि अनुशस्त्र हैं। अपनी बुद्धि से विचार करके अनेक प्रकार के अनुशस्त्रों और इनके कार्यों की कल्पना करनी चाहिए। सभी यंत्रों में हाथ ही प्रमुखतम यंत्र हैं, क्योंकि सभी यंत्र एवं शस्त्र हाथ के ही अधीन होते हैं।

इन्दु ने अनुशस्त्र की परिभाषा बतलाते हुए कहा है—'अशस्त्राण्येव शस्त्रकार्यं कुर्वन्ति इत्यनुशस्त्राणि' अर्थात् स्वयं शस्त्र न होते हुए भी जो शस्त्र का कार्य करते हैं, वे अनुशस्त्र कहलाते हैं। हाराणचन्द्र के अनुसार—'शस्त्रसदृशान्यनुशस्त्राणि' अर्थात् शस्त्र के ही समान अनुशस्त्र भी होते हैं। जलौका, क्षार एवं अग्नि का वर्णन आगे के अध्यायों में किया जायेगा। सुश्रुत ने कहा है कि बालकों तथा शस्त्र से डरने वालों में तथा शस्त्र न मिलने पर उसके स्थान पर अनुशस्त्रों का ही प्रयोग किया जाता है।

यंत्रशस्त्रों के दोष

तत्र दीर्घह्रस्वस्थूलतनुवक्रविषमग्राह्यग्राहिशिथिलता इत्यष्टौ यन्त्रदोषाः। तत्राद्याः पञ्च कुण्ठखण्डखरधारताश्चेत्यष्टावेव शस्त्रदोषाः। अन्यत्र करपत्रात्॥ ३३॥

इनमें लंबा होना, छोटा होना, स्थूल (मोटा) होना, तनु (पतला), वक्र (टेढ़ा) होना, विषमग्राहि (ठीक-ठीक न पकड़ना), अग्राहि (न पकड़ना) तथा शिथिलता (पकड़ने में ढीला होना), ये आठ यंत्रों के दोष हैं।

सुश्रुतसंहिता में शस्त्र के दोषों का वर्णन करने से पूर्व उनके गुणों (शस्त्रसम्पत्) का वर्णन किया गया है—'तानि सुग्रहाणि, सुलोहानि, सुधाराणि, सुरूपाणि, सुसमाहितमुखाग्राणि, अकरालानि, चेति शस्त्रसम्पत्'। (सु० सू० ८।६) अर्थात् शस्त्र उत्तम प्रकार से पकड़ने योग्य,

उत्तम लोह (धातु) से निर्मित, उत्तम धारयुक्त, देखने में सुन्दर, सुन्दर अग्रभाग (फल) वाले एवं मृदु बाह्य भाग वाले होने चाहिए।

शस्त्रों की पायना

तत्र क्षारेण पायितं शस्त्रं शरशल्यास्थिच्छेदनेषु; उदकेन मांसच्छेदने, तैलेन पाटन-भेदनेषु सिराव्यधस्नायुच्छेदनेषु च प्रयुञ्जीत ॥ ३४ ॥

शस्त्रों की पायना तीन प्रकार की होती है—(१) क्षार से पायना किया गया शस्त्र शर, शल्य और अस्थि-छेदन में प्रयुक्त होता है। (२) जल से पायना किया गया शस्त्र मांस-छेदन में प्रयुक्त होता है तथा (३) तैल से पायना किया गया शस्त्र पाटन, भेदन, शिराव्यधन एवं स्नायु-छेदन में प्रयुक्त किया जाता है।

'क्षारोदकतैलादिद्रवद्रव्याणां पायनात् पायना।' अर्थात् शस्त्र निर्मित करने के पश्चात् उसकी धार को कठिन बनाने के लिए शस्त्र को गर्म करके उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव पिलाये जाते हैं। इसे ही पायना (Tempering) कहते हैं।

धार का वर्णन

धारा पुनश्छेदनानामासुरी लेखनानामर्धमासुरी व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी ॥ ३५ ॥

छेदन शस्त्रों की धार मासूरी लेखन शस्त्रों की धार मसूर (*Lens culinaris*) पत्र की आधी तथा वेधन विस्रावण शस्त्रों की धार कैशिकी होती है।

मासूरी का तात्पर्य मसूर के पत्र के सदृश पतली होने से है। कैशिकी का तात्पर्य केश के समान पतली होने से है।

शस्त्र ग्रहण की विधि

तेषां छेदनभेदनलेखनानां वृन्तसाधारणे भागे प्रदेशिनीमध्यमङ्गुष्ठैः सुसमाहितं गृह्णीयात्। वृन्ताग्रे विस्रावणानि प्रदेशिन्यङ्गुष्ठकाभ्यां हस्ततलप्रच्छादितवृन्ताग्रं व्रीहि-मुखं मुखे। मूलेष्वाहरणार्थानि। पाशस्योपरि मध्ये सन्दंशं कर्तरीं च। शेषाण्यपि यथायोगं क्रियासौकर्येण ॥ ३६ ॥

इनमें से छेदन, भेदन तथा लेखन शस्त्रों को कार्य करते समय वृन्त साधारण अर्थात् हत्था को पकड़ने के स्थान पर प्रदेशिनी, मध्यमा अंगुली और अँगूठे से सावधानीपूर्वक पकड़ना चाहिए। विस्रावण यंत्रों को प्रदेशिनी अंगुली तथा अंगूठे से वृन्त के अग्रभाग में पकड़ना चाहिए। व्रीहिमुख शस्त्र के वृन्त के अगले भाग को हथेली से ढँककर तर्जनी अँगुली तथा अँगूठे से पकड़ना चाहिए। आहरण शस्त्रों को मूल से पकड़ना चाहिए। संदंश यंत्र तथा कर्तरी को पाश (कील) के ऊपर पकड़ना चाहिए। शेष शस्त्रों को कार्य की सुगमता से यथायोग्य स्थान में पकड़ना चाहिए।

शस्त्रों को तेज करने की शिला

निशातनी तु तेषां सुश्लक्ष्णशिला माषमुद्गप्रभा। धारासंस्थापनं च शाल्मली-फलकम् ॥ ३७ ॥

शस्त्रों को तीक्ष्ण करने के लिए चिकनी शिला माष (*Phaseolus radiatus*) या मूंग (*Phaseolus mungo*) के रंग की होनी चाहिए। धार बनाने के लिए शाल्मली (*Salmalia malabarica*) फलक का प्रयोग करना चाहिए।

शस्त्रचिकित्सक की योग्यता

न चाधिगतशास्त्रोऽप्यकृतयोग्यः सुबहुशो वाऽप्यदृष्टकर्मा शस्त्रकर्मणि प्रवर्तेत सिरास्नायुमर्मादिव्याप्तत्वाद्देहस्य। तस्मात्सरोमचर्मपुष्पफलालाबुत्रपुसोदकपङ्कपूर्णदृतिबस्तिवर्ध्रमांसपेशिकोत्पलनालादिषु यथार्हमाहरणादियोग्यां कुर्यात्। तथा घटपार्श्वस्रोतस्यम्भोभिः पूर्णेन नेत्रेण बस्तिपीडनयोग्याम्। मृदुमांसखण्डेष्वग्निक्षारावचरणयोग्याम्। पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यङ्गेषु बन्धनयोग्याम्। अपि च ॥ ३८ ॥

आयुर्वेदशास्त्र को पढ़ लेने पर भी यदि अनेक बार कर्माभ्यास नहीं किया है, तो शस्त्रकर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि शरीर शिरा, स्नायु एवं मर्म आदि से व्याप्त होता है। इसलिए पहले रोमयुक्त त्वचा, पुष्प, फल, अलाबु, त्रपुस (खीरा *Cucumis sativus* Linn.), जल एवं कीचड़ से भरी चमड़ा की मशक, पशुओं की बस्ति, बर्ध्र (पशुओं का अण्डकोष), पशुओं की मांसपेशियाँ तथा कमल (*Nelumbo nucifera*) की नाल आदि पर यथायोग्य आहरण आदि क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिए तथा घड़े के पार्श्व में छिद्र बनाकर, जल से पूर्ण बस्तिनेत्र डालकर बस्ति पीडन का अभ्यास करना चाहिए। मृदु मांस के टुकड़ों पर 'अग्निक्षारावचरण' का अभ्यास करें। मनुष्य या स्त्री के बनाये हुए पुतले के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पट्टी-बन्धन का अभ्यास करें।

शवपरीक्षण

युक्तकारी भिषग्बुभुत्सुः पुरुषं सम्पूर्णगात्रमविषहतमदीर्घव्याधिपीडितं निष्कृष्टान्त्रमवहन्त्यामापगायां मुञ्जबल्वजवेष्टितं पञ्जरस्थमप्रकाशे देशे कोथयेत्। तं सम्यक् प्रकुथितं चोद्धृत्यायतदेहं कृत्वोशीरवेणुकूर्चादीनामन्यतमेन शनैः शनैरवघृष्य त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गसिरास्नाय्वादीनवयवानाचार्योपदर्शितेनागमेन चक्षुषा च लक्षयेत् ॥ ३९ ॥

योग्य चिकित्सक बनने की इच्छा हो, तो किसी ऐसे पुरुष का सम्पूर्ण शरीर जो सभी अंग-प्रत्यंग से परिपूर्ण हो, जो विष से न मरा हो, जो लम्बी बीमारी से पीड़ित न रहा हो, जिसकी आँतें खींचकर निकाल दी गई हों, ऐसे शव को मूंज (*Saccharum Arundinaceum*) तथा बल्बज (*Saccharum* sp.) से लपेट कर लोहे के जाल में रखकर एकान्त स्थान में बहती हुई नदी के जल में रखकर सड़ायें। जब यह शव सम्यग्रूप से सड़ जाये तो निकालकर शरीर को सीधा करके उशीर (खस *Veteriveria zizaniodes*) या बाँस (*Bambuso bambos*) की कूची आदि से धीरे-धीरे घिसकर त्वचा आदि सभी बाह्य तथा आभ्यंतर अङ्गों को तथा शिरा एवं स्नायु आदि अवयवों को आचार्य के उपदेशानुसार शस्त्र द्वारा तथा आँख से देखना चाहिए।

शव की इस संरक्षण-विधि (Preservation Method) का उपयोग प्राचीन काल में होता था। इससे पता चलता है कि शवच्छेद (Dissection) की क्रिया प्राचीन काल में भी प्रचलित थी। आजकल शव-संरक्षण अन्य विधि से किया जाता है। फार्मलीन तथा संखिया के घोल का मृत शरीर में इंजेक्शन दिया जाता है, जिससे शव सड़ता नहीं है, बल्कि सूख जाता है।

उपसंहार

इति शास्त्रेण यद्दृष्टं प्रत्यक्षतश्च यत्।
समागतं तदुभयं भूयो ज्ञानं विवर्धयेत् ॥ ४० ॥

क्योंकि जो शास्त्र द्वारा पढ़ा गया हो तथा उसी को प्रत्यक्ष रूप से फिर देख लिया गया हो, तो दोनों विधियों से प्राप्त हुआ ज्ञान अधिक ज्ञान की वृद्धि करता है।

शस्त्र-कोश

स्यान्नवाङ्गुलविस्तारः सुघनो द्वादशाङ्गुलः ।
क्षौमपत्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः ॥ ४१ ॥
विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णास्थशस्त्रकः ।
शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोशः सुसञ्चयः ॥ ४२ ॥
इति यन्त्रशस्त्रविधिर्नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

शस्त्र-कोश नौ अंगुल चौड़ा, सुघन (दृढ़), बारह अंगुल लम्बा, क्षौमपत्र, ऊनी वस्त्र, कौशेय (रेशमी वस्त्र), दुकूल (भारी वस्त्र) या कोमल चमड़े का बना हुआ हो, जिसको बंद करने के लिए पाश (डोरा) लगा हो, जो भलीभाँति सिला गया हो, जिसके अन्दर ऊन के पर्दे लगाकर शस्त्र रखे गये हों, जिसका मुख शलाका से बन्द होता हो तथा जिसमें शस्त्रों का अच्छा संचय हो, इस प्रकार का शस्त्रकोश होना चाहिए ।

सुश्रुतसंहिता में शस्त्रों को रखने के लिए किसी भी प्रकार के शस्त्रकोश का वर्णन नहीं किया गया है । जबकि वाग्भट ने उपर्युक्त प्रकार के शस्त्रकोश का निर्माण करने का वर्णन किया है । इसे हम आजकल सर्जिकल इन्स्ट्रूमेन्ट केस (Surgical Intrument Case) कहते हैं ।

इस प्रकार 'यन्त्रशस्त्रविधि' नामक चतुस्त्रिंश अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में प्राचीन काल में प्रयुक्त होने वाले यन्त्र, शस्त्र, अनुयन्त्र, अनुशस्त्र, यन्त्र-शस्त्र के कर्म, यन्त्र-शस्त्रों के दोष, शस्त्रों की पायना, शस्त्र ग्रहण की विधि, शल्यचिकित्सक की योग्यता आदि का वर्णन विस्तार से किया गया है । इसके अतिरिक्त शवच्छेद विधि (Dissection) का भी उल्लेख मिलता है । यन्त्र छः प्रकार के तथा शस्त्र छब्बीस प्रकार के बतलाये गये हैं । सभी यन्त्रों में हाथ ही प्रधानतम यन्त्र माना गया है, क्योंकि सभी यन्त्र एवं शस्त्र हाथ के ही अधीन हैं ।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

अथातो जलौकोविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'जलौकाविधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

आधुनिक प्राणिशास्त्र की दृष्टि से जलौका (Leach) का संघ (Phylum) एनिडिला (Annedila), वर्ग (Class) हिरूडिनिया (Hirudinea), वंश (Genus) हिरूडिनेरिया (Hirudinaria) तथा जाति ग्रैनुलोसा (Granulosa) है।

जलौका (जोंक *Hirudinaria granulosa*) प्रायः मीठे जल वाले तालाबों, पोखरों एवं गड्ढों में पाया जाता है। यह बाह्य परजीवी द्विलिङ्गी (Hermaphrodite) जन्तु है, जो अधिकतर स्तनधारियों का रक्त चूसकर अपना जीवन निर्वाह करता है। इसी रक्त चूसने की विशेषता के कारण ही अशुद्ध रक्त के निर्हरणार्थ इसका उपयोग किया जाता है।

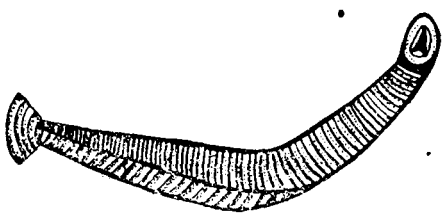

इसका आकार लम्बा एवं खण्डित (Segmented) होता है। इसके दोनों अग्र एवं पश्च सिरों पर दृढ़ चूषकांग (Suckers) होते हैं, जिन्हें क्रमशः अग्र एवं पश्च चूषकांग (Anteior and Posterior Suckers) कहते हैं। पश्च चूषकांग प्लेट की तरह होता है और इसकी सहायता से जलौका स्वयं को उस जीव के शरीरांग पर स्थिर करती है, जिसका रक्त चूषण करना होता है। अग्र चूषकांग ही रक्तचूषण हेतु प्रयुक्त होता है। अग्र चूषकांग अण्डाकार होता है, जो शरीर के ऊपरी सिरे के अधर तल (Ventral Surface) पर स्थित होता है। अग्र चूषकांग की सतह पर त्रि-अरीय मुख (Tri-radiate Mouth) स्थित होता है। इसी अग्र चूषकांग का स्वतंत्र किनारा ग्रंथिल एवं चल होता है, जो ऊपरी ओठ की भाँति कार्य करता है। वीलम (Velum) नामक मांसीय रचना पूर्व मुखगुहिका (Preoral Chamber) और मुखगुहिका (Buccal Cavity) को अलग करती है। वीलम के पीछे मुखगुहिका तीन जबड़ों से युक्त होती है, जिसमें से प्रत्येक जबड़ा अर्द्धगोलाकार स्वतंत्र तल से युक्त होता है, जिस पर ८५ से १२८ दाँत एक शृंखला में लगे रहते हैं।

जलौका रक्तचूषण हेतु अपने अग्र चूषकांग का मुखाग्र कक्ष (Preoral Chamber) पोषक जीव के शरीरांग पर प्रयुक्त करती है। मुख द्वारा जबड़े बाहर आते हैं, जो अपनी आगे-पीछे होने वाली गति से पोषक के शरीरांग पर एक त्रि-अरीय चीरे के समान घाव उत्पन्न कर देते हैं। ग्रास-नली (Pharynx) को चूषण क्रिया के फलस्वरूप पोषक के शरीरांग से जलौका के आहार में रक्त

का एक धारयुक्त प्रवाह होने लगता है। रक्त के इस धाराप्रवाह में रक्त के न जमने का हेतु जलौका के शरीर में उत्पन्न रक्त-स्कन्दन प्रतिरोध हिरुडिन (Anticoagulant Hirudin) है। मुखाग्र कक्ष (Preoral Chamber) मुखगुहिका (Buccal Cavity) और ग्रासनली (Pharynx) मिलकर जलौका के रक्तचूषण यन्त्र का निर्माण करते है।

प्राणिविज्ञान की दृष्टि से यह दो प्रकार की होती है—(१) हिरुडो मेडिसिनेलिस (Hirudo Medicinalis) एवं (२) हिरुडो डेट्रिमेण्टल (Hirudo Detrimental)। इनमें पहली प्रकार की जलौका निर्विष तथा दूसरी सविष होती है। सुश्रुतसंहिता में इसकी निरुक्ति दो प्रकार से कही गयी है—(१) 'जलमासामायुरिति जलायुकाः' अर्थात् जल ही आयु है जिनकी; तथा (२) 'जलमासामोक इति जलौकसः'। (सु. सू. १३।८) अर्थात् 'जलमोकः निवासस्थानं यस्य सः जलौकाः'। जल में जिसका निवास स्थान हो, उसे जलौका कहते हैं। यद्यपि अनेक जन्तुओं का निवासस्थान जल में होता है, फिर भी जलौका शब्द जोंक के लिए रूढ़ हो गया है। अन्य जलचर प्राणियों की जलौका संज्ञा नहीं है।

रक्तविस्रावण में जलौका का प्रयोग

नृपाढ्यभीरुसुकुमारबालस्थविरनारीणामसृग्विस्रावणाय जलौकसो योजयेत् ॥ ३ ॥

नृप (राजा), आढ्य (धनी), भीरु (शस्त्रकर्म आदि से डरने वाले), सुकुमार, बालक, वृद्ध तथा नारियों में रक्तमोक्षण करने के लिए जलौका (*Hirudinaria granulosa*) का प्रयोग करना चाहिए।

रक्तविस्रावण की जितनी विधियाँ होती हैं, उनमें जलौकावचरण सबसे मृदु होता है, अतः उपर्युक्त प्रकार के रोगियों में प्रयुक्त होता है।

सविष एवं निर्विष जलौका

तास्तु द्विविधाः—सविषा निर्विषाश्च। तत्र दुष्टाम्बुसर्पमण्डूकमत्स्यादिशवकोथमूत्रपुरीषजा रक्तश्वेतातिकृष्णतनुस्थूलचपलपिच्छिलाः स्थूलमध्यरोमशाः शक्रायुधवद्विचित्रोर्ध्वराजोचिता वा सविषाः। तद्दंशाद्दाहशोफपाककण्डूपिटिकाविसर्पज्वरमूर्च्छाश्वित्रोत्पत्तिः। तत्र विषपित्तरक्तहरां क्रियां कुर्वीत। पद्मोत्पलसौगन्धिकादिसुगन्धविमलविपुलसलिलशैवालजाः शैवालश्यावा नीलोर्ध्वराजयो वृत्ताश्च निर्विषाः ॥ ४ ॥

जलौका (जोंक *Hirudinaria granulosa*) दो प्रकार की होती है—१. सविष एवं २. निर्विष। इनमें जो जोंक दूषित जल में तथा सर्प, मेढक एवं मछली आदि जन्तुओं के शव के सड़ने तथा मूत्र एवं मल की सड़न से उत्पन्न होती है, जो लाल, श्वेत, अत्यन्त काले वर्ण वाली और पतली, मोटी, चपल (चंचल) एवं पिच्छिल (चिपचिपी) तथा मध्य भाग में मोटी एवं रोमों वाली होती हैं तथा इन्द्रधनुष के समान विचित्र रेखाओं से ऊपर की ओर चित्रित होती हैं, वे विषयुक्त होती हैं। इनके दंश से दाह, शोफ, पाक, कण्डू, पिटिका (छोटी-छोटी पिडिका), विसर्प, ज्वर, मूर्च्छा तथा श्वित्र नामक रोग की उत्पत्ति होती है। इनमें विष, पित्त एवं रक्त को शांत करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए। पद्म (*Nelumbo nucifera*), उत्पल (*Nymphea stellata*), सौगंधिक (*Nymphaea alba*) आदि प्रकार के कमलों से सुगंधित, विमल एवं पर्याप्त जल में शैवाल में उत्पन्न होने वाली, शैवाल के सदृश साँवली और जिनके ऊपर नीली धारियाँ होती हैं और जिनका शरीर गोल होता है, वे निर्विष (विषहीन) जलौका होती हैं।

सुश्रुतसंहिता में कपिला, पिङ्गला, शंकुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी और सावरिका निर्विष जलौकाओं तथा कृष्ण, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्दना आदि विषयुक्त जलौकाओं का उल्लेख मिलता है।

नर एवं मादा जलौका

सर्वासां च परं प्रमाणमष्टादशाङ्गुलानि। तत्र चतुःपञ्चषडङ्गुला नृषु योजयेत्। गजवाजिष्वपराः। तासु सुकुमारास्तनुत्वचोऽल्पशिरस्का बृहदधरकायाश्च स्त्रियः। विपरीताः पुमांसोऽर्धचन्द्राकृतिपुरोवृत्ताश्च। तत्र बहुदोषेषु चिरोत्थितेषु चामयेषु पुमांसो योजयितव्याः। स्त्रियो विपरीतेषु।

सभी जोंकों (*Hirudinaria* sp.) में लम्बाई का प्रमाण अधिक से अधिक अठारह अंगुल होता है। इनमें चार, पाँच या छः अंगुल लम्बी जलौका का प्रयोग मनुष्यों में करना चाहिए। इनसे अधिक लम्बी जोंकों का प्रयोग हाथी (*Elephas indicus*) एवं घोड़ा (*Equuas cabelus*) में करना चाहिए। इन जोंकों में जो सुकुमार, पतली त्वचा की, छोटे सिरवाली एवं नीचे के भाग में मोटी होती है, वे स्त्री (मादा) जाति की होती हैं। इनके विपरीत पुमान् (नर) जाति की जोंकें होती हैं, जो अर्द्धचंद्राकार तथा आगे की ओर गोल होती हैं। इनमें बहुत दोष वाले पुराने रोगों में पुरुष जाति की जोंक लगानी चाहिए तथा इसके विपरीत रोगों में स्त्री जाति की जोंकों का प्रयोग करते हैं।

ऊपर वाग्भट ने पुरुष (नर) तथा स्त्री (मादा) इन दो प्रकार की जोंकों का वर्णन किया है। प्रबल एवं अनेक दोष वाले जीर्ण रोगों में पुरुष-जलौका तथा नये रोगों में स्त्री-जलौका का प्रयोग किया जाता है। इसी तरह छोटी जलौका का प्रयोग मनुष्यों में तथा बड़ी जलौका का प्रयोग हाथी, घोड़ा आदि बड़े जानवरों में किया जाता है।

जलौका का पालन

जलौकसस्त्वार्द्रचर्माद्युपायैर्गृहीत्वा सुरभिपङ्कगर्भे नवे घटे स्थापयेत्। शृङ्गाटककसेरुकशालूकशैवालमृणालवल्लूरमृत्स्नापुष्करबीजचूर्णं स्वादुशीतस्वच्छं च तोयमन्नपानार्थे ताभ्यो दद्यात्। लालादिकोथपरिहारार्थमेव च त्र्यहात्त्र्यहात्पूर्वमन्नपानमपनीयान्यत्प्रक्षिपेत्। पञ्चाहाच्च तद्विध एव घटान्तरे ताः सञ्चारयेत्। तासां तु दुष्टशोणितासम्यग्वमनात् प्रततपातनाच्च मूर्च्छा भवति। तासामम्भोभिः पूर्णभाजनस्थानामचेष्टयाऽऽहारानभिलाषेण च ज्ञात्वा ता विवर्जयेत्।

जोंकों को गीले चमड़े आदि से पकड़कर सुगंधित कीचड़युक्त नये घड़े में रखना चाहिए। सिंघाड़ा (*Trapa bispinosa*), कशेरुक (*Scirpuskysoor* sp.), शालूक (एक प्रकार का कंद ?), शैवाल, मृणाल (कमलनाल *Nelumbo nucifera*), वल्लूर (शुष्कमांस), मिट्टी, पुष्करबीज (कमलगट्टा *Nelumbo nucifera*) खाने के लिए तथा मधुर, शीतल एवं स्वच्छ जल पीने के लिए देना चाहिए। लालास्राव आदि से कोथ (सड़न) की उत्पत्ति न होने पाये, इसलिए तीन-तीन दिन के अन्तर पर इस अन्नपान को बदल देना चाहिए और पाँच-पाँच दिन के अन्तर पर उपर्युक्त प्रकार के जल वाले दूसरे नये घड़े में बदल देना चाहिए। दूषित रक्त का भलीभाँति वमन न होने से और बार-बार रुग्ण स्थान पर लगाने से जोंक (*Hirudinaria granulosa*) को मूर्च्छा आ जाती है। इस अवस्था में पानी से भरे हुए पात्र में जोंकों को डाल देना चाहिए और यदि

उसमें जोंक चेष्टा न करे और अन्न की अभिलाषा न करे, तो यह जानकर कि ये मर चुकी हैं, इनको छोड़ देना चाहिए।

यहाँ जलौका के संग्रहण एवं पोषण की विधि बतलाई गई है। इससे विदित होता है कि प्राचीन काल में इसके संग्रहादि विषयों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। जलौका-संग्रह करने का उत्तमकाल शरद् ऋतु है, क्योंकि इस ऋतु में तालाबों का जल स्वच्छ होता है तथा चिकित्सा में प्रयुक्त होनेवाली निर्विष जलौकाएँ स्वच्छ जल में ही रहती हैं। जलौका का संग्रह एवं पालन करने के लिए घड़े की जगह शीशे का जलपात्र (Aquarium) का प्रयोग किया जा सकता है। शैवाल एवं मांस का चूर्ण आदि डालकर जलौका के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार किया जाता है। जल को बार-बार बदलते रहना चाहिए, जिससे सड़न (कोथ) न उत्पन्न हो।

जलौकावचारण विधि

इतरास्तु हरिद्रासर्षपकल्काम्भसि मुक्तपुरीषा अवन्तिसोमे तक्रे वा पुनश्च समाश्वासिता जले सुखोपविष्टस्य सन्निविष्टस्य वा मृद्गोमयचूर्णाभ्यामनुसुखं विरूक्ष्य दंशदेशं योजयेत्। अलगन्तीषु क्षीरघृतनवनीतरुधिरान्यतमबिन्दून्न्यसेत्प्रच्छेद्वा। अश्वखुरवच्च वक्त्रं निवेश्योन्नतस्कन्धा दशन्ति। यदा च शिशुवच्छ्वसन्त्यो शिरःस्पन्दोर्मिवेगैः पिबन्ति तदा आर्द्रवाससा प्रच्छादयेत्[1]। सेचयेच्चाम्भसाल्पाल्पम्। यथा च हंसः क्षीरोदकात्क्षीरमादत्ते। तद्वदुत्क्लिष्टे रक्ते जलौकाः प्राग् दुष्टमसृक्। यदा च तद्दंशे तोदः कण्डूर्वा तदा शुद्धरक्तरक्षणार्थमपनयेत्। लौल्याच्च दंशममुञ्चन्त्याः क्षौद्रं लक्षणचूर्णं वा मुखे दद्यात्॥ ५॥

जो इसके विपरीत हो, उन्हें हल्दी (*Curcuma longa*) एवं सरसों (*Brassica compestris*) के कल्क से मिश्रित जल में छोड़ दें। जब वे पुरीष का त्याग कर लें, तब अवन्तिसोम (काँजी) के पानी अथवा तक्र में डाल दें, पुनः शुद्ध जल में डाल दें। तत्पश्चात् सुखपूर्वक बैठे अथवा लेटे हुए रोगी में जहाँ जोंक लगानी हो, उस स्थान को मिट्टी या गोबर के चूर्ण से थोड़ा रगड़कर रूक्ष बनाकर वहाँ जोंक लगा दें। कदाचित् यदि जोंक दंश स्थान पर न लगे, तो वहाँ दूध, घृत, नवनीत अथवा रक्त की कुछ बूँदें गिरा दें अथवा शस्त्र द्वारा प्रच्छान (पतले चीरे) लगा दें। जब घोड़ों के खुर की भाँति मुख को चौड़ा करके और कंधे को ऊँचा करके काट रही हो तथा बच्चों की तरह श्वास लेती हो और उसके शिर में स्पन्दन के समान वेग हो रहा हो, तब समझें कि वह रक्त पी रही है। उस समय इसे गीले कपड़े से ढँक देना चाहिए और उसके ऊपर जल से सिंचन करना चाहिए। जिस प्रकार हंस (*Anser indicus*) पानी मिले दूध से दुग्ध को ले लेता है, उसी प्रकार जोंक उत्क्लिष्ट (शुद्ध) रक्त में से पहले दूषित रक्त को पीती है। जब दंश स्थान में रोगी को तोद (सुई चुभने जैसी पीड़ा) अथवा कण्डू का अनुभव हो, तब शुद्ध रक्त पी रही है, ऐसा जानकर जोंक (*Hirudinaria granulosa*) को हटा देना चाहिए। लोलुपता आदि के कारण जोंक यदि दंश स्थान को न छोड़ रही हो, तो उसके मुख पर मधु अथवा लवण चूर्ण लगा देना चाहिए।

हल्दी एवं सरसों के कल्क मिश्रित जल, काँजी आदि के जल में छोड़ने से जलौका का शोधन होता है, उसकी भूख बढ़ती है एवं उसमें स्फूर्ति आती है तथा रक्तप्रचूषण की इच्छा उत्पन्न होती है। जलौका के प्रयोग से पूर्व आतुर को स्नेहन एवं स्वेदन करा देने से अधिक लाभ होता है। साथ ही अंग का विरूक्षण करने के पश्चात् ही जलौका को उस स्थान पर लगाना चाहिए। ऐसा करने से जलौका अपने शंकुमुखों (Suckers) को त्वचा में दृढ़ता से जमा लेती है।

---

१. 'मृदुवाससावच्छादयेत्' इति पाठान्तरम्।

पश्चात्कर्म

पतितां तु तण्डुलकण्डनोपदिग्धगात्रां तैललवणाक्तमुखीं पुच्छादामुखमनुलोमं शनैः पीडयन् सम्यग्वामयेत् । ततः पूर्ववत्सन्निदध्यात् । सप्तरात्रं च ताः पुनर्न पातयेत् । अशुद्धे तु रक्ते मधुना गुडेन वा दंशान् किञ्चिद्विघट्टयन् स्रावयेत् । स्रुतरक्तस्य च सद्यो दंशं शीताभिरद्भिः प्रक्षाल्य सर्पिः पिचुनाऽवगुण्ठयेत् । स्थिररक्तं[1] चोत्क्लिष्टशोणितशेषप्रसादनाय कषायमधुरशिशिरैः सघृतैः प्रदेहैः प्रदिह्यात् ॥ ६ ॥

जब जोंक (*Hirudinaria granulosa*) दंश स्थान को छोड़कर अलग हो जाये, तब तण्डुलकण्डन (तण्डुलत्वक्चूर्ण या धान *Oryza sativa* की भूसी) को जोंक के शरीर पर लगाकर तथा मुख पर तैल और नमक लगाकर, पूंछ से मुख तक धीरे-धीरे दबाकर भलीभाँति वमन करा देना चाहिए । इसके पश्चात् पूर्व की भाँति इसे रख देना चाहिए और सात दिनों तक इसका प्रयोग पुनः नहीं करना चाहिए । दंश स्थान को शहद या गुड़ से थोड़ा रगड़ कर बहते हुए अशुद्ध रक्त को बाहर कर देना चाहिए । रक्त के निकल जाने पर तत्काल दंशस्थान को ठण्डे जल से धोकर घी के पिचु से ढँक देना चाहिए और रक्त निकलना बन्द हो जाने पर बचे हुए दूषित रक्त को शुद्ध करने के लिए कषाय, मधुर एवं शीतल द्रव्य को घी के साथ मिलाकर लेप कर देना चाहिए ।

तात्पर्य यह है कि पश्चात् कर्म में दो कार्य हैं—१. जलौका उपचार तथा २. व्रण उपचार ।

जलौका से रक्तस्रावण का सम्यक् योग

तत्र योगादीन् सिराव्यधवदुपलक्षयेत् प्रतिकुर्वीत च । दुष्टरक्तापगमाच्छ्वयथुशैथिल्यं दाहरागशूलोपशमश्च । रक्तं तु पित्तेन दुष्टमलाबुघटिकाभ्यां न निर्हरेदग्निसंयोगाद्वातकफाभ्यां च दुष्टं निर्हरेत् । तथा कफेन न शृङ्गेण स्कन्नत्वाद्वातपित्ताभ्यां तु दुष्टं निर्हरेत् । अथ प्रच्छाद्याङ्गं तनुवस्त्रपटलावनद्धप्रान्तेन शृङ्गेण चूषेत् । तथा प्रदीप्तपिचुगर्भाभ्यामलाबुघटिकाभ्यामिति ॥ ७ ॥

जोंक (*Hirudinaria granulosa*) द्वारा रक्तस्राव के सम्यक्योग, अयोग तथा अतियोग सिरावेध की भाँति समझना चाहिए और उसी के समान अयोग एवं अतियोग की चिकित्सा करनी चाहिए । दूषित रक्त के निकल जाने से शोथ में कमी, दाह (जलन), राग (लालिमा) एवं शूल (वेदना) की शांति हो जाती है । रक्त यदि पित्त से दूषित हो रहा हो, तो रक्त को अलाबु एवं घटिका यन्त्र के द्वारा नहीं निकालना चाहिए, क्योंकि दीपक रूप अग्नि से संयोग होने पर रक्त और भी दूषित हो जाता है । वात एवं कफ से दूषित रक्त को अलाबु एवं घटीयन्त्र से बाहर निकालना चाहिए । कफ से दूषित रक्त को शृंग से नहीं निकालना चाहिए, क्योंकि कफ के संयोग से रक्त जम जाता है । वात एवं पित्त से दूषित रक्त को शृंग से निकालना चाहिए । जब शृंग से रक्त निकालना हो, तो व्रण स्थान पर किसी शस्त्र से प्रच्छान लगाकर, शृंग के मुख के छेद पर पतला कपड़ा लगाकर मुख को चूसना चाहिए । इसी प्रकार प्रच्छान लगाकर प्रदीप्त पिचु से अलाबु या घटीयन्त्र को गर्म करके रक्त को निकालना चाहिए ।

यहाँ दोषानुसार शृंग, अलाबु एवं घटी यन्त्र के प्रयोग का विधान बतलाया गया है ।

---

१. 'स्थितरक्तं' इति पाठान्तरम् ।

प्रच्छान लगाने की विधि

भवति चात्र—

गात्रं बध्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम् ।
स्नायुसन्ध्यस्थिमर्माणि त्यजन्प्रच्छानमाचरेत् ॥ ८ ॥
अधोदेशप्रविसृतैः पदैरुपरिगामिभिः ।
न गाढघनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरेत् ॥ ९ ॥
प्रच्छाननैकदेशस्थं सुप्तं शृङ्गादिभिर्हरेत् ।
ग्रथितं तु जलौकोभिरसृग्व्यापि सिराव्यधैः ॥ १० ॥
प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकसः ।
त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्गं सिरैव व्यापकेऽसृजि ।
वातादिधाम वा शृङ्गजलौकोऽलाबुभिः क्रमात् ॥ ११ ॥

जिस स्थान पर प्रच्छान करना हो, उस स्थान के ऊपर रज्जु या वस्त्र से मजबूत बाँधकर स्नायु, संधि, अस्थि और मर्म को बचाकर प्रच्छान लगाना चाहिए। यह प्रच्छान नीचे से आरंभ करके ऊपर की ओर ले जाना चाहिए और प्रच्छान बहुत गहरा, घना (पास-पास), तिर्यक् (तिरछा) तथा एक के ऊपर एक नहीं होना चाहिए। एक देश में स्थित रक्त को प्रच्छान से जहाँ शून्यता (स्पर्शज्ञान का अभाव) हो, उस स्थान में शृंग एवं अलाबु आदि से; ग्रंथि आदि में संचित रक्त को जलौका द्वारा तथा सारे शरीर में व्याप्त रक्त की विकृति को शिरावेध द्वारा रक्त-स्रावण करना चाहिए। दूषित रक्त के पिण्डित (एकत्रित) होने पर प्रच्छान करना चाहिए। रक्त के अवगाढ़ (अधिक गाढ़ा) होने पर जोंक लगाना चाहिए। त्वचा में दूषित रक्त के स्थित होने पर अलाबु, घटीयन्त्र या सींग (शृंग) लगाकर और संपूर्ण शरीर में दूषित रक्त व्याप्त होने पर सिरावेध द्वारा रक्तस्रावण करना चाहिए अथवा वात से दूषित रक्त को शृंग से, पित्त से दूषित रक्त को जलौका से और कफ से दूषित रक्त को अलाबु से निकालना चाहिए।

रक्तस्रावण के अनन्तर कर्म

स्रुतासृजः प्रदेहाद्यैः शीतैः स्याद्वायुकोपतः ।
सतोदकण्डूः शोफस्तं सर्पिषोष्णेन सेचयेत् ॥ १२ ॥
इति जलौकोविधिर्नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

रक्तस्राव के अनन्तर शीतल प्रलेप आदि से वायु का कोप हो जाने पर कदाचित् तोदयुक्त कण्डू तथा शोफ हो जाय, तो शोथ का उष्णघृत से सेचन करना चाहिए।

इस प्रकार जलौकाविधि नामक पञ्चत्रिंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

रक्तमोक्षण विधि के मुख्य साधनों में जलौका का नृप, आढ्य (धनी), भीरु, सुकुमार बालक, वृद्ध, त्वचागत रोगों एवं स्थानिक रक्तदुष्टि में प्रयोग का उल्लेख मिलता है। इनकी सविष एवं निर्विष दो जातियाँ होती हैं। चिकित्सा में निर्विष जाति की जोकों का प्रयोग होता है। इनके पालने, पकड़ने एवं दूषित स्थान पर लगाने की विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

अथातः सिराव्यधविधि नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'सिराव्यध-विधि' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

'सरति याभिः रक्तम् इति सिराः' अर्थात् जिनके द्वारा रक्त का वहन होता है, उन्हें सिराएँ कहते है। सिराओं का वेधन 'सिरावेध' कहलाता है। उसकी विधि इस अध्याय में बतलायी गयी है। पंचकर्म के अन्तर्गत ही अनेक आचार्यों ने रक्तमोक्षण (रक्त-निर्हरण या रक्तावसेचन) का भी समावेश किया है। रक्तावसेचन विभिन्न विधियों से किया जाता है, जिन्हें निम्न तालिका में प्रदर्शित किया गया है—

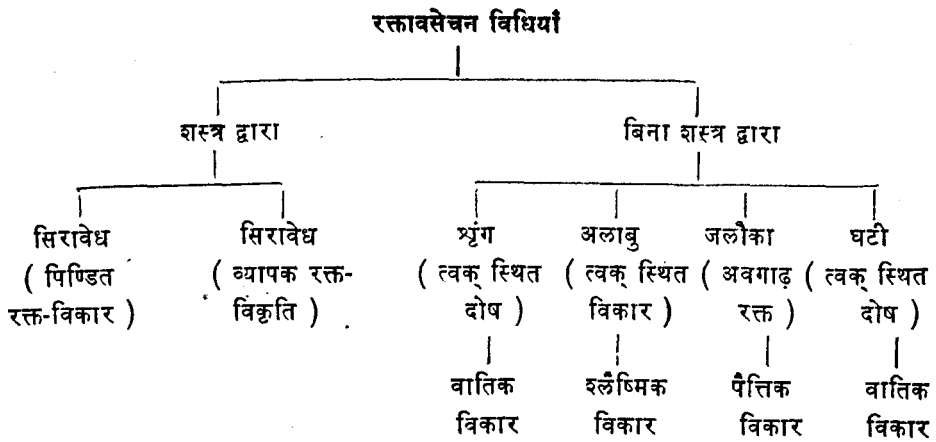

रक्तावसेचन की इन समस्त विधियों में सिरावेध को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। रक्तावसेचन का उपयोग न केवल रोगों के निवारणार्थ (Curative) ही किया जाता है, अपितु इसका प्रतिषेधात्मक (Prophylactic) उपयोग भी किया जाता है; यथा—'त्वग्दोषाः ग्रन्थयः शोफा रोगाः शोणितजाश्च ये। रक्तमोक्षणशीलानां न भवन्ति कदाचन' ॥ (सु० सू० १४) अर्थात् रक्तमोक्षणशील (समय-समय पर रक्तमोक्षण कराने वाले) मनुष्यों में त्वक्‌रोग, ग्रंथिरोग तथा रक्तजन्य रोग कभी भी नहीं होते हैं।

आधुनिक चिकित्सा-पद्धति में भी रक्तनिर्हरण (Letting of Blood Vessels) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उदाहरणार्थ उच्च रक्तचाप (Hypertension) में रक्त की सिराओं को काट (Venesection) करके रक्त की कुछ मात्रा को शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है, फलस्वरूप रोगी की दशा में सद्यः सुधार होता है। फाइलेरियल ईडिमा (Filarial Oedema) के भी कुछ रोगियों में यह देखा गया है कि सिराओं को काटने (Venesection) पर पैर की सिराओं का शोथ (Varicosity) कम हो जाती है।

सिरावेध की महत्ता

बहवो हि रक्तावसेचनोपायाः प्रागभिहितास्तेषामन्येषां च विरेकादीनामुपक्रमाणां तत्साध्येष्वामयेषु सिराव्यधः प्रधानम्। अमुना हि ते समूलाः शोषमायान्ति केदारसेतु-भेदेन शाल्यादय इव ॥ ३ ॥

रक्तावसेचन (रक्तनिर्हरण या शरीर से रक्त को बाहर निकालना) की अनेक विधियाँ पूर्व में बतलाई गई हैं। रक्तावसेचन के उन उपक्रमों में तथा विरेचन आदि अन्य उपायों में (रक्तावसेचन द्वारा साध्य रोगों में) सिरावेध ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इस सिरावेध से वे रोग उसी प्रकार समूल नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार केदार (खेत) की सेतु (बंध) तोड़ देने से शालि आदि धान्य नष्ट हो जाते हैं।

सिरावेध की प्रधानता

तथा च—

सिराव्यधश्चिकित्सार्धं सम्पूर्णं वा चिकित्सतम्।
शल्यतन्त्रे स्मृतो यद्वद् बस्तिः कायचिकित्सिते ॥ ४ ॥
यथा रक्तमधिष्ठानं विकाराणां विकारिणाम्।
अन्यन्न हि तथा दूष्यं कर्मेदं प्रथमं ततः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार बस्ति-चिकित्सा को आधी या सम्पूर्ण कायचिकित्सा के रूप में स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार ही सिरावेध को भी आधी या सम्पूर्ण शल्यचिकित्सा बतलाया गया है, क्योंकि विकारिणाम् अर्थात् रोगियों के विकार (रोग) का जितना प्रधान आश्रय रक्त है, उतना महत्त्वपूर्ण आश्रय अन्य कोई दूष्य (धातु) नहीं है, इसीलिए सिरावेध को प्रधान या प्रथम कर्म कहा गया है।

सुश्रुत ने रक्त को देह का मूल कहा है—'देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते। तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितः' ॥ (सु० सू० १४) अर्थात् रक्त ही शरीर का मूल है तथा यही शरीर का धारण भी करता है। इसलिए इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। वास्तव में रक्त ही जीव है। चूँकि रक्त सर्वशरीर में व्याप्त रहता है, अतः इसी को जीव भी माना गया है। अतएव कोई भी व्याधि शरीर में होती है, तो वह रक्त को प्रधान रूप से प्रभावित करती है। इसलिए रक्त की चिकित्सा भी बस्ती की ही भाँति महत्त्वपूर्ण है। इस रक्त की चिकित्सा हेतु रक्तावसेचन प्रमुख कर्म है तथा इसमें भी सिरावेध ही मुख्य है। अतः सिरावेध को प्रधान या प्रथम कर्म माना गया है। विशेष करके शल्यतन्त्र से सम्बन्धित रोगों में तो रक्तावसेचन को निश्चित रूप से प्रथम चिकित्सा माना गया है—'रक्तावसेचनं कार्यमादावेव विचक्षणैः। शोथे महति संरब्धे वेदनावति च व्रणे' ॥

रक्त

तत्राम्बुशारीरमाहारसारभूतं रसाख्यमविकृतमविकृतेन तेजसा रञ्जितमिन्द्रगोपाकारं च शशशोणितगुञ्जाफलालक्तकपद्मसुवर्णवर्णं धौतं च विरज्यमानं मधुरमीषल्लवणं स्निग्धमसंहतशीतोष्णं गुरु पित्तैकचयकोपोपशमनं सौम्याग्नेयं प्रकृत्या रक्तमाहुस्तदा दूश्यम्। दोषमिति केचित्। उभयात्मकमन्ये ॥ ६ ॥

वह अम्बु (रक्त) शरीर में ग्रहण किये गये आहार के सारभूत रस नामक अविकृत (प्राकृत) धातु के प्राकृत तेज से रञ्जित होने (रंगे जाने) पर बनता है। यह इन्द्रगोप (बीर-

बहूटी *Mutella occidentalis*) या शशक (खरगोश *Oryctolagus cuniculus*) के रक्त के समान या गुञ्जाफल के समान, आलक्तक (महावर) के समान, पद्म (रक्तकमल *Nelumbo nucifera*) के समान तथा सुवर्ण के सदृश वर्ण वाला होता है। कपड़ों पर इसका दाग लग जाने पर छूटता नहीं। यह मधुर, किञ्चित् लवण, स्निग्ध, न शीत, न उष्ण, गुरु, पित्त के सदृश ही संचय, प्रकोप तथा प्रशम वाला तथा प्रकृति से सौम्याग्नेय होता है। कुछ आचार्य इसे दूष्य, कुछ दोष तथा कुछ आचार्य इसे दोष एवं दूष्य दोनों ही मानते हैं।

यहाँ रक्त के सम्बन्ध में आयुर्वेद का मत व्यक्त किया गया है। आधुनिक मतानुसार रक्त एक विशिष्ट प्रकार का संभोजी ऊतक (Connective Tissue) होता है। यह दो भागों से बनता है—(१) ठोस भाग—रक्त की कणिकाएँ (Blood Corpuscles) होती हैं, जो (२) द्रव-भाग (Plasma) में तैरती है। इसका ९०% से लेकर ९१% भाग जल ही होता है। इसीलिए आचार्यों ने कहीं-कहीं पर 'रक्त' के बदले में 'अम्बु' शब्द का प्रयोग किया है। इसके कार्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण (Vital–जैविक) हैं। यह शुद्ध वायु (Oxygen) को अपने साथ ले जाकर शरीर के विभिन्न भागों में पहुँचाता है तथा वहाँ से अशुद्ध रक्त (Non Oxygenated Blood) को पुनः हृदय एवं फेफड़ों में शुद्धीकरण हेतु पहुँचाता है। सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करने के कारण पोषक द्रव्यों (Nutrition) को भी यह शरीर के विभिन्न भागों तक पहुँचाता है। शरीर में निरन्तर गतिशील रहने के कारण यह सम्पूर्ण शरीर का तापक्रम समान बनाये रखता है। इसमें कुछ विशेष प्रकार की कणिकाएँ होती हैं, जो भक्षण (Phagocytosis) द्वारा हानिकारक बाह्य पदार्थों को शरीर से दूर ले जाती हैं। साथ ही यह रक्तदाब (Blood Pressure) को भी नियन्त्रित करता है। यदि शरीर के किसी भी भाग में रक्त न पहुँचे, तो वहाँ पर पोषण तथा शुद्ध प्राणवायु (Oxygen) का अभाव हो जाता है एवं इस प्रकार रक्ताल्पता (Ischaemia) होकर कोथ (Gangrene) भी हो सकता है। इन्हीं प्रमुख जैविक क्रियाओं (Vital Functions) को सम्पादित करने के कारण इसे 'जीव' की संज्ञा भी दी गई है।

रक्तजन्य रोग

तच्चैवंविधमेव विधिवदाहारविहाराभ्यासाद्विशुद्धं बलवर्णसुखायुषां योनिः। इतरथा पुनः शरत्कालस्वभावादेव वा प्रदुष्टमभिष्यन्दाधिमन्थशुक्रार्मतिमिररक्तराजीशिरस्तोदभेददाहकण्डूकर्णरोगमुखपाकपूतिघ्राणास्योपदेहत्वग्गुल्मप्लीहविद्रधिवीसर्पज्वररक्तपित्तकुष्ठपिटिकाश्लीपदोपदंशशोफवातशोणितरक्तमेहक्षुद्ररोगाग्निस्वरनाशाङ्गगौरवसादारोचकाम्लोद्गारलवणास्यताक्रोधमोहस्वेदमदमूर्च्छासंन्यासकम्पतन्द्रादीनाम्। ये च शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैः सर्वदोषप्रतिपक्षैः सम्यगप्युपक्रान्ताः साध्या अपि न सिध्यन्ति। ते च रक्तप्रकोपजाः। तन्मात्तेष्वत्युद्रिक्तरक्तविस्रावणाय यथास्वं सिरां विध्येत् ॥ ७ ॥

इस प्रकार का वह रक्त विधिपूर्वक हिताहार एवं विहार के अभ्यास से विशुद्ध रहता है और बल, वर्ण, सुख तथा आयु का हेतु (कारण) होता है। इसके विपरीत आचरण करने से अशुद्ध रक्त अथवा शरत्काल में स्वभाव से ही दूषित हुआ रक्त, अभिष्यंद (Conjunctivitis), अधिमन्थ (Glaucoma), शुक्ररोग (Corneal Ulcer and Opacity), अर्म (Pterigium), तिमिर-रोग (Cataract), रक्तराजी (Redness in Eye), शिरस्तोद (Severe Headache), भेद (भेदवत् पीड़ा), दाह, कण्डूरोग (Scabies), कर्णरोग (Ear Diseases), मुखपाक,

१. 'देहत्वगुल्म' इति पाठान्तरम्।

पूतिघ्राण (नाक से दुर्गन्ध आना), आस्योपदेह (मुख में चिपचिपाहट), त्वक्‌रोग, गुल्मरोग, प्लीहा-रोग, विद्रधि (Abscess), विसर्प, ज्वर, रक्तपित्त, कुष्ठ (Skin Diseases), पिटिका, श्लीपद (Fileria), उपदंश, शोथ, वातशोणित (वातरक्त), रक्तमेह (Heamaturia), क्षुद्ररोग, अग्नि-नाश, स्वरनाश, अंगगौरव (शरीर में भारीपन), साद (आलस्य), अरोचक, अम्लोद्‌गार, लवणा-स्यता (मुख में नमकीन स्वाद की प्रतीति), क्रोध, मोह, स्वेद, मदरोग, मूर्च्छा, संन्यास, कंप (कम्पन) तथा तन्द्रा आदि अनेक प्रकार के रोगों का कारण होता है, जो रोग वातादि समस्त दोषों को जीतने वाले, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि उपायों द्वारा भली प्रकार चिकित्सा करने पर भी तथा साध्य होने पर भी शांत नहीं होते हैं, वे सभी रक्त के प्रकोप से उत्पन्न समझे जाते हैं। इसलिए इन रोगों में उद्रिक्त (दूषित एवं बढ़े हुए) रक्त का विस्रावण करने के लिए रोगानुसार सिरा का वेधन करना चाहिए।

सिरावेध से रक्त में सर्वांगरूप से व्याप्त दोषों का शोधन होता है, अतः उपर्युक्त रोगों में सिरावेध ही सर्वोत्कृष्ट चिकित्सा है।

सिरावेध के अयोग्य रोग एवं रोगी

न तु स्नेहपीतकृतपञ्चकर्मान्यतमगर्भिणीसूतिकाजीर्णिकामलाक्लीबोनषोडशातीत-सप्ततिवर्षाभिघातातिस्रुतरक्तादुष्टरक्तातिस्निग्धास्विन्नातिस्विन्नाक्षेपकपक्षाघातातिसार-छर्दिश्वासकासोदररक्तपित्तार्शःपाण्डुरोगसर्वाङ्गशोफपीडितानाम्। न चाव्यधनीयायन्त्रि-तानुत्थिताः सिरा न तिर्यङ् न चातिशीतोष्णवाताभ्रेषु। तत्र स्नेहपीतादिषु सम्यग्विद्धा अपि सिरा न स्रवन्त्यतिस्रवन्ति वा। सम्यक् स्निग्धस्विन्नस्य पुनर्द्रवीभूता दोषाः शोणित-मनुप्रविष्टाः सम्यक् प्रच्यवन्ते। [२]न त्वेवं निषेधो विषसंसृष्टोपसर्गात्ययिकव्याधिषु। प्रति रोगे तु व्यधं प्रति विभागः॥ ८॥

जिसने स्नेहपान किया हो, जिसने पंचकर्म में से किसी एक भी कर्म का सेवन किया हो, गर्भिणी, सूतिका (नवप्रसूता), अजीर्णरोगी, कामलारोगी, क्लीब (नपुंसक), सोलह वर्ष से कम तथा सत्तर वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्ति का, चोट से अधिक अदुष्ट रक्त निकल गया हो (दूषित रक्त न हो), अस्निग्ध, अतिस्निग्ध, अस्विन्न (जिसका स्वेदन न हुआ हो), अतिस्विन्न (जिसका स्वेदन अत्यधिक किया गया हो), आक्षेपक, पक्षाघात, अतिसार, छर्दि (वमन), श्वास, कास, उदररोग, रक्तपित्त, अर्शरोग, पाण्डुरोग तथा सर्वांगशोफ से जो पीडित हों, इनको सिरावेध नहीं करना चाहिए। जो शिराएँ वेधन योग्य हों, परन्तु जिनका यंत्रण (बंधन) न किया गया हो और जो बाँधने पर ऊपर न उठी हों तथा जो सिरा तिर्यग् गामिनी हो, उनका वेधन नहीं करना चाहिए। अत्यन्त शीतकाल, उष्णकाल, तेजवायु तथा वर्षाकाल में सिरावेध नहीं करना चाहिए। स्नेहपान आदि किये हुए व्यक्तियों में भलीभाँति वेधन करने पर सिरा से भी रक्त नहीं निकलता है अथवा अत्यधिक रक्तस्राव होता है। सम्यक् स्नेहन-स्वेदन करने से पुनः द्रवीभूत दोष रक्त में प्रविष्ट कर जाते हैं और फिर सम्यक् प्रकार से बाहर निकल जाते हैं। विषविकार, उपसर्ग तथा आत्यधिक (आपत्कालीन) व्याधियों में उपर्युक्त प्रकार का निषेध नहीं है। अर्थात् इस अवस्था में उनका सिरावेध करना चाहिए। प्रत्येक रोगों में विभिन्न स्थानों में सिरावेध करना चाहिए।

रोगविशेष में स्थानानुसार सिरावेध

शिरोनेत्ररोगेषु ललाटचा उपनास्याऽपाङ्ग्या वा। कर्णरोगेषु परितः कर्णौ। नासा-

---

१. 'व्यधनीयाश्चा' इति पाठान्तरम्। २. 'न त्वेष' इति पाठान्तरम्।

रोगेषु नासाग्रे। प्रतिश्याये तु नासाललाटस्थाः। मुखरोगेषु जिह्वौष्ठतालुहनुगाः। जत्रूर्ध्वं ग्रन्थिषु ग्रीवाकर्णशङ्खमूर्धगाः। अपस्मारे हनुसन्धिमध्यगाः। उन्मादे तूरोपाङ्गललाटगाः। विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वकक्षास्तनान्तरस्थाः। चतुर्थके स्कन्धाधोगतानामन्यतरपार्श्वाश्रयाम्। तृतीयकेऽसयोरन्तरे त्रिकसन्धिमध्यगताम्। प्रवाहिकायां शूलिन्या श्रोण्योः समन्ताद् द्व्यङ्गुले। निर्वृत्तोपदंशशुक्रव्यापत्सु मेण्ढ्रे। गलगण्ड ऊरुमूलसंश्रिताम्। गृध्रस्यां जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले। अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद् द्व्यङ्गुले। क्रोष्टुकशीर्षे सक्थिवातरुजासु च गुल्फस्योपरिचतुरङ्गुले। श्लीपदेषु यथास्वं वक्ष्यते। पाददाहहर्षचिप्पवातशोणितवातकण्टकविपादिकापाददारीप्रभृतिषु पादरोगेषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्टाद् द्व्यङ्गुले। एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ। विशेषतस्तु वामबाह्वाभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीहोदरे। एवमेव च दक्षिणबाहौ यकृदाख्ये। तथा कासश्वासयोरप्यादिशन्ति। गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम्। बाहुशोषावबाहुकयोरप्येके। अदृश्यमानासु चैतास्वतिप्रवृद्धव्याधेरन्यव्याध्युक्तानामपि यथासन्नं व्यधः॥ ९॥

शिर एवं नेत्र के रोगों में ललाट की, उपनास्या (नासिका के समीप की) अथवा अपाङ्ग प्रदेश (नेत्रों के समीप) की सिरा का वेधन करना चाहिए। कान के रोगों में कानों के परितः (चारों ओर की) सिराओं का वेधन करना चाहिए। नाक के रोगों में नासिका के अग्रभाग की तथा प्रतिश्याय में नासा तथा ललाट में स्थित सिराओं का वेधन करना चाहिए। मुखरोगों में जिह्वा, ओष्ठ, तालु एवं हनु प्रदेश को जाने वाली सिराओं का वेधन करना चाहिए। जत्रु के ऊपर के अंगों की ग्रंथिरोगों में ग्रीवा, कान, शंख एवं शिर की ओर जाने वाली शिराओं का वेधन करना चाहिए। उन्माद रोग में उरस् (वक्ष), अपांग तथा ललाट की ओर गमन करने वाली सिराओं का वेधन करना चाहिए। विद्रधि और पार्श्वशूल में पार्श्व, कक्षा तथा दोनों स्तनों के बीच रहने वाली सिराओं का वेधन करना चाहिए। चतुर्थक ज्वर में स्कंध (कंधे) से नीचे जाने वाली एक पार्श्व में स्थित सिरा का, तृतीयक ज्वर में दोनों अंशों के मध्य भाग में स्थित तथा त्रिक संधि के मध्य की ओर जाने वाली सिराओं का वेधन करना चाहिए। प्रवाहिका तथा उदरशूल में श्रोणि के समानांतर चारों ओर दो अंगुल भाग में तथा उपदंश रोग की समाप्ति होने के पश्चात् एवं शुक्ररोगों में मेहन (शिश्न) में स्थित सिरा का वेधन करना चाहिए। गलगण्ड नामक रोग में ऊरुमूल में स्थित सिरा का वेधन करना चाहिए। गृध्रसी में जानु संधि के चार अंगुल ऊपर या चार अंगुल नीचे तक के स्थान में स्थित सिरा का वेधन करना चाहिए। अपची में इंद्रबस्ति मर्म के नीचे दो अंगुल स्थान में स्थित सिरा का वेधन करना चाहिए। क्रोष्टुकशीर्ष (जानु के मध्य में एक प्रकार का रोग) तथा जंघा की वातजन्य पीड़ा में गुल्फ के चार अंगुल ऊपर सिरावेध करना चाहिए। श्लीपद रोग में सम्बन्धित अध्याय में वर्णित सिरा का वेध करना चाहिए। पाददाह, पाददाह (पैरों में जलन), चिप्प, वातशोणित, वातकण्टक, विपादिका, पाददारी आदि पैर के रोगों में क्षिप्र मर्म से दो अंगुल ऊपर स्थित सिरा का वेध करना चाहिए। यह वर्णन एक बाहु तथा संधि में सिरावेधन हेतु है, दूसरी बाँह तथा सक्थि में भी इसी प्रकार शिरावेध करना चाहिए। प्लीहोदर में बाँए हाथ के मध्य में जाने वाली शिरा का वेधन करना चाहिए। इसी प्रकार यकृत् विकार में दाहिने हाथ के मध्य वाली सिरा का वेधन करना चाहिए। इसी प्रकार श्वास-कास में भी बाहु की सिरा के वेधन के लिए ऋषियों ने बतलाया है। गृध्रसी में जिस प्रकार सिरा का वेधन किया जाता है, विश्वाची में भी उसी प्रकार बाहु की सिरा का वेधन करना चाहिए। कुछ आचार्यों ने कहा है कि बाहुशोष एवं अवबाहुक आदि

रोगविशेष में स्थानानुसार सिरावेध

सिरावेध स्थान	रोग विशेष	सिरावेध स्थान	रोग विशेष
१. ललाट्या, उपनास्या या अपाङ्ग की सिरा	शिर एवं नेत्र रोग	११. श्रोणि के चारों ओर दो अंगुल पर	प्रवाहिका तथा उदर शूल
२. कर्ण के चारों ओर की सिरा	कर्ण रोग	१२. मेढ़ स्थित सिरा	उपदंश एवं शुक्र व्यापद्
३. नासिका के अग्रभाग की सिरा	नासा रोग	१३. ऊरुमूल में स्थित सिरा	गलगण्ड
४. नासा तथा ललाटस्थ सिरा	प्रतिश्याय	१४. जानुसन्धि के चार अंगुल ऊपर या नीचे स्थित सिरा	गृध्रसी, विश्वाची, बाहु-शोष एवं अवबाहुक
५. जिह्वा, ओष्ठ, तालु एवं हनुप्रदेश को जाने वाली सिराएँ	मुखरोग	१५. इन्द्रवस्ति मर्म के दो अंगुल नीचे स्थित सिरा	अपची
६. ग्रीवा, कर्ण एवं शंख प्रदेश को जाने वाली सिराएँ	जन्तु के ऊपर ग्रंथिरोग	१६. गुल्फ के चार अंगुल ऊपर स्थित सिरा	क्रोष्टुकशीर्ष तथा जंघा की वातजन्य वेदनाएँ
७. उर, अपाङ्ग तथा ललाट की ओर जाने वाली सिराएँ	उन्माद	१७. क्षिप्र मर्म से दो अंगुल ऊपर स्थित सिरा	पादहर्ष, पाददाह, चिप्प, वातशोणित, वातकण्टक, विपादिका तथा पाददारी
८. पार्श्व, कक्षा तथा दोनों स्तनों के बीच स्थित सिरा	विद्रधि एवं पार्श्वशूल	१८. वामबाहु के मध्य आभ्यन्तर सिरा	प्लीहोदर
९. स्कन्ध के नीचे किसी एक पार्श्ववर्ती सिरा	चतुर्थक विषम ज्वर	१९. दक्षिणबाहु के मध्य आभ्यन्तर सिरा	यकृद्विकार
१०. त्रिकसन्धि के मध्य की सिरा	तृतीयक विषम ज्वर	२०. बाहु की सिरा	श्वास-कास

व्याधियों में भी विश्वाची के समान ही बाहु की सिरा का वेधन करना चाहिए। यदि उपर्युक्त सिराएँ दृष्टिगोचर न होती हों एवं रोग अत्यन्त प्रवृद्ध हो गया हो, तो उक्त सिराओं के पास की सिरा का भी वेधन किया जा सकता है।

ऊपर यह बतलाया गया है कि विभिन्न रोगों में किस-किस स्थान पर सिरा का वेधन करना चाहिए।

सिरावेध हेतु आवश्यक वस्तुएँ

प्रागेव चोपकल्पयेच्छयनासनोदकुम्भवस्त्रपट्टादि। तथा यथालाभं च तगरैलाशीतशिवकुष्ठपाठाविडङ्गभद्रदारुत्रिकटुकागारधूमहरिद्रार्काङ्कुरनक्तमालचूर्णमसृक्स्रावणाय। असृक्स्थापनाय च रोध्रमधुकप्रियङ्गुपतङ्गगैरिकसाञ्जनशाल्मलीशङ्ख्यवगोधूममाषचूर्णम्। वटाश्वत्थाश्वकर्णपलाशबिभीतकसर्जार्जुनधन्वनधातकीसालसारारिमेदतिन्दुकत्वगङ्कुरनिर्यासश्रीवेष्टकमृत्कपालमृणालाञ्जनचूर्णम्। क्षीममषीलाक्षासमुद्रफेनचूर्णं वा तथाऽन्यच्चातिस्रुतरक्तव्यापत्प्रतीकारोपकरणम्। सज्जोपकरणो हि न वैद्यो मोहमाप्नोति॥

सिरावेध करने से पूर्व ही शयन हेतु शय्या, आसन, उदकुम्भ (जलभरा पात्र) एवं वस्त्रपटट् आदि की व्यवस्था कर तैयार रखें तथा निम्न द्रव्यों में जो-जो प्राप्त हो सके, यथा—तगर (*Valeriana wallichii* DC.), एला (*Eletteria cardomomum*), शीतशिव (कपूर *Cinnamomum camphora*), कुष्ठ (कूठ *Saussurea lappa*), पाठा (*Cyclea peltata*), विडङ्ग (*Embelia ribes*), भद्रदारु, देवदारु (कूठ *Cedrus deodara*), त्रिकटु (शुंठी, पिप्पली, मरिच), आगारधूम (गृहधूम–घर का धुँआ), हरिद्रा (*Curcuma longa*), अर्काङ्कुर (आक *Calotropis procera* के अंकुर) एवं नक्तमाल (करंज *Pongamia pinnata*) का चूर्ण आदि रक्तविस्रावणार्थ एकत्र कर लें और रक्तस्थापन (रक्त का स्राव बन्द करने) के लिए लोध्र (*Symphlocos racemosa*), मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra*), प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla*), पतङ्ग (कुचन्दन *Caesalpinia sappan* Linn), गैरिक, रसांजन, शाल्मली (सेमल *Salmalia malabarica*), शंख, यव (*Hordeum vulgare*), गोधूम (गेहूँ *Triticum vulgare*) तथा माष (उड़द *Phaseolus radiatus*) का चूर्ण रख लें। वट (बरगद *Ficus bengalensis*), अश्वत्थ (पीपल *Ficus religiosa*), अश्वकर्ण (*Shorea robusta*), पलाश (ढाक *Butea monospermum*), बिभीतक (बहेड़ा *Terminalia belerica*), सर्ज (*Vateria indica*), अर्जुन (*Terminalia arjuna*), धन्वन (*Grewia tiliaefolia*), धातकी (*Woodfordia fruticosa*), सालसार (*Desmodium gangeticum*), अरिमेद (*Acacia farmesiana*), तिन्दुक (*Diospros peregrina*) इन वृक्षों की छाल, अंकुर (कोपल), निर्यास (गोंद) श्रीवेष्टक (गंधविरोजा *Pinus roxburghu* Sargent), मृत्कपाल (मिट्टी के घड़े का टुकड़ा), मृणाल (कमलनाल *Nelumbo nucifera*) एवं अञ्जन का चूर्ण तैयार रखे। क्षौममषी (रेशम या अलसी की स्याही या राख), लाक्षा (*Rosa centifolia*), समुद्रफेन का चूर्ण या अन्य भी इसी प्रकार की चिकित्सोपयोगी वस्तुएँ साथ रखें, क्योंकि सभी उपकरणों को तैयार रखने वाला चिकित्सक मोह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् घबराता नहीं।

क्षौम का अर्थ अलसी या रेशम के धागे से बना, वस्त्र होता है और मशी का अर्थ रोशनाई होता है। अतः यहाँ क्षौममषी की अभिप्राय रेशमी कपड़े की राख अथवा अलसी की राख से है।

सिरावेध विधि

अथ कृतस्वस्त्ययनमातुरं व्याधिबलसात्म्याद्यपेक्ष्य स्निग्धं जाङ्गलरसं यवागूं च पाययित्वा मुहूर्तमात्रमाश्वासितं पूर्वाह्णेऽपराह्णे वाऽङ्गारातपोष्णबाष्पान्यतरेण स्विन्नं जानूच्छ्रिते मुदावासने जानुनिहितकूर्परं समस्थितपादं प्रत्यादित्यमुपवेशयेत्। केशान्ते च प्लोतचर्मवल्कपट्टान्यतमेन बध्नीयात्। ततश्चायतेन वस्त्राङ्गुष्ठगर्भेण मुष्टिद्वयेनातुरो यथास्वं मन्ये निपीडयेद्दन्तैश्च दन्तान्। गण्डौ चाध्मापयेत्। पुरुषश्चैनं पृष्ठतो वस्त्रकृकाटिकान्तरन्यस्तवामप्रदेशिनीको नातिगाढं ग्रीवायां परिक्षिप्य वेष्टयन्वस्त्रं प्राणानबाधमानो यन्त्रयेत्। इत्येषोऽन्तर्मुखवर्ज्यानां सिराणां व्यधने यन्त्रविधिः। ततश्चास्य वैद्योऽङ्गुष्ठविष्टब्धया मध्यमाङ्गुल्या सिरां ताडयेत्। उत्थितां च स्पन्दमानां स्पर्शादभिलक्ष्य[1] वामहस्तेन कुठारिकामूर्ध्वदण्डां कृत्वा सिरामध्ये न्यस्य लक्षयित्वा च तथैव मध्यमाङ्गुल्यां ताडयेदङ्गुष्ठोदरेण वा पीडयेत्। गूढबहलत्वक्प्रतिच्छन्नायामङ्गुष्ठापीडनादुन्नमनमुपलक्षयेत्। उत्काशनेन[2] क्रोधसंरम्भेण चापूर्यन्ते सिराः। अङ्गुष्ठेन तु नासाग्रमुन्नमय्य व्रीहिमुखेनोपनासिकां विध्येत्॥ ११॥

रोगी का स्वस्त्ययन (मंगलाचरण) आदि का पाठ कराकर व्याधिबल (रोग के बल), सात्म्य आदि की अपेक्षा करके स्निग्ध जांगल प्राणियों का मांस रस और यवागू पिलाकर एक मुहूर्त्त आश्वासन दें। तत्पश्चात् पूर्वाह्ण या अपराह्ण में प्रदीप्त अंगारों के ताप से अथवा उष्ण वाष्प से स्वेद कराये। तत्पश्चात् रोगी को जानु (घुटने) के बराबर ऊँचे या कोमल आसन पर इस प्रकार बैठाये कि उसकी कोहनियाँ उसकी जानु (घुटनों) पर रखीं हों एवं पैर समतल आधार पर तथा रोगी सूर्याभिमुख हो। रोगी के केशान्त (बालों के नीचे) में प्लोत (वस्त्र), चर्म (चमड़ा), वल्कल (वृक्षों की छाल) अथवा किसी पट्टे से बाँध दें। तदनन्तर रोगी अपनी मुट्ठी में एक कपड़ा लेकर इस प्रकार बाँधे कि मुट्ठी के भीतर अँगूठा एवं वस्त्र रहें। इस प्रकार मुट्ठी बाँधकर दाँतों को दाँतों के ऊपर दबाकर गालों को फुलाये तथा इन मुट्ठियों से दोनों ओर की मन्याओं (ग्रीवा के दोनों ओर की धमनियों) को दबाये, ठीक इसी समय रोगी के पीछे खड़ा हुआ परिचारक रोगी की कृकाटिका (रोगी की ग्रीवा के पीछे वाला भाग) और केशांत में लिपटे वस्त्र के बीच में अपनी वाम प्रदेशिनी अँगुली को रख कर वस्त्र को गले में डालकर कस कर लपेटे। इतना ध्यान रहे कि रोगी के प्राणों को कोई कष्ट न पहुँचे। यह यन्त्रण-विधि माथा एवं शंखप्रदेश की सिराओं के वेधन में प्रयुक्त होती है तथा जो सिरायें मुख के भीतर की (अन्तर्मुख) नहीं हैं, उनके यन्त्रण के लिए यह विधि प्रयुक्त होती है। मन्या पर इतना दबाव डालें कि मुख लाल हो जाय तथा माथे पर की सिराएँ उभर आयें। तत्पश्चात् वैद्य अँगूठे से दबाई गई मध्यमा अंगुली से सिरा का ताडन करें। जब सिरा ऊपर उभर आये एवं उसका स्पन्दन स्पर्श से लक्षित होने लगे, तब बायें हाथ से कुठारिका को पकड़ कर सिरा के मध्य में लक्षित करके वेधन करें अथवा इसी प्रकार मध्यमा अंगुलि से अथवा अंगूठे के मध्य से ताडन करें। मोटी त्वचा से ढँकी सिरा को अँगूठे से दबा कर ऊपर उठाना चाहिए। उत्काश करने (गले को दबाकर खाँसने) से

---

१. 'स्पर्शदां वाभिलक्ष्य' इति पाठान्तरम्।

२. (क) 'उत्कसनेन' इति पाठान्तरम्।
(ख) 'उत्कसनं कण्ठं निष्पीड्य कसनम्' इति पाठान्तरम्।

या क्रोध करने से ये सिराएँ रक्त से परिपूर्ण हो जाती हैं। अंगुष्ठ से नासाग्र को ऊँचा करके व्रीहि-मुख शस्त्र से नासा के समीपस्थ सिरा का वेधन करना चाहिए।

रक्तस्रावण तभी करना चाहिए जब न अधिक शीत हो और न ही अधिक उष्ण हो। इसके लिए शरद् ऋतु उपयुक्त होती है। रक्तस्रावण करने से पूर्व उस स्थान विशेष का अल्प स्वेदन करना चाहिए तथा दो तीन बार तिल, तण्डुल एवं घृतयुक्त यवागु खिलाना चाहिए। इससे तुरंत स्नेहन होता है। रक्तस्रावण के पश्चात् जब दूषित रक्त निकल जाय तथा रोगी हलकापन अनुभव करे, मन प्रसन्न हो, व्याधि की तीव्रता कम हो जाये, तो समझना चाहिए कि यथोचित रक्त-विस्रावण हो गया। ऊपर सिराओं को उभारने की विधियाँ बतलाई गई हैं। कुशलता से उस स्थान की शिरा को उभार कर तब वेध करना चाहिए, जिससे वेधन इधर-उधर न हो जाये।

अन्य सिराओं की वेधन-विधि

उन्नमितविदष्टाग्रजिह्वस्याधो जिह्वायाः। विवृतास्यस्य तालुनि दन्तमूले च। ग्रीवासिरासु स्तनयोरुपरि यन्त्रयेत्। उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नमितशिरसः। बाहुभ्यामालम्बमानस्य पार्श्वयोः। उन्नमितमेण्ढ्रस्य मेण्ढ्रे। श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नमितपृष्ठस्या-वाक्शिरस उपविष्टस्य। विश्वाचीगृध्रस्योरनाकुञ्चिते कूर्परे जानुनि वा सुखोपविष्टस्य गूढाङ्गुष्ठबद्धमुष्टेर्व्यधनीयप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले प्लोताद्यन्यतमेन बध्वा हस्तसिराम्। एवमेकपादं सुस्थितं स्थापयित्वाऽन्यपादमीषत्सङ्कुचितं तस्योपरि न्रिधाय जानुसन्धेरधो हस्ताभ्यामागुल्फं निपीडच पूर्वबद्ध्वा पादसिरां व्यधेत्। तत्र तत्र च तैस्तैरुपायैर्विकल्प्य यन्त्रयेत् ॥ १२ ॥

जिह्वा के नीचे की सिरा का वेधन करना हो, तो जिह्वाग्र को उठाकर दाँतों में दबाकर वेधन करें। तालु तथा दंतमूल की सिराओं का वेधन करना हो, तो स्तनों पर वस्त्र लपेट कर यंत्रण करना चाहिए। उरःस्थल को प्रसारित करके तथा शिर को उन्नत करके उदर एवं उरःस्थल की शिरा का वेधन करना चाहिए। बाहुओं को (वृक्ष आदि में) लटकाकर पार्श्वों में वेधन करें। मेढ्र (शिश्न या मेहन) को बीच में से उन्नत करके मेढ्रों की शिरा का वेधन करना चाहिए। श्रोणि, पीठ एवं स्कंध की शिरा का वेधन करना हो तो पीठ को ऊँचा करके व शिर को आगे की ओर झुका रखकर रोगी को बैठाये तथा वेधन करें। विश्वाची और गृध्रसी आदि रोगों में यदि सिरावेध करना हो, तो रोगी को इस प्रकार बैठायें कि बैठने पर रोगी के कूर्पर तथा जानु मुड़े नहीं, फिर इस अवस्था में सुखपूर्वक बैठकर अँगूठे को छिपाकर कसकर मुट्ठी बाँध ले और वेधन स्थान से चार अँगुल ऊपर प्लोत (पट्ट) आदि से बाँधकर हाथ की शिरा का वेधन करना चाहिए। इसी प्रकार एक पैर पर दूसरे पैर को सिकोड़ कर रख ले तथा जानु संधि के नीचे गुल्फों को हाथों से दबाकर पूर्वोत्तर विधि से बाँधकर पैर की सिरा का वेधन करें। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ जैसी आवश्यकता हो उसी प्रकार यंत्रण करे।

सिराव्यध प्रमाण

तत्र मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं व्रीहिमुखेन। अतोऽन्यथाऽर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा। अस्थ्नामुपरि कुठारिकयाऽर्द्धयवमात्रम्। सर्वत्र चानुत्तानावगाढमृज्वसङ्कीर्णं समं मर्माद्यनुपघाति सिरामध्ये शस्त्रमाशु पातयेत् ॥ १३ ॥

मांसल अवकाशों (शरीर के मांसल स्थानों) में सिरावेध करना हो, तो व्रीहिमुख शस्त्र से यव मात्र वेधन करें। शरीर के अन्य स्थानों पर यदि सिरावेध करना हो तो यव के अर्धभाग के बराबर (व्रीहिमात्र) वेधन करें। अस्थियों के ऊपर वेधन करना हो, तो कुठारिका से यव के अर्धभाग के बराबर वेधन करना चाहिए। सिर के बीच में शस्त्र लगाते समय सर्वत्र ध्यान रखे कि शस्त्र न तो बहुत ऊपर ही रह जाये, न बहुत गहरा ही जाये। सीधा, असंकीर्ण तथा मर्म आदि को हानि न पहुँचाते हुए शस्त्र को शिरा के बीच में शीघ्र लगायें।

व्याधि एवं व्याधिजन्य विकृति के अनुसार ही अंग-विशेष की सिरा विशेष में वेधन किया जाता है। इस हेतु भिन्न-भिन्न सिराओं में वेधनार्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से यंत्रण किया जाता है। सिरावेध करने के लिए चार प्रकार के शस्त्र प्रयुक्त होते हैं—१. व्रीहिमुख शस्त्र (Knife with Smalll Sharp Projectoin) २. आरा शस्त्र (Awl), ३. वेतसपत्र शस्त्र (Knife) एवं ४. कुठारिका (Axe-shaped Knife)। वैद्य को इन कार्यों में सिद्धहस्त होना चाहिए।

सम्यग्विद्ध, दुर्विद्ध एवं अतिविद्ध के लक्षण

एकप्रहाराभिहता धारया या स्रवेदसृक्।
मुहूर्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सम्यग्विद्धेति तां विदुः ॥ १४ ॥
अल्पकालं वहत्यल्पं दुर्विद्धा तैलचूर्णनैः।
सशब्दमतिबिद्धा तु स्रवेद् दुःखेन धार्यते ॥ १५ ॥

शस्त्र द्वारा एक बार के प्रहार से जो रक्त धारा के रूप में स्रावित होता है और मुहूर्त भर बाद अपने आप ही बन्द हो जाता है, उसे सम्यग्विद्ध कहते हैं।

वेधन करने पर यदि अल्पकाल तक और अल्पमात्रा में सिरा से रक्त बहे अथवा तेल मिश्रित तगर आदि के चूर्ण से घर्षण करने पर थोड़ा-सा रक्त बहे, तो उसे दुर्विद्ध कहते हैं।

सिरावेधन करने पर यदि शब्द के साथ अतिमात्रा में रक्त बहे, तो उसे अतिविद्ध कहते हैं।

सम्यक्, असम्यक् और अतिविद्ध के लक्षणों का निरीक्षण करते रहें और तदनुसार उपयुक्त चिकित्सा करें। शरीर में रक्त की स्थिति जीव की तरह होती है तथा इसी के द्वारा शरीर का धारण होता है। अतः अधिक रक्तस्राव न होने पाये, इसका ध्यान रखना चाहिए। कभी-कभी सम्यक् वेध करने पर भी रक्त की प्रवृत्ति नहीं होती (आगे इसका वर्णन है), उसकी भी चिकित्सा करनी चाहिए। सुश्रुत ने सम्यग्विद्ध के लक्षणों को बतलाते हुए कहा है—'लाघवं वेदनाशान्तिर्व्याधेर्वेगपरिक्षयः। सम्यग्विस्रावितेलिङ्गं प्रसादो मनसस्तथा'॥ अर्थात् शरीर में हलकापन, पीड़ा की शांति, रोगों की तीव्रता का क्षय एवं मन का प्रसाद (प्रसन्नता) सम्यक् रक्तविस्रावण के लक्षण हैं।

रक्तस्राव न होने का कारण

सम्यग्विद्धानामपि च सिराणामवहनकारणानि मूर्च्छाभयं यन्त्रशैथिल्यमतिगाढत्वमत्याशिततातक्षामत्वं कुण्ठशस्त्रव्यधो मूत्रितोच्चारितत्वं दुःस्विन्नता कफावृतव्रणद्वारता चेति। अथाप्रवृत्तिकारणं यथास्वमुपलक्ष्य प्रतिकुर्यात्। तगरादिचूर्णेन च तैललवणप्रगाढेन सिरामुखमवचूर्णयेत्। पृष्ठमध्ये चातुरं पीडयेत्। एवं साधु वहति। सम्यक्प्रवृत्ते तु कफानिलोपशमरक्ताविच्छेदनार्थमुष्णलवणतैलबिन्दुभिः सिरामुखं सिञ्चेत्॥ १६ ॥

अग्रे स्रवति दुष्टास्रं कुसुम्भादिव पीतिका।
सम्यक् स्रुत्वा स्वयं तिष्ठेच्छुद्धं तदिति नाहरेत्॥ १७ ॥

सम्यग् रूप से सिरावेध करने पर भी रक्त न बहने के कारण ये हैं—मूर्च्छा, भय, यंत्र-शैथिल्य (यंत्रण अर्थात् बाँधने में शिथिलता), अतिगाढत्व (अत्यन्त कसकर बाँधा जाना), अत्याशितता (यथेष्ठ भोजन करने के बाद भोजन करना), क्षामत्व (रोगी का क्षीण होना), कुण्ठ-शस्त्रव्यध (कुठित धार वाले शस्त्र से वेधन), मूत्रितोच्चारित्व (मल-मूत्र का वेग उपस्थित होने पर सिरावेधन करना), दुःस्विन्नता (सिरावेध से पूर्व सम्यक् स्वेदन न होना) एवं व्रण के मुख का कफ से आवृत (अवरुद्ध) होना। रक्त की अप्रवृत्ति के इन कारणों को देखकर तथा विचार कर उनका यथोचित प्रतिकार करना चाहिए। तगर (*Valeriana wallichii*) आदि के चूर्ण, तैल तथा लवण के गाढ़े लेप से सिरा के मुख का अवचूर्णन करना (मलना) चाहिए। रोगी के पीठ के मध्य भाग को दबाएँ। ऐसा करने से सम्यग् रूप से रक्तस्राव होता है। रक्त की सम्यक् प्रवृत्ति हो रही हो, उस समय की कफ एवं वायु की शान्ति के लिए तथा रक्त का निरवरोध स्राव होने के लिए उष्ण लवण एवं तेल के मिश्रण से सिरामुख का सिंचन करें।

सिरावेध करने पर पहले दूषित रक्त का स्राव होता है, जैसे कुसुम्भ से पहले पीला रंग बहता है। यह दूषित रक्त सम्यग् रूप से स्रावित होकर स्वयमेव बन्द हो जाता है। उसके बाद रक्तस्राव नहीं होने देना चाहिए, अन्यथा शुद्ध रक्त ही बहने लगता है।

मद एवं मूर्च्छा आदि से युक्त होने पर तंत्रिका संस्थान (Nervous System) के सम्यक् प्रकार से कार्य न करने से रक्त-प्रवृत्ति ठीक प्रकार से नहीं होती है। इसी प्रकार अत्यधिक भोजन करने पर एवं मलमूत्र आदि का वेग उपस्थित होने पर सिराव्यध करने से रक्त की उचित मात्रा प्रवृत्ति नहीं हो पाती है। किसी कारण से वेधित सिरा का मुख बन्द हो जाने पर भी रक्त अल्प मात्रा में प्रवाहित होता है।

सिरावेध के समय होनेवाली मूर्च्छा का उपचार

यस्य तु स्रवति रक्ते मूर्च्छा जायते तस्य विमुच्य यन्त्रं शीतसलिलार्द्रपाणिस्पर्शेन व्यजनवायुना श्रोत्रसुखेन वचसा समाश्वासयन्नुपशमय्य मूर्च्छां पुनः स्रावयेत्। पुनर्मूर्च्छत्यपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा। परमं तु रुधिरावसेचनप्रमाणं प्रस्थः। अतोऽन्यथा व्याधिदेहर्तुबलमपेक्षेत ॥ १८ ॥

जिस रोगी मनुष्य को सिरावेध करते समय मूर्च्छा आ जाय, तो उसके शरीर में लगे यन्त्र को हटाकर शीतल जल से भीगे हाथों से स्पर्श करके, व्यंजन (पंखा से हवा) करके, श्रोत्रसुख (कर्णप्रिय ध्वनियों) से एवं वाणी (बोली) से आश्वासन देकर मूर्च्छा को दूर कर तथा पुनः सिरावेध द्वारा रक्तस्रावण करें। यदि दुबारा भी मूर्च्छा आ जाये, तो उस दिन को छोड़ कर दूसरे या तीसरे दिन सिरावेध करें। परन्तु यह ध्यान रखें कि स्रावित (निर्हरित) रक्त का प्रमाण एक प्रस्थ (चौवन तोला) से अधिक न हो अथवा रोग, रोगी, ऋतु एवं बलाबल का विचार करके यथावश्यक परिमाण में रक्तनिर्हरण करें।

दूषित रक्त के लक्षण

तत्र फेनिलमरुणं श्यावमच्छं रूक्षमस्कन्दि कसायानुरसं लोहगन्धि वेगस्रावि शीतं च रक्तं वातात्। गृहधूमाञ्जनोदककृष्णं पीतं हरितं विस्रं मत्स्यगन्धि कटुत्वान्मक्षिकाऽनिष्टमौष्ण्यादस्कन्दि सचन्द्रकं गोमूत्राभं च पित्तात्। कोविदारपुष्पगैरिकोदकापाण्डु शीतं स्निग्धं स्कन्दि घनं पिच्छिलं तन्तुमद्। व्रणद्वारावसादि लवणरसं वसागन्धि च कफात्।

द्वन्द्वसङ्कीर्ण संसर्गात्। कंसनीलमाविलं दुर्गन्धं च सन्निपातात्। शुद्धमुक्तं प्राक्। ततः स्रुत-रक्तस्य व्यधमनुलोममङ्गुष्ठेनोपरुध्य [1]शनैर्यन्त्रमपनीयाश्वासयेत्। सतैलं च प्लोतं सिरा-मुखे दत्वा बध्नीयात्। संवेशयेच्चैनम् ॥ १९ ॥

इनमें वातदूषित रक्त फेनिल (झागदार), अरुणवर्ण या श्यावर्ण, अच्छ (निर्मल), रूक्ष, अस्कन्दि (न जमने वाला), कषायरस वाला, लोहगंधि (लोहे की गन्ध वाला), वेगस्रावि (वेग से बहने वाला) तथा शीतल होता है। पित्त से दूषित होने पर रक्त गृहधूम (घर के धुँए) के समान, अंजन (कालिख) मिले जल के समान काला, पीला अथवा हरित (हरे) वर्ण का विस्र (दुर्गन्धित), मत्स्यगन्धि (मछली के समान गन्ध वाला), रस में कटु होने से मक्खियों के लिए अनिष्ट (या अप्रिय), पित्त की उष्णता से न जमने वाला, सचन्द्र (चंद्रिका जैसी आभा से युक्त) तथा गोमूत्र जैसी आभा वाला होता है। कफ से दूषित रक्त कोविदार पुष्प (कचनार *Bauhinia variegata* के पुष्प) जैसा वर्णवाला, गैरिकोदक (गैरिक मिश्रित जल) के समान पाण्डुवर्ण का, शीतल, स्निग्ध, स्कन्दि (जमने वाला), घन (गाढ़ा) पिच्छिल (चिपचिपा), तंतुमद् (तन्तुओं वाला), व्रण के द्वार पर ही रुक (जम) जाने वाला, लवण रस वाला तथा वसा की गन्ध वाला होता है। किन्हीं दो दोषों से दूषित रक्त मिश्रित लक्षणों वाला होता है। सन्निपात (तीनों दोषों) से दूषित रक्त कंस (काँसे) की तरह नीला, मैला एवं दुर्गन्धित होता है। शुद्ध रक्त के लक्षणों को पहले ही बतला दिया गया है। जब रक्तस्राव हो जाये, तब वेधन के उस स्थान को अंगूठे से दबाकर बन्द करके, धीरे-धीरे यन्त्र को खोल करके रोगी को आश्वासित करें। तैल से भीगे प्लोत (फाहे) को सिरामुख पर रखकर बाँध देना चाहिए तथा रोगी को लिटा देना चाहिए।

रक्त का स्वरूप

	प्राकृत गुण-धर्म	वैकृत गुण-धर्म			
		वात	पित्त	कफ	सन्निपात
१. वर्ण	इन्द्रगोप, गुञ्जाफल, आलक्तक (महावर), रक्तकमल के समान	अरुण या श्याव	गृहधूम, कालिख मिले जल सदृश पीत, हरित	कोविदार पुष्पवत्, गैरिकोदक सदृश पाण्डुवर्ण	काँसा सदृश नीला, मैला
२. संगठन	गुरु	फेनिल अच्छ (निर्मल)	गोमूत्र सदृश	पिच्छिल, तन्तुमय	—
३. गुण	स्निग्ध, शीतोष्ण	रूक्ष, शीतल	—	गाढ़ा, स्निग्ध, शीतल	—
४. रस	मधुर, किञ्चित् लवण	कषाय	कटु	लवण	
५. गन्ध	—	लोहगन्धि	विस्र (दुर्गन्ध) मत्स्यगन्धि	वासागन्धि	दुर्गन्धित
६. स्कन्दन	—	वेगस्रावि	अस्कन्दि	स्कन्दि	—

रक्त रोकने के अन्य उपाय

अतिष्ठति तु रक्ते सिरामुखं सन्धातुं पूर्वोक्तैश्चूर्णैरवचूर्ण्याङ्गुल्यग्रेण पीडयेत्।

१. 'शनैः शनैश्च' इति पाठान्तरम्।

शाल्मल्युपोदकापिच्छां वा व्रणमुखे दत्वा गाढं बध्नीयात्। मधूच्छिष्टप्रलिप्तं वा पट्टम्। शीताम्बुना वा सिञ्चयेत्। शीतमधुरकषायान्नपानैः सेकप्रदेहप्रवातवेश्मभिर्वा स्कन्दनायोपचरेत्। पद्मकादिक्वाथं शर्करामधुमधुरं क्षीरमिक्षुरसमेणहरिणाजोरभ्रमहिषवराहाणामन्यतमस्य सिरां विध्वा रुधिरमामं घृतभृष्टं वा पानं दद्यात्। तेनैव वा दर्भपादमृदितेनानुवासयेत्। स्निग्धैश्च यूषरसैर्भोजयेत्। व्यधादनन्तरं वा पुनस्तामेव सिरां विध्येत्। सर्वथा चानवतिष्ठमाने पाचनाय क्षारं दद्यात्। सङ्कोचयितुं वा सिरामुखं तत्पशलाकया दहेत्। न च क्षणमप्युपेक्षेत। क्षीणरक्तस्य हि वायुर्मर्माण्युपसङ्गृह्य मूर्च्छासंज्ञानाशशिरःकम्पभ्रममन्यास्तम्भापतानकहनुभ्रंशहिध्मापाण्डुत्वबाधिर्यधातुक्षयाक्षेपकादीन्करोति मरणं वा॥ २०॥

सिरावेध की क्रिया पूर्ण हो जाने पर भी यदि रक्त बन्द न हो, तो सिरामुख के संधान (Healing) के लिए पूर्वोक्त चूर्णों का सिरावेध के स्थान पर अवचूर्णन (छिड़क) कर अंगुली के अग्रभाग को दबायें। शाल्मली (सेमल *Salmalia malabarica*) और उपोदिका (पोय *Nigella rubra*) को पीसकर पिच्छा (लुआब) बना ले एवं उसे व्रण के मुख पर रखकर कसकर बाँध दें या शीतल जल से व्रण स्थान का सिंचन करें या शीतल, मधुर तथा कषाय रस वाले द्रव्यों का अन्नपान, उन्हीं द्रव्यों के हिम से परिषेक एवं प्रदेह करें तथा हवादार मकान में रोगी को निवास करायें। इस प्रकार रक्त के स्कन्दन के लिए प्रयत्न करें। पद्मकादि गण के द्रव्यों के क्वाथ को शर्करा एवं मधु डालकर मधुर बनाकर रोगी को सेवन करायें। दुग्ध, इक्षुरस अथवा एण (*Antilope ceruicupra*), हरिण (*Cervus axis*), बकरी (*Capra sibica*), भेड़ (*Ovis vignei*), महिष (*Bos bubalus*), सूअर (*Sus cristasus*) इनमें से किसी भी प्राणी का सिरावेध करके निकाला गया आम (कच्चा) रक्त या घी में भूना रक्त रोगी को पिलायें। अथवा इस रक्त को दर्भपाद (दाभ की जड़ *Imperata cylendrica*) से मर्दन करके अनुवासन वस्ति दें और स्नेह (घृत) मिश्रित यूष तथा मांस रोगी को खिलाये। सिरावेध के पश्चात् उसी सिरा का पुनः वेधन करें। यदि किसी भी उपाय से रक्तस्राव बन्द न हो, तो पाचन करने के लिए क्षार का प्रयोग करें। वेधन के स्थान पर की सिराओं के मुखों को संकुचित करने के लिए तप्त (गर्म) शलाका से उस स्थान का दाह करें। इस कार्य में एक क्षण का भी बिलम्ब न करें क्योंकि क्षीण रक्त पुरुष (ऐसा पुरुष जिसका रक्त अधिक निकल गया हो) में वायु उसके मर्मों को जकड़ कर मूर्च्छा, संज्ञानाश, शिरःकम्प, भ्रम, मन्यास्तम्भ, अपतानक, हनुभ्रंश, हिध्मा (हिक्का या हिचकी), पाण्डुत्व, बाधिर्य (बहरापन), धातुक्षय, आक्षेपक आदि रोग की उत्पत्ति अथवा मृत्यु तक हो जाती है।

सुश्रुतसंहिता में रक्तस्तम्भन (रक्त को रोकने) के चार उपायों का वर्णन किया गया है—१. संधान, २. स्कन्दन, ३. पाचन एवं ४. दहन। सर्वप्रथम स्तम्भन हेतु शीतल उपचार करना चाहिए। यदि इससे रक्त बन्द न हो, तो इन चारों का क्रमशः प्रयोग करना चाहिए। पहले संधान, तत्पश्चात् स्कन्दन, उसके बाद पाचन एवं इन सबसे भी रक्तस्राव बन्द न हो, तो दहन (Cauterization) करना चाहिए। 'दाहः परम इष्यते' अर्थात् रक्तस्राव रोकने के लिए दाह परम चिकित्सा है। यदि सिरा या धमनी आदि से रक्तस्राव हो रहा हो, तो अग्नि से तप्त शलाका से दाह करना चाहिए और यदि पूरे व्रण से रक्तस्राव हो रहा हो, तो १३०°-१६०° फारेनहाइट तक उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए। इससे रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

चिकित्सासूत्र

प्राणाः प्राणभृतां रक्तं तत्क्षयात् क्षीयतेऽनलः ।
वर्धते चानिलस्तस्माद्युक्त्या बृंहणमाचरेत् ।। २१ ।।

रक्त ही समस्त प्राणियों का प्राण है। रक्त के क्षय से अनल (अग्नि) मन्द हो जाती है और वायु की वृद्धि होती है। अतएव सम्यग् रूप से विचार करके युक्तिपूर्वक बृंहण का प्रयोग करना चाहिए।

रक्त जीवन के लिए अत्यावश्यक पदार्थ है, इसके बिना जीवन की कल्पना तक नहीं की जा सकती। इसी बात को ध्यान में रखते हुए सुश्रुतसंहिता में यह कहा गया है—'शेषदोषे यतो रक्ते न व्याधिरतिवर्तते। सावशेषे ततः स्थैर्यं न तु कुर्यादतिक्रमम्' ।। (सु० सू० १४)। अर्थात् रक्तस्रावोपरांत भी यदि कुछ दूषित रक्त शेष रह जाय, तो भी व्याधि नहीं बढ़ सकती। इसलिए कुछ दूषित रक्त शेष बचे, तभी रक्तस्राव रोक दें, रक्तस्राव का अतियोग न करें। अर्थात् थोड़ा कम रक्त निकले, यही हितकर होता है।

पुनः सिरावेध का निर्देश

अशुद्धं तु रक्तमपराह्णेऽन्येद्युर्वा पुनः स्रावयेत्। ततोऽपि शेषं सर्वथा वाप्यविस्राव्य-रक्तस्य शीतसेकप्रदेहविरेकोपवासस्निग्धमधुरान्नपानैः प्रसादयेत्। मासमात्रं वा स्नेहादिभि-रुपचर्य पुनर्विध्येत्। दुर्व्यधातिव्यधकुटिततिर्यग्व्यधादेर्व्यधदोषाद्व्यापदो याः स्युस्ता यथा-स्वं साधयेदिति ।। २२ ।।

यदि एक बार सिरावेध करने पर अशुद्ध रक्त कुछ शेष रह जाये, तो उसी दिन अपराह्ण में या दूसरे दिन सिरावेध करके निकालना चाहिए। यदि इस पर भी कुछ अशुद्ध रक्त शेष रह जाय अथवा अशुद्ध रक्त पूर्णरूप से निर्हरित न हुआ हो, तो शीतल द्रव्यों से सेक, प्रदेह, विरेचन, उपवास, स्निग्ध आहार-विहार से रक्त का प्रसादन करें। एक माह तक स्नेह का प्रयोग कराने के पश्चात् पुनः सिरावेधन करें। सम्यक् प्रकार से वेधन न करने से, वेधन का अतियोग हो जाने से अथवा कुटिल रूप से वेधन करने से या तिर्यक् वेधन करने से यदि उपद्रव स्वरूप व्याधियाँ उत्पन्न हों, तो उनकी तदनुसार चिकित्सा करें।

जब वेधन करने पर थोड़ा-सा रक्तस्राव हो एवं पीड़ा तथा शोथ हो, तब उसे दुर्विद्ध कहते हैं। वेध करने पर जब अत्यधिक रक्तस्राव हो, तो उसे अतिविद्ध कहते हैं। वेधन करने वाले शस्त्र की धार यदि कुण्ठित हो, तो सिरा पिचक जाती है; इसे ही पिच्चित कहते हैं। अत्यधिक रक्त-स्राव होने पर शरीर में द्रवांश की कमी हो जाती है और सिराओं में रक्त का अभाव हो जाता है, इसे परिशुष्का कहते।

सिरावेध के पश्चात् आहार-विहार

भवति चात्र—

उन्मार्गगा यन्त्रनिपीडनेन स्वस्थानमायान्ति पुनर्न यावत्।
दोषाः प्रदुष्टा रुधिरं प्रपन्नास्तावद्धिताहारविहारभाक् स्यात् ।। २३ ।।

सिरावेध यंत्र के दबाव के कारण रक्ताश्रित वातादि दोष उन्मार्गगामी (प्रकुपित) हो जाते हैं। जब तक ये दोष पुनः स्वस्थान (अपने प्राकृत रूप) में नहीं आ जाते हैं, अर्थात् रक्त में व्याप्त विकार जब तक शांत नहीं हो जाते हैं, तब तक हिताहार-विहार का सेवन करते रहना चाहिए।

नात्युष्णशीतं लघुदीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम् ।
तथा शरीरं ह्यनवस्थितासृगग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः ॥ २४ ॥

सिरावेध द्वारा रक्तस्राव कराने के पश्चात् नात्युष्णशीत (न अधिक गरम, न अधिक ठंडा), लघु, दीपनीय (अग्नि को प्रदीप्त करने वाला) एवं हितकारी अन्नपान का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि इस अवस्था में पूरे शरीर का रक्त अनवस्थित (अस्थिर) रहता है । अतएव इस अवस्था में जठराग्नि की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए ।

सिरावेध से शोधन कराने के बाद अग्नि मन्द पड़ जाती है । अतः उसके दीपनार्थ न अत्यधिक उष्ण, न अति शीत तथा लघु एवं दीपन आहार देना चाहिए ।

विशुद्ध रक्त वाले पुरुष के लक्षण

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम् ।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥ २५ ॥
इति सिराव्यधविधिर्नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

जिस पुरुष के वर्ण एवं इन्द्रियों में प्रसन्नता (निर्मलता) हो, जिसकी इन्द्रियाँ अपने-अपने इन्द्रियार्थों को ग्रहण करने की इच्छा रखती हों, जिसकी अग्नि (या पाचन करने) का वेग अव्याहत (बाधारहित) हो, जो सुख से युक्त, पुष्टि एवं बल से परिपूर्ण हो, उस पुरुष को विशुद्ध रक्त वाला पुरुष कहते है ।

इस प्रकार सिराव्यधविधि नामक षट्त्रिंश अध्याय समाप्त ।

अध्याय सारांश

रक्तमोक्षण-विधि के अन्तर्गत प्रच्छान, जलौका, घटी एवं अलाबु के समान ही 'सिराव्यध' रक्तस्रावण का मुख्य उपाय है। सिराओं का वेधन सिरावेध कहलाता है । इस विधि से दूषित रक्त आसानी से निकल जाता है तथा रक्तविकार शान्त हो जाता है । जिस प्रकार कायचिकित्सा में 'बस्ति-चिकित्सा' को आधी अथवा सम्पूर्ण चिकित्सा कहा गया है, उसी प्रकार शल्यतन्त्र में 'सिरा-वेध' को आधी अथवा सम्पूर्ण चिकित्सा कहा गया है ।

इस अध्याय में सिरावेध के अतिरिक्त शुद्ध एवं दूषित रक्त का लक्षण भी बतलाया गया है ।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

अथातः शल्याहरणविधिं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'शल्याहरण-विधि' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

'शल्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'शल्' धातु से हुई है, जो हिंसा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके अनुसार 'शल्य' शब्द का अर्थ होता है, मन या शरीर में पीड़ा उत्पन्न करने वाला भाव। अष्टाध्यायी में 'शल्' 'श्वल्' धातु का पाठ भी मिलता है, जो शीघ्र गमनार्थक अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस 'शल्' धातु में 'यक्' प्रत्यय लगकर 'शल्य' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ होता है, ऐसी वस्तु जो वेग से शरीर में अन्दर प्रविष्ट हो जाये। इस प्रकार 'शल्य' शब्द के कई अर्थ हुए—

१. ऐसी वस्तु जो शरीर में तीव्रता से प्रविष्ट हो जाये।
२. ऐसी वस्तु जो शरीर पर हिंसक प्रभाव डाले।
३. ऐसी वस्तु जो पीड़ा पहुँचाये।

शरीर में प्रविष्ट इन शल्यों को शरीर से बाहर निकालने की विधियों का वर्णन मुख्य रूप से इस अध्याय में किया गया है। इसीलिए इस अध्याय का नाम 'शल्याहरणविधि' रखा गया है।

शल्यों की तीन प्रकार की गतियाँ

त्रिविधा गतिः[1] शल्यानामूर्ध्वमधस्तिर्यक् च। सा पुनः प्रत्येकमृजुवक्रभेदेन द्विधा ॥

शल्यों की गति तीन प्रकार की होती है—१. ऊर्ध्वगति, २. अधोगति एवं ३. तिर्यग् गति। पुनः इनमें से प्रत्येक की गति दो प्रकार की होती है—१. ऋजु (सीधी) एवं २. वक्र (टेढ़ी)।

शरीर में शल्य तीन प्रकार से प्रविष्ट हो सकते हैं—१. नीचे से ऊपर (ऊर्ध्वगति), २. ऊपर से नीचे (अधोगति) तथा ३. तिरछी दिशा से (तिर्यग् गति)। किसी भी दिशा से आते हुए शल्य की गतियाँ पुनः दो प्रकार की हो सकती हैं—१. टेढ़ी-मेढ़ी (वक्र) तथा २. सीधी (ऋजु)।

शल्ययुक्त व्रण (अन्तःशल्य) के सामान्य लक्षण

तत्र श्यामं पिडिकाचितं शोफवेदनावन्तं मुहुर्मुहुः शोणितास्राविणं बुद्बुदवदुद्गतं मृदुमांसं च व्रणं सशल्यं विद्यात् ॥ ४ ॥

शल्ययुक्त व्रण (अन्तःशल्य) श्याम (श्याम या साँवले) वर्ण का, पिडिकाओं से घिरा हुआ, शोफ एवं वेदना से युक्त, बार-बार रक्तस्राव करने वाला जैसे बुलबुले उठते हैं उसी प्रकार उठा हुआ होता है तथा वहाँ का मांस बहुत ही मृदु (कोमल) होता है।

जब शल्य शरीर में प्रविष्ट हो जाय और बाहर न निकल कर भीतर ही पड़ा रहे, तो उसे अन्तःशल्य कहते हैं। भीतर रहकर यह शोफ (Inflammation) के सभी लक्षण उत्पन्न करता

---

१. 'त्रिविधा हि गतिः' इति पाठान्तरम्।

है। जैसे—उष्णता (Calor–Heat), वेदना (Dolor–Pain), लालिमा (Rubor–Redness) तथा शोथ (Tumour–Swelling)। इन्हीं लक्षणों का आयुर्वेद में भी उल्लेख मिलता है, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। ध्याम का तात्पर्य लालिमा (Rubor) से तथा बुलबुले के समान उठने का तात्पर्य शोफ (Tumour) से है। लालिमा (Redness) का तात्पर्य रक्ताधिक्य (Increased Blood Supply) से है, जिससे वहाँ की त्वचा मृदु हो जाती है तथा बार-बार रक्तस्राव होता है।

शल्य युक्त व्रण के विशिष्ट लक्षण

विशेषतस्तु त्वग्गते शल्ये विवर्णः शोफो भवत्यायतः कठिनश्च। मांसगते शोफाभिवृद्धिः शल्यमार्गानुपसंरोहः पीडनासहिष्णुता चोषः पाकश्च। पेश्यन्तरस्थे शोफवर्जं मांसप्राप्तवत्। सिरागते सिराध्मानं शूलं च। स्नायुगे स्नावजालावक्षेपणं संरम्भश्चोग्ररुक्। स्रोतोगते स्रोतसां स्वकर्मगुणहानिः। धमनीस्थे सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छत्यङ्गपीडा हृल्लासश्च। अस्थिगते विविधा वेदनाः शोफश्च। सन्धिगतेऽस्थिवच्चेष्टोपरोधश्च। अस्थिसन्धिगतेऽस्थिपूर्णता सङ्घर्षो बलवाँश्च ॥ ५ ॥

विशेष रूप से त्वग्गत (त्वचा में प्रविष्ट) व्रण विवर्ण (विकृत वर्ण वाला), शोफयुक्त, आयताकार (लंबा-चौड़ा एवं चौकोर) तथा कठिन (कड़ा) होता है। मांसगत (मांस में प्रविष्ट) व्रण अधिक शोफयुक्त होता है तथा इसमें शल्यमार्ग (जिस मार्ग से शल्य का शरीर में प्रवेश हुआ है) का संधान (Healing) नहीं हो पाता है। इसका पीड़न करने (दबाने) पर असह्य पीड़ा (Tenderness) होती है तथा यह ओष (स्वेद एवं अरतियुक्त दाह) एवं पाकयुक्त होता है। पेश्यन्तरस्थ (पेशी में प्रविष्ट) शल्य के लक्षण वही होते हैं, जो मांसगत शल्य के लक्षण होते हैं, परन्तु इसमें शोफ नहीं होता। सिरागत (सिरा में प्रविष्ट) शल्य में आध्मान (सिरा का फूल जाना) तथा शूल होता है। स्नायुगत (स्नायु में प्रविष्ट) शल्य में स्नायु आक्षेप (स्नायु में संकोच या तनाव), संरम्भ (आवेग) एवं उग्र पीड़ा होती है। स्रोतोगत (स्रोतों में प्रविष्ट) शल्य स्रोतों के अपने-अपने प्राकृत कर्मों का नाश करता है। धमनी में प्रविष्ट शल्य में वायु मिश्रित फेनयुक्त रक्त का सशब्द बाहर आना, अंगों में पीड़ा, हृल्लास (मिचली) आदि लक्षण होते हैं। अस्थि में प्रविष्ट शल्य विविध प्रकार की वेदना तथा शोफ को उत्पन्न करता है। संधि में प्रविष्ट शल्य के वही लक्षण होते हैं, जो अस्थि में प्रविष्ट शल्य के होते हैं। साथ ही संधियों की चेष्टाओं (Movements) का अवरोध भी होता है। यदि अस्थिसंधिगत शल्य है, तो शल्य में अस्थियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं, फलस्वरूप शल्य अस्थियों से पूर्ण प्रतीत होता है तथा वहाँ बलवान् (प्रभूत) सङ्घर्ष (आकुलता) होता है।

कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनानि च व्रणमुखाद्भवन्ति। मर्मगते मर्मविद्धवद् यथायथं चोपदिष्टैः परिस्रावैस्त्वगादिषु शल्यमुपलक्षयेत्। सूक्ष्मगतिषु शल्येष्वतान्येव लक्षणान्यविस्पष्टानि भवन्ति ॥ ६ ॥

कोष्ठ में प्रविष्ट शल्य आटोप (हवा भर जाने से गुड़गुड़ाहट) एवं आनाह (मल-मूत्रावरोध हो जाने के कारण पेट फूल जाना) आदि लक्षण उत्पन्न करता है। तथा शल्य के कोष्ठ में प्रविष्ट होने से स्थानानुसार व्रणमुख से पुरीष, मूत्र एवं आहार बाहर आते हैं। मर्मगत शल्य में मर्म के विद्ध होने के अनुसार (जो मर्म विद्ध हुआ है, उसके अनुसार) ही पीड़ा होती है। त्वग्गत

आदि शल्यों को व्रण से निकलने वाले स्रावों को देखकर जाना जाता है। सूक्ष्म गति वाले शल्यों में लक्षण तो उपर्युक्त ही होते हैं, परंतु अस्पष्ट होते हैं।

शल्याबाध के कारण

शुद्धदेहानामनुलोमसन्निविष्टान्युपरुह्यन्ते। दोषप्रकोपव्यवायव्यायामाभिघातेभ्यश्च पुनः प्रचलितानि पुनराबाधयन्ति ॥ ७ ॥

जिन पुरुषों के शरीर शुद्ध हैं, उनमें अनुलोम (सीधे) गति से प्रविष्ट शल्यों से उत्पन्न व्रणों का रोपण (Healing) हो जाता है, परन्तु दोषों का पुनः प्रकोप होने पर, पुनः मैथुन या व्यायाम करने पर अथवा अभिघात (चोट) लगने पर ये प्रविष्ट शल्य विचलित होते (हिलते-डुलते) हैं एवं पूर्वोक्त लक्षणों वाली बाधाएँ (पीड़ा) उत्पन्न करते हैं।

यहाँ यह बतलाया गया है कि अदृष्ट शल्यों (अन्तःशल्यों) को बाहर निकालना क्यों आवश्यक है। शुद्ध या अदूषित शरीर में जो शल्य अनुलोम (ऋजु या सीधा) प्रवेश करते हैं, उनमें तो व्रण रोपित (Healup) हो जाते हैं, परन्तु फिर से दोष-प्रकोप होने पर अथवा उस स्थान पर चोट लगने पर वह प्रविष्ट शल्य फिर से पीड़ा एवं अन्य लक्षण उत्पन्न करता है। अतः अन्तःशल्यों को शरीर से अवश्य बाहर कर देना चाहिए, उसी में नहीं पड़ा रहने देना चाहिए।

प्रनष्ट शल्यों की पहचान के उपाय

तत्र त्वक्प्रनष्टे स्निग्धस्विन्नायां मृन्माषयवगोधूमगोमयचूर्णमर्दितायां त्वचि यत्र संरम्भो वेदना वा भवति। यत्र वा स्त्यानं सर्पिर्निहितमाशु विलीयते। प्रलेपो वा विशुष्यति। तत्र शल्यं जानीयात्। मांसप्रनष्टे स्नेहादिभिः क्रियाभिरातुरमुपपादयेत्। कर्शितस्य च शिथिलीभूतमनवबद्धं क्षुभ्यमानं यत्र संरम्भं वेदनां वा जनयति तत्र शल्यम्। एवं कोष्ठास्थिपेशीविवरेष्वपि ॥ ८ ॥

इन शल्यों में जो त्वचा में (पहुँचकर) नष्ट हुए हैं, उसके स्थान पर स्नेहन और स्वेदन करके मृत्तिका (मिट्टी), माष (उड़द *Phaseolus radiatus*), यव (*Hordeum vulgare*), गोधूम (गेहूँ *Triticum vulgare*), गोमय (गोबर) इनमें से किसी भी एक के चूर्ण का त्वचा पर मर्दन करें। मर्दन करने पर जहाँ संरंभ (क्षोभ) या वेदना हो, वहाँ शल्य है, ऐसा समझना चाहिए अथवा जहाँ पर घी रखने पर वह शीघ्र पिघल जाये, तो उस स्थान पर शल्य है, ऐसा जानना चाहिए या जहाँ पर किया गया प्रलेप शीघ्र सूख जाये, वहाँ पर शल्य है, ऐसा जानना चाहिए। यदि मांस में पहुँचकर शल्य नष्ट हुआ है, तो रोगी को स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि कराना चाहिए। इस प्रकार शोधन कराकर उस कर्शित (कृश हुए) पुरुष में शल्य शिथिलीभूत (ढीला) तथा अनवबद्ध (पृथक्) होता है। ऐसा शल्य क्षोभ के कारण संरंभ अथवा वेदना उत्पन्न करता है। जहाँ पर ये लक्षण उत्पन्न हों, वहाँ शल्य है, ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार कोष्ठगत, अस्थिगत एवं पेशीगत शल्यों को भी उनके लक्षणों से जानना चाहिए।

कोई भी शल्य भीतर रहे और उसके ऊपर थोड़ा दबाव पड़े, तो अवश्य पीड़ा होती है। यह पीड़ा उस अन्तःशल्य की उपस्थिति का द्योतक होता है। इसी की पहचान के लिए उस स्थान पर मृत्तिका आदि का मर्दन किया जाता है। मर्दन के फलस्वरूप जहाँ पीड़ा हो, वहीं पर शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिए। इसी तरह भीतर पड़ा हुआ शल्य, जीर्णशोथ (Chronic Inflammation) पैदा करता है। अतः वहाँ रक्ताधिक्य (Increased Circulation) के कारण

ऊष्माधिक्य रहता है। अतः घी रखने पर पिघल जाता है। इससे भी शल्य की उपस्थिति जानी जाती है। इसी ऊष्मा के कारण जब प्रलेप किया जाता है, तो जलीयांश बाष्प के रूप में उड़ जाता है, फलस्वरूप प्रलेप सूख जाता है।

सिरास्रोतोधमनीस्नावप्रनष्टे खण्डचक्रं रथमश्वयुक्तमारोह्यातुरं विषमेऽध्वनि शीघ्रं नयेत्। ततः संरम्भादिभिर्जानीयात्॥ ९॥

यदि शल्य सिरा, स्रोतस्, धमनी और स्नायु में (पहुँचकर) नष्ट हो जाता है, तब इस अवस्था में रोगी को खण्डचक्र (टूटे पहिये) वाले एवं घोड़े (*Equuas cabellus*) से खींचे जाने वाले रथ पर बैठाकर विषम (ऊबड़-खाबड़) रास्ते पर रथ को तेजी से चलाना चाहिए। इससे जिस स्थान पर संरम्भ (क्षोभ) आदि उत्पन्न हों, वहाँ पर शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिए।

सन्धिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान् सन्धीन् प्रसारणाकुञ्चनबन्धनपीडनैरुपचरन् पूर्ववदवगच्छेत्। अस्थिप्रनष्टे स्निग्धस्विन्नान्यस्थीनि बन्धनपीडनाभ्यां भृशमुपचरंस्तद्वदुपलक्षयेत्॥ १०॥

यदि संधि में (पहुँचकर) शल्य नष्ट हुआ है, तो उस स्थान पर स्नेहन तथा स्वेदन करना चाहिए। तत्पश्चात् संधि का प्रसारण (फैलाना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), बन्धन (बाँधना), पीड़न (दबाना) आदि क्रियाओं को करने से जिस स्थान पर संरंभ एवं वेदना हो, वहाँ पर शल्य है, ऐसा जानना चाहिए। यदि अस्थि में (पहुँचकर) शल्य नष्ट् हुआ है, तो अस्थि का स्नेहन-स्वेदन करना चाहिए तथा अस्थि को दबाने-बाँधने पर जहाँ वेदना हो, वहाँ शल्य है, ऐसा जानना चाहिए।

मर्मप्रनष्टेऽप्यनन्यभावान्मांसादिभ्यो मर्मणामुक्तं परीक्षणं भवति॥ ११॥

मर्म में (पहुँचकर) नष्ट हुए शल्य का मांस-प्रनष्ट, पेशी-प्रनष्ट आदि शल्यों के लक्षणों के अनुसार ही परीक्षण करना चाहिए।

अन्तः-प्रनष्ट शल्य के सामान्य लक्षण

सामान्यलक्षणं तूच्छ्रितहस्तिस्कन्धाश्वद्रुमारोहणद्रुतयानलङ्घनप्लवनव्यायामैर्जृम्भोद्गारकासक्षवथुष्ठीवनहसनप्राणायामैर्मलशुक्रोत्सर्गैर्वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति। यत्र वा स्वल्पेऽप्यायासे स्वापो गौरवं घट्टनं शोफो वा स्यात्तत्र शल्यमादिशेत्॥ १२॥

किसी ऊँचे स्थान, हाथी (*Elephas indica*) के कंधे, घोड़े (*Equuas cabellus*) एवं वृक्ष पर चढ़ते समय, तेज सवारी पर चलते समय, लाँघते समय, प्लवन (तैरने) के समय, व्यायाम करते समय, जम्भाई लेते समय, डकार लेते समय, खाँसते समय, छींकते समय, ष्ठीवन (थूकने) के समय, हँसते समय, प्राणायाम (श्वासोच्छ्वास निरोध) करते समय, मल-मूत्र त्याग करते समय एवं मैथुन करते समय जिस स्थान पर संरम्भ (क्षोभ) अथवा वेदना होती है अथवा स्वल्प चेष्टा भी करते समय यदि स्वाप (संज्ञानाश), गौरव (भारीपन), घट्टन (घर्षण) या शोफ हो तो वहाँ शल्य है, ऐसा जानना चाहिए।

उपर्युक्त अन्तःशल्य के लक्षणों के अतिरिक्त सुश्रुतसंहिता में एक अन्य विशिष्ट लक्षण का भी वर्णन है—'आतुरश्चापि यं देशमभीक्ष्णं परिरक्षति। संवाह्यमानो बहुशः तत्र शल्यं विनिर्दिशेत्'॥

(सु० सू० २६)। अर्थात् विभिन्न क्रिया-कलाप करते समय रोगी अपने शरीर के जिस स्थान की बार-बार रक्षा करता है, वहाँ शल्य है, ऐसा जानना चाहिए।

आकृति के अनुसार शल्य के चार प्रकार

समासतश्चतुर्विधं शल्यं भवति वृत्तद्वित्रिचतुरस्रभेदेन। तददृश्यमानं व्रणसंस्थानादनुमिमीत ॥ १३ ॥

संक्षेप में शल्य चार प्रकार के होते हैं—१. वृत्त (गोल), २. द्विकोण (दो कोणों वाला), ३. त्रिकोण (तीन कोणों वाला), ४. चतुष्कोण (चार कोणों वाला)। इन न दिखलाई पड़ने वाले शल्यों का अनुमान व्रण के संस्थान (बाह्य रूप) को देखकर ही करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि अन्तःशल्य के आकार-प्रकार का अनुमान शरीर के बाह्य सतह पर स्थित व्रण के आकार को देखकर लगाना चाहिए।

बड़े शल्यों के आहरण के उपाय

सर्वशल्यानां तु महतामाहरणे द्वावेवोपायौ प्रतिलोमोऽनुलोमश्च। तत्र प्रतिलोममर्वाचीनमानयेदनुलोमं पराचीनम्। तिर्यग्गतं यतः सुखाहार्यं भवति। ततश्छित्वोपहरेत् ॥ १४ ॥

समस्त बड़े शल्यों के आहरण (निकालने) के दो ही उपाय (विधियाँ) हैं—(१) प्रतिलोम विधि एवं (२) अनुलोम विधि। इसमें प्रतिलोम विधि से शल्याहरण करते समय शल्य को अर्वाचीन दिशा (अर्थात् जिस दिशा से शल्य शरीर में धँसा है उसी दिशा—ऊर्ध्वगति) से खींचते हुए बाहर निकाले। अनुलोम आहरण करते समय शल्य को पराचीन दिशा (शल्य शरीर में घुसकर जिधर जा निकला हो उसी दिशा—अधोगति) से खींचकर बाहर निकालें। तिर्यग्गत (शरीर में तिरछी दिशा में प्रविष्ट) शल्य जिस दिशा से सुखपूर्वक निकाला जा सके, उसी दिशा से छेदन (काट) करके बाहर निकालना चाहिए।

आहरण के अयोग्य शल्य

प्रतिलोममनुत्तुण्डितं छेदनीयं पृथुमुखं च शल्यं न निर्घातयेत् तथा कक्षावङ्क्षोरःपर्शुकान्तरपतितानि नैव चाहरेत्। विशल्यघ्नमर्मप्रविष्टं प्रनष्टं वा शोफवेदनापाकविरहितम् ॥ १५ ॥

प्रतिलोम स्थित (जिधर से शल्य शरीर में प्रविष्ट हुआ है, उसी दिशा में स्थित हो, दूसरी ओर न निकला हो) तथा अनुत्तुण्डित (जिस व्रण का मुख दिखाई न पड़े) और छेदनीय (छेदन करने या काटने योग्य) मुख वाले शल्यों का निर्घातन (बाहर निकालना) नहीं करना चाहिए तथा कक्षा (Axilla), वंक्षण (Inguinal Region), उरस् (वक्ष), पर्शुका (Ribs) के अन्दर घुसे शल्य का भी निर्हरण (बाहर निकालना) नहीं करना चाहिए। विशल्यघ्न मर्मों (जिन मर्मों में घुसा शल्य निकालने से मृत्यु हो जाती है) में प्रविष्ट होकर नष्ट हुए शल्य का भी आहरण नहीं करना चाहिए। शोफ, वेदना तथा पाक से रहित अवस्था में भी शल्य को बाहर नहीं निकालना चाहिए।

शल्याहरण विधि

अथ हस्तप्राप्यं शल्यं हस्तेनाहरेत्। तदशक्यं यथायथं यन्त्रेण। तथाप्यशक्यं शस्त्रेण

विशस्य ततो निर्लोहित व्रणं कृत्वाग्निघृतप्रभृतिभिः स्वेदयित्वाऽवदह्य तर्पयित्वा सर्पिर्मधुभ्यां बध्वाऽऽचारिकमादिशेत्। सिरास्नावलग्नं शलाकाग्रेणाभिमोच्यापहरेत्। हृदयेऽभिवर्तमानं शल्यं शीतजलादिभिरुद्वेजितस्यापहरेत्। यथामार्गं दुराहरमन्यतोऽप्यवबध्यमानं पाटयित्वोपहरेत्। अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्टं वाऽवगृह्य पद्भ्यां पुरुषं यन्त्रेणापकर्षयेत्। अशक्यमेव वा बलवद्भिः सुगृहीतस्य यन्त्रेण वा ग्राहयित्वा शल्यं वारङ्गं प्रतिभुज्य वा धनुर्गुणैरेकतो बध्वान्यतश्च पञ्चाङ्ग्या सुसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकटके बध्नीयात्। अथैनमेवं कशया ताडयेद्यथोन्नमयन् शिरो वेगेन शल्यमुद्धरति। दृढां वा वृक्षशाखामवनम्य तस्यां पूर्ववद् बध्वोद्धरेत्। दुर्बलं वारङ्गं वा कुशाभिर्बध्वा। श्वयथुग्रस्तवारङ्गमुत्पीड्य श्वयथुम्। अदेशोत्तुण्डितमश्ममुद्गरप्रहारेण विचाल्य यथामार्गमेव ॥ १६ ॥

यदि शरीर में प्रविष्ट शल्य हाथ से निकलने योग्य हो, तो हाथ से ही पकड़ कर खींच लेना चाहिए। यदि ऐसा करने योग्य न हो, तो उपयुक्त यन्त्र से पकड़ कर उनका आहरण करना चाहिए। यदि शल्य यन्त्र से भी न निकाला जा सके, तो उस स्थान के आस-पास शस्त्रकर्म करके यथोचित यन्त्र से पकड़ करके शल्य का आहरण कर देना चाहिए और उस व्रण का रक्त आदि साफ करके अग्नि, घृत आदि से स्वेदन करके, शलाका आदि से दग्ध करके तथा सर्पि (घृत) एवं मधु से तर्पण करके पट्टी बाँध दे। तत्पश्चात् यथोचित आहार-विहार करने का सम्यक् निर्देश दे दें। सिरा एवं स्नायु में जाकर प्रनष्ट हुए शल्यों को शलाका के अग्रभाग से अलग करके बाहर निकालना चाहिए। यदि शल्य हृदय में वर्तमान हो, तो रोगी को शीतल जल के छींटे आदि से उद्वेजित करके, शल्य के प्रवेश मार्ग से ही शल्य को बाहर निकालना चाहिए। यदि आहरण में कठिनता हो रही हो अथवा आसपास के अंगों के दबाव के कारण शल्याहरण में अवरोध हो रहा हो, तो पाटन क्रिया (चीर) करके शल्याहरण करना चाहिए। यदि शल्य अस्थिविवर (अस्थि के छिद्र) में प्रविष्ट हो अथवा अस्थिविदष्ट (दो अस्थियों के बीच में चला गया) हो, तो रोगी पुरुष के दोनों पैरों को पकड़ कर शल्य के वारंग (बाहर दिखलाई पड़ने वाला भाग) को मोड़ कर धनुष की डोरी (अथवा अन्य किसी दृढ़ सूत्र) के एक सिरे से बाँध दें तथा इस डोरी के दूसरे सिरे को ऐसे घोड़े (*Equuas cabellus*) के वक्त्रकटक (लगाम) से बाँध देना चाहिए। जिस घोड़े के चारों पैर एवं मुख पंचांगी बन्धन से बाँधकर जकड़ दिये गये हों, अब इस घोड़े को चाबुक से मारा जाता है, जिससे घोड़ा (*Equuas cabellus*) अपने शिर को वेग से ऊपर उठाता है, फलस्वरूप डोरी के पहले सिरे से बाँधा गया शल्य एक झटके से बाहर निकल जाता है अथवा किसी वृक्ष की दृढ़ शाखा को झुकाकर पहले की ही भाँति डोरी के एक सिरे को शल्य से एवं दूसरे सिर को झुकाई गई शाखा से बाँधकर शाखा को सहसा छोड़ दें, शाखा के ऊपर जाने के फलस्वरूप एक झटके से शल्य निकल जाता है। यदि शल्य का वारंग (मूठ) दुर्बल हो, तो उसे कुशा आदि से बाँध कर खींचें। यदि वारंग स्थान पर शोथ हो, तो शोथ को दबाकर कम करके शल्य का आहरण करें। अदेश (अनुपयुक्त स्थान) में स्थित एवं उत्तुण्डित (बुलबुले के समान उठे तथा मुख से दिखलाई पड़ने वाले) शल्यों को अश्म (पत्थर) या मुद्गर के प्रहार से विचलित करके यथोचित मार्ग से बाहर निकालें।

विविध प्रकार के शल्यों के आहरण की विधि

कर्णवत्तु यन्त्रेण विमृदितकर्णं कृत्वा नाडीयन्त्रेण वा बहुमुखेन यथास्वमुपसङ्गृह्य शलाकायन्त्रेणान्येन वा पूर्ववदाहरेत्। अनुलोममकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन ॥ १७ ॥

कर्ण (नोक) युक्त शल्य की नोक को यन्त्र (रेती) से मर्दित कर (घिस) दें अथवा बहुमुखी नाड़ीयन्त्र से यथोचित रीति से पकड़ कर अथवा इसे शलाका यन्त्र से पूर्वोक्त विधि द्वारा बाहर निकालें। यदि शल्य कर्ण रहित हो तथा व्रण का मुख भी बड़ा हो, तो अयस्कान्त (चुम्बक) द्वारा अनुलोम मार्ग (जिस मार्ग से शरीर में प्रविष्ट हुआ है) से शल्य को बाहर निकालना चाहिए।

पक्वाशयगतं विरेचनेन। वातविण्मूत्रगर्भसङ्गं प्रवाहणेन। दुष्टवातविषस्तन्यास्य-विषाणादिचूषणेन ॥ १८ ॥

पक्वाशयगत शल्य को विरेचन से बाहर निकालना चाहिए। ऊर्ध्ववात का अवरोध, पुरीषावरोध, मूत्रावरोध अथवा गर्भाशयावरोध प्रभृति शल्य हों, तो प्रवाहण (काँखना) से इन शल्यों को बाहर निकालें। यदि दूषित वायु, विष-दूषित स्तन्य प्रभृति शल्य हों, तो इनको विषाण (शृङ्ग) आदि से चूस कर निकाले।

कण्ठस्रोतोगते तु शल्ये बिसासंसक्तं सूत्रं कण्ठे प्रवेशयेत्। अथ तद्गृहीतं विज्ञाय शल्यं सममेव सूत्रं बिसं चाक्षिपेत्। बिसाभावे मृणालेष्वयमेव[1] विधिः ॥ १९ ॥

यदि शल्य कण्ठ या स्रोत में पहुँचा है, तो बिस (मृणाल–विषाङ्कुर) में पिरोये गये सूत्र (धागे) को कण्ठ में प्रवेश करायें। जब सूत्र में शल्य फँस गया है, ऐसा जान लें, तब बिस एवं सूत्र में फँसे शल्य को बाहर खींच लें। यदि बिस न मिले तो इसके बदले में मृणाल (कमलनाल *Nelumbo nucifera*) का प्रयोग करते हुए इसी विधि से शल्य को बाहर खींचें।

जातुषे तु कण्ठसक्ते कण्ठे नाडीं प्रवेशयेत्तथा चाग्नितप्तां सूक्ष्ममुखीं शलाकाम्। अथ तां गृहीतशल्यां शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतामाहरेत्। अजातुषेऽप्येवमेव [2]तप्तां जतुमधूच्छिष्टान्यतरप्रदिग्धां शलाकाम् ॥ २० ॥

यदि कण्ठ में जातुष (लाक्षा) फँस गई हो, तो गले में नाड़ी यन्त्र प्रवेश करायें तथा अग्नि से प्रतप्त सूक्ष्ममुखी (पतले मुख वाली) शलाका को इस नाड़ीयन्त्र के अन्दर डाले, जब शलाका शल्य को स्पर्श करने लगे, तब शीतल जल से इसे ठंडा करें; इससे शल्य स्थिरीभूत हो जाता है, तब इसे बाहर निकाल लें। यदि शल्य लाक्षायुक्त न हो, तो उस नाड़ी में लाक्षा (*Rosa centifolia*) लगी शलाका को प्रवेश करायें तथा उपर्युक्त विधि से ही उसे निकाल लें।

मत्स्यकण्टकमन्यद्वा तादृगस्थिशल्यं कण्ठेऽवलग्नं[3] सूत्रेण सूत्रप्लोतेन वा वेष्टितयाऽङ्गुल्याऽपहरेत्। अथवा केशोन्दुकं दृढदीर्घसूत्रबद्धं द्रवोपहितं पाययेद्वामयेच्च। वमतश्च शल्यैकदेशसक्तं सूत्रं सहसैवाक्षिपेत्। मृदुना वा दन्तधावनकूर्चेनाभिहरेत्[4]। परतो वा प्रणुदेत्। वालोण्डके[5] विलग्ने तद्वत्कण्टकम्। क्षतकण्ठश्च त्रिफलाचूर्णं मधुघृतसितोपेतमनुकण्ठयन् लिह्यात् ॥ २१ ॥

मछली का काँटा या उसी के समान अन्य कोई अस्थि शल्य कण्ठ में फँस गया हो, तो उसे धागे अथवा सूती वस्त्र को अँगुली पर लपेट कर उससे निकालना चाहिए अथवा केशों के गुच्छे को

---

१. 'मृणालेऽप्ययमेव' इति पाठान्तरम्।
२. 'प्रतप्ताम्' इति पाठान्तरम्।
३. 'कण्ठलग्नम्' इति पाठान्तरम्।
४. 'कूर्चेनापहरेत्' इति पाठान्तरम्।
५. 'वालोण्डुके' इति पाठान्तरम्।

सुदृढ़ सूत्र में बाँधकर रोगी को निगलवा दे, उसके बाद रोगी को वमन करायें। वमन करते समय शल्य एक किनारे आकर लग जाता है, इस सूत्र को एक झटके के साथ खींच कर बाहर निकाल लें अथवा दन्तधावन की कोमल कूची से शल्य को निकालें। यदि शल्य आमाशय की ओर स्थित है और आगे बढ़ाया जा सकता हो, तो उसे कोई द्रव पदार्थ पिलाकर या कन्धों पर धीरे-धीरे चोट करके आगे (नीचे) आमाशय में ले जायें। केश के कूर्च (गुच्छे) में लगे शल्य को मछली के काँटे की ही तरह बाहर निकालें। कण्ठ में क्षत हो जाने पर त्रिफला चूर्ण को मधु, घृत, सिता (शर्करा या मिश्री) के साथ मिश्रित करके रोगी को चटायें।

जलशल्य आहरण विधि

अपां पूर्णं पुरुषमवाक्शिरसमवपीडयेद्धनुयाद्वामयेच्च भस्मराशौ वा निखन्यादामुखात्। अन्यथा ह्यूर्ध्वमार्गगाभिरद्भिराध्मानकासश्वासपीनसेन्द्रियोपघातज्वरादयः श्लेष्मविकारा मृत्युश्च। तत्र यथास्वं प्रतिकुर्यात्॥ २२॥

यदि पानी में डूबने के कारण किसी पुरुष के उदर में जल भर गया हो, तो उस पुरुष को शिर नीचे तथा पैर ऊपर करके लटका दे एवं उदर का पीडन करें, हिलाये-डुलाये एवं वमन करायें अथवा भस्म (राख की ढेर) में गले तक गाड दें। ऐसा न करने से शरीर में प्रविष्ट जल उन्मार्गगामी होकर आध्मान, कास, श्वास, पीनस, इन्द्रियोपघात (इन्द्रियों का नाश), ज्वर आदि कफज विकारों के अतिरिक्त मृत्यु तक हो सकती है। इन रोगों के उत्पन्न होने पर इनकी यथोचित चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिए।

जल से बाहर निकालते ही उसके कपड़े उतारकर रोगी को पेट के बल लिटा देना चाहिए एवं उसे कृत्रिम श्वसन (Artificial Respiration) कराना चाहिए। ऐसा आधे घंटे से लेकर यथावश्यक समय तक करना चाहिए। इसके साथ ही रोगी के मुख और नासाछिद्रों (Nostrils) को साफ कर देना चाहिए एवं उत्तेजक (Analeptics) औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। कृत्रिम श्वसन (Artificial Respiration) की अनेक विधियाँ होती हैं, जैसे शेफर्स की विधि (Schafer's Method) आदि।

ग्रास शल्याहरण विधि

ग्रासशल्यमम्बुना प्रवेशयेत्। स्कन्धे वा मुष्टिनाऽभिहन्यात्। कण्ठस्थं श्लेष्माणमन्नलवं वा प्रधमनोत्काशनावकशनैर्निर्वमेत्[1]॥ २३॥

ग्रास शल्य (निगलते समय अटके हुए कौर) को पानी पीकर आमाशय के अन्दर प्रविष्ट कराना चाहिए अथवा रोगी के कंधों पर मुट्ठी से हलके-हलके प्रहार करें। कण्ठ में फँसे हुए श्लेष्मा अथवा अन्न के टुकड़े-टुकड़े को प्रधमन नस्य करके अथवा उत्काशन-अपकशन (बहिरीकरण-अन्तरीकरण) करके बाहर निकाल दें।

सुश्रुतसंहिता में उपर्युक्त विधि के अतिरिक्त स्नेह एवं मद्य भी पीकर शल्य को भीतर पहुँचाने का विधान है।

नेत्रगत शल्य

सूक्ष्ममक्षि शल्यं लेखनप्रधमनवालजलवस्त्रजिह्वाभिरपनयेत्। तथा निर्भुज्यवर्त्म

---

१. 'विधमेत्' इति पाठान्तरम्।

वर्त्मगतमपनीय चोष्णाम्बुबाष्पस्वेदं समधुमधुकक्वाथेन सर्पिषा च परिषेकं कुर्यात् । स्वयमपि च शल्यमश्रुक्षवथुकासोद्गारमूत्रपुरीषानिलैर्नयनादिभ्योऽङ्गावयवेभ्यः पतति ॥२४॥

सूक्ष्म अक्षिशल्य (धूल के कण आदि) को लेखन, प्रधमन, बाल, जल या वस्त्र अथवा जिह्वा से निकाल कर बाहर कर देना चाहिए। वर्त्मगत शल्य को वर्त्म (पलक को) उलट कर निकाल दें तथा गर्म जल के बाष्प से स्वेदन करें और मधुक (मुलहठी *Glycyrrhiza glabra*) के क्वाथ में मधु एवं सर्पि (घी) मिलाकर उससे परिषेक करें। मल-मूत्र, अक्षिशल्य स्वयं भी अश्रु के साथ छींकने पर, खाँसने पर, डकारने पर और मल-मूत्र-अपानवायु आदि के विसर्जन करने पर निकल जाते हैं।

कर्णगत कीट का उपचार क्रम

कीटे कर्णस्रोतःप्रविष्टे तोदो गौरवं भरभरायणं च भवति स्पन्दमाने चाभ्यधिकं वेदना । तत्र सलवणेनाम्बुना मधुसुक्तेन मद्येन वा सुखोष्णेन पूरणम् । निर्गते च कीटे तदुत्सर्जनम् । तत्रैव तु मृते पाककोथक्लेदा भवन्ति । तेषु कर्णस्रावोक्तं कुर्यात् प्रतिनाहोक्तं च । तोयपूर्णं कर्णं हस्तोन्मथितेन तैलाम्बुना पूरयेत् । पार्श्वावनतं वा कृत्वा हस्तेनाहन्यान्नाड्या वाऽऽचूषेदिति ॥ २५ ॥

यदि कर्णस्रोत (कान के छिद्र) में कीड़ा प्रवेश कर जाये, तो कान में तोद (सुई चुभने सी पीड़ा), गौरव (भारीपन) एवं भरभराने जैसी आवाज होती है तथा कीट के स्पन्दन करने से अत्यधिक वेदना भी होती है। इस अवस्था में नमक मिश्रित जल अथवा मधुसुक्त या मद्य सुखोष्ण (सहने लायक गर्म) करके उससे कान का पूरण कर दें (कान में भर दें)। ऐसा करने से कर्ण में प्रविष्ट कीट बाहर निकल जाता है, फिर उसके बाद कानों में भरे द्रव पदार्थ को बाहर निकाल दें। यदि द्रव पदार्थों को भरने से कर्ण में प्रविष्ट वह कृमि वहीं मर जाता है, तो वह कर्णपाक, कर्णक्लेद, कर्णकोथ आदि रोगों को उत्पन्न कर देता है। इन रोगों के उत्पन्न हो जाने पर कर्णस्राव एवं कर्णप्रतिनाह के समान ही चिकित्सा करनी चाहिए। कान में पानी भर जाने पर तैल तथा जल को एक हाथ में अँगुली से मथ कर कान में डालें या उस कान को नीचे की ओर करके हथेली से धीरे-धीरे थपथपायें या नाड़ीयंत्र से जल को चूस लें और इस प्रकार उसे बाहर निकालें।

शीर्यमाण शल्य

भवति चात्र—

जातुषं हेमरूप्यादिधातुजं च चिरस्थितम् ।
ऊष्मणा प्रायशः शल्यं देहजेन विलीयते ॥ २६ ॥
विषाणवेणुदार्वस्थिदन्तवालोपलानि तु ।
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि च ॥ २७ ॥
विषाणवेण्वयस्तालदारुशल्यं चिरादपि ।
प्रायो निर्भुज्यते तद्धि पचत्याशु पलासृजी ॥ २८ ॥

लाक्षा, हेम (स्वर्ण), रूप्य (चाँदी) आदि धातुओं के शल्य शरीर में देर तक रहते हैं। फलस्वरूप देह की ऊष्मा के कारण ये स्वयमेव शरीर में विलीन हो जाते हैं, किन्तु विषाण (शृंग), वेणु (बाँस *Bambusa bambos*), दारु (लकड़ी), अस्थि, दन्त, बाल, पत्थर के

टुकड़े और मिट्टी के कणों के शल्य शरीर की गर्मी से स्वतः विलीन नहीं होते। विषाण, वेणु, अयस्ताल (लोहा और ताड़) तथा दारु के शल्य शरीर में चिरकाल तक रहने पर टेढ़े हो जाते हैं एवं पल (मांस) तथा असृक् (रक्त) में पाक उत्पन्न करते हैं।

शल्य आहरण का निर्देश

शल्ये मांसावगाढे चेत्सदेशो न विदह्यते।
ततस्तं मर्दनस्वेदशुद्धिकर्शनबृंहणैः ॥ २९ ॥
तीक्ष्णोपनाहपानान्नघनशस्त्रपदाङ्कनैः ।
पाचयित्वा हरेच्छल्यं पाटनैषणपीडनैः ॥ ३० ॥

मांस में धँसा हुआ शल्य यदि पाक न उत्पन्न कर रहा हो, तो वहाँ मर्दन, स्वेदन, शोधन, कर्षण, बृंहण, तीक्ष्ण उपनाह, अन्नपान, घन, शस्त्रचिह्नों आदि से उस स्थान को पकाकर, पाटन-क्रिया (चीर) कर, एषण (Exploration) कर तथा पीडन (दबाकर) कर शल्य को बाहर निकालना चाहिए।

यह ध्यान रखना चाहिए कि कुछ शल्य इस प्रकार के होते हैं, जिन्हें तुरन्त निकालना परमावश्यक होता है, अन्यथा ये विषैले (Septic) हो जाते हैं तथा ऐसी स्थिति आ जाती है कि उस अंग-विशेष को काट कर (Amputation) अलग कर देना आवश्यक हो जाता है। ऐसे शल्यों को पाटनक्रिया करके तुरन्त निकाल देना चाहिए, नहीं तो ये रोगी के लिए मृत्युप्रद सिद्ध होते हैं।

शल्यप्रदेशयन्त्राणामवेक्ष्य बहुरूपताम्।
तैस्तैरुपायैर्मतिमान् शल्यं विद्यात्तथाऽऽहरेत् ॥ ३१ ॥

विभिन्न प्रकार के शल्यों, शरीर के प्रदेशों (अंगों), यंत्रों (उपकरणों) को देखकर तथा उनकी विविधता को पहचान कर उनके अनुसार ही विभिन्न उपायों के द्वारा मतिमान शल्य-चिकित्सक यथोचित रीति से शल्य का आहरण करे।

तात्पर्य यह है कि शल्यों की आकृति के विविध भेद, शल्य प्रदेश के स्थान तथा उपलब्ध यंत्रों आदि का विचार करके शल्याहरण करना चाहिए। जो शल्य निकालने पर अत्यधिक पीड़ा-दायक हों, उनको युक्तिपूर्वक निकालना चाहिए। यदि शास्त्रोक्त उपायों द्वारा भी शल्य न निकाला जा सके, तो वैद्य को स्वयं की बुद्धि से विचार करके अनुक्त (शास्त्र में न कहे गये) शस्त्र का प्रयोग करके भी शल्य को अवश्य बाहर कर देना चाहिए। ऐसा न करने से तो शरीर के भीतर पड़ा शल्य विविध प्रकार की पीड़ाओं तथा मृत्यु तक को भी ला सकता है।

शल्यरहित व्रण का लक्षण

व्रणे प्रसन्ने प्रान्तेषु नातिस्पर्शासहिष्णुषु।
अल्पे शोफे च तापे च नि शल्यमिति निर्दिशेत् ॥ ३२ ॥

जब व्रण के प्रांत (किनारे) प्रसन्न (स्वच्छ) हो, उनमें स्पर्शासहिष्णुता न हो, अर्थात् स्पर्श करने पर पीड़ा न हो, शोफ एवं स्थानिक ताप कम हो जाये, तो व्रण शल्यरहित हो गया है, ऐसा जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जब शोफ (Inflammation) के मुख्य लक्षण (Cardinal Signs) कम दिखलाई पड़े, तो यह समझना चाहिए कि व्रण शल्यरहित है।

परम शल्य-शरीर

काय एव परं शल्यं निजदोषमलाविलः।
शल्ये शल्यं शराद्यं तु विशेषात्तेन चिन्त्यते ॥ ३३ ॥

इति शल्याहरणविधिर्नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

निज शरीर के दोषों एवं मलों से आविल (मलिन) यह काय (शरीर) ही सबसे बड़ा शल्य है, शर (बाण) आदि शल्य तो इस शरीर रूपी शल्य में शल्य की भाँति होते हैं। अतएव इन शर आदि शल्यों की विशेष रूप से चिन्ता (ध्यान) करनी चाहिए।

इस प्रकार शल्याहरणविधि नामक सप्तत्रिंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में शल्ययुक्त व्रण के सामान्य एवं विशिष्ट लक्षण, आकृति के अनुसार शल्य के प्रकार तथा विविध प्रकार की शल्याहरण विधि का विस्तार से वर्णन मिलता है।

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

अथातः शस्त्रकर्मविधिं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'शस्त्रकर्म-विधि नाम अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

'शस्त्रस्य कर्म शस्त्रकर्म शस्त्रावचारणा क्रिया तस्य विधिः शस्त्रकर्मविधिः।' (पदार्थचन्द्रिका व्याख्या) शस्त्र का कर्म शस्त्रकर्म है, लोहादि के निकालने के लिए शस्त्र का जो प्रयोग किया जाता है, उसे शस्त्रकर्म कहते हैं। उसकी विधि की व्याख्या इस अध्याय में करेंगे।

शस्त्र कर्म का विषय

द्विविधेऽपि हि व्याधावुपायापेक्षे निज आगन्तौ वा भेषजविषयातीते शस्त्रकर्म प्रयुज्यते। स चामयः प्रायेण श्वयथुपूर्वको भवति। अतः शोफावस्थस्यैव वातकफपित्त-रक्तसंसर्गसन्निपातात्मकतामुपलक्ष्य पाकभयाद्यथास्वमुपवासलेपसेकासृङ्मोक्षकषायघृत-पानशोधनानि प्रयुञ्जीत। तथाप्यनुपशाम्यति प्रविलयनम्। अविलीयमाने चोपनाहनम्।

निज एवं आगंतुक दोनों ही प्रकार की रोग-शान्ति के लिए विविध प्रकार के उपायों की अपेक्षा की जाती है। इस हेतु पहले औषधियों का प्रयोग किया जाता है। जब ये सफल सिद्ध नहीं होती, तब इनकी प्रशान्ति के लिए शस्त्रकर्म किया जाता है और यह (शस्त्रसाध्य) रोग प्रायः श्वयथु (शोथ) होने के बाद ही होता है। अतएव जब भी शोफ होना शुरू हो, तभी से ही वात-पित्त-कफ-रक्त-संसर्ग-सन्निपात आदि का विचार करके यथोचित दोषानुसार उपवास, लेप, सेक, असृक्मोक्षण (रक्तमोक्षण), कषाय एवं घृतपान तथा शोधन आदि का प्रयोग करें, जिससे शोफ पकने न पाये। यदि इन विधियों का प्रयोग करने पर भी शोफ की शान्ति न हो तो उसका प्रविलयन हो जाये, ऐसा उपाय करना चाहिए। यदि प्रविलयन भी न हो तो उपनाह (पुल्टिस) बाँधना चाहिए।

यहाँ यह बतलाया गया है कि औषधियों द्वारा जो रोग शान्त नहीं होते, उनकी चिकित्सा शस्त्रकर्म द्वारा करनी चाहिए। ये शस्त्र-साध्य रोग प्रायः शोथ होने के बाद ही होते हैं। अतएव जैसे ही शोथ प्रारम्भ हो, वैसे ही उसकी उचित चिकित्सा आरम्भ कर देनी चाहिए। एतदर्थ क्रमशः स्नेहन, स्वेदन, लंघन, रक्तमोक्षण आदि का प्रयोग करना चाहिए। इससे भी शोफ दब सकता है। यदि फिर भी न दबे, तो ऐसी चिकित्सा करनी चाहिए कि उसका प्रविलयन हो जाये। यदि इस पर भी शोफ नियंत्रित न हो, तो उपनाह बाँध देना चाहिए। शोफ की उचित चिकित्सा हेतु यह भी आवश्यक है कि शोफ के संबंध में विस्तृत ज्ञान हो। इस हेतु शोफ एवं उसकी विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन आगे किया गया है।

आम एवं पच्यमान शोफ के लक्षण

तत्र शोफस्यामलक्षणमल्पता चाल्पोष्मरुजत्वं त्वक्सवर्णता स्थैर्यं च। पच्यमानस्तु विवर्णो बस्तिरिवाततः संरम्भशूलरागदाहोषारुचितृष्णाज्वरारतिस्पर्शासहत्वानिद्रता-

समन्वितो विष्यन्दयति सर्पिः शोषयति प्रदेहं सर्षपकल्कोपलिप्त इव चिमचिमायते पिपीलिकाभिरिव संसृज्यते पीडचत इव पाणिना घटचत इवाङ्गुल्या ताडचत इव दण्डेन तुद्यत इव सूचीभिर्भिद्यत इव शक्तिभिश्छिद्यत इव शस्त्रेण दश्यत इव वृश्चिकैर्दह्यत इवाग्निक्षाराभ्यां मथ्यत इवोमुल्केन ॥ ४ ॥

शोफ की अल्पता (कम होना), ऊष्मा (गर्मी) तथा वेदना में कमी होना, त्वचा के वर्ण के समान ही शोफ स्थान का वर्ण हो जाना तथा स्थिरता शोफ की आमावस्था के लक्षण हैं। शोफ का विवर्ण (विकृत वर्ण) हो जाना, बस्ति (या मशक) के समान उसमें सूजन हो जाना, संरंभ (झटिति वृद्धि–उठाव का सहसा बढ़ जाना), शूल, राग (लालिमा), दाह, ऊषा (अरतिमान दाह), अरुचि, तृष्णा, ज्वर, अरति (बेचैनी), स्पर्शासहत्व (छूने पर अतीव वेदना होना—Marked Tenderness), अनिद्रा (नींद का न आना), घी को शोफ स्थान पर रखने पर पिघल जाना, शोफ़ स्थान पर लेप करने पर लेप का सूख जाना, सरसों के कल्क के लेप के समान चिमचिमाहट होना, पिपीलिका (चींटी) के रेंगने के समान प्रतीति होना, हाथ से दबाव डाला जा रहा हो ऐसा अनुभव होना, अंगुली से फाड़ा जा रहा हो ऐसी पीड़ा, दण्डे से पीटे जाने के समान पीड़ा, सुइयों से बींधे जाने के समान पीड़ा, शक्ति (बरछियों) से बींधे जाने के समान पीड़ा, शस्त्र से काटे जाने के समान वेदना, बिच्छू के दंश के समान वेदना, क्षार या अग्नि से दहन कराने के समान् पीड़ा, उल्मुक (अंगारे) से मथा जा रहा हो, ऐसी पीड़ा का अनुभव होना आदि लक्षण शोफ की पच्यमानावस्था में होते हैं।

वाग्भट ने जो लक्षण बतलाये हैं, सुश्रुत ने भी उन्हीं का उल्लेख किया है। 'तत्र मन्दोष्मता, त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टम्' ॥ (सु० सू० १७) अर्थात् शोथ का किञ्चित् उष्ण होना, त्वचा का सवर्ण होना, शीतशोफता (शोफ का कड़ा होना), स्थिरता, पीड़ा में कमी तथा शोफ (Swelling) में कमी होना आमशोफ के ये सुश्रुतोक्त लक्षण हैं। इसी प्रकार पच्यमान शोफ के लक्षण भी सुश्रुतोक्त लक्षणों से काफी साम्यता रखते हैं। विशेष करके पच्यमान शोफ में भीतर वर्तमान पूय (Pus) के कारण शोफस्थान में टपकन (Throbbling Pain) होती है। आम तथा पच्यमान शोथ की पीड़ा में पीड़ा की प्रकृति (Character) में अन्तर होता है। इसके साथ ही विकारी जीवाणुओं (Pathogenic Micro-organism) के कारण जब जीवाणुरक्तता (Bacteraemia) होती है, तो ज्वर सर्वदा होता है तथा ज्वर के साथ ही अन्य उपरोक्त लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं।

शोफ की पक्वावस्था के लक्षण

पक्वे तु गतवेगत्वं प्रम्लानता त्वक्शिथिलता वलीप्रादुर्भावः पाण्डुता मध्योन्नतताऽङ्गुल्यवपीडितमुक्ते प्रत्युन्नमनं बस्ताविवोदकस्य पूयस्य सञ्चरणं कण्डूसंरम्भशूलाद्युपशमश्च ॥ ५ ॥

पक्वशोफ में गतवेगत्व (शोफ के वेग अर्थात् लक्षणों में कमी आ जाना), प्रम्लानता (शोफ का मलिन हो जाना), त्वक्शिथिलता (शोफ के ऊपर की त्वचा का ढीला पड़ जाना), वली प्रादुर्भाव (शोफ के ऊपर झुर्रियों का पड़ जाना), पाण्डुता (कुछ पीलापन), मध्योन्नतता (बीच में उठ जाना), अंगुली से दबाने पर दब जाना तथा छोड़ देने पर पुनः उठ जाना (Pitting Type Oedema), बस्ति (मशक) में भरे पानी के हिलने जैसा ही शोफ में पूय

आदि का हिलना आदि लक्षण होते हैं तथा कण्डू (खुजली), संरंभ एवं शूल आदि लक्षणों का उपशमन हो जाता है।

महर्षि सुश्रुत ने भी पक्वशोथ के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है—

'वेदनोपशान्तिः पाण्डुताऽल्पशोफता बलीप्रादुर्भावस्त्वक्परिस्फुटनं निम्नदर्शनमङ्गुल्याऽव-पीडिते प्रत्युन्नमनं, बस्ताविवोदकसञ्चरणं पूयस्य, प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते चाऽवपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः कण्डूरुन्नतता व्याधेरुपद्रवशान्तिर्भक्ताभिकाङ्क्षा च पक्वलिङ्गम्'। (सु० सू० १७।८)

अर्थात् वेदनाओं की शान्ति होना, त्वचा का रंग हलका पड़ना, शोफ का कम होना, त्वचा पर झुर्रियाँ पड़ना, त्वचा का फटना, अंगुली से दबाव डालने पर दब जाना एवं छोड़ने पर पुनः ऊपर उठ जाना, पूय को अँगुली से एक स्थान पर दबाने से अन्य स्थान पर पूय में दबाव या तरंग की प्रतीति (Fluctuation) होना, बार-बार तोद (वेदना) का अनुभव होना, खुजली होना, व्याधिजन्य उपद्रवों की शान्ति होना, भोजन के प्रति आकांक्षा एवं रुचि उत्पन्न होना शोथ की पक्वावस्था के लक्षण हैं।

वस्तुतः शोथ अभिघात आदि बाह्य कारणों से आक्रान्त देह की रक्षा के लिए, उस विशिष्ट स्थान में अवस्थित धातुओं की सुरक्षा हेतु देह की प्रतिरक्षा शक्ति (Body Immunity) के द्वारा किये हुए प्रयत्नादि का ही दृष्ट परिणाम है। शारीरिक प्रतिरोधक क्षमता (Body Immunity) के अभिन्न अंग रक्त के श्वेत-रुधिर कण ऊतकों में जीवाणु संक्रमण होने पर ऊतकों में उन जीवाणुओं को नष्ट करने हेतु युद्धस्थली का निर्माण करते हैं, यह शोथ की आमावस्था है। पुनः श्वेत-रुधिर कण, रुधिर-वाहनियों की भित्ति को पार कर जीवाणुओं तक पहुँचकर उन्हें नष्ट करने लगते हैं, उनका भक्षण (Phagocytosis) करने लगते हैं और एक रणस्थली का दृश्य उपस्थित करते हैं। यही अवस्था शोथ की पच्यमानावस्था है। अब यदि श्वेत-रुधिर कण जीवाणुओं से युद्ध में प्रबल होते हैं, तो सम्पूर्ण जीवाणुओं को विनष्ट कर देते हैं और शोथ कम होने लगता है। तद्विपरीत होने पर अर्थात् जीवाणुओं की प्रबलता होने पर शोथ क्रमशः आमावस्था एवं पच्यमानावस्था से होते हुए पक्वावस्था में परिवर्तित होने लगता है। मृत रुधिर कणिकाओं, मृत जीवाणुओं एवं क्षतिग्रस्त कोशिकाओं के परिणामस्वरूप पूय (Pus) का निर्माण हो जाता है। अतः शोथ की पक्वावस्था जीवाणुओं से श्वेत-रुधिर कणिकाओं के पराजय की अवस्था है।

शोथ के पक्व हो जाने पर अर्थात् पूय-निर्माण (Pus Formation) हो जाने पर भेदन (Incision) कर्म के द्वारा अर्थात् चीरा लगाकर पूय का निर्हरण कर देना चाहिए।

वात-पित्त-कफ तथा रक्त के मुख्य लक्षण

शूलं नर्तेऽनिलाद्दाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात्।
रागो रक्ताच्च पाकः स्यादतो दोषैः सशोणितैः॥ ६॥

वायु के अभाव में शूल नहीं हो सकता, पित्त के अभाव में दाह नहीं हो सकता, कफ के अभाव में शोफ नहीं हो सकता, रक्त के अभाव में लालिमा नहीं हो सकती। अतएव जब शोफ में पाक होता है, तो उसमें तीनों दोषों एवं रक्त का योगदान होता है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि पूयोत्पत्ति (Pus Formation) में कोई एक ही दोष न होकर तीनों दोष—वात-पित्त-कफ एवं रक्त पूयोत्पत्ति के कारण हैं। सुश्रुत के मत से भी यह उचित है। यद्यपि आचार्य सुश्रुत ने अन्य मतावलम्बियों का उल्लेख करते हुए भी कहा है अन्य लोग (कुछ लोग) मात्र पित्त को ही कारण मानते हैं, उनके अनुसार कालान्तर में बढ़ा

हुआ पित्त वायु तथा कफ को दबाकर तथा रक्त को पकाकर पूय में परिवर्तित कर देता है, पूय जो जीवाणुओं द्वारा रक्त का विकृत रूप है, का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इसमें मृत कोशिकाएं, मृत जीवाणु, मृत श्वेत-रुधिर कण तथा क्षतिग्रस्त कोशिकाएँ आदि होती हैं, जो पूय का ठोस या गाढ़ा भाग (दस प्रतिशत) बनाती है, शेष (नब्बे प्रतिशत) तरल पदार्थ होता है।

अतिपक्व शोथ के लक्षण

पाकेऽतिवृत्ते सुषिरस्तनु त्वग्दोषभक्षितः।
वलीभिराचितः श्यावः शीर्यमाणतनूरुहः ॥ ७ ॥

बहुत अधिक मात्रा में पक जाने पर शोफ में सुषिरता (खोखलापन) हो जाती है, त्वचा तनु (पतली) हो जाती है, शोफस्थान के मांसादि दोषों से नष्ट हो जाते हैं, झुर्रियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, शोफ का वर्ण श्याव हो जाता है तथा शोफस्थान के रोम गिरने लगते हैं।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जब शोथ पूर्णरूपेण पक जाय, पूयोत्पत्ति हो जाय, तो शस्त्रकर्म में प्रवृत्त होने में विलम्ब करना या शोथ की उपेक्षा करना उचित नहीं है। ऐसा करने पर अतिपाक जन्य उपद्रव या लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। पूय मांस, सिरा, स्नायु आदि का भक्षण करने लगता है, जैसा कि आचार्य सुश्रुत ने भी कहा है—

'कक्षं समासाद्य यथैव वह्निर्वाय्वीरितः सन्दहति प्रसह्य।
तथैव पूयोऽप्यविनिःसृतो हि मांसं सिराः स्नायु च खादतीह ॥ (सु० सू० १७।१६)

रक्तपाक

कफजेषु तु शोफेषु केषुचिद् गम्भीरत्वाद्रक्तमेव विपच्यते। ततश्चास्पष्टं पक्वलिङ्गं भवति। यत्र हि त्वक्सावर्ण्यं शीतशोफताऽल्परुजताऽश्मवच्च घनता। न तत्र मोहमुपेयात्। तं रक्तपाकमित्याचक्षते ॥ ८ ॥

कुल कफ-प्रधान शोफों में गम्भीरता (गूढ़ता) होने से शोफ का पाक न होकर रक्त का ही पाक हो जाता है, तब उस अवस्था में शोफ के पक्वावस्था के लक्षण स्पष्ट नहीं होते। जिस किसी भी शोफ में त्वक्-सावर्ण्य (शोफस्थान का वर्ण त्वचा के वर्ण के समान होना), शीतशोफता (शोफ का शीतल होना), अल्परुजता (पीड़ा में अल्पता) और अश्मवद् घनता (पत्थर के समान कठोरता) आदि लक्षण उत्पन्न हो जायें, तो निःसन्देह उसे रक्तपाक जानना चाहिए।

इस प्रकार के शोफ में अन्तःस्थित रक्त का पाक हो चुका होता है, परन्तु पक्वशोथ के बाह्य लक्षण प्रकट नहीं होते हैं, अतः यह गम्भीर शोथ भी कहलाता है। इस प्रकार के रक्तपाक शोफ में दारणादि लेप भी अप्रभावी ही रहते हैं, क्योंकि पक्व रक्त अन्दर गहराई में अवस्थित होता है और बाहर त्वचादि आमावस्था में ही होती है। अतः जब शोथ दारणादि लेपों का प्रयोग करने पर भी बाहर से अपक्व ही प्रतीत हो, तो चिरकाल तक प्रतीक्षारत रहकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, अपितु शस्त्रक्रिया द्वारा पाटन कर्म (चीरा लगाना) कर देना चाहिए, अन्यथा पूय निर्हरण का मार्ग न पाकर अन्दर ही अन्दर कोटर बनाकर नाड़ीव्रण (Sinus) उत्पन्न करता है एवं कष्ट-साध्य हो जाता है।

पक्वव्रण की चिकित्सा

अथैनं सम्यक्पक्वमवधार्य भीरुवृद्धबालदुर्बलक्लीबक्षीणगर्भिणीविषार्दितशस्त्रक्षामेषु पाकोद्धतदोषेषु च पिण्डितेषु सन्धिमर्माश्रितेष्वल्पेषु वा शोफेषु तीक्ष्णोष्णद्रव्यैर्दारणं कुर्वीत। इतरेषु पाटनम् ॥ ९ ॥

जब शोथ पक गया है, यह निश्चित रूप से जान लें तब भीरु (डरपोक), वृद्ध, बालक, दुर्बल, क्लीब (नपुंसक), क्षीण, गर्भिणी, विषपीड़ित एवं जो शस्त्र को सहन न कर सकें, ऐसे पुरुष में, पाकोद्धत-अतिपक्व शोथ में, सन्धि-मर्म में आश्रित शोफो में अथवा अल्पशोफ में तीक्ष्ण तथा उष्ण द्रव्यों के द्वारा शोफ का दारण करें (फोड़े)। अन्य रोगियों में शोफ का शस्त्र से पाटन क्रिया करें (चीरें)।

ऐसे शोथ एवं ऐसे व्यक्तियों में, जिनमें शस्त्रकर्म करना उचित न हो, दारण करना लाभ-प्रद होता है। सर्वप्रथम शोफ की पक्वावस्था का निश्चय करें, तत्पश्चात् यह भी निश्चित कर लें कि दोष कहीं पिण्डीभूत तो नहीं हो गये हैं। दारण कर्म से पूर्व पीडन (मर्दन) अथवा पीडन द्रव्यों यथा—पिच्छ (सिम्बल, वट आदि) की त्वचा, जौ, गेहूँ, उड़द (माष) का लेप करके सुखाकर अवपीडित कर दोषी का पाक निश्चितरूपेण कर लें। तत्पश्चात् दारण द्रव्यों यथा—चिरबिल्व, अग्निका (भल्लातक), हयमारक (कनेर), चित्रक, दन्ती, पलाश, पारिभद्र, कुटज, अश्वकर्ण, कबूतर, गीध आदि पक्षियों के मल को पीसकर उनका लेप करें अथवा प्रतिसारणीय क्षारादि यथा—यवक्षार द्रव्यों से दारण-कर्म करें।

अन्य पुरुषों में शस्त्रकर्म करना ही उचित है। यह शस्त्रकर्म महर्षि सुश्रुत ने आठ प्रकार के बतलाये हैं। यथा—

१. छेदन (Excision)—किसी शरीरावयव को काट कर अलग कर देना।

२. भेदन (Incision)—चीरा लगाना।

३. लेखन (Scraping)—खुरच-खुरच कर अलग करना।

४. वेधन (Puncturing)—छिद्र करना।

५. एषण (Probing)—शलाका को अन्तःप्रविष्ट कर आन्तरावलोकन।

६. आहरण (Extraction)—शरीर के किसी भाग से दुष्टि को बाहर खींचकर निकालना।

७. विस्रावण (Draining)—पूय (Pus) आदि का निर्हरण।

८. सीवन (Suturing)—टाँके लगाकर सिलना।

अपक्व व्रण में शस्त्रकर्म तथा पक्व व्रण की उपेक्षा का परिणाम

आमपाटने सिरास्नायुव्यापादनं शोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाभिवृद्धिरवदरणं क्षतविसर्पो वा स्यात् ॥ १० ॥

[1]तिष्ठन्नन्तः पुनः पूयः सिरास्नाय्वसृगामिषम्।
विवृद्धो दहति क्षिप्रं तृणोलपमिवानलः ॥ ११ ॥

आम (अपक्वं) शोफ की पाटन (चीरने) क्रिया करने से सिरा-स्नायुओं का व्यापद् (नाश), शोणितातिप्रवृत्ति (रक्त का अधिक स्राव), वेदना (पीड़ा) वृद्धि, अवदरण (शोफ का फट जाना), क्षत अथवा विसर्प उत्पन्न हो जाता है। पक्वशोथ में पाटनक्रिया न करने से संचित हुआ पूय वृद्धि को प्राप्त होकर सिरा, स्नायु, असृक् (रक्त) एवं मांस का उसी प्रकार दहन कर डालता है, जिस प्रकार अग्नि तृणों के समूह को जला डालती है।

शोथ की आमावस्था में शरीर रिपु जीवाणु एवं शरीर रक्षण रुधिराणु दोनों स्वतन्त्र रूप में विद्यमान रहते हैं। पूर्णरूपेण पूयोत्पत्ति नहीं हुई होती है, त्याज्य अंश एक जगह एकत्रित नहीं हुआ

---

१. 'तिष्ठन् पक्वे' इति पाठान्तरम्।

होता है, रक्ताधिक्य होता है, अतः इस अवस्था में पाटनकर्म (चीरा लगाना) करने से अधिक रक्तस्राव, धातुक्षय तथा वेदनोत्पत्ति आदि उपद्रव होते हैं।

पक्वशोथ की भी उपेक्षा करने से अर्थात् पाटनकर्म न करने से पूय गहराई में अन्दर ही अन्दर कोटर बना लेता है तथा सिरा, स्नायु एवं मांस का भक्षण करने लगता है तथा नाड़ीव्रण (नासूर) की उत्पत्ति करता है। अतः शोथ की आमावस्था एवं पक्वावस्था का विनिश्चय कर समय पर पाटन कर्म करना ही श्रेष्ठ है।

अज्ञानी वैद्य

यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते ।
श्वपचाविव विज्ञेयौ तावनिश्चितकारिणौ ॥ १२ ॥

जो (चिकित्सक) अज्ञानतावश अपक्व शोथ का छेदन कर डालता है तथा पक्वशोथ की उपेक्षा कर देता है, वह श्वपच (चाण्डाल) के समान होता है, क्योंकि ये दोनों (अज्ञानी वैद्य तथा चाण्डाल) अनिश्चितकारी होते हैं।

शस्त्रकर्म पूर्व भोजन तथा मद्यपान

प्राक् शस्त्राद्भोजयेदिष्टं मद्यं तीक्ष्णं च पाययेत् ।
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते ॥ १३ ॥
अन्यत्र मूढगर्भोदराश्मरीमुखरोगेभ्यः ॥ १४ ॥

मूढ़गर्भ, उदररोग, अश्मरी (पथरी) तथा मुखरोग से पीड़ित रोगियों को छोड़कर अन्य रोगों से पीड़ित रोगियों में शस्त्र प्रयोग करने से पूर्व रोगी को इष्ट (इच्छित) भोजन तथा तीक्ष्ण मद्य का पान कराना चाहिए, क्योंकि इष्ट अन्न खिलाने के बाद शस्त्रकर्म करने से अन्न के संयोग से रोगी को मूर्च्छा उत्पन्न नहीं होती तथा मद्यपान से उन्मत्त रोगी को शस्त्रकर्म से होने वाली पीड़ा का ज्ञान नहीं होता।

आचार्य सुश्रुत ने तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख किया है—'त्रिविधं कर्म—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्कर्मेति, तद् व्याधि प्रति प्रत्युपदेक्ष्यामः'। (सु० सू० ५)। सुश्रुतसंहिता के टीकाकार आचार्य डल्हण ने पूर्वकर्म के विषय में कहा है—'लंघनादि विरेकान्तं पूर्वकर्म व्रणस्य च'। अर्थात् लंघन से विरेचन तक व्रण के सभी कर्म पूर्वकर्म हैं। ये बारह हैं—

१. अपतर्पण (Fasting)	७. उपनाह (Poultice)
२. आलेप (Plastering)	८. पाचन (Inducing Suppuration)
३. परिषेक (Spraying)	९. विस्रावण (Draining)
४. अभ्यङ्ग (Massaging)	१०. स्नेह (Ingestion of Fats)
५. स्वेदन (Fomentation)	११. वमन (Emesis)
६. विम्लापन (Rubbing)	१२. विरेचन (Purgation)

उपर्युक्त कथन में उल्लिखित मद्यपान आधुनिक अनीस्थीसिया के समान ही है, जो प्रमाणित करता है कि प्राचीन काल में भारतीय चिकित्सक भी संज्ञाहर औषधियाँ प्रयुक्त करते थे।

शस्त्रकर्म की विधि

अथोपहृतयन्त्रशस्त्रक्षाराग्निजाम्बवौष्ठपिचुप्लोतपत्रसूत्रचर्मपट्टमधुस्नेहकषाया-लेपकल्कसेकोदकुम्भीशीतोष्णोदककटाहव्यजनादिव्रणोपयोगि सर्वोपकरणमास्तृतशयनीय-

१. 'कुम्भ' इति पाठान्तरम्। २. 'माश्रित' इति पाठान्तरम्।

मुपस्थितस्नेहबलवदवलम्बकपुरुषमिष्टेऽहनि मुहूर्ते च दध्यक्षतान्नपानरुक्मरत्नार्चितविप्रं प्रणतेष्टदेवतं कृतमङ्गलं भुक्तवन्तमातुरं प्राङ्मुखमुपवेश्य संवेश्य च यन्त्रयित्वा प्रत्यङ्मुखो वैद्यो मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन्ननुलोमं शस्त्रं निदध्यादापूयदर्शनात् सकृदेवाहरेच्छस्त्रमाशु च। महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यङ्गुलं शस्त्रपदमुक्तम्। द्व्यङ्गुलान्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं वाऽभिसमीक्ष्य विवृते प्रदेशे वामप्रदेशिन्यैषित्वा नातिविवृते गम्भीरे मांसले चैषण्या। विपरीते करीरादिनालेनात्तिसंवृते सूकरवालेन वा॥ १५॥

यतो गतां गतिं विद्यादुत्सङ्गौ यत्र यत्र च।
तत्र तत्र व्रणं कुर्यात्सुविभक्तं निराशयम्॥ १६॥
आयतं च विशालं च यथा दोषो न तिष्ठति॥ १७॥

अथ (मंगलाचरण करके) यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, जाम्बवौष्ठ, पिचु (रुई का फाहा), प्लोत (सूती वस्त्र की पट्टी), पत्र (आवश्यकतानुसार विभिन्न वृक्षों के पत्ते), सूत्र (डोरी), चर्मपट्ट (चमड़े का पट्टा), मधु, स्नेह, कषाय (स्वरस, कल्क आदि पंचकषाय अथवा कषाय रस वाले द्रव्य), आलेप, कल्क (यथावश्यक औषधियों का कल्क), सेक, उदकुम्भ (जल से भरा छोटा घड़ा), शीतल जल, गर्म जल, कटाह (कड़ाही) तथा व्यजन (पंख) आदि व्रणोपयोगी सभी द्रव्यों को एकत्रित करना चाहिए। समस्त उपयोगी वस्तुओं को एकत्रित करने के पश्चात् सुव्यवस्थित शय्या पर रोगी को लिटाना चाहिए। स्नेहन कराकर बलवान् पुरुषों के सहारे रोगी को स्थिर कर, इष्ट दिन एवं इष्ट मुहूर्त्त में दधि, अक्षत, अन्न, पान, रुक्म (स्वर्ण) एवं रत्नादि से ब्राह्मण की पूजा करके, इष्ट देवता को प्रणाम करके तथा मंगलवाचक कार्य करके, रोगी को भोजन कराके पूर्वाभिमुख शय्या पर बैठाकर या लिटाकर रोगी को बाँध देना चाहिए। तत्पश्चात् वैद्य, रोगी ने जिधर मुख किया है, उसके विपरीत दिशा (पश्चिम) की ओर मुख करके मर्म, सिरा, स्नायु, संधि, अस्थि, धमनी आदि को बचाते हुए शस्त्र द्वारा अनुलोम रूप से पूय दिखलाई पड़ने तक, एक ही बार में शीघ्रता से चीरा लगायें। बड़े शोथपाक में भी दो अंगुल ही शस्त्रपद (चीरा) लगायें। तत्पश्चात् दो अंगुल अथवा तीन अंगुल के अंतर पर यदि आवश्यक हो, तो विचार करके एक और व्रण कर दें। शस्त्रपद करने से विवृत (खुले) हुए इस स्थान में बाईं प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुली से पूयव्रण की परीक्षा करें। यदि शस्त्रपद करने के बाद व्रण का मुख नातिविवृत (अधिक चौड़ा न) हो तथा व्रणस्थान गंभीर तथा मांसल हो, तो एषणी से तथा विपरीत प्रकार के (जो गंभीर तथा मांसल न हों) व्रणों में करीर-कमल आदि की नाल से तथा अति संवृत (सूक्ष्म) मुख वाले व्रणों में सुअर के बाल से पूयव्रण की परीक्षा करनी चाहिए।

जहाँ-जहाँ पर पूय की गति (नाड़ीव्रण) को देखें और जहाँ-जहाँ उत्सङ्ग (उभार-उत्सेध) देखें, वहाँ-वहाँ पर शस्त्र द्वारा व्रण बनाये। यह ध्यान रखें कि यह व्रण सुविभक्त (एक दूसरे से पृथक्) तथा निराशय (पूय आदि के आशय से रहित) हों। शस्त्र द्वारा किया व्रण आयताकार, दीर्घ और विशाल (विस्तृत) तथा ऐसा होना चाहिए, जिससे पूय आदि विविध प्रकार के दोष इसमें ठहर न सकें।

आचार्य डल्हण ने कहा है कि पाटन, रोपण आदि शस्त्रकर्म (व्रणकर्म) के प्रधान कर्म हैं, यथा—'पाटनं रोपणं यच्च प्रधानं कर्म तत्स्मृतम्'। शल्यकर्म के अन्तर्गत महर्षि सुश्रुत ने आठ प्रकार के; महर्षि चरक ने छः प्रकार के एवं अष्टाङ्गहृदयकार आचार्य वाग्भट ने तेरह प्रकार के प्रधान कर्मों का निरूपण किया है—'तत्र शस्त्रकर्म अष्टविधम्' (सुश्रुत)। 'पाटनं व्यधनञ्चैव छेदनं लेखनं

तथा। प्रोच्छनं सीवनञ्चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत्' ॥ (चरक)। 'उत्पाटच पाटच सीव्यैष्य लेख्य-प्रच्छनकुट्टनम्। छेद्यं भेद्यं व्यधो मन्थो ग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः' ॥ (अ० हृ० सू० २९)

शल्य-चिकित्सक के गुण

शौर्यमाशुक्रिया तीक्ष्णं शस्त्रमस्वेदवेपथू।
असम्मोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ॥ १८ ॥

वैद्य (शल्य-चिकित्सक) को शौर्यशाली (शस्त्रकर्म में निपुण), आशु क्रियावान् (अपने हस्तकौशल से शीघ्र शस्त्रकर्म करने वाला), तीक्ष्ण धार वाले शस्त्रों को रखने वाला, अस्वेदवेपथु (शल्यकर्म करते समय जिसे पसीना तथा कँपकँपी न हो) तथा असंमोहवान् (कार्य करते समय जिसके मस्तिष्क में अनिश्चितता न हो) होना चाहिए। ये शल्य-चिकित्सक के प्रशस्त गुण हैं।

स्थानानुरूप तिर्यक् छेदन एवं उससे होने वाले उपद्रव

तत्र भ्रूगण्डललाटाक्षिकूटौष्ठदन्तवेष्टमन्याकण्ठजत्रुकक्ष्याकुक्षिवङ्क्षणेषु तिर्यक्छेद इष्टः। अन्यत्र तु सिरास्नायूपघातोऽतिवेदना चिराद् व्रणसंरोहो मांसकन्दी च तिर्यक्छेदाद् भवन्ति ॥ १९ ॥

भ्रू (भौंह), गण्डस्थल (कपोल एवं कनपटी), ललाट, अक्षिकूट, ओष्ठ, दन्तवेष्ट, मन्या, कण्ठ, जत्रु, कक्षा, कुक्षि तथा वंक्षण—इन स्थानों में तिर्यक् (तिरछा) छेदन करना चाहिए। उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं छेदन करना हो, तो तिर्यक् (तिरछा) छेदन नहीं करना चाहिए, अन्यथा इन स्थानों पर तिर्यक् छेदन करने से सिरा तथा स्नायु का उपघात (नाश), अतीव वेदना, चिरात् व्रण संरोह (देर से घाव का भरना) तथा मांसकन्दी (मांस पर ग्रन्थि) बन जाना आदि उपद्रव होते हैं।

शस्त्रावचारण में पश्चात् कर्म

ततः शस्त्रमवचार्य शीताभिरद्भिरातुरमाश्वास्य समन्तात् प्रतिपीड्याङ्गुल्या व्रण-मपि प्रक्षाल्य कषायेण व्रणात्प्लोतेनाम्भोऽपनीय वेदनारक्षोघ्नैर्गुग्गुल्वगुरुसर्जरसवचागौर-सर्षपहिङ्गुलवणनिम्बपत्रैः सघृतैर्व्रणं धूपयित्वा यथास्वमौषधेन मधुघृततिलकल्कैश्च दिग्धां वर्तिं प्रणिधाय कल्केन पूरयित्वा नातिभृष्टयवसक्तुभिर्घृताक्तैर्भाजनान्तेऽम्भसा दक्षिणा-ङ्गुलीभिः सुमृदितैरवच्छाद्य घनां कवलिकां दत्वा सव्यदक्षिणान्यतरपार्श्वे मृदुमनाविद्धम-सङ्कुचितमृजुपट्टं निवेश्य बध्नीयात् ॥ २० ॥

वातश्लेष्मोद्भवाँस्तत्र द्विस्त्रिर्वा वेष्टयेद् व्रणान्।
सकृदेव परिक्षिप्य पित्तरक्ताभिघातजान् ॥ २१ ॥

शस्त्रक्षतरुजायां तु प्रतितायां यष्टीमधुकसर्पिषोष्णेन व्रणं सिञ्चेत्। उदकुम्भाच्चापो गृहीत्वा प्रोक्षन् परितो विकीर्य याचकार्यपर्णशबर्यादिभिरस्य रक्षां कुर्याद्रक्षोऽभिभवनिषे-धार्थम्। तेभ्यश्च बलिमुपहरेत्। धारयेच्च शिरसा ॥ २२ ॥

लक्ष्मीं गुहामतिगुहां जटिलां ब्रह्मचारिणीम्।
वचां छत्रामतिच्छत्रां दूर्वां सिद्धार्थकानपि ॥ २३ ॥

गुग्गुल्वादिभिरेवं शयनासनादि द्विरह्नो धूपयेत्। तथा स्नेहोक्तं दिनचर्योक्त-माचारमनुवर्तेत ॥ २४ ॥

शस्त्रकर्म के पश्चात् रोगी को शीतल जल से आश्वासित (परिषेक) करके, व्रणस्थान का चारों ओर से अंगुलियों द्वारा पीडन करके (दबा करके), प्लोत (वस्त्र) से व्रण पर लगे जल को पोछ कर वेदनाशामक एवं रक्षोघ्न गण की औषधियों—गुग्गुल (*Commiphora mukul*), अगुरु (*Aquilaria agallocha*), सर्जरस (*Vateria indica*), वचा (*Acorus calamus*), श्वेतसर्षप (*Brassica copestris*), हिङ्गु (*Ferula foetida*), सैंधवलवण, निम्बपत्र (*Azadirachta indica* A. Juss) को घी के साथ मिलाकर इनसे व्रण का धूपन करें। तत्पश्चात् दोषानुसार वातज विकारों में तिलकल्क (*Sisamum indicum* Linn.) से, पित्तज विकारों में घृत से तथा कफज विकारों में मधु से युक्त वर्ति को व्रण में रखकर औषधियों के कल्क से भर दें। तत्पश्चात् अधिक न भूने गये यव (*Hardeum vulgare* Linn.) के सत्तू में घृत मिलाकर फिर एक पत्र में रखकर दाहिनी अंगुली द्वारा उसमें पानी मिलाकर, उसे व्रण के ऊपर रखकर, एक मोटी कवलिका (Pad) रखकर वस्त्र से पट्टी बाँध दें। पट्टी को बायें या दायें किसी एक पार्श्व में घुमाते हुए बाँध दें। पट्टी मृदु (कोमल), न चुभने वाली, सलवटों से रहित एवं ऋजु होनी चाहिए तथा इसकी गाँठ बायें या दाहिने पार्श्व पर बाँध देनी चाहिए।

वात-कफ प्रधान व्रणों में दो-तीन बार, पित्त-रक्त प्रधान व्रणों में तथा अभिघातजन्य (चोट से उत्पन्न) व्रणों में एक बार पट्टी को लपेटना चाहिए। शस्त्रक्षत से उत्पन्न ऐसी पीड़ा जो लगातार हो रही हो, उसमें मुलहठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.) तथा घृत को गरम करके व्रण का सेंक करें। जल वाले पात्र से जल निकालकर प्रोक्षण करना चाहिए। याचक, आर्य, पर्णशबरी आदि से रोगी की रक्षा करनी चाहिए। एतदर्थ गुग्गुल (*Commiphora mukul* Engl.) आदि से धूपन करना चाहिए। इनकी बलि भी दें। लक्ष्मी (शमी *Prosopis spicigra* Linn.), गुहा (पृश्निपर्णी *Uraria picta* Desv), अतिगुहा (शालिपर्णी *Desmodium gangeticum*), जटिला (जटामांसी *Nardo stachys Jatamansi*), ब्रह्मचारणी (ब्राह्मी *Centella asiatica* Linn.), वचा (*Acorus calamus*), छत्रा (सौंफ *Foeniculum vulgare* Mill.), अतिछत्रा (विषाणिका *Heracleum wallichii* DC.), दूर्वा (दूब *Cynodon dactylon* Linn.) एवं सिद्धार्थक (सरसों *Brassica compestris*) को शिर पर धारण करना चाहिए। गुग्गुल (*Commiphora mukul* Engl.) आदि द्रव्यों की धूप से दिन में दो बार धूपन करना चाहिए तथा स्नेहविधि अध्याय में कही गयी दिनचर्या एवं आचार-विधियों का पालन करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन महर्षि सुश्रुत द्वारा वर्णित पश्चात् कर्म से यत्किञ्चित परिवर्तन के साथ उद्धृत है (सु० सू० ५)। इसके पश्चात् सुश्रुतसंहिता में मन्त्रों का उल्लेख है। उन मन्त्रों में पथिव्यां (पृथ्वी पर), अन्तरिक्ष (आकाश) में, दिक्षु (दिशाओं) में, वास्तुनिवासा (गृह में निवास करने वाली) अदृश्य दुष्टिकारक शक्तियों से रक्षा हेतु भी आह्वान किया है—'पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये चरन्ति निशाचराः। दिक्षु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वां ते नमस्कृताः' ॥ (सु० सू० ५।२२) महर्षि सुश्रुत द्वारा वर्णित व्रण के साठ उपक्रमों में से अन्तिम चालीस उपक्रमों को भी शल्यकर्म के पश्चात्कर्म के अन्तर्गत गृहीत किया जाता है (सु० चि० १)।

आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी पूर्वकर्म (Pre-operative Management) एवं पश्चात्कर्मों (Post-operative care) का महत्त्व है। पूर्वकर्मों के अन्तर्गत विभिन्न विकृत परीक्षणों (Different Pathological Test), रोगी का सम्पूर्ण इतिवृत्त एवं सार्वदैहिक परीक्षा, किसी भी शारीरिक विकृति के होने पर तज्ज्ञों से परामर्श, अनेस्थेटिस्ट से परामर्श एवं अनेस्थेसिया का उचित मात्रा में विनिश्चिय, शल्यकर्म में होने वाले उपद्रवों (Complications) की सम्भावनाओं पर विचार तथा उनके नियन्त्रण हेतु यथासम्भव व्यवस्था कर लेना आवश्यक है। इसी प्रकार

पश्चात्कर्म (Post-operative Care) के अन्तर्गत रक्तदाब, नाड़ागति, श्वासगति को थोड़े-थोड़े समयान्तर से ज्ञात करना एवं सामान्य दर से विचलन होने पर यथासम्भव प्रयत्न करना, रोगी के आहार-विहार, शय्या पर बैठने या लेटने की स्थिति का विनिश्चय, निद्राकर औषधियों की आवश्यकता अथवा अनावश्यकता का विचार करना, व्रण रोहण का विचार, रोगी में एलर्जी जन्य औषधियों का ज्ञान एवं उनसे विरत रहना आदि कर्म महत्त्वपूर्ण हैं।

आयुर्वेद वाङ्मय में पूर्वकर्म एवं पश्चात्कर्म का विशद उल्लेख मिलता है, परन्तु आत्ययिक स्थिति (Emergeney) में इन कर्मों का विधिवत् परिपालन आवश्यक न होकर इनका शीघ्र प्रतीकार करना चाहिए। जैसे कि जलते हुए घर की रक्षा हेतु विधि-विधानों पर विचार न करके मात्र अग्निशमन पर ही केन्द्रित होकर कार्य किया जाता है। यथा—

'अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमं भिषक्।
प्रदीप्तागारवत् शीघ्रं तत्र कुर्यात् प्रतिक्रियाम्'॥ (सु० सू० ५।४०)

शस्त्रकर्म में अपथ्य

विशेषतश्च दिवास्वप्नाद् व्रणे शोफकण्डूरागरुक्पूयवृद्धिः॥ २५॥
स्त्रीणां तु स्मृतिसंस्पर्शदर्शनैश्चलिते स्रुते।
शुक्रे व्यवायजान् दोषानसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात्॥ २६॥

विशेषतः दिवास्वप्न करने से व्रण में शोफ, कण्डू (खुजली), राग (लालिमा), रुक् (पीड़ा), पूयवृद्धि आदि उत्पन्न हो जाते हैं। संसर्ग के बिना भी स्त्रियों का स्मरण, स्पर्श, दर्शन आदि करने से शुक्र के स्खलित हो जाने के फलस्वरूप व्यवायजन्य (मैथुनजन्य) दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव स्त्री का स्पर्श या स्मरण आदि निषिद्ध है।

महर्षि सुश्रुत ने आयास (श्रम) से व्रण में श्वयथु (शोथ) की उत्पत्ति, रात्रि-जागरण से शोथ एवं राग का प्रादुर्भाव, दिवास्वप्न से शोथ, राग एवं वेदना की उत्पत्ति एवं मैथुन करने से शोथ, राग, वेदना के साथ-साथ मृत्यु की भी संभावना का उल्लेख किया है—

'व्रणे श्वयथुः आयासात् स च रागश्च जागरात्।
तौ च रुक् च दिवास्वापात् ताश्च मृत्युश्च मैथुनात्'॥ (सु० सू० १९।३६)

इसीलिए व्रण के रोपणकाल में तथा जब तक पूरी तरह दृढ़ता न प्राप्त हो जाय, उस काल तक अजीर्ण, व्यायाम, व्यवाय (मैथुन कर्म) एवं हर्ष, क्रोध, भय को भी त्याज्य माना गया है। यथा—

'तस्मादन्तर्बहिश्चैव सुशुद्धं रोपयेद् व्रणम्।
रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्॥
हर्षं क्रोधं भयं चापि यावत् स्थैर्योपसम्भवात्'। (सु० सू० ५।३८)

शस्त्रकर्म में पथ्याहार

भोजयेच्चैनं यथासात्म्यं समातीतशालिषष्टिकयवगोधूमान्यतमं मुद्गमसूराढकी-सतीनयूषजाङ्गलरसोपेतं जीवन्तीसुनिषण्णकतन्दुलीयकवास्तुकवार्ताकपटोलकारवेल्लक-बालमूलकशाकयुक्तं दाडिमामलकसैन्धवसहितं सर्पिःस्निग्धं लघ्वल्पमुष्णोदकोत्तरं च। एवमस्य सम्यगशितं जरामुपैति॥ २७॥

रोगी को जो सात्म्य (अनुकूल) भोजन हो, वह कराये। समातीत (एक वर्ष पुराना) शालि, षष्ठी धान्य (साठी *Oryza sativa* var ?), यव (*Hordeum vulgare*), गोधूम

(*Triticum vulgare*) में से कोई भी एक एवं मूँग (*Phaseolus mungo*), मसूर (*Lens culinaris*), आढकी (अरहर *Cajanus cajan* Linn.), सतीन (मटर *Pisum sativum*) इनमें से किसी एक के यूष अथवा जांगल मांसरस के साथ भोजन दें। जीवंती (*Leptadenia reticulata*), सुनिष्णक (*Marsilea minuta* Linn.), तन्दुलीयक (चौलाई *Amaranthus spinosus*), वास्तूक (बथुआ *Chenopodium album* Linn.), वार्ताक (बैंगन *Solanum melongena*), पटोल (परवल *Trichosanthes cucumernia*), कारवेल्लक (करेला *Momordica cochinchinensis*), बालमूली (कच्ची मूली *Raphanus sativus*) के शाक को दाडिम (अनार *Punica granatum*), आमलक (*Emblica officinalis* Garetn.), सैन्धव-लवण से युक्त करके, घी से स्निग्ध करके लघु एवं अल्प परिमाण में खाना चाहिए। तत्पश्चात् उष्णोदक (गर्म पानी) पीना चाहिए। रोगी द्वारा इस प्रकार से सम्यग् रूप में खाया हुआ भोजन शीघ्र पच जाता है।

अजीर्ण से उत्पन्न दोष

अजीर्णादनिलादीनां विभ्रमो बलवान्भवेत्।
ततः शोफरुजापाकदाहानाहानवाप्नुयात् ॥ २८ ॥

अजीर्ण होने के कारण वातादि दोषों का बलवान् विभ्रम (क्षोभ) होता है, जिससे शोफ, पीड़ा, पाक, दाह एवं आनाह आदि उत्पन्न होते हैं।

अपथ्य आहार

नवधान्यमाषकलायकुलत्थनिष्पावशिम्बीशीताम्बुमद्येक्षुक्षीरपिष्टतिलविकृतिशुष्कशाकपिशितहरितशाकाम्ललवणकटुकक्षारानूपामिषाणि वर्जयेत् ॥ २९ ॥

वर्गोऽयं नवधान्यादिर्व्रणिनः सर्वदोषकृत्।
मद्यं तीक्ष्णोष्णरूक्षाम्लमाशु व्यापदयेद् व्रणम् ॥ ३० ॥

नया अन्न, माष (उड़द *Phaseolus radiatus*), कलाय (मटर *Pisum sativum*), कुलत्थ (*Dolichos biflorus* Linn.), निष्पाव (सेम *Dolichos lablab*), शिम्बीधान्य, शीतल जल, मद्य, इक्षु (*Saccharum officinarum*), क्षीर (दुग्ध) के विकार (खोये) आदि की वस्तुएँ, तिल (*Sesamum indicum* Linn.) की विकृति (तिल के बने पदार्थ), सूखा शाक, शुष्क मांस, हरित शाक, अम्ल, लवण, कटु, क्षार पदार्थ एवं आनूप मांस नहीं खाना चाहिए। उपर्युक्त वर्जित आहार-विहार के सेवन करने से सर्वदोष प्रकुपित हो जाते हैं। तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल, रूक्ष गुणों से युक्त मद्य व्रण को शीघ्र ही उपद्रवयुक्त बना देता है।

अन्यान्य निर्देश

वालोशीरैश्च वीज्येत न चैनं परिघट्टयेत्।
न तुदेन्न च कण्डूयेच्चेष्टमानश्च पालयेत् ॥ ३१ ॥
स्निग्धवृद्धद्विजातीनां कथाः शृण्वन्मनःप्रियाः।
आशावान्व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं व्रणमपोहति ॥ ३२ ॥

बाल वाले पंखों (चँवर आदि) अथवा उशीर (खस *Veteriveria zizanioides*) के पंखों से व्रण में व्यंजन (पंखा) करना चाहिए और इसका परिघट्टन (घर्षण) नहीं करना चाहिए। व्रण को न कष्ट पहुँचायें और न खुजलायें। चेष्टामान (हिलते-डुलते समय) व्रण का

पालन (रक्षा) करना चाहिए। स्नेही पुरुष, वृद्ध पुरुष एवं द्विजातीयों (ब्राह्मणों) द्वारा मनोनुकूल कथाओं का श्रवण करने से रोग से छुटकारा अवश्य मिल जायेगा, ऐसा मन में विश्वास रखने से व्रण का शीघ्र ही रोहण (रोपण Healing) होता है।

पुनः प्रक्षालन

पुनश्च तृतीयेऽहनि प्रक्षालनादि पूर्ववद्व्रणकर्म कुर्यात्। द्वितीयदिवसे मोक्षणादादौ विग्रथितो व्रणश्चिरादुपरोहत्युग्ररुजश्च भवति ॥ ३३ ॥

पुनः तीसरे दिन प्रक्षालन आदि पूर्वोक्त कर्म पूर्व की भाँति बतलायी गई विधि से करना चाहिए। यदि दूसरे दिन ही पट्टी खोल दी जाय, तो व्रण छोटी-छोटी ग्रन्थियों से युक्त चिरकाल में भरने वाला तथा तीव्र पीड़ायुक्त हो जाता है।

विकेशिका

न च विकेशिकामौषधं वाऽतिस्निग्धरूक्षमतिश्लथगाढमश्लक्ष्णं दुर्न्यस्तं च दद्यात्। अतिस्नेहात्क्लेदः। अतिरौक्ष्याच्छेदो वेदना च। अतिश्लथत्वादपरिशुद्धिः। गाढतया संरम्भः। अश्लक्ष्णत्वाद्दुर्न्यासाच्च व्रणवर्त्मोपघर्षणम् ॥ ३४ ॥

व्रण में दी जाने वाली विकेशिका (अन्तर्वर्ति–सूत्रवर्ति) या औषधि अतिस्निग्न, अतिरूक्ष, अतिश्लथ (अधिक ढीली), अतिगाढ़ (मोटी), अश्लक्ष्ण (खुरदरी) तथा दुर्न्यस्त (विषम) नहीं रखी जानी चाहिए। अतिस्निग्ध होने से व्रण में क्लेद्र उत्पन्न हो जाता है तथा वेदना भी होती है। अति ढीली होने से व्रण अशुद्ध हो जाता है, विकेशिका को व्रण में गाढ (दबाकर) भरने से संरम्भ हो जाता है। विकेशिका अश्लक्ष्ण (स्नेहरहित) होने से व्रण के किनारों का घर्षण होता है।

विकेशिका वर्ति शब्द का ही बोधक है। यह गहराई में स्थित व्रण के शोधन हेतु महत्त्वपूर्ण होता है। औषध शब्द से विविध प्रकार के लेप आदि का बोध होता है, जो व्रणों में सदैव प्रयुक्त होते रहते हैं।

विकेशिका के गुण

अवश्यं साशये व्रणे विकेशिका दद्यात्। सपूतिमांसं सोत्सङ्गं सगर्ति पूयगर्भिणम्[1]। व्रणं शोधयते शीघ्रं स्थिता ह्यन्तर्विकेशिका ॥ ३५ ॥

साशय (अन्तर्विस्तीर्ण) व्रण में विकेशिका अवश्य देना चाहिए। जिसका मांस सड़कर दुर्गन्धित हो गया हो, जो ऊँचा उभरा हो, जो संगति (पूयादि भक्षित माँस प्रदेश) हो, जिसमें पूय भरा हो, ऐसे व्रण में प्रयुक्त विकेशिका शीघ्र ही व्रण का शोधन कर देती है।

व्रण में विकेशिका (वर्ति) का प्रयोग सदैव होता रहा है। आचार्य सुश्रुत ने वर्ति-प्रयोग को भी व्रण के साठ उपक्रमों के मध्य एक उपक्रम के रूप में मान्यता प्रदान की है। गहराई में अवस्थित व्रण अथवा अतिदुष्ट व्रण में शोधन हेतु अजगंधा, अजशृंगी आदि शोधक द्रव्यों से युक्त विकेशिका (वर्ति) का प्रयोग करते हैं। व्रण में पहले पतली वर्ति का फिर क्रमशः मोटी वर्तियों का प्रयोग होता है।

अपक्व व्रण में पाटन

व्यम्लं तु पाटितं शोफं पाचनैः समुपाचरेत्।
भोजनैरुपनाहैश्च नातिव्रणविरोधिभिः ॥ ३६ ॥

---

१. 'अवश्यं···गर्भिणम्' पर्यन्त पाठ श्रीअत्रिदेवगुप्त कृत टीका-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

व्यम्ल (अर्धपक्व) व्रण के पाटिल (फटना) हो जाने पर शोफ की पाचन औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए तथा व्रण के लिए अविरोधी (हितकारी) अन्नपान तथा उपनाह का प्रयोग करना चाहिए।

उपर्युक्त प्रकार का व्रण पूर्णरूपेण पक्व हुआ नहीं रहता है, अतः पाचन एवं उपनाह का विधान है, जिससे व्रण का अपक्व अंश भी पक्वावस्था को प्राप्त हो जाय और विकृतियाँ पूय के रूप में निर्हरित हो जायें। इस समय कफ विरोधी हिताहार भी लाभप्रद होता है।

सीवन कर्म

यत्र सीव्यो व्रणस्तत्र चलास्थिशल्यपांशुतृणरोमशुष्करक्तादीन्यपोह्य विच्छिन्नं प्रविलम्बि मांसं सन्ध्यस्थीनि च यथास्थाने सम्यक्स्थापयित्वा स्थिते रक्ते यथार्हं सूच्योपहितेन स्नायुसूत्रवालान्यतमेन सीव्येत्। शणाश्मन्तकमूर्वातसीनां वा वल्कैः ॥ ३७ ॥

जहाँ सीव्य (सीने योग्य) व्रण हों एवं उनमें चल (अस्थिर) अस्थि, शल्य, पांशु (धूल), तृण (तिनके), रोम, शुष्करक्त आदि वर्तमान हों, तो उन्हें दूर करके तथा यदि उसमें विछिन्न (कटा हुआ) एवं लटकता हुआ मांस हो, तो उसे संधियों एवं अस्थियों को यथास्थान सम्यक् रूप से रखकर, रक्त बन्द हो जाने पर, व्रण स्थान एवं व्रण के अनुकूल जैसी आवश्यकता हो, वैसा ही सूची में स्नायु, सूत्र या बाल कोई एक पिरोकर इससे सीवनकर्म करना चाहिए। शण (सन *Crotalaria juncea* Linn.), अश्मन्तक (*Ficus rumphii* Blum.), मूर्वा (*Marsdenia roylei*) अथवा अतसी (अलसी *Linum usitatissimum*) की छाल भी सीवन के लिए प्रयोग की जा सकती है।

सीवन-कर्म (Suturing) भी अष्ट शल्यकर्मों में किया जाने वाला एक कर्म है। सीवन कर्म हेतु सीधी, तिर्यक्, अर्धगोलाकार सुइयों की आवश्यकता होती है। सामान्यतः जहाँ पर छेदन या भेदन किया जाता है, वहाँ पर सीवन कर्म भी आवश्यक हो जाता है। भेदन के पश्चात् एषण कर्म से पूय का निर्हरण और पुनः सीवन भी होता है। कहीं-कहीं पर भेदन, एषण, लेखन और सीवन क्रमशः चारों कर्मों की एक साथ भी आवश्यकता होती है। शास्त्रों में सीवन द्रव्यों में स्नायु, तन्तु, वल्कल आदि का उल्लेख मिलता है। आधुनिक काल में शल्यकर्म में सीवन (Suturing) हेतु स्नायु (Tendons), सिल्कवर्म गट (Silk Worm Gut), कैटगट (Catgut), रेशम तथा घोड़े के बाल आदि का प्रयोग होता है।

सीवन की विधियाँ

सीवनविकल्पास्तु समासेन चत्वारः। तद्यथा—गोष्फणिका [1]तुन्नसेवन्या वेल्लितकं ग्रन्थिबन्धनमिति। तेषां नामभिरेवाकृतिविभागः प्रहारवशाच्चोपयोगः ॥ ३८ ॥

संक्षेप में सीवन की चार विधियाँ होती हैं—१. गोष्फणिका, २. तुन्न सेवनी, ३. वेल्लितक एवं ४. ग्रन्थि-बन्धन।

इनकी आकृतियाँ इनके नाम के अनुसार ही होती हैं। शरीर में लगी चोट के स्थान एवं लक्षणों के अनुसार ही सीवन-कर्म की विधियों का अलग-अलग सम्यक् प्रयोग होता है।

महर्षि सुश्रुत ने भी सीवन की इन्हीं चार विधियों का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने ग्रन्थि-बन्धन सीवन को ऋजुग्रन्थि सीवन नाम दिया है। यथा—

---

१. 'तुन्नसीवनवेल्लितकरज्जुग्रन्थिबन्धनम्' इति पाठान्तरम्।

—सीव्येद् वोल्लितकं शनैः ॥
सीव्येद् गोफणिकां वाऽपि सीव्येद्वा तुन्नसेवनीम् ।
ऋजुग्रन्थिमथो वाऽपि यथायोगमथापि वा' ॥ (सु० सू० २५।२१-२२)

(१) **गोष्फणिका सीवन**—गुलेल का ही पर्याय गोष्फणक है, जो जालीदार उपकरण है। यह सीवन भी जालीदार होता है। इस प्रकार के सीवन से सर्वप्रथम व्रण के ओठों को पकड़ कर सुई को अपनी ओर से डालकर दूसरी ओर निकालकर प्रथम टाँका लगाया जाता है, तत्पश्चात् सुई को सूत या डोरे के साथ अपनी ओर लाकर पुनः पहले के समान अपनी तरफ से दूसरी तरफ को ले जाते हैं। परन्तु इस बार सुई को सहायक के द्वारा पकड़े हुए एक सूत के ऊपर से निकाला जाता है, जिससे एक फन्दा निर्मित हो जाता है। इसी प्रकार के फन्दों को बार-बार बनाते हुए सम्पूर्ण व्रण को सिल दिया जाता है। इस सीवन-विधि को डा० घाणेकर ने ब्लैंकेट स्यूचर (Blanket Suture) कहा है। यह सीवन विधि बहुत फैले हुए व्रणों को सिलने हेतु प्रयुक्त करते हैं।

(२) **तुन्न सेवनी सीवन**—इस प्रकार के सीवन में टाँके उसी प्रकार लगाते हैं, जिस प्रकार सिलाई मशीन के टाँके होते हैं अथवा जिस प्रकार फटे कपड़े रफू किये जाते हैं। इसमें अलग-अलग स्थान पर अलग-अलग टाँके लगते हैं। डा० घाणेकर ने इस सीवन विधि को हाल्स-टैड्स सबक्यूटीकुलर स्टिच (Halstead's Subcuticular Stitch) बताया है। ऊरु, जंघा आदि के गम्भीर व्रणों में इसे अपनाते हैं।

(३) **वेल्लितक सीवन**—इसमें एक ओर से दूसरी ओर लगातार टाँकों को लगाते हैं। यह सीवन वृक्ष पर चढ़ी लता की आकृति के समान दिखलायी पड़ती है। ताजे (Fresh) एवं निर्दोष (Aseptic) व्रणों को सिलने हेतु इस विधि को अपनाते हैं। डा० घाणेकर ने इसे काण्टी-नुअस सूचर (Continuous Suture) कहा है।

(४) **ऋजुग्रंथि सीवन या ग्रन्थि बन्धन**—इस प्रकार के सीवन में अलग-अलग गाँठे बाँधते हुए टाँके लगाते जाते हैं। इस विधि में व्रण के ओष्ठों को पकड़ कर दोनों किनारों में सुई के साथ-साथ सूत डाल दिया जाता है, फिर सुई से सूत्र निकाल कर गाँठ लगा दी जाती है और फिर सूत काट दिया जाता है। इस प्रकार थोड़ी-थोड़ी दूर पर टाँके लगाकर गाँठे बाँधते हुए पूरे व्रण सिलते हैं। इस सीवन-विधि का प्रयोग बाह्य त्वचा सिलने में करते हैं। डा० घाणेकर ने इसे इण्टरप्टेड सूचर (Interrupted Suture) कहा है।

सीवन के अन्य निर्देश

[1]न च वाऽतिसन्निकृष्टां विप्रकृष्टामत्यल्पबहुग्राहिणीं वा सूचीं पातयेत्। एवं सम्यक्स्यूतमवेक्ष्य मधुघृतयुक्तैरञ्जनमधुकनिम्बरोध्रप्रियङ्गुसल्लकीफलक्षौममषीचूर्णै-रवकीर्य पूर्ववद्बन्धादीन्प्रयोजयेत् ॥ ३९ ॥

सूची से सीवन करते समय यह ध्यान रखे, कि सुई न तो बहुत निकट से पकड़े, न बहुत दूरी से पकड़े, न थोड़ा ही और न बहुत अधिक ही पकड़े। इस प्रकार सीवन कर्म सम्यक् प्रकार से हो गया, यह जान लेने के पश्चात् मधु-घृत युक्त अंजन, मधुक (मुलेठी *Glycyrrhiza glabra*), निम्ब (*Azadirachta indica*), रोध्र (*Symphlocos rucemosa*), प्रियंगु (*Callicarpa macrophylla*), सल्लकीफल (*Boswellia serrata* Roxb), क्षौम (रेशमी वस्त्र अथवा अलसी) की राख एवं इनके चूर्ण का व्रण पर अवकीर्णन (छींट) करके पूर्वोक्त विधि से पूर्व की ही भाँति बन्धन (पट्टी) आदि बाँध दें।

---

१. 'न चाति' इति पाठान्तरम्। २. 'योजयेत्' इति पाठान्तरम्।

आचार्य सुश्रुत ने भिन्न-भिन्न स्थान के व्रणों में भिन्न-भिन्न आकार एवं परिमाण (लम्बाई) की सूचियों का उल्लेख करने के पश्चात् कहा है कि सूचीकर्म (सिलना) न तो अधिक दूर-दूर और न ही अति निकट करना चाहिए। दूर-दूर टाँका लगाने से व्रणोष्ठों में रुजा (वेदना) की उत्पत्ति एवं अधिक निकट टाँके लगाने से व्रणोष्ठों का अवलुञ्चन (टूट जाना या कट जाना या फट जाना) हो सकता है। यथा—

'नाऽतिदूरे निकृष्टे वा सूची कर्मणि पातयेत्।
दूराद्रुजो व्रणौष्ठस्य सन्निकृष्टेऽवलुञ्चनम्' ॥ (सु० सू० २५।२६)

सीवन कर्म करते समय यह तथ्य भी विचारणीय है कि टाँका समुचित गहराई तक अवश्य लगाया जाय, अन्यथा कम गहरा टाँका लगाने से व्रण का आंशिक सीवन ही हो पाता है एवं सीवन करने के पश्चात् भी व्रण का गहराई में स्थित अंश बिना सिला गुहा के रूप में ही रह जाता है।

असीव्य व्रण

असीव्या वङ्क्षणवक्षःकक्षादिषु प्रचलेष्वल्पमांसेषु च [1]वायुनिर्वाहिणोऽन्तर्लोहित-शल्या विषाग्निक्षारकृताश्च व्रणाः ॥ ४० ॥

वङ्क्षण (Inguinal Region), वक्ष, कक्षा (Axilla) आदि में स्थित व्रणों को और प्रचल (गतिशील) अंगों में, अल्प मांस वाले अंगों में स्थित व्रणों को एवं जिन व्रणों से वायु निष्क्रामित होती है, जिन व्रणों में रक्त या शल्य वर्तमान हैं और विष, अग्नि, क्षार से उत्पन्न व्रणों को असीव्य (सीने के अयोग्य) कहा गया है।

मारुतवाही (वायु का निष्क्रमण करने वाले) व्रण सम्भवतः वे व्रण हैं, जिनमें वायुजनक जीवाणुओं (Anaerobic Bacteria) के प्रवेश के फलस्वरूप वायु का उत्पादन होता रहता है। गतिशील अंगों में सीवन-कर्म करने से टाँके टूटने की संभावना रहती है, रक्त या शल्ययुक्त अथवा विष, अग्नि एवं क्षार से उत्पन्न व्रणों में सीवन-कर्म से पहले उनके शोधन की आवश्यकता होती है। अतः इन्हें असीव्य व्रण की संज्ञा दी गयी है।

सीव्यव्रण

सीव्यास्तु मेदःसंमुत्था[2] भिन्नलिखिताः कफग्रन्थिरल्पपालीक[3]ः कर्णः सद्योव्रणाश्च। शिरोललाटाक्षिकूटकर्णनासागण्डौष्ठकृकाटिकाबाहूदरस्फिक्पायुप्रजननमुष्कादिष्वचलेषु मांसवत्सु च प्रदेशेषु ॥ ४१ ॥

मेदोग्रन्थियों आदि का भेदन एवं लेखन करने से उत्पन्न कफ-ग्रन्थि, छोटी कर्णपाली, सद्यो-व्रण (तुरन्त उत्पन्न व्रण) आदि का सीवनकर्म करना चाहिए। शिर, ललाट, अक्षिकूट, कर्ण, नासा, गण्डस्थल, ओष्ठ, कृकाटिका (कंठ के सामने वाला भाग), बाहु, उदर, स्फिक् (नितम्ब), पायु (गुद), जननाङ्ग, मुष्क (अण्डकोष) आदि चल (गतिवाले) स्थानों तथा मांसल स्थानों में हुए व्रणों में सीवनकर्म करना चाहिए।

भगवान् धन्वन्तरि ने भी समुचित रूप से भेदन एवं लेखन किये हुए मेदोभव रोगों को, सद्यः व्रणों को एवं चल सन्धियों के ऊपर आश्रित व्रणों को सेव्य रोगों या व्रणों में अन्तर्निहित किया है। यथा—

---

१. 'वायुनिर्वामिणो' इति पाठान्तरम्। २. 'समुत्थिता' इति पाठान्तरम्।
३. 'पालिकः' इति पाठान्तरम्।

'सीव्या मेदसमुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिता गदाः।
सद्यो व्रणाश्च ये चैव चलसन्धिव्यपाश्रिताः॥' (सु० सू० २५।१६)

बन्धन

कोशदामोत्सङ्गस्वस्तिकानुवेल्लितमुत्तोलीमण्डलस्थगिकायमकखट्वाचीनविबन्ध-वितानगोष्फणाः पञ्चाङ्गी चेति पञ्चदश बन्धविशेषाः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः। तत्र कोशमङ्गुलीपर्वसु विदध्यात्। दाम सम्बाधेऽङ्गे। उत्सङ्गं विलम्बिनि। स्वस्तिकं सन्धिकूर्चभ्रूस्तनान्तरकक्षाक्षिकपोलकर्णेषु। अनुवेल्लितं शाखासु। मुत्तोलीं ग्रीवामेढ्रयोः। मण्डलं वृत्तेऽङ्गे। स्थगिकामङ्गुष्ठाङ्गुलिमेढ्राग्रमूत्रवृद्धिषु। यमकं यमलव्रणयोः। खट्वां हनुशङ्खगण्डेषु। चीनमपाङ्गयोः। विबन्धमुदरोरुपृष्ठे। वितानं मूर्धादौ पृथुलेऽङ्गे। गोष्फणं नासौष्ठचिबुकसन्धिषु। पञ्चाङ्गीं जत्रूर्ध्वमिति। यो वा यस्मिन्प्रदेशे सुनिविष्टो भवति तं तस्मिन्कुर्वीत न तु व्रणस्योपरि ग्रन्थिर्बाधकरो यथा स्यात्॥ ४२॥

व्रणों पर बाँधने हेतु पन्द्रह प्रकार के बन्धनों (पट्टियों) का उल्लेख किया गया है—१. कोश, २. दाम, ३. उत्संग, ४. स्वस्तिक, ५. अनुवेल्लित, ६. उत्तोली, ७. मण्डल, ८. स्थगिका, ९. यमक, १०. खट्वा, ११. चीन, १२. विबन्ध, १३. वितान, १४. गोफण एवं १५. पचांगी। इन बँधनों (पट्टियों) के नामों से ही इनकी आकृति भी बतला दी गयी है। इन बन्धनों में कोश-बन्ध का प्रयोग अंगुली के पर्वों पर करना चाहिए। द्वामबन्ध का प्रयोग सम्बाध (संधि, वंक्षण आदि) अंगों पर करना चाहिए। लटकने वाले अंगों (बाहु आदि) में उत्सङ्गबन्ध का प्रयोग करना चाहिए। ग्रीवा (गरदन) एवं मेढ्र (शिश्न) में उत्तोली बन्ध बाँधना चाहिए। वृत (गोल) अंगों में मंडलबंध का प्रयोग करना चाहिए। अगुष्ठ, अंगुली, मेढ्र (शिश्न) के अग्रभाग एवं मूत्रवृद्धि में स्थगिका बंध बाँधना चाहिए।

यमक व्रण (जहाँ दो व्रण एक साथ मिले हों) में यमक बन्ध बाँधना चाहिए। हनु, शंख-प्रदेश एवं गण्डस्थल में खट्वा बंध बाँधना चाहिए। अपांग में चीनबन्ध बाँधना चाहिए। उदर एवं पीठ के व्रणों में विबन्ध बन्ध बाँधना चाहिए। मूर्द्धा (शिर) आदि पृथुल (मोटे) अंगों में वितान बंध बाँधना चाहिए। नासा, ओठ, चिबुक (ठुड्डी) आदि अंगों में गोफणबंध बाँधना चाहिए। गले से ऊपर के व्रणों में पंचांगी बंध बाँधना चाहिए अथवा जिस प्रदेश (अंग) में जो बंध सुविधाजनक लगे, उस प्रदेश में वह बंध (पट्टी) बाँधना चाहिए तथा व्रण के ऊपर गाँठ नहीं बाँधनी चाहिए।

शल्यचिकित्सा में बन्धन-क्रिया (पट्टी बाँधना Bandaging) अति महत्त्वपूर्ण कार्य है। बंधनों की आकृति के आधार पर महर्षि सुश्रुत ने चौदह भेद (उपर्युक्त बन्धों में उत्संगबन्ध छोड़कर अन्य चौदह) एवं अष्टांगहृदयकार वाग्भट ने बन्धनों के उपर्युक्त पन्द्रह भेद बतलाये हैं। ये भेद निम्नवत हैं—

(१) **कोश बन्ध**—यह बन्ध कोश के आकार का होता है। यह बन्ध अंगुली एवं अंगूठे के पर्वों (Middle Part of the Finguers & Thumb) आदि पर किया जाता है। आचार्य

---

१. 'स्थविका' इति पाठान्तरम्। २. 'कुक्ष्यक्षि' इति पाठान्तरम्।
३. 'सन्धिषु' इति पाठान्तरम्। ४. 'व्रणस्योपरि न चाबाधकरो' इति पाठान्तरम्।

डल्हण ने कोशबंध के सम्बन्ध में कहा है—'पूरयित्वा औषधैः क्रियते कोशकाऽऽकृतिः । कोशकाख्यः स विज्ञेयो' ॥

इसे चिकित्सा विज्ञान में शीथ बैन्डेज (Sheath Bandage) कहते हैं ।

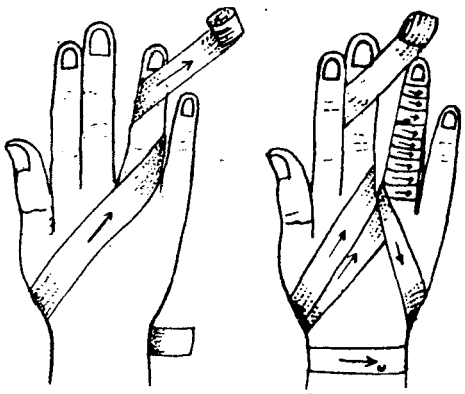

कोशबन्ध

(२) **दाम बन्ध**—यह बन्ध दाम अर्थात् कमरपेटी की आकृति का होता है एवं चतुष्पाद युक्त होता है, जैसा कि आचार्य डल्हण ने कहा है—'दामाकृति चतुष्पादां दामाख्यः·····' । यह बन्ध तंग, ऐंठनयुक्त स्थान एवं सन्धियों आदि पर किया जाता है । यह बन्ध आधुनिक चिकित्सा के फोर टेल्ड बैण्डेज (Four Tailed Bandage) के तुल्य ही माना जा सकता है ।

(३) **उत्सङ्ग बन्ध**—यह बन्ध झोली के आकार का होता है । आचार्य सुश्रुत ने इसे गोष्फण बन्ध में ही अन्तर्निहित कर लिया है, परन्तु आचार्य वाग्भट का यह गोष्फण के अतिरिक्त अन्य स्वतन्त्र बन्ध है । इसमें मध्य भाग गोष्फण बन्ध की अपेक्षा कम चौड़ा होता है । यह बन्ध बाहु को लटकाने हेतु प्रयुक्त होता है । जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है । इसे आर्म स्लिंग बैण्डेज (Arm Sling Bandage) नाम दिया जा सकता है ।

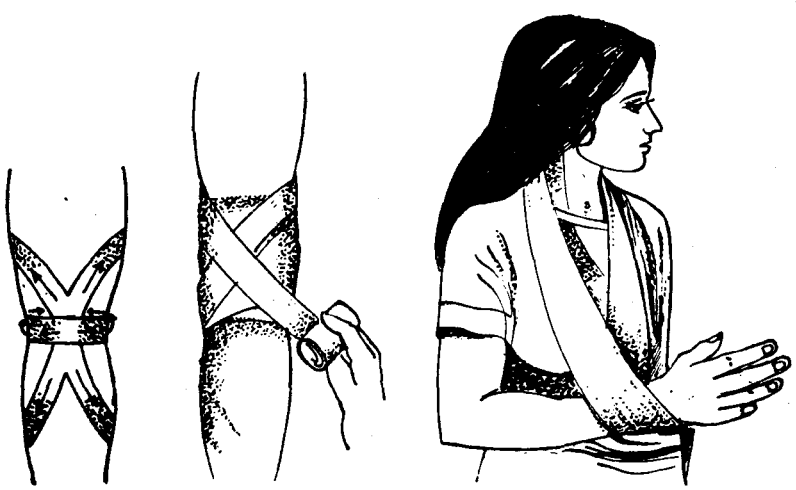

दाम बन्ध स्वस्तिक बन्ध उत्सङ्ग बन्ध

(४) **स्वस्तिक बन्ध**—यह बन्ध स्वस्तिक के आकार का होता है। जैसा कि आचार्य डल्हण ने कहा है—'स्वस्तिकं पुनः। स्वस्तिकाकृति आसीब्य···'॥ इन्दु ने भी इस बन्धन के विषय में कहा है—'स्वस्तिकाकृति स्वस्तिकं यदूर्ध्वं दक्षिणादेत्याधो वामं याति पुनः परिवृत्ताधो दक्षिणादूर्ध्वं वामम्'। यह ऊपर के दक्षिण भाग से निकलकर फिर चार अंक के समान घूमकर नीचे वाम भाग से ऊपर दक्षिणभाग की ओर चला जाता है। यह बन्ध सन्धि, कूर्च, भ्रू, स्तनान्तर, कक्षा, कपाल, कर्ण आदि पर बाँधा जाता है। इसे फीगर ऑफ एट स्पाइरल बैण्डेज (Figure of Eight Spiral Bandage) कह सकते हैं।

(५) **अनुवेल्लित बन्ध**—यह बन्ध बेल अथवा लता के आकार का होता है। यह बन्ध चक्राकार कुण्डलों के रूप में होता है। यह बन्ध शाखाओं (हाथ एवं पैर) पर बाँधा जाता है। ('अनुवेल्लितं तु शाखासु' सुश्रुत)। इसमें लपेट नीचे की ओर से (अंग के पतले सिरे से) चक्राकार रूप में लपेटना शुरु करते हैं। परन्तु नीचे से ऊपर की ओर बढ़ने पर क्रमशः अंग की मोटाई बढ़ती है। अतः लपेट को ठीक से बैठाने के लिए लपेटों में अंग को बाहर की से ओर मोड़ना शुरू करते हैं, जिससे पट्टी के खुलने या ढीली होने की सम्भावना नहीं रहती है। इसे आधुनिक चिकित्सा के स्पाइरल बैण्डेज (Spiral Bandage) के तुल्य मान सकते हैं।

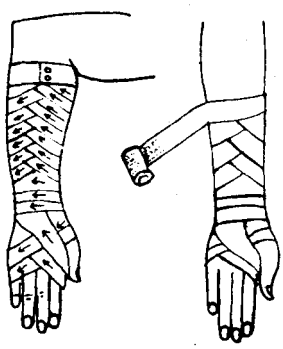

अनुवेल्लित बन्ध

(६) **मुत्तोली बन्ध**—मुत्तोली बन्ध मुष्टिकाकार एवं जालवत् होता है, जैसा कि आचार्य डल्हण ने कहा है—'बहु अन्ध्रिः मुष्टिकाकारो जालवद् बहुरन्ध्रकः। मुत्तोली बन्ध एषः स्यात् संज्ञान्तरं अतः शृणु'। इसका पर्याय तोली या प्रतोली भी है। मुत्तोली बन्ध का शिश्न एवं ग्रीवा आदि पर बन्धन करते हैं। इसे रिकरेण्ट बैण्डेज (Recurrent Bandage) कह सकते हैं।

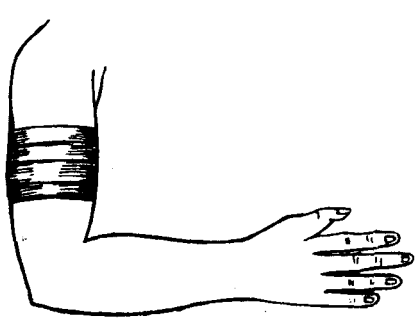

मण्डल बन्ध

मुत्तोली बन्ध

(७) **मण्डल बन्ध**—मण्डल बन्ध मण्डल की आकृति का अर्थात् गोलाकार होता है—'यथा मण्डलं वेष्टनाकारं विदध्यात् मण्डलाख्यके' (डल्हण) । यह बन्धन गोल अंगों यथा—बाहु, ऊरु, उदर आदि पर करते हैं । आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इसे सरकुलर बैण्डेज (Circular Bandage) कहते हैं ।

(८) **स्थगिका बन्ध**—यह बन्ध पान आदि की डिब्बी की तरह होता है । यह बन्ध अंगूठा, अंगुलियों एवं शिश्न के अग्र सिरे पर बाँधा जाता है । आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के स्टम्प बैण्डेज (Stump Bandage) के तुल्य इसे मान सकते हैं ।

(९) **यमक बन्ध**—इस प्रकार के बन्ध में एक ही पट्टी से आस-पास के दो व्रणों में बन्धन करते हैं ।

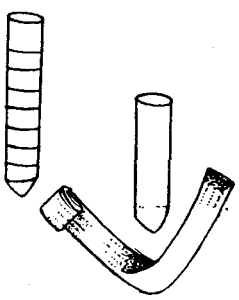

स्थगिका बन्ध

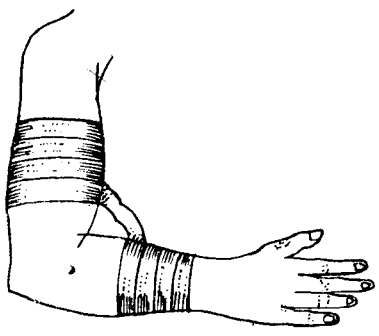

यमक बन्ध

(१०) **खट्वा बन्ध**—खट्वा बन्ध के सम्बन्ध में कहा है—'खट्वा तु बहुपादा स्यात्···' । यह बन्ध हनु, शंख एवं गण्ड पर करने का निर्देश है । इसे मेनी टेल्ड बैण्डेज (Many Tailed Bandage) कहते हैं ।

(११) **चीन बन्ध**—यह बन्ध विजानीत कपड़े (चीन देश से आयातित) से किया जाता था । यथा—'चीनबन्धः विजानीत चीराभिः बहुभिः वृत्त'—डल्हण । यह बँधन नेत्र तथा अपांग प्रदेश पर बाँधा जाता है । अतः यह एक प्रकार का आई बैण्डेज (Eye Bandage) है ।

खट्वा बन्ध

चीन बन्ध

(१२) **विबन्ध बन्ध**—यह बन्ध उदर, वक्ष एवं पीठ के व्रणों में बाँधने हेतु प्रयुक्त होता है । इस बन्ध हेतु लगभग डेढ़ या दो इंच चौड़ी कई पट्टियाँ काट कर प्रयुक्त की जाती हैं, जो बीच के भाग में एक साथ सिल दी जाती हैं । विबन्ध बन्ध के बारे में डल्हणाचार्य ने कहा है—

'विबन्धो विविधो बन्धः स च षड्ग्रन्थिका युतः'। इसे मेनी टेल्ड बैण्डेज या स्पाइका (Many Tailed Bandage or Spica) कह सकते हैं।

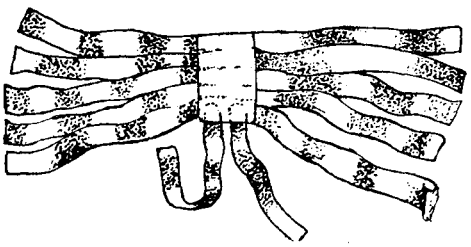

विबन्ध बन्ध

(१३) **वितान बन्ध**—यह बन्ध वितान (चन्दवा) की आकृति का होता है। यथा—'ज्ञेयो वितानसंज्ञः तु वितानाऽऽकारसंयुतः'—डल्हण। यह बन्ध पृथुल (चौड़े) अंगों यथा सिर आदि में बाँधना चाहिए। इसे सिफैलिन बैण्डेज (Cephaline Bandage) कहते हैं।

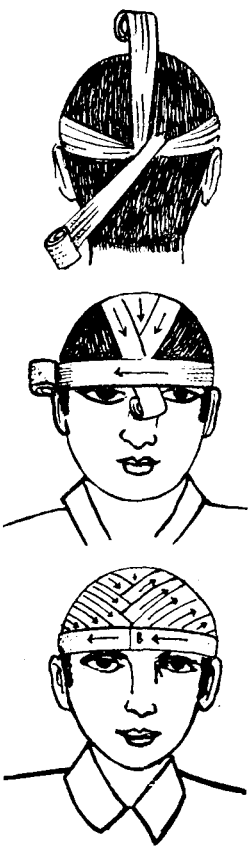

वितान बन्ध

गोल्फण बन्ध

पञ्चाङ्गी बन्ध

(१४) **गोफण बन्ध**—यह गोफणा अर्थात् गुलेल (पक्षियों को मारने के लिए छोटे-छोटे पत्थरों को फेंकने हेतु रस्सी आदि से निर्मित) के आकार का होता है। यथा—'पाषाणगुटिकोत्पेक्ष कारिणीं गोफणां विदुः। तदाकृतिं भिषक्कुर्यात् गोफणां पञ्चकम्बिभिः'—डल्हण। यह नासा, ओष्ठ, चिबुक, सक्थि आदि पर बाँधा जाता है। यह एक प्रकार का स्लिंग बैण्डेज (Sling Bandage) होता है।

(१५) **पञ्चाङ्गी बन्ध**—यह बन्ध ऊर्ध्वजत्रु प्रदेश में बाँधा जाता है। यह अनेक प्रकार से बाँधा जा सकता है। यह आधुनिक मैस्टॉयड बैण्डेज (Mastoid Bandage) के तुल्य होता है।

बन्धन के अन्य भेद

बन्धस्त्विष्टोऽनिले दुष्टे दष्टे भग्ने व्रणेषु च।
तत्रान्त्ययोर्द्विधा बन्धः सव्यदक्षिणभेदतः।
त्रिविधस्त्वेव सर्वत्र गाढश्लथसमत्वतः॥ ४३॥

वात से दूषित व्रणो में तथा भग्न व्रणों में बंध बाँधना इष्ट (हितकारी) होता है। यह बन्ध दो प्रकार से बाँधा जाता है—(१) बायीं ओर से लपटते हुए तथा (२) दाहिनी ओर से लपटते हुए।

विभिन्न बन्धन एवं बन्धन स्थान

क्रम	बन्ध का नाम	आधुनिक नाम	बंध बाँधने का स्थान (Site of Bandaging)
१.	कोश बन्ध	Sheath Bandage	अंगूठे एवं अंगुली का मध्यभाग (Middle of Thumb & Fingures)।
२.	दाम बन्ध	Four Tailed Bandage	सन्धि, तंग एवं ऐंठनयुक्त स्थान (Joints, Narrow Strained Places)।
३.	उत्सङ्ग बन्ध (वाग्भटानुसार)	Arm Sling Bandage	बाहु (Arm)।
४.	स्वस्तिक बन्ध	Figure of Eight Spiral Bandage	सन्धि, भ्रू, स्तनान्तर, कक्षा एवं कर्ण (Joints, Eyebrow, Intermammary Space, Axilla, Ear)।
५.	अनुवेल्लित बन्ध	Spiral Bandage	शाखा (हस्त एवं पाद Upper & Lower Limbs)।
६.	मुत्तोली बन्ध	Recurrent Bandage	शिश्न एवं ग्रीवा (Penis & Neck)।
७.	मण्डल बन्ध	Circular Bandage	उदर, ऊरु एवं बाहु (Abdomen, Thigh & Arm)।
८.	स्थगिका बन्ध	Stump Bandage	अंगुलियों एवं शिश्न के अग्र सिरे पर (Tip of Fingures & Penis)।

९.	यमक बन्ध	Figure of Eight	दो निकटवर्ती व्रण (Two lying nearer to each other) ।
१०.	खट्वा बन्ध	Many Tailad Bandage	हनु, शंख और गण्ड ।
११.	चीन बन्ध	Eye Bandage	चक्षु (Eye) ।
१२.	विबन्ध बन्ध	Many Tailed Bandage or Spica	उदर, वक्ष और पीठ (Abdomen, Thorax & Back) ।
१३.	वितान बन्ध	Cephaline Bandage	शिर (Head) ।
१४.	गोष्फण बन्ध	Sling Bandage	नासा, ओष्ठ, चिबुक एवं सक्थि ।
१५.	पञ्चाङ्गी बन्ध	Mastoid Bandage	उर्ध्वजत्रु प्रदेश (ENT) ।

समस्त स्थानों पर यही दो प्रकार का बन्ध पुनः—१. गाढ (कसा), २. श्लथ (ढीला) तथा ३. समान (न ढीला तथा न कसा) भेद से तीन प्रकार का होता है ।

दोषानुसार बन्धन

कफवाते घनो गाढः पित्तरक्ते तनुश्लथः ।
वातपित्ते समो बन्धः कफपित्तव्रणेषु च ॥ ४४ ॥

कफ एवं वात की अधिकता वाले व्रणों में घना एवं कड़ा बन्ध, पित्त एवं रक्त की अधिकता वाले व्रणों तथा कफ एवं पित्त की अधिकता वाले वाले व्रणों में समान (न ढीला न कसा) बन्ध बाँधना चाहिए ।

कफ एवं वात की अधिकता वाले व्रण शीतल, पित्त एवं रक्त की अधिकता वाले व्रण उष्ण तथा कफ एवं पित्त की अधिकता वाले व्रण सम-शीतोष्ण होने से ही उपर्युक्त प्रकार के व्रण-बन्धनों का विधान बतलाया गया है ।

विभिन्न अंग एवं ऋतु के अनुसार बन्धन

तथास्फिक्कक्षावङ्क्षणोरुशिरःसु गाढं बध्नीयात् । शाखावदनकर्णकण्ठमेढ्रमुष्क-पृष्ठपार्श्वोदरोरःसुसमम् । अक्ष्णोः सन्धिषु च शिथिलम् । वातश्लेष्मजे तु शिथिलस्थाने समं समस्थाने गाढं गाढस्थाने गाढतरम् । तथा शीतवसन्तयोस्त्र्यहात् । पित्तरक्तजे तु गाढस्थाने समं समस्थाने शिथिलं तत्स्थाने नैव । तथा शरद्ग्रीष्मयोः सायं प्रातः स्यात् । अवध्यमानः पुनर्दंशमशकतृणकाष्ठपांशुशीतवातातपादिसम्पर्काद्विविधोपद्रवोपद्रुतो दुष्टता-मुपैति । स्नेहश्चात्र न चिरं तिष्ठति भेषजमचिराच्छुष्यति कृच्छ्रेण रोहति रूढे च वैवर्ण्यं भवति ॥ ४५ ॥

स्फिक् (नितम्ब), कक्षा, वंक्षण, ऊरु एवं शिर में गाढ़ (कसा) बंधन बाँध देना चाहिए । शाखा (बाहु एवं पैर), वदन (मुख), कर्ण, कण्ठ, मेढ्र (शिश्न), मुष्क (अण्डकोष), पृष्ठ, पार्श्व, उदर एवं उरस् (वक्ष) में समान (न ढीला, न कसा) बंध बाँधना चाहिए ।

अक्षि (नेत्रों) एवं संधियों में शिथिल (ढीला) बंधन बाँधना चाहिए । वात एवं कफ प्रधान व्रणों में एवं शिथिल अंगों में समान बंध, समतल (सीधे) अंगों में गाढ़ (कसा) बन्ध तथा गाढ़ (कसे) स्थानों में गाढ़तर (और कसा) बन्ध बाँधना चाहिए । शीतऋतु एवं वसंत ऋतु में तीन दिनों के अन्तर से बन्धन को खोलकर बदलना चाहिए। यदि व्रण पित्त एवं रक्त प्रधान हो तो गाढ (कसे) स्थान पर सम बन्ध तथा सम स्थान पर शिथिल बन्ध बाँधना चाहिए

तथा शिथिल स्थान पर कोई भी बंध नहीं बाँधना चाहिए। शरद् एवं ग्रीष्म ऋतु में दिन में दो बार प्रातः एवं सायं बन्धन बदलना चाहिए। अवध्यमान (जिसमें बन्धन नहीं बाँधा गया है, ऐसे) व्रण दंश, मशक (मच्छर), तृण, काष्ठ पांशु (धूल), शीतवात (ठण्डी वायु), धूप आदि के सम्पर्क से विविध प्रकार के उपद्रवों से युक्त होकर दूषित हो जाता है। ऐसे दूषित व्रण में स्नेह लगाने से स्नेह देर तक नहीं ठहरता, उस व्रण में प्रयुक्त औषधि शीघ्र शुष्क हो जाती है। वह व्रण अत्यन्त कठिनाई से रोपित (Healup) होता है तथा विवर्ण (विकृत वर्ण) वाला होता है।

शरद् एवं ग्रीष्म ये दोनों उष्ण ऋतुएँ हैं, अतः इन ऋतुओं में व्रण के पककर सड़ने की सम्भावना होती है, इसलिए दिन में दो बार बन्धन बदलने का निर्देश है। शीत एवं वसन्त ऋतुओं शीत गुण के कारण व्रण के सड़ने की सम्भावना अति क्षीण हो जाती है। अतः इन ऋतुओं में तीन दिनों का अन्तर देकर बन्धन बदलने को कहा गया है।

बन्धन से लाभ

अपि च—

चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमथ पाटितम्।
अस्थिस्नायुसिराछिन्नमस्थिबन्धेन रोहति ॥ ४६ ॥
उत्थानशयनाद्यासु सर्वेहासु न पीड्यते।
उद्वृत्तौष्ठः समुत्सन्नो विषमः कठिनोऽतिरुक् ॥ ४७ ॥
समो मृदुररुक् शीघ्रं व्रणः शुध्यति रोहति।

और भी—ऐसे व्रणों में जिनमें अस्थि यदि चूर्णित (चूर्ण–चकनाचूर), मथित (मथी गयी–कुचली गयी), भग्न (टूटी हुई), विश्लिष्ट (स्थानाच्युत) और पाटित (विदारित) हो गई हो तथा अस्थि, स्नायु, सिरा आदि छिन्न हो गये हों, तो बन्धन (पट्टी) बाँधने से वह भी रोपित (Healup) हो जाता है। उत्तान (उठने), शयन (सोने) आदि सभी क्रियाओं में उचित रूप से बन्धन बाँधने पर पीड़ा नहीं होती। जिस व्रण के किनारे उद्धृत (ऊपर उभरे) हों, जो व्रण समुत्पन्न (मांस भर जाने से उठा हुआ) हो, जो विषम (कुछ ऊँचा-नीचा), कठिन (कड़ा) तथा अतिवेदना वाला हो तो बन्धन बाँध देने पर सम, मृदु एवं दर्द से रहित हो जाता है तथा शीघ्र ही शुद्ध तथा रोपित हो जाता है।

बन्धन बाँधने से जीवाणु, धूल, मक्खी, मच्छर तथा अन्य बाह्य आघातों से व्रण का बचाव होता है एवं दूषित नहीं होता है। बन्धन से व्रण मृदु तथा अविकृत भी बना रहता है। आचार्य सुश्रुत ने भी बन्धन से निम्न लाभ बतालया है—

'सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति।
सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः' ॥ (सु० सू० १८।३१)

अर्थात् बन्धन (Bandaging) से व्रणी पुरुष सुखपूर्वक शयन करता है, सुखपूर्वक गमन करता है, सुखपूर्व खड़ा रह सकता है, सुखपूर्व बैठता है, सुखपूर्वक शय्यासन पर बैठ सकता है एवं उसका व्रण भी शीघ्र ही रोपित (Healup) हो जाता है।

वृक्ष के पत्तों से बन्धन

स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादानवरोहताम् ॥ ४८ ॥
प्रच्छाद्यमौषधं पत्रैर्यथादोषं यथर्तु च।

अजीर्णतरुणाच्छिद्रैः समन्तात्सुनिवेशितैः ॥ ४९ ॥
धौतैरकर्कशैः क्षीरिभूर्जार्जुनकदम्बजैः ।

स्थिर, अल्पमांसल स्थानों में स्थित और ऐसे व्रणों को जो रूक्षता के कारण भर (Healup) नहीं पा रहे हों, उन व्रणों के ऊपर औषध लगाकर, दोषों एवं ऋतु के अनुसार यथोचित औषधियों के पत्तों से ढँककर बन्धन (पट्टी) बाँध देना चाहिए। ये पत्र पुराने न होकर नवीन हों तथा छिद्र-रहित जल से धौत (धोये हुए) हों, खुरदुरे न हों। व्रणों के ऊपर रखकर लपेटे जाने वाले ये पत्र क्षीरिवृक्ष (वट-पीपल आदि), भूर्ज (भोजपत्र *Betula utilis* D. Don.), अर्जुन (*Terminalia arjuna*) या कदम्ब (*Anthocephalus indicus*) के होने चाहिए।

व्रण का वृक्ष के पत्तों से बन्धन करने पर व्रण पर प्रयुक्त किये गये लेप अथवा औषधि बन्धन-वस्त्र में लगकर व्यर्थ नहीं होने पाती, साथ ही साथ पत्तों के विशिष्ट गुणों (यथारुक् नाशक एवं शोफनाशक आदि गुणों) का लाभ भी व्रण को प्राप्त होता है। व्रणों के साथ उपक्रमों में इसे पत्रदान (Application of Green Leaves) नाम से सम्बोधित करके पश्चात्कर्म के अन्तर्गत गृहीत किया गया है।

बन्धन (पट्टी) का निषेध

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिटिकामधुमेहिनाम् ॥ ५० ॥
कर्णिकाश्चोन्दुरुविषैः क्षारदग्धा विषान्विता ।
मांसपाके न बन्धव्या गुदपाके च दारुणे ॥ ५१ ॥
शीर्यमाणाः सरुग्दाहाः शोफावस्थाविसर्पिणः ।

कुष्ठ रोगियों, अग्नि से दग्ध पुरुषों, मधुमेह रोगियों में पीटिका आदि से उत्पन्न व्रण, मूषक विष जनित पद्मकर्णिका की आकृति के समान मांसवृद्धि, क्षारदग्ध एवं विषजनित व्रण, मांसपाक जनित व्रण, शीर्यमाण (नष्ट होते हुए–गलते हुए) व्रण, पीडायुक्त व्रण, दाहयुक्त व्रण, शोफावस्था का व्रण तथा विसर्प व्रण में बन्धन (पट्टी) नहीं बाँधना चाहिए।

उपर्युक्त व्रणों में बन्धन-कर्म का यद्यपि निषेध है, परन्तु आचार्य सुश्रुत के अनुसार इन व्रणों को भी मक्षिका आदि से बचाव के लिए किसी सूक्ष्म वस्त्र से ढँककर रखने का निर्देश है।

व्रणकृमि

अरक्षया व्रणे यस्मिन् मक्षिका निक्षिपेत् कृमीन् ॥ ५२ ॥
ते भक्षयन्तः कुर्वन्ति रुजाशोफास्रसंस्रवान् ।
सुरसादि प्रयुञ्जीत तत्र धावनपूरणे ॥ ५३ ॥
सप्तपर्णकरञ्जार्कनिम्बराजादनत्वचः ।
गोमूत्रकल्कितो लेपः सेकः क्षाराम्बुना हितः ।
प्रच्छाद्य मांसपेश्या वा व्रणं तानाशु निर्हरेत् ॥ ५४ ॥

जिन व्रणों की सावधानीपूर्वक रक्षा नहीं की जाती है, उनमें मक्खियाँ (Home Flies) आकर कृमियों को गिरा देती हैं। ये कृमि व्रण को खाते हुए (नाश करते हुए), रुजा (पीडा), शोफ एवं अस्रस्राव (रक्तस्राव) उत्पन्न कर देते हैं। तब इन व्रणों के धावन (धोने) के लिए एवं पूरण (व्रण में भरने) के लिए सुरसादि गण की औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। सप्तपर्ण (*Alstonia scholaris*), करंज (*Pongamia pinnata*), अर्क (मदार *Calotropis*

procera), निम्ब (*Azardirachta indica*) तथा राजादन (खिरनी *Mimusops hexandra*) की त्वचा को पीसकर गोमूत्र में कल्क बना लें एवं उन व्रणों पर लेप करें। क्षाराम्बु से व्रणों का परिषेक करें अथवा व्रण के ऊपर मांसपेशी रख दें। फलस्वरूप कृमि व्रण में से निकलकर मांसपेशी में लिपट जाते हैं। तब उस मांसपेशी को हटा दें। इस प्रकार कृमियों का शीघ्र निर्हरण करें।

एक विशेष प्रकार की मक्षिका (साधारण मक्षिका से आकार में बड़ी) जब व्रण पर बैठती हैं, तो यह व्रण पर अपने अण्डे गिरा देती हैं, साथ ही साथ कृमियों के बीज भी व्रण में स्थानान्तरित कर देती हैं। इस प्रकार व्रण में कृमियों के उत्पन्न होने से इसके दारुण शोथ में परिवर्तित हो जाने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। अतः ऐसी विषम परिस्थितियों में तत्काल सुरसादि गण, आरग्वधादि गण तथा अर्कादि गण की औषधियों से सिद्ध क्वाथ से व्रण का प्रक्षालन करना चाहिए। इसके साथ ही पटोल और नीम की पत्तियों से बने क्वाथ से तथा करञ्ज, नीम एवं निर्गुण्डी के पत्रों द्वारा बने क्वाथ से व्रण का प्रक्षालन करना चाहिए। वातिक व्रणों में पंचमूल अथवा दशमूल क्वाथ का प्रयोग, पैत्तिक व्रणों में न्यग्रोधादि गण की औषधियों से बने क्वाथ का प्रयोग तथा कफज व्रणों में आरग्वधादि गण की औषधियों से बने क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी विभिन्न प्रकार के विसंक्रामक घोलों (Disinfectant Solutions) यथा—कीटाणुनाशक (Germicides), कृमिनाशक (Insecticides) तथा विषनाशक (Antiseptic) घोलों का प्रयोग व्रण की सुरक्षा तथा शोधन के लिए किया जाता है।

अन्य निर्देश

उत्पद्यमानासु च तासु तास्ववस्थासु दोषादीनपेक्ष्य यथास्वमुपक्रमैरुपक्रमेत्। न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोषमुपसंरोहयेत्। स ह्यल्पेनाप्यपचारेणान्तरुत्सङ्गं कृत्वा भूयो विकुरुते। तस्मात्सुशुद्धं रोपयेत् ॥ ५५ ॥

व्रण जिन-जिन अवस्थाओं में आता जाये, उन-उन अवस्थाओं को देखकर, उनमें दोषादि की स्थिति पर विचार कर यथोचित उपायों द्वारा उनकी चिकित्सा करें। दोषों (मलों) की व्रण के भीतर से निकलने के पश्चात् ही चिकित्सा करनी चाहिए। मल जब व्रण के भीतर ही रहें, तभी शीघ्रतावश उनके रोहण के लिए चिकित्सा न करें, क्योंकि व्रण के भीतर यदि थोड़ा-सा भी दोष बच जाता है, तो वह थोड़े भी अपथ्य के कारण अत्यधिक बढ़कर उपद्रवों को उत्पन्न करता है। अतएव व्रण को दोषादि से रहित एवं शुद्ध करके ही उसके रोपण हेतु चिकित्सा करें।

व्रणरोपण होने पर सावधानी

रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन्विवर्जयेत् ।
मासान् षट् सप्त वा नृणां विधिरेषः प्रशस्यते ॥ ५६ ॥

व्रण के रूढ हो (भर) जाने पर भी अजीर्ण, व्यायाम, व्यवाय (मैथुन) आदि का परित्याग करें। इसी तरह छः या सात मास तक विधिपूर्वक रहें।

उपर्युक्त सावधानी न बरतने से पुनः व्रण हो सकता है अथवा अन्य विकारजन्य उपद्रव भी उत्पन्न हो सकते हैं।

उपसंहार

इतीदं व्रणमाश्रित्य दिङ्मात्रमुपदर्शितम् ।
उत्तरे विस्तरस्तस्य वक्ष्यते साधनं प्रति ॥ ५७ ॥
इति शस्त्रकर्मविधिर्नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

व्रण के सम्बन्ध में इतना कहकर एक दिशा मात्र का निर्देश कर दिया गया है। व्रण का साधन (चिकित्सा) विस्तृत रूप से उत्तर-तंत्र में कहा जायेगा।

इस प्रकार 'शस्त्रकर्म-विधि' नामक अष्टत्रिंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में शोफ की विभिन्न अवस्थाओं के लक्षण, पक्व व्रण का चिकित्सा-सिद्धान्त एवं शस्त्रकर्म-विधि का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त विकेशिका (व्रण में प्रयुक्त अन्तर्वर्ति-सूत्रवर्ति), सीवन कर्म एवं विभिन्न प्रकार के बन्धनों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

अथातः [1]क्षारपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'क्षारपाक-विधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेयादि महर्षियों ने कहा है।

इस अध्याय में क्षारपाक तथा क्षारविधि दोनों विषयों का वर्णन किया गया। क्षारपाक—क्षार कैसे तैयार किया जाता है। क्षारविधि—रोग दूर करने के लिए क्षार को कैसे प्रयुक्त किया जाता है।

'तत्र क्षरणात् क्षणनाद् वा क्षारः'। (सु० सू० ११।३) क्षरण शब्द का अर्थ डल्हण ने—'दुष्टत्वङ्मांसादिचालनात्, शातनादित्यर्थः' अर्थात् दुष्टत्वक् मांस आदि को चला देना ही क्षरण है। —यह कहकर अपना मत व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अन्य आचार्यों का मत व्यक्त करते हुए कहा है—'अन्ये तु क्षरणाद् दोषाणां चालनात्'। इस प्रकार डल्हण के मत में दूष्यों का चालन क्षरण है और अन्य आचार्यों के मत में दोषों का चालन क्षरण है। कुछ विद्वानों का कथन इस प्रकार है—'क्षरणनात् त्वङ्मांसादि हिंसनात्' अर्थात् त्वक् मांस आदि को नष्ट कर देना ही क्षरण है। यहाँ पर यह विचारणीय है कि डल्हण ने चालन शब्द प्रयोग किया है। यहाँ हिंसन शब्द का प्रयोग हुआ है। हटा देना और नष्ट कर देना एक ही बात है, अतः यह मत डल्हण के मत से मिलता है। कुछ आचार्यों ने 'क्षरणात्' के स्थान पर 'क्षपणात्' पाठ माना है। उनके मत से क्षपण शब्द का अर्थ शोधन है।

क्षार के गुण

क्षारो हि [2]नानौषधसमवायनिर्वृत्तेः सर्वरसाधिष्ठानं कटुकलवणरसभूयिष्ठस्तीक्ष्णो दहनः पाचनोऽवदारणो[3] विलयनः शोधनो रोपणः कृम्याममेदोविषापहः सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां च वरिष्ठश्छेदनभेदनपाटनलेखनकरणाद्यतश्च सम्बाधावकाशजेषु[4] दुःखावचारणीयशस्त्रेषु नासार्शोऽर्बुदादिषु शस्त्रेण चासिद्धयत्सुदुष्टव्रणेषु बहुशः प्रकोपिषु प्रयुज्यते ॥३॥

क्षार अनेक औषधियों के समवाय (संयोग) से बनता है। यह मधुर, अम्ल आदि सभी रसों का अधिष्ठान, कटु-लवण रस प्रधान, तीक्ष्ण दाहक (जलाने वाला), पाचक, अवदारण (फाड़ने वाला), विलयन (घोलने वाला), शोधन, रोपण, कृमिनाशक, आमनाशक, मेदोनाशक और विषनाशक होता है। यह सभी शस्त्र-अनुशस्त्रों में वरिष्ठ (श्रेष्ठ) होता है। इससे छेदन, भेदन, पाटन, लेखन आदि कार्य सम्पादित होता है। अतएव सम्बाध अवकाश (संकुचित अवयवों में उत्पन्न रोग) में—जहाँ पर शस्त्रकर्म करना कठिन होता है, जैसे नासार्श, अर्बुद आदि में एवं उन दुष्ट व्रणों में जो शस्त्र-साध्य नहीं होता है तथा जो बार-बार प्रकुपित होते रहते हैं, ऐसे व्रणों में—क्षार का प्रयोग किया जाता है।

---

१. 'क्षारकर्मविधिं' इति पाठान्तरम्। २. 'नामौषध' इति पाठान्तरम्।
३. 'विदारणो' इति पाठान्तरम्। ४. 'सङ्कटप्रदेशजाः' इतीन्दुः।

धातुओं के ऑक्साइड या हाइड्रोक्साइड को क्षारक (Bases) तथा जल में घुलनशील क्षारकों को क्षार (Alkali) कहते हैं। क्षारक (Bases) अम्लों से क्रिया करके केवल लवण तथा जल बनाते हैं।

क्षारक + अम्ल = लवण + जल

जैसे कास्टिक सोडा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से क्रिया करके सोडियम क्लोराइड लवण और जल बनाता है—

$$NaOH + Hcl \rightarrow Nacl + H_2O$$

क्षारकों के सामान्य गुण—

१. ये स्वाद में खारे होते हैं।
२. स्पर्श में चिपचिपे होते हैं।
३. लाल लिटमस को नीला तथा फेनाफ्थलीन को लाल कर देते हैं।
४. त्वचा में लगाने से जलन उत्पन्न कर देते हैं।
५. तेल और चर्बी से मिलकर साबुन बनाते हैं।
६. जल विलेय होने पर OH^- देते हैं।

$$K\ O\ H \rightleftharpoons K^+ + oH$$

क्षार के भेद

स द्विविधो बाह्यान्तःपरिमार्जनेन। तत्रार्शोऽर्बुदभगन्दरग्रन्थिदुष्टव्रणनाडीचर्मकीलवर्त्ममुखरोगकुष्ठकिलासतिलकालकादिषु बहिःपरिमार्जनेन। अन्तःपरिमार्जनेन तु गुल्मगरोदराग्निसाद[1]शूलानाहाश्मरीशर्करादिषु। स यथास्वमेवोपदेक्ष्यते ॥ ४ ॥

वह (क्षार) दो प्रकार का होता है—(१) बाह्य परिमार्जन एवं (२) अन्तःपरिमार्जन। इनमें अर्श, अर्बुद, भगन्दर, ग्रंथि, दुष्टव्रण, नाड़ीव्रण, चर्मकील, वर्त्म (पलक) रोग, मुखरोग, कुष्ठ, किलास, तिलकालक आदि की चिकित्सा बहिःपरिमार्जन क्षार से होती है। गुल्म, गरविष, उदररोग, अग्निसाद (अग्निमांद्य), शूल, आनाह, अश्मरी और शर्करा आदि में अन्तःपरिमार्जन क्षार का प्रयोग किया जाता है। इसका वर्णन स्व-स्व अध्यायों में किया जायेगा।

महर्षि सुश्रुत ने दो प्रकार का क्षार बतलाया है—(१) प्रतिसारणीय क्षार (२) पानीय क्षार। प्रतिक्षारणीय क्षार वह है, जो प्रतिसारण के योग्य हो। 'शतैर्घर्षणं अङ्गुल्या तदुक्तं प्रतिसारणम्' अर्थात् अंगुली से धीरे-धीरे घर्षण प्रतिक्षारण है। यह बाह्यपरिमार्जन हेतु प्रयोग किया जाता है। पानीय क्षार वह है, जो पीने के योग्य हो। पानीय क्षार का प्रयोग अन्तःपरिमार्जन हेतु किया जाता है।

क्षार का निषेध

न तूभयोऽपि योज्यो भीरुदुर्बलशामवातपित्तार्दितज्वरातिसारपाण्डुशिरोहृदयरोगमेहाक्षिपाकतिमिरारोचकातुरकृतवमनविरेकर्तुमतीगर्भिण्युद्वृत्तफल[2]योनिसर्वाङ्गशूलविषमद्यपीतेषु। मर्मसिरास्नायुसन्धितरुणास्थिसेवनीधमनीगलनाभिनखान्तरमुष्कशेफःस्रोतःस्वल्पमांसेषु च देशेष्वक्ष्णोश्चान्यत्र वर्त्मरोगात्। तथाऽतिशीतोष्णवर्षदुर्दिनप्रवातेषु च ॥५॥

१. इन्दुटीका में 'मलसङ्ग' यह अधिक पाठ मिलता है।
२. 'प्रोद्वृत्ता संस्थानविपर्ययं प्राप्ता फलयोनिर्गर्भाशयो यस्याः सा'। (हेमाद्रि)

भीरु (डरपोक), दुर्बल, क्षाम (कृश), वात-पीड़ित, पित्त-पीड़ित, अर्दित, ज्वर, अतिसार, पाण्डु, शिरोरोग, हृद्रोग, प्रमेह, अक्षिपाक, तिमिर, अरुचि आदि से पीड़ित रोगियों में वमन-विरेचन कराये गये व्यक्ति में, ऋतुमती, गर्भिणी, उद्वृत्त फलयोनि (जिनकी योनि उद्धृत है ऐसी स्त्री), सर्वाङ्गशूल से पीड़ित, विषपान एवं मद्यपान किये हुए व्यक्तियों में दोनों ही प्रकार के क्षारों में से किसी का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, तरुणास्थि (Cartilage), सेवनी, धमनी, गला, नाभि, नखों के भीतर, मुष्क (वृषण), शेफःस्रोत (शिश्न के स्रोत), अल्प मांस वाले स्थानों तथा वर्त्म रोगों को छोड़कर समस्त अक्षिरोगों में तथा अति शीतकाल, अति उष्णकाल, वर्षा तथा बादल छाये हुए हों, ऐसे दिनों में क्षारकर्म नहीं करना चाहिए।

बहिःपरिमार्जन क्षार के भेद

अथ बहिःपरिमार्जनस्त्रिविधो मध्यो मृदुस्तीक्ष्णश्च ॥ ६ ॥

बहिःपरिमार्जन क्षार तीन प्रकार का होता है—(१) मध्य बहिःपरिमार्जन, (२) मृदु बहिःपरिमार्जन तथा (३) तीक्ष्ण बहिःपरिमार्जन क्षार।

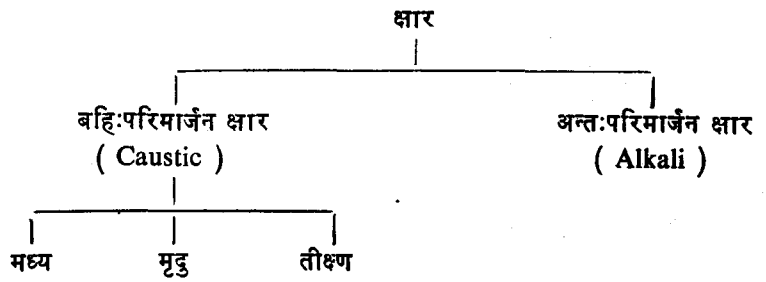

क्षारपाक-विधि

तस्य पाकविधिः शरदि शुचिरुपोषितः शुक्लवासाः प्रशस्तेऽहनि प्रशस्तदेशजातं मध्यमवयसमनुपहतं महान्तं [1]कालमुष्ककं सुरापललसुमनोऽक्षतादिभिश्चतुर्दिशं बलिं दत्वा (कृत्वा) प्रदक्षिणं चाभ्यर्च्यैनमधिवासयेत् ॥ ७ ॥

दैवतेभ्यो नमस्तेभ्यो निवसन्तीह ये श्रिताः।
गन्तुमर्हन्त्यसंक्रुद्धास्त्यक्त्वेमं वा सपर्ययम्[2] ॥ ८ ॥
भेषजार्थं ग्रहीष्यामि सर्वप्राणभृतामिमम्।
ऋक्षं न लोभान्न क्रोधाद् ब्राह्मणार्थे विशेषतः ॥ ९ ॥ इति।

शरद् ऋतु में स्नानादि कर पवित्र होकर उपोषित—अन्न-जल लिये बिना, श्वेत तथा स्वच्छ वस्त्र पहनकर, प्रशस्त (उपयुक्त या शुभ) दिन में, प्रशस्त देश में उत्पन्न, कालमुष्क (*Schrebera swietnloles*) वृक्ष को जो कि मध्यम आयुवाला (न अधिक पुराना और न अधिक नया) हो, अनुपहत (कृमि-वर्षा-अग्नि आदि से नष्ट न हुआ) हो, ऐसे वृक्ष के चारों तरफ सुरा, फल (तिलकल्क), पुष्प, अक्षत आदि से बलि देकर प्रदक्षिणा और पूजा करें। उसी वृक्ष के नीचे

१. 'कृष्णमोक्षकः' इति हेमाद्रिः। 'कालमुष्को मोक्षः' इति अरुणदत्तः।
२. 'वासमव्ययम्' इति पाठान्तरम्।

बैठ कर इस निम्न मन्त्र का उच्चारण करें—'इस वृक्ष पर निवास करने वाले समस्त देवताओं को नमस्कार है। आप सभी बिना क्रोध किये अपने इस निवास को छोड़ कर जाने की कृपा करें, क्योंकि समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ प्रयुक्त होने वाली औषधि के निर्माणार्थ मैं इस वृक्ष को ग्रहण करूँगा। न लोभवश और न क्रोधवश तथा विशेष रूप से ब्राह्मणों के लिए मैं इस ऋक्ष (वृक्ष) को ग्रहण करूँगा।

तथाऽपरेद्युस्तत्र यद्यद्भुतं वैकृतं वा किञ्चिन्न पश्येत्। ततो युगमात्रमारूढे सवितरि ब्राह्मणान् वाचयित्वा तं पादपं पूर्वाग्रमुत्तराग्रं वा पातयेत्। एवं च पारिभद्रपलाशाश्वकर्णराजवृक्षमहावृक्षवृक्षकेन्द्रवृक्षवृषास्फोतसप्तच्छदनक्तमालतिल्वककदलीबिभीतकाश्वमारकपूतिकचित्रकार्ककाकजङ्घाऽपामार्गाग्निमन्थान्वसन्तोपगृहीतांश्च यवान् सशूकनालांश्चतस्रश्च कोशातकीः सर्वान् समूलफलपत्रशाखान् खण्डशः कल्पयित्वा नातिशुष्कान् शिलातलस्थान् निवाते पृथङ्निचयीकृत्य मुष्ककनिचये च सुधाशर्कराः प्रक्षिप्य तिलकुन्तलैरादीपयेत्। दग्ध्वा च शान्तेऽग्नौ पृथक् सुधाशर्कराभस्म कृत्वेतरसर्वक्षारद्रोणमभ्यधिकमुष्ककं सलिलपलसहस्रेण गवादिमूलपलसहस्रेण चालोड्य महता वस्त्रेण परिस्रावयेत्। यावदच्छो रक्तस्तीक्ष्णः पिच्छिलश्च जातस्तदा तं क्षारनिष्यन्दं गृहीत्वा भस्म विवर्जयेत्। ततः स्नेहपाकविधिना पचेत्। पच्यमाने तु तस्मिंस्ताः सुधाभस्मशर्कराः क्षीरबकं शङ्खनाभिं चायसे पात्रेऽग्निवर्णान् कृत्वा तत्क्षाराच्छकुडवमात्रे निर्वाप्यं तेनैव च सुश्लक्ष्णं पिष्ट्वा प्रतिवापं दद्यात्। ततश्च सुतरां दर्व्याऽवघट्टयेत्[1]। यदा च सबाष्पैर्बुदबुदैः समुत्तिष्ठेत्सान्द्रतया च दर्वीप्रलेपी स्यात्तदैनमवतार्याधोघटे यवराशौ सुगुप्तं स्थापयेत्। एष मध्यमः क्षारः॥ १०॥

यदि दूसरे दिन उस पूजन स्थल पर कोई अद्भुत या विकृत (अशुभ) चिह्न न लक्षित हों, तो भगवान् सूर्यनारायण के दो हाथ ऊपर चढ़ जाने पर ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराकर उस वृक्ष को पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर से काटकर गिरा दें। इसी उपर्युक्त विधि से पारिभद्र (फरहद *Erythrina indica*), पलास (*Butea monospermum*), अश्वकर्ण (*Shorea robusta*), राजवृक्ष (अमलतास *Cassia fistula* Linn.), महावृक्ष (स्नुही (*Euphorbia nerifolia*), वृक्षक (कुटज *Holarrhena antidysenterica*), इन्द्रवृक्ष (*Citrulls colocynthis*), वृषा (वासा *Adhatoda vasica*), आस्फोता (श्वेत अर्क *Calotropis giganteo*), सप्तपर्ण (*Alstonia scholaris*), नक्तमाल (करंज *Pongamia pinnata*), तिल्वक (*Vibernum nervosum*), कदली (केला *Musa paradisiaca*), बिभीतक (*Terminalia belerica* Roxb.), अश्वमार (करवीर *Nerium indicum*), पूतिक (पूतिकरंज *Caeselpinia bonducella*), चित्रक (*Plumbago zeylanica*), अर्क (मदार *Calotropis procera*), काकजंघा (*Peristrophe bicalyculata*), अपामार्ग (*Achyranthus aspera*), अग्निमन्थ (*Clerodenrum phlomidis*) आदि वृक्षों का भी संग्रह करें तथा वसन्त ऋतु में शूक-नालयुक्त यव (*Hordeum vulgare*) के पौधों का भी संग्रह करें तथा चारों कोशातकी का भी संग्रह करें। इनको मूल, पत्र, फल एवं शाखाओं सहित ग्रहण करें। तत्पश्चात् इन सबको छोटे-छोटे टुकड़ों में काट ले तथा थोड़ा सुखायें। फिर इसे शिला के तट पर वायु रहित स्थान में पृथक्-पृथक् समूहों में ढेर लगा कर रख दें एवं कालमुष्कक

१. 'दर्व्याविघट्टयन विपचेद् यावच्चा' इति पाठान्तरम्।

(*Schrebera swietenloles*) के टुकड़ों के समूह में चूने के टुकड़े डाल कर तिल (*Sesamum idicum*) के डण्ठलों से जला दें। अग्नि शान्त हो जाने पर सुधा (Lime) के टुकड़ों की भस्म अलग करके इसमें शेष सभी द्रव्य एक द्रोण (१२ किलोग्राम) और कालमुष्कक (*Schrebera swietenloles*) का क्षार कुछ अधिक मात्रा में मिलायें। इन सभी को जल के हजार पल (४८ लीटर) और गोमूत्र आदि के हजार पल (४८ लीटर) में आलोडन करके एक कपड़े से छान लें। जब स्वच्छ, रक्तवर्ण, तीक्ष्ण और पिच्छिल हो जाय, तब उस क्षार के सार भाग को ग्रहण करके शेष भस्म अलग कर दें। तत्पश्चात् स्नेहपाक-विधि से पकायें। जब पकने लगे, तब सुधा (Lime) की भस्म और क्षीरबङ्क (कौड़ी), शंख (*Turbo marmoratus*) नाभि को लोहे के पात्र में तपा कर उस क्षार को स्वच्छ कुडव भर (३४८ ग्राम) जल में बुझाकर उसी जल से महीन पीसकर इसका प्रक्षेप दें और कलछी से अच्छी प्रकार चलायें। जब भाप और बुलबुले उठने लगे और द्रव पदार्थ घनीभूत हो जाय एवं कलछी में चिपकने लगे, तब इसको उतार कर लोहे के घड़े में यवराशि में छिपाकर रख दें। यह मध्यम क्षार है।

मृदुक्षार

मृदौ शर्करादीन्निर्वाप्यापनयेन्न तु पिष्ट्वा क्षिपेत्। तीक्ष्णे तु दन्तीचित्रकलाङ्गलिकापूतीकप्रवालतालपत्रीबिडसर्जिकाकनकक्षीरीहिङ्गुवचाऽतिविषाः श्लक्ष्णचूर्णीकृता दग्धाश्च शङ्खशुक्तीः पूर्ववत् प्रतिवापं दद्यात्। तांश्च व्याधिबलतः सप्तरात्रादूर्ध्वं प्रयुञ्जीत। क्षीणबले तु बलाधानार्थं पुनः क्षारजलमावपेत्।

तत्र नातितीक्ष्णो नातिमृदुः श्वेतः श्लक्ष्णः शीघ्रः पिच्छिलः शिखरी सुखनिर्वाप्योऽल्परुग्विष्यन्दी चेति दश क्षारस्य गुणाः। दशैव च दोषाः। तद्यथा—अत्युष्णोऽतिशीतोऽतितीक्ष्णोऽतिमृदुरतितनुरतिघनोऽतिपिच्छिलो विसर्पी हीनौषधो हीनपाकश्चेति ॥ ११ ॥

मृदुक्षार बनाना हो, तो शर्करा आदि द्रव्य बुझाकर निकाल दिये जाते हैं, इन्हें पीसकर नहीं मिलाना चाहिए। तीक्ष्ण क्षार का निर्माण करना हो, तो दन्ती (*Baliospermum montanum*), चित्रक (*Plumbago zeylanica*), लाँगली (कलिहारी *Gloriosa superba*), पूतिकप्रवाल (करंज *Pongamia pinnata*) के पत्र, तालपत्र (*Barasus flabellifer*), विड्लवण, सर्जिकाक्षार, कनकक्षीरी (स्वर्णक्षीरी *Euphorbia thomsoniana*), हिंगु (हींग *Ferula foetida* Regel), वचा (*Acorus calamus*), अतिविषा (*Aconitum heterophyllum*) का श्लक्ष्ण (बारीक) चूर्ण, शंख (*Turbo marmoratus*) एवं शुक्ति (*Lamellidens marginalis*) की भस्म प्रतिवाप (प्रक्षेप) के रूप में डालना चाहिए। इन क्षारों का प्रयोग रोग एवं रोगी के बल के अनुसार सात दिनों के अन्तर पर करना चाहिए। यदि क्षार की शक्ति कम हो, तो उसमें बलाधान करने के लिए पुनः क्षार जल मिलाना चाहिए।

क्षार के दस गुण—१. अतितीक्ष्ण न हो, २. अतिमृदु न हो, ३. श्वेत, ४. श्लक्ष्ण (चिकना), ५. शीघ्र (आशुकारी), ६. पिच्छिल, ७. शिखरी (ऊपर की ओर उठा हुआ), ८. सरलता से निर्वापित होने वाला, ९. अल्प पीड़ा करने वाला एवं १० अभिष्यन्दी—ये क्षार के दस गुण हैं।

क्षार के दस दोष—१. अति उष्ण; २. अति शीत, ३. अति तीक्ष्ण, ४. अति मृदु, ५. अति तनु (बहुत पतला), ६. अति घन (बहुत गाढ़ा), ७. अति पिच्छिल, ८. विसर्पी (विसर्पण

करने वाला या फैलने वाला) ९. हीनौषध (हीन औषधियों वाला) एवं १०. हीन पाक (हीन पाक वाला)।

महर्षि सुश्रुत एवं वाग्भट के अनुसार क्षार के गुण-दोष

गुण		दोष	
सुश्रुत	वाग्भट्ट	सुश्रुत	वाग्भट्ट
१. न अति तीक्ष्ण	१. न अति तीक्ष्ण	१. अति मृदु	१. अति मृदु
२. न अति मृदु	२. न अति मृदु	२. अति शुक्ल	२. अति उष्ण
३. शुक्लवर्ण	३. श्वेत	३. अति उष्ण	३. अति तीक्ष्ण
४. श्लक्ष्ण	४. श्लक्ष्ण	४. अति तीक्ष्ण	४. अति पिच्छिल
५. पिच्छिल	५. पिच्छिल	५. अति पिच्छिल	५. विसर्पी
६. अविष्यन्दी	६. अविष्यन्दी	६. अति सर्पि	६. अति घन
७. शिव (गुणकारी)	७. शीघ्र कार्यकारी	७. अति सान्द्र	७. हीनपाक
८. शीघ्र कार्यकारी	८. शिखरी	८. अपक्वता	८. हीनौषध
	९. अल्प पीड़ाकर	९. हीन द्रव्यता	९. अति शीत
	१०. सरलता से निर्वापित होने वाला		१०. अति तनु

क्षारकर्म-विधि

तत्र क्षारकर्मण्युपहरेत् पिचुवर्तिशलाकादर्व्यञ्जलिकाघृतमधुसुक्ततुषोदकमस्तुक्षीरोदकशीतोपदेहशयनासनादीनि। अथ क्षारार्हस्योपविष्टस्य संविष्टस्य वाऽऽप्तपरिचारकगृहीतस्य व्याधिं छित्त्वाऽवलिख्य प्रच्छाय वा पिचुप्लोतान्यतरावगुण्ठितया शलाकया क्षारं पातयेत्। ततो मात्राशतमुपेक्षेत। वर्त्मरोगे तु निर्भुज्य वर्त्मनी पिचुना मधूच्छिष्टेन वा कृष्णभागं प्रच्छाद्य पद्मपत्रतनुः क्षारलेपः। घ्राणजेषु त्वर्शोर्बुदेष्वादित्याभिमुखस्योन्नमय्य नासिकामुपेक्ष्य च पञ्चाशन्मात्रा। तद्वच्छ्रोत्रजेषु। गुदार्शःसु पाणिना यन्त्रद्वारं पिधाय धारयेन्मात्राशतमेव। ततः प्रमार्जनेन प्रमृज्य क्षारं सम्यग्दग्धमवेक्ष्य निर्वापयेत्सर्पिर्मधुभ्यां सुक्ततुषोदकमस्तुक्षीरादिभिश्च। ततः परं शीतमधुरैः सघृतैः प्रदिह्यात्। अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानि क्लेदनाय च। स्थिरमूलत्वात्तु यदि क्षारदग्धं न विशीर्यते ततो [1]धान्याम्लबीजमधुयष्टिकायुक्तैस्तिलैरालेपयेत्सुवर्णक्षीरीयुतैर्वा त्रिवृद्विडङ्गसारवद्भिर्वा। मालतीवृषाङ्कोटनिम्बास्फोतपटोलीकरवीरपत्रक्वाथो व्रणे प्रक्षालनम्[2]। एषामेव च कल्कक्वाथे सिद्धं सर्पिस्तैलं वा रोपणं नागपुष्पमञ्जिष्ठाचन्दनतिलपर्णिकासु वा। यथाव्याधिदोषं च व्रणमुपक्रमेत्। तिलाः समधुका[3] रोपणाश्चास्य पूजिताः॥ १२॥

• क्षारकर्म करने हेतु इनका संग्रह कर लेना चाहिए—पिचु, वर्ति, शलाका, दर्वी (कलछी),

१. (क) 'धान्याम्लबीजं—धान्याम्लतलस्थं द्रव्यम्' इति हेमाद्रिः।
(ख) 'धान्याम्लबीजं काञ्चिकस्याधो घनो भागः' इतीन्दुः।

२. 'क्वाथेन व्रणप्रक्षालनम्' इति पठान्तरम्।

३. 'सयष्टिकामधुका' इति पठान्तरम्।

अञ्जलिका (प्याली), घृत, मधु, सुक्त (सिरका), तुषोदक (कांजी), मस्तु, दूध, जल, शीत-प्रदेह, शय्या, आसन आदि। जिस पुरुष का क्षारकर्म करना हो, उसे पहले शय्या पर लिटा देना चाहिए या आसन पर बैठा देना चाहिए। तत्पश्चात् आप्त सेवकों द्वारा रोगी को पकड़वा कर जिस स्थान पर क्षारकर्म करना हो, उस स्थान पर छेदन, लेखन अथवा प्रच्छान कर्म कर देना चाहिए। अब उस स्थान को पिचु या प्लोत (वस्त्र) से ढँक कर शलाका द्वारा क्षार को उस स्थान पर गिराये। तत्पश्चात् एक से सौ तक गिनती गिनने तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। वर्त्म रोगों में यदि क्षारकर्म करना हो, तो पहले वर्त्म (पलक) को उल्टा कर देना चाहिए। फिर नेत्र के कृष्ण भाग को पिचु या मधूच्छिष्ट (मोम) से ढँक देना चाहिए। कमल (*Nelumbo nucifera* Gaertn) पत्र जैसा पतला क्षार का लेप कर देना चाहिए। नासार्श में क्षारकर्म करना हो, तो रोगी को सूर्याभिमुख करके बैठा देना चाहिए। फिर नाक को ऊँचा उठा कर क्षार लगाना चाहिए। तत्पश्चात् एक से पचास तक की गिनती गिनने तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार कर्ण के रोगों में भी क्षारकर्म किया जाता है। गुदार्श में क्षारकर्म करना हो, तो क्षार को उस स्थान पर लगाने के पश्चात् यन्त्र के मुख को हाथ से ढँककर सौ गिनने तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। तत्पश्चात् प्रमार्जन उपकरणों से क्षार का प्रमार्जन (धुलाई) करके सम्यक् रूप से जला हुआ देखकर क्षारदग्ध स्थान पर घृत एवं शहद का लेप कर देना चाहिए। फिर उस पर शुक्त, तुषोदक, मस्तु, दूध आदि का लेप करके उसे शीतल करना चाहिए। तत्पश्चात् शीत एवं मधुर द्रव्यों के चूर्ण को घृत में मिलाकर उस पर लेप करना चाहिए। क्षारदग्ध स्थान पर क्लेद हमेशा विद्यमान रहे, इस हेतु अभिष्यन्दी पदार्थों का भोजन क्षारदग्ध पुरुष को करना चाहिए। इतना सब करने के पश्चात् क्षारदग्ध स्थान को गल कर गिर जाना चाहिए। यदि स्थिरमूल होने के कारण वह क्षारदग्ध स्थान न गिरे, तो धान्याम्ल बीज (किण्व) तथा मुलेठी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.) मिश्रित तिलों (*Sesamum indicum* Linn.) का लेप करना चाहिए अथवा सुवर्णक्षीरी (*Euphorbia thomsoniana Boiss*) मिश्रित तिलों का लेप करना चाहिए अथवा त्रिवृत् (*Ipomoea turphethum*), विडंगसार (?) के साथ तिलों का लेप करना चाहिए। मालती (चमेली *Jasmine grandiflorum*), वृष (अड़ूसा *Adhatoda vasica*), अङ्कोल (*Alangium salvifolium*), निम्ब (*Azadirachta indica*), अस्फोता (*Calotropis gigantea*), पटोली (*Trichosanthes cucumerina*) तथा करवीर (*Nerium indicum* Mill.) के पत्रों का क्वाथ बनाकर इससे क्षारदग्ध व्रणों का प्रक्षालन करना चाहिए। इन्हीं द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ से सिद्ध घृत अथवा तैल का प्रयोग करना चाहिए, जो इन क्षारदग्ध व्रणों का रोपण करता है अथवा नागपुष्प (नागकेसर *Mesua ferrea*), मंजिष्ठा (*Rubia cordifolia*), चन्दन (*Santalum album*) तथा तिलपर्णिका (*Gynandropis gynandra* Linn.) के क्वाथ एवं कल्कों से सिद्ध घृत अथवा तैल का प्रयोग इन क्षारदग्ध व्रणों के रोपणार्थ करना चाहिए। जैसी व्याधि हो एवं उस व्याधि में जो दोष प्रधान हों, इन्हीं के अनुसार व्रणों की चिकित्सा करनी चाहिए। तिल (*Sesamum indicum*) एवं मुलेठी (*Clycyrrhiza glabra*) व्रणों के रोपणार्थ सर्वोत्तम माने गये है।

सम्यग् योगादि के लक्षण

तत्र पक्वजाम्बवसङ्काशमवसन्नमीषद्यथास्वविकारोपशान्तौ च सम्यग्दग्धं भवति। तद्विपर्ययेण तोदकण्डूजाड्यादिभिश्च दुर्दग्धम्। तत्र पुनः पातयेत्। ऊषादाहरागशोफज्वरपाकविसर्पशिरोरोगवातपित्तकोपैरतिदग्धम्। अपि च—नेत्रेऽतियोगाद्वर्त्मनिर्भेदेनेन्द्रियभ्रंशः। घ्राणे नासावंशतरुणास्थिदरणं सङ्कोचो गन्धाज्ञानं च। तद्वच्छ्रोत्रादिष्वपि च

यथास्वं व्यापत्। गुदे विण्मूत्ररोधोऽतिसारः पुंस्त्वोपघातो गुदविदरणाच्च मृत्युर्वा सर्वदा वा शोफतोदवेदनास्रावाः। शकृन्मूत्रवातविधारणाशक्तिर्वा। तमतिप्रवृत्तमाशु पूर्वोक्तैरेव निर्वापणैः पुनः पुनर्निर्वापयेत्। अतश्च दाह्यमतिप्रमाणं न सकृदेव दहेदिति ॥ १३ ॥

सम्यक् रूप से क्षारदग्ध स्थान का वर्ण पके हुए जामुन (*Syzygium cumini* Linn.) के वर्ण के समान थोड़ा-सा अवसन्न (दबा हुआ) होता है तथा क्षारकर्म के पश्चात् रोग की शान्ति हो जाती है। इसके ठीक विपरीत दुर्दग्ध (हीनरूप से दग्ध) स्थान पर तोद (चुभने जैसी पीड़ा), कण्डू (खुजली) एवं जडता आदि उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में पुनः क्षार का प्रयोग करना चाहिए। अतिदग्ध होने से उष्मा (अरति, स्वेदयुक्त दाह), दाह, राग (लालिमा), शोफ, ज्वर, पाक, विसर्प, शिरोरोग, वात एवं पित्त प्रकोप जन्य रोग आदि उत्पन्न हो जाते हैं। और भी—नेत्र में क्षार का प्रयोग करने पर यदि अतियोग हो जाता है, तो वर्त्मनिर्भेद (पलकों का फटना) एवं इन्द्रियभ्रंश (इन्द्रियों का नाश) हो जाता है। नाक में क्षार का अतियोग होने से नासावंश की तरुणास्थि का दारण (फट जाना), नासा-संकोच (नाक का सिकुड़ जाना) तथा गन्धज्ञान न होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार कर्ण आदि में भी क्षार के अतियोग के फलस्वरूप अपने-अपने प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। गुदा में क्षार के अतियोग से मलमूत्रावरोध, अतिसार, पुंस्त्वोपघात (पुरुषत्व का नाश—नपुंसकता) आदि उत्पन्न होते हैं। गुदा के विशरण (फट जाने) से मृत्यु तक हो सकती है अथवा गुदा में सदैव रहने वाला शोथ, तोद, वेदना तथा स्राव उत्पन्न हो जाता है अथवा मल-मूत्र के वेग को धारण करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। क्षार के अतियोग होने पर दग्ध स्थान पर शीघ्र ही पूर्वोक्त विधि से ही घृत एवं मधु दग्ध व्रण की शान्ति हेतु बार-बार लगायें। इसलिए क्षार का प्रयोग अधिक मात्रा में तथा मात्र एक ही बार में नहीं करना चाहिए, बल्कि थोड़ा-थोड़ा करके कई कार में करना चाहिए।

निर्वापण हेतु अम्ल का प्रयोग

भवति चात्र—

अम्लो हि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः।
यात्याशु स्वादुतां तस्मादम्लैर्निर्वापयेत् तराम् ॥ १४ ॥

अम्लरस स्पर्श में शीतल होता है, इससे क्षारों का संयोग होने पर स्वयमेव शीघ्र ही मधुरता उत्पन्न हो जाती है। अतएव क्षार-दग्ध व्रणों का अम्ल से ही निर्वापण करे।

महर्षि अग्निवेश ने कहा है—'क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः'। (च० चि० २४।११४) अर्थात् अम्लरस से युक्त होकर क्षार शीघ्र ही मधुर बन जाता है।

महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'अम्लवर्जान् रसान् क्षारे सर्वानेव विभावयेत्।
कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा ॥
अम्लेन सह संयुक्तः स तीक्ष्णलवणो रसः।
माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति।
माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः' ॥ (सु० सू० ११।२०-२१)

अर्थात् क्षार में अम्लरस के अतिरिक्त शेष सभी रस होते हैं। इनमें कटुरस प्रधान तथा लवण अनुरस (अप्रधान) होता है। तीक्ष्ण लवण रस (क्षार) जब अम्ल रस से संयुक्त होता है, तब तीक्ष्ण भाव को छोड़कर मधुर हो जाता है। मधुरता से दाह वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे जल के संयोग से अग्नि।

क्षारातियोग में उपचार

ज्वरातिसारतृष्मोहमूर्च्छाहृद्वेदनार्तिभिः ।
कक्षं दहत्यग्निरिव शरीरं क्षारविभ्रमः ॥ १५ ॥
पाययेतातियोगेऽतस्तं क्षीघ्रं सघृतं दधि ।
सगुडं वा दधिसरं तैलं वा ससितोपलम् ॥ १६ ॥
धात्रीफलकपित्थाम्लदाडिमस्वरसे घृतम् ।
द्विगुणे साधितं पानसेकैः क्षारातिरुग्घरम् ॥ १७ ॥
दाडिमामलकाम्रातकपित्थकरमर्दकात् ।
आम्राच्च मातुलुङ्गाच्च रसं मृद्वग्निना पचेत् ॥ १८ ॥
ततो निवृत्तक्षाराय दद्यान्मात्रां यथाबलम् ।
क्षारो निवर्तते तेन प्रसादं त्वक् च गच्छति ।
शोणितातिप्रवृत्तौ तु बाह्यान्तःशिशिरो विधिः ॥ १९ ॥
इति क्षारपाकविधिर्नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

क्षारकर्म का विभ्रम ज्वर, अतिसार, तृषा, मोह, मूर्च्छा, हृदय की वेदना आदि को उत्पन्न करके शरीर को उसी प्रकार से नष्ट कर डालता है, जिस प्रकार अग्नि तृणों के समूह को जला नष्ट कर डालती है। इसीलिए क्षारकर्म का अतियोग हो जाए, तो उस पुरुष को शीघ्र घी के साथ दधि, गुड के साथ दधिसर (दही की मलाई) या मिस्री के साथ तिल (*Sesamum indicum*) तैल का सेवन करना चाहिए। घृत एवं घृत से दुगुनी मात्रा में धात्रीफल (आँवला *Emblica officinalis*), कपित्थ (*Feronia limonia*) एवं अम्ल दाडिम (*Punica granatum*) का रस लेकर स्नेहपाक करके इस सिद्ध स्नेह को पिलाये एवं इसी से परिषेक करे। इन क्रियाओं से क्षारातिदग्ध पुरुष की पीड़ा शान्त होती है। दाडिम (*Punica granatum*), आँवला (*Emblica officinalis*), आम्रातक (*Spondius pinnata*), कपित्थ (*Feronia-limonia*), करमर्द (*Carrisa corandal*), आम (*Mangifera indica*) तथा मातुलुंग (गलगल नीबु *Citrus aurantifolia* Swingle) के रस को थोड़ी आग पर धीमे-धीमे पकाये तथा रोग एवं रोगी के बल का विचार करके अतिदग्ध पुरुष को यथोचित मात्रा में पीने को दें। इससे अतिदग्ध व्रण शान्त होता है तथा त्वचा निर्मल होती है। यदि क्षारकर्म करने के फलस्वरूप अतिमात्रा में रक्तस्राव हो, तो बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार से शीतल उपचार ही करना चाहिए।

इस प्रकार 'क्षारपाकविधि' नामक एकोनचत्वारिंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में क्षार का गुण, क्षार के भेद, क्षारपाक-विधि, क्षारकर्म-विधि, सम्यक् क्षारदग्ध का लक्षण एवं क्षारातियोग का विवेचन किया गया है। सुश्रुतोक्त क्षारकर्म के विविध रूपों की परिकल्पना कर स्व० डा० प्रभाकर जनार्दन देशपाण्डे ने अर्श एवं भगन्दर की सफल चिकित्सा प्रस्तुत की है, जो कि इस समय आयुर्वेदीय चिकित्सकों द्वारा प्रचुरता से प्रयुक्त हो रहा है।

चत्वारिंशोऽध्यायः

अथातोऽग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥ २ ॥

अब इसके पश्चात् 'अग्निकर्म-विधि अध्याय' की व्याख्या करेंगे। ऐसा ही आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा है।

क्षार का प्रयोग अन्तः एवं वाह्य दोनों रूप में किया जाता है, इसलिए उसका क्षेत्र विस्तृत होने के कारण क्षार का उल्लेख पहले किया गया है। अग्निकर्म का प्रयोग केवल वाह्य होने से उसका क्षेत्र सीमित होता है, अतः उसका वर्णन क्षारकर्म के पश्चात् किया गया है।

अग्निकर्म का विषय

अग्निः क्षारादपि गरीयानौषधशस्त्रक्षारैरसिद्धानां तद्ग्रहसिद्धेरपुनर्भवाच्च। तत्राग्निकर्म त्वचि मांसे सिरास्नायुसन्ध्यस्थिषु च प्रयुज्यते। तत्र मशतिलकालकचर्मकीलसरुक्स्तब्धप्रम्लानाङ्गाभिष्यन्दाधिमन्थशिरोभ्रूशङ्खललाटरुजार्दितेषु सूर्यकान्तपिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाभिस्त्वग्दाहो यथास्वमभिष्यन्दादिषु तु भ्रूशङ्खललाटदेशेषु। ग्रन्थ्यर्बुदार्शोभगन्दरगण्डगण्डमालाश्लीपदान्त्रवृद्धिदुष्टव्रणगतिनाड्यवगाढपूयलसीकेषु। जाम्बवौष्ठसूचीशलाकाघृतगुडमधुमधूच्छिष्टतैलवसाहेमताम्रायोरूप्यकांस्यैर्मांसदाहः। सिरास्नायुसन्ध्यस्थिच्छेदशोणितातिप्रवृत्तिदन्तनाडीश्लिष्टवर्त्मोपपक्ष्मकलेगणलिङ्गनाशासम्यग्व्यधेषु जाम्बवौष्ठशलाकासूचीमधूच्छिष्टमधुगुडस्नेहैः सिरादिदाहः ॥ ३ ॥

अग्नि क्षार से भी उत्तम होती है, क्योंकि औषध, शस्त्र एवं क्षार से न ठीक होने वाले रोग भी अग्निकर्म से ठीक हो जाते हैं तथा पुनः दुबारा नहीं होते। इसलिए अग्निकर्म का प्रयोग त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि तथा अस्थि आदि में किया जाता है। मश (मस्सा), तिलकालक, चर्मकील, वेदनायुक्त जडता, प्रम्लान अङ्ग (मुर्झाया हुआ अङ्ग), अभिष्यन्द, अधिमन्थ (Glaucoma), शिरोराग (शिरोवेदना), भ्रूवेदना, शंखवेदना, ललाटवेदना तथा अर्दित आदि रोगों में सूर्यकान्तमणि, पिप्पली (*Piper longum* Linn.), अजा (*Capra sibica*) शकृत्, गाय (*Bos indicus*) का दाँत, शर एवं शलाका के द्वारा त्वचा में दाह किया जाता है। अभिष्यन्द आदि रोगों में उन-उन रोगों के अनुसार भ्रू, शंख एवं ललाट आदि स्थानों में दाह किया जाता है। ग्रंथि, अर्बुद, अर्श, भगन्दर, गण्ड (गलगण्ड), गण्डमाला, श्लीपद, आन्त्रवृद्धि, दुष्टव्रण, गतिव्रण, नाड़ीव्रण, अवगाढ़ पूय (गहरे स्थान में स्थित पूय) तथा अवगाढ़ लसिका में जाम्बवौष्ठ, सूई, शलाका, घृत, गुड़, मधु, मधुयष्टी (*Glycyrrhiza glabra*), तैल, वसा, हेम, (स्वर्ण), ताम्र, अयस् (लोहा), रूप्य (चाँदी) एवं कांस्य (काँसा) आदि से उनके अनुसार उचित स्थान पर मांस में दाह किया जाता है। सिरा-स्नायु-सन्धि-अस्थि के छेदन से शोणितातिप्रवृत्ति (अत्यधिक रक्तस्राव) हो, दन्तनाड़ी, श्लिष्ट, वर्त्म, उपपक्ष्म, लगण (Meibomian

---

१. अपाकी कठिनः स्थूलो ग्रन्थिवत्वर्त्मभवोऽरुजः।
लवणो नाम स व्याधिर्लिङ्गतः परिकीर्तितः॥ (सु० उ० ३)

cyst) एवं लिङ्गनाश में शस्त्रकर्म (वेधन) के सम्यक् रूप से होने के पश्चात् जाम्बवौष्ठ, शलाका, सूची, मधूच्छिष्ट (मोम), मधु, गुड़ एवं स्नेह आदि से उन-उन रोगों के अनुसार यथोचित स्थान पर स्थिर सिरा आदि का दाह करना चाहिए।

दहन-कार्य हेतु क्षार एवं अग्नि दोनों का उपयोग होता है। क्षारकर्म में दहन के लिए आग्नेय गुण प्रधान द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। अग्निकर्म में कृत्रिम उष्णता के द्वारा अथवा अग्नि से तप्त यन्त्रों द्वारा दाहकर्म किया जाता है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में निम्नलिखित प्रकार का अग्निकर्म किया जाता है—

(१) विद्युद्दहन-कर्म(Galvano Cautery)—इसमें बिजली द्वारा उष्णता उत्पन्न करके दहन किया जाता है।

(२) पाक्वीलीन्स दहन-कर्म (Poquilin's Thermo Cautery)—इसमें औजार को अग्निज्वाला पर तप्त करके तत्पश्चात् बेञ्जोलिन की भाप धौंकनी की सहायता से छोड़ते रहते हैं, हैं, जिसके कारण वह औजार भाप से तप्त रहता है।

(३) विद्युत्प्रवाह-जन्य दहन-कर्म (Diathermic Cautrery)—इसमें विद्युत् प्रवाह के द्वारा दहन योग्य अङ्ग को तप्त करके जला देते हैं।

आधुनिक दृष्टि से अग्निकर्म का निम्न वैशिष्ट्य माना गया है—

(१) 'अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात्' (सुश्रुत)। 'अन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदने पाकभयं स्यात्' (डल्हण) अर्थात् अग्नितप्त शस्त्रकर्म न करने से पाक (Septic) बनने का भय रहता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि निर्जीवाणुकरण (Sterilization) का ज्ञान उस युग में था।

(२) 'दाहः सङ्कोचयेत् सिराः'। अर्थात् अग्निदाह से शिराओं में संकोच हो जाता है, जिससे रक्तस्राव नहीं होता है।

अग्निकर्म का प्रयोग सफलता के साथ लद्दाख क्षेत्र में एमचियों (स्थानिक चिकित्सकों) द्वारा आज भी किया जाता है।

अग्निकर्म के अयोग्य रोगी

न तु दहेद्भिन्नकोष्ठमन्तःशोणितमनुद्धृतशल्यमनेकव्रणपीडितमुष्णे च काले तथा क्षारानर्हं च। आत्ययिके तु व्याधौ कृतोष्णप्रतीकारस्य पिच्छिलमन्नमशितवतोऽग्निकर्म कुर्यात् ॥ ४ ॥

भिन्न कोष्ठ (कोष्ठ के फट जाने पर अथवा जिसे भेदन-विरेचन किया गया हो), जिसके शरीर के भीतर ही रक्तस्राव हुआ हो, जिसके शरीर के अन्दर शल्य अभी विद्यमान हो एवं जिसके शरीर में व्रण हो उनमें तथा उष्णकाल में अग्निकर्म नहीं करना चाहिए तथा जो व्यक्ति क्षार के अयोग्य है, उनमें भी अग्निकर्म नहीं करना चाहिए। यदि कोई आत्ययिक रोग हो और उसमें अग्निकर्म करना हो, तो उष्णता का प्रतिकार (शीतल व्यवस्था) करके एवं पिच्छिल अन्न का भोजन करा कर अग्निकर्म करना चाहिए।

अग्निकर्म-विधि

अथ दाहार्हमातुरं कृतस्वस्त्ययनमुपहृतसर्वोपकरणं प्राक्शिरःसंविष्टमाप्तावलम्बितं कृत्वा वैद्यो निर्धूमबृहत्स्थिरदीप्तखदिरबदराद्यङ्गारैरयोघटनप्रकारेण भस्त्रानिलाध्मातैर्व्यजनेन वोर्ध्वनिर्गच्छज्ज्वालतयाऽऽपादितापाद्यमानभासुराग्निवर्णेजाम्बवौष्ठादिभिर्व्याधिप्रदेशवशाद्बलयार्धचन्द्रस्वस्तिकाष्टापदबिन्दुरेखाप्रतिसारणविकल्पेन मुहुर्मुहुर्हितोपहिता-

अग्निकर्म के उपकरण, रोगानुसार स्थान एवं रोग

अग्निकर्म के उपकरण	रोगानुसार अग्निकर्म का स्थान	रोग
सूर्यकान्तमणि, अजा-शकृत्, गाय का दाँत, शर, शलाका ।	त्वचा, शिरोरोग, अधिमन्थ में भौंह, ललाट तथा शंखप्रदेश एवं वर्त्मगत रोगों में वर्त्म-रोमकूप में दहनकर्म ।	मश (मस्सा), तिलकालक, चर्मकील, वेदनायुक्त जड़ता, प्रम्लान, अङ्गमर्द, अभिष्यन्द, अधिमन्थ, शिरोरोग, भ्रूवेदना, शंखवेदना, ललाट-वेदना तथा अर्दित ।
जाम्बवौष्ठ, सूई, शलाका, घृत, गुड़, मधु, मधुयष्टी, तैल, वसा, हेम, ताम्र, लोहा, कांस्य ।	रोगानुसार उचित स्थान पर माँस में दहनकर्म ।	ग्रन्थि, अर्बुद, अर्श, भगन्दर, गण्ड (गलगण्ड), गण्डमाला श्लीपद, आन्त्रवृद्धि, दुष्टव्रण, गतिव्रण, नाड़ीव्रण, अवगाढ़ पूय तथा अवगाढ़ लसीका ।
जाम्बवौष्ठ, शलाका, सूची, मोम, मधु, गुड़, स्नेह ।	रोगानुसार उचित स्थान में स्थित सिरा में दहनकर्म ।	सिरा-स्नायु-सन्धि-अस्थि का छेदन, शोणितातिप्रवृत्ति, दन्तनाडी, श्लिष्ट वर्त्म, उपपक्ष्म, लगण, लिङ्गनाश में शस्त्रकर्म (वेधन) के सम्यग् रूप होने के पश्चात् ।

भिर्वाग्भिरद्भिश्चातुरमाश्वासयन् दहेदासम्यग्दाहलिङ्गोत्पत्तेः। उच्छूनसुषिरप्रलूनदन्तनाडीसजन्तुदुष्टव्रणेषु तु स्नेहमधूच्छिष्टगुडैः पूरयित्वा दहेत्। सम्यग्दग्धे च मधुसर्पिषी दद्याच्छीतस्निग्धांश्च प्रदेहान् ॥ ५ ॥

जिस व्यक्ति में अग्निकर्म करना हो, उसे मंगलाचरण का पाठ कराकर तथा सभी आवश्यक उपकरणों की व्यवस्था कर पूर्व दिशा की ओर सिर करके लिटा दें तथा आप्त व्यक्तियों द्वारा उसे पकड़वाकर खदिर (*Acacia catechu* Wild.) या बदर (बेर *Zigyphus jujuba*) के निर्धूम (धुआँ रहित) बड़े स्थिर दीप्त अंगारों से लोहा गरम करने की विधि में प्रयुक्त धौंकनी की हवा से धौंककर या पंखा चला करके बाहर निकलती हुई ज्वाला होने के कारण चमकती हुई अग्नि के समान रंग पैदा करके जाम्बवौष्ठ आदि शस्त्रों द्वारा व्याधि-प्रदेश के अनुसार वलयाकार (O), अर्द्धचन्द्राकार (⌣), स्वस्तिक आकार (卐), अष्टापद आकार (अष्टभुज), बिन्दु (⋯), रेखा (—) प्रतिसारण भेद से बार-बार हितकर वचनों के द्वारा तथा जल के द्वारा आतुर को आश्वासन देते हुए जब तक दाह के चिह्न दिखलाई न पड़े, तब तक उसको दग्ध करें। सूजन, खोखला और कटे हुए दन्तनाड़ी तथा जन्तुदुष्ट व्रणों में स्नेह, मोम और गुड़ को भरकर दाह करें। सम्यक् दग्ध हो जाने पर मधु एवं घृत लगायें तत्पश्चात् शीतल और स्निग्ध लेप लगायें।

सम्यक् दग्ध के लक्षण

सम्यग्दग्धलिङ्गं पुनः सशब्दं दहनं दुर्गन्धित्वं त्वक्सङ्कोचश्च त्वग्दग्धे। कपोतवर्णत्वमल्पशोफरुजता शुष्कसङ्कुचितव्रणता च मांसदग्धे। कृष्णोन्नतव्रणत्वं स्थिते च रक्ते लसीकास्रुतिः सिरादग्धे। कृष्णारुणकर्कशस्थिरव्रणता स्नाय्वादिदग्धे च। दुर्दग्धातिदग्धयोः प्रमाददग्धवल्लक्षणं चिकित्सितं च ॥ ६ ॥

सशब्द दहन (शब्द के साथ जलना), दुर्गन्धित्व (दुर्गन्धता) एवं त्वचा में संकोच (सिकुड़ना) ये त्वचा के सम्यग् दग्ध होने के लक्षण हैं। कपोत (कबूतर *Columba livia*) के समान दग्ध स्थान का वर्ण हो जाना, थोड़ा शोफ, थोड़ी पीड़ा, शुष्कता एवं व्रण में संकोच होना (सिकुड़ना) ये मांस के सम्यग् दग्ध होने के लक्षण हैं। दग्ध व्रण का कृष्ण वर्ण (काला) होना, उन्नत (ऊपर उठा) होना तथा रक्तस्राव बन्द होने के बाद लसीका स्राव होना, ये सम्यक् सिरा-दग्ध के लक्षण हैं। व्रण में कृष्णता, अरुणता, कर्कशता तथा स्थिरता, ये सम्यक् स्नायु दग्ध के लक्षण हैं। प्रमाद दग्ध के जो लक्षण होते हैं तथा जो इसकी चिकित्सा होती है, वे ही लक्षण तथा वही चिकित्सा दुर्दग्ध तथा अतिदग्ध की भी होती है।

प्रमाद दग्ध

प्रमाददग्धं पुनश्चतुर्विधं भवति। तुत्थं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धं च। तत्र यद्विवर्णमुष्यतेऽतिमात्रं तत्तुत्थम्। यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटाः तीव्रोषादाहरुजश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तद् दुर्दग्धम्। पक्वतालफलवर्णं समस्थितं पूर्वलक्षणयुक्तं च सम्यग्दग्धम्। अतिदग्धे तूग्ररुजता धूमायनं मांसप्रलम्बनं सिरादिव्यापदो गम्भीरव्रणता ज्वरदाहतृण्मूर्च्छाछर्दयः। शोणितातिप्रवृत्तिस्तन्निमित्ताश्चोपद्रवाः कृच्छ्रेण रोहणं रूढे च विवर्णतेति। स्नेहदाहस्तु कष्टतरो भवति। स हि स्नेहस्य सूक्ष्ममार्गानुसारित्वाद् दूरमनुप्रविशतीति ॥ ७ ॥

पुनः प्रमाद दग्ध चार प्रकार का होता है—१. तुत्थ, २. दुर्दग्ध, ३. सम्यग्दग्ध तथा ४. अतिदग्ध। जिस दग्ध में विवर्णता (विकृत वर्णता) तथा अत्यन्त उषा (स्वेद-अरति युक्त

दाह) उत्पन्न हो जाय, वह तुत्थ होता है। जिस दग्ध में स्फोट (फफोला) उठ जाये, तीव्र उषा (स्वेद-अरति युक्त दाह), दाह तथा वेदना उत्पन्न हो जाये एवं जो अधिक दिनों में शान्त हो, वह दुर्दग्ध कहलाता है। पके हुए ताल (*Borasus flabellifer*) के फल के समान रंग वाले समरूप में स्थित एवं सम्यक् दग्ध के पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त दग्ध को सम्यक् दग्ध कहते हैं। जिस दग्ध में उग्र पीड़ा, धूमायन (धूम जैसी प्रतीति), मांस-प्रलम्बन (मांस लटकना), सिरा आदि का विनाश, गम्भीर व्रण, ज्वर, दाह, प्यास, मूर्च्छा, वमन, अत्यधिक रक्तस्राव तथा अत्यधिक रक्तस्राव जन्य उपद्रव उत्पन्न हो, उसे अतिदग्ध कहते हैं। यह कठिनाई से भरता है एवं भर जाने पर इसमें विवर्णता आ जाती है। स्नेह (घृत, तेल, वसा, मज्जा) से हुआ दाह कष्टकर होता है, क्योंकि स्नेह सूक्ष्ममार्गानुसारी (सूक्ष्म स्रोतों में पहुँचने वाला) होता है। फलस्वरूप उससे हुआ दाह भी शरीर में सूक्ष्म स्रोतों तक प्रविष्ट हो जाता है।

प्रभाव दग्ध की चिकित्सा

भवति चात्र—

तुत्थस्याग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं च भेषजम्।
स्त्याने रक्ते हिमैर्नोष्मा निष्क्रामति यतो बहिः ॥ ८ ॥
वेदना वर्धते तेन रुधिरं च विदह्यते।
उष्णं निष्क्रामयत्कुर्यादुष्माणं मन्दतां रुजः ॥ ९ ॥
शीतामुष्णां च दुर्दग्धे क्रियां कृत्वा ततः पुनः।
घृतलेपनसेकाँस्तु शीतानेवावचारयेत् ॥ १० ॥
सम्यग्दग्धे तवक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकैः।
सामृतैः सघृतैर्लेपं कल्कैर्वाऽऽनूपमांसजैः ॥ ११ ॥
शान्तोष्मणि परं कुर्यात् पित्तविद्रधिसाधनम्।
अतिदग्धे विशीर्णानि मांसान्युद्धृत्य शीतलम् ॥ १२ ॥
क्रियां कुर्यात्ततः पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनैः।
तिन्दुकत्वक्कषायैर्वा पिष्टैः साज्यैः प्रलेपयेत् ॥ १३ ॥
गुडूच्याश्छादयेत्पत्रैरथ वौपोदकैर्व्रणम्।
भेषजं वाऽस्य कुर्वीत सर्वं पित्तविसर्पवत्।
स्नेहदग्धे भृशतरं तत्र रूक्षं तु योजयेत् ॥ १४ ॥

शीतलता से रक्त जम जाता है और शरीर की ऊष्मा बाहर नहीं जाती, फलतः वेदना में वृद्धि होती है और रक्त विदग्ध होता है। अतएव तुत्थदाह में अग्नि का सेंक एवं उष्ण आहार-विहार करना चाहिए। उष्ण चिकित्सा करने से शरीर की उष्णता निकल जाती है। फलतः पीड़ा कम हो जाती है। दुर्दग्ध में पहले शीत उपक्रम तत्पश्चात् उष्ण उपक्रम करना चाहिए। इसके पश्चात् घृत का लेप, परिषेक आदि शीतल उपाय करने चाहिए। तवक्षीरी (वंशलोचन), प्लक्ष (पकड़ी *Ficus tsiela*), चन्दन (*Santalum album*), गैरिक (Ferric oxide), अमृता (*Tinospora cordifolia*) के चूर्ण को घृत के साथ मिलाकर सम्यग् दग्ध में लेप करना चाहिए अथवा आनूप देश के प्राणियों के मांस के कल्क का लेप भी किया जा सकता है। उष्णता के कम हो जाने पर इसकी चिकित्सा पित्तविद्रधि के समान करें। यदि अतिदग्ध हो गया हो, तो विशीर्ण (सड़े-गले)

मांस को निकाल कर शीतल उपक्रम करना चाहिए। तत्पश्चात् चावल की भूसी या तिन्दुकत्वक् चूर्ण को घृत में मिलाकर लेप करना चाहिए। इसके बाद गूडूची (*Tinospora cordifolia*) अथवा उपोदिका (*Nigella rubra*) के पत्तों से व्रण का आच्छादन करके शेष चिकित्सा पित्तज विसर्प के समान करनी चाहिए। स्नेहदग्ध में अत्यन्त रूक्ष औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

सावधानी

शस्त्रक्षाराग्नयो यस्मान्मृत्योः परममायुधम्।
अप्रमत्तो भिषक् तस्मात्तान्सम्यगुपचारयेत् ॥ १५ ॥

शस्त्र, क्षार तथा अग्नि ये तीनों मृत्यु के परम आयुध माने जाते हैं। अतएव चिकित्सक को प्रमादरहित होकर विधिपूर्वक भलीभाँति इन तीनों का प्रयोग करना चाहिए।

उपसंहार

इति तन्त्रस्य हृदयं सूत्रस्थानं समाप्यते।
अत्रार्थाः सूत्रिताः सूक्ष्माः प्रतन्यन्ते हि सर्वतः ॥ १६ ॥

इत्यग्निकर्मविधिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार अष्टांगसंग्रह नामक तन्त्र का यह हृदय रूप सूत्रस्थान समाप्त होता है। इस स्थान में जो सूक्ष्म बातें सूचित की गई हैं, उन सभी का विस्तारपूर्वक वर्णन आगे किया जायेगा।

इस प्रकार अग्निकर्मविधि नामक चत्वारिंश अध्याय समाप्त।

अध्याय सारांश

इस अध्याय में अग्निकर्म का महत्त्व, अग्निकर्म-विधि एवं सम्यक् दग्ध का लक्षण बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त अग्निकर्म में उपयुक्त उपकरण, रोगानुसार अग्निकर्म का स्थान एवं रोग का निर्देश है।

अध्यायगत प्रश्नावली

अध्याय—१

१. आयुर्वेद का प्रयोजन लिखकर आयुर्वेदावतरण क्रम लिखें।
२. आयुर्वेद के आठ अंग कौन-कौन है, उनकी सोदाहरण व्याख्या लिखें।
३. अष्टांगसंग्रह की रचना का प्रयोजन एवं वैशिष्ट्य लिखकर वाग्भट का काल निर्धारण करें।
४. वाग्भट का संक्षिप्त जीवन-परिचय लिखकर अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय में अन्तर लिखें।
५. शरीर-वय-दिन-रात्रि-आहारपरिपाक काल से दोषों का सम्बन्ध लिखकर, दोषों का स्वरूप एवं दोषों का जठराग्नि तथा कोष्ठ पर प्रभाव लिखें।
६. 'विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्धयन्ति च' इस श्लोक की व्याख्या लिखें।
७. देह-प्रकृति-निर्माण की प्रक्रिया लिखकर व्याधि की उत्पत्ति में दोष का कारणत्व सोदाहरण सिद्ध करें।
८. रसों का दोषों पर प्रभाव लिखकर रस-गुण-वीर्य-विपाक का संक्षिप्त परिचय लिखें।
९. रोग एवं आरोग्य का कारण लिखकर, रोग एवं रोगी परीक्षा-विधि लिखें।
१०. 'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता' इस श्लोक की व्याख्या लिखें।
११. शारीरिक एवं मानसिक दोषों की परमौषधि लिखकर उनका देश, महागुण, भेषजकाल एवं रोगाधिष्ठान स्पष्ट करें।
१२. मानव-प्रकृति का निर्माण कैसे सम्भव है, जब कि दोषों की न्यूनाधिकता विकृति कहलाती है? स्पष्ट करें।

अध्याय—२

१. शिष्य के गुण लिखकर अनाध्याय काल एवं अध्ययन-विधि लिखें।
२. सद्वैद्य एवं कुवैद्य के लक्षण लिखकर वैद्य के लिए त्याज्य कर्म तथा वैद्य की सफलता के हेतु लिखें।
३. चिकित्सा के चतुष्पाद के षोडश गुणों का निरूपण कर वैद्य की प्रधानता का कारण स्पष्ट करें।
४. साध्यासाध्यता की दृष्टि से रोग का भेद एवं उनका लक्षण बतलाकर वैद्य की वृत्ति लिखें।

अध्याय—३

१. दीर्घायु होने के लिए आयुर्वेद में कौन-कौन-से उपाय बतलाये गये हैं, संक्षेप में लिखें।
२. एक स्वस्थ व्यक्ति की दिनचर्या कैसी होनी चाहिए? इस पर लेख लिखें।
३. वर्तमान युग में दिनचर्या-पालन से क्या स्वास्थ्य-संरक्षण सम्भव है? इस पर अपने विचार लिखें।
४. अभ्यंग एवं व्यायाम से होने वाले लाभ का वर्णन करें।
५. सद्वृत्त पालन करके रोगों से कैसे बचा जा सकता है? इस पर अपने विचार लिखें।
६. रात्रिचर्या का विधान लिखकर स्नान से होने वाले लाभ लिखें।
७. भोजन करने की विधि बतलाकर निवास योग्य देश की विशेषता लिखें।

अध्याय—४

१. आदानकाल एवं विसर्गकाल का शरीर पर प्रभाव लिखकर ऋतुसन्धि के विषय में लिखें।

२. हेमन्त ऋतु का लक्षण एवं शरीर पर प्रभाव लिखकर हेमन्त ऋतुचर्या का वर्णन करें।
३. वसन्त ऋतु का लक्षण लिखकर इस ऋतु की ऋतुचर्या लिखें।
४. ग्रीष्म ऋतु का लक्षण लिखकर ग्रीष्म ऋतुचर्या लिखें।
५. वर्षा ऋतु का लक्षण लिखकर वर्षा ऋतुचर्या लिखें।
६. शरद् ऋतु का लक्षण लिखकर शरद् ऋतुचर्या लिखें।
७. ऋतुओं के अनुसार सेवन योग्य रस-गुण-आहार-विहार लिखकर तदनुसार अपथ्य लिखें।
८. ऋतुचर्या से आप क्या समझते हैं? क्या वर्तमान परिस्थिति में इसे पालन करना सम्भव है? इस पर अपने विचार लिखें।

अध्याय—५

१. अधारणीय वेगों का नाम लिखकर उनसे होने वाली प्रमुख व्याधियों का नाम एवं उनका चिकित्सा-सूत्र लिखें।
२. 'रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः' इस श्लोक की व्याख्या करें।
३. संशोधन चिकित्सा का महत्त्व लिखकर आगन्तुज रोग का कारण एवं उसकी चिकित्सा लिखें।
४. 'नित्यं हिताहार··· ···· ···भवत्यरोग' ॥ (५।४६) इस श्लोक की व्याख्या करें।
५. 'अर्थेष्वलुब्धेष्वकृत··· ··· ···यदि नास्ति दैवम्' ॥ (५।४७) श्लोक की व्याख्या करें।
६. 'कालोऽनुकूलो··· ··· ···सदा सुखाय' ॥ (५।४८) इस श्लोक की व्याख्या करें।

अध्याय—६

१. जल के गुण और भेद लिखकर पेयापेय जल की परीक्षा-विधि लिखें।
२. दूषित जल की संशोधन-विधि लिखकर जलपान-निषेध की परिस्थितियाँ लिखें।
३. कोष्ण (ईषद् उष्ण), उष्ण एवं शीतल जल के गुण लिखें।
४. अष्ट क्षीरवर्ग के प्राणियों के दुग्ध का पृथक् पृथक् गुण लिखकर अपक्व एवं पक्व दुग्ध, तक्र दधि, नवनीत तथा घृत का गुण लिखें।
५. इक्षुरस, गुड एवं शर्करा के गुण लिखकर मधु के भेद, गुण एवं उपयोग लिखें।
६. तैल, घृत, वसा एवं मज्जा का गुण लिखकर एरण्ड तैल एवं सरसों के तैल का गुण लिखें।
७. मद्य एवं शुक्त (सिरका) का गुण लिखकर आसव, अरिष्ट एवं मद्याकर (मद्ययोनि) के विषय में संक्षेप लिखें।
८. मनुष्य के मूत्र का गुण लिखकर मूत्रवर्ग के प्राणियों के मूत्र का गुण लिखें।

अध्याय—७

१. शूकधान्य एवं शिम्बी धान्य वर्ग का परिचय तथा गुण लिखें।
२. मण्ड, पेया, विलेपी, यूष, मन्थ एवं रसाला का गुण लिखें।
३. सत्तू, पानक, वेशवार, खल, काम्बलिक एवं दकलाबणिक का गुण लिखें।
४. मृगवर्ग, विष्किर वर्ग, प्रतुद वर्ग, विलेशय वर्ग, प्रसह वर्ग, महामृग वर्ग एवं जलचारी वर्ग का सोदाहरण परिचय लिखकर आधुनिक जन्तुविज्ञान के वर्गीकरण से इसकी तुलना करें।
५. गाय के मांस का गुण लिखकर त्याज्य मांस एवं प्रशस्त मांस का लक्षण लिखते हुए मांस की गुरुता एवं लघुता का विवेचन करें।
६. लहसुन, पलाण्डु एवं सूरण के गुण लिखकर त्याज्य धान्य एवं फल का लक्षण लिखें।
७. टिप्पणी लिखें—
   (क) लघु गुण वाले चावलों का पीसा आटा गेहूँ के आटे से गुरु क्यों होता है?

(ख) गुड़ एवं जल की अपेक्षा गुड़ एवं जल को घोलकर तैयार किया गया शर्बत अधिक मूत्रल एवं गुरु क्यों होता है ?

(ग) कच्चा तक्र उदर के कफ को नष्ट करता है, किन्तु कण्ठ के कफ को वृद्ध क्यों करता है ?

(घ) दृष्टि के लिए शीतस्पर्श हितकर होता है, किन्तु श्रोत्र के लिए उष्ण स्पर्श हितकर क्यों होता है ?

(च) मधु वातकारक होता है, किन्तु वर्षा ऋतु में वायु का प्रकोप होने पर मधु सेवन लाभदायक क्यों होता है ?

(छ) दुग्ध की अपेक्षा घृत कठिनाई से पान किया जाता है, पीने में रुचिकर नहीं होता है और कठिनाई से पचता है, किन्तु घृत अग्निदीपक होता है और दुग्ध अग्निदीपक क्यों नहीं होता है ? स्पष्ट करें ।

८. 'ज्वरे·····सुखसाध्यत्वहेतवः' ॥ (७।२४९) इस श्लोक की व्याख्या करें ।

अध्याय—८

१. प्राणाचार्य के गुण लिखकर विषमिश्रित भोजन के लक्षण बतलाते हुए विषदाता के लक्षण लिखें ।

२. विषमिश्रित आहार की परीक्षण-विधि लिखकर विषकन्या के विषय में लिखें ।

३. विषदूषित जल का लक्षण एवं चिकित्सा लिखकर राजा के प्रति वैद्य का कर्तव्य लिखें ।

४. टिप्पणी लिखें—

(क) भेषजगृह । (ख) महानस के गुण । (ग) विशनाशक मणियाँ ।

अध्याय—९

१. विरुद्धाहार का सोदाहरण परिचय देकर विरुद्धाहार से होने वाले रोग एवं उनकी चिकित्सा लिखें । विरुद्धाहार का अहानिकर प्रभाव किन परिस्थितियों में होता है ।

२. 'त्रय उपस्तम्भ' इस विषय पर एक लेख लिखें ।

३. निद्रा लाने के उपाय तथा अहित (अति) निद्रा रोकने के उपाय लिखें ।

४. अति मैथुन से उत्पन्न होने वाले रोगों का नाम बतलाकर मैथुन विधि एवं मैथुन की मात्रा लिखते हुए मैथुनोत्तर कर्म का उल्लेख करें ।

५. 'कायस्य तेजः·····सन्ततिरप्युदारा' ॥ (९।८४) इस श्लोक की व्याख्या लिखें ।

६. जनपदोध्वंस के कारण एवं उससे बचने के उपाय लिखें ।

७. बौद्धानुसार मृत्यु के भेद बतलाकर काल एवं अकाल मृत्यु का विवेचन करें ।

८. सर्वमन्यत् परित्यज्य·····शरीरिणाम् ॥ (९।१३२) श्लोक की व्याख्या लिखें ।

अध्याय—१०

१. विधिपूर्वक सेवित अन्नपान का फल लिखकर समाहार की कल्पना स्पष्ट करें । उसका चरकोक्त अष्ट-आहारविधिविशेषायतन से सामञ्जस्य स्थापित करें ।

२. सात्म्य एवं अनुपान की परिभाषा लिखकर आहार-सेवन की विधियाँ बतलायें ।

३. टिप्पणी लिखें —

(क) समशन, (ख) अध्यशन, (ग) अमात्राशन एवं (घ) विषमाशन ।

४. आहार परिणामकर भाव लिखकर भोजनोत्तर कर्म लिखें ।

अध्याय—११

१. आहार की मात्रा एवं अमात्रा का लक्षण लिखें।
२. जीर्णाहार का लक्षण बतलाकर दिन एवं रात्रि का शरीर पर प्रभाव लिखें।
३. अलसक एवं विसूचिका का लक्षण तथा चिकित्सा लिखें।
४. आमदोष का हेतु एवं इसका चिकित्सा-सूत्र लिखें।
५. अजीर्ण का भेद, लक्षण एवं चिकित्सा लिखें।

अध्याय—१२

१. ओषधि का तात्पर्य लिखकर विविध प्रकार की औषधियों का भेद सहित उल्लेख करें।
२. त्रिकटु, पञ्चकोल एवं सप्त पञ्चमूल के द्रव्यों का उल्लेख करें।
३. विभिन्न दिशाओं की वायु के गुण लिखकर लवण के विभिन्न प्रकार एवं गुण लिखें।
४. त्रिफला, त्रिजात एवं चतुर्जातक द्रव्यों का उल्लेख कर शिलाजीत एवं बंशलोचन का गुण लिखें।
५. अन्नगन्ध द्रव्यों का नामोल्लेख कर गुग्गुल का गुण एवं अन्नौषध का सोदाहरण वर्णन करें।
६. स्वर्ण, चाँदी, ताम्र, काँस्य, राँगा (Tin), सीसा तथा लौह का गुण लिखें।

अध्याय—१३

१. अग्र्य शब्द का अर्थ लिखकर 'आयुर्वेदोऽमृतानाम्' पद की व्याख्या करें।
२. निम्नलिखित पदों की व्याख्या करें—
   (क) वेगधारणमनारोग्यकराणाम्।
   (ख) ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम्।
   (ग) परदारगमनमनायुष्याणाम्।
   (घ) नास्तिको वर्ज्यानाम्।
   (च) सद्वचनमनुष्ठेयानाम्।
   (छ) तृप्तिराहारगुणानाम्।
   (ज) एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्।
   (झ) तद्विद्यसम्भाषा बुद्धिवर्धनानाम्।
   (ट) सर्वसंन्यासः सुखानाम्।

अध्याय—१४

१. वमन, विरेचन, शिरोविरेचन एवं निरूहवस्ति में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख द्रव्यों का नाम तथा उनका लैटिन नाम लिखें।
२. त्रिदोष-शामक द्रव्यों का नाम लैटिन नाम सहित लिखें।

अध्याय—१५

१. महाकषायों का प्रयोजन एवं पंचकषाय कल्पना का उल्लेख करके जीवनीय, बृंहणीय, लेखनीय, भेदनीय तथा सन्धानीय महाकषायोक्त द्रव्यों का नामोल्लेख करें।
२. दीपनीय, बल्य, वर्ण्य, कण्ठ्य तथा हृद्य वर्ग के द्रव्यों का उल्लेख करें।
३. तृप्तिघ्न, अर्शोघ्न, कुष्ठघ्न, कण्डुघ्न तथा कृमिघ्न वर्ग के द्रव्यों का नामोल्लेख करें।
४. विषघ्न, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, शुक्रजनन तथा शुक्रशोधन वर्ग के द्रव्यों का नामोल्लेख करें।
५. स्नेहोपग, स्वेदोपग, वमिनिग्रह, तृष्णानिग्रह तथा हिक्कानिग्रह वर्ग के द्रव्यों का नाम निर्देश करें।
६. विड्ग्रहण, विड्विरंजन, मूत्रनिग्रहण, मूत्रविरंजन तथा मूत्रविरेचन वर्ग के द्रव्यों का नाम उल्लेख करें।
७. कासहर, श्वासशमन, ज्वरशमन, श्रमशमन तथा दाहहर वर्ग के द्रव्यों का नाम लिखें।

८. शीत-शमन, उदर्द-शमन, अंगमर्द-शमन, शूल-शमन तथा शोथ-शमन वर्ग के द्रव्यों का नाम लिखें।

९. रक्तस्थापन, वेदनास्थापन, संज्ञास्थापन, गर्भस्थापन तथा वयःस्थापन वर्ग के द्रव्यों का नाम लिखें।

अध्याय—१६

१. विदार्यादि, सारिवादि, पद्मकादि, परूषादि एवं अञ्जनादि-गण के प्रमुख द्रव्यों का नाम लिखकर उनका उपयोग लिखें।

२. पटोलादि, गुडूच्यादि, आरग्वधादि, असनादि एवं वरुणादि गण के प्रमुख द्रव्यों के नाम लिखकर उनका उपयोग लिखें।

३. ऊषकादि, वीरतरादि, रोध्रादि, अर्कादि एवं सुरसादि गण के द्रव्यों के नाम लिखकर उनका उपयोग लिखें।

४. मुष्ककादि, वत्सकादि, वचादि, हरिद्रादि, प्रियंग्वादि तथा अम्बष्ठादि गण के द्रव्यों के नाम एवं उनका उपयोग लिखें।

५. मुस्तादि, न्यग्रोधादि, एलादि, श्यामादि एवं पिप्पल्यादि गणों के द्रव्यों के नाम एवं उनका उपयोग लिखें।

अध्याय—१७

१. द्रव्यों का पाञ्चभौतिकत्व प्रतिपादित करते हुए पार्थिवादि द्रव्यों के गुण एवं कर्म लिखें।

२. शोधन एवं शामक द्रव्यों के पाञ्चभौतिक संगठन का उल्लेख करते हुए 'वीर्य' का निरूपण करें।

३. विपाक का सोदाहरण निरूपण करते हुए आयुर्वेदीय विपाक की आधुनिक पाचन से तुलना करें।

४. प्रभाव का सोदाहरण निरूपण करके अनुरस के विषय में लिखें।

५. 'नानौषधभूतं जगति किञ्चिदद्रव्यमस्ति विविधार्थप्रयोगवशात्' इसकी सोदाहरण व्याख्या करें।

अध्याय—१८

१. रसों का पाञ्चभौतिक संगठन बतलाकर रसों का स्वरूप लिखें।

२. षड्रसों का गुण एवं कर्म निरूपित करें।

३. रस की परिभाषा लिखकर रस देश (भूमि) का उदाहरण सहित लक्षण लिखें।

अध्याय—१९

१. 'दोषधातुमलमूलो हि देहः' इसकी सोदाहरण व्याख्या करें।

२. दोष-धातु एवं मल के प्राकृत कर्म लिखें।

३. वृद्ध दोष, धातु एवं मल के लक्षण लिखें।

४. क्षीण दोष, धातु एवं मल के लक्षण लिखें।

५. दोष-धातु-मल की क्षय-वृद्धि का सामान्य सिद्धान्त लिखकर वृद्धि-क्षय की चिकित्सा लिखें।

६. धातुस्थ पित्त एवं धातुस्थ कफ का लक्षण लिखकर मलायन का उल्लेख करें।

७. दोषों का कोष्ठ से शाखा आदि में गमन का कारण और उसकी चिकित्सा लिखें।

८. ओज का निरूपण करें।

९. दोषों की क्षय-वृद्धि का सामान्य चिकित्सा-सिद्धान्त लिखें।

अध्याय—२०

१. दोषों का पाञ्चभौतिक संगठन एवं स्थान लिखकर वायु के भेद, स्थान एवं कर्म लिखें।

२. पित्त के भेद, स्थान एवं कर्म लिखें।
३. कफ के भेद, स्थान एवं कर्म लिखें।
४. चय एवं कोप का लक्षण एवं प्रकुपित वातादि दोषों के कर्म लिखें।
५. वात-पित्त-कफजन्य विकारों की संख्या लिखकर ओष, प्लोष, दव एवं धमनी-प्रतिचय का लक्षण लिखें।
६. दोषों की वृद्धि, साम्यावस्था एवं क्षय का लक्षण लिखें।

अध्याय—२१

१. वायु की चिकित्सा लिखें।
२. पित्त की चिकित्सा लिखें।
३. कफ की चिकित्सा लिखें।
४. दोषों के चिकित्साक्रम में विभिन्न आचार्यों के मत प्रतिपादित करें।
५. आम एवं पक्व (निगम) दोष के लक्षण लिखें।
६. आम का लक्षण एवं उसकी चिकित्सा लिखें।

अध्याय—२२

१. रोग शब्द की व्युत्पत्ति लिखकर रोगों के विविध भेदों का उल्लेख करें।
२. 'दोषा एव हि सर्वरोगैककारणम्' इस कथन की व्याख्या करें।
३. रोगों के तीन कारणों का निरूपण करें।
४. रोगमार्ग बतलाकर रोग-परीक्षण-विधि का विस्तार से उल्लेख करें।

अध्याय—२३

१. ओषधि एवं भेषज में अन्तर लिखकर रोगी-परीक्षा (भेषजावचारण) विधि लिखें।
२. ओषधि परीक्षा-विधि बतलाकर संशोधन काल के विषय में लिखें।
३. औषधि देने का कौन-कौन-सा काल बतलाया गया है, सोदाहरण विस्तार से लिखें।
४. दोष-शोधन काल का उल्लेख करके राजा के विषय में चिकित्सा-नियम लिखें।
५. 'उचितो यस्य यो देशस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।' इसकी सोदाहरण व्याख्या करें।

अध्याय—२४

१. लंघन एवं बृंहण की परिभाषा बतलाकर लंघन का भेद सोदाहरण लिखें।
२. लंघन एवं बृंहण के योग्य रोग तथा रोगी लिखकर सम्यक् लंघन एवं बृंहण के लक्षण लिखें।
३. अतिस्थौल्य के लक्षण लिखकर उसका चिकित्सा-सूत्र लिखें।
४. 'कार्श्यमेव वरं स्थौल्यान्न हि स्थौल्यस्य भेषजम्' इसकी युक्तिसंगत व्याख्या करें।
५. अतिकृश का लक्षण एवं चिकित्सा लिखें।
६. 'द्विविधोपक्रम' की सोदाहरण विवेचना करें।

अध्याय—२५

१. स्नेहन एवं रूक्ष द्रव्यों का गुण लिखकर सर्वोत्तम स्नेह का उल्लेख करते हुए स्नेहों की संज्ञा एवं योनि लिखें।
२. स्नेहन के योग्य एवं अयोग्य रोगों का नाम लिखकर स्नेह की मात्रा लिखें।
३. अच्छपेय के विषय में बतलाकर स्नेह के सम्यक्योग, हीनयोग तथा अतियोग लिखते हुए स्नेहव्यापद् की चिकित्सा लिखें।
४. सद्यः स्नेह योग लिखकर स्नेह सेवन से लाभ लिखें।

५. स्नेह-प्रयोग की विविध विधियाँ बतलाकर घृत के गुण लिखें।

अध्याय—२६

१. स्वेद की परिभाषा लिखकर अग्निस्वेद के भेद लिखें।
२. उष्म स्वेद का वर्णन करें।
३. अनाग्नि स्वेद का भेद लिखकर सम्यक् स्विन्न तथा इसके अतियोग के लक्षण लिखें।
४. स्वेदन एवं स्तम्भन द्रव्यों के गुण लिखकर स्वेदन के अयोग्य रोग एवं रोगी लिखें।
५. स्वेदन के योग्य रोगी लिखकर स्वेदन से लाभ लिखें।

अध्याय—२७

१. वमन एवं विरेचन द्रव्य कैसे कार्य करते हैं ? इसे सोदाहरण स्पष्ट करें।
२. वमन एवं विरेचन शब्द का अर्थ लिखकर वमन के योग्य एवं अयोग्य रोगी तथा रोग लिखें।
३. विरेचन के योग्य एवं अयोग्य रोग तथा रोगी लिखकर वामक औषधि-पान की विधि लिखें।
४. दोषानुसार वामक द्रव्यों का निर्देश कर वमन के अयोग, अतियोग एवं सम्यक् योग लिखें।
५. वमन के पश्चात् पेयादि क्रम का उल्लेख करें।
६. वमन एवं विरेचन की मर्यादा लिखकर विरेचन-विधि का उल्लेख करें।
७. विरेचन का हीनयोग, अतियोग एवं सम्यक् योग बतलाकर संशोधन का महत्त्व एवं वमन तथा विरेक की मर्यादा लिखें।
८. त्रिविध कोष्ठ का लक्षण एवं तदनुसार विरेचनार्थ औषधियों का नामोल्लेख कर सर्वदा रोगी रहने वालों का सहेतुक वर्णन करें।

अध्याय—२८

१. वस्ति और उत्तरवस्ति शब्द का अर्थ लिखकर वस्तिभेद तथा आस्थापनवस्ति के योग्य एवं अयोग्य रोग लिखें।
२. अनुवासनवस्ति के योग्य रोग लिखकर 'वस्तिनेत्र' एवं 'वस्तिपुट' की निर्माण-विधि लिखें।
३. आयु के अनुसार वस्ति की मात्रा लिखकर वस्ति प्रयोग-विधि लिखें।
४. विधिभेद से वस्तियों के भेद लिखकर वस्तिकर्म, वस्तिकाल तथा वस्तियोग के विषय में लिखें।
५. वस्ति से लाभ लिखकर उत्तरवस्ति का वर्णन करें।

अध्याय—२९

१. नस्य की परिभाषा एवं महत्त्व बतलाकर इसके भेद लिखें।
२. नस्य की विधि लिखकर सम्यक् नस्य के लक्षण लिखें।
३. मर्श एवं प्रतिमर्श नस्य में भेद बतलाकर नस्य का काल लिखें।

अध्याय—३०

१. धूमपान के योग्य एवं अयोग्य रोग तथा रोगी बतलाकर धूमपान के भेद लिखें।
२. धूमनेत्र निर्माण-विधि लिखकर प्रायोगिक धूमपान का काल लिखें।
३. धूमपान-विधि लिखकर धूमपान के अयोग, अतियोग तथा सम्यक् योग लिखें।

अध्याय—३१

१. गण्डूष का भेद बतलाकर गण्डूष एवं कवल में अन्तर लिखें।
२. गण्डूष का अयोग, अतियोग एवं सम्यक् योग लिखकर रोगानुसार गण्डूष का निर्देश करें।
३. प्रतिसारण तथा मुखालेप का वर्णन करें।

४. मूर्ध तैल एवं शिरोवस्ति के लाभों का उल्लेख करें।
५. कर्णपूरण से होने वाले लाभों का उल्लेख कर शिरोवस्ति-विधि लिखें।

अध्याय—३२

१. आश्च्योतन एवं बिडालक औषधियों की प्रयोग-विधि लिखकर उससे होने वाले लाभों का उल्लेख करें।
२. अञ्जन का प्रयोग किन-किन परिस्थितियों में नहीं करना चाहिए ?
३. अञ्जन का भेद लिखकर प्रत्यञ्जन के विषय में लिखें।

अध्याय—३३

१. तर्पण एवं पुटपाक का अर्थ लिखकर तर्पण की विधि लिखें। तर्पण एवं पुटपाक का प्रयोग किसे करना चाहिए ?
२. पुटपाक का भेद लिखकर पुटपाक-विधि लिखें।

अध्याय—३४

१. यन्त्रों की संख्या एवं उनका परिचय संक्षेप में लिखें।
२. नाड़ी-यन्त्रों का वर्णन करें।
३. शृंग, अलाबु एवं घटीयन्त्रों वर्णन करें।
४. प्रमुख शलाका-यन्त्रों का वर्णन करें।
५. अनुयन्त्रों का उल्लेख कर यन्त्र के कर्म लिखें।
६. शस्त्र का प्रकार लिखकर शस्त्रों के कर्म लिखें।
७. अनुशस्त्र की परिभाषा एवं नाम लिखकर यन्त्र-शस्त्रों के दोष लिखें।
८. शस्त्रों की पायना-विधि लिखकर शस्त्र-चिकित्सक की योग्यता लिखें।
९. शव-परीक्षण-विधि लिखकर शस्त्रकोश का उल्लेख करें।

अध्याय—३५

१. सविष एवं निर्विष जलौका का लक्षण लिखकर जलौकावचारण-बिधि लिखें।
२. जलौका से रक्तस्रावण का सम्यक् योग लिखकर प्रच्छान लगाने की विधि एवं रक्तस्रावण के अनन्तर कर्म लिखें।

अध्याय—३६

१. सिरावेध का महत्त्व लिखकर सिरावेध के अयोग्य रोग एवं रोगी लिखें।
२. रक्त का स्वरूप लिखकर रक्तजन्य रोगों का उल्लेख करें।
३. सम्यग्विद्ध, दुर्विद्ध एवं अतिविद्ध सिरावेध का लक्षण लिखकर रोगविशेष में स्थानानुसार सिरा-वेध का उल्लेख करें।
४. सम्यक् वेध होने पर भी रक्तस्राव न होने का कारण लिखकर दुष्टरक्त के लक्षण लिखें।
५. रक्त रोकने का उपाय लिखकर रक्तक्षय की चिकित्सा लिखें।
६. सिरावेध के पश्चात् आहार-विहार का उल्लेख कर विशुद्ध रक्त वाले पुरुष का लक्षण लिखें।

अध्याय—३७

१. शल्यों की तीन प्रकार की गतियों का उल्लेख कर शल्ययुक्त व्रण का सामान्य एवं विशिष्ट लक्षण लिखें।

२. प्रनष्ट शल्यी के पहचान के उपाय लिखें।
३. शल्यों के आहरण के उपाय लिखकर आहरण के अयोग्य शल्य का निर्देश करें तथा शल्य निकालने की विधि का वर्णन करें।
४. जलशल्य, ग्रासशल्य, नेत्रगत शल्य एवं कर्णगत कीट को निकालने का उपाय लिखें।
५. शल्य रहित व्रण का लक्षण लिखकर शीर्यमाण शल्य का उल्लेख करें।
६. 'काय एव परं शल्यं निजदोषमलाविलः' इसकी व्याख्या करें।

अध्याय—३८

१. आम एवं पच्यमान शोफ का लक्षण लिखकर शोफ की पक्वावस्था एवं अतिपक्व शोफ के लक्षण लिखें।
२. शोफ में वात-पित्त-कफ एवं रक्त के मुख्य लक्षण लिखकर पक्व व्रण की चिकित्सा लिखें।
३. रक्तपाक का लक्षण लिखकर अपक्व व्रण में शस्त्रकर्म तथा पक्व व्रण की उपेक्षा का परिणाम लिखें।
४. शस्त्रकर्म से पूर्व भोजन तथा मद्यपान की तर्कसंगत व्याख्या करते हुए शस्त्रकर्म-विधि का उल्लेख करें।
५. शल्य-चिकित्सक के गुण लिखकर स्थानानुरूप उपद्रव का उल्लेख करें।
६. शस्त्रावचारण के पश्चात् कर्म, शस्त्रकर्म में अपथ्य एवं पथ्याहार का उल्लेख करें।
७. व्रण की रक्षा के लिए सावधानियों का उल्लेख कर पुनः प्रक्षालन-विधि लिखें।
८. विकेशिका के गुण एवं अपक्व व्रण में पाटन होने पर उसका उपचार लिखें।
९. सीवन कर्म का उल्लेख कर सीवन के भेद एवं सीवन के योग्य तथा अयोग्य व्रण का उल्लेख करें। सीवन के समय क्या-क्या सावधानियाँ रखनी चाहिए?
१०. बन्धन के भेदों का उल्लेख कर दोषानुसार बन्धनों का वर्णन करें।
११. विभिन्न अंगों एवं ऋतु के अनुसार बन्धनों का उल्लेख करें।
१२. बन्धन से होने वाले लाभ का उल्लेख कर वृक्ष के पत्तों से बन्धन का वर्णन करें।
१३. बन्धन के अयोग्य व्रण का उल्लेख कर व्रणकृमि का वर्णन करें।
१४. व्रण-रोपण होने पर क्या सावधानी रखनी चाहिए? क्या आयुर्वेदीय व्रण-चिकित्सा वर्तमान युग में सम्भव है? इस पर अपने विचार लिखें।

अध्याय—३९

१. क्षार के गुण एवं भेद लिखें। क्षार का निषेध किसके लिए कहा गया है?
२. क्षारपाक की विधि लिखें।
३. बहिःपरिमार्जन क्षार के भेद लिखकर क्षार के गुण एवं दोष लिखें।
४. क्षारकर्म-विधि का उल्लेख करें।
५. सम्यक् क्षारदग्ध का लक्षण लिखकर क्षार के अतियोग में उसका उपचार लिखें।

अध्याय—४०

१. अग्निकर्म का वर्णन करें। अग्निकर्म किन-किन परिस्थितियों में नहीं करना चाहिए।
२. अग्निकर्म-विधि का उल्लेख कर सम्यक् दग्ध के लक्षण लिखें।
३. प्रमाद दग्ध का लक्षण एवं उसकी चिकित्सा लिखें।

सहायक ग्रन्थ-सूची

१. चरक—चरकसंहिता, चक्रपाणिकृत 'आयुर्वेददीपिका' व्याख्या सहित ।
२. वही—चरकसंहिता गंगाधर कृत 'जल्पकल्पतरु' व्याख्या सहित ।
३. वही—चरकसंहिता, योगीन्द्रनाथ सेन कृत 'चरकोपस्कार' व्याख्या सहित ।
४. वही—चरकसंहिता, हिन्दी, गुजराती एवं अंग्रेजी अनुवाद सहित, प्रकाशक—श्रीगुलाबकुँवर बा आयुर्वेदिक सोसायटी, जामनगर ।
५. वही—चरकसंहिता, रामकरण शर्मा एवं भगवानदास कृत अंग्रेजी व्याख्या सहित ।
६. वही—चरकसंहिता, काशीनाथ पाण्डेय एवं गोरखनाथ चतुर्वेदी कृत 'विद्योतनी' व्याख्या सहित ।
७. सुश्रुत—सुश्रुतसंहिता, डल्हण कृत 'निबन्धसंग्रह' व्याख्या सहित ।
८. वही—सुश्रुतसंहिता, हाराणचन्द्र कृत 'सुश्रुतार्थसन्दीपन' व्याख्या सहित ।
९. वही—सुश्रुतसंहिता, अत्रिदेव कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।
१०. वही—सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान, डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर कृत 'आयुर्वेदरहस्य-दीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित ।
११. वाग्भट—अष्टांगहृदय, अरुणदत्त कृत 'सर्वाङ्गसुन्दरी' संस्कृत व्याख्या सहित ।
१२. वही—अष्टांगहृदय, हेमाद्रि कृत 'आयुर्वेदरसायन' व्याख्या सहित ।
१३. वही—अष्टांगहृदय, चन्द्रनन्दन कृत 'पदार्थचन्द्रिका' संस्कृत व्याख्या सहित ।
१४. वही—अष्टांगहृदय, लालचन्द्र वैद्य कृत 'सर्वाङ्गसुन्दरी' व्याख्या सहित ।
१५. वृद्धवाग्भट—अष्टांगसंग्रह, इन्दुकृत 'शशिलेखा' व्याख्या सहित ।
१६. वही—अष्टांगसंग्रह-सूत्रस्थान, लालचन्द्र वैद्य कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।
१७. वही—अष्टांगसंग्रह-सूत्रस्थान, अत्रिदेव गुप्त कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।
१८. वही—अष्टांगसंग्रह-सूत्रस्थान, गोवर्द्धन शर्मा छांगाणी कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।
१९. प्रियव्रत शर्मा—आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास ।
२०. वही—वाग्भट-विवेचन ।
२१. वही—द्रव्यगुण-विज्ञान, प्रथम एवं द्वितीय भाग ।
२२. अत्रिदेव—आयुर्वेद का बृहद् इतिहास ।
२३. मायाराम उनियाल—अष्टांगसंग्रह की वनौषधियाँ ।
२४. माधवकर—माधवनिदान, सुदर्शन शास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।
२५. रामरक्ष पाठक—कायचिकित्सा, प्रथम भाग ।
२६. रमानाथ द्विवेदी—भिषक्कर्मसिद्धि ।
२७. हरिदास श्रीधर कस्तूरे—आयुर्वेदीय पञ्चकर्म-विज्ञान ।
२८. सुधानिधि—सुश्रुत-शल्यचिकित्सांक १९७७ ।
२९. रमानाथ द्विवेदी—सौश्रुती ।
३०. लोलिम्बराज—वैद्यजीवन, इन्द्रदेव त्रिपाठी कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।
३१. रणजीत राय देसाई—आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर ।
३२. निरंजनदेव शर्मा—प्राकृत दोषविज्ञान ।
३३. सी० द्वारिकानाथ—इण्ट्रोडक्शन टू कायचिकित्सा ।

३४. सदानन्द शर्मा—रसतरंगिणी, धर्मानन्द कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।
३५. भावमिश्र—भावप्रकाशनिघण्टु, श्रीकृष्णचन्द्र चुनेकर कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।
३६. एस० एन० त्रिपाठी—सद्वृत्त पालन से रोगों को समूल नष्ट करें ।
३७. रविदत्त त्रिपाठी—पदार्थविज्ञान ।
३८. विद्याधर शुक्ल एवं रविदत्त त्रिपाठी—आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय ।
३९. जे० ई० पार्क एवं के० पार्क—टेक्स्ट बुक आफ प्रिवेण्टिव एण्ड सोसल मेडिसिन ।
४०. आर० घोष—फार्माकोलॉजी, मैटोरिया मेडिका एण्ड थेराप्युटिक्स ।
४१. विलियम वायड—ए टेक्स्ट बुक आफ पैथोलोजी ।
४२. सुधानिधि—वनौषधि-रत्नाकर, द्वितीय भाग १९८८ ।
४३. सुधानिधि—वनौषधि रत्नाकर, तृतीय भाग १९९० ।

व्याख्यातृ-परिचयः

उत्तरभारतीयस्थो गङ्गायाः पश्चिमे तटे ।
वाराणसीमण्डलस्थो द्विजधर्मपरायणः ॥ १ ॥
पचराँवाख्य-ग्रामे वै मिर्जापुरजनपदे ।
शाण्डिल्यगोत्रसम्भूतः **रामप्रसादसंज्ञकः** ॥ २ ॥
प्रसिद्धसरयूपारीणाख्यविप्रकुलोद्भवः ।
आसीत्सर्वगुणैर्युक्तो माननीयः सतां **वरः** ॥ ३ ॥
गौरी तस्यात्मजश्चासीन्नानागुणसमन्वितः ।
पुत्रस्तस्य महाप्राज्ञः **शिवप्रसादनामकः** ॥ ४ ॥
नन्दकुमार इत्यासीत्तनयो गुणवान् **सुधीः** ।
रामनाथो बुधश्रेष्ठस्तस्य सूनुरजायत ॥ ५ ॥
तस्य पुत्रद्वयं चासीद् **देवदत्तो** गुणाम्बुधिः ।
तस्यापरः सुतश्चासौ **चन्द्रदत्तेति** सज्ञकः ॥ ६ ॥
चन्द्रदत्तात्मजश्चैष रविदत्तोऽतिधार्मिकः ।
श्रीदेवसरदेवी सा **रविदत्त**प्रसूर्वरा ॥ ७ ॥
आदर्शयोश्च पित्रो हि धरन्नादर्शमेव सः ।
नानाशास्त्रेषु निष्णातः कुरुते बहुकृत्यकम् ॥ ८ ॥
सरोजाख्याच्च पत्नीं सः प्राहावान् धर्मतत्पराम् ।
सतीयं सकलं कृत्यं करोत्यत्र मुदान्विता ॥ ९ ॥
रविदत्तस्य पुत्रोऽपि **विनीतो** धर्मतत्परः ।
शास्त्राभ्यासं प्रकुरुते बुद्धिमान् तीक्ष्णधीर्मुदा ॥ १० ॥
विश्वनाथप्रसादेन व्याख्यातं **रविदत्त**भिः ।
चरकसंहिता-माधवनिदानेति पुस्तकम् ॥ ११ ॥
आयुर्वेदेतिहासं स बहुतथ्यसमन्वितम् ।
तथा पदार्थविज्ञानं रचयामास यत्नतः ॥ १२ ॥
अधुना यत्नतो धीमानष्टाङ्गसङ्ग्रहस्तथा ।
हिन्दीभाषां समाश्रित्य समनूदितवान् बुधः ॥ १३ ॥

*

प्रस्तोता—

रवीन्द्रनाथ भट्टाचार्य
वेदाचार्य, वेद-व्याकरण-मीमांसातीर्थ
अध्यापक :
पौराणिक-वैदिकाध्ययनानुसंन्धानसंस्थान
नैमिषारण्य